

साध्वी दिव्यप्रभा



क्षमा
दया
करुणा
सत्य
सरलता
विनय

कुरुकुम

अभिनन्दन ग्रन्थ



अभिनन्दन कितना ?

व्यक्ति का, या गुणों का ?

चूँकि गुण व्यक्ति आधारित होते हैं, गुणों की अभिव्यक्ति का आधार व्यक्तित्व ही है। व्यक्तित्व का संदर्शन ही गुणों की प्रतीति कराता है, अतः अभिनन्दनीय गुणों को व्यक्ति या व्यक्तित्व के माध्यम से ही उजागर कर अभिनन्दित किया जा सकता है।

पूज्य महासती श्री कुसुमवती जी का व्यक्तित्व अनेक सदगुणों का पुंजीभूत/घनीभूत जीवन्त रूप है। उनका सहज सौम्य जीवन विनम्रता, सरलता, श्रुत-उपासना, गुणज्ञता, त्याग एवं सेवा-भावना आदि ऐसे अनेक दुर्लभ और प्रेरक सदगुणों को प्रकट करता है, जिनको देख/अनुभव कर श्रद्धावश मस्तक विनत हो जाता है, हृदय गुण-विभोर होकर धन्य-धन्य कह उठता है, वाणी मुखर होकर प्रशस्ति गान गाने लगती है।

महासती जी का व्यक्तित्व श्रद्धा भाजन है। श्रद्धेय के प्रति हृदय की सहज स्फुरण होती है, वन्दना के रूप में। हजारों श्रद्धालुओं की श्रद्धा के शब्द-सुमन ग्रथित होकर बन गया है यह ग्रन्थ-कुसुम अभिनन्दन-ग्रन्थ।

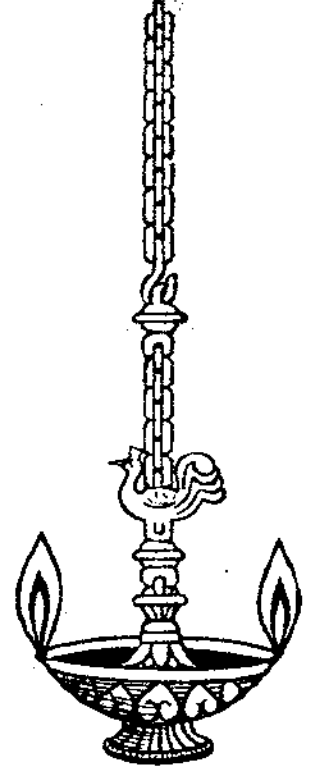
इस ग्रन्थ के संयोजन-संपादन में कुशल विदुषी साध्वी दिव्यप्रभाजी एवं उनकी सहयोगिनी आर्याओं का श्रम 'श्रद्धार्थी' के रूप में युग-युग तक प्रेरक और पथदर्शक रहेगा, इस ग्रन्थ राज के रूप में.....

—राजेन्द्रमुनि

मूल्य : एक सौ एकावन रुपया मात्र



परम विदुषी साध्वी
श्री कुसुमवती जी महाराज के
दीक्षा-स्वर्ण जयन्ती प्रसंग पर



कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ

- दिशा निर्देशन :
उप प्रवर्तक श्री राजेन्द्र मुनि
(एम०ए० साहित्य महीपाध्याय).
- प्रधान सम्पादिका :
साध्वी दिव्य प्रभा
(एम०ए० पी-एच०डी०)

आशीर्वाचन

राष्ट्रसन्त आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी
उपाध्याय गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी

संपादक मंडल :

पं० श्री हीरा मुनिजी
विद्वद्गुरु श्री गणेश मुनि शास्त्री
महासती चारित्र प्रभाजी
महासती गरिमा जी
डा० एम० पी० षटेरिया (झाँसी)
डा० तेजसिंह गौड़ (उज्जैन)
डा० गुलाबचन्द जैन (जयपुर)
पं० देवकुमार जैन (ग्वावर)

प्रथमावतरण :

वि० सं० २०४७ ई०
सन् १९६० मई

मूल्य :

एक सौ एकावन रुपया मात्र

मुद्रक :

श्रीचन्द मुराना के निदेशन में
कामधेनु प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिसर्स, A-7 अवागढ़ हाउस, एम० जी० रोड, आगरा-२२२००२



निदेशक

उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी
उप प्रवर्तक श्री राजेन्द्र मुनि

प्रधान सम्पादिका

साध्वी दिव्यप्रभा जी

प्रबन्ध सम्पादक

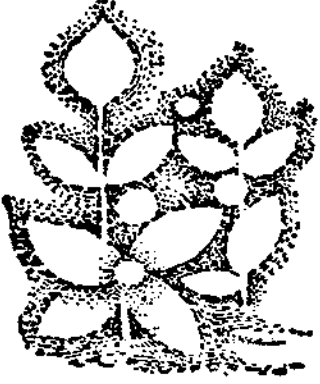
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

कुमुम अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सकल, उदयपुर



श्रद्धा स्निग्ध समर्पण



जिनका चेतनाशील व्यक्तित्व,
अमृत सागर की भांति,
अगाध एवं अपार है ।
जिनका सृजनशील कृतित्व,
अनन्त अन्तरिक्ष के समान,
अप्रतिम एवं अनुपम हैं ।
जिनका प्रभावपूर्ण प्रवचन,
क्रान्ति और शान्ति का,
परम पावन प्रतीक है ।
जिनका प्रेरणास्पद संगीत,
जन-जीवन में नव-चेतना का,
अभिनव संचार करता है ।
जिनका पावन शरण,
कल्पवृक्ष की भांति,
आत्मिक आनन्द प्रदान करता है ।
जिनका दिव्य - सन्देश,
अन्तश्चेतना के जागरण हेतु,
वरदान का अक्षय निधान है ।
उन अनन्त आस्थाओं की साकार-प्रतिमा,
परमाराध्या गुरुवर्या श्री कुसुमवती जीमंके,
पाणि-पदमों में सश्रद्धा समर्पित,
सादर सर्वात्मना समर्पण ।

विनयावन्ता—

साध्वी दिव्यप्रभा



आशीर्वचन

साध्वी श्री कुसुमवती जी का जीवन कुसुम की भाँति सद्गुणों की सौरभ से कमनीय है। उनकी विनम्रता, सरलता और चारित्र्य गुणों में गहरी निष्ठा सभी के लिए प्रेरणाप्रद है। वे इसी प्रकार श्रमणी संघ का गौरव बढ़ाती रहें, यही मेरा आशीर्वाद है।

आचार्य आनन्दऋषि

सत्य-शील-संयम की आराधना में संलग्न रहने वाले श्रमण-श्रमणी जगत् के लिए स्वयं आशीर्वाद स्वरूप हैं तो फिर मैं श्रमणी श्री कुसुमवती जी के लिए क्या आशीर्वाद दूँ ?

उनका उज्ज्वल जीवन सबके लिए ज्योतिर्मय बने, यही मेरी मनोभावना है।

-उपाध्याय पुष्करमुनि



महासती श्री कुसुमवती जी अपने उज्ज्वल चरित्र, दृढ़ संकल्प-शीलता उदात्त मनोबल तथा सौम्य विनम्र स्वभाव के कारण श्रमणसंघ में सर्वत्र लोकप्रिय हैं, सबके स्नेह एवं श्रद्धा की पात्र हैं। उनका जीवन समग्र साध्वी समाज के लिए प्रेरणा-दीप बनकर ज्योतिर्मय रहे यही मेरी मंगल भावना है।

-उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

(५)

RAJ BHAWAN

Bhubaneswar-751008

२१ फरवरी १९६०



❀ शुभ सन्देश ❀

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवतीजी महाराज की दीक्षा स्वर्णं जयन्ती मनाते हुए इस अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहे हैं।

मैं इस प्रयास की सफलता की कामना करने के साथ-साथ यह आशा करता हूँ कि “कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ” अपनी निःस्वार्थपरक सेवा में सदा कामयाब रहेगा। मैं इसके उज्ज्वल भविष्य की शुभकामना करता हूँ।

—यज्ञदत्त शर्मा
(राज्यपाल : उड़ीसा)

वाणिज्य मन्त्री

भारत

नई दिल्ली-११००११

४ जनवरी १९६०

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि परम विदुषी साध्वी रत्न श्री कुसुमवती जी महाराज की दीक्षा स्वर्णं जयन्ती के अवसर पर उनके व्यक्तित्व का अभिनन्दन करने हेतु समाज द्वारा एक “अभिनन्दन ग्रन्थ” का प्रकाशन किया जा रहा है।

मैं ग्रन्थ के सफल प्रकाशन हेतु अपनी शुभकामना भेजते हुए आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ मानव-मात्र की एक मूल्यवान निधि बन सकेगा जिससे आध्यात्मिक साधना पथ के पथिक सदैव प्रेरणा लेते रहेंगे।

—अरुण नेहरू

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

शुभ सन्देश

मुख्य मन्त्री
गुजरात सरकार

यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि परम विदुषी तथा आत्मद्रष्टा साधिका श्री कुसुमवती जी महाराज की दीक्षा के ५० वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में सार्वजनिक सम्मान के रूप में उन्हें जैन समाज द्वारा एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का निर्णय किया गया है।

जैन धर्म-दर्शन के उदात्त सिद्धान्त अहिंसा, सत्य, शील, सेवा, सदाचार के कल्याणकारी पथ पर जन-समुदाय को निरन्तर अग्रसर होने के लिए महान प्रेरणा प्रदान करने वाली श्री कुसुमवती जी वास्तव में सार्वजनिक अभिनन्दन की अधिकारिणी हैं। मुझे पूरी आशा है कि अपने सद्कार्यों के माध्यम से वे पुण्य प्रकाश-पुञ्ज बनकर जन समाज का पथ सदैव आलोकित करती रहेंगी।

अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन की सफलता की मैं हार्दिक शुभकामना करता हूँ।

— माधवसिंह

मध्यप्रदेश, विधान सभा
भोपाल

दिनांक : २२-१०-८६

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि परम विदुषी साध्वी रत्न श्री कुसुमवती जी महाराज के अपनी साधना के पचास वर्ष पूर्ण होने पर धर्मप्रेमी सज्जनों के सद्प्रयास से अभिनन्दन कार्यक्रम आयोजित किया गया है और इस अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है।

यद्यपि पश्चिमो देशों की आधुनिकता के मोह में पड़कर हमारी धर्म-भावना और आस्तिकता दिशाहीन होती जा रही है किन्तु ऐसे समय में भी जिन साधु-साधवियों और सन्त-महात्माओं ने धर्म के मूल तत्व को हमारे समाज से जोड़ रखा है उनमें महासती कुसुमवती जी महाराज का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अब जिस प्रकार से पश्चिमो विचार निस्सार सिद्ध होते जा रहे हैं इससे ऐसा संकेत मिलता है कि आत्मशान्ति और ध्येष्ठ जीवन जीने के लिए पश्चिमो समाज को फिर से इन भारतीय मनीषियों के चरणों में बैठने को विवश होना पड़ेगा।

मैं महासतीजी के चरणों में विनम्र प्रणाम प्रेषित करते हुए आपके आयोजन की सफलता की कामना करता हूँ।



—कलाश जोशी

CHIEF JUSTICE
Rajasthan

जोधपुर

१८ अक्टूबर, १९८६

महासती श्री कुसुमवतीजी ने अपनी संयमयात्रा के दौरान जैन दर्शन का गहन अध्ययन किया है। परम विदुषी होने के साथ-साथ वे उच्चकोटि की साधिका हैं। आगम धर्म का गहन ज्ञान और तात्विक विवेचन आपके प्रवचनों में मिलता है और आपके ओजस्वी प्रवचनों के माध्यम से जन-जीवन को अध्यात्म के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है। उनकी दीक्षा के स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर उनका अभिनन्दन करना धर्मबन्धुओं के लिए सराहनीय कार्य है और इस अवसर पर उनके सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन भी समीचीन है।

साध्वी श्री कुसुमवती जी महाराज के चरणों में शत-शत वन्दन।

—मितापचन्द जैन

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

प्रकाशक के बोल

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से अन्तिम तीर्थंकर विश्ववन्द्य भगवान् महावीर तक तथा वर्तमान काल तक जैन धर्म में साध्वी परम्परा अक्षुण्ण है। उस साध्वी परम्परा में अनेक ऐसी साध्वियाँ हुई हैं, जिन्होंने अपने ज्ञान और संयम साधना के उच्चतम आदर्श स्थापित किये हैं और अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर उनका मार्ग प्रशस्त किया है। किन्तु खेद का विषय है कि साध्वीरत्नों का उज्ज्वल पक्ष होते हुए भी उनका विस्तृत एवं क्रमबद्ध इतिवृत्त उपलब्ध नहीं होता, जिससे हम जैन इतिहास के एक महान् पक्ष की जानकारी से वंचित रह गये।

प्राचीनकालिक साध्वी परम्परा क्रमबद्ध रूप से न मिलने के लिए जहाँ हमें खेद है वहीं आज हमें इस बात के लिए प्रसन्नता और कुछ मात्रा में सन्तोष हो रहा है कि आज इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य होने लगे हैं। इसी अनुक्रम में यह उल्लेख करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है कि आचार्य भगवंत श्री अमरसिंह जी म. सा. की परम्परा की परम विदुषी, सरल स्वभाषी, मृदुभाषी, मितभाषी, निरभिमानी साध्वीरत्न बाल ब्रह्मचारिणी परमविदुषी महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. की दीक्षा स्वर्ण जयन्ति के उपलक्ष्य में उनके सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर उनके

पावन चरणों में समर्पित करने का निर्णय लिया गया।

कोई भी साधक, तपस्वी, संयमनिष्ठ साधु-साध्वी इस प्रकार के गुणानुवाद की इच्छा नहीं करता है। वह तो अपनी साधना में तल्लीन रहकर जो कुछ भी वह प्राप्त करता है, अपने भक्तों में मुक्तहस्त से वितरित कर देता है। वह प्रदान करने में पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है।

महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. का व्यक्तित्व भी इसी प्रकार का है। वे सचमुच कुसुमवत् ही हैं। जिस प्रकार पुष्प अपनी सौरभ से समूचे उपवन को महका देता है। ठीक उसी प्रकार आपके व्यक्तित्व की समाज में अमिट छाप स्पष्ट दिखाई दे रही है। उनके संयम की सौरभ चहुँ ओर बिखर रही है। यही कारण है कि वे आज जन-जन की श्रद्धा का केन्द्र बनी हुई हैं।

ऐसी संयमनिष्ठा महासती जी का अभिनन्दन करना उनकी शिष्याओं और अनुयायियों का परम-पुनीत कर्तव्य हो जाता है। अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से अपनी भावना अभिव्यक्त की जाती है। अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से अनेक नई बातें प्रकट हो जाती हैं। कारण कि अभिनन्दन ग्रन्थों में मूर्धन्य मनीषियों द्वारा लिखित विचारपरक, शोधपरक एवं चिन्तन प्रधान रचनाओं का संग्रह होता है जो

एक अमूल्य संग्रह हो जाता है। इन आलेखों में धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, विज्ञान आदि नाना विषयों का समावेश होता है जो विशिष्ट सन्दर्भ ग्रन्थ का रूप ग्रहण कर लेता है।

महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. का जन्म उदयपुर में हुआ किन्तु जिस समय आप तीन वर्ष की हुई उस समय आपके पिता का देहावसान हो गया। उसके पश्चात् आप अपनी माताजी के साथ उदयपुर में अपने ननिहाल में रहने लगीं। इस प्रकार उदयपुर में ही आपका जीवन व्यतीत हुआ और यहीं आप महासती श्री सोहनकुँवरजी म. सा. के सम्पर्क में आईं तथा उनकी पावन निष्ठा में दीक्षित होकर जैन धर्म की महती प्रभावना कर रही हैं। यहाँ उल्लेखनीय बिन्दु यह है कि आपकी माताजी श्री सोहनबाई ने भी उसी दिन जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की थी जिस दिन आपने संयम ग्रहण किया था। वे महासती श्री कलाशकुँवर जी के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. सा. का आशीर्षचन एवं साहित्य वाचस्पति उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म. सा. का समुचित मार्गदर्शन समय-समय पर मिलता रहा है। उसी अनुक्रम में उपप्रवर्तक श्री राजेन्द्र

मुनिजी म. सा. का भी सम्पादन-सहयोग प्रशंसनीय रहा है। इस अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादन का भार वहन किया है—प्रतिभासम्पन्न साध्वी जी श्री दिव्यप्रभाजी म. ने जो महासती श्री कुसुमवतीजी की शिष्या भी हैं। इस ग्रन्थ में सतीजी का परिश्रम व सूझबूझ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

ग्रन्थ के आशीर्वाद प्रदाता मार्गदर्शक सम्पादक मण्डल आदि के प्रति तो हम आभारी हैं ही, साथ ही हम उन विद्वद्वरत्नों का भी हृदय से आभार प्रकट करते हैं जिनके सक्रिय सहयोग के परिणाम-स्वरूप यह ग्रन्थ मूर्तरूप ले सका है। साथ ही अर्थ सहयोगियों का भी हृदय से आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने उदार हृदय से सहयोग प्रदान कर हमारी कल्पना को साकार बनाया है।

ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वथा आकर्षक बनाने का सम्पूर्ण श्रेय स्नेहमूर्ति श्री श्रीचन्द्र जी सुराणा 'सरस' को है। इसके साथ ही स्वल्पावधि में उन्होंने ग्रन्थ को तैयार भी कर दिया। ऐसे सौजन्यमूर्ति श्री सुराणा जी को धन्यवाद देकर या उनका आभार मानकर मैं उनका महत्व कम करना नहीं चाहता। वे हमारे हैं, हमारे रहेंगे।

ग्रन्थ के रूप में यह श्रद्धासुमन आपके हाथों में है। विश्वास है कि यह ग्रन्थ भावी पीढ़ी का मार्गदर्शन करने में सफल होगा।

—सम्पत्तिलाल बोहरा

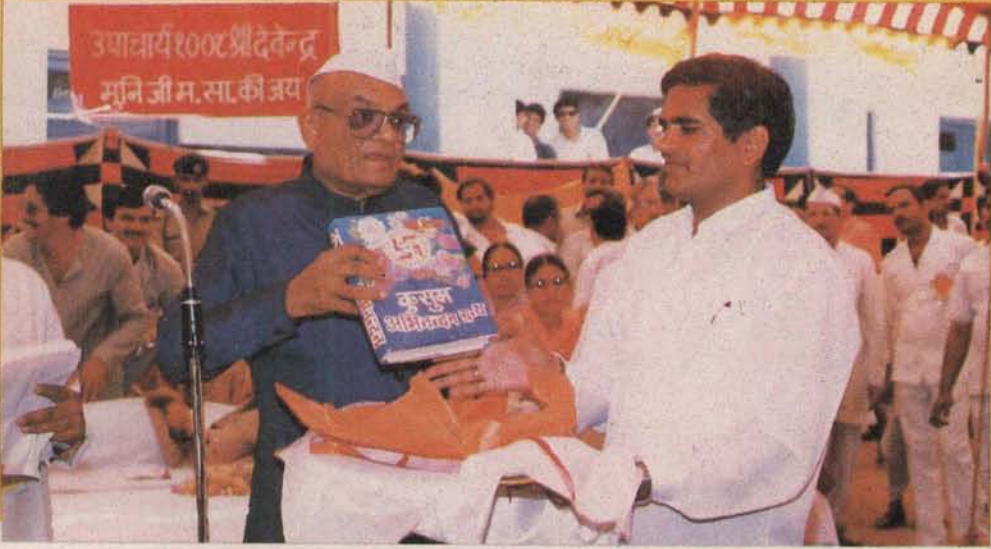
अध्यक्ष

तारकगुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल

उदयपुर

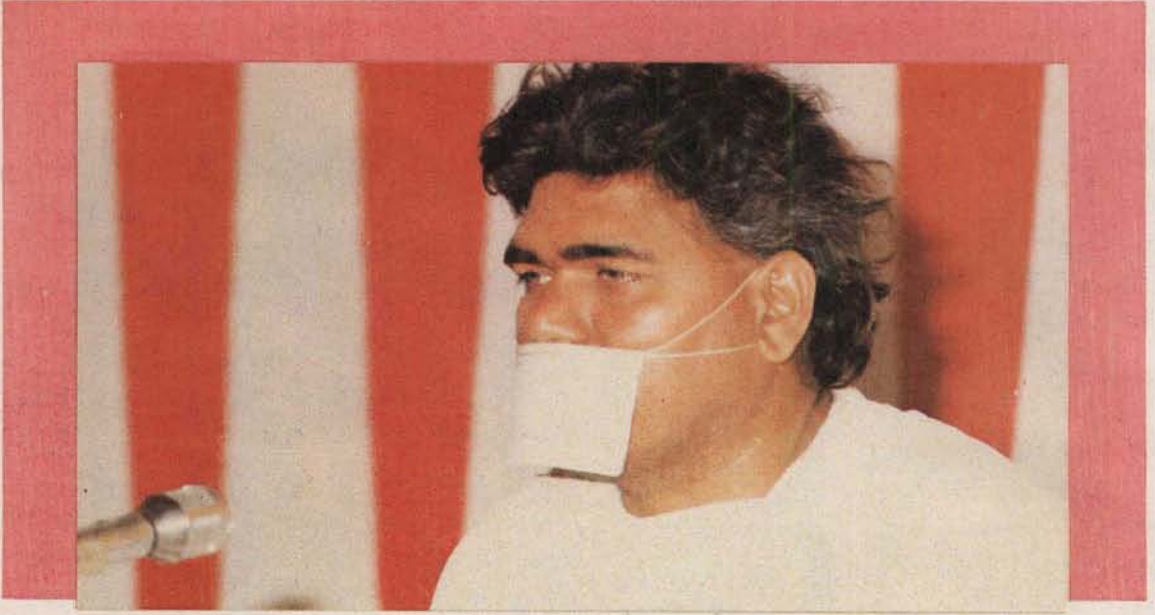




परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी के दीक्षा स्वर्णजयन्ती पर प्रकाशित कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ का विमोचन करते हुए जैनसमाज के सुप्रसिद्ध नेता श्रीमान सांचालाल जी सा बाफणा (औरंगाबाद) दिनांक २७.५.९०. नाथद्वारा !



परम श्रद्धेय प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी म. को ग्रन्थ समर्पित करते हुए श्रीमान सांचालाल जी बाफणा । पट्ट पर विराजमान श्रमण संघीय महामंत्री श्री सौभाग्य मुनि जी "कुमुद"/उपप्रवर्तक श्री राजेन्द्र मुनि, श्री नरेश मुनि जी तथा श्री राजेन्द्र मुनि जी 'रत्नेश' आदि मुनिगण !



श्रद्धा सुमन समर्पित करते हुए उपप्रवर्तक श्री राजेन्द्र मुनि जी शास्त्री एम. ए. !



परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी म. के कर-कमलों में ग्रन्थ समर्पित करती हुई सुश्री पुष्पा जैन, मन्त्री; अकाल राहत एवं पर्यटन, राजस्थान सरकार। साथ में खड़े हैं, उत्साही कार्यकर्ता माननीय बी. एल. पगारिया उदयपुर, पट्ट पर विराजिता विदुषी महासती श्री चारित्रप्रभा जी श्री दिव्यप्रभा जी अनुपमा जी, श्री निरूपमा जी आदि सतीवृन्द ।



दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर मंच पर विराजित क्रमशः श्री जयवर्धन मुनिजी, श्री सुरेन्द्र मुनि जी, उपप्रवर्तक श्री राजेन्द्र मुनि जी, पण्डितरत्न श्री मदनमुनि जी, पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी म. श्री नरेश मुनि जी, महामंत्री श्री सौभाग्य मुनि जी म. 'कुमुद' श्री राजेन्द्र मुनि जी 'रत्नेश', श्री दर्शन मुनि जी म. आदि !



दीक्षा स्वर्ण जयन्ती समारोह नाथद्वारा में पट्ट पर विराजिता महासती वृन्द क्रमशः विदुषी श्री विमलाश्री जी, परम विदुषी श्री प्रेमकुँवर जी, विदुषी श्री अनुपमा जी एम. ए. परम विदुषी श्री चारित्रप्रभा जी, विदुषी श्री गरिमा जी एम. ए., परम विदुषी श्री कुसुमवती जी म. विदुषी डा. श्री दिव्यप्रभा जी आदि !



ग्रन्थ की प्रधान सम्पादिका डा. साध्वी दिव्य प्रभाजी अपने विचारों को व्यक्त करती हुयीं!



ग्रन्थ अवलोकन करती हुयी साध्वी वृन्द, विदुषी श्री प्रेम कुंवरजी श्री अनुपमाजी श्री निरूपमाजी, श्री रुचीकाजी श्री गरिमाजी श्री चारित्र प्रभाजी आदि!

आदिवचन

राजेंद्र मुनि

(एम० ए०, साहित्य महोपाध्याय)

पुरुष और नारी.....नारी और पुरुष, दोनों ही समाज रूपी सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों समान, परस्पर पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं। यही तो वह अवस्था है जो दोनों के सुखद संयोग की पृष्ठभूमि तैयार करती है। इनमें से प्रत्येक को पूर्णता की स्थिति प्राप्त करने के लिए अन्य की अनिवार्य अपेक्षा बनी रहती है तथापि यह विडम्बना भी बनी रहती है कि पुरुष वर्ग की दाम्भिक प्रवृत्ति स्वयं को श्रेष्ठ घोषित किए बिना नहीं रहती। नरकृत शास्त्रों के बन्धन भी नारियों के लिए ही प्रतिबन्ध प्रस्तुत करते हैं। उसे हीन और क्षुद्र स्वीकार किए जाने लगा। अबला के दीन विशेषण का विशेष्य उसे बना दिया गया। यह कदाचित् नारी की समर्पण-भावना और क्षमाशीलता के कारण ही घटित होता रहा कि पुरुष का अहं अधिकाधिक तीव्र होता चला गया, नारी का सामाजिक स्थान अधोमुख होता गया—वह देवी से दीना बन गई ऐसी कि जिसके साथ पुरुषवर्ग की सहानुभूति भी नहीं रह पायी।

किसी देश व समाज के निर्माण में नारी की भूमिका सदा ही गरिमामयी रही है। एक बार नेपोलियन बोनापार्ट ने अपने देशवासियों से कहा था—'तुम मुझे सुमाताएँ दे सको तो मैं तुम्हें एक महान जाति बना सकता हूँ।' इस कथन में नारी की महत्ता

स्पष्ट उजागर हो जाती है। महात्मा गांधी की मान्यता भी कुछ ऐसी ही थी। वे कहा करते थे कि स्त्री बच्चे की प्रथम शिक्षक होती है और उसके चरित्र का संगठन करने वाली होती है। इस दृष्टि से नारी ही राष्ट्र की माता होती है, ऐसी अवस्था में नारी को हीन समझना, आत्महनन का प्रयास नहीं तो और क्या है? वास्तविकता यह है कि नारी किसी भी दृष्टि से पुरुष की अपेक्षा निम्न नहीं समझी जा सकती अपितु किसी रूप में वह उच्चतर भी है, और पुरुष उसका उपकृत भी है। नारी में पुरुष को 'मानव' बनाने और बनाए रखने की अद्भुत शक्ति है। स्वभाव से पुरुष कठोर, क्रूर व स्वच्छन्दताप्रिय होता है और नारी कोमल होती है, सदय होती है, संयत होती है। यह नारी ही तो है, जो पुरुष को अपने स्नेहिल व्यवहार, उत्सर्ग भाव व सेवा समर्पण से प्रभावित करती है, उसकी उद्वृण्डता को बाधित करती है, पाशविकता पर वल्गा लगाती है, उसकी कठोरता को अनुराग के द्रव में घोल कर समाप्त कर देती है। देवत्व के लक्षण ही नारी की सम्पदा होती है और इस वैभव को पुरुषों पर न्योछावर करने में वह तनिक भी कार्पण्य नहीं बरतती। उसके प्रयत्न का साफल्य पुरुष की मानवोचित प्रवृत्तियों के रूप में भासित होता है। अन्यथा नर हिंसा-प्रतिहिंसा का

पुतला विवेकहीन दुर्जन व स्वेच्छाचारी होकर असुर मात्र रह जाता। नारी ही वह पारस-स्पर्श है जो नर लोह को स्वर्णिम कान्ति से आसमान कर देता है। डा. ऐनी बेसेंट से सर्वथा सहमत होते हुए हम कह सकते हैं—‘नारी वर्ग असत् को दूर भगाकर सत् की पुनः प्रतिष्ठा करता है।’ पुरुष वर्ग भी नारी की इस उपकार वृत्ति से सदा अनभिज्ञ रहा हो, यह नहीं कहा जा सकता, उसने भी अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन नारी को सम्मान्य स्थान प्रदान कर किया था।

प्राचीनकाल में नारी को समाज में समानता का दर्जा प्राप्त था। मनु के अनुसार—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः

अर्थात्—जहाँ नारी का सम्मान किया जाता है, वहाँ देवता निवास करते हैं। नारियों ने यह श्रद्धेय स्थान अपनी सत्यशीलता, देवत्व, साधना और तप के आधार पर प्राप्त किया था। सीता, सावित्री, रुक्मिणी, द्रौपदी, कौशल्या, दमयन्ती, कुन्ती, सुलसा मृगावती, राजीमती, चन्दनबाला, ब्राह्मी, सुन्दरी आदि अगणित महती नारियों को इस सन्दर्भ में स्मरण किया जा सकता है। बड़ा गौरव समझा जाता था नारी वर्ग का। किन्तु समय एक-सा कहीं बना रहता है, वक्त ने कुछ ऐसा करवट बदल दी कि क्या-क्या हो गया, सामन्ती युग में एक-एक कर उनके सारे अधिकार छिनते गये और नारी पुरुषाधीन हो गई। और उसका कोई स्वतन्त्र अधिकार ही नहीं रहा, स्वाश्रित व्यक्तित्व का ह्रास होता चला गया और वह पुरुष की एक सम्पत्ति बनकर रह गई। नारी को पुरुष अपनी वासनापूर्ति का साधन मानने लगा। वे असूर्यम्पश्या बनकर घरों में बन्दिनी बना दी गईं। नीति बना दी गई कि नारी स्वतन्त्र नहीं रह सकती। बाल्यावस्था में उसे पिता के अधीन, युवावस्था में पति के अधीन और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहना चाहिये।

‘मानव जाति की माता’ का इस प्रकार अनादर होने लगा और यह क्रम उत्तरोत्तर तीव्र होता चला गया। सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष तो यह रहा कि इसका दुष्परिणाम भोगने वाला नारी वर्ग भी अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सका, उसका जागरण न जाने कहाँ चला गया? स्वाधीनता और स्वाधिकार के लिये संघर्ष के स्थान पर उसने आत्मसमर्पण कर दिया। फिर तो स्वेच्छाचारी पुरुषवर्ग की बन आयी, और उसने अपने अमानवीय स्वरूप का खुलकर परिचय दिया। नारी अबला कही ही नहीं जाने लगी, स्वयं हो भी गई।

मनुष्य का उत्थान तो मन्थर गति से ही होता है, किन्तु एक बार जब पतन आरम्भ हो जाता है, तो फिर उनकी गति तीव्र से तीव्रतर ही होती चलती है। आज की स्थिति तो ओर भी विषम है। हमें इस सन्दर्भ में मुन्शी प्रेमचन्द के ये शब्द स्मरण हो आते हैं—‘भेरे विचार में नारी सेवा और त्याग की मूर्ति है, जो अपनी कुर्बानी से अपने को बिल्कुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती हैं……’ मुझे खेद है कि बहनें पश्चिम का आदर्श लेती जा रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर वह विलास की वस्तु बन गई है। कृत्रिम तड़क-भड़क से आकर्षित होकर नारी अपनी गरिमा को जिस तेजी के साथ खोती जा रही है, वह वास्तव में खेद का विषय है, और नारियों के प्रति सहानुभूति होना स्वाभाविक हो गया है। दिग्भ्रान्त इस नारी समाज को अपनी भटकन का अहसास भी नहीं है, किन्तु क्या मात्र इसी से उसकी लक्ष्यप्राप्ति की कामना पूर्ण हो सकेगी। वस्तुस्थिति तो यह है कि आज की भारतीय नारी के समक्ष कोई स्पष्ट लक्ष्य ही नहीं है, उसकी दौड़ भी सारी व्यर्थ जा रही है। वह बनना क्या चाहती है? इसका कोई स्पष्ट चित्र उसके सामने नहीं है। इसके कारण सारी नारी समाज की हानि तो होगी ही, इस माध्यम से सारी जाति व

राष्ट्र का अकल्याण भी अवश्यम्भावी है। हाँ एक बात अवश्य है कि स्थिति चाहे विषम क्यों न हो गई हो अभी वह असाध्य नहीं हुई है। बहनों को सतर्क हो जाना चाहिये और इस कुमार्ग से लौट जाना चाहिये। तेजी से दौड़कर उस चौराहे पर पहुँच जाना चाहिये जहाँ से वे उस गलत मार्ग पर चढ़ गई थीं और फिर सोच-समझकर उन्हें सही मार्ग पर फिर से तीव्रता के साथ गतिशील हो जाना चाहिये, इसी में उनका, सारे राष्ट्र का और जाति का कल्याण निहित है। सभ्यता की चका-चौध से निकलकर संस्कृति के शीतलताप्रद क्षेत्र में ही उसे विचरण करना चाहिये। इसके लिये आवश्यक यह है कि नारी यह समझ ले कि उसका स्वरूप और उसकी आदर्श भूमिका क्या है, उसकी सार्थकता किस क्षेत्र में है और उसके आदर्श क्या हैं? वह स्वयं को पहचानने की क्षमता विकसित करे—यह परमावश्यक है। आचार्य विनोबा भावे की यह मान्यता युक्तियुक्त और औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है—

‘बहनों को तो गहरा अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि सारा समाज उनके हाथ में है। ऐसी हालत में उनमें सरस्वती जैसी तेजस्विता आनी चाहिये। इसके लिये साधारण ज्ञान या अध्ययन अपर्याप्त है—आत्मज्ञान होना चाहिये। बहनों को अध्यात्म-निष्ठ बनना होगा।’

आज की इस विषम परिस्थिति में भी नारी समाज के लिये उसका गौरवपूर्ण इतिहास उसके

लिये गौरव का विषय है, इतिहास साक्षी है, यहाँ समय-समय पर अनेक वीरांगनाएँ एवं महासतियाँ हुई हैं जिन्होंने अपने सच्चरित्र से मानव समाज को मार्गदर्शन प्रदान किया है, जैन धर्म की उन्हीं महासती परम्परा में परमादरणीया साध्वीरत्न विदुषी श्री कुसुमवतीजी का नाम स्मरण करते हुए गौरव का अनुभव होता है, जिनका जीवन त्याग, वैराग्य संयम का प्रतीक रहा है, जिनके जीवन के ५० से भी ऊपर बसन्त साधनाकाल में व्यतीत हुए हैं और इस दीक्षा स्वर्ण जयन्ती की पावन पुनीत वेला में उन्हीं की प्रधान शिष्या साध्वीरत्न श्री दिव्यप्रभा जी एम० ए०, पी-एच० डी० ने अपने श्रद्धासुमन समर्पित करने हेतु समाज के सम्मुख एक योजना प्रस्तुत की और इस निमित्त से सम्पूर्ण समाज को भी अभिनन्दन करने का एक अवसर प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में श्री दिव्यप्रभाजी ने अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय देते हुए जो संपादन किया है उसी के फलस्वरूप पाठकों के सम्मुख यह ग्रन्थ नवीन शैली व नवीन सामग्री के साथ प्रकाशित हो रहा है। महासती श्री दिव्यप्रभाजी ने राजस्थानी जैन साध्वियों में सर्वप्रथम पी-एच० डी० प्राप्त कर समाज के गौरव में चार चाँद लगाये हैं। ग्रन्थ को अल्प समय में तैयार कर श्री श्रीचन्द जी सुराणा ने सहयोग प्रदान किया है। ज्ञात-अज्ञात रूप में जिनका भी सहयोग रहा है वे सभी साधुवाद के पात्र हैं।

दो शब्द

—डॉ० एम० पी० पट्टेरिया,
संस्कृत विभाग, एस० डी० डिग्री कालेज,
मठ—नार, देवरिया (उ० प्र०)

● अभिनन्दन ?.....किसका अभिनन्दन ?.....
व्यक्ति का, उसके गुणों का, चरित्र का, या.....?

● गुण/चरित्र आदि तो व्यक्ति केन्द्रित/आधा-
रित होते हैं। व्यक्ति के बिना, उनका न तो अस्तित्व
रहता है, न ही विकास/उत्कर्ष हो पाता है। इस-
लिए, अभिनन्दनीय 'व्यक्ति' है; न कि उसके गुण,
चरित्र आदि।

● उक्त चिन्तन, को यदि 'सिद्धान्त' मान
लिया जाये, तो 'व्यक्ति' के नाते 'चोर-उचक्के',
'लोफर-लफंगे' भी अभिनन्दन के पात्र बन
जायेंगे।

● 'व्यक्ति' अभिनन्दनीय है; पर, 'व्यक्ति' के
नाते नहीं; बल्कि, आदर्श गुणों का, उत्कृष्ट-चरित्र
का 'आधार' होने के नाते। क्योंकि, अनुकरणीय
आदर्शों/गुणों से युक्त व्यक्तित्व सदा से ही 'अभि-
नन्दनीय' बनता आया है।

● आजकल, व्यक्ति के 'व्यक्तित्व' का, उसके
'गुणों' का, 'चरित्र' का सही-सही ज्ञान/अनुमान
कर पाना बड़ा दुष्कर है। वस्तुतः, सार्वजनिक/
सामाजिक-स्तर पर, व्यक्ति के जो गुण/चरित्र, जिस
स्वरूप-स्तर के परिलक्षित होते हैं, उसका एका-
न्तिक/वैयक्तिक व्यक्तित्व, उनसे विपरीत स्वरूप-

स्तर के गुण/चरित्र से युक्त देखा गया है। यदि
उक्त चिन्तन को सिद्धान्त मान लें, तो विविध-
साधनों/माध्यमों के सहकार से स्वयं को 'गुण-
वान्' 'चरित्रवान्' विज्ञापित कराने वाले 'दोहरे-
व्यक्तित्व' युक्त व्यक्ति भी अभिनन्दन की पात्रता
पा जायेंगे।

● तब, क्या ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य,
शौर्य-पराक्रम, क्रीड़ा-व्यायाम आदि क्षेत्रों में उत्कृष्ट
कौशल अर्जित करने वाले व्यक्ति को अभिनन्दन
का पात्र मानें ?

● यह एक ऐसा चिन्तन है, जिसे सिद्धान्ततः
स्वीकार करते समय, व्यक्ति के कौशल में सतत
अभ्यास-नैरन्तर्य की सन्तुष्टि अपेक्षित रहती है।
क्योंकि, प्रायः यह पाया गया है कि उक्त प्रकार के
क्षेत्रों में अर्जित उत्कृष्टताएँ, यदा-कदा शिथिलता
का भी वरण कर लेती हैं; जिससे, व्यक्ति की
उपलब्धि का उत्कृष्टता-स्तर, शाश्वत समरसता से
च्युत हो जाता है।

● तो क्या वे अभिनन्दनीय हैं, जो वैराग्य-
त्याग, तप-साधना, ध्यान-समाधि आदि के क्षेत्र में
सुस्थापित हो चुके हैं ?

● इस चिन्तन को सिद्धान्ततः स्वीकार कर
लेने पर, वे व्यक्ति भी अभिनन्दन के हकदार मान

लिये जायेंगे, जिन्होंने उक्त पवित्र आध्यात्मिक-सन्दर्भों को 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति, पूर्ति एवं वृष्टि का माध्यम मान लिया है।

● तब फिर उदार, दयालु, दानी, परोपकारी आदि वर्गों के व्यक्ति अभिनन्दन के पात्र माने जायें ?

● उक्त शब्द-समूह, सामयिक सामाजिक-सन्दर्भों में अपनी गुणात्मक-पहिचान खो चुके हैं ! और स्वार्थी, शोषक, वञ्चक, अहंकारी आदि स्वरूपों के पर्याय बन गये हैं।

● तो क्या अभिनन्दन 'अर्थहीन' है ?

● जो शब्द, अपनी गुणात्मकता खो देते हैं, फिर भी लोक व्यवहार में प्रचलित बने रहते हैं, वे शब्द, एक नयी पहिचान के अर्थ में 'रूढ़' बन जाते हैं। पूर्वोक्त चिन्तनों के परिप्रेक्ष्य में 'अभिनन्दन' शब्द भी ऐसा ही जान पड़ता है।

● तब क्यों आयोजित किये जाते हैं 'अभिनन्दन-समारोह' ? और, क्यों छपाये जाते हैं 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' ?

● वर्तमान सामाजिक-परिवेष्ट में 'गुणात्मक-प्रतिद्वन्द्विता' का स्थान 'प्रतिद्वन्द्वात्मक-असहिष्णुता' ने ले लिया है। सार्वजनिक-स्तर पर सामूहिक-प्रशस्ति गान कराकर कुण्ठित—अहं को सन्तुष्टि

प्रदान करने का माध्यम बन गये हैं 'अभिनन्दन-समारोह'; और इन प्रशस्तियों की अमिटता का अहसास यावज्जीवन कराते रहने के निमित्त भेंट किये जाने लगे हैं 'अभिनन्दन-ग्रन्थ'। लोक-व्यवहार की इस 'गतानुगतिकता' ने एक ओर तो इसे एक परम्परा/रूढ़ि का स्वरूप प्रदान कर दिया है, तो दूसरी ओर, अभिनन्दन-प्रक्रिया के 'लक्ष्यभूत' एवं 'माध्यमभूत' दोनों ही वर्गों को 'यज्ञ' और 'श्री' के अर्जन का समवेत-साधन भी बना दिया है। अतएव, 'अभिनन्दन' और 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' से जुड़ा समग्र कार्य-व्यवहार 'मूल्य-परक' न रहकर 'व्यक्तिपरक' व 'अर्थपरक' बन जाता है।

● प्रसंगगत अभिनन्दन-सन्दर्भ में इन/ऐसी चिन्तन दृष्टियों की 'अर्थवत्ता' और 'सुकरता' की मानसिकता पर दृष्टिपात करने से घरे होकर, सहज/सरल-मना, विदुषी जैनसाध्वी श्री कुसुमवती जी की वैराग्य-साधना की सुदीर्घता की प्रतीक पावन-प्रसंग पर, उन्हें मैं अपनी श्रद्धा-सुमनाञ्जलियाँ समर्पित करता हूँ, और यह मंगलकामना करता हूँ कि वे, अपने आध्यात्मिक-उत्कर्ष की दिशा में सतत् प्रगतिशील बनी रहें।

२-वकीय

—साधवी दिव्यप्रभा
(एम. ए., पी-एच. डी.)

जैनधर्म में साधना के दृष्टिकोण से लिंग भेद को महत्व नहीं दिया गया है। यहाँ स्त्री और पुरुष दोनों को ही समान अधिकार प्राप्त हैं। इस संबंध में साम्प्रदायिक मतभेद होते हुए भी जैन साहित्य में ऐसी महान नारियों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने संयम पथ पर बढ़ते हुए आत्म-कल्याण किया। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी ने तो द्रव्य संयम भी ग्रहण नहीं किया था पर भाव संयम के कारण उन्हें मुक्ति मिल गई। माता मरुदेवी के पश्चात् भगवान ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी का विवरण मिलता है। सांसारिक अवस्था में उनकी उपलब्धियों की चर्चा न करते हुए इतना ही बताना उचित होगा कि इन दोनों बहिनों ने संयम व्रत अंगीकार कर स्वयं का तो कल्याण किया ही साथ ही उन्होंने अपने भ्राता घोर तपस्वी बाहुबली को भी वास्तविकता का बोध कराया था।

बाहुबली ने दीक्षा व्रत अंगीकार करने के पश्चात् घोर तपश्चर्या आरम्भ कर दी। उनकी यह तपश्चर्या चरम सीमा पर पहुँच गई किन्तु फिर भी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। इसका कारण यह था कि उनके मन में इस बात को लेकर उथल-पुथल मची हुई थी कि संयम में ज्येष्ठ अपने लघु भ्राताओं को वन्दन कैसे करूँ ?

ज्येष्ठ होकर अनुजों को वन्दन ! नहीं। उनके मन में यही अहं था, जो मिथ्या था। ब्राह्मी और सुन्दरी ने उनके निकट आकर गुहार लगाई, हे भाई ! गज, से उतरो। जब तक आप गज से नहीं उतरेंगे तब तक आपको केवलज्ञान नहीं हो पायेगा। बहिनों के ये शब्द जब बाहुबली के कर्णकुहरों में पड़े तो वे चिन्तन में डूब गये। गज ! यहाँ वन में गज कहाँ है ? और इसी अनुक्रम में उनके चिन्तन ने मोड़ लिया। हाँ, मैं मानरूपी गज पर आरूढ़ हूँ। मेरा यह मान मिथ्या है, वे मेरे अनुज हैं तो क्या हुआ, संयम में तो ज्येष्ठ हैं और ज्येष्ठ होने के नाते मुझे उनकी वन्दना करनी चाहिये। बस ! यह विचार आते ही बाहुबली अपने भाइयों के समीप वन्दनार्थ जाने के हेतु अपना कदम बढ़ाते हैं कि उन्हें केवलज्ञान हो जाता है। यदि ब्राह्मी और सुन्दरी उन्हें सचेत नहीं करतीं, उनके मिथ्या भ्रम की ओर ध्यान आकर्षित नहीं करातीं, तो क्या उन्हें केवलज्ञान हो पाता ?

श्वेताम्बर आगमों के अनुसार उन्नीसवें तीर्थंकर भगवती मल्ली नारी थी। भगवती मल्ली के उदाहरण से स्पष्ट है कि नारी अपनी साधना शक्ति से तीर्थंकर जैसा सर्वोच्च पद भी प्राप्त कर सकती है। यह नारी की साधना का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(१४)

साधवीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

एक अन्य महान नारी का उदाहरण बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि के समय का मिलता है, जो न केवल अपने भावी पति के पद चिह्नों पर चल पड़ी थी, वरन् उसने अपने देवर को भी प्रतिबोध देकर सन्मार्ग पर लगाया था।

अरिष्टनेमि का राजीमती से विवाह होने वाला था। राजीमती भोजकुल के राजा उग्रसेन की कन्या थी। वाराणसी महल की ओर जा रही थी। तभी मार्ग में पशुओं के करुण-क्रन्दन की चीत्कार अरिष्टनेमि ने सुनी और उन्होंने इसकी जानकारी ली। उन्हें बताया गया कि वाराणसी के भोजन के लिए जिन पशुओं का वध किया जावेगा उन्हीं पशुओं का यह क्रन्दन है। यह सुनते ही अरिष्टनेमि का हृदय करुणा से आप्लावित हो उठा और उन्होंने आगे न बढ़ते हुए पीछे लौट चलने का आदेश दिया। संयम व्रत अंगीकार कर तीर्थंकर पद प्राप्त किया।

इधर जब अरिष्टनेमि के लौट जाने के समाचार राजमती को मिलते हैं तब वह पहले विलाप करती है, उसकी आँखों से अश्रुओं की अविरल धाराएँ छूटती हैं। उसका यह विलाप करुण रस का एक ज्वलन्त उदाहरण है। और उसके पश्चात् वह ३० अरिष्टनेमि के पदचिह्नों पर चलने की घोषणा कर संयम व्रत अंगीकार कर लेती है। यह तो उसके उच्च आदर्श को प्रकट करता है। इससे भी उच्च स्थिति उस समय आती है, जब वह साध्वी वेश में ग्राम-ग्राम विचरण करती है। ऐसे ही विचरण काल में एक बार वर्षा से भीग जाती है। समीप ही उसे एक गुफा दिखाई देती है। राजीमती उस गुफा में जाकर अपने वस्त्र उतार कर सुखाने लगती है। उसी गुफा में अरिष्टनेमि का अनुज रथनेमि संयम व्रत अंगीकार कर साधनारत था। राजीमती इस तथ्य से अनभिज्ञ थी कि गुफा में रथनेमि साधनारत है। रथनेमि ने निरावृत सौन्दर्य सम्पन्न नारी देह को देखा तो वह विचलित हो

उठा। वह अपने आप पर नियन्त्रण नहीं रख पाया पाया और उसने राजीमती से कामयाबना की। जैसे ही राजीमती ने रथनेमि का स्वर सुना तो वह स्तब्ध रह गई। एक बार तो वह भय से कांप उठी। किन्तु तभी उसने साहस जुटाया और अपने आपको सँभालते हुए रथनेमि की सम्बोधित करते हुए कहा—“रथनेमि ! तुम तो साधारण पुरुष हो, यदि साक्षात् रूप से वैश्रमण देव और सुन्दरता में नलकूबर तथा साक्षात् इन्द्र भी आ जाये तो भी मैं उन्हें नहीं चाहूँगी क्योंकि मैं कुलवती हूँ। नाग-जाति के अंगघ्न सर्प होते हैं। जो जलती हुई आग में गिरना स्वीकार करते हैं। किन्तु वमन किये हुए विष को कभी वापस नहीं लेते। फिर तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयों को फिर से ग्रहण करोगे ? तुम्हें इस विपरीत मार्ग पर चलते हुए लज्जा नहीं आती ? रथनेमि ! तुम्हें धिक्कार है। इस प्रकार अंगीकृत व्रत से गिरने की अपेक्षा तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है।

राजीमती की इस हितकारी फटकार को सुन कर रथनेमि पर प्रभाव हुआ और उसका विचलित मन पुनः धर्म में स्थिर हो गया।

यह दृष्टान्त नारी की संयम के प्रति दृढ़ भावना को प्रकट करता है। साथ ही यह भी स्पष्ट करता है कि नारी पथ से भटके हुए राही को सन्मार्ग पर लाना भी जानती है।

भगवान् महावीर के युग पर दृष्टिपात करने से हमें महान सन्नारियों के दर्शन होते हैं। व्याख्या प्रज्ञप्ति में कौशाम्बी के राजा की पुत्री जयन्ती का विवरण उपलब्ध होता है। जयन्ती एक धर्मनिष्ठ नारी थी। जयन्ती के मार्मिक प्रश्न और भगवान् महावीर का समाधान यह बताता है कि जयन्ती को गहरा तात्त्विक ज्ञान था। कालान्तर में जयन्ती दीक्षा ग्रहण कर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुई।

इसी प्रकार स्थानांग सूत्र में भगवान् महावीर की अनन्य उपासिका सुलसा का विवरण मिलता है।

सुलसा की महत्ता इसी बात से प्रकट होती है कि भगवान् महावीर ने अंबड के माध्यम से उसे धर्म-सन्देश भिजवाया था। यह सुलसा की धर्मनिष्ठता और श्रमणोपासकता का ज्वलन्त उदाहरण है।

भगवान् महावीर के समय जिन अन्य महान महासतियों का उल्लेख आता है। उनके नाम हैं— महासती श्री प्रभावती, महासती पद्मावती, महासती मृगावती, महासती चन्दनबाला, महासती शिवा, महासती चेलणा आदि आदि। एक ही रात्रि में दो-दो महासतियों को केवलज्ञान की उपलब्धियाँ होना एक प्रकार से आश्चर्य ही है। जिस समय भगवान् महावीर कौशाम्बी पधारे तो वहाँ संध्या के समय भगवान् महावीर के दर्शनार्थ सूर्य और चन्द्र भी पधारे। इस कारण मृगावती को समय का ध्यान नहीं रहा। जब वह धर्मस्थानक में आई तो रात हो चुकी थी। इस पर महासती चन्दनबाला ने उपालम्भ दिया। महासती मृगावती ने इसके लिए क्षमा-याचना की और पश्चात्ताप करती हुई भावनाओं की उच्चतम श्रेणी में जा पहुँची और केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उस समय चन्दनबाला के पास से एक सर्प निकला। रात्रि के गहन अन्धकार में भी मृगावती को सूर्य के प्रकाश के समान दिखाई दे रहा था। वह अपने ज्ञानालोक से सब कुछ देख रही थी। इसलिये मृगावती ने चन्दनबाला का हाथ एक ओर कर दिया। चन्दनबाला ने इसका कारण जानना चाहा। मृगावती ने वास्तविकता प्रकट कर दी। चन्दनबाला समझ गई कि महासती मृगावती को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई है। अतः वह मृगावती की स्तुति करते हुए आत्मनिरीक्षण करने लगी और इसी अनुक्रम में भावनाओं की उच्चतम श्रेणी पर पहुँच कर कर्मों का क्षय कर दिया और चन्दनबाला को भी केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। क्या ऐसी महान साधिकाओं के उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध हैं ?

इसी अनुक्रम में यहाँ प्रातः स्मरणीया याकिनी

महत्तरा का नामोल्लेख किये बिना भी नहीं रहा जा सकता। याकिनी महत्तरा के कारण ही आचार्य हरिभद्र जैसे सर्वतो प्रतिभासम्पन्न आचार्य जैन जगत को उपलब्ध हुए हैं। उन्हें प्रतिबोधित कर याकिनी महत्तरा ने बहुत बड़ा उपकार किया। स्वयं आचार्य हरिभद्र ने भी याकिनी महत्तरा का उपकार माना है और अपने साहित्य में सर्वत्र उनके नाम का उल्लेख किया है। दूसरे महत्तरा शब्द से इस महिमामण्डित साध्वी का समाज में रहा प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

ऊपर कुछ महिमामयी, गरिमामयी, महासतियों के नामों का उल्लेख किया है ऐसी ही महासतियों का योगदान आगे भी रहा है। किन्तु यह दुर्भाग्य का ही विषय रहा है कि साध्वी समाज का क्रमबद्ध इतिवृत्त प्राप्त नहीं होता है। पुरुष वर्ग को छोड़ भी दें तो स्वयं साध्वी समाज ने भी इन ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। इसका एक मुख्य कारण जैन साधना पद्धति की निर्लिप्त भावना भी है। जैन साधक/साधिकायें कभी भी अपने नाम के पीछे या प्रसिद्धि के पीछे नहीं भागे। उन्हें तो अपनी साधना से मतलब रहा। किन्तु आज हम अपने पूर्ववर्ती महान साधकों के जीवन वृत्त को जानने के लिए तरस रहे हैं। समाज और अनुयायी वर्ग के अनुकरण के लिए इनका होना आवश्यक है। ऐसे महान साधक-साधिकाओं के जीवन का अध्ययन करने से सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। ऐसी ही महान साधिकाओं की वर्तमान युग में भी कमी नहीं रही है। किन्तु उनका भी क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं होता है। इतिहास के जिज्ञासुओं, समाज के कर्णधारों और स्वयं साधक-वर्ग को इस दिशा में सार्थक पहल करने की आवश्यकता है। अन्यथा आने वाली पीढ़ी एक बहुत बड़े तथ्य से अपरिचित रह जायेगी, वंचित रह जायेगी। अन्य समस्त परम्पराओं को छोड़कर केवल आचार्य श्री अमरसिंह जी म० सा० की परम्परा पर ही यदि दृष्टिपात



पूज्य महासती श्री कुसुमवती जी अपनी शिष्याएं साध्वी दिव्यप्रभाजी एवं साध्वी गरिमाजी को अध्ययन कराते हुए ।



अभिनन्दन ग्रन्थ सम्पादन प्रमुख सहायिका
विदुषी साध्वी श्री अनुपमा जी

कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ की कुशल संपादिका
प्रबुद्धचेता साध्वी डा. दिव्यप्रभा जी महाराज



किया जाता है तो अनेक महान साधिकाओं के नामोल्लेख मिलते हैं।

अमर परम्परा के इतिहास में अनेक ज्योतिर्धर जगमगाती साधिकाएँ हुई हैं जिनके तेजस्वी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यहाँ चिन्तन न कर मैं सद्गुरुणीजी की गुरुणी साध्वीरत्न श्री सोहनकुंवर जी महाराज के सम्बन्ध में चन्द्र पंक्तियों में चिन्तन प्रस्तुत कर रही हूँ।

महासती सोहनकुंवर जी महाराज तप और त्याग की, स्नेह और सद्भावना की एक ऐसी मिशाल थीं जिन पर स्थानकवासी समाज को हार्दिक गौरव था। जिस समय विभिन्न सम्प्रदायों फन फँलाकर खड़ी थीं उस समय एक सम्प्रदाय वाले दूसरी सम्प्रदाय के महापुरुषों का गुणोत्कीर्तन करने से कतराते थे उस समय उनके तप और त्यागमय जीवन को निहार कर आदरणीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज के हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे थे। उन्होंने एक बार कहा कि मैंने अनेक साधवियाँ देखी हैं पर महासती सोहनकुंवर जी जैसी धीर गम्भीर साध्वी नहीं देखी। यही कारण है कि उनके गुणों पर आकर्षित होकर अजमेर शिखर सम्मेलन के सुनहरे अवसर पर सती समुदाय ने चन्दनबाला श्रमणी संघ का निर्माण किया और उस संघ की प्रमुखा पद पर सर्वानुमति से उन्हें निर्वाचित किया।

श्री सोहनकुंवर जी महाराज के त्याग वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचनों को सुनकर अनेक बहनों ने संयम मार्ग स्वीकार किया। पर उन्होंने अपनी शिष्यायें नहीं बनायीं वे बहुत ही निस्पृहा थीं। अन्त में त्यागमूर्ति मदनकुंवरजी महाराज की आज्ञा से उन्होंने अपनी तीन शिष्यायें बनायीं। प्रथम महासती श्री कुसुमवतीजी, द्वितीय महासती श्री पुष्पवतीजी और तृतीय महासती श्री प्रभावतीजी। ये तीनों शिष्यायें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य के रूप में रहीं। तीनों ने अपनी प्रतापपूर्ण प्रतिभा से सद्गुरुणीजी के नाम को

दिग्दिगंत में गुंजाया। तीनों ने पारस्परिक स्नेह और सद्भावना का एक ज्वलन्त आदर्श उपस्थित कर जन-जन के लिए प्रेरणा स्रोत बनीं।

हाँ तो सद्गुरुणी जी श्री कुसुमवती जी म०, महासती श्री सोहनकुंवर जी महाराज की पट्टधर शिष्या हैं। वर्षों तक गुरुणीजी के चरणों में बैठकर उन्होंने ज्ञानार्जन किया और भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर जैन धर्म की प्रबल प्रभावना की। इसीलिए वे अभिवन्दनीय और अभिनन्दनीय हैं। इसी कारण उनके चरणारविन्दों में अनन्त श्रद्धा को मूर्तरूप देने वाला अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का हमें गौरव प्राप्त हुआ है।

गुरुवर्या श्री कुसुमवती जी म० सा० का जीवन दर्शन विविध आयामी है। यहाँ उस पर चर्चा करना प्रासंगिक नहीं होगा (जिज्ञासु पाठक उनका जीवन दर्शन इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में देखने का कष्ट करें) फिर भी एक बात कहे बगैर नहीं रहा जाता। इस तथ्य से सभी भलीभाँति परिचित हैं कि कुसुम (फूल) के बाह्य स्वरूप का उतना अधिक महत्व नहीं होता जितना उसके अन्तर का। कुसुम की वास्तविक पहचान उसकी सुगन्ध से होती है। उसकी सौरभ से समूचा उपवन सुरभित हो जाता है और हर कोई उस सुरभित पुष्प का आनन्द लेना चाहता है। यही बात पूजनीया गुरुणी जी म० पर यथार्थ रूप से लागू होती है। आज समाज उनकी संयम-साधना एवं हृद आचार पालन से भलीभाँति परिचित है और उनके संयम की सौरभ चहुँ ओर व्याप्त है। गुरुणी जी श्री अपने नाम के अनुरूप कुसुमवत् ही हैं।

पूजनीया गुरुणी जी के दीक्षा के पचासवें वर्ष में ही अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने की प्रबल भावना थी, किंतु उस समय शोधकार्य में अत्यधिक व्यस्त होने के कारण मैं अपनी उस भावना को मूर्त रूप प्रदान नहीं कर सकी। जैसे ही मेरा शोध कार्य सम्पन्न हुआ, अन्तर्मन की श्रद्धा और प्रबल प्रेरणा से अभिनन्दन ग्रन्थ का कार्य आरम्भ कर दिया।

पूजनीया गुरुणी जी महाराज का जैन समाज पर तो उपकार है ही किन्तु हम शिष्याओं पर भी असीम उपकार है। वस्तुस्थिति तो यह है कि आज हम जो भी हैं, जैसी भी हैं यह उनकी असीम अनुकम्पा का परिणाम है। अपने उपकारी के प्रति हमारा (उनकी शिष्याओं का) भी कुछ कर्तव्य होता है। इसी कर्तव्य-पालन के रूप में यह अभिनन्दन ग्रन्थ चौवनवें दीक्षा वर्ष, दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर उनके चरणों में सहज श्रद्धा, सभक्ति, सादर समर्पित किया जा रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल सात खण्ड हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रथम खण्ड में गुरु भगवन्तों वरिष्ठ मुनिराजों महासतियों आदि के आशीर्वाचन, शुभकामना संदेश शिष्याओं अनुयायी वर्ग के श्रद्धामुमन शुभकामना सन्देश है। इन आशीर्वाचनों और शुभकामना संदेश, में भी गुरुणी जी के जोवन को विशिष्टताओं के दिग्दर्शन होते हैं।

द्वितीय खण्ड में परम श्रद्धेय आचार्य श्री अमर सिंहजी महाराज की गौरव-गरिमा मंडित गुरुणी परम्परा का विवरण दिया गया है एवं परमविदुषी गुरुणी जी श्री कुसुमवती जो म० सा० के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। प्रारम्भ में गुरुणीजी म. सा. का जीवन परिचय यद्यपि विस्तृत रूप से देने का प्रयास किया है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी इसमें कुछ कमी रह गई है। अनेक महत्वपूर्ण संस्मरण तथा घटनाएँ स्मृति के बाहर होने से लिपिबद्ध नहीं की जा सकी हैं। भविष्य में उनका संग्रह कर स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित करवाने का प्रयास किया जाएगा।

तृतीय खण्ड में धर्म तथा दर्शन में जैन परंपरा की परिलब्धियों को वर्तमान राष्ट्रीय सन्दर्भ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि इस सन्दर्भ में अपेक्षित सामग्री का अभाव रहा है तथा जो भी सामग्री है, उसके प्रस्तुतीकरण से एक नवीन अवधारणा का जन्म हुआ है।

चतुर्थ खण्ड जैन संस्कृति के विविध आयामों को उद्घाटित करने वाला है। इस खण्ड में जैन संस्कृति से सम्बन्धित मौलिक चिन्तन प्रधान एवं शोध-प्रधान निबन्धों का संग्रह किया गया है।

पंचम खण्ड में जैन साहित्य और इतिहास से सम्बन्धित विद्वानों के महत्वपूर्ण लेख संग्रहीत हैं। यद्यपि जैन साहित्य अथाह समुद्र के समान है तथापि एक झलक यहाँ प्रस्तुत की गई है।

षष्ठम खण्ड में विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन परम्परा की उपलब्धियों के रूप में महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया गया है।

ग्रन्थ के सप्तम खण्ड में परमविदुषी गुरुवर्या श्री के कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए उनकी गद्य-पद्य रचनाएँ दी गई हैं। विस्तार भय से उनके प्रवचन, कहानी, निबन्ध, चिन्तनसूत्र, भजन, स्तवन आदि के कुछ अंश ही दिये गये हैं जिससे पाठक उनके कृतित्व से परिचित हो सकें।

इस प्रकार यह महाग्रन्थ सात खण्डों में विभक्त है। श्रमण और श्रमणियां सप्त भय स्थान से मुक्त होती हैं उनके जीवन में अभय का आघोष होता है इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ के सात खण्ड रखे गये हैं यों तो अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण की एक परम्परा बन गयी है पर उसमें सम-सामयिक कला, साहित्य, संस्कृति आदि अनेक विधाओं का समावेश होने से अभिनन्दनीय व्यक्तित्व की गुण-गौरव गाथा का गान तो कम होता है, किन्तु उच्चस्तरिय मौलिक चिन्तन-धारा का सुन्दर समावेश पाठकों के लिए वरदान स्वरूप सिद्ध होता है। साध्वीरत्न गुरुणी जी श्री कुसुमवती जी अभिनन्दन ग्रन्थ में भी यही विशेषता प्रधान रूप से विद्यमान है।

अभिनन्दन ग्रन्थ के भगीरथ कार्य को सम्पन्न करने के लिए अनेक महामनीषियों का मुझे हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है। मैं सर्वप्रथम श्रमण संघ के नायक महामहिम राष्ट्रसंत आनन्द ऋषिजी जी महाराज की असीम कृपा को भूल नहीं सकती,

जिनका मंगलमय आशीर्वाद प्राप्त हुआ। अनन्त आस्था के केन्द्र सद्गुरुवर्य उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री की असीम कृपा के फलस्वरूप ही प्रस्तुत ग्रन्थ मूर्त रूप धारण कर सका है। उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी का पथ प्रदर्शन प्रकाश स्तम्भ की तरह मेरे लिए उपयोगी रहा। सरलमना पं० हीरामुनि जी म०, विद्वद्रत्न श्री गणेश मुनिजी म०, कलम के धनी श्री रमेश मुनि जी, उत्साह के ज्वलन्त प्रतीक श्री राजेन्द्रमुनि जी प्रभृति गुरुजनों का हादिक आशीर्वाद तथा सहयोग जो प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं आभार व्यक्त न कर यही मंगलकामना करती हूँ कि उनका वरद-हस्त सदा इसी प्रकार रहे जिससे कि मैं साहित्य के क्षेत्र में अपने कदम आगे बढ़ा सकूँ।

परमादरणीया ज्येष्ठ गुरुबहिन प्रतिभा मूर्ति श्री चारित्रप्रभा जी की प्रेरणा मेरे लिए मम्बल रूप में रही तथा दर्शनप्रभाजी की प्रेरणा भी मेरे साथ रही। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में मेरी लघु गुरु बहिन तेजस्वी प्रतिभा की धनी महासती गरिमाजी का हादिक सहयोग प्राप्त हुआ है। वे स्वयं कवयित्री हैं इसलिए कविता विभाग के सम्पादन में उनका जो सहयोग मिला है वह भुलाया नहीं जा सकता है। साध्वी अनुपमाजी एवं साध्वी निरुपमाजी की सतत् प्रेरणा और उनकी सेवा के कारण प्रस्तुत कार्य करने में मुझे सहयोग रहा है। मैं चाहूँगी कि उनका सतत् आध्यात्मिक उत्कर्ष होता रहे।

प्रस्तुत ग्रन्थराज के सम्पादन में सम्पादक मण्डल के विद्वानों का जो सहयोग प्राप्त हुआ है उसका वर्णन में किस शब्दावली में करूँ, यह समझ में नहीं आ रहा है। सर्वप्रथम मैं उन विद्वानों का स्मरण कर रही हूँ जिन्होंने मेरे पत्र को सन्मान देकर अपने मौलिक लेख भिजवाने का अनुग्रह किया। डॉ० एम० पी० पटैरिया, डॉ० तेजसिंहजी गौड़, डॉ० गुलाबचन्दजी जैन, पण्डित देवकुमारजी, डॉ० नरेन्द्र भानावत प्रभृति विज्ञों ने सम्पादक मण्डल में अपना नाम देने की स्वीकृति प्रदान की तथा डॉ० एम० पी० पटैरिया जी ने विद्वानों से सम्पर्क कर अनेक मौलिक लेख मंगवाये तथा डॉ० तेजसिंहजी गौड़ ने कलम का स्पर्श कर कुछ लेखों को परिष्कृत परिमार्जित करने में सहयोग प्रदान किया अतः उनका स्मरण स्मृत्याकाश पर सदा चमकता रहेगा। स्नेहमूर्ति श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' ने ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने का प्रयास किया तथा समय पर ग्रन्थ तैयार करने का कठिन श्रम किया, वह भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। जिन श्रद्धालुओं ने अनुदान देकर प्रकाशन कार्य में सहयोग दिया उनकी अपार श्रद्धा व्यक्त होती है। उन सभी के सहयोग के कारण ही ग्रन्थ प्रबुद्ध पाठकों के पाणि-पद्मों में पहुँच रहा है, इसकी मुझे हादिक प्रसन्नता है।

क्या? कहाँ?

प्रथम खण्ड

१ से १०२ तक

शब्दार्चना

साधनाशील श्रमणी	—आचार्यश्री आनन्दऋषि जी म०	१
बहुमुखी प्रतिभा की धनी	—उपाध्याय पुष्कर मुनि	२
एक पारदर्शी व्यक्तित्व	—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि	४
सत्यं और सत्वं की संसृति	—प्रवर्तक भंडारी श्री पद्मचन्द्र जी म०	६
कुसुमसती चढ़ती रति	—प्रवर्तक मुनि श्री रूपचन्द्र जी म०	७
सती कुसुमवती के साधना सुमन	—अ० प्र० मुनि कन्हैया लाल 'कमल'	७
महासती जो फलें-फूलें	—प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी म० सा०	८
एक अभिवंदनीय व्यक्तित्व	—प्रवर्तक महेन्द्र मुनि 'कमल'	८
साध्वीरत्ना का साधनामय जीवन	—प्रवर्तक रमेश मुनि	९
निर्विवाद व्यक्तित्व पर दो शब्द	—सौभाग्य मुनि जी कुमुद	९
एक महकता कुसुम	—श्री ज्ञान मुनि जी	११
अन्तर् हृदय का अभिनन्दन	—श्री रतन मुनि जी	१३
साध्वीरत्ना श्री कुसुमवती जी	—श्री गिरीश मुनि जी	१३
दो मुक्तक	—पं० उदय मुनि	१३
दीक्षा स्वर्ण जयन्ती (पच्चीसी)	—उपप्रवर्तक श्री चन्दन मुनि जी म०	१४
अभिनन्दन है, अभिनन्दन है	—कविरत्न श्री मगन मुनि जी म० 'रसिक'	१६
श्री कुसुमाष्टकम्	—श्री सुकनमल जी म० सा०	१७
हे साधिके अभिनन्दन	—सुभाष मुनि 'सुमन'	१७
अभिनन्दन.... ..!	—गणेश मुनि शास्त्री	१८
जीवन ज्योति जले....	—प्रवर्तक श्री महेन्द्र मुनि 'कमल'	१८
सुखद शताब्दी भी आये	—जिनेन्द्र मुनि	१९

(२०)

श्रद्धा के दो बोल	— उपप्रवर्तक राजेन्द्र मुनि जी	२०
जीवेम शरदः शतम्	— भगवतो मुनि 'निर्मल'	२२
सरलता की मूर्ति	— उपप्रवर्तक प्रेम मुनि जी	२६
गुणों की खान	— दिनेश मुनि	२३
गुणों के आगार	— नरेश मुनि जी	२४
अभिनन्दन योग्य व्यक्तित्व	— उदय मुनि 'जैन सिद्धान्ताचार्य'	२६
शुभकामना	— पं० श्री हीरामुनि जी 'हिमकर'	२७
वन्दन शत-शत बार	— साध्वी हर्षप्रभा	२७
अभिनन्दन के पुष्प पलों में	— श्री गणेश मुनि शास्त्री	२८
श्रमणी परम्परा की दिव्य ज्योति	— श्री जिनेन्द्र मुनि 'काव्यतीर्थ'	२६
युग-युग जीवें महासती	— श्रमण विनय कुमार 'भीम'	३०
शुभाशीर्षचन	— महासती श्री शीलकुंवर जी म०	३०
एक महान जीवन गौरव	— महासती श्री पुष्पवती जी	३१
सद्गुण गुलदस्ता कुसुमवती जी म०	— परम विदुषी चांदकुंवर जी म० सा०	३२
ऊर्जस्वल-व्यक्तित्व	— उपप्रवर्तिनी साध्वी श्री कौशल्या जी म०	३२
एक ज्योतिर्मय व्यक्तित्व	— विदुषी साध्वी उमराव कुंवर जी	
	'अर्चना'	३३
श्रद्धार्चन	— साध्वी दिव्यप्रभा (एम. ए., पी-एच. डी.)	३४
श्रमणी उपवन का दिव्य 'कुसुम'	— साध्वी अक्षय ज्योति 'साहित्यरत्न'	३६
पुष्कर तीर्थ के कमल	— साध्वी संघमित्रा जी	३७
शत-शत वन्दन अभिनन्दन	— साध्वी मुक्तिप्रभा	२८
साधना की ज्योतिर्मय मूर्ति	— साध्वी प्रकाशवती	३८
शामन प्रभाविका	— साध्वी सत्यप्रभा	३९
आंखों देखा यथार्थ	— साध्वी रुचिका	४०
साधना में खिलता कुसुम	— साध्वी राजश्री	४२
एक पल्लवित—सुरभित कुसुम !	— डॉ० प्रभाकुमारी 'कुसुम'	
	— डॉ० सुशोल जैन 'शशि'	४३
✓ वंदन—अभिनन्दन	— जैन साध्वी मधुबाला 'सुमन'	४४
सद्गुणों का आज अर्जन	— साध्वी गरिमा, एम० ए०	४५
साक्षात्कार के स्वर्णिम क्षण	— साध्वी निरूपमा	४६
अविस्मरणीय साक्षात्कार	— साध्वी गरिमा एम० ए०	४७

आराध्यस्वरूपा गुरुणीजी	—साध्वी अनुपमा 'शकुन'	४८
यथानाम तथागुण	—जैन साध्वी इन्दुप्रभा 'प्रभाकर'	४९
एक महान जीवन गौरव	—महासती किरणप्रभा	५०
हृदयोद्गार	—महासती प्रियदर्शना	५०
भावना के सुमन	—महासती रत्नज्योति	५१
श्रद्धा-सुमन	—साध्वी श्री चन्द्रावती जी म०	५१
वंदन अभिनन्दन	—महासती सिंहकुंवर जी	५१
गुरुणी गुणगाथा	—साध्वी दर्शनप्रभा, एम० ए०, पी-एच० डी०	५२
भूलोक के गौरव ! शत-शत नमन	—साध्वी गरिमा, एम. ए.	५३
जिनशासन की शान	—साध्वी श्री चन्दनबाला जी महाराज	५३
मृवासित कुसुम	—साध्वी चन्दनप्रभा	५४
मंजुल स्नेह देवि	—साध्वी दिव्यप्रभा, एम. ए., पी-एच. डी.	५४
कुसुम-चालीसा	—साध्वी श्री चारित्रप्रभा जी	५५
कुसुमाष्टकम्	—साध्वी श्री चारित्रप्रभाजी	५६
	—साध्वी निरुपमा	५८
	—साध्वी सुप्रभा	५८
	—विदुषी साध्वी श्री मिट्टकुंवरजी	५८
	—साध्वी मुप्रभा	५८
कुसुम श्रीजी म० का० कुसुम-सा महकता जीवन	—परम विदुषी साध्वीरत्न श्री विजेन्द्रकुमारीजी	५९
संयम पथ की अमर साधिका	—(साध्वीरत्न श्री विजेन्द्र कुमारीजी म० की शिष्या) साध्वी 'निधि ज्योतिजी'	५९
शत-शत अभिनन्दन	—जैन साध्वी जयश्री	६०

शुभकामना : अभिनन्दन

—डॉ० बहामित्र अवस्थी	६१
—डॉ० विनोद कुमार त्रिवेदी	६१
—पं० जनार्दनराय नागर	६१
—पुखराजमल एस. लूंकड	६१
—संचालाल वाफना	६२
—शान्तीलाल दूगड	६२
—रमाकांत जैन, लखनऊ	६२

संयम पूर्ण साधना की साक्षात् मूर्ति
तेजस्विता की साक्षात् मूर्ति
प्रतिभाशाली व्यक्तित्व

आस्था
मंगल-मनीषा
श्रद्धा सुमनाञ्जलि
महान साधिका
शासन प्रभाविका
तपोमूर्ति
यथानाम तथागुण
हादिक-अभिनन्दन
प्रेरणा स्रोत
साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी
कृतज्ञता ज्ञापन
विलक्षण प्रतिभा की धनी
प्रेरणा स्रोत
चरणों में वन्दन
सद्कामनाएँ
परम ज्ञान साधिका
शत शत प्रणाम
मंगलकामना
हादिक अभिनन्दन
श्रद्धा के दो फूल अर्पित
सागर वर गम्भीरा
सुमनाञ्जलि
शत शत वन्दन
वन्दना के स्वर
वन्दना-अर्चना

—डॉ० परमानन्द मिश्र, रोसड़ा	६३
—श्रीमती ऊषा जैन, कांदला	६३
—गहरीलाल चपलोट	६४
—श्रीकृष्ण लोंगपुरिया	६४
—सोहनलाल सोनी, नाथद्वारा	६४
—पवनकुमार जैन, कांधला	६५
—आचार्य राजकुमार जैन	६६
—वेद्य सुन्दरलाल जैन	६६
—सम्पत जैन, दिल्ली	६७
—डा० श्री रंजनसूरि देव, पटना	६८
—रामचन्द्र द्विवेदी, जयपुर	६८
—जगन्नाथ त्रिष्व	६८
—अजीत नागोरी इंगला	६८
—राजेन्द्र मेहता सायरा	६९
—श्रीमती भुवनेश्वरी भण्डारी	७०
—शान्तिलाल तलेसरा, सूरत	७०
—सम्पतिलाल बोहरा, उदयपुर	७०
—चांदमल मेहता, मदनगंज	७१
—प्रमोदचन्द्र जैन	७१
—रतनलाल मारू, मदनगंज	७२
—शांतिलाल पोखरना, भीलवाड़ा	७२
—प्रकाशचंद संचेती, जयपुर	७२
—चुन्नीलाल धर्मावत, उदयपुर	७३
—सुमानसिंह काग्रोचा, सिधाड़ा	७३
—आनन्दीलाल मेहता, उदयपुर	७४
—प्रो. अमरनाथ पाण्डेय, वाराणसी	७४
—नाथूलाल माद्रेचा	७५
—सुरेन्द्र कोठारी, उदयपुर	७५
—डी. सी. भाणावत, प्राचार्य	७५
—कालूलाल ढालावत	७६
—मुन्नालाल लोढा, पाली	७६
—पदमचंद जैन, दिल्ली	७७
—रणजीतसिंह सियाल, उदयपुर	७७
—ऋषभ जैन, अलवर	७९
—श्रीमती प्रमिला मेहता	८०
—श्री फूलचन्द जैन सर्राफ, कांधला	८१

महासती कुसुमवतीजी का जीवन दर्शन	—कन्हैयालाल गौड़	५१
मेरा प्रणाम	—नेमीचन्द जैन मेड़ता सिटी	५४
शत शत प्रणाम	—श्रीचन्द डोसी	५५
श्रद्धा सुमन	—नाथुलाल चण्डालिया कपासन	५५
कोटि-कोटि वन्दन	—कन्हैयालाल गौड़, उज्जैन	५५
सेवा की साक्षात् मूर्ति	—उम्मेदमल जैन, जयपुर	५६
युग युग जीयें	—कमल मेहता, बलवर	५६
जिनशासन की ज्योति	—खूबीलाल खोखावत डवोक	५७
यथानाम तथागुण	—कमला मोताजी, इन्दौर	५७
यह माथे का चन्दन है	—कवि निर्मल 'तेजस्वो' उदयपुर	५८
समर्पण	—श्री हीरालाल जैन, खरड़ (पंजाब)	५८
खिला कुसुम जग बगिया में	—कवि श्रेणीदान चारण बीकानेर	५९
कुसुम नाम वह प्यारा है	—वैरागन गुणमाला चपलोट	५९
युग की मीरा को नमन मेरा	—गीतकार रमेश चैतन्य, बम्बई	६०
अध्यात्मयोगिनी शत शत वन्दन	—अनुराधा जैन, उदयपुर	६०
जैनाचार्य से कम नहीं	—युवा कवि धर्मेश छाजेड़, सूरत	६१
तप की देवी को है वन्दन	—युवा कवि गीतकार हरीश व्यास, प्रतापगढ़	६१
किस विध नमन करूँ	—श्री भंवरलालजी चपलोट, नाथद्वारा	६२
अभिलाषा	—वनिता चपलोट, नाथद्वारा	६२
करुणामूर्ति अभिनन्दन	—कन्हैयालाल गौड़, उज्जैन	६३
महके सुमन-सुरभित पवन	—श्रीमती विजयलक्ष्मी, उदयपुर	६३
कुसुम तुम सचमुच कुसुम	—श्रीमती विजयकुमारी बोथरा, मण्डी गीदड़वाहा	६४
उजाला करने एक ज्योति आई	—कवि साधक दरक, उदयपुर	६४
महासती श्री कुसुमवती जी संयम व ज्ञान	—उत्तमचन्द डागा	६५
की अनुपम ज्योति		
बगिया में एक कुसुम खिला	—पुरुषोत्तम 'पल्लव', उदयपुर	६५
महिमा का नहीं कुछ पार	—श्रीमती विमला देवी जैन	६६
सज्जी-रयण-सिरी-कुसुमवई	—डॉ० उदयचन्द जैन	६७
सरलता की मूर्ति	—डॉ० गुलाबचन्द जैन	१०१
सरलता की निशानी	—श्री कंवरचन्दजी जैन	१०२
	—श्री पदमचन्द जैन	१०२

द्वितीय खण्ड

१०३ से १८० तक

जीवन दर्शन

विदुषीवर्या साधवीरत्न महासती	—डॉ० साधवी दिव्यप्रभा	१०३
श्री कुसुमवती जी म. का जीवन दर्शन		
गौरव गरिमा मण्डित सद्गुरुणी परम्परा		१०६
परम विदुषी महासती श्री सोहनकुँवरजी म.		११७
जन्म से दीक्षा तक		१२१
संयम-साधना		१३५
व्यक्तित्व की विशेषताएँ		१६३
अतीत की स्मृतियाँ		१६७
स्थापित संस्थाओं का परिचय		१७१
विशिष्ट व्यक्तित्वों से सम्पर्क		१७३
महासती श्री कुसुमवती जी म. सा.		१७६
का धर्म परिवार		
चातुर्मास सूची		१८०

तृतीय खण्ड

१८१ से २७४ तक

धर्म तथा दर्शन

एक को जानो	—डॉ० अमरनाथ पाण्डेय	१८१
जैन दर्शन सम्मत आत्मा का स्वरूप विवेचन	—डॉ० एम० पी० पटैरिया	१८५
सामाजिक चरित्र के नैतिक उत्थान में	—प्रो० चन्द्रशेखर राय	१९४
जैन धर्म के दशलक्षणों की प्रासंगिक		
उपयोगिता		
जैन धर्म में व्यसनमुक्त जीवन का	—प्रो० जनेश्वर मौआर	१९६
तुलनात्मक अध्ययन		
जैन पदार्थ—विवेचना में वैज्ञानिक दृष्टि	—डॉ० नवलता	२०१
कर्म सिद्धान्त : एक समीक्षात्मक अध्ययन	—साधवी श्रुतिदर्शना	२०६
विश्व-धर्म के रूप में जैन धर्म दर्शन		
की प्रासंगिकता	—डॉ० महावीर सरन जैन	२१३
पुद्गल विवेचन—वैज्ञानिक एवं जैन	—डॉ० रमेशचन्द्र जैन	२२१
आगम की दृष्टि में		
जैन दर्शन में 'द्रव्य' की धारणा और विज्ञान	—डॉ० कीरेन्द्रसिंह	२२४

प्रमा की नयी परिभाषा	—प्रो० संगमलाल पाण्डेय	२२६
भारतीय योग परम्परा में जैन आचार्यों के योगदान का मूल्यांकन	—डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी	२३२
आगम साहित्य में ध्यान का स्वरूप	—युवाचार्य डॉ० शिव मुनि	२४१
ध्यान : रूप : स्वरूप—एक चिन्तन	—डॉ० साध्वी मुक्तिप्रभा	२४६
आत्मा के मौलिक गुणों की विकास प्रक्रिया के निर्णायक : गुणस्थान	—श्री गणेश मुनि शास्त्री	२४६
भारतीय दर्शन : चिन्तन की रूपरेखा	—ए० देवकुमार जैन	२६२

चतुर्थ खण्ड

२७५ से ३५६ तक

जैन संस्कृति के विविध आयाम

श्रमण संस्कृति	—आचार्य राजकुमार जैन	२७५
महाव्रतों का युगानुकूल परिवर्तन	—अ. प्र. मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल'	२८४
केवलज्ञान और केवलदर्शन, दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते	—कन्हैयालाल लोढ़ा	२८७
भौतिक और अध्यात्म विज्ञान	—प्रवर्तक श्री रमेशमुनि	२६२
सर्वोदयी विचारों की अवधारणा के प्रेरक जैन सिद्धान्त	—डॉ० श्रीमती शारदा स्वरूप	२६६
जागे युवा शक्ति !	—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि	२६६
भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का दैनिक जीवन में उपयोग	—डॉ० नरेन्द्र भानावत	३११
श्रमण संस्कृति का व्यापक दृष्टिकोण	—डॉ० साध्वी दिव्यप्रभा	३१४
अदत्तादान-विरमण की वर्तमान प्रासंगिकता	—ब्रजनारायण शर्मा	३१७
प्राचीन भारतीय दण्डनीति	—डॉ० तेजसिंह गौड़	३२३
भगवान् महावीर और उनके द्वारा संस्थापित नैतिक मूल्य	—डॉ० रामजीराय, आरा	३२८
अहिंसाया अन्तर्लिपि:	—डॉ० केवलचन्द्र दाश:	३३१
जैन शिक्षा बनाम आधुनिक शिक्षा	—विजयकुमार (शोधछात्र)	३३४
धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा	—डॉ० (श्रीमती) हेमलता तलेसरा	३३८
चारित्रिक संकट से मुक्ति अहिंसा और सामाजिक परिवर्तन : आधुनिक सन्दर्भ	—प्रो० कल्याणमल लोढ़ा	३४३
संस्कृत साहित्य और मुस्लिम शासक	—श्री भंवरलाल नाहटा	३५२

जैन साहित्य और इतिहास

भारतीय पुरातत्व की अवहेलना	—डॉक्टर जगदीशचन्द्र जैन	३५७
आकार-चित्र रूप स्तोत्रों का संक्षिप्त निदर्शन	—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी	३६१
भारतीय गणित के अंध युग में जेनाचार्यों की उपलब्धियाँ	—डॉ० परमेश्वर झा	३६६
जैन भूगोल का व्यावहारिक पक्ष	—डॉ० पुष्पलता जैन प्राध्यापिका	३७५
भगवती सूत्र में परामनोविज्ञान एवं पराशक्तियों के तत्व	—श्री सौभाग्यमुनिजी 'कुमुद'	३७८
जम्बूद्वीप और आधुनिक भौगोलिक मान्यताओं का तुलनात्मक विवेचन	—डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन	३८३
जैन-स्तोत्र-साहित्य : एक विहंगम दृष्टि	—डॉ० मदाधरसिंह	३९३
नीतिकार्य के विकास में हिन्दी जैन-मुक्तक काव्य की भूमिका	—डॉ० गंगाराम गर्ग	४०३
जेनाचार्य श्री हरिभद्र सूरि और श्री हेमचन्द्र सूरि	—हजारीमल वाठिया	४१३
जैन परम्परा के व्रत उपवासों का आयु-वैज्ञानिक वैशिष्ट्य	—कन्हैयालाल गौड़	४१६
आचार्य हरिभद्र के प्राकृत योग ग्रन्थों का मूल्यांकन	—डॉ० छगनलाल शास्त्री	४२४
पुण्य और पाप	—महासती श्री कुमुमवती जी	४३६

विविध राष्ट्रीय संदर्भों में जैन-परम्परा की परिलक्षियाँ

भारतीय स्वातन्त्र्यान्दोलन की अहिंसात्मकता में महावीर के जीवन दर्शन की भूमिका	—प्रह्लाद नारायण वाजपेयी	४३७
पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में जैन नैतिक अवधारणा	—प्रोफेसर एल० के० ओड	४४१
विवाद-परिवाद के समाधान हेतु अनेकान्तवाद	—प्रो० डॉ० संजीव प्रचंडिया 'सोमेन्द्र'	४४८
जैन विचारधारा में शिक्षा	—चांदमल कर्णावट	४४९
क्या हम बदल गये हैं ?	—डा० आदित्य प्रचंडिया 'दीति'	४५३
सर्वोदयी विचारों की अवधारणा के प्रेरक जैन-सिद्धान्त	—लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'	४५६
ध्यान : एक विमर्श	—डॉ० दरबारीलाल कोटिया, न्यायाचार्य	४६५
सती प्रथा और जैन धर्म	—प्रो० सागरमल जैन	४६८

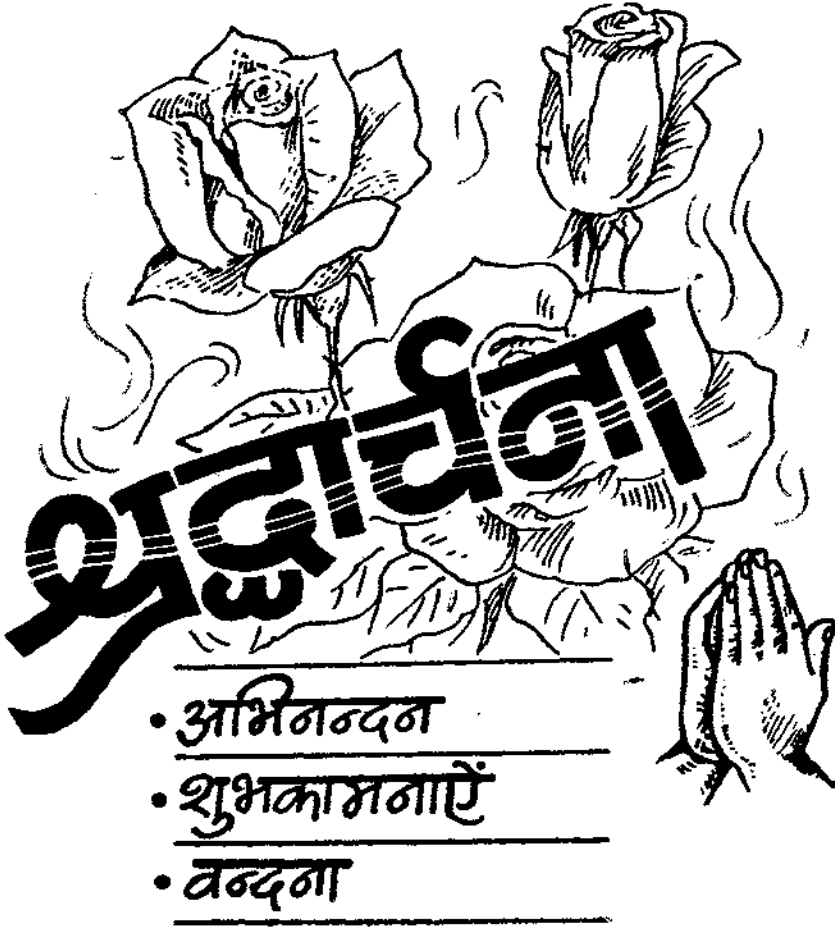
विचार-मन्थन

प्रवचन	—१. साधना का सारतत्व—समता	४७५
	—२. अन्तर्यात्रा : एक दृष्टि	४७८
	—३. वाणी-विवेक	४८२
	—४. संयम का सौन्दर्य	४८६
	—५. मन ही माटी, मन ही सोना	४८६
चिन्तन सूत्र	—१. सुख और दुःख	४९३
	—२. जीवन का अभिशाप—दुर्व्यसन	४९४
	—३. सद्गुणों का प्रचार हो	४९५
	—४. तर्क और धृष्टा	४९६
लघु निबन्ध	—नारी : नारायणी	४९७
निबन्ध	—जैन दर्शन में अनेकान्त सम्यग्दर्शन का स्वरूप	४९८ ५०२
कहानी	—१. वैर और वैरी	५०५
	—२. गिरे तो गिरे, पर उठे भी बहुत ऊंचे	५०८
	—विचार-कण	५१३
	—उपदेशात्मक पद्य रचना	५२२
	—भजन	५२३
महासता श्री कुसुमवतीजी महाराज का साहित्य : एक समीक्षा	—उप-प्रवर्तक श्री राजेन्द्र मुनि	५२५
बालब्रह्मचारिण्याः श्रीमत्याः कुसुमवत्याः सत्याः यशःसौरभम्		५३०

परिशिष्ट

५३७ से ५८४ तक

जैनाचार : एकदिवेचन	—राजेन्द्र मुनि शास्त्री, एम. ए.	५३७
जैन दर्शन का हृदय है—स्याद्वाद	—विदुषी साधवी चारित्रप्रभाजी म.	५४८
उपमिति भव प्रपंच कथा : कितना सार्थक है सिद्धार्थ का रचना उपक्रम ?	—साधवी दिव्यप्रभा एम. ए., पी. एच. डी.	५५४
जैन संस्कृति और उसका अवदान	—साधवी गरिमा एम. ए.	५६१
जैनाचार का प्राण अहिंसा	—साधवी अनुपमा एम. ए.	५६७
दीक्षा सप्तविंशतिः	—रमेश मुनि शास्त्री	५७७
सम्माननीय सहयोगी		५७९
शुभ नामावली तथा चित्र परिचय		



- अभिनन्दन
- शुभकामनाएं
- वन्दना

॥ १ ॥

पूज्य महासती कुसुमवतीजी का जीवन कुण्डुम सम सदगुण सुरभित और कोमल कमनीय रहा है। उनकी विनम्रता, सरलता, सेवा भावना जहाँ गुरुजनों की कृपा एवं मंगलमय आशीर्वाद की भाजन रही है, वहीं उनकी विद्वत्ता, चारित्रिक निर्मलता और सहज वरसलता सर्वसाधारण की श्रद्धा और सद्भावना का केन्द्र रही है।

सहज भाव से प्राप्त गुरुजनों के आशीर्वाचन तथा श्रद्धालु जनों की श्रद्धार्चना, शुभकामनाएँ उनके प्रति हादिक सद्भावना और श्रद्धा का स्वयंभूत प्रमाण है। इन शब्द सुमनों से व्यक्त होती सद्भावना युक्त श्रद्धा सुरभि इस बात को सहज ही प्रकट करती है—

तुम सदगुण का केन्द्रित कोषागार
तुम सद्भावों का शुभ शृंगार
तुम ही श्रद्धा का सघन रूप
तो श्रद्धार्चन का यह उपहार।



आशीर्वचन

साधनाशील श्रमणी

—आचार्यश्री आनन्द ऋषिजी म०

स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ भारतवर्ष में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस श्रमण संघ में उच्चकोटि के साधक, तपस्वी, चिंतक, मनीषी, प्रखर प्रवचनकार, समाजसुधारक, श्रेष्ठ कवि जैसे अनेक सन्तगण विद्यमान हैं। इसी के अनुरूप श्रमणी संघ भी है। श्रमणी संघ में भी अनेक साध्वियाँ उच्चकोटि की प्रवचनकर्त्री, ज्ञानाराधक, कवयित्री, साधिका, संगठिका, विदुषी, तपस्विनी आदि हैं। अतीत का इतिहास भी यदि उठाकर देखें तो हमें एक से बढ़कर एक उच्चकोटि की महासतियों का परिचय मिलता है और जिन्होंने जैन इतिहास के पृष्ठों को गरिमा प्रदान की है।

वर्तमान समय में भी हमारे श्रमण संघ में अनेक ऐसी महासतियाँ हैं जो आपने ज्ञान, ध्यान, संयमपालन आदि के माध्यम से जैन धर्म की अच्छी प्रभावना कर रही हैं। ऐसी संयमाराधिका महासतियों पर मुझे गौरव की अनुभूति भी होती है।

ऐसी ही परम विदुषी महासतियों में महासती श्री कुसुमवती जी का नाम बड़े ही आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है। मुझे स्मरण आता है कि जिस समय मेरा ब्यावर में चातुर्मास था तब महासती श्री कुसुमवती जी प्रवचन सुनने तो आती ही रहती थीं, दिन में दर्शन करने और अपनी जिज्ञासा लेकर भी उपस्थित होती थीं। मैं उनकी जिज्ञासा तो शान्त करता ही था, साथ ही उनसे जैनधर्म, दर्शन, साहित्य विषयक प्रश्न भी करता था। कभी-कभी व्याकरण विषयक प्रश्न करता था। उनकी उत्तर देने की शैली प्रभावपूर्ण होती थी।

उससे उनकी मेधाशक्ति, प्रत्युत्पन्नमति और प्रतिभा का पता चलता है।

उस समय जब स्त्री-शिक्षा का प्रचार-प्रसार नहीं था, तब महासती न केवल संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर चुकी थीं वरन् कई परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कर ली थीं। इससे महासतीजी की अध्ययन के प्रति रुचि प्रकट होती है।

वि० सं० २००६ में सोजत (मारवाड़) में एक साधु सम्मेलन हुआ था। उस सम्मेलन में तथा राजस्थान विहरण के समय संवत् २०२८ में भीलवाड़ा शहर में भी महासती श्री कुसुमवतीजी को देखने का अवसर मिला था। वे एक साधनाशील श्रमणी हैं।

मुझे यह भी विदित है कि महासती श्री कुसुमवतीजी ने दूरस्थ एवं दुर्गम प्रदेशों जैसे जम्मू-कश्मीर तक विहार कर धर्म प्रचार किया है। उनका विहार क्षेत्र भी विस्तृत रहा है और हर क्षेत्र में अपनी अमिट छाप छोड़ी है।

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि महासती श्री कुसुमवतीजी के दोक्षा स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन कर उनकी सेवा में अर्पित किया जा रहा है। मैं इस अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ और अन्तर्मन से शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ कि महासती श्री कुसुमवतीजी म० सदैव स्वस्थ और प्रसन्न रहते हुए जैनधर्म की प्रभावना करती रहें।



बहुमुखी प्रतिभा की धनी

—उपाध्याय पुष्कर मुनि

सन् १९३७ का वर्षावास मनमाड़ (महा०) में था। उस समय मैं संस्कृत साहित्य का गहराई से अध्ययन कर रहा था और परीक्षाएँ भी दे रहा था। व्याकरण साहित्य के अध्ययन, चिन्तन और मनन से मुझे यह अनुभूति हुई कि श्रमण और श्रमणियों को अध्ययन के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिए। क्योंकि बिना अध्ययन के आगमों के रहस्य हस्तगत नहीं होते और बिना अध्ययन के चिन्तन भी प्रस्फुटित नहीं होता। हमारे समाज में अनेक प्रतिभाएँ हैं। यदि उन्हें अध्ययन कराया जाय तो वे समाज के लिए वरदान रूप हो सकती हैं।

मनमाड़ से विहार कर श्रद्धेय गुरुदेव महास्थ-विर श्री ताराचन्द्र जी महाराज मालव की पावन पुण्यधरा में धर्म की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित कर वीर प्रसव भूमि मेवाड़ में पधारे। चिरकाल के पश्चात् मेवाड़ में पधारते ही भावुक भक्तों की भीड़ बरसाती नदी की तरह उमड़ पड़ी। सभी के हृदय कमल खिल उठे और मन-मयूर नाचने लगे। श्रद्धेय गुरुदेव मेवाड़ के विविध ग्रामों में जागृति का शंखनाद फूँकते हुए उदयपुर पधारे। उदयपुर में हमारी भूतपूर्व सम्प्रदाय की परम विदुषी साध्वी-रत्न मदन कुँवरजी महाराज सकारण स्थानापन्न विराज रही थीं। उनकी सेवा में अध्यात्मयोगिनी प्रतिभामूर्ति महासती श्री सोहनकुँवरजी महाराज विराज रही थीं। सोहनकुँवरजी महाराज तपो-

मूर्ति थीं जिनके जीवन के कण-कण में, मन के अणु-अणु में वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा था। जिनकी प्रतापपूर्ण प्रतिभा के सामने अनेक सन्तों की प्रतिभाएँ भी फीकी सी थीं। जिन्होंने अपने तेजस्वी व्यक्तित्व और अद्भुत कृतित्व से उदयपुर के नागरिकों में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न की थी। सम्प्रदायवाद के उस गढ़ में भी सम्प्रदायवादियों के द्वारा भी महासती मदन कुँवरजी और महासती सोहन कुँवरजी के उत्कृष्ट चारित्र्य की प्रशंसा सुनकर हृदय झूमने लगता था।

मध्याह्न का समय था। महासती सोहनकुँवर जी अनेक सतियों के साथ दर्शनार्थ उपस्थित हुईं। उनके साथ उस समय दो लघु साध्वियाँ भी थीं। दोनों लघु साध्वियों का परिचय प्रदान करते हुए महासती जी ने गुरुदेव से निवेदन किया कि इनका नाम कुसुमवती है। देलवाड़ा निवासी गणेशलाल जी कोठारी की यह सुपुत्री है। इनका संसार अवस्था में नाम नजर कुमारी था। इसने अपनी माता सोहनबाई के साथ सन् १९३६ में मेरे पास दीक्षा ग्रहण की। माँ का नाम साध्वी कैलाश कुँवर है और इसका नाम कुसुमवती रखा गया है। और दूसरी महासती का नाम पुष्पवती है। यह उदयपुर के ही निवासी जीवनसिंह जी बरड़िया की सुपुत्री है। इनकी माताजी तीजकुँवर और इनका लघु-भ्राता धन्नालाल दोनों की भावना भी आर्हती दीक्षा

ग्रहण करने को है। तीजकुँवर का हाथ जल जाने से तीजकुँवर और उनका पुत्र धन्नालाल ये दोनों उपचार कराने हेतु हिम्मतनगर (गुजरात) में गये हुए हैं। जहाँ तीजकुँवर के भाई एक कुशल सर्जन हैं।

वार्तालाप का क्रम आगे चला। श्रद्धेय गुरुदेव ने महासती जी को पूछा कि इन दोनों लघु साधवियों का अध्ययन क्या चल रहा है? महासती जी ने बताया कि इन दोनों ने उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और त्रिपाक सूत्र आदि कण्ठस्थ किये हैं। और ७०-८० थोकड़े भी स्मरण किये हैं। मैं इस समय इन्हें आगमों की वाचना दे रही हूँ।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने हार्दिक सन्तोष व्यक्त किया और कहा कि सर्वप्रथम सन्त और सतियों को आगम का परिज्ञान आवश्यक है। आगमों के अध्ययन से संयमसाधना में स्थैर्य आता है। विचारों की विशुद्धि होती है। भौतिक पदार्थों की चकाचौंध उन्हें फिर आकर्षित नहीं कर पाती। आगमों के अध्ययन के साथ व्याकरण, न्याय, दर्शन का अध्ययन भी बहुत ही अपेक्षित है, जिससे कि साधक परतीथियों से साधिकार विचार-चर्चा कर सकता है। इसीलिए मैंने पुष्कर को संस्कृत साहित्य का अध्ययन करवाया है। उसका अध्ययन चल रहा है। इसलिए वह जैसा मार्गदर्शन दे वैसा इन प्रतिभाओं को विकसित करो।

गुरुदेव श्री के आदेश से मैंने साध्वीरत्न श्री सोहन कुँवरजी महाराज से कहा कि व्याकरण भाषा-विशुद्धि का महत्वपूर्ण साधन है। व्याकरण में धातु और प्रत्यय के संश्लेषण और विश्लेषण के द्वारा भाषा के आन्तरिक गठन पर चिन्तन होता है। लक्ष्य और लक्षणों के द्वारा सुव्यवस्थित वर्णन करना ही व्याकरण का उद्देश्य है। शब्दों की उत्पत्ति, उनके निर्माण की प्रक्रिया का रहस्य भी व्याकरण के द्वारा ही ज्ञात होता है। व्याकरण भाषा का अनुशासन करता है। शब्दों के जो विविध रूप हैं उसमें जो मूल संज्ञा और धातु हैं उसके स्वरूप का निश्चय और प्रत्यय लगाकर विविध शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया व्याकरण से ही जानी जाती है।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

अतः साधवियों को प्रथम आप व्याकरण का अध्ययन करावें और साथ ही साहित्य का भी अध्ययन करावें जिससे कि इनका भाषा पर अधिकार होगा। जितना भी हमारा आगम साहित्य है उसकी भाषा अर्धमागधी है और उस पर जो व्याख्या साहित्य है उसमें निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य आदि की भाषा प्राकृत है। तो टीका साहित्य सम्पूर्ण संस्कृत में है। इसलिए जैन श्रमण और श्रमणियों को प्राकृत और संस्कृत का ज्ञान करना आवश्यक है। संस्कृत और प्राकृत ये दोनों भाषाएँ प्रशस्त भाषाएँ हैं। इन भाषाओं के अध्ययन करने से गम्भीर पाण्डित्य प्राप्त किया जा सकता है। आगमों में रही हुई गुरु ग्रन्थियों को इन्हीं से खोला जा सकता है। मुझे यह लिखते हुए अपार आल्हाद है कि मेरे सुझाव को महासती श्री सोहन कुँवरजी महाराज ने शीघ्र ही मूर्त्त रूप दिया। और दोनों ही साधवियों को मुयोग्य पण्डित के द्वारा संस्कृत, व्याकरण और साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करवाया। और प्रतिभा की तेजस्विता से दोनों ही साधवियों ने गहन अध्ययन किया और किंग्स कालेज बनारस की उच्चतम परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं साथ ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग और श्री तिलोक रत्न धार्मिक परीक्षाबोर्ड पाथर्डी की उच्चतम परीक्षाएँ भी दीं।

अनेक बार महासती कुसुमवतीजी ने अनेक स्थलों पर दर्शन किये। और सन् १९७३ में अजमेर में, सन् १९८३ में मदनगंज-किशनगढ़ में तथा १९८६ में पाली वर्षावास साथ ही किये। मेरे से उन्होंने आगम की टीकाओं का अध्ययन भी किया। उनकी वाणी में सहज माधुर्य है; ओज है जिस कारण उनके प्रवचन जन-जन के मन को मुग्ध करते हैं। महासती चारित्रप्रभाजी, महासती दिव्यप्रभाजी आदि अनेक विदुषी साधवियाँ आपको शिष्याएँ हैं। जिनके प्रवचनों में प्रवाह है। जिनशासन की प्रभावना करने की शक्ति है। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि महासती कुसुमवतीजी ज्ञान, दर्शन, चारित्र में अधिकधिक प्रगति करें। सदा स्वस्थ रहकर जिनशासन की प्रभावना में चार-चाँद लगाती रहें। ○

एक पारदर्शी व्यक्तित्व

—उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि

परमविदुषी महासती श्री कुसुमवती जी के सम्बन्ध में लिखना बहुत कठिन कार्य है। क्योंकि मेरी यह कमजोरी रही कि जिनके साथ अत्यधिक आत्मीयता हो जाती है उनके सम्बन्ध में लिखना इसीलिए कठिन हो जाता है कि क्या लिखा जाय, और क्या छोड़ा जाय? आत्मीय जनों की प्रशंसा करना ऐसा लगता है कि स्वयं की प्रशंसा करना है।

जहाँ तक मुझे स्मरण है वहिन कुसुमवती जी जो गृहस्थाश्रम में नजरबाई के नाम से जानी-पहचानी जाती थी, उनसे प्रथम परिचय आज से ५० वर्ष पूर्व हुआ था। वे उस समय एक नन्ही-सी बालिका थी। जिनके चेहरे पर स्निग्ध मधुर मुस्कान अठखेलियाँ करती थी। वे मितभाषी थीं। उनकी सरलता-गम्भीरता और आन्तरिक शुचिता ने मुझे प्रभावित किया। वे जिन सद्गुरुणी जी श्री सोहन कुंवरजी म. के चरणों में बैठकर धार्मिक अध्ययन करती थीं, तो मैं भी उन्हीं के चरणों में बैठकर धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त कर रहा था। अतः गुरुवहिन और गुरुभाई के रूप में एक-दूसरे को हम सम्बोधित करते थे। मैंने उनमें एक ऐसा चुम्बकीय व्यक्तित्व पाया जिसका भीतर और बाहर एक रूप था। बाल सुलभ स्वभाव के कारण हम एक-दूसरे को प्यार से पुकारते थे। मैं उन्हें कीड़ी भर (चींटी भर) महाराज कहकर सम्बोधित करता तो वे मुझे कुन्धू भर (जन्तु विशेष) सम्बोधित करतीं। उम्र में वे मेरे से काफी बड़ी थीं। पर तन उनका बहुत ही नाटा था। उन्होंने अपनी

माँ के साथ गुरुणीजी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। उसके पश्चात् मेरी ज्येष्ठ भगिनी सुन्दर कुमारी ने भी दीक्षा ली। और वे पुष्पवती के नाम से विश्रुत हुईं। तीन वर्ष के पश्चात् १ मार्च सन् १९४१ में मैंने भी महास्थविर श्री ताराचन्द जी म० सा०, उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी म. के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। मेरी दीक्षा के पश्चात् पूजनीया मातेश्वरी तीजबाई ने भी चार महीने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की और वे प्रभावती के नाम से विश्रुत हुईं।

दीक्षा लेने के पश्चात् पूज्य गुरुदेव श्री का विचरण मारवाड़ में विशेष रूप से रहा और वे मेवाड़ में। अतः अनेक वर्षों के बाद पुनः आपसे मिलना हुआ। उस समय आप श्रद्धेय गुरुदेव श्री की पावन प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर संस्कृत-व्याकरण और संस्कृत साहित्य का अध्ययन कर रही थीं। गुरुदेव श्री मेवाड़ से मालव धरती को पावन करते हुए महाराष्ट्र में पधारे। बम्बई, सौराष्ट्र आदि में वर्षावास सम्पन्न कर पुनः सन् १९५० में उदयपुर पधारे। तब आपसे पुनः मिलने का अवसर मिला। इस बीच वहिन म. के साथ आपने व्यावर जैन गुरुकुल में रहकर जैनन्याय का अध्ययन किया और हिन्दी साहित्य की भी साहित्यरत्न आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं।

गुरुणीजी म. ने तपोमूर्ति विदुषी महासती श्री मदनकुंवरजी म. के स्वर्गस्थ हो जाने से उदयपुर से विहार मालव प्रान्त की ओर किया। इन्दौर, कोटा, बूँदी आदि क्षेत्रों में वर्षावास सम्पन्न कर

आप व्यावर पधारीं । इधर गुहदेव भी सोजत सन्त सम्मेलन समाप्त कर जयपुर वर्षावास हेतु पधार रहे थे । तब व्यावर में आपसे मिलना हुआ । उसके बाद अलवर में, जयपुर में, अजमेर में आपसे मिलने के अवसर प्राप्त होते रहे ।

दीक्षा के पश्चात् सन् १९७३ में आपके साथ वर्षावास का अवसर मिला और उसके पश्चात् सन् १९८३ में पुनः मदनगंज में वर्षावास हुआ और सन् १९८६ में पाली में वर्षावास साथ करने का अवसर प्राप्त हुआ । अजमेर वर्षावास में मैं 'भगवान महावीर : एक अनुशीलन' ग्रंथ लेखन में अत्यधिक व्यस्त था । श्रमण भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक अखण्ड मौन साधना कर कैवल्य प्राप्त किया था, तो मेरे अन्तर्मनस में भी यह प्रेरणा उद्बुद्ध हुई कि महावीर के व्यक्तित्व और कृतित्व को उजागर करने के लिए मौन रहना आवश्यक है । मौन रहकर अधिक से अधिक समय महावीर के जीवन को प्राचीन स्रोतों के आधार से पूर्ण करने में लगा हुआ था । इस वर्षावास के उपसंहार काल में वैरागी चतुरलाल ने तथा वैरागिन स्नेहलता बहिन ने दीक्षा ग्रहण की और वे क्रमशः दिनेशमुनि और दिव्यप्रभाजी के नाम से जाने-पहचाने लगे । वर्षावास साथ होने पर भी कार्य में अत्यधिक व्यस्त होने के कारण वार्तालाप का अवसर कम ही मिल पाता था । मदनगंज वर्षावास में मेरा स्वास्थ्य काफी अस्वस्थ रहा । उस वर्षावास में लेखन का कार्य नहींवत् हुआ । वर्षावास में वार्तालाप के प्रसंग में बाल्यकाल की मधुर स्मृतियाँ यदा-कदा उद्बुद्ध होती रहती थीं । पाली वर्षावास में साध्वीरत्न श्री पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादन में मैं दत्तचित्त से लगा हुआ था । क्योंकि सन्त जीवन में वर्षावास का समय ही एक ऐसा समय है जहाँ चार माह तक सन्त अवस्थित रहता है । साहित्य भी उपलब्ध हो सकता है । इसलिए वर्षावास सन्तों के लेखन का बसन्तकाल है । यद्यपि इस समय भी भारत के विविध अंचलों से दर्शनार्थी वन्धुओं का

भीड़-भड़क्का बना रहता है । अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं, तथापि समय निकालने पर साधक कुछ न कुछ लिख सकता है, ऐसा मेरा अपना अनुभव रहा है ।

महासती कुसुमवती जी का अध्ययन काफी गहरा रहा । उन्होंने संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी का तथा जैन-दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया है । मैंने समय-समय पर गुरुबहिन होने के नाते उन्हें प्रेरणा भी प्रदान की, कि वे जैनधर्म, जैनदर्शन पर कुछ न कुछ लिखें । पर लिखने के प्रति उनका रुझान नहीं सा है । उनका विश्वास अध्ययन में ज्यादा रहा है । अध्ययन के साथ ही उनकी आवाज बहुत ही सुरीली है । इसलिए जब वे प्रवचन करती हैं, तब श्रोता झूम उठते हैं ।

महासती कुसुमवती जी भाग्य की धनी हैं इसलिए उनकी अनेक शिष्याएँ परम विदुषी हैं । चारित्रप्रभा जी, प्रवचन कला में दक्ष हैं और दिव्यप्रभाजी भी प्रवचनकला में निष्णात हैं । महासती दर्शनप्रभाजी ने आचार्य हरिभद्र पर शोध-प्रबन्ध लिखकर पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है तो दिव्यप्रभाजी ने भी उपमितिभवप्रपञ्च कथा पर शोध-प्रबन्ध लिख दिया है । शीघ्र ही उन्हें भी पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त होगी तथा अनेक प्रशिष्याओं ने एम. ए., साहित्यरत्न, शास्त्री आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण की हैं ।

वहिन कुसुमवतीजी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है । अभिनन्दन ग्रन्थ में ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, साहित्य और संस्कृति पर विपुल सामग्री का संकलन होता है । व्यक्ति को माध्यम बनाकर जो विपुल सामग्री अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है वह भारतीय साहित्य की अनमोल धरोहर होती है । इसीलिए अभिनन्दन ग्रन्थ का महत्त्व है । मेरी यही मंगल कामना है कि विदुषी महासती श्री कुसुमवतीजी अपने यश की सौरभ दिग्दिगन्त में प्रसारित करें । अपने जीवन के अनमोल अनुभवों के आधार पर धार्मिक संस्कार

जनजीवन में प्रवाहित करें जिससे नवयुग के अभि-
जात बालक-बालिकाओं का जीवन सद्गुण सुमनों
से सदा फूलता-फलता रहे और सुमधुर पवित्र-
चरित्र की सुगन्ध से जन-जन का मन प्रसन्न और
समाज का वातावरण सदा सुरभित बना रहे। ऐसे
प्रसन्न वदन, सरल, कर्मठ, सुयोग्य, लगनशील
साधवीरत्न से समाज और देश को बड़ी-बड़ी
आशाएँ हैं। वे निष्ठा और अध्यवसाय से श्रमण
संघ की सेवा करें, श्रमण संघ को गरिमा का सम्ब-
द्ध न करती हुई, शतजीवी हों।

कुसुमवतीजी से मेरा सम्बन्ध बहुत वर्षों का
रहा है। मुझे उन्हें बहुत ही निकट से देखने का
संयोग प्राप्त हुआ है। उनका यशस्वी व्यक्तित्व और
कृत्तित्व सहज संस्कारी है। मानवीय मूल्यों के प्रति
उनके अन्तर्मानस में गहरी आस्था है। वह आस्था
उनके जीवन का अभिन्न अंग है। वे केवल मान-
वीय मूल्यों का उत्कीर्तन ही नहीं करती अपितु
जीती भी हैं। उनके हृदय में जैनागम, जैन आचार
संहिता के प्रति अगाध-अबाध प्रेम है। उनकी यह
आन्तरिक इच्छा है कि दूसरों के हित के लिए
अपने-आपको समर्पित कर दूँ। उनका व्यक्तित्व
मीठा सरल सहज और आदर्श है। कोई आडम्बर,
अभिमान या वक्रता नहीं है।

वे वाणी की धनी हैं। वे अपने विचार
बहुत ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती हैं।
उनके विचारों में उलझन नहीं और न भाषा में
किसी प्रकार की अस्पष्टता ही है। वाक् चातुर्य,
वाग् विलास के आधार पर न होकर हृदय की
सहज सरलता पर आधृत है। उनके प्रवचन में
कोई प्रवञ्चना नहीं और न परोपदेशे पाण्डि-
त्यम् की अविश्वसनीयता और कृत्रिमता ही है। वे
सच्चाई और ईमानदारी से सोचती हैं। उनकी
सराहना और उनका प्रस्तुत अभिनन्दन संस्कारों
का मुदृढ़ पाथेय रूप बने। यही मंगल कामना है।



सत्यं और सत्त्वं की संसृति—महासती

— प्रवर्तक भंडारी श्री पदमचन्द जी महाराज

‘कुसुम’ शब्द के उच्चारण से ही मन में एक
कोमलता, सौम्यता और प्रसन्नता का अनुभव होने
लगता है। महासती श्री कुसुमवती जी के अभि-
नन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन की सूचना और उसके साथ
उनका जीवन परिचय जब पढ़ा तो लगा, हमारे
श्रमणी समुदाय में अनेक ऐसी दिव्य ज्योति, विभू-
तियाँ हैं जिनका जीवन सत्य-शील-कोमलता-
सौम्यता-साधुता और सत्वशीलता का सुवासित
सदा बहार पुष्प है। उनकी सद्गुण सुरुचि से जन-
जन का मन सदा प्रसन्नता का अनुभव करता
रहता है।

‘सती’ शब्द ‘सत्य और सत्व’ के मिलन से
बना है। जिस जीवन में सत्य की अविचल साधना
है, और सत्य के लिए प्राणार्पण करने की सत्व-
शीलता-साहसिकता है—वही है—भारतीय पर-
म्परा की सती! सती जब गृहस्थजीवन का परि-
वेश त्याग कर संयमी, अपरिग्रही और मोह-ममता
से मुक्त होकर भिक्षुणी धर्म को स्वीकारती है तो
वह ‘महासती’ कहलाती है।

महासती का जीवन त्याग और शौर्य का
सेतु है। महासती श्री कुसुमवती जी का जीवन
अनेकानेक सद्गुणों का खिला हुआ गुलदस्ता है।
जिसकी मुदास से सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज
गौरवान्वित है। अभिनन्दन के शुभ प्रसंग पर मैं
उनके आरोग्यमय दीर्घजीवन की शुभकामना के
साथ हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।



प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

साधवीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

कुसुमसती चढ़ती रति

—प्रवर्तक मुनिश्री रूपचन्द्रजी महाराज

॥ दोहा ॥

“सोहन” शिष्या सोहनी गुणसर पोयणफूल,
“कुसुमसती” चढ़ती रती समरस रस मणगूल ॥
सोहन भृतकर मूँदड़ी ता बिच हीरकणीह,
“कुसुमसती” चढ़ती रती “रजत” सती रमणीह ॥
अमरगच्छगण स्वच्छमति सचंलाइट चमकीय,
“कुसुमसती” चढ़ती रती यश अजित सुमनीय ॥
जानवती गुण गजगति यति धर्म दिग्धार,
तारक घर की तारणी धन्य “कुसुम” अवतार ॥

॥ मनहर छन्दः ॥

पाप पंथ हरि करी संयम को धरी चरी,
धनी भरि करी नांही पम्माय की भावना ॥
गुरु पद झूमझूम भयों ज्ञान घट कुम्भ,
जनमन मानव को सुधार इक् आमना ॥
अमीरस वाणी तेरी जगत पिच्छानो “रूप”,
भेरी ज्ञान गुणगेरी काश्मीर जगावना ॥
“रजत” रसिक जिनवाणी की विशालमति,
सती तू कुसुमवती पुष्कर गुरु भावना ॥

॥ दोहा ॥

दिव्यप्रभा की दिव्यता, दिव्य दिव्यता धार ।
अभिनन्दन सुग्रन्थ को, सज मन करत तयार ॥



सती कुसुमवती के साधना सुमन

—अ० प्र० मुनि कन्हैयालाल ‘कमल’

सतीजी का नाम अति अनुपम ।

नाम का एक-एक अक्षर अनुपम ।

पहला अक्षर “कु” है—

यह कुमुदनी का बोधक है ।

करुणामूर्ति सती का हृदय

कुमुदनी के समान कोमल है ।

दूसरा अक्षर “सु” है—

यह सुमन की सुगन्ध का सूचक है ।

सती का मन सुमन,

संयम की सौरभ से सुवासित है ।

तीसरा अक्षर “म” है—

यह महाव्रतों का आद्यक्षर है ।

सती की महिमा

महाव्रतों के मनन से मण्डित है ।

चौथा अक्षर “व” है—

यह वक्तृत्व का परिचायक है ।

सती के वचन—

वचन-गुप्ति युक्त आदेय वचन हैं ।

पाँचवाँ अक्षर “ति” है—

यह तिरने तारने का प्रेरक है ।

सती कुसुमवती का

प्रवचन तिरन तारन है ।

अर्हन्त अभिनन्दन का अर्हनिश आराधन करने
वाली शीलवती सती कुसुमवती का शत-शत अभि-
नन्दन ।

❀

9

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

महासती जो फलें-फूलें

—प्रवर्तक श्री अम्बालालजी म० सा०

महासती जी श्री कुसुमवती जी बहुत सरल विनीत और चारित्र्य सम्पन्न साध्वी जी हैं। मेरा उनका जब-जब मिलन हुआ उत्तरोत्तर वे गुण उनमें मैंने वर्धमान देखे। तप संयम के राजमार्ग पर अविराम बढ़ने वाली महासती कुसुमवती जी हमारे श्रमण संघ की एक दैदीप्यमान रत्नकणिका हैं। इन्होंने अपनी कुछ श्रेष्ठ शिष्याएँ भी तैयार की हैं जिनसे जिनशासन को बड़ी आशा है। महासती जी अपने रत्नत्रय की आराधना में निरन्तर विकास करती हुई फलें-फूलें यही शुभकामना करता हूँ।



एक अभिवंदनीय व्यक्तित्व :

महासती श्री कुसुमवतीजी

—प्रवर्तक महेश्वरमुनि 'कमल'

कुछ चारित्र्यात्माएँ ऐसी विशिष्ट होती हैं कि जिनका अभिनन्दन करना पर्याप्त नहीं होता, वे तो अभिवंदनीय होती हैं। त्यागभूति महासती श्री सोहनकुंवरजी म० की प्रथम प्रधान शिष्या विदुषी महासती श्री कुसुमवतीजी ऐसी ही श्रेष्ठता से युक्त हैं। ऐसी श्रेष्ठ व्यक्तित्व वाली साध्वीजी से समाज अलंकृत है।

अध्यात्म जगत में महती प्रेरणा देने में आपका योगदान महत्वपूर्ण है। श्रावक-श्राविकाओं को शालीन और आत्म-बल से युक्त बनाने में संलग्न है। आपकी कीर्ति अपूर्व है। विराग-जीवन में आप दिव्यता की प्रतीक हैं। अपने ही अनुरूप अपनी शिष्याओं का व्यक्तित्व निर्माण आपने किया है।

मुझे याद है प्रथम बार महासती श्री कुसुमवती जी म० से अजमेर मुनि सम्मेलन में मिलना हुआ।

उसके पश्चात् भीलवाड़ा में मिलने का प्रसंग आया। मैंने अनुभव किया कि साध्वीजी के जीवन में सहजता है, सरलता व शालीनता है। इन सब गुणों के साथ करुणा का भी अद्भुत समन्वय आपके व्यक्तित्व में है।

विरागमयता के लिए अपेक्षित निर्मल-छवि से आप युक्त हैं। जो भी एक बार उनके सम्पर्क में आता है उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। महती प्रेरणाओं से युक्त आपकी वाणी में ओजस्व है साथ ही करुणा भी। आपकी कथन-शैली में पर्याप्त प्रवाहमयता है। और आकर्षणशीलता है।

अपने तर्कचातुर्य से आप कोई भी गुत्थी सहज ही सुलझा देती हैं। साधना के प्रति अपार निष्ठा व मानव-मात्र के प्रति समर्पणभाव आपके व्यक्तित्व की विशिष्टता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैराग्य की अनुपमेयता के बिम्ब आपके आकार में उकेरे गये हैं।

महासती श्री कुसुमवतीजी की प्रवचन शैली एवं जीवन की अपूर्व सहजता ने मेरे मन को अत्यधिक प्रभावित किया है। उनकी संगठन निष्ठा के लिए जितना लिखा/कहा जाय, कम है। साध्वी श्री चारित्र्यप्रभाजी, साध्वी श्री दिव्यप्रभाजी, साध्वी श्री गरिमाजी जैसी आपकी सुयोग्य शिष्याएँ हैं। आप श्रमणी-समाज की शान हैं। सहज बोल-चाल में भी आपकी वाणी-प्रभावकता सिद्ध होती है।

आप में अनेक विशेषताएँ हैं पर आप प्रदर्शन से कोसों दूर हैं। अतः प्रदर्शन से जुड़कर कुछ भी प्रकट करने की तत्परता नहीं रखतीं। जो स्वतः ही प्रकट होकर व्यक्त हो जाए केवल वे ही विशेषताएँ और लोग जान पाते हैं।

जीवन की बांसुरी को आपके स्नेह भरे स्वर गुंजरित करते से सदा ही लगते हैं। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महासती श्री कुसुमवती जी ने समाज में नई चेतना जगाई है। संघ की हर अपेक्षा में आप खरी-उतरी हैं। संघ की ऐसी ही

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

दीप्तियाँ संघ में सर्वरूपेण उज्ज्वलता भरने में समर्थ होती हैं। संघ आपसे एवं आप संघ से गौरवान्वित हैं।

आपकी दर्शन और चिन्तन की गहराई बहुत विलक्षण है। ईर्ष्या, दंभ, कपट से शून्य आपके निश्छल व्यवहार से हर कोई सहज ही आपकी ओर आकर्षित होता है। आपकी तुलना गुरु गंभीर सागर से की जा सकती है।

महासती श्री कुसुमवतीजी कुसुम से सुकोमल भावनाओं से युक्त हैं पर संयमसाधना में दृढ़ता लिये हुए हैं, पर यह दृढ़ता किसी भी तरह से हठ-वादिता नहीं है। दृढ़ता के साथ ही आप में स्थित समर्पण भाव आपको सहज बनाता है। सहजता के कारण आप अनेकों की प्रेरणा स्रोत हैं। अस्तु

महासती रत्न श्री कुसुमवतीजी के पचास वर्ष की सुदीर्घ संयम साधना की गरिमापूर्ण सम्पन्नता पर हार्दिक अभिनन्दन के साथ उनके सुदीर्घ जीवन की मंगल कामनाएँ अर्पित करता हूँ।



साध्वीरत्ना का साधनामय जीवन

—प्रवर्तक रमेश मुनि

तेजोमय साधना के पचास वर्ष सम्पन्न कर महासती श्री कुसुमवती जी ने अपने व्यक्तित्व व कृतित्व को निखारा हैं। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० की आज्ञानुवर्तिनी एवं श्रमण संघ की प्रवर्तिनी श्री सोहनकुंवरजी म० की सुशिष्या श्री कुसुमवती जी एक परम विदुषी साध्वी हैं। जिस प्रकार चन्दन वृक्ष के समीप जाने से सुगन्धि प्राप्त होती है उसी प्रकार आपके सान्निध्य में रहने वाले को भी परम आत्मशांति का अनुभव होता है। भूले-भटके राहियों को आपसे सही मार्गदर्शन प्राप्त होता है। आपका साधनामय जीवन अगाध आगम ज्ञान, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की त्रिवेणी से प्रभावित, आप्लावित होकर अध्यात्मयोगिनी के रूप में उभरा है। आपने प्राकृत,

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी आदि भाषाओं का समीचीन अध्ययन किया है। आपकी प्रवचन शैली, साहित्यिक, आभंगिक भावधारा से अनुर्जित तथा श्रद्धालु भक्तजनों को अनुरजित करने वाली है। आपका प्रभावशाली व्यक्तित्व संघ में एकता, सहनशीलता, करुणा का प्रेरणात्मक नाद गुंजाता है। श्रमण संघ की प्रतिभाशाली महासाध्वी अपने संयमी जीवन के पचास वर्ष पूर्ण कर चुकी है। एतदर्थ मैं आपके संयममय जीवन का अभिनन्दन करता हूँ, तथा वर्तमान में जिस तरह आप जनजीवन को जाग्रत कर रही हैं, तथावत् भविष्य में भी श्रमण संघ की उत्तरोत्तर प्रभावोत्पादक ख्याति बढ़ाती रहें तथा प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ जिन धर्मदर्शन की विधाओं से अनुरजित होकर जन-जन का मार्ग दर्शक बने, इसी शुभ कामनाओं के साथ।



निविवाद व्यक्तित्व पर दो शब्द

—सौभाग्य मुनिजी कुमुद
(श्रमणसंघीय महामन्त्री)

विश्व में निश्चय ही कुछ जीवन ऐसे विलक्षण होते हैं, जिनसे हम प्रथमदृष्ट्या प्रभावित नहीं होते, किन्तु जैसे-जैसे उनसे सम्पर्क बढ़ता है वैसे-वैसे हम न केवल उनसे अधिकाधिक प्रभावित होते हैं, अपितु उन्हें हम अपने स्मृति कोष में सदा के लिए स्थापित कर लेते हैं।

प्रज्ञा एवं वक्तृत्व कला की प्रतिभूति महासती श्री कुसुमवतीजी म० को मैं ऐसे ही व्यक्तित्व की कोटि में लेता हूँ। कह नहीं सकता कि सभी को मेरे जैसा ही अनुभव होता होगा, किन्तु जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैंने उन्हें उन विलक्षण व्यक्तित्वों में से एक पाया, जो प्रथमदृष्ट्या अति साधारण होकर भी अपने आप में अति असाधारण है।

वयोवृद्धा विश्रुत महासतीजी श्री सोहनकुंवर जी म० ने अपने जीवन में अनेक सुसंस्कृत विदुषी साध्वीरत्नों की संरचना की और माँ जिनशासन

भारती को विभूषित किया। उनकी जीवन निर्माण की शिल्पकला बेजोड़ थी, वे स्वयं भी अपने आपमें धीर, गम्भीर और अनुपम थीं। उनके नेतृत्व में एक चमत्कार-सा था, उन्हीं के हाथों महासती श्री कुसुमवतीजी म० का निर्माण हुआ अतः चारित्र्य में वैशिष्ट्य का सम्पादन तो अवश्यम्भावी था ही। अपनी पूज्या गुरुणीजी को अपने में भावावतरित करने में महासती श्री कुसुमवती जी अधिकाधिक सफल रहीं यह अतिशयोक्तिरहित एक सहज तथ्य है, जिसे कोई भी उनमें स्पष्ट पा सकता है।

महासती श्री कुसुमवतीजी म. का इक्यावन वर्ष का संयमी जीवन समाज के सामने खुली किताब-सा स्पष्ट है। हजारों-हजारों व्यक्तियों ने उसे पढ़ा है। कहीं किसी ने कालुष्य की काली रेखा अब तक उनमें पाई हो ऐसा मेरे जानने में नहीं आया। यह सत्य है कि व्यक्ति का वास्तविक अंकन उनकी भावा धारा का अनुशीलन करके ही किया जा सकता है क्योंकि मानव वास्तव में तो वही है जैसा उसका भावजगत है, किन्तु भावोर्मियां मात्र हार्द के तट तक ही आकर ठहर जायें और निकटवर्ती बाह्य परिवेश को प्रभावित न करें ऐसा सम्भव नहीं।

सम्यक्त्व एक आध्यात्मिकता है किन्तु शम-संवेगादि बाह्य प्रवृत्तियों से उसका कुछ न कुछ तो संसूचन हो ही जाता है यह सिद्धान्तमान्य सत्य है। महासती जी श्री कुसुमवती का अन्तर्जगत सद्भाव कुसुमों से कुसुमित एवं सुगन्धित रहा है यह अंतिम निर्णय नहीं होकर भी एक अनुमानित निर्णय तो है ही जो उनके बाह्य जगत से सहज अनुमानित होता है। महासतीजी का हमारा सम्पर्क बहुत पुराना होकर भी बहुत अधिक नहीं रह पाया किन्तु इससे किसी व्यक्तित्व की पहचान में कोई अन्तर नहीं आया करता। एक अच्छे सुसंस्कृत निर्दोष जीवन की गुण झंकार दूर-दूर तक सहज ही सुनाई दिया करती है, फिर चाहे कोई उसे सुनना चाहे या नहीं भी सुनना चाहे।

व्यक्ति चर्चा यह आम व्यक्तियों का एक सामान्य संवाद है जो निरन्तर जहाँ-तहाँ चलता ही रहता

है। इसी संवाद में व्यक्तित्वों के अंकन होते हैं। श्रद्धा के पुष्प और अश्रद्धा के कंकड़ इन संवादों में ही सामान्य कहे जाने वाले व्यक्तियों द्वारा फेंक दिये जाते हैं। ये संवाद अर्थहीन तो नहीं होते हैं। भले ही कोई उन्हें अधिक महत्व न दे किन्तु ये संवाद किसी यथार्थ की ओर आंगुल्या निर्देश तो कर ही देते हैं। संवादों के इन अनौपचारिक प्रकरणों में प्रायः सभी तरह के व्यक्तियों का समावेश हो जाता है, क्या योगी, क्या भोगी सभी वहाँ चर्चित होते रहते हैं, ये प्रकरण व्यक्तियों में व्यक्तित्वों के प्रति अनायास ही निर्णय या मूल्य निर्धारित करते रहते हैं।

महासती श्री कुसुमवती के प्रति आम जनदेश से जो प्राप्त हुआ वह शुभ ही शुभ रहा, यह उनके सधे-सधाए जागरूक जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है जो निश्चय ही इने-गिने व्यक्तियों को ही उपलब्ध हुआ करती है।

महासतीजी की वक्तृता ने इनकी शुभ्रता में और चार चांद लगाए हैं। इनके प्रवचनों ने जैन जगत् में अपना एक स्थान बनाया, इससे भला कौन अपरिचित है। मधुर कण्ठ से निःसृत इनके स्वरों से एक ऐसा आकर्षण और आल्हाद झरता है कि श्रोता झूम-झूम उठता है। श्रोताओं की यह भावमग्नता अन्ततः उन्हें विरति पथ पर ही अग्रसर किया करती है।

महासती लम्बे समय तक अध्ययनशील बने रहे, जैन सिद्धान्ताचार्य आदि परीक्षाएँ उच्च श्रेणी से उत्तीर्ण की और साथ में साधना के क्षेत्र में भी निरन्तर गतिशील रहे। यही कारण है कि आज उनका अध्ययन केवल वाक्-विलास का साधन नहीं होकर जीवन में साधना से एकाकार हो गया। ज्ञान और साधना का यह अन्तिम सम्मिलन जीवन के चरम क्षणों तक चलता रहे।

जिनशासन इनके सद्प्रयत्नकृत प्रगति पुष्पों से सुसज्जित सुवासित होता रहे, इसी शुभ कामना के साथ....

एक महकता कुसुम

—श्री ज्ञानमुनि जी
[धमण संघीय सलाहकार]

साधु शब्द का अर्थ है—'साधयति स्व पर कार्याणि इति साधुः' जो व्यक्ति अपनी आत्मा को साधता है, काम क्रोध मोहादि के आत्मविकारों से अपना पिण्ड छुड़ाता है, अपना व दूसरों का हित सम्पन्न करता है, तिष्णाणं तारयाणं के आदर्श को आगे रखकर अपनी जीवनयात्रा सम्पन्न करता है, संसार सागर को स्वयं पार करता है और अपनी चरण-शरण में आये व्यक्ति को संसार सागर से पार करवाता है, वह व्यक्ति साधु माना जाता है।

साधु जीवन की इसी विशिष्टता एवं कल्याण-कारिता के कारण संस्कृत तथा हिन्दी के मनीषी विद्वानों ने बहुत सुन्दर लिखा है—

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलति तीर्थः सद्यः साधु समागमः ॥

साधु पुरुषों का दर्शन पुण्य रूप होता है, इसी-लिए साधु तीर्थ स्वरूप माने जाते हैं, तीर्थ समय पर फल देता है परन्तु साधुओं का दर्शन शीघ्र ही फल दे देता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी इसी सत्य को कितनी सुन्दर पद्धति से अभिव्यक्त करते हैं—

मुद मंगलमय सन्त समाजू,
ज्यों जग जंगम तीर्थ राजू,
अकथ अलौकिक तीर्थ राऊ,
देह सद्य फल प्रगट प्रभाऊ,

भक्तराज कबीर के शब्दों में सन्त जीवन की गरिमा को देखिये—

तीर्थ में फल एक है, सन्त मिले फल चार ।
सद्गुरु मिले अनेक फल, कहे कबीर विचार ॥

साधु संगति की गरिमा—

जैन तथा जैनेतर शास्त्रों में साधुसंगति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, साधुसंगति कितनी फल-

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

दायक है? कितनी महान है? इसमें कितनी अधिक कल्याणकारिता है? इसे संस्कृत के एक महान पण्डित कितनी सुन्दरता से अभिव्यजित करते हैं—

चंदनं शीतलं लोके चंदनादपि चंद्रमा ।
चंद्र-चंदन-योर्मध्ये शीतला साधु संगतिः ॥

संसार में चंदन शीतल माना जाता है परन्तु चंद्रमा चंदन से भी अधिक शीतल होता है, चंदन की शीतलता और चंद्रमा की शीतलता से भी अधिक शीतल सन्त जनों की संगति होती है।

भक्त राज कबीर ने साधु संगति की महत्ता को कितनी सुन्दरता से अंगीकार किया है—

कविरा संगति साधु की ज्यों गांधी का वास,
जो कुछ गांधी देत नहीं, तो भी वास सुवास,
राम बुलावा भेजिया, दिया कविरा रोय,
जो सुख साधु संग में, सो बैकुण्ठ न होय,
जा पल दरसन साध का, ता पल की बलिहारी,
सत्त नाम रसना बसे, लीजो जन्म सुधारी,
वे दिन गये अकारथी, संगत भई न सन्त,
प्रेम बिना पशु जीवना, भक्ति बिना भगवन्त,
एक घड़ी आधी घड़ी, आधी से भी आध,
कबीर संगत साध की, कटे कोटि अपराध,
कबीर संगत साध की, साहिब आवे याद,
लेखे में बाही घड़ी, बाकी दिन बरवाद ॥

सच्चा साधु कोई-कोई—

अनुभव के महारथियों ने सन्त जीवन की चर्चा करते हुए स्पष्ट रूप से यह उद्घोष किया है कि सच्चे सन्त विरले होते हैं। हर जगह ऐसे विरक्त, निस्पृह, जर, जोरू, जमीन के त्यागी, सत्य, अहिंसा के पावन धाम सन्तों का प्राप्त करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव होता है। जन्म-जन्मान्तर के शुभ कर्मों का सान्निध्य होने पर ही ऐसे हितकारी, उपकारी और मंगलकारी सन्तजनों की चरण-

शरण सम्प्राप्त होती है। सम्भव है इसीलिए एक सन्त प्रेमी विद्वान् को यह कहना पड़ा हो—

शैले शैले न माणिक्यं

मौक्तिकं न गजे गजे,

साधवो नहि सर्वत्र,

चन्दनं न वने वने

(चाणक्य नीति)

जैसे माणिक्य प्रत्येक पर्वत में पैदा नहीं होता, सब हाथियों के मस्तक में मोती नहीं मिलते और असली चन्दन हर वन में हाथ नहीं लगता, ऐसे ही जगत का कल्याण करने वाले चलते-फिरते तीर्थ-राज सन्तों का समागम भी हर स्थान पर सम्प्राप्त नहीं होता।

साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी—

साधु संघ में साधु व साध्वी दोनों का परिग्रहण किया जाता है। अतीत के इतिहास ने हमें ऐसे-ऐसे साध्वीरत्न समर्पित किये हैं जिनकी संयमसाधना एक आदर्श संयमसाधना थी, त्याग-वैराग्य के दीपक लेकर जो यत्र, तत्र, सर्वत्र, पद-भ्रमण करते रहे और लाखों द्विपद-पंशु-रूप मानवों को मानव बनने की पावन कला सिखाते रहे। जिनकी तप-साधना, ब्रह्मचर्य आराधना, और वीतराग देव की उपासना इतनी कठोर एवं विलक्षण रही कि मर्त्यलोक ने ही नहीं स्वर्ग लोक ने भी अपनी गरदनें झुका डालीं।

आज पाठकों के सम्मुख मैं एक ऐसी ही साध्वी रत्न की जीवन रेखा, प्रस्तुत करने लगा हूँ जो संयमसाधना की जीवित प्रतिमा है। मेरी दृष्टि में जो एक आदर्श साध्वीरत्न है। आज ये साधु जगत में परम विदुषी, चारित्र्यशीला, अध्यात्म-योगिनी श्री कुसुमवती जी म० के नाम से प्रख्यात हो रही हैं। जैसे पताशा चारों ओर से मीठा होता है वैसे ही इनका वचन, इनकी जवानी तथा इनकी प्रौढ़ावस्था—इनकी ये सभी अवस्थाएँ त्याग वैराग्य की पावन सौरभ से सुरभित दिखाई दे रही

हैं। कुछ वर्ष ऊपर ६ दशक की आयु चल रही है, तथापि ये भारण्ड पक्षी की तरह पूर्णतया जागरूकता से अपनी संयमयात्रा सम्पन्न कर रही हैं।

दस वर्षों की छोटी सी आयु में आप दीक्षा के आसन पर विराजमान हो गये, जब से आप दीक्षित हुए हैं तब से ही जप, तप, शास्त्र स्वाध्याय, संयमसाधना, समाज सेवा, और पठन-पाठन में ही आप अपना अधिक समय लगाते हैं। श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन भ्रमण संघ के आचार्य सञ्जाट गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी म० फरमाया करते थे कि संयमसाधना साधुजीवन की शोभा है, सुषमा है, पावन ज्योति है, और आकर्षक चमक है। पुष्प की शोभा जैसे उसकी सुगन्ध से हैं वैसे सन्त-शोभा की महत्ता संयम साधना की निर्मल सरल और सच्ची आराधना से सम्पन्न हुआ करती है। पूज्य गुरुदेव यह भी फरमाया करते थे कि संयमसाधना यदि चरम सीमा तक पहुँच जाए तो उसमें समस्त ऋद्धि-सिद्धियों के दर्शन होने लगते हैं।

संयमसाधना यदि अखण्ड हो, निर्विकार हो, पावन हो तो संयमी के हाथों पर रखी जाग भी उसे जला नहीं सकती। यह परम सौभाग्य की बात है कि महामान्या महासती श्री कुसुमवती जी संयम साधना के महापथ पर बड़ी दृढता, स्थिरता, प्रामाणिकता, सरलता एवं पूर्ण आस्था के साथ बढ़ती जा रही हैं। महासती जी की संयमसाधना के ५० वर्ष सम्पन्न हो चुके हैं, दीक्षा स्वर्ण जयन्ती की इस पावन बेला पर यही मंगल कामना करता हूँ कि ये सौ वर्ष तक अपनी संयमसाधना के पावन सौरभ से जन-जन के मन को सुरभित करते रहें। शासनेश प्रभु महावीर से यही अभ्यर्थना करता हूँ।



अन्तर हृदय का अभिनन्दन

—श्री रतन मुनि जी

(भ्रमण संघीय सलाहकार)

मुझे यह जानकर परम आल्हाद हुआ कि प्रशांतमना विदुषी साध्वी श्री कुसुमवतीजी म. अपनी साधना काल के पचास वसन्त प्रशस्त रूप से शासन सेवा करते हुए सफलतापूर्वक सम्पन्न कर रहे हैं, यह प्रसन्नता का विषय है।

ज्ञान, ध्यान, तपाराधना—ऐसे विशिष्ट गुण हैं जिसके द्वारा साधक परितः पूजा जाता है, एवं आदर प्राप्त करता है। आपके इन चारित्रिक गुणों ने जन मानस की श्रद्धा को अपनी ओर आकर्षित किया है, तथा अपने प्रभाव को अभिवृद्ध किया है। आपका अभिनन्दन चारित्र्य का अभिनन्दन है, गुणों की समुदारता का सुन्दर प्रयास है। आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म. सा. के साथ राजस्थान में विहार यात्रा के दौरान भीलवाड़ा शहर में साध्वी जी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। साध्वी श्री कुसुमवती जी एक परम विदुषी साध्वीरत्न हैं, जो सदा-सर्वदा निस्पृह और निरपेक्ष भाव से साधना के महापथ पर अविराम गति से मुस्तेदी कदम बढ़ाती रही हैं। आपने न्याय, व्याकरण, काव्य, आगम आदि का गहन अभ्यास कर जीवन को चमकाया है, ऋजुता-समता एवं कथनी-करनी की एकरूपता आपकी सहज वृत्ति है, वस्तुतः गुण गम्भीर एवं शान्त प्रकृति की साध्वीरत्ना कुसुमवतीजी, मानव समाज की गौरव हैं। मैं अभिनन्दन की इस मंगल वेला में अभिनन्दन करते हुए पू० साध्वी जी म० दीर्घायु होकर जीवनसाधना को अभिवृद्ध करती रहें यही शुभेच्छा है।



प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

साध्वीरत्नाश्री श्री कुसुमवती जी

—श्री गिरीश मुनिजी

जैन धर्म आत्मवादी धर्म है। साधक धर्म के द्वार पर प्रवेश करता हुआ आत्मा की अगाध शक्ति का परिचय प्राप्त कर सकता है। साधना के आधार पर साधक अपने लक्ष्य-साध्य को सिद्ध कर आत्मविजयी बन सकता है।

जैन धर्म में चार प्रकार के साधक हैं—साधु, साध्वियाँ, श्रावक और श्राविकाएँ।

समाज का परम सौभाग्य है कि परम विदुषी कुसुमवती जी म. साध्वियों में रत्न के समान चमक रही हैं। अतः वे साध्वीरत्ना हैं। वे दीक्षा के ५० वर्ष पार कर चुकी हैं। अतः वे स्थविरा भी हैं। वे अनेक भाषाओं का अध्ययन कर सब भाषाओं के माध्यम से अनेक कोटि के साहित्य में प्रवेश कर सकी हैं अतः वे अनेक भाषाविद् होते हुए साहित्य चंद्र भी हैं।

‘विहार चरिया मुणिणं पसत्था’ इस उक्ति को चरितार्थ करने के लिये सुदूर विहारिणी बन चुकी हैं। अतः वे भारत के महाविचरणशील पदयात्री भी हैं।

शासन देव से ऐसी प्रार्थना है कि अनेक गुण सम्पन्ना सती साध्वीजी कुसुमवतीजी दीक्षा शताब्दी को शीघ्र ही पार कर सकें। □

दो मुक्तक

—पं. उदय मुनि, (जैन सिद्धान्ताचार्य)

माता कैलाश सुता श्री सोहन की शिष्या है, गुरु पुष्कर का पा उपदेश अल्पवय में ली दीक्षा है। किया बहु अध्ययन विहार क्रिया धर्म हित ‘उदय’, धार संयम ‘कुसुम’ ने जग को धर्म की दी शिक्षा है। दिनकर किरणें सारे जग को आलोकित करती हैं, गंध फूल की हर-एक को आकर्षित करती है। जो देता जग को वही महान होता ‘उदय’, दे धर्म देशना ‘कुसुम’ जीवन सार्थक करती हैं। □

१३

दीक्षा स्वर्ण जयंती (पचचीसी)

—उपप्रवर्तक श्री चण्डनमुनि जी म.
(पंजाबी)

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती जिनकी
आई मंगलकारी है
महासती श्री कुसुमवती की
महिमा जग में भारी है ॥१॥

दौड़ी-दौड़ी दूर-दूर से
दुनिया इतनी आई थी
कहते हैं तिल धरने को भी
जगह नहीं बच पाई थी ॥७॥

सोमवार छठ आश्विन कृष्णा
उगनी सौ बयासी वर्ष
नगर उदयपुर ओसवाल कुल
में था छाया भारी हर्ष ॥२॥

ज्ञानी ध्यानी बन व्याख्यानी
जिनने धाक जमाई थी
सोहन कंवर सती प्रवर्तिनी
पूज्या गुरुणी पाई थी ॥८॥

पिता गणेशलाल कोठारी
बहुत बड़े व्यापारी थे
दया धर्म के धारी थे तो
पावन प्रेम पुजारी थे ॥३॥

उपाध्याय 'मुनि पुष्कर' जिनकी
महिमा का न कोई पार
मिले आपको गुरुवर ज्ञानी
पूरे-पूरे गुण भण्डार ॥९॥

माता 'श्री कैलाशकंवर' ने
मन वैराग बसाया था
आगे जाकर जग ठुकराकर
महासती-पद पाया था ॥४॥

'नजरकंवर' शुभ नाम जन्म का
जाने जनता सारी है
'कुसुमवती' पर नाम नव्य क्या
केसर की ही क्यारी है ॥१०॥

उन्नीस सौ तिरानवें फागुण
सुदी दश आया जब रविवार
मुदित 'देलवाड़ा' में दीक्षा
करी 'कुसुम' ने भी स्वीकार ॥१॥

हिन्दी संस्कृत, प्राकृत, आगम
आदिक में निष्णात हुये
एक नम्बर व्याख्याता बनकर
बहुत-बहुत विख्यात हुये ॥११॥

दृश्य निराला दीक्षा वाला
कैसे भूलें दर्शक-गण
याद यदा आ जाता है, हो
जाता है रोमांचित तन ॥६॥

अंधी क्रिया ज्ञान बिन मानी
बिना क्रिया के लंगड़ा ज्ञान
समाधान युत भाषण करके
जन-गण का करते कल्याण ॥१२॥

न्यायतीर्थ हैं, काव्यतीर्थ हैं
जैन सिद्धान्ताचार्य हैं
और साथ साहित्यरत्न कर
सभी संवारे कार्य हैं ॥१३॥

महावीर की वाणी ऐसे
मधुर स्वरों में गाई है
जगह-जगह जाकर जनता की
जड़ से नींद उड़ाई है ॥१४॥

महिलाओं की ओर आपका
ध्यान बहुत ही जाता है
महिलाओं के साथ पता न
ऐसा कैसा नाता है ॥१५॥

भ्रम के भय के अन्धकार में
भटक रही जो भारी है
उसे बताया अय नारी ! तू
सबला है, सन्नारी है ॥१६॥

बड़े-बड़े दिग्गज मुनिवर भी
जिसे छुड़ा न पाते हैं
चुटकी से मिथ्यात्व पता न
कैसे आप छुड़ाते हैं ॥१७॥

जैनागम स्वाध्याय आपको
प्राणों से भी प्यारा है
एक शब्द में अगर कहें सब
जीवन इस पर वारा है ॥१८॥

चन्दनमुनि पंजाबी के मन
छाई खुशी अनन्ती जी
मंगलमय हो सती 'कुसुम'
को दीक्षा स्वर्ण जयन्ती जो ॥१९॥

मारवाड़, मेवाड़, देहली
हरियाणा जम्मू पंजाब
उत्तर, मध्य प्रदेश प्रान्त में
पहुँचे जाकर किया खिताब ॥१६॥

साध्वीश्री चारित्रप्रभा जी
दिव्यप्रभा 'गरिमा जी' और
गुणी आपकी शिष्यायें हैं
सेवा समता में सिरमौर ॥२०॥

बहन ममेरी 'दिव्यप्रभा जी'
दीक्षित हुई आपके पास
किए एम. ए. और पी-एच. डी.
संस्कृत में, शत-शत शाबाश ॥२१॥

'दर्शनप्रभा' सती श्री 'प्रतिभा'
सती 'राजश्री' जी गुणखान
'विनयप्रभा जी' 'रुचिकाजी' फिर
आगम-ज्ञाता ज्ञाननिधान ॥२२॥

'अनुपमा' 'निरुपमाजी' श्रमणी
श्रमण संघ की शान अहो !
विदुषी सभी प्रशिष्याओं को
तप जप निर अभिमान कहो ॥२३॥

कठिन बताना कठिन गिनाना
जितना पर उपकार किया
जहाँ पधारे श्रमण संघ का
भारी जय-जयकार किया ॥२४॥



अभिनन्दन है, अभिनन्दन है

—कविरत्न श्री मगन मुनि जी म. 'रसिक'

अगणित गुण जिन में भरे, जीवन वही महान ।
 प्रातः वन्दनीय है सदा, गावे मंगल गान ॥

सदगुणा री सौरभ जग में, फैल रही है प्यारी जी
 महासती श्रीकुसुमवतीजी, महिमा जिन की भारीजी

पुण्यवान ही पुण्य कमा कर
 इस धरती पर आते जी
 निर्मलता और गौरवता से
 जीवन धन्य बनाते जी

मुसंयम की गाथा कथकर गाते हैं नर-नारी जी ।

सती शिरोमणि कुसुमवती जी
 अमित ज्ञान भण्डार जी
 ऐतिहासिक आदर्श जीवन जी
 मृदुता भरी अपार जी

प्रतिभासम्पन्न महासतीवर, जावे नित बलिहारी जी ।

जन्म स्थान उदयपुर जिनका
 वीर-भूमि कहलावे जी
 गणेशलाल जी गोत्र कोठारी
 मात कैलाश सुहावे जी

उगणी सौ बरियासी विक्रम सोमवार शुभकारी जी

नाम दिया है नजरकुंवर शुभ
 जन-मन को प्रिय लागे जी
 सूरत मुहानी है मन-मोहन
 त्याग भावना जागे जी

धर्म-भावना बढ़ी दिनोदिन, बचपन है सुखकारी जी

संयम रुचा अन्तर मानस में
 और न मन में भावे जी
 विरक्त अवस्था मोक्षमार्ग है
 दृढ़ता मन में लावे जी

परम पूजनीया गुरुणी श्रीजी सोहनकुंवरजी प्यारीजी

देलवाड़ा में संयम लीनो
 कुसुमवती दियो नाम जी
 उगणी सौ इकराणु मांही
 सफल कियो है काम जी

दस वर्ष की अल्पायु में, संयम व्रत लियो धारी जी

उपाध्याय जी श्रमण संघ के
 पुष्कर मुनिवर प्यारे जी
 प्रखर प्रवक्ता जन बल्लभ हैं
 उज्ज्वल नयन सितारे जी

गुरुदेव की सुदृष्टि से, अभिवृद्धि हुई सारी जी

न्याय तीर्थ और साहित्यरत्न है
 व्याकरण का है ज्ञान जी
 संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी गूर्जर है
 राजस्थानी ज्ञान जी

आगम का है ज्ञान गहन अति, मृदुभाषी हितकारीजी

ओजभरी वाणी मनभावन
 पुलकित है जन सारा जो
 जिनवाणी का भर-भर प्याला
 आप पिलावन हारा जी

सन्मति मारग सदा बतावे, सूरत मोहनगारी जी

वर्ष पचास संयमी जीवन के
 पूरण आज मनावां जी
 मंगलकामना हो दीर्घायु
 हिवड़े हरष भरावां जी

अभिनन्दन है अभिनन्दन है, रसिक शत-शत वारीजी ।



‘श्री कुसुमाष्टकम्’

हे साधिके ! अभिनन्दन

श्री मुकनमल जी म० सा०

—सुभाष मुनि ‘सुमन’

(श्रमण संघीय सलाहकार उपप्रवर्तक)

संयम पथ की हे ! साधिके
तेरा जीवन निर्मल है
अन्तर् तेरा मां-गंगा सा
अनुपम पावन निश्छल है ।

अर्हंत धर्म आराधना, आत्म गुण आधार
धारण कर उर धैर्यता, भव जल उतरे पार

संयम गुण है शाश्वता, शारद मुख सरसाय
अहो ‘शुकन’ संसार में, संयम संत मुहाय

अमरसिंह मुनि गच्छपति, श्रमणी संघ विशाल
सोहन, सोहन सारिसा, शासन दीप मिशाल

सोहन बाग कुसुम खिले, संयम साधना साध
गुरु पुष्कर नामी मिले, तप जल लेय आराध

परम-विदुषी साध्वी, गौरव संघ सवाय
कुसुमवतीजी महासती, अभिनन्दन जग मांय

सदा साध्वी सरलमना, मधुर वचन सुविशाल
विनय, विवेक विद्यागुणी, आगम ज्ञान कमाल

कुसुम-कुसुम पर देखिये, शिष्या भ्रमर गुंजाय
सरस सिगाड़ा सोहता, अमर-गच्छ के मांय

मेद-पाट मरु, मालवा, उत्तर-भारत मांय
धर्म-प्रचार नीकी करि, विचरत आनन्द मांय

निर्मल हो जिन पथ बढ़ो, शुकन सिद्धि मिल जाय
अभिनन्दन जन-गण करे, श्रद्धा कुसुम चढ़ाय

यथानाम तथागुण पूरण
‘कुसुम’ है श्री कुसुमवती
कई भाषा का ज्ञान जिन्हें है
तप संयम की ज्योति सती ।

सरल, सौम्यता और करुणा
जीवन का श्रृंगार बनाया
‘मिति मे सव्व भूएसु’ का
घर-घर में जयघोष गुंजाया ।

लघुवय में लेकर के दीक्षा
किया है जीवन को पावन
नाम दियाया मात-तात का
किया है उज्ज्वल जिन-शासन

अभिनन्दन की इस बेला में
शतायु की शुभभावना है
सदा सफल हो संयम पथ में
यही हृदय की कामना है ।

—: ० :—

जहा दीवा दीवसयं पइप्पए सो य दीप्पए दीवो ।

दीवसमा आयरिया अप्पं च परं च दीवति ।

—उत्तराध्ययन नियुक्ति —

जिस प्रकार प्रकाशमान दीप अपने प्रकाश-स्पर्श से अनेक दीपक जला देता है, वैसे ही ज्ञानवान् सद्गुरु (आचार्य) अपनी ज्ञान ज्योति से अन्य सैकड़ों जनों को प्रकाशमान करते हैं ।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

१७

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

अभिनन्दन....!

—गणेश मुनि शास्त्री

वीतराग-पथ-साधिका, करती आत्मोन्धान ।
कुसुम कलि-सी कुसुमवती, अमर गच्छ की शान ॥

□

श्रमण संघ उद्यान का, सुरमित कुसुम महान ।
जन-जन से पाता सदा, यश-गरिमा सम्मान ॥

□

गुणग्राही ज्ञानी गुणी, समता भाव प्रधान ।
दिल दर्पण-सा स्वच्छ है, घट में सम्यग्ज्ञान ॥

□

महासती सोहन कुँवर, जीवन ज्योतिर्मान ।
कुसुमवतीजी को मिली, गुरुणी गुण की खान ॥

□

करती करवाती सदा, जिनवाणी का पान ।
बढ़ता चिन्तन-श्रवण से, वीतराग विज्ञान ॥

□

मोह माया में मग्न को, करवाती है भान ।
धर्म-वचन सुन सहज ही, खिल उठते हैं प्रान ॥

□

कुसुमवतीजी संघ में, रखती ऊँचा स्थान ।
कोमल दिल नवनीत-सा, मुख पर नित मुस्कान ॥

□

दिव्यप्रभाजी महासती, कर नित अनुसन्धान ।
डॉक्टर बन गई, अब करे, ग्रन्थ रत्न निर्माण ॥

□

शिष्याएँ सब आपकी, विनयवान गुणवान !
महासती पुनवान है, कहते सब इन्सान ॥

□

खिलता बढ़ता ही रहे, अनुपम कुसुमोद्यान ।
संयम पथ के पथिक ही, कर लेते कल्याण ॥

□

स्वर्ण जयन्ती पर करें, अभिनन्दन-गुण-गान ।
स्वीकारो शुभकामना, दो जग को वरदान ॥

○ ○

जीवन ज्योति जले....

—प्रवर्तक श्री महेन्द्रमुनि 'कमल'

जैन जगत में जिनका जीवन,
महक रहा बन चन्दन है ।
महासती श्री कुसुमवती जी,
शत-शत-शत अभिनन्दन है....

स्वर्ण जयन्ती दीक्षा की सब,
मना रहे हैं नर-नारी ।
तेज साधना का चेहरे पर,
जीवन सद्गुण फुलवारी !!

हर पल है उनका अभिनन्दन
तोड़ चुके जो बंधन है ।
महासती श्री कुसुमवती जी,
शत-शत-शत अभिनन्दन है....

ज्ञान क्रिया का अदभुत संगम,
निर्मल पाई वाणी ।

सरल, विनम्र, त्याग की मूरत,
जय-जय जग कल्याणी !!

उज्ज्वल यश की धारक ! तारक !
जीवन संयम स्यन्दन है ।
महासती श्री कुसुमवती जी,
शत - शत - शत अभिनन्दन है....

जीवन ज्योति जले ऐसे ही,
नित उजियाला फैलाये ।
स्वर्ण जयन्ती मना रहे हैं,
हीरक और मनाये!!

क्या संशय है इसमें जीवन कमल खरा कुन्दन है ।
महासती श्री कुसुमवती जी, शत-शत-शत
अभिनन्दन है !!

●

सुखद शताब्दी भी आये

—जिनेन्द्र मुनि (काव्यतीर्थ)

अभिनन्दन के पुण्य पलों में,
करते हैं हम अभिनन्दन ।
परम विदुषी महासती श्री-
कुसुमवतीजी को धन-धन ॥१॥

जननी के संग संयम लेकर,
जीवन को महकाया है ।
ज्ञान ध्यान जप तप समता से,
जीवन उच्च बनाया है ॥२॥

आगम ज्ञान गहन है चिन्तन,
प्रवचन पटुता भी भारी ।
ज्ञानामृत के शुभ सिचन से,
खिल उठती जन-मन क्यारी ॥३॥

हृदय कुसुम-सा कोमल पावन,
जन-मन सहज लुभाता है ।
नदी पूर सम जन समूह,
श्रद्धा से दौड़ा आता है ॥४॥

जलधारा की भाँति जग में,
जिनवाणी वर्षाती है ।
पुण्यवती गुणवती सतीजी,
नई बहारें लाती हैं ॥५॥

प्रेम स्नेह सद्भाव सम्प के,
जन मन दीप जलाती हैं ।
सद्गुण सुमनों से शोभित मन,
जग-जीवन महकाती हैं ॥६॥

दीक्षा अर्ध शताब्दी आई, सुखद शताब्दी भी आये ।
गुरु गणेश सह 'मुनि जिनेन्द्र' भी, यही भाव मन में लाये ॥१३॥

पावन प्रतिभा से पूजित हैं,
शांति धाम जीवन अभिराम ।
जन-मन श्रद्धा का सागर है,
सौम्य स्वभावी लगे ललाम ॥७॥

शान्ति प्रेम का सर्जन करती,
अप्रमत्त जीवन की धार ।
अगणित है उपकार आपके,
भूल न पायेगा ससार ॥८॥

भारत के विभिन्न प्रान्त में,
धर्म-ध्वजा फहराती हैं ।
जिनशासन की सेवा करके,
जीवन धन्य बनाती हैं ॥९॥

अमरसाधिका श्रमणीरत्न हे !,
धर्म-ज्ञान का मंगल दीप ।
निलिप्त कमल-सी भव्य आत्मा,
मन मोती तन सुन्दर सीप ॥१०॥

चारित्र सौरभ दिव्यप्रभा से,
गरिमा उज्ज्वल छा रही है ।
अनुपमा और निरुपमादि,
नई रोशनी ला रही है ॥११॥

शिष्याएँ भी परम विदुषी,
प्रखरमति गुण विनयवती ।
ज्ञानालोक लोक में करती,
एक-एक से ज्ञानवती ॥१२॥



श्रद्धा के दो बोल

—उपप्रवर्तक राजेन्द्र मुनिजी

प्राचीन भारतीय इतिहास के पृष्ठों का जब अध्ययन करते हैं और उसमें जब नारी की स्थिति का अवलोकन करते हैं, तो पाते हैं कि उस समय नारी की स्थिति काफी सम्मानजनक थी। कई मामलों में वह स्वतन्त्र थी। उस पर कोई विशेष प्रतिबन्ध लगे हुए नहीं थे। शिक्षा के क्षेत्र में भी उसका विशेष स्थान था। इसका प्रमाण ऋग्वेद में रचित कुछ विदुषी महिलाओं की ऋचायें हैं। इतना होते हुए भी नारी को उस समय बाल्यकाल में पिता अथवा भाई के संरक्षण में और विवाह होने के उपरान्त पति के संरक्षण में रहना पड़ता था। विधवा होने की स्थिति में उसे अपने पुत्रों के संरक्षण में रहना पड़ता था। किन्तु नारी को आध्यात्मिक साधना की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की।

समय के प्रवाह के साथ समाज में भी परिवर्तन आए और उसी के साथ नारी की स्थिति में भी परिवर्तन आने लगा। मातृस्वरूपा नारी जिसके लिए कहा जाता था—यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः—जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवताओं का वास रहता है। जैसे उद्घोषों के स्थान पर नारी पर अनेक प्रतिबन्ध लगने लगे। ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रतिबन्धित कर दिया गया और नारी को नरक की खान तक बता दिया गया।

यह एक विडम्बना ही है कि जो नारी एक ओर लक्ष्मी और सरस्वती के रूप में तथा दूसरी ओर शक्ति के प्रतीक रूप में सम्मानित थी वही नरक की खान जैसे शब्दों से प्रताड़ित की जाने लगी। उसकी गौरव गरिमा की किमी को चिन्ता नहीं रही। जबकि नारी नर से किसी भी स्थिति में कम नहीं है। नारी हर क्षेत्र में नर के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करती है। नारी के बिना नर अधूरा

है और नर के बिना नारी। इसके अतिरिक्त माता के रूप में नारी के जो उपकार समाज पर हैं, उनसे कभी भी उन्मत्त नहीं हो सकते। नारी ही पुरुष की प्रथम शिक्षिका है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि प्रत्येक महापुरुष के निर्माण के पीछे एक नारी का ही हाथ होता है। नारी नर की सच्ची मित्र, वफादार साथी, मार्गदर्शक और प्रेरक होती है। उस नारी के सम्बन्ध में हेय विचार शोभा नहीं देते।

नारी त्याग की साक्षात् प्रतिमा है, उसके मुकाबले साधना और सेवा-समर्पण पुरुष नहीं जानता। नारी जितनी कोमल होती है, वह उससे कहीं अधिक दृढ़ व कठोर भी होती है। एक बार किसी विषय पर जो निर्णय कर लिया, उस पर नारी सुमेरु की भांति अडिग-अटल रहती है। पुरुष को तो एक बार अपने संकल्प से डिगाया जा सकता है किन्तु नारी को उसके पथ से अलग करना, उसके संकल्प से च्युत करना संभव नहीं है।

इसके अतिरिक्त नारी में शील, सदाचार, लज्जा, दया, क्षमा आदि अनेक सद्गुण हैं जो उसकी कीर्ति में चार चाँद लगा देते हैं। प्राचीन काल से लेकर आज तक का नारी-जगत का इतिहास देखे तो हमें अनेक ऐसे नाम मिल जाएँगे जिनके कारण हमारा इतिहास गौरवशाली बन गया है। उन सब महान सन्नारियों की नामावली गिनाना यहाँ प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक जैनधर्म का प्रश्न है, जैनधर्म में नारी को समान स्थान प्राप्त है। जैनधर्म में साधना की दृष्टि से कोई भेदभाव नहीं किया गया है। यही कारण है कि जैनधर्म में अनेकानेक महासतियाँ हुई हैं, जिन्होंने साधना के पथ पर बढ़ते हुए न केवल आत्मोत्कर्ष किया वरन् अनेक भव्य प्राणियों को भी आत्मकल्याण करने के लिए प्रेरित किया। अतिक विस्तार में न जाते हुए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ब्राह्मी सुन्दरी ने बाहुबली, राजीमती ने रथनेमि को प्रतिबोधित किया। श्रेणिक को सत्य-

मार्ग बताने वाली चेलना थी। चण्डप्रद्योत भगवान महावीर की शरण में मृगावती के कारण पहुँचे। हरिभद्र को सन्मार्ग का बोध याकिनी महत्तरा ने कराया और तुलसी को तुलसी रत्नावली ने बनाया।

जैनधर्म में नारी साधना पथ पर विकास करते हुए तीर्थंकर पद तक पहुँच सकती है। इसका ज्वलन्त उदाहरण तीर्थंकर भगवती मल्ली हैं।

जैन साधियों की एक सुविशाल परम्परा रही है। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक और फिर वर्तमान तक देखें तो हम पाते हैं कि साधियों की तुलना में साधियाँ ही अधिक रही हैं। इतना होने पर भी आज साध्वी समाज का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं होता है और आज भी समाज इस दिशा में उदासीन ही बना हुआ है।

ज्ञानाराधिका, जपसाधिका, दया और सरलता की प्रतिमूर्ति, प्रेम और वात्सल्य की देवी, विनय-विवेकसम्पन्ना, क्षमामूर्ति, मितभाषी, मधुर व्यवहारी, प्रभावक प्रवचनकार, बालब्रह्मचारिणी, परम विदुषी महासती श्री कुसुमवतीजी म० सा० आचार्य श्री अमरसिंह जी म० सा० के गच्छ की एक विदुषी साध्वीरत्न हैं। अपने संयमी जीवन के आप पचास से भी अधिक वर्ष व्यतीत कर चुकी हैं। इस संयमकालीन जीवन में आपने देश के दूरस्थ एवं निकट क्षेत्रों में विचरण करते हुए जैनधर्म की अच्छी प्रभावना की है।

आपके जीवन की अनेकानेक विशेषताएँ हैं। व्यक्तित्व प्रभावशाली है। प्रवचन शैली मधुर और प्रभावोत्पादक है। आपकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि आपका हृदय करुणा से ओतप्रोत है। आप पर-दुःख कातर हैं। आप किसी भी प्राणी को दुःखी नहीं देख सकती हैं।

संयमपालन के प्रति आप सदैव सजग रहती हैं।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

स्वयं तो इसके प्रति जागरूक रहती ही हैं अपनी शिष्याओं को भी सदैव सचेत करती रहती हैं। इसके अतिरिक्त आप अपनी शिष्याओं के अध्ययन अध्यापन के प्रति जागरूक रहती हैं। इसी का परिणाम है कि आपकी सभी शिष्याएँ/प्रशिष्याएँ उच्च शिक्षा प्राप्त हैं और अध्ययन का यह क्रम आज भी निरन्तर चल रहा है।

कुछ वर्षों से महासतियों के साधनामय जीवन पर भी अभिनन्दन ग्रन्थों के प्रकाशन का सिलसिला आरम्भ हुआ है। अभी तक आचार्यों अथवा विशिष्ट साधुओं को लक्ष्य कर ही इस प्रकार के आयोजन होते रहे हैं किंतु अब यह एक नई परम्परा चली है जो स्वागतयोग्य है। ऐसे प्रयासों के माध्यम से जहाँ एक ओर साध्वी समाज का इतिहास प्रकट हो जाता है। वहीं अनेक अछूते विषयों पर भी लेखन सामग्री उपलब्ध हो जाती है तथा जिन महासतीजी के जीवन के वैशिष्ट्य के प्रति ग्रन्थ समर्पित होता है, उससे समाज परिचित हो जाता है और उनके गण अनुकरणीय हो जाते हैं।

इस अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन से मैं सन्तोष का अनुभव कर रहा हूँ और इस अवसर पर मैं महासती श्री कुसुमवतीजी म० सा० का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ तथा यही शुभकामना करता हूँ कि वे पूर्णतः स्वस्थ एवं प्रसन्न रहते हुए दीर्घकाल तक जैनशासन की सेवा करते हुए अपने अनुयायियों को मार्गदर्शन प्रदान करती रहें। एक बार पुनः हार्दिक अभिनन्दन !



ऋण, व्रण, अग्नि और कषाय (दोष) इनका छोटा-सा अंश भी हो, तो उससे सावधान रहना चाहिए। समय पाकर ये विस्तार पा जाते हैं।

—आचार्य भद्रबाहु



जीवेम शरदः शतम्

— भगवती मुनि 'निर्मल'

विश्व के रंगमंच में अनेकों नाटकमंडली आती हैं, जाती हैं। पर वही नाटक चित्र स्थायित्व को प्राप्त होता है जिसमें जीवन को मोड़ने का दिशा दिग्दर्शन स्थायी भाव लिये होता है। जीवन बोध मिलता है। इस हरीतिमा भरे उद्यान में वही पुष्प आकर्षित करता है जिसके पास पराग हो, खुशनुमा भरा वातावरण हो। इसी प्रकार इस जीवन वाटिका में रस भरे वातावरण में अनगिनत पुष्प खिलते हैं, विकसित होते हैं व जमीं में विलीन बन जाते हैं। आने-जाने के आदिकाल से चले आ रहे इस क्रम के परम्परा में कोई भी नवीनता नहीं है। नवीनता वहाँ होती है जहाँ कुछ विशिष्टता विशेषता परिलक्षित होती हो।

आना-जाना यही संसार का क्रम है। इस नश्वर असार संसार में कौन किसका है? किसका कौन सगोत्री भाई बन्धु है। सभी स्वार्थ के वशीभूत हो उसके आसपास मंडराते रहते हैं पर यह जीव तो अकेला आया व अकेला जाने वाला है। पर उस प्राणी मानव का जीवन सार्थक माना जाता है इस धरातल पर जो पुनः नहीं आने के लिए प्रयत्नों की पराकाष्ठा करता हो, संसार से विमुख बनकर आगे बढ़ता हो, भोगों से विमुख बनकर सर्वस्व त्याग की श्रेणी में आता हो।

आज हम उन महापुरुषों के गुण गौरव गान गाते हैं जो जन्म-मरण के चक्रध्यूह से मुक्त होने के लिए संसार से उदासीन होकर राग-द्वेष की मुक्ति के लिए विराग पथ पर अपना कदम बढ़ाते हैं। दूब के समान हजारों बार जन्म लेते हैं, मर जाते हैं उनका भी कोई जीवन है?

जीव की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें अमर बनने की कला है परमात्मा बनने के बीजाणु है। महापुरुषों महासतियों का जीवन इसलिए श्रेष्ठतम माना जाता है, जिसका वृत्तान्त श्रवण कर,

वृत्त को स्मरण करके प्राणियों को आनन्द मिलता है उसी का जीवन, जीवन माना जाता है। जीवन का महत्व भौतिक धन से नहीं आंका जा सकता। श्रद्धाशील लज्जा संकोच श्रुत, त्याग और बुद्धि ये आध्यात्मिक धन है जिसके पास ये धन है वास्तव में वही धनी है। उसी का जीवन सफल माना जाता है।

हम विदुषी बा० ब्र० महासति श्री कुसुमवतीजी म० का अभिनन्दन करते जा रहे हैं। जहाँ वीरता भरे व तलवारों के खनखाहट मचाने वाले देश की राजधानी उदयपुर में आपने अपनी आँखें खोलीं तो भक्ति की मधुर रागों साधु सन्तों के संगतियों में आपका शैशवकाल विकसित हुआ। संयोग जिस जीव को जैसा मिलता है, जैसा वातावरण होता है उसी वातावरण में वह अपने आपको ढाल देता है। आपके परिवार का वातावरण धार्मिकता से ओत-प्रोत था! संसार की उदासीनता नश्वरता के गीत जहाँ सदा गाये जाते थे तो वहाँ संसार की उदासीनता के भाव मन में क्यों नहीं आयेंगे। आपके बाल्यावस्था की चंचलता में गंभीरता के भाव जम गये। चंचलता शौकीनता के स्थान पर उदासीनता, गंभीरता के भाव जम गये। धैर्यता, गंभीरता, वैराग्यता से आपने बाल्यावस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर ली। आप विदुषी महासति श्री सोहन कुंवरजी म० सा० की सुशिष्या बनी। बाल्य नाम का आवरण भिट गया। आज आपका सर्व विश्रुत नाम महासति श्री कुसुमवती जी म० अधिक प्रसिद्धि के शिखर पर है।

आपका दर्शन सर्वप्रथम कब किया था यह स्मरण की गहराई में छिप गया है। पर इतना जरूर स्मृति पटल पर है कि मैं इस पथ पर कदम बढ़ा रहा था तो आप इस पथ पर कदम हड़ता से बढ़ा चुकी थीं। अब आप शिष्या प्रशिष्या की गुरुणी बन चुकी हैं। आपके इस अभिनन्दन समारोह में मेरी अनन्त-अनन्त शुभाशा!

००
०

सरलता की मूर्ति

—उपप्रवर्तक प्रेम मुनिजी

श्रमण संघ की विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी म. से सन् १९७५ में पूज्य गुरुदेव धीर तपस्वी रोशनलालजी म. के साथ ब्यावर नगर में मिलना हुआ। शास्त्रोक्त चर्चाओं के द्वारा मैंने पाया आपको शास्त्र का गहरा ज्ञान है। आपके व्यवहार से मुझे अनुभव हुआ कि आप सरलमना, स्वाध्यायी व सेवा आदि के गुणों से युक्त हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं का गहन अभ्यास किया है साथ ही आपकी प्रवचन शैली अति प्रभावोत्पादक है। आपके प्रवचनों का श्रोताओं के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जहाँ-जहाँ भी आपने चातुर्मास किये हैं वहाँ-वहाँ संघ एकता के कार्य हुए हैं, संगठन की भावना प्रबल हुई है। आपने भारत-वर्ष के कई प्रदेशों में विहार व चातुर्मास करके जिन शासन की प्रभावना की है, आपकी तरह ही आपका शिष्या परिवार भी प्रतिभा सम्पन्न व प्रभावशाली रहा है।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस सुनहरे अवसर पर मैं यही मंगल कामना करता हूँ कि आप सदा स्वस्थ रहकर जिनशासन की प्रभावना करते रहें।

○

गुणों की खान

—दिनेश मुनि

महासती कुसुमवती जी एक परम विदुषी साध्वी हैं। स्वभाव से सरल, वाणी से मधुर और हृदय से उदार। प्रथम दर्शन में ही दर्शक उनके चित्ताकर्षक व्यवहार से प्रभावित हो जाता है। मैंने सर्वप्रथम उनके दर्शन पुष्कर में किये। सद्गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० अजमेर वर्षावास हेतु पधार रहे थे वे भी श्रद्धेय गुरुदेव श्री के स्वा-

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

गतार्थ अजमेर से वहाँ पर पधारी थीं। मैं उस समय वैराग्य अवस्था में था। गुरुदेव श्री के चरणारवन्दों में रहकर धार्मिक अध्ययन कर रहा था।

सन् १९७३ का वर्षावास गुरुदेव श्री का अजमेर-पुरी अजमेर में हुआ। उस वर्षावास में विदुषी महासती कुसुमवती जी, सद्गुरुणीजी श्री पुष्पवती जी और माताजी म० प्रतिभा मूर्ति श्री प्रभावती जी म० आदि सती वृन्द भी वहाँ पर गुरुदेव श्री की सेवा हेतु विराज रही थीं। भोजन कर लौटते समय मैं महासती जी के दर्शनार्थ उनके स्थान पर जाता था। महासती जी मुझे बहुत ही मधुर शब्दों में शिक्षा प्रदान करती थीं। वर्षावास के उपसंहार काल में मेरी दीक्षा उल्लास के क्षणों में सम्पन्न हुई। मेरे साथ ही वैरागिन बहन स्नेहलता ने भी दीक्षा ग्रहण की और उनका नाम दिव्यप्रभा रखा गया।

वर्षावास के पश्चात् गुरुदेव श्री अहमदाबाद पधारे। वहाँ का वर्षावास पूर्ण कर पूना, रायपुर, बेंगलोर, मद्रास, सिकन्दरावाद, उदयपुर, राखी का चातुर्मास सम्पन्न कर सन् १९८१ में जब गुरुदेव श्री पाली विराज रहे थे तब आप श्री ने पुनः गुरुदेव के दर्शन किये। सन् १९८३ में आपश्री का वर्षावास गुरुदेवश्री के सान्निध्य में हुआ और सन् १९८६ में भी पाली में गुरुदेव श्री के सान्निध्य में वर्षावास हुए। और सन् १९८८ में गुरुदेव श्री इन्दौर का वर्षावास सम्पन्न कर सन् १९८९ में उदयपुर पधारे तो आपसे पुनः मिलने का अवसर मिला। जब भी मिले हैं तब स्नेह और सद्भावना के साथ मिले हैं। महासती जी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह आल्हाद का विषय है। मेरी यही मंगल कामना है कि महासतीजी सदा स्वस्थ रहकर जिनशासन की निरन्तर प्रभावना करती रहें।



गुणों के आगार

—नरेशमुनि जी

है समय नदी की धार कि
जिसमें सब वह जाया करते हैं ।
है समय बड़ा तूफान कि
पर्वत भी झुक जाया करते हैं ॥
अक्सर दुनिया के लोग
समय में चक्कर खाया करते हैं ।
लेकिन कुछ ऐसे होते हैं
जो इतिहास बनाया करते हैं ॥

जेन शासन की उज्ज्वल ज्योति आदर्श साध्वी रत्न श्रद्धेय परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी म० को कौन नहीं जानता ? सब जानते हैं उन्हीं की शिष्याओं ने गुरुवर्या के दीक्षा ५० वर्ष पूर्ण होने की प्रसन्नता में एक विशालकाय अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने का भागीरथ प्रयास किया है । मुझे भी उनके सम्बन्ध में कुछ लिखने को कहा गया है मेरे ऊपर आपका महान उपकार है मुझे सर्वप्रथम ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य का श्रवण कराने वाली यही शक्ति है जिसके कारण मेरी भक्ति विकसित हुई है ।

मैं आपके किन गुणों का अंकन करूँ और किन गुणों का अंकन न करूँ यह एक गम्भीर समस्या मेरे समक्ष उपस्थित हुई तथापि "अकरणात् मंद-करण श्रेयः" प्रस्तुत उक्ति के अनुसार नहीं करने से कुछ करना श्रेयस्कर है (Some thing is better than nothing) अतः कुछ लिखने का प्रयास कर रहा हूँ ।

आपकी जन्म स्थली राजस्थान की वीर भूमि मेवाड़ है । जिसका नाम इतिहास के सुनहरे पृष्ठों में बड़े सम्मान के साथ स्वर्ण अक्षरों से अंकित है । यह वीर भूमि अपनी आन-वान और शान के लिए विश्व विख्यात है व जो त्याग, वलिदान, साहित्य

और संगीत तथा कला का प्रमुख केंद्र है । जहाँ पर अनेकानेक सन्तों, शूरवीरों, देशभक्तों और सती-साध्वियों ने जन्म लेकर साधना तपोयुक्त उदात्त जीवन से वहाँ के कण-कण को आलोकित और गौरवान्वित किया । इस धरा को ही सन्तों की जन्म भूमि और वीरों की कर्मभूमि होने का गौरव प्राप्त हुआ है । सचमुच मेवाड़ ऋषि, महर्षि, सन्त, तपस्वी व चिन्तकों की पवित्र भूमि है । वहाँ की मिट्टी के कण-कण में, अणु-अणु में महापुरुषों के तपःपूत व्यक्तित्व के शुभ परमाणुओं की सुगन्ध आ रही है । उसी गौरवमय परम्परा की लड़ी की कड़ी में स्वनामधन्य जाज्वल्यमान तेजस्वी साध्वी रत्न महासती श्री कुसुमवतीजी एक हैं । लघुवय में साधना के कठिन अग्निपथ को अपनाकर निरन्तर उस पर अपने मुस्तैदी कदम बढ़ाना आपकी पूर्व जन्म की महान साधना व पुण्यवानी का प्रतीक है । संयम के प्रशस्त मार्ग पर बढ़कर आप वहीं पर ही अवस्थित नहीं हुई, अपितु जीवन को निखारने के लिए, वैराग्यभाव में अधिकाधिक वृद्धि करने के लिए आपने ज्ञान का तलस्पर्शी गहन अभ्यास किया । तप और त्याग के रंग में अपने जीवन को रंगा । साधना व संयम का दिव्य सम्बल लेकर अंगड़ाई लेती हुई तरुणाई में भी निरन्तर आगे बढ़ती रही । श्रमण संस्कृति की विरलधारा में भोग नहीं, प्रकाश, संग्रह नहीं, त्याग; राग नहीं, विराग; अंधकार नहीं, प्रकाश; मृत्यु नहीं, अमरता; असत्य नहीं, सत्य; क्षोभ नहीं क्षमा के सिद्धान्त में डुबकी लगाकर जीवन को परिवर्तन किया । महान सरल आत्मा श्री कैलाश कुँवरजी का अपनी शिष्या, प्रशिष्याओं के साथ भदनगंज किशनगढ़ नगर में पदार्पण हुआ था, तभी मुझे उनकी अन्तेवासी शिष्या परम विदुषी साध्वी रत्न श्री कुसुमवती जी म० के संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, आपके प्रथम दर्शन से मेरे मन जो आल्हाद उभरा था, उसकी स्निग्ध स्मृति से आज भी मन पुलकित हो उठता है, और हृदय आदर से भर जाता है ।

उस प्रथम दर्शन में ही मैंने पाया कि श्री कुसुमवती जी म० सरलचित्त प्रसन्नवदन और मिलनसार स्वभाव की एक मनस्वी, यशस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी साधिका हैं। आपके सरल निश्चल और आत्मोयता पूर्ण व्यवहार से मेरा मन विभोर हो जाता था, मुझे लगा कि आप सहृदयता शालीनता तथा सौम्यता की एक जीवन्त प्रतीक हैं। आपसे ज्ञान-ध्यान सीखने में मुझे गौरव व आनन्द की अनुभूति होती थी। कई बार लम्बे समय तक वैराग्य काल में व पश्चात् आपसे मिलने व साथ में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

व्यावर में वहन सरोजकुमारी के पुनीत दीक्षा प्रसंग पर दूसरी बार आपके दर्शन करने व चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उसी दिन आपके महिमा मण्डित व्यक्तित्व से मुझे दिव्य आकर्षण की अनुभूति हुई और मैंने—निश्चय कर लिया कि मुझे भी सांसारिक आसक्ति से विरक्त होकर साधना पथ पर अग्रसर होना और जीवन का लक्ष्य बदलना है। जैसे एक कुशल माली नन्हें-नन्हें पौधों को जल प्रदान कर और रात-दिन उसका संरक्षण कर विशाल वृक्षों के रूप में परिवर्तित कर देता है वैसे ही श्रद्धेया सद्गुरुणी रूपी माली ने मेरा सिचन कर विरक्ति भावना का विकास किया है।

महासती श्री कुसुमवती जी स्थानकवासी ही नहीं अपितु, सम्पूर्ण जैन समाज की एक ज्योतिर्मान निधि हैं। आपके ओजस्वी, तेजस्वी कृतित्व से समाज भली-भाँति सुपरिचित है। आप विलक्षण प्रतिभा की धनी उत्कृष्ट साधिका हैं। आप में विनय सरलता, सहज स्नेह कूट-कूट कर भरा है। मैंने महासती जी को बहुत ही सन्निकटता से देखा व परखा है।

‘जहाँ अन्तो तहा बाहि जहा बाहि तहा अन्तो’ के अनुसार आप जैसी अन्दर हैं वैसे ही बाहर हैं। आपके जीवन में बहुरूपियापन बिल्कुल नहीं है। आप स्नेह सौजन्य की साक्षात् मूर्ति हैं। आप

विदुषी है पर विद्वत्ता का—किंचित् मात्र भी अभिमान नहीं है।

आपने अधिक श्रम से शिक्षा के क्षेत्र में आशातीत प्रगति की है। आप हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि अनेक भाषाओं की साधिकार प्रकाण्ड षण्डिता हैं। न्याय व दर्शन शास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन है। जैन सिद्धान्ताचार्य जैसी कई उच्च परीक्षाएँ सम्पत्तीर्ण की हैं।

आपका स्वभाव सरल है, आप में क्षमा, मृदुता, समता सादगी प्रभृति आदि श्रमणी जीवन के गुण विशेष रूप से झलकते हैं। विनय आपके जीवन का मूल मन्त्र है। आपके दिल में दयालुता है, विचार विशाल और स्वभाव सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं। आप की प्रकृति में प्रेम की प्रधानता है आपका जीवन गुलाब की तरह सुवासित, नवनीत के सामान मृदु व कोमल, मिथी के समान मीठा है। भौतिक चकाचौंध के युग में भी प्रभुता प्रदर्शन से दूर रहकर आप शान्त स्वभावी, आध्यात्मिक साधिका के रूप में आत्म कल्याण व लोक कल्याण के कार्यों में सतत् संलग्न हैं। आपके उज्ज्वल अन्तःकरण में भविष्य की सुनहली आशाएँ हैं, वर्तमान में गति शील कदम हैं और भूत की भव्य अनुभूतियाँ हैं। आप “तिष्णाणं तारियाणं” के पावन लक्ष्य की पूर्ति के लिए सदा जागरूक रहती हैं, दीन दुखियों के प्रति आपके मानस में कृपा की गंगा सदा प्रवाहित रहती है। किसी व्यक्ति को जब अन्तर्वेदना से परि-व्याकुल देखती हैं, तो उसके वेदनाजनित परिताप से आपका कोमल हृदय नवनीत की भाँति पिघल उठता है, परहित साधना में यदि कहीं कष्ट का भी सामना करना पड़े तो उससे कभी भी आप जी नहीं चुरातीं। “परोपकाराय सतां विभूतयः” के समुज्ज्वल आदर्श को साकार बनाकर छोड़ती हैं, विघ्न और बाधाओं की चट्टानों को चीरती हुई आगे बढ़ना आपके जीवन का परम लक्ष्य है। जड़ता व स्थिति पालकता आपको कतई पसन्द नहीं है आप अपने जीवन के अमूल्य क्षण प्रमाद, आलस्य,

निरर्थक वार्तालाप में, इधर-उधर की विकथा में व्यतीत नहीं करतीं। आपकी प्रतिभा, प्रज्ञा, मेधा और स्मरण-शक्ति तीक्ष्ण हैं, आपका चित्तन-शरद कालीन चाँदनी के समान निर्मल है, ज्ञान की अगाध गंगा है, वैराग्य जिनका अंगरक्षक है, संयम जिनका जीवन साथी है, आपने साम्प्रदायिक संकीर्णताओं की दीवारों की तोड़कर संघीय एकता के महामन्त्रोच्चार में अपना भी स्वर मिलाकर संगठन की आवाज को बुलन्द किया। जंगल में मंगल कर देने वाले आपके चरणों ने अब तक अमरगच्छ की साधिकाओं में सबसे अधिक हजारों मील की पदयात्रा करके भारत के विभिन्न अंचलों में भगवान महावीर की वाणी का प्रसार और प्रचार करके जन-जन तक पहुँचाया है, विद्वेष की आग भड़कती हो, ऐसे अवसर पर भी आप शान्ति से काम लेती हैं, आपके जीवन का मुख्य ध्येय है (Simple living and high thinking) सादा जीवन उच्च विचार। आपके जीवन में आचार, विचार और उच्चार की त्रिवेणी सदा एक रूप, एक रस होकर बहती है, वृद्ध अवस्था होते हुए भी आप मन से पूर्णतः स्वस्थ, उत्साही, प्रयत्नशील दृढ़ मनोबली हैं। आयु से वृद्ध जरूर हैं पर युवा शक्ति से आगे हैं। धर्मसाधना आपका जीवन लक्ष्य है, दृढ़निष्ठा आपका प्रगति-पथ है, विवेक और विचार आपके मार्गदर्शक हैं। यश प्रतिष्ठा मान सम्मान आपकी अनुगामिनी हैं। आप में युवा जैसा जोश व वृद्धा जैसा होश है। आप में बालक जैसी सरलता युवा जैसी संकल्पशक्ति और साहस तथा वृद्ध जैसा गहन अनुभव है, आप एक में अनेक व अनेक में एक हैं। आपके मंगलमय दीक्षा के ५० पावन वसंत त्याग वैराग्य के साथ व्यतीत होने पर आपका श्रद्धा से अभिनन्दन हैं। आपके सान्निध्य में आपकी १००वीं दीक्षा जयन्ती का सौभाग्य संघ को प्राप्त हो इसी मंगल पुनीत पावन शुभ भावना के साथ !

तुम जिओ हजारों साल,
हर साल के दिन हो पचास हजार !!

अभिनन्दन योग्य व्यक्तित्व

—उदय मुनि 'जैन सिद्धान्ताचार्य'

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि महासती श्री कुसुमवती जी म. के संयमी जीवन के ५० वर्ष पूर्ण होने पर उनके अभिनन्दनार्थ 'कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ' का प्रकाशन हो रहा है।

संयमी जीवन एक प्रेरणास्पद एवं सार्थकजीवन होता है। ऐसे पथ को सांसारिकता के बन्धनों से मुक्त होकर अल्पायु में ही अपना कर जो मानव दीर्घ समय तक संयम एवं धर्मासाधना में लीन रहते हैं, उनका सत्कार-अभिनन्दन कर समाज कृतार्थ हो जाता है। महासती जी म. सा. ने मात्र बारह वर्ष की अल्पायु में दीक्षित होकर विदुषी महासती श्री सोहन कुंवर जी म. एवं गुरुदेव श्री उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. सा. के सुसान्निध्य में विशद् अध्ययन चिन्तन, मनन, ज्ञानार्जन किया एवं धर्म प्रचार-प्रसार हित अनेक प्रान्तों में पैदल विहार कर भवीजनों को धर्मदेशना प्रदान की और इस प्रकार एक विदुषी, अध्ययनशीला महासती के रूप में समाज में अपने ज्ञान-ध्यान, संयम-साधना की सुगन्ध फैलाई। वस्तुतः ऐसे व्यक्तित्व अनुकरणीय, पूजनीय एवं अभिनन्दन योग्य ही होते हैं। शासन देव महासती जी को दीर्घ संयमी जीवन प्रदान करे, इन्हीं शुभ भावों के साथ....

सारव सलिलं व सुदृ हियया....

विहग इव बिष्पमुक्का....

वसुंधरा इव सव्व फास विसहा....

—मुनिजनों का जीवन—शरदकालीन नदी के जल की तरह निर्मल, पक्षी की भाँति प्रतिबन्ध-रहित और पृथ्वी की भाँति सहनशीलता की मूर्ति होता है।

शुभ कामना

—पं० श्री होरामुनिजा 'हिमकर'

सती सुकुमाला श्री कुसुमवती जी म० का पावन जीवन सहज रूप से लोकप्रिय बना रहा है। यही मूलभाव है जो जैन जनता आपश्री का हृदय से अभिनन्दन कर रही है। सतीजी का मन सरल, वचन में वह जादू है जो सभा प्रवचन सुन मंत्र-मुग्ध रह जाती है। जीवन जिनआज्ञा अनुसार तैयार हो जाये फिर मन की धारी जरूर पार पड़ती है। कहा भी है—

साफी की सुधरे सदा, कभी न गोता खात।
कभी न पड़े पाधरी, मन मैले की बात ॥

वि० सं० १९६३ के फाल्गुन में महासती जी ने संयम प्राप्त किया और वि० सं० १९६५ का पोस-वदी ५ के दिन मैंने भागवती दीक्षा स्वीकार की। यही कारण है कि लम्बे समय से मैं सतीजी का जीवन विकास देखता आ रहा हूँ। सतीजी का हर कार्य प्रगति पर रहा है यह पूर्वकृत पुण्य का फल है।

नैवाकृति फलति नैव कुलं न शीलं,
विद्यापि नैव न च यत्न कृतेऽपि सेवा।
भाग्यानि पूर्व तपसा खलु संचितानि,
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥

भाग्यवंत वही है जो जीवन सुखमय पले फिर आत्म कल्याण में आगे बढ़े। कहा भी है—

सरस-सरस मधुकर लहे, जो सेवे वनराय,
धुण सू जाणे जीवडो, सूखा लवकड़ खाय।

सतीजी लघुवय में संयम ले सद्गुरुणी सा० श्री सोहनकुंवरजी म० सा० का नाम रोशन कर दिया। आपश्री की शिष्याएँ भी सभी शिक्षाशील, विनीत एवं यज्ञस्विनी हैं। यश ही संसार में अमर बना रहता है। कहा है—

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

अस्थिरं जीवनं लोके, अस्थिरं धन-यौवनं।
अस्थिरा पुत्रदाराश्च, धर्मं कीर्ति द्वयं स्थिरम् ॥

सतीजी का ज्ञान दर्शन चारित्र्य निर्मल है, इन्हीं रत्नत्रय का अभिनन्दन किया जा रहा है। आपश्री चिरंजीवो बन जैन धर्म की जाहोजलाली करें, यही मेरी शुभ कामना तथा श्रद्धा सुमनांजलि अर्पित है।

वन्दन शत-शत बार

—साध्वी हर्षप्रभा

श्री कुसुमवती गुणवान,
वन्दन शत-शत बार....
माता कैलाश की लाडली,
पिता गणेश कूल अवतार....
उदयपुर में जन्मिया,
मेवाड़ प्रान्त उजियार....
कुसुम ज्यों आप खिल रह्या,
हाँ सारे विश्व मंझार....
लघुवय में संयम लिया,
है तैयार बेराग्य अपार....
सोहन सती की शिष्या प्रथम,
ये श्रमण संघ शृंगार....
शिष्या आपकी तीन हैं,
तीनों ही गुण भण्डार....
मासी गुरुणी कुसुम जीओ,
सदा होवे जय-जयकार....
अभिनन्दन करूँ आपका,
हर्ष को है हर्ष अपार....

६-

२७

अभिनन्दन के पुण्य पलों में

—श्री गणेश मुनि शास्त्री

धर्म का स्वरूप मनुष्य के विचारों और आचारों से जाना/पहचाना जाता है। विचारों की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझना। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना रखना, यही आत्मधर्म है। समता, सहिष्णुता, सेवा, सहयोग, साधना, दया, प्रेम, भाईचारा और भलाई के विचारों ने ही समाज को जीवित रख छोड़ा है। यदि ये गुण न होते तो न समाज होता और न हम आज इस अवस्था तक पहुँच पाते।

दूसरा पक्ष आचार का है। केवल विचारों से हो नहीं किन्तु आचार में भी उसका अवतरण होना आवश्यक है। धर्म की बातें बनाना, उपदेश देना, भाषण देना, पुस्तकें लिखना एक अलग बात है और उसे अपने जीवन में ढालना एक अलग बात है। आज इस वैज्ञानिक और भौतिकता के युग में जहाँ कदम-कदम पर भोगोपभोग सामग्री सहज उपलब्ध होते हुए भी आत्म-साधक, संयम के महापथ पर अविकल रूप से अपने कदम बढ़ा रहे हैं। यह धर्म का आचार पक्ष है। कहा भी है—आचारः प्रथमो धर्मः अर्थात् आचार ही मनुष्य का प्रथम धर्म है।

जीवन में विचार और आचार की पवित्र गंगा प्रवाहित होती है तो सहज ही आनन्द की अनुभूति होने लगती है। सद्गुण जीवन से सौरभ महकने लगता है। अतएव समाज में अच्छाइयों का सम्मान आदर हो। आचार प्रतिष्ठित हो। सद्बुद्धि और समता का साम्राज्य स्थापित हो और जो इस तरफ अपने कदम बढ़ा रहा हो उन्हें प्रोत्साहित और पुरस्कृत किया जाना, यह समाज का प्रथम कर्तव्य है। इससे अन्य लोगों को भी प्रेरणा मिलती है तथा जिनशासन की प्रभावना में अभिवृद्धि होती है।

सादा जीवन उच्च विचार वाली ऋजुमना परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवतीजी म० के विचार और आचार की पवित्रता के द्वारा जनता के लिए वे श्रद्धा का केन्द्र बनी हुई हैं। आपका संयमी जीवन सहजता/स्वाभाविकता/सरलता/सहिष्णुता और सुमधुरता की महक से महक रहा है। आपके अन्तस्तल से प्रवाहित होने वाली अध्यात्म भावधारा जन-मन को सहज ही आकर्षित/प्रतिबुद्ध करती है।

बाल्यावस्था में ही दीक्षिता होकर साध्वोचित सद्गुणों के कारण महासतीजी म० ने आशा-तीत आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ अर्जित की हैं। आपके उपपात में बैठने वाला सहज ही आनन्दानुभव करता है। आपकी साधना से सनी-रसपगी चिन्तनधारा का रसपान करने वाला साधक अनायास आत्मविकास के पथ पर अग्रसर होता है। मिथी-से मीठे/मधुर बोल सुनते-सुनते श्रोताओं के मन-कमल खिल उठते हैं।

समता विभूति महासतीजी की ललित-लेखनी समय-समय पर गद्य और पद्य में शक्तिशाली स्रोत के रूप में अवतरित होती है जिसकी रसानुभूति पाठकगण करते रहते हैं। महामना महासतीजी म० का मंगलमय/प्रेरक मार्गदर्शन साधक/साधिकाओं को प्राप्त होता रहता है जिससे उनमें बल/शक्ति/उत्साह का संवर्धन होता है।

समता साधिका, संयम आराधिका परम विदुषी महासती श्री कुसुमवतीजी म० के दीक्षा अर्ध शताब्दी के पुण्यपलों में अभिनन्दन समारोह का शुभ आयोजन एवं कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन से मेरा हृदय आनन्दविभोर है। मैं महासतीजी म० के प्रति उनके अनन्त भविष्य को सुखद-मंगलकामना करता हूँ इसी आशा/विश्वास के साथ....।

श्रमणा परम्परा की दिव्य ज्योति

—श्री जिनेन्द्र मुनि 'काव्यतीर्थ'

संसार में सदा काल से त्यागी ज्ञानी गुणियों का सम्मान/अभिनन्दन होता आया है और इसी पावन-परम्परा में आज समाज जिनका अभिनन्दन करने जा रही है वह हैं—वन्दनीय/अभिनन्दनीय वात्सल्यमूर्ति परम विदुषी महासती श्री कुसुमवतीजी म०। आज आपके त्याग तपोमय संयमी जीवन की किरणें सर्वत्र विकीर्ण हो रही हैं।

'समता सर्वभूतेषु' एवं 'भारण्ड पक्खी व चरेपमत्ते' के सिद्धान्त को जीवन में साकार रूप देने वाली महासतीजी एक आलोकमयी दिव्य ज्योति हैं जिनके निर्मल ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के प्रकाश से चतुर्विध संघ ज्योतित हो रहा है। सेवा समता साधना की त्रिवेणी संगम के कारण आपका संयमी जीवन तीर्थराज प्रयाग की भाँति पवित्र तथा दर्शनीय बना हुआ है। जहाँ हजारों हजार भक्त/साधकों को यथार्थ जीवन जीने का मार्गदर्शन प्राप्त होता है। सादा जीवन उच्च विचारों में जीने वाली इस महान साधिका को मैं लगभग अट्ठाईस वर्षों से देख रहा हूँ और उनके विचार और व्यवहार से भलीभाँति परिचित हूँ।

क्रान्तिकारी जैनाचार्य श्री अमरसिंह जी म० को पावन परम्परा की महान साधिका एवं चन्दनबाला श्रमणी संघ की प्रमुखा अध्यात्मयोगिनी महासती श्री सोहनकुंवरजी म० की प्रधान शिष्या रत्न हैं महासती श्री कुसुमवती जी म०। आपने अपनी जन्मदात्री के संग लघुवय में संयम ग्रहण कर द्वितीया के चाँद की भाँति विकास करती हुई विनय विवेक द्वारा संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, गुजराती आदि त्रिविध भाषा ज्ञान में निपुणता अर्जित की है। जैनागमों का गहन ज्ञान है अतः प्रवचनों में शास्त्रों की गहन बातें आप सहज/सरल भाषा में प्रस्तुत करती हैं जो सबके लिए बोधगम्य हो जाती हैं।

ऋजुमना समताविभूति महासतीजी के जीवन की सहजता/सरलता दर्शनीय एवं अनुकरणीय है। आपके निश्चल/निर्मल व्यवहार से सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक इन्सान प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। आप जिनशासनोद्यान का एक महकता/खिलता सुरभित कुसुम हैं जिसकी महक से श्रमण संघ की श्रमणी परम्परा महक रही है।

परम विदुषी महासतीजी म० का व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रभावशाली रहा है। आपने जहाँ-जहाँ भी विचरण किया है एक अनोखी छाप छोड़ी है। ऐसी विलक्षण/विचक्षण प्रतिभामूर्ति साध्वीरत्न वस्तुतः श्रमण संघ की एक महान निधि हैं/धरोहर हैं।

प्रतिभामूर्ति महासतीजी महाराज की विदुषी शिष्याओं में महासती श्री चारित्रप्रभा जी म. एवं महासती श्री दिव्यप्रभा जी म. साध्वी संघ में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखती हैं। विदुषी महासती श्री दिव्यप्रभा जी म. जो पी-एच. डी. हैं, प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ की प्रधान सम्पादिका हैं। वो साधुवाद के योग्य हैं जिन्होंने इस भगीरथ कार्य को हाथ में लेकर सम्पन्नता के शिखर पर पहुँचाया। ग्रन्थ में श्रेष्ठ सामग्री का चयन किया गया है। कुछ लेख प्रसिद्ध साहित्यकार पूज्य गुरुदेव श्री गणेशमुनिजी शास्त्री के सान्निध्य में मुझे भी अवलोकन करने का सुअवसर मिला जिससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ अतीव उपयोगी, पठनीय व संग्रहणीय बनेगा, साथ ही जन-जन का मार्ग प्रशस्त करेगा।

समादरणीया महासतीजी म० के दीक्षा अर्धशताब्दी के पुण्य प्रसंग पर हम आपके स्वस्थ दीर्घायु होने की कामना करते हुए शासनेश प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वो दीक्षा शताब्दी भी मनाने का समाज को शुभ अवसर प्रदान करें। इसी हार्दिक मंगलकामना के साथ.....

परम विदुषी प्रवचन भूषण साध्वीरत्न श्रीकुसुमवतीजी महाराज स्थानकवासी श्रमण संघ की एक प्रभावशाली साध्वी हैं। मैं एक बार गुरुदेव जैन भूषण ब्रजलालजी महाराज, गुरुदेव युवाचार्यश्री के साथ ब्यावर में था उस समय महासती श्री कुसुमवतीजी महाराज से मिलन हुआ था। व्यावर स्थित कुन्दर भवन में प्रवचन के दौरान महामती के ओजस्वी महत्वपूर्ण प्रवचन सुनने का मौका मिला। संयम के पचास वर्ष होने पर समाज संघ श्रावक वर्ग आपका अभिनन्दन करना चाहता है। हमारे श्रमण संघ के उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज एवं उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज की साध्वी समुदाय में महासती श्री कुसुमवतीजी का प्रमुख स्थान है। वैसे हमारे भारतीय इतिहास में शुरु से नारी का उज्ज्वल इतिहास रहा है। आगमों, पुराणों में, वेदों में नारी के गौरवपूर्ण आदर्श मिलते हैं। जैन जगत में नारी की गाथाएँ स्थान-स्थान पर मिलती हैं। मुझे अत्यन्त खुशी है, एक सती का अभिनन्दन किया जा रहा है। हमेशा गुणियों का गुणानुवाद होता रहा है। आपने श्रमण संघ में अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाया। साध्वी श्री ने अनेक परीक्षाएँ दीं। हिन्दी, गुजराती, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषा की जानकार हैं। परम विदुषी साध्वीरत्न दिव्यप्रभा कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन कर रही हैं। यह ग्रन्थ छपकर समाज में आएगा तो हर जैन समाज के लोगों को सतीजी के जीवन से प्रेरणा मिलेगी। कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ लोकप्रिय बनें यह मेरी शुभकामना।

वीर-प्रभु के त्याग बगीचे,
एक अनोखा सुमन खिला।
महक फैल रही दिग-दिगंत में
देखी जिसकी अजब कला।

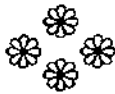
कोठारी वंश को उज्ज्वल कीना
'कुसुमवती जी' महासती।
सोहन कुँवर गुरुणी-मा तब,
जिनकी भी थी गजब मती।

उनके वरद हस्त की छाया,
मिली आपका भाग्य बड़ा।
नत मस्तक चरणों में सीखा,
ज्ञान वैराग्य का रंग चढ़ा।

श्यामवर्ण ज्ञान से मोटे,
तन तो दिखता छोटा है।
सम्पर्क पा जन बोल उठे,
अहो, जीवन इनका मोटा है।

विहार-क्षेत्र विशाल तुम्हारा,
जन-जन को सदबोध दिया।
शिष्या-प्रशिष्या को योग्य बना,
जीवन का उत्थान किया।

दोर्घायु बन जिनशासन की
सेवा में तत्पर रहना।
सफल साधना बने तुम्हारी,
शीलकुँवर का है कहना।



एक महान जीवन गौरव

—महासती श्री पुष्पवती जी

सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण महावीर ने अपने पावन प्रवचन में यह वज्र आघोष किया कि जितना पुरुष आध्यात्मिक समुत्कर्ष कर सकता है उतना ही नारी भी कर सकती है। उन्होंने चतुर्विध संघ की संस्थापना की। उसमें दो संघ नारी से सम्बन्धित हैं। यह एक ऐसी मिशाल है जो अन्यत्र ढूँढने पर भी नहीं मिल सकती।

नारी शक्ति का अक्षय स्रोत है। वह चन्द्रकान्त मणि की तरह अपनी दिव्य किरणों से जन-जन को पथ-प्रदर्शन करती है। अतीत के वे स्वर्ण पृष्ठ इस बात के साक्ष्य हैं कि बाह्यी, सुन्दरी की सुरीली स्वर लहरियों ने बाहुवली को जाग्रत किया। राजीमति के ओजस्वी व तेजस्वी वचनों ने रथनेमि को प्रबुद्ध किया।

कमलावती के चित्तन ने राजा इक्ष्वाकु को सत्यपथ पर आरूढ़ किया। याकिनी महत्तरा के उद्बोधन ने आचार्य हरिभद्र को सत्य के कठोर कंटकाकीर्ण मार्ग पर आगे बढ़ने को उत्प्रेरित किया। रत्नावली के उपालम्भ ने तुलसीदास को सन्त तुलसी बनाया। इस प्रकार सहस्राधिक उदाहरण हैं जिसमें नारी अपनी उदारता सहृदयता स्नेह और सद्भावना से जन-जन के मन में दिव्य तेज का संचार करती रही है।

चाहे कालि हो, चाहे शान्ति हो दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति भ्रांति के चक्कर में न उलझे अतः वह अपना शानदार दायित्व का निर्वाह करती रही है। नारी के विविध रूप रहे हैं। वह कभी ममतामयी माँ रही है तो कभी सहज स्नेह प्रदान करने वाली भगिनी रही है। तो कभी श्रद्धा स्निग्ध सद्भावना को प्रदान करने वाली कन्या रही है। तो कभी सर्वस्व समर्पित करने वाली सहधर्मिणी भी

प्रथम खण्ड : श्रद्धावना

रही है। धर्म, समाज, संघ, परिवार में नारी नारायणी के रूप में प्रतिष्ठित रही है।

श्रद्धेया सद्गुरुणी जी श्री सोहन कुँवर जी म. का जीवन त्याग, तपस्या, सयम सेवा का एक ऐसा आलोक स्तम्भ था जिसमें पवित्रता और प्रशम रस की किरणें विकीर्ण होती थीं। वे युग-युग तक मानव जीवन को ऊर्ध्वगामिता का पावन सन्देश सुनाती रहीं। उन्हीं के चरणारविन्दों में मैंने तथा ज्येष्ठ गुरु बहिन कुसुमवतीजी ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। उन्हीं के नेत्राय में रहकर ज्ञान-ध्यान की आराधना की। आज जो कुछ भी है उसी सद्गुरुणी का आशीर्वाद का ही सुफल है।

महासती कुसुमवती जी मेरी गुरु बहिन रही हैं। उन्होंने मेरे से पूर्व दीक्षा ग्रहण की। साथ ही हमारा परस्पर अत्यधिक स्नेह रहा और वर्षों तक साथ में हमने संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी, जैन दर्शन और अन्य दर्शनों का अध्ययन किया। अध्ययन करने पर भी आष में ज्ञान का अहंकार नहीं है। कुशल प्रवचन कर्त्री होने पर भी आपमें सरलता-सहृदयता है।

मुझे यह जानकर अपार आल्हाद हुआ कि मेरी गुरु बहिन का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। जिस ग्रन्थ में उनका व्यक्तित्व और कृतित्व उजागर होगा। मेरी यही मंगल कामना है कि वे सदा-सर्वदा निस्पृह निरपेक्ष भाव से साधना के पावन पथ पर निरन्तर अप्रमत्त भाव से बढ़ती रहें, और अपने ज्ञानादि सद्गुणों की सौरभ दिग् दिगन्त में फैलाती रहें। वे चिरंजीवी बनें। और उनके जीवन सुमन की लुभावनी महक जन-जन को लुभाती रहे।



सद्गुण गुलदस्ता—कुसुमवती जी म.

—परम विदुषी चांद कुँवर जी म. सा.

महान्-आत्माएँ वे ही होती हैं जो कि शुभ कृत्य दीप जलाकर अपने कर्मक्षेत्र को जगमगा देते हैं उन्हीं में से स्वनामधन्य विदुषी साध्वी पू. कुसुमवती जी म. सा. जो अमोल माधुर्य भावों के स्तवक की भाँति चुना हुआ सद्गुणयुक्त गुलदस्ता है जो अनवरत 'कुसुम' की ही भाँति खिलकर संसार-भर में अपनी गूण सुरभि को संसार भर में छुटा रहे हैं।

'यथा नद्याः स्यंदमाना समुद्रः' जैसे नदियाँ बहते-बहते समुद्र में समाहित हो जाती हैं। वैसे महान् आत्मा की प्रवाहमान जीवनधारा लोकहित एवं जनकल्याण करती है वैसे ही आपने सरिता एवं मेघ की तरह शुष्क जीवन में नवचेतना का संचार करके नीरस जीवन को सरसब्ज बनाकर, मन-वच-कर्म में अमृत का झरना बहाकर जनमानस को आप्लावित किया।

आप संयमी क्षणों को स्वर्णमय बनाने प्रतिपल जाग्रत रहे हो, ज्ञान रश्मियों को फैलाकर जन-मन को आलोकित किया है, आपके इन शुभ कृत्य व गुणों के प्रति हृदय गद्गद हो जाता है, अन्तर्मन से यही शुभकामना है कि आपका संयमयात्रा पथ शुभ कृत्य-सुरभि से महकता रहे जिनशासन सेवा हेतु दीर्घायु—चिरायु बने।

'कुसुमवत्' है जीवन आपका,
सद्गुणों ने पाया विस्तार।
अभिनन्दन वेला में स्वीकारो,
शुभकामना का उपहार ॥



ऊर्जस्वल-व्यक्तित्व

—उपप्रवर्तिनी साध्वी श्री कौशल्याजी महाराज

फूल तो बहुत खिलते हैं,
सुगन्ध देता है कोई कोई।
पूजा तो बहुत करते हैं,
पूजनीय बनता है कोई कोई ॥

शस्य श्यामला भारत वसुन्धरा ऋषि-मुनियों की प्रसव भूमि रही है। अनेक जाज्वल्यमान रत्न मणियों ने विश्व को निज आलोक से आलोकित किया है। रत्नों की शृंखला में एक विलक्षण रत्न है—परम श्रद्धेया, महामहिम, परम विदुषी महासती श्रीकुसुमवती जी म. सा.।

आप श्री यथानाम तथागुण हैं। आपका आनन सदैव कुसुम की भाँति प्रफुल्लित रहता है तथा मन शान्ति, ज्ञान और विनम्रता आदि विशिष्ट गुणों से ओत-प्रोत है।

कान्तिमान श्याम वर्ण, भव्य ललाट, मंजला कद, सौम्य-मुखाकृति, तेजोमय नेत्र, ब्रह्मचर्य का अखण्ड तेज, ऐसा मन-भावना स्वरूप देखते ही नयनों के मार्ग से सीधा हृदय में उतर जाता है। दया, करुणा, अनुकम्पा, सेवा, सद्भावना का दिग्दर्शन आपके हर व्यवहार में होता है। आपके अनेकानेक गुणों की सौरभ से मैं बहुत ही प्रभावित हूँ। आपके व्यक्तित्व में सब कुछ सुन्दर ही सुन्दर है। विचारों में चुम्बक जैसा आकर्षण, वाणी में महकते सुरभित कुसुमों सा वर्षण और कर्म में योगी सी एकाग्रता, सीधा-सादा रहन-सहन, सीधा सरल मधुर व्यवहार, निश्चय ही आपके पावन पवित्र व्यक्तित्व का एक मधुर परिचय है।

सरलता मुचिता व्रत साधना,
विमलता निर्लेप अकामता।
साध्वी कुसुमवती कुसुम समान है,
विनय-विज्ञ-विवेक वितान है ॥

आपश्री को बाल्यावस्था से ही संसार की विन-
श्वरता, क्षण-भंगुरता देखकर आपके मन में विरक्ति
की भावना उत्तरोत्तर दृढ़ होती गई। दृढ़ सकल्प
व्यक्ति को एक न एक दिन उसके लक्ष्य स्थल तक
पहुँचा ही देता है। यथोचित समय आने पर आपश्री
ने अल्पावस्था में ही साधु जीवन अंगीकार करके
गुरु-चरणों में जैनागमों का गहन अध्ययन-चिन्तन
और मनन किया। जैनागमों के साथ अन्य भारतीय
दर्शनों का भी सूक्ष्म अध्ययन किया तथा संस्कृत,
हिन्दी, प्राकृत, गुजराती, पंजाबी एवं राजस्थानी
भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया।

ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त अपनी ओजस्वी वाणी
द्वारा भगवान महावीर के सन्देश को घर-घर, तक
प्रसारित करने हेतु ग्राम-ग्राम, नगर-नगर की पद
यात्रा करते हुए समाज सुधार के धार्मिक-सामाजिक
कार्य सम्पन्न करके जन-मानस में एक नव-चेतना
उद्बुध की है। हीरा अपनी चमक से स्वयं प्रकाशित
होता है और मणि अपनी चमक से तम हरण
करती है। अस्तु, आप अपने सद्गुणों से स्वयं
जैन जगत में और श्रमणी समुदाय के मध्य में
प्रकाशमान हैं।

जिस प्रकार पारस के संस्पर्श से लोहा विशुद्ध
स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार महापुरुषों के सम्पर्क
में उनसे सम्बद्ध देश-काल, समाज परिवार और
व्यक्ति भी चमत्कृत होकर प्रतिष्ठा और परिचय का
अधिकारी बन जाया करता है।

मुझे आपश्री को अति निकट से देखने का
सुअवसर प्राप्त हुआ है। आपका जीवन सदा एक
रूप है—

जहा अन्तो तहा बाहिं ।
जहा बाहिं तहा अन्तो ॥

जैसा पवित्र मधुर हृदय है वैसी ही कोमल
मीठी वाणी है, वैसा ही कोमल हृदय है।

आप एक पहुँची हुई साधिका हैं। संयम-साधना
का अमिट तेज, जैन-जैनेतर दर्शनों का अगाध

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

पाण्डित्य होने पर भी आप विनम्र और मितभाषी
हैं। आपकी वाणी में मधुरता, निर्मलता और
स्निग्धता झलकती हैं। आप अप्रमत्त भाव से साधना
में तल्लीन रहती हैं। आपके जीवन में गुणों की
माला इस प्रकार गूँथी है जिसका ओर-छोर नहीं,
जिधर से पकड़ो सर्वत्र गुण विद्यमान हैं। आपका
व्यक्तित्व एक अमूल्य हीरे की भाँति देदीप्यमान
है।

किसी साधक के दिव्य गुणरूपी सुमनों को उसी
प्रकार एक छोटे से लेख में एकत्रित नहीं किया जा
सकता, जैसे माली बगीचे के सभी मनोहर फूलों
को एक ही गूलदस्ते में संकलित नहीं कर सकता।
जैसे नागर में सागर भरना असम्भव है, वैसे ही
आपश्री के असीम गुणों का वर्णन करना मेरी
लेखनी से बहर है।

श्रद्धामूर्ति परम पूज्या महासती श्री के चरग
कमलों में अपने हृदय की अनन्त श्रद्धा समर्पित
करती हुई अपने को गौरवशालिनी मानती हैं।
हमारी यही मंगल कामना है कि युग-युग तक आप-
श्री भौतिक युग में धार्मिक श्रद्धा का सुमधुर पाठ
पढ़ाते रहें और श्रमण संघ की कीर्ति पताका को
ऊँचा उठाते रहें। आपका हादिक अभिनन्दन !
अभिनन्दन !!

एक ज्योतिर्मय व्यक्तित्व

—विदुषी साधवी उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि परम
विदुषी शासन प्रभाविका साधवी रत्न श्री कुसुमवती
जी महाराज की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन
प्रसंग पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया
जा रहा है।

अध्यात्मयोगिनी, प्रवचनभूषण, साधवीरत्न
कुसुमवती जी महाराज गत १२ वर्षों से भारत के

विभिन्न प्रान्तों में पैदल परिभ्रमण कर जनता जनार्दन के अन्दर सत्य अहिंसा का जो प्रचार-प्रसार किया है, वह स्तुत्य है, आप सर्वधर्म समन्वय की समर्थक हैं, जिस प्रकार अग्नि का संस्पर्श पाकर काला क्यूटा कोयला भी सोने की तरह चमकने लगता है उसका जीवन परिवर्तित हो जाता है, वैसे ही महासती जी के सान्निध्य से अनेक भव्य जीवों के जीवन में नई चेतना नया आलोक पैदा हुआ है।

मेरी कामना है कि महासती श्री कुसुमवतीजी आध्यात्मिक जीवन की प्रगति करते हुए धर्म एवं समाज के कल्याण में सदा सर्वदा निरत रहें।



श्रद्धार्चन

— साध्वी दिव्यप्रभा
(एम. ए., पी-एच. डी.)

गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु गुरु देवो महेश्वरः ।
गुरु साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै सद्गुरवे नमः ॥

कभी-कभी जीवन के कुछ क्षण बहुत ही सुहावने होते हैं। गुरुवर्या श्री की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती का पावन प्रसंग है। हृदयोद्गार अभिव्यक्ति को ललक रहे हैं, पर विराट् व्यक्तित्व को शब्दों की परिधि में बाँधना सागर को गागर में भरने के समान दुरूह है।

पूज्या गुरुणीजी महाराज के विषय में कुछ लिखने को उद्यत हुई हैं पर जो जितना समीप होता है उसके बारे में लिखना उतना ही कठिन होता है। वे अनेक गुणों के पुञ्ज हैं। अनेक विशेषताओं के संगम हैं। उनके गुणों/विशेषताओं को मेरी तुच्छ बुद्धि के द्वारा कैसे अंकन करूँ? इतना सामर्थ्य नहीं है. आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के शब्दों में—

कल्पान्तवान्त पयसः प्रकट्टऽपि यस्मान्
मीयेत केन जलधेनेनु रत्नराशिः
फिर भी मैं कुछ लिखने को तत्पर हुई हूँ।

गुरुवर्या के प्रति अनन्य श्रद्धा मुझे प्रेरित कर रही है।

पूज्या गुरुणीजी म. सा. के साथ मेरा दोहरा सम्बन्ध है। एक तो मैं उनकी संसारपक्षीय ममेरी बहिन हूँ, दूसरी अन्तेवासिनी शिष्या। जब मैं बहुत छोटी भी तब मेरी मातेश्वरी श्रीमती चौथ-बाई यदाकदा बताया करती थी कि कैलाशकुंवरजी महाराज सा. तुम्हारे भुआ महा. है और कुसुमवती जी म. उनकी लड़की है। भुआ म. सा. बड़े धीर-वीर गम्भीर है तथा बहिन महाराज बहुत पढ़े-लिखे विद्वान् हैं, मातुश्री उनके गुणों का वर्णन करती हुई अघाती नहीं थीं। मेरे बाल मन में भी भावना उद्बुद्ध होती कि भुआ महाराज बहिन म. के दर्शन करूँ लेकिन उस समय वे दूर विचर रहे थे।

सम्बत् २०२४ सन् १९६७ में विचरते हुए म. सा. उदयपुर पधारे। हालांकि दर्शन तो पहले भी किये होंगे, लेकिन स्मृति में नहीं थे। उस समय में नौ-दस वर्ष की थी। माताजी के साथ भुआ महाराज एवं बहिन महा. के दर्शन करने गईं। उनके दर्शन कर व मधुर वाणी को सुनकर मन मयूर नाच उठा। हृदय प्रसन्नता से भर उठा। घर गई, स्कूल गई लेकिन उनकी मधुर वाणी एवं दिव्य छवि मन प्राणों में बस गई। धीरे-धीरे प्रतिदिन जाने का क्रम बन गया।

सम्बत् २०२४ का वर्षावास उदयपुर ही हुआ। बहिन महाराज मुझे प्रतिक्रमण आदि ज्ञान ध्यान सिखाते थे। कभी-कभी प्रेरणा भी देते कि यह जीवन बहुत पुण्य के उदय से मिला है खेलना-कूदना, खाना-पीना ही इस जीवन का उद्देश्य नहीं है बल्कि पुण्य-वानी से मानव जीवन मिला है तो अपने को महान बनाना चाहिए।

महाराजश्री के सतत् सान्निध्य और सदुपदेश से मेरे मन में भावना हुई कि मैं भी दीक्षा लूँ। कुछ समय पश्चात् मैंने मेरी भावना अपनी माताजी के समक्ष रखी। मातुश्री का रोम-रोम धार्मिक भाव-

नाओं से ओत-प्रोत था तथा वे पूज्य म. सा. के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे अतः उनको मेरी भावना मनकर प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—मेरी ओर से तो मना नहीं है लेकिन तेरे पिताश्री की आज्ञा मिलना बहुत मुश्किल है। मैंने कहा—आपका साथ होगा तो कुछ भी कठिन नहीं है।

समय बीतता गया और समय के साथ-साथ मेरी भावना भी दृढ़ होती गई। स्कूल का अध्ययन भी जारी था। जब भी छुट्टियाँ होतीं कुछ दिनों के लिए म. सा. के पास चली जाती थी। मेरी संयम भावना दृढ़ बनती गई। अन्ततः पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी महा. के द्वारा सन् १९७३ में अजमेर नगर में मेरी आर्हंती दीक्षा सम्पन्न हुई। मैंने बहिन महाराज का शिष्यत्व स्वीकार किया।

दीक्षा के पश्चात् मेरा अध्ययन गुरुवर्या श्री के सान्निध्य में हुआ। आपको आगमों का गहरा ज्ञान है। आप आगम के रहस्यों को जिस सरलता और सुगमता से समझाते हैं कि दुरूह से दुरूह विषय भी सहज समझ में आ जाता है, आगमों का ही नहीं दार्शनिक विषयों का भी गहरा अध्ययन है। आपश्री की ज्ञान गरिमा को देखकर हृदय गद्गद हो जाता है, मस्तक झुक जाता है।

अध्ययन की अपेक्षा अध्यापन कार्य कठिन है। अध्ययन में स्वयं को पढ़ना होता है, जबकि अध्यापन में स्वयं की योग्यता का परीक्षण होता है। अध्ययन करने वालों की योग्यता के अनुसार विषय को संक्षेप और विस्तार से समझाना पड़ता है। अध्यापन कठिन कार्य है, फिर भी गुरुणीजी महाराज उसको सहज रूप में सम्पन्न करने में कुशल हैं आपने अपनी शिष्याओं, प्रशिष्याओं को तो अध्ययन कराया ही है। अन्य भी अनेक साधिव्यों ने अध्ययन किया तथा अनेक बालक-बालिकाओं ने धार्मिक ज्ञान सीखा।

आपका हृदय ममता/वत्सलता से परिपूर्ण है। प्राणीमात्र के प्रति आपकी वत्सलता प्रवाहित है

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

आपकी ममता माँ की ममता से भी बढ़कर है, मुझे आपसे माता-सदृश अगाध वात्सल्य प्राप्त हुआ है जिसे मैं किन शब्दों से अंकित करूँ? माँ जैसे अपने सुख-दुःख की परवाह न करके अपनी सन्तान के लिए सर्वस्व अर्पण करती है ठीक उसी प्रकार पूज्य गुरुवर्या माँ हैं; बचपन से लेकर आज तक पूज्या गुरुणी प्रवरा का जो अपार वात्सल्य मिला है उसे मैं शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकती।

अक्सर देखा जाता है कि जो विद्वान् हैं उनमें सेवा का गुण कम ही होता है, लेकिन गुरुणीजी महाराज इसके अपवाद रहे हैं आपने अपनी गुरुणी तपोमूर्ति श्री सोहनकुंवरजी महाराज की रुग्ण अवस्था में अथक सेवा की। पूज्य सोहनकुंवरजी महाराज पाली में दस माह तक असाध्य व्याधि से पीड़ित रहे। पूज्य माताजी महाराज श्री कैलाशकुंवरजी म. व्यावर और अजमेर के बीच छोटे से गांव खराया में असाध्य व्याधिग्रस्त हो गये। उस समय रात-दिन की परवाह किये बगैर आपने जो सेवा की, उसको कैसे लिखा जाय? मैंने अपनी आँखों से देखा है। आप रात-रात भर उनके पास जागते बैठे रहते थे। माताजी म. को हार्ट की तकलीफ थी। विहार करते हुए हार्ट में दर्द होने लग जाता, सोते-बैठे भी सीने में जोरों से दर्द होने लगता। आप छाया की तरह हर समय उनके साथ रहते और उनकी सेवा करते।

आज भी मैं देखती हूँ, छोटी सतियों को भी कुछ तकलीफ या वेदना होती है तो आप उनकी तन-मन से सेवा में लग जाते हैं। आपका हृदय किसी की वेदना सहन नहीं कर सकता। आपकी सेवा भावना को देखकर हर कोई प्रेरणा पा सकता है।

गुरुणीजी महाराज किसी भी कार्य को अपना लक्ष्य/ध्येय बना लेते हैं तो उस पर निर्भीक होकर बढ़ते हैं। उनमें कृत्स्न शक्ति गजब की है।

कश्मीर विहरण के लिए जब जम्मू से विहार

किया तो गर्मी के दिनों मई माह में भी आंधी, तूफान, वर्षा, बर्फ खलन होने लगा। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ने लगे त्यों-त्यों प्रकृति रास्ता रोक रही थी। श्रावक-जन कहने लगे—इस समय तो भयंकर गर्मी होने लगती है, इन दिनों कभी बर्फ नहीं पड़ती है, परन्तु इस बार तो वर्षा हो रही है बर्फ गिर रही है और शीत बढ़ा हुआ है, ऐसी स्थिति में आप कैसे जायेंगे? ग्रहस्थ लोगों के पास सब साधन होते हैं फिर भी कश्मीर का ठण्डा मौसम बहुत असहनीय होता है, फिर आपके पास तो ओढ़ने-बिछाने के साधन भी अत्यल्प हैं/सीमित हैं। गुरुणो महाराज इन सब की परवाह किये बगैर चलते चले। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी चलते रहे। आधा रास्ता पार हुआ, आखिर प्रकृति को भी बदलना पड़ा। प्रकृति भी अनुकूल हो गई। आंधी, तूफान, वर्षा, बर्फ सब रुक गये। चारों ओर रमणीय दृश्य दिखाई देने लगे। पहाड़ों पर जमा बर्फ चमकता हुआ दिखाई देता था। लोग कहते—आपको दिखाने के लिए ही प्रकृति ने यह दृश्य इस माह में भी उपस्थित किया है।

संकट एवं बाधाएँ तो आती ही हैं लेकिन कर्मठ व्यक्तियों के सामने स्वयं निरस्त हो जाती हैं और उनका पथ प्रशस्त एवं निर्विघ्न हो जाता है कहा भी है—

वहादुर कब किसी का आसरा अहसान लेता है। उसी को कर गुजरता है जो दिल में ठान लेता है।

निरुत्साही व्यक्ति किसी कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते हैं और कुछ लोग करते भी हैं तो विघ्न बाधाएँ आने पर बीच में ही छोड़ देते हैं, लेकिन जो महात्मा होते हैं वे प्रारम्भ किये कार्य को करके ही दम लेते हैं।

गुरुणीजी महाराज की यह विशेषता है कि प्रण के पक्के हैं जिस कार्य को करने का निर्णय लेते हैं उस कार्य को सम्पन्न करके ही विराम लेते हैं।

विद्वान् होते हुए भी आप अत्यन्त नम्र है, अहं

ने आपको छुआ ही नहीं है। आप करुणा की महा-देवी हैं तो सरलता की प्रतिमूर्ति हैं। समन्वय की साधिका हैं। आपका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल एवं पवित्र है।

आपकी प्रवचन शैली चित्ताकर्षक व अनुठी है। आपके हृदय से निकली वाक्धारा श्रोताओं के अन्तर् तक पहुँचती है। मेरा परम सौभाग्य है कि दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पावन अवसर पर मुझे भी श्रद्धा के दो पुष्प अर्पित करने का अवसर मिला है। अन्त में यही मंगल कामना करती हुई अपनी लेखनी को विराम देती हूँ कि आपका आशीर्वाद व आपकी छत्रछाया मुझ पर सदा बनी रहे।

श्रमणी उपवन का दिव्य 'कुसुम'

—साध्वी अक्षय ज्योति 'साहित्यरत्न'

इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों का जब मैंने अवलोकन किया तो एक सुखद गौरव गरिमा से मेरा अन्तस्तल खिल उठा? क्योंकि जैन परम्परा में श्रमण की तरह श्रमणी परम्परा का भी शीर्ष स्थान है।

आदि युग से लेकर आधुनिक युग तक एक नहीं अनेक तेजस्वी श्रमणियाँ हुई हैं जिन्होंने अपनी अनुठी आन, बान और शान से अपनी कीर्ति कौमुदी को विश्व में चमकाया।

उसी श्रमणी उपवन का एक महकता दिव्य कुसुम है—साध्वीरत्न, सरलमना महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० जिनका व्यक्तित्व—कृतित्व अनुपम है। सरलता, सहजता, मृदुता, विनम्रता, कोमलता आदि अनेक सद्गुण पुष्पों से पुष्पित एवं सुरभित है आपका जीवन उपवन।

आपका साधना काल सुदीर्घ है। महासती जी संयमी जीवन के ५०वें वसन्त में प्रवेश कर रही हैं। इतने अधिक वर्ष के वसन्त यथार्थ वसन्त ही

रहे हैं ? सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय ही व्यतीत होता रहा आपका संयमी जीवन का हर क्षण हर पल ।

मुझे यह जानकर हादिक प्रसन्नता हुई कि श्रद्धेया महासती जी के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष में एक गौरव ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है, यह कार्य स्तुत्य है । हादिक साधुवाद की पात्र है स्नेहशीला साध्वीरत्न दिव्यप्रभाजी महाराज जिन्होंने इस विराट आयोजन का उपक्रम किया ।

अन्त में आराध्य देव से यही कामना करती हूँ कि आप शतायुं हों ...लम्बे समय तक आपका सान्निध्य संघ समाज को प्राप्त हो एवं हम सबको आपकी दीक्षा शताब्दी मनाने का सौभाग्य मिले । इसी अक्षय आशा के साथ....

हे ज्योति धरा ! हे ज्योति पुंज !
लो हादिक अभिनन्दन !
युग-युग ज्योति करो धरा को,
चरणों में शतशत वन्दन !

पुष्कर तीर्थ के कमल—कुसुम

—साध्वी संघमित्रा जी

मुझे यह जानकर हादिक प्रसन्नता हुई है कि स्थानकवासी जैन समाज की विदुषी साध्वी श्री कुसुमवती जी म० का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है । महान आत्माओं का जीवन तिन्नाण-तारयाण का प्रतीक रहा है, उनका जीवन दीपक-वत् है जो स्वयं भी प्रकाशित है और चहुँ ओर प्रकाश फैलाता रहता है ।

आपके सम्बन्ध में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है फिर भी अपनी भावना को चन्द शब्दों द्वारा व्यक्त करने का प्रयास कर रही हूँ ।

तुम्हारी गौरव गाथा को कैसे मैं गाऊँ ?
तुम्हारे चरण सरोज में स्थान कैसे पाऊँ ?

तुम हो कमल कुसुम, सुगंध से परिपूर्ण ।
तुम्हारी गुणमरिमा देख, बलि-बलि जाऊँ ॥

यद्यपि आप से प्रत्यक्ष परिचय-दर्शन का मौका मुझे नहीं मिल पाया, तथापि आपकी सुशिष्या चारित्रप्रभाजी आदि से आपके जीवन-दर्शन, व्यक्तित्व कृतित्व से बहुत कुछ जानने को प्राप्त हुआ है । मैं साधिकार कह सकती हूँ कि आपश्री ने सन्त, साधु, संन्यासी, भिक्षु एवं मुनि शब्द को अपने जीवन में आत्मसात् किया है ।

सन्त अर्थात् जो शान्त जीवन जीता है, निर्भय होकर समभाव में स्थिर रहकर मदैव सत् की गवेषणा करता है ।

साधु अर्थात् “साधयति स्व पर कार्याणि इति साधु” जो स्व पर कार्य में—आत्मोत्थान में सदा निमग्न रहता हो ।

संन्यासी अर्थात् जो स्वयं के लिए कुछ भी न रखते हुए अपने जीवन को देश धर्म व समाज कल्याण के लिए लगा देता हो ।

भिक्षु का अर्थ है—जो अहंकार का त्याग कर ऊँच-नीच कुल में समान रूपेण भ्रमण कर स्वल्पाहार की गवेषणा करते हैं ।

मुनि अर्थात् जो वचन गुप्ति के पालन में सदैव जागरूक रहते हुए हित, मित व इष्ट वाणी का प्रयोग करता है ।

आपके जीवन में संयम की श्रुद्धि के साथ साथ मन की विशुद्धि भी है । इसलिए आप मात्र कुसुम ही नहीं कमल कुसुम हैं. कमल के समान उज्ज्वल ही नहीं, संसार रूपी कीचड़ से निर्लेप भी हैं ।

ऐसे विराट व्यक्तित्व व कृतित्व के धनी महासती जी के इस दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन अवसर पर मैं अपनी व अपने साध्वी परिवार की ओर से आपका शतशत अभिनन्दन करती हुई यही मंगल कामनाएँ करती हूँ कि आप दीर्घायु वनकर हमें सदा मार्ग दर्शन प्रदान करती रहें । □

शत-शत वन्दन अभिनन्दन

—साध्वी मुक्तिप्रभा

(सुशिष्या महासतो श्री सिद्धकुंवरजी म०)

श्रमण संस्कृति की गौरवशाली परम्परा में जो स्थान पुरुषवर्ग का है वही स्थान नारी वर्ग का भी रहा है। पुरुषों की भाँति नारियों ने भी यहां इतिहास बनाया है। पुरुषों की भाँति नारियों का नाम भी सदा सम्मान के साथ याद किया जाता है, जिस श्रद्धा के साथ राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध का स्मरण किया जाता है उसी श्रद्धा के साथ चन्द्रना, सीता, द्रौपदी, सुलसा आदि का स्मरण किया जाता है।

जिनशासन की प्रभावना में जितना योगदान श्रमण वर्ग का रहा है उतना श्रमणी वर्ग का भी है। श्रमणीवर्ग ने जिनशासन की गरिमा को अभिवृद्ध किया है, उसी पावन पुनीत श्रमणी परम्परा में यथानाम तथागुण परम विदुषी, सरलता की साकार प्रतिभा परमादरणीया श्री कुसुमवतीजी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। नाम के अनुरूप ही आप में सद्गुणों की सौरभ है। कुसुम कहते हैं—फूल को, जिस प्रकार फूल अपनी भीनी-भीनी महक से सारे वातावरण को सुरभित कर देता है, स्वयं भी सुगन्धित होकर महक को मुक्तमन से दूसरों को लुटाता है, उसी प्रकार आप भी ज्ञान रूपी महक से सुवासित हैं और दूसरों को भी सुवासित कर रहे हैं।

मुझे भी आपश्री के दर्शनों का सौभाग्य मिला, मैंने पाया आप एक मधुर स्वभावी मिलनसार प्रकृति के धनी हैं, आप एक अच्छी पढ़ी-लिखी सुलझे विचारों की धनी हैं, छोटी-छोटी प्रति आपके हृदय में अपार स्नेह सद्भावना है, सचमुच आप एक वात्सल्य की मूर्ति हैं।

आप एक ख्यातिप्राप्त साध्वी हैं, आपके जीवन में सरलता, सादगी और सहनशीलता का अद्भुत

समन्वय है, १२ वर्ष की लघुवय में संसार की असारता समझकर आपने संयम के महापथ पर कदम बढ़ाये हैं, संयम ग्रहण कर आपश्री ने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं का गहन अध्ययन किया, आपकी प्रवचन शैली औजस्वी व तेजस्वी है।

इस अभिनन्दन की पावन पुण्य वेला पर मैं अन्तर् हृदय से यही मंगल कामना करती हूँ कि आप दीर्घायु बनकर जिनशासन की गौरव गरिमा में चार चाँद लगाएँ।

साधना की ज्योतिर्मय मूर्ति

—साध्वी प्रकाशवती

परम विदुषी साध्वीरत्न कुसुमवती जी म. का जीवन निरन्तर ज्ञान-ध्यान-सेवा-सत्कर्म में चलने वाला जीवन है। आपका जीवन उस बहुमूल्य हीरे की तरह है जो अपने मुँह से अपनी प्रशंसा नहीं करता—हीरा मुख से कब कहे लाख हमारा मोल। आपका हृदय सरल-सरस है, मन में कहीं पर भी दुराव-छिपाव नहीं, जितने भाव सुन्दर हैं उतनी वाणी भी सुन्दर है।

आपका जन्म राजस्थान की वीरभूमि मेवाड़ में हुआ, आप उस वीरांगना की भाँति हैं जो वीरभूमि में युद्ध के नगाड़ों को श्रवण कर घबराती नहीं हैं अपितु दुगने वेग से झूझती हैं। उसी प्रकार आप भी साधना काल में आए कष्टों में सदा आगे बढ़ती रही हैं, श्रमण भगवान महावीर की वाणी आपके जीवन में आदर्श बन चुकी है—अप्पाण भयं न दंसए—अपने को कभी भयभीत न होने दो।

अध्ययन की दृष्टि से भी आपने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषा का गहन अध्ययन किया है। अनेक परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं। ज्ञान के साथ-साथ आपमें ध्यान की व जप की रुचि भी अत्यधिक रही है।

आपका शिष्या परिवार भी योग्य है। मेरा विगत २५ वर्षों से आप से सम्पर्क रहा है क्योंकि मेरे दोनों सुपुत्र पण्डित श्री रमेश मुनि जी, उप-प्रवर्तक श्री राजेन्द्र मुनि जी ने श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० एवं उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. द्वारा दीक्षित हैं इसी कारण से इन २५ वर्षों से सम्पर्क बना हुआ है। अभिनन्दन की इस पावन वेला पर मैं अपनी ओर से और गुरुणी प्रवरा श्री नान कुँवर जी म., श्रद्धेया श्री हेमवती जी म की ओर से यही हार्दिक मंगल कामना करती हूँ कि हे महासाध्वी ! चत्वारि तव वर्धन्ति आयुर्विद्या यशोवलम्—आपके जीवन में आयु-विद्या-यश एवं बल में सदा अभिवृद्धि होती रहे।

❖

शासनप्रभाविका

—साध्वी सत्यप्रभा

भारत के ऋषि—महर्षियों ने जीवन को तीन भागों में विभक्त किया है—आसुरी जीवन, दैवी जीवन, आध्यात्मिक जीवन।

आसुरी जीवन में भोग-विलास, राग-द्वेष की प्रधानता रहती है। जो जीवन में ईट, डिक एण्ड बी मेरी—खाओ, पीओ, मौज करो का समर्थक रहा है, इस प्रकार आसुरी जीवन की बुनियाद है अनन्त कामनाएँ, वासनाएँ, सांसारिकताएँ, भौतिक सुखाभिलाषाएँ, आदि आदि जो वस्तुतः मृग मरी-चिकाएँ हैं, और मनुष्य को भटकती रहती हैं।

आसुरी जीवन के विपरीत—दैवी जीवन है जिसमें सत्य, स्नेह की मधुर सुवास बनी रहती है, जहाँ अहिंसा का आलोक हो, प्रेम का प्रदीप हो, करुणा का कमनीय कुंज हो, संयम का शस्त्र हो, आत्मानुशासन का आधार हो, मानवोचित समस्त सहजधर्मों और गुणों का समुच्चय हो, इस जीवन में, आत्मा का दीपक उसके मार्ग को आलोकित करता है, शीतल पवन का आंचल उसके श्रमजन्य स्वेद-

कण पौछता है, आँधियाँ भी आती हैं तो उसके मार्ग के कांटों को उड़ा ले जाती हैं।

दैवी जीवन के सद लक्षण मानव देहधारी प्राणी को यथार्थ मानव का गौरव प्रदान करते हैं, न केवल तन से ही, वह मन से भी मानव होकर एक विशिष्ट दिव्यता का अधिकारी पात्र बन जाता है, विश्व बन्धुत्व की महत् धारणाओं का वह न केवल चित्तक रह जाता है, अपितु अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत करता है, कि मुग्ध सामान्य जन जीवन की सार्थकता है, सफलता है।

आध्यात्मिक जीवन

अपरिमित ज्ञानालोक से जगमगाता जीवन आध्यात्मिक स्तरीय जीवन है जिसमें सम्यग्ज्ञान की लौ प्रचण्ड प्रकाश को विकीर्ण कर स्वानुकूल आचरण हेतु न केवल प्रेरणा देती है वरन् इस मार्ग के सभी व्यवधान तिमिरों को निर्मूल कर देती है। यही आध्यात्मिक जीवन की आधारभूत विशेषता है।

आध्यात्मिक जीवन एक मंजूषा है जो रत्नत्रय की जगमगाहट से सदा ज्योतिर्मय रहती है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र्य की यह त्रिवेणी गंगा-यमुना-सरस्वती के समान आध्यात्मिक जीवन को तीर्थराज प्रयाग की ही भाँति न केवल गरिमा व पवित्रता देती है, वह तो उद्धारक रूप का निर्माण भी करती है।

ऐसे अति उच्च, श्लाघ्य एवं गरिमामय जीवन के धनी ही तो हैं परमादरणीया महासती जी श्री कुसुमवती जी।

मुझे महासती जी के दर्शनों का सौभाग्य सम-दडी ग्राम में प्राप्त हुआ। महासती जी का जीवन हिमालय से भी ऊँचा और सागर से भी गहरा है। आप सूर्य के समान तेजस्वी हैं तो शशि के समान निर्मल, स्वच्छ व शीतल भी हैं। प्रकाण्ड विद्वत्ता के धनी होते हुए भी स्वभावतः विनम्र हैं, आपके इस अभिनन्दन की पावन वेला पर मैं शतशः वन्दन नमन करती हुई अन्तर्हृदय से यही मंगल कामना करती हूँ कि आप दीर्घायु वन हमें सदा मार्गदर्शन प्रदान करती रहें।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

३६

आँखों देखा यथार्थ

—साध्वी रुचिका

(परम विदुषी श्री चारित्रप्रभा जी म. सा. की शिष्या)

एक संस्कृत कवि ने कहा है :—

हे पथिक ! कुमुद वन की सुषमा और सौरभ का वर्णन तुम क्यों करते हो ? उसका वर्णन तो वहाँ फूलों पर सतत मंडराते हुए, रसपान करते हुए भ्रमर स्वयं ही मस्त गुंजारव के मिष निरन्तर करते ही रहते हैं। हाँ तुम तो सिर्फ उनकी गुञ्जन की भाषा सुनो, समझो।

किसी व्यक्ति के विषय में जानना, समझना हो तो उसके परिचित, निकट सम्बन्धी और उसके सान्निध्य में रहे हुए व्यक्तियों की बात सुनो, वे ही उसके व्यक्तित्व का यथार्थ स्वरूप बतायेंगे और वही उसका यथार्थ परिचय होगा।

'कुसुम' वन की सुषमा एवं सौरभ का परिचय देने वाले भ्रमर समूह में से एक मैं भी आप (गुरुणी जी श्री कुसुमवती जी म. सा.) के अथाह गुण समुद्र में से कुछ एक बूँदें आपके ही चरणों में समर्पित करना चाहती हूँ। आपका जीवन परिचय तो इस अभिनन्दन ग्रन्थ में अनेक लेखकों ने दिया होगा। मैं तो सिर्फ आँखों देखा यथार्थ ही कहूँगी।

मैं आपकी तृतीय पौत्र शिष्या हूँ। आपके चरणों में रहकर जो मैंने देखा, जो अनुभव किया, उसको प्रस्तुत करना चाहूँगी। वैसे तो आपके गुण अनन्त हैं। उनका वर्णन करने के लिये एक ग्रन्थ तो क्या ? अनेक ग्रन्थ तैयार हो जायें तो भी आपके सद्गुणों का पूर्णतया वर्णन नहीं हो सकता फिर भी मैं अपनी नन्हीं-सी लेखनी से एक बच्चे के समान टूटे-फूटे शब्दों में करने का प्रयास करूँगी।

१. स्वभाव में सरलता:—

आपश्री के स्वभाव में जो सरलता मैंने देखी है, वैसी सरलता अन्यत्र दुर्लभ है। जीवन में छल,

कपट या असत्य किसी भी कौने में दृष्टिगोचर नहीं होता है। किसी के प्रति द्वेष या रोष तो आप को छूआ तक नहीं है। महापुरुषों से मिलना और उनके सद्गुणों को अपने जीवन में लाना आपका प्रथम कार्य है।

२. वाणी में मधुरता :—

आपश्री की वाणी में मधुरता अपना विशिष्ट स्थान लिये हुए है। आपकी वाणी से वृद्ध अपने बच्चों का सा सुख पाते हैं, युवा अपने ह्रम उम्र जैसा स्नेह लूटते हैं। बच्चे माँ जैसा वात्सल्य प्राप्त करते हैं। आपको प्रवचन शैली से तो जनता गद्गद हो उठती है। एक-एक विषय को बड़े सरल ढंग से इस प्रकार समझाती हैं कि अनपढ़ व्यक्ति भी उसे सहज में समझ ले। गायन शैली तो अत्याकर्षक है। कोयल-सी सुमधुर आवाज श्रोतागणों को मंत्र मुग्ध कर लेती है।

३. सौम्यता :—

६ नवम्बर, सन् १९८६ से मैं गुरुणी जी श्री कुसुमवती जी म. सा. की सेवा में रहने लगी। ३० अप्रैल १९८० में मैंने आपकी ज्येष्ठ शिष्या श्री चारित्रप्रभा जी म. सा. के चरणों में प्रव्रज्या अंगीकार की। तब से आज दिन तक एक बार भी आपके चेहरे पर क्रोध की रेखा तक नहीं देखी। आपके सामने बाल, वृद्ध अथवा युवा कोई भी किसी भी समय आ जाये सदा कुसुमवत् मुस्कुराते हुए ही दर्शन देते हैं। चेहरे की सौम्यता कौसी भी परिस्थिति में किसी भी घड़ी या पल में कम नहीं होती। अस्वस्थता होने पर भी चेहरा खिला हुआ ही रहता है।

किसी ने आपका नाम बहुत सोच समझकर दिया और आपने अपने नाम को खूब सार्थकता दी है। कुसुमवती अर्थात् कुसुमवत्—कुसुम (फूल) के समान। वास्तव में आप फूल के समान ही अपनी सौरभ फैला रही हैं, फूल के समान ही खिली हुई रहती हैं और फूल के समान ही स्वयं के सुख की

परवाह न करके दूसरों को सुख पहुँचाना चाहती हैं।

४. नम्रता :—

आपश्री की नम्रता का प्रतीक एक संस्मरण मुझे याद आ रहा है। सन् १९७६ में जब आपका चातुर्मास मेरी जन्मभूमि जम्मू में था, एक दिन लगभग चार बजे मैं दर्शनार्थ स्थानक में पहुँची। गुरुणी जी श्री कुसुमवती जी म. सा. अपनी दो शिष्या श्री चारित्रप्रभा जी म. सा. एवं श्री दिव्यप्रभा जी म. सा. एवं दो पौत्र शिष्या श्री दर्शनप्रभा जी म. सा. एवं श्री विनयप्रभा जी म. सा. के साथ विराजमान थीं। मैंने सबको वन्दन किया। आप श्री के मुखारविन्द से मंगलपाठ श्रवण किया और वापस चल दी। अभी जीनों तक ही पहुँची थी कि पीछे से आवाज आई, 'ओ बहन जी' ! मैंने सोचा इतनी मधुर एवं ऊँची भाषा में मुझे किसने पुकारा ? परन्तु जब मैंने पीछे मुड़ कर देखा तो देखती ही रह गई। एक चालीस वर्ष की दीक्षिता साध्वी, और परम विदुषी होने पर भी मुझे इतनी ऊँची भाषा में पुकार रही हैं ? एक गृहस्थी को ? मैं उसी समय चरणों में पहुँची तो आपने फरमाया कि यह पुस्तक अमुक श्राविका जी को देनी है। क्या आप पहुँचा देंगी ? मैंने कहा, 'अवश्य' पहुँचाऊँगी। जिनकी वाणी में इतना विनय है, उनके मन में और काया में कम नहीं हो सकता। कहते हैं— 'वाणी' मन का दर्पण होता है।

आपने कभी छोटे बच्चे को भी तूँकारा नहीं दिया। जिस शहर या गाँव में आपका चातुर्मास होता है वहाँ पर अन्य किसी भी सम्प्रदाय की साध्वियाँ या सन्त हों उन सबसे संवत्सरी के अगले दिन अपनी शिष्या मण्डली के साथ क्षमा याचना करके आते हैं। वैसे सबसे मिलते रहना तथा धर्म-चर्चा करते रहना आपका सहज स्वभाव है।

सन् १९६२ का आपका चातुर्मास ठाणा सात से ब्यावर में हुआ। वहाँ पर और भी कई सम्प्र-

दायों के चातुर्मास थे। पूरा चातुर्मास सबसे मिलना-जुलना रहा। क्षमा पर्व के दिन आप सभी सन्तों एवं सतियों के ठिकाने शिष्याओं के साथ पधारे और सबसे क्षमा-याचना की। आपकी यह प्रवृत्ति देखकर तेरापन्थी सन्त इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने विहार के समय व्याख्यान में फरमाया कि स्थानकवासी परम्परा की साध्वी श्री कुसुमवती जी म. सा. में इतनी विद्वत्ता एवं इतनी बड़ी दीक्षा पर्याय होने पर भी जो सरलता, नम्रता एवं विनय हमने देखा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आप छोटे से छोटा कार्य भी करने के लिए तत्पर रहती हैं।

५. दयालुता एवं करुणा :

करुणा तो आप में कूट-कूट कर भरी पड़ी है। कोई भी निर्धन व्यक्ति आपके सन्मुख आ जाए, उसको देखकर एकदम द्रवित हो जाते हैं। किसी तरह से उसकी कमियों की पूर्ति करवाने का प्रयास करते हैं। दुःखी व्यक्ति के दुःख को बड़े प्रेम से सुनते हैं।

मेरी गुरुणीजी श्री चारित्रप्रभा जी म. सा. फरमाया करते हैं कि 'मुझे याद नहीं आता कि गुरुणीजी श्री कुसुमवती जी म. सा. ने हमको कभी डांट-फटकार दी हो या क्रोध में पुकारा हो। गुरुणीजी तो बस एक अमृत कुम्भ हैं। इस समय आपकी तीन शिष्यायें तथा सात पौत्र शिष्यायें हैं। सबके प्रति आपके दिल में पूर्ण दया एवं करुणा है।

६. स्वाध्याय प्रिय :

जम्मू चातुर्मास में मैं जब भी दर्शनार्थ जाती थी, आप स्वाध्याय में तल्लीन ही मिलते थे। मैं सामने बैठकर आपके मुखकमल को निहारती रहती थी। मुझे बहुत आनन्द आता था। आपको जब यह पता चलता था कि शान्ता (रुचिका) सामने बैठी है तो आप शास्त्र वाचन उच्च स्वर से करने लग जाते। शायद इसलिए कि शास्त्र के कुछ शब्द इसके कानों तक पहुँचकर उन्हें पवित्र बना दें।

आप रात्रि के ढाई, तीन बजे निद्रा देवी का त्याग कर देते हैं। प्रतिक्रमण का समय आवे तक तो आपकी चार-पाँच हजार गाथाओं की स्वाध्याय हो जाती है। फिर प्रतिलेखना आदि से निवृत्त होकर व्याख्यान और फिर वही स्वाध्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। आप भोजन भी बहुत अल्प करते हैं ताकि नींद न आवे। प्रमाद ने तो आपको खुशा तक नहीं है। दर्शनार्थं आवे हुए श्रावक-श्राविकाओं से भी शास्त्र सम्बन्धी श्रुति ही करते हैं। इधर-उधर की फालतू बातें नहीं करते हैं।

उपसंहार :

आपके गुणों का वर्णन करने में समर्थ कहाँ हैं ? वस मैं तो शासनदेव से यही प्रार्थना करती हूँ कि आप चिरायु एवं दीर्घायु हों और चिरकाल तक हम जैसे भूले-भटके प्राणियों को सद्बोध देकर सन्मार्ग दर्शन कराती रहें। मैं आपकी चरणसेवा में आपकी ही वस्तु को समर्पित कर रही हूँ। स्वीकार करें।

चरणों पर अर्पित है इसको
चाहो तो स्वीकार करो,
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है
ठुकरा दो या प्यार करो।

●

साधना में खिलता कुसुम

—साध्वी राजश्री

“स्वर्ण-जयन्ती अवसर पर,
भेजूँ क्या उपहार तुम्हें।
स्वीकार इसे ही कर लीजे,
शत शत हो प्रणाम तुम्हें ॥”

श्रमण संस्कृति के लोक-विश्रुत जैन शास्त्र श्री ‘स्थानांग सूत्र’ की वे पंक्तियों जिनमें चार प्रकार के पुष्पों का वर्णन आता है, सहसा ही मेरे मानस पटल पर आ रही हैं—

“चत्वारि पुष्पा पण्णत्ता, तं जहा—
रूप सम्पन्ने णामं एगे, णो गंध सम्पन्ने ।
गंध सम्पन्ने णामं एगे, णो रूप सम्पन्ने ।
एगे रूप सम्पन्ने वि, गंध सम्पन्ने वि ।
एगे नो गंध सम्पन्ने, नो रूप सम्पन्ने ।
एवम् एव चत्वारि पुरिसजाया ॥”

उक्त पंक्तियों में चार प्रकार के फूलों का वर्णन आता है—

“एक सुन्दर किन्तु गंधहीन,
एक गंधयुक्त किन्तु सौन्दर्यहीन,
एक सुन्दर भी एवं गंधयुक्त भी,
एक न सुन्दर, न गंधयुक्त ॥”

पुष्पों के समान मानव भी चार प्रकार के होते हैं, तृतीय श्रेणी के पुष्पों के समान जिन महामानवों के जीवन में कष्टना, दया, सत्य, प्रेम, अहिंसा, धैर्य, सहिष्णुता, विनय आदि गुणों की सुरभि हो, एवं शरीर से भी सुन्दर, सुडौल हों वे ही श्रेष्ठ मानव कहलाते हैं तथा समस्त मानव जाति के लिए आदर्श बनते हैं, उनके सद्गुणों की सुगन्ध से सारी मानव सृष्टि महक उठती है।

प्राची में सूर्य के उदित होने पर सारी जगती प्रकाशित हो जाती है। केतकी का फूल जब अपनी टहनी पर खिलता है, चारों ओर अपनी सुगन्ध बिखेर देता है। इसी प्रकार जब कोई असाधारण विभूति का अवतरण होता है तो वही परिवार नहीं समस्त विश्वोद्यान में महक फैल जाती है, प्रफुल्लित हो उठता है जगती-तल। ऐसी ही विरल विभूति हैं गुरुणीजी श्री कुसुमवतीजी म. सा., जिनका आनन सदैव कुसुमवत् खिला हुआ रहता है, एवं सद् ज्ञान, विनम्रता, शान्ति आदि गुणों से ओतप्रोत।

उनके गुणों की महिमा, प्रतिभा एवं गरिमा का किस प्रकार वर्णन करूँ, समझ नहीं पा रही हूँ, असौम को ससौम शब्दों की परिधि में कैसे व्यक्त करूँ, क्या लिखूँ ? यही सोचती हूँ—चाहती हूँ उन्हीं जैसा विकास मैं भी कर सकूँ।

‘मेरी लेखनी में बल कहाँ जो,
आपके गुण प्रस्तुत करूँ ।
अनन्त गुणों की धारक गुरुणी,
आप जैसा ही विकास करूँ ॥’

एक पल्लवित-सुरभित कुसुम !

—डॉ० प्रभाकुमारी ‘कुसुम’

—डॉ० मुशील जैन ‘शशि’

महापुरुषों एवं सन्नारियों का जीवन-चरित्र न तो कागजों में ही लिखा जा सकता है, और न उनके गुणों का अंकन साधारण लेखनी द्वारा ही किया जा सकता है। उनमें तप, त्याग और संयम की इतनी गहराई होती है कि साधारण मसि द्वारा तो वह वर्णित ही नहीं हो सकती है। उनके वैराग्य, ज्ञान, विनय, सेवा, विवेक एवं धर्म के प्रति आस्था की ऊँचाइयों को कृत्रिम पैमानों से तो किसी भी रूप में मापा नहीं जा सकता, अतः मैं तो यही विचार कर रह जाती हूँ कि—

‘सब धरती कागज बने,
लेखनी सब बन राय ।
सात समुद्र की मसि बने,
गुरु गुण लिखा न जाय ॥’

मैं तो दीक्षा-स्वर्ण जयन्ती के शुभ अवसर पर आपकी चरण सरोजों में श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए आपके दीर्घ जीवन की शुभ कामना करती हूँ। श्री गुरुणीजी ! आप चिरकाल तक हमें आशीर्वाद प्रदान करती रहें, एवं आपके द्वारा धर्मोद्योत होता रहे। इन्हीं शुभ कामनाओं के सहित।

卐—०—卐

जहा जुग्राई कट्ठाई हव्ववाहो पमत्थइ
एवं अत्तसमाहीए अणिहे ।
—आचारंग १/४/३

जिस प्रकार अग्नि सूखे पुराने काठ को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अप्रमत्त मुनि ध्यान समाधि में लीन होकर कर्म-दल को भस्म कर डालता है।

卐—●

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

स्थानांग सूत्र में ‘कुसुम’ चार प्रकार से प्रतिपादित हुए हैं। प्रथम दो प्रकार रंग एवं सुगन्ध में परस्पर भिन्नता लिये हुए हैं। तृतीय दोनों से शून्य एवं अन्तिम दोनों गुणों से युक्त है। कुसुम वही चित्ताकर्षक होता है, जो रंग एवं सुगन्ध एक साथ लिए होता है।

परम-विदुषी, महासती श्री कुसुमवतीजी महाराज के जीवन पर यदि हम एक अबलोकन दृष्टि डालते हैं तो हमें उनके संयमी जीवन कुसुम में आराधना का रंग और साधना की सुगन्ध दोनों ही अनुभूत होती है।

आपकी प्रथम-दर्शन का सुअवसर हमें लगभग १६ वर्ष पूर्व प्राप्त हुआ था। भावों की सरलता के साथ आपकी वाणी भी उतनी ही सरल है। आप अपनी प्रत्येक बात सरल एवं मधुर शब्दों में प्रस्तुत करते हैं, जिससे श्रोता स्वतः प्रभावित हो जाता है। भगवान महावीर के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रहादि सिद्धान्तों का यथाशक्य प्राणी मात्र में विकसित हो यही लक्ष्य बनाकर आप सदैव प्रयत्नशील हैं।

आप अपने संयमी, जीवन, साधना के ५२ वर्ष पूर्ण कर रहे हैं। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पावन प्रसंग पर हमारी हार्दिक अभिलाषा है—‘आपके संयम, साधना, कुसुम की सुवास दीर्घ समय तक जन-मानस में परिव्याप्त रहे। आपकी मृदुवाणी से समाज को नई दिशा, नई जागृति मिलती रहे। आप ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप रत्नत्रय की आराधना करते हुए जिनशासन की प्रभावना करें। आप दीर्घायु बनें, स्वस्थ रहें, यही आपके अभिनन्दन प्रसंग पर शुभकामनाएँ !

७

४३

वंदन—अभिनन्दन

—जैन साधवी मधुबाला 'सुमन' (शास्त्री, साहित्यरत्न, एम. ए.)

- प —परम देव का आराधन करने के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना करने के लिए आपने सुप्त मन को जगाया ।
- र —रमण हो अपने आप में, बाह्य पुद्गलों से परे हट कर स्व पुद्गलों में रमण करें ।
- म —महामोहनीय कर्म को दूर करने के लिए जो अनादि काल से इस आत्मा के साथ लगे हैं, उन सब कर्मों में मोहनीय कर्म जबरदस्त है । उसे दूर करने के लिए १० वर्ष की उम्र में आत्म चिंतन कर बंधु-बंधवों का मोह त्याग निर्मोही बने ।
- वि —वीतराग वाणी को घर-घर फैलाते हुए स्वयं भी आत्मसात् करते हुए स्वपर आत्मा को उज्ज्वल बना रहे हैं । आपका ज्ञान ठोस, हृदयस्पर्शी है । वीतराग वाणी का अध्ययन आपने उपाध्याय गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी म. सा. से किया है ।
- दु —दुष्कर, महादुष्कर, ब्रह्मचर्य रत्न का आराधन करना, जो भुक्त भोगी बन चुके हैं, वे भी ब्रह्मचर्य का पालन बड़ी कठिनाई से करते हैं । लेकिन धन्य है आपको, बाल अवस्था में जैन आर्हती दीक्षा अंगीकार कर असिधारा के समान ब्रह्मचर्य को पालन कर रहे हैं ।
- षो —सीखा है, आपने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का ज्ञान, आगमों का ज्ञान एवं अन्य संस्थाओं से परीक्षा देकर व्याकरण, मध्यमा, काव्यतीर्थ, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, जैन सिद्धान्ताचार्य किया ।
- सा —साध्य वस्तु को ही साधी जाती है । आत्मा का हित साधने के लिए से अध्यात्म क्षेत्र में मोड़ने के लिए महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. ५२ वर्षों से आत्मसाधना में जुटी हुई है ।
- ध्वी —ध्वस्त करने आठ कर्मों के वृन्दों का । घन वाती कर्म आत्मा के साथ ऐसे चिपक गये हैं, जैसे उनका आत्मा पर पूर्ण अधिकार हो । अतः जिनका जिस पर अधिकार नहीं उस पर जबरदस्ती कोई कब्जा करता है, तो मालिक उसे वहाँ से हटा देता है । ठीक ऐसे ही आत्मा पर कब्जा किए हुए कर्मों को आप स्वामित्व के हिसाब से हटा रही है ।
- र —रणकार हो रही है आप्त वाणी की, समदृष्टियो जाग जाओ । जाग गये तो लाभ में रहोगे । यह अवसर बार-बार नहीं मिलता, जो वस्तु जगत में दुर्लभ है, वह अमूल्य है । अमूल्य वस्तु पुनः नहीं मिल सकती ।
- त्न —तन को सजाने से क्या लाभ ? आत्मा को सजाने में ही मजा है । तन तो मिट्टी का पुतला है, ठपक लगते ही फूट जाता है, लेकिन आत्मा अमर रहती है । नाशवान वस्तु से प्रेम नहीं रखा जाता है । अनाशवान वस्तु से प्रेम रखना ही बुद्धिमानी है ।

- कु —कुअध्यवसाय को छोड़कर सुअध्यवसाय में रमण करना ही श्रेष्ठ है। कुअध्यवसाय चतुर्गति संसार में परिभ्रमण कराता है। जबकि सुअध्यवसाय चतुर्गति संसार से पार कराता है। अतः अच्छे विचारों में चित्त लगाना ही श्रेष्ठ है।
- सु —सुमन विकसित, पुष्पित, पल्लवित होकर दुनिया को सुगन्ध देता है। उनके दिलो दिमाग को ताजगी पहुँचाता है। ठीक ऐसे ही जिनशासन में सन्त-सती वृन्द सभी जीवों के प्रति जिन-वाणी रूप सुगंध को पहुँचाते हुए आत्मशान्ति की प्रेरणा देते हैं।
- म —ममता त्यागना बहुत ही मुश्किल है, जहाँ ममता मूर्च्छा निकल गई, वहाँ संसार मन से निकल गया, जहाँ संसार मन से निकल गया, वहाँ राग द्वेष नहीं रहता। राग-द्वेष से रहित व्यक्ति सरलता से संसार से पार हो जाता है।
- व ✓ —वन्दन करना नम्रता का लक्षण है। जहाँ नम्रता है वहाँ सभी गुणों का निवास हो जाता है। सभी गुण स्वतः आ जाते हैं, तो दुर्गण टिक नहीं सकते हैं।
- ती —तीन बातों को जो ध्यान में रखता है, वह कभी भी अशान्ति प्राप्त नहीं कर सकता वे ये हैं— कम खाना, गम खाना, नम जाना।
- जी —जीवन एक असूक्ष्म मणि है यदि यह हाथ से निकल गई तो पुनः पछताने के सिवाए कुछ हाथ नहीं लगेगा।
- म. —महान गुणों की धारिका, अध्यात्मयोगिनी बाल ब्रह्मचारिणी उपर्युक्त सभी गुणों से सुशोभित महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. जिनशासन को अधिकाधिक दिपावें, दीर्घायु हों इसी हार्दिक इच्छा के साथ वंदन-अभिनन्दन स्वीकार हो।

७७

सद्गुणों का आज अर्चन

आओ हम भी गूणगुनाएँ

आज कुछ कहता पवन है
सुरभि से महका चमन है
आज कुछ गाती दिशाएँ
आओ हम भी गुणगुनाएँ

विहग भी अदिराम स्वर से
गा रहे अपने अधर से
गरिमाप्रय कुछ-कुछ कथायें
आओ हम भी गुणगुनायें

स्वर्ण जयन्ती का है मेला, 'कुसुम अभिनन्दन' की वेला
शोश चरणों में झुकायें, आओ हम भी! गुणगुनायें

—साध्वी गरिमा एम० ए०

गगन भी बहका सा लगता
जगत भी चहका सा लगता
हम भी आओ मुस्करायें
आओ हम भी गुणगुनायें

सद्गुणों का आज अर्चन
झूमती हरदिल की धड़कन
दोष श्रद्धा के चढ़ायें
आओ हम भी गुणगुनायें

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

४५

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org

साक्षात्कार के स्वर्णिम क्षण

—साध्वी निरूपमा

परमाराध्या गुरुणी जी का जीवन इतना मधुर तथा इतना अधिक आकर्षणशील है जो जनमानस को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, आपके जीवन में आचार और विचार का, त्याग और वैराग्य का, संयम और समता का दर्शनीय संगम हुआ है।

आपकी प्रवचन शैली निराली है, आप जब भी ओज भरी वाणी में विषय के तलछट तक पहुँचकर विश्लेषण करते हैं तब श्रोताजन विस्मय, विमुग्ध हो जाते हैं। आपके प्रवचन जन जीवन के प्राणण में सत्य, सदाचारशील, संयम का कल्पवृक्ष उगाने का, उसको श्रद्धा से सींचने का सफल प्रयास है।

सन् १९८४ का वर्ष मेरे जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण वर्ष रहा है। यह वर्ष मेरे लिए प्रकर्ष हर्ष का वर्ष था इसी वर्ष में मेरे मन का पंछी संयम के अनन्त असीम गगन उड़ाने भरने हेतु उत्कण्ठित हो उठा और मैं १९८६ में पाली शहर में दीक्षिता हुई तब से ही आपके स्वर्णिम सान्निध्य में ज्ञान दर्शन और चारित्र्य की त्रिवेणी में अवगाहन करती रही और मेरा आप से नित्य, निरन्तर साक्षात्कार होता रहा। साक्षात्कार के सभी-क्षणों में मैं आपको अपनी अद्भुति के दर्पण में बहु-आयामी रूपों में रूपायित होती हुई देख रही हूँ।

आपकी सरलता कृत्रिम सरलता नहीं है वस्तुतः आप में सहज सरलता के परिदर्शन होते हैं, आपके जीवन में न सजावट है, न वनावट है, न दुराव है, न छिपाव है जो कुछ है वह नख-शिखान्त तक सरल ही सरल है। अन्तरंग सरल है, बहिरंग सरल है, सचमुच में आप स्वयं सरलता की पर्याय हैं। आपकी सरलता को, छिन्न-भिन्न रूप में देखना असम्भव है।

ऐसे सरलमना, व्यक्तित्व के धनी गुरुणीवर्या के पावन-पाद कमलों में हार्दिक वन्दना, एवं मंगल कामना है कि आप पूर्णरूप से स्वस्थ रहकर जित शासन प्रभावना में अभिवृद्धि करते रहें।

अविस्मरणीय साक्षात्कार

—साध्वी गरिमा, एम० ए०

मेरा जीवन एक यात्रा है और इस यात्रा में मैंने अनेक बसन्तों को पार किया, इस यात्रा का प्रारम्भिक बिन्दु—जन्म है। किन्तु मेरी आत्म-यात्रा, मेरी आत्म-कथा का कोई आदि-बिन्दु नहीं है, अतः वह अनादि है। जब से मैं इस जीवनयात्रा पर अग्रसर हुई, तब से मैंने बहुविध अनुभवों का परिस्पर्श अन्तर्जगत एवं बहिर्जगत में किया। उन अनुभवों में कतिपय अनुभव ऐसे स्वर्णिम-कोटि में आते हैं, जो जीवन-पर्यन्त स्मरणीय हैं, संस्मरणीय हैं और अक्षय सम्पदा के रूप में हैं।

सन् १९७८ में मेरा एक परम विरल-विभूति से चाक्षु-प्रत्यक्ष हुआ, जो शासन ज्योति साध्वी रत्न श्री कुसुमवती जी इस संज्ञा से जिनशासन की श्रमणी परम्परा में चिर विश्रुत हैं। मेरा यह प्रत्यक्ष परिचय का प्रथम-क्षण विलक्षण क्षण सिद्ध हुआ। जो क्षण सिद्धि के मंगल द्वार को उद्घाटित करने में निमित्तभूत बना।

फलस्वरूप सन् १९८० में मेरे जीवन का काया-कल्प हुआ। मैं पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा की ओर प्रस्थित हुई, संसार मार्ग से विमुख हुई और मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख हुई। यहीं से मेरी आत्मा की अभ्युदय-भूमिका प्रारम्भ हुई। तब से अब तक मैंने आपको पाया कि आप में एक नहीं, अनेक विलक्षण-विशेषताएँ हैं। उन अनुपम, दिव्य विशेषताओं को अर्थात् गुण-सिन्धु को शब्द-बिन्दु में समाहित करना असम्भव है। असम्भव को सम्भव करने की दिशा में मेरा यह उपक्रम अनन्त-असीम

आकाश में उदीयमान सहस्रकिरण दिवाकर को छूने जैसा है। फिर भी मैं श्रद्धा और भक्ति का अक्षय-संबल लेकर अपनी हादिक भावना को मूर्त रूप दे रही हूँ।

मैंने अनन्त श्रद्धा की आंख से नहीं, किन्तु प्रत्युग्र-प्रतिभा और पैनी-दृष्टि से आपके जीवन को निरखा है, परखा है, और मुझे स्पष्टतः परिबोध हुआ—वैद्यर्मणि की भांति परम-श्रद्धेया गुरुणी जी के जीवन का प्रत्येक पहलू प्रकाशमान है और जो भी उनके पावन सान्निध्य में पहुँचता है, वह भी उस अलौकिक आलोक से जगमगा उठता है, यह मेरा आत्मानुभव है, आत्मानुभव स्वयं में एक अकाट्य प्रमाण है।

श्रद्धास्पद गुरुणी जी की वाणी सिंहगर्जना के समान अदम्य उरसाह से आपूरित है, साथ ही वीणा के तार के समान मधुर झंकार से संयुक्त होकर जब भाषा के दिव्य-रूप में बाहर निकलती है तो श्रोता समूह का मन-मयूर झूम-झूम उठता है, वे एकाग्रमन होकर प्रशान्त और प्रफुलित चित्त से श्रवण करने में विशेष रूप से तन्मय हो जाते हैं। इसका सम्पूर्ण श्रेय मैं गुरुणी-मैय्या की मधु-मधुर युक्त वाणी-वीणा को उतना नहीं देती, जितना तदनुरूप ढले हुए अध्यात्म-साधनामय जीवन को, उनकी वैराग्यमयी त्यागवृत्ति को और उनकी परम सरल अति भव्य आत्मा को।

गुरुणीवर्या के जीवन में उच्चार, विचार एवं आचार की त्रिवेणी सदा एक रूप, एक रस होकर प्रवाहित होती रही है। यही प्रमुख कारण है कि गुरुवर्या के मुखारविन्द से निःसृत प्रति शब्द प्रति-भव्य आत्मा द्वारा समादरणीय और समाचरणीय होता है। यह एक अनुभूत तथ्य है, ध्रुव कथ्य है।

परमाराध्या गुरुणी मैय्या का जीवन एक अखण्ड-आदर्श जीवन है, जीवन में न बनावट है, न

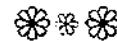
प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

सजावट है, न औपचारिकता है, किन्तु जो कुछ भी है वास्तविकता है। अपने आपको बनाना उन्हें नहीं आता। इसलिए उन्हें दिखावट पसन्द नहीं है। उनका जीवन वस्तुतः स्फटिक मणि की भांति पारदर्शी है। जिसमें दुराव और छिपाव की दुरभिसन्धि नहीं है। न दोहरा व्यक्तित्व है, न दोहरा कृतित्व है। वे तात्त्विक के साथ सात्त्विक भी हैं। उनकी तात्त्विकता और सात्त्विकता का मणिकांचन संयोग देखते ही बनता है जिससे आपके जीवन-स्वर्ण में अप्रतिहत निखार आया है।

गुरुणीवर्या का जीवन सरोवर नहीं, गंगा की कल-कल, छल-छल करती हुई प्रवाहमान निर्मल धारा है, जो अपने निर्धारित-संलक्ष्य की ओर प्रगतिशील है। वास्तव में आपका जीवन सद्गुणों का गुलदस्ता है। जिसकी मधुर-सौरभ से जनजीवन भी सुवासित है। आपके गुण-गरिमा को, मेरा एक कण्ठ नहीं, लक्ष-लक्ष कण्ठ भी गाने के लिये पर्याप्त नहीं है। आप उस अखण्ड-अनन्त प्रकाश-पुंज के समान हैं, जो अज्ञान की अमावस्या के प्रगाढ़-तिमिर को भी चुनौती देकर जन-जन के मन-नभ को अपनी शुभ्र ज्योति से प्रकाशमान कर देती है।

मैंने गुरुणीवर्या के जीवन वृत्त के विषय में जो वर्णन-विवरण किया, वह भावुकता या भक्ति अतिरेक के प्रवाह में प्रवाहित या आकण्ठ-निमग्न होकर आलेखित नहीं किया। किन्तु गहराई से उनके जीवन-वारिधि की अगाधता को निहारा है, सूक्ष्म दृष्ट्या देखा है। मुझे अन्तर्बोध हुआ—आपका जीवन महतोमहोयात् है। शिरमिशेशम्बरायमान उत्तुंग सुवर्ण सुमेरु पर्वत है।

अन्तर्मन की अतल गहराई से संयमसाधना की अर्ध-शती पर भावपूर्ण अभिनन्दन और विनम्र वन्दनार्चन।



आराध्यस्वरूपा गुरुणीजी

—साध्वी अनुपमा 'शकुन'

भारतवर्ष के विविध अंचलों में राजस्थान का भी अपना गौरवपूर्ण स्थान है। इस प्रान्त में मेवाड़ की अपनी महिमा और गरिमा है जिसे शब्दबद्ध कर पाना सचमुच में कठिन है। मेवाड़ का वीरता और शक्ति सम्पन्नता की दृष्टि से स्वर्णिम इतिहास है।

जिनशासन के निर्मल गगन में प्रकाशमान-तारिका साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी के जीवन में संयम पालन की वीरता और आत्मशक्ति की सम्पन्नता, मणि-कांचन सहयोग हुआ है।

आपका जन्म नाम 'नजर' है। नजर का अर्थ है—दृष्टि, आप अपने नाम के रूप-अनुरूप बाल्य-काल में ही अन्तर्-दृष्टि की दिव्यता को लिए हुए हैं। इसलिये आप लघुवय में अन्तर-जगत की प्रशस्त यात्रा पथ पर अग्रसर हुईं।

त्याग और वैराग्य की ज्योतिर्मयी प्रतिमा, संयम और समता की भव्यमूर्ति परमाराध्य श्रमणी रत्न श्री सोहनकुँवर जी की अन्तर्मुखी दृष्टि आप पर केन्द्रित हुई। फलस्वरूप आप उनकी प्रधान-शिष्या बनीं और उन्होंने आपका नाम महासती कुसुमवती रखा।

आपने गुरुवर्या द्वारा प्रदत्त नाम को न केवल नाम निक्षेप से सिद्ध किया अपितु संयम-साधना और ज्ञान-आराधना के पावन क्षेत्र में नित्य-निरन्तर विकास किया। जिससे आपने अपने नाम को भाव-निक्षेप की दृष्टि से भी चरितार्थ किया।

परमपूज्या साध्वी रत्न श्री गुरुणी जी ने नव-वर्ष की लघुवय में बहिर्जगत से हटकर अन्तर्जगत में प्रवेश किया। नव का अंक अखण्ड है अतः आपने दीक्षित जीवन से अखण्ड-रूपेण सर्वतोमुखी विकास यात्रा प्रारम्भ कर दी। विकास के स्वर्णिम सोपान पर आरोहण करते हुए एक ऐसे उच्च-स्थान पर प्रतिष्ठित हुईं जो आपके अप्रमत्त जीवन का,

विशिष्ट-प्रतिभा का एवं प्रबल पुरुषार्थ का ज्वलन्त जीवन्त प्रतीक हैं।

आप तीर्थस्वरूपा हैं, आपके जीवन प्रयाग पर ज्ञान की गंगा, दर्शन की यमुना, चारित्र्य की सरस्वती इन तीनों का अपूर्व संगम हुआ है। अतएव आप प्रयाग-तीर्थ की भांति आकर्षण का केन्द्र हैं। आप जन-मानस के पाप-पंक प्रक्षालन का पुण्यस्थल हैं।

तीर्थंकर प्रभु महावीर के चार संघ हैं उनमें श्रमणी संघ भी अपनी अलौकिक महत्ता को लिए हुए है। यह संघ एक वाटिका के समान है उसमें अनेक श्रमणी सुमन अपनी सौरभ से महक रहे हैं। परम-पूज्या जी का जीवन सुमन श्रमणी वाटिका में अपना अनुपम, अलौकिक, अदभुत, अप्रतिम, अपरिहार्य स्थान रखता है।

आपका नाम कुसुम है, जिसका अर्थ फूल है। यह केवड़े का नहीं किन्तु गुलाब का है। आपके जीवन उपवन में गुलाब के फूल की भांति ज्ञान की सौरभ महक रही है।

आपका प्रवचन और चिन्तन, अपार, अनन्त, महासागर की भांति गम्भीर है। अतः आपके प्रवचन एवं चिन्तन की गहराई में सुभाषितों के दिव्यरत्न, भव्य-आभा से प्रकाशमान है। जो भी आपके श्री चरणों में उपस्थित होता है वह दिव्यरत्नों को पाकर न केवल प्रभावित होता है, अपितु लाभान्वित एवं गौरवान्वित होता है।

अनन्त असीम आकाश-मण्डल में सूर्य और चन्द्र अपना अखण्ड, अस्तित्व बनाये हुए है। सूर्य तेजस्विता का प्रतीक है, तथा चन्द्र शीतलता का द्योतक है। इन दोनों में निज-निज गुण का एक दूसरे में सर्वथा अभाव है। पर आपके जीवन में शीतलता और तेजस्विता का युग-पत् सद्भाव है अतः आप सूर्य और चन्द्र इन दोनों से बढ़कर हैं। यही आपके जीवन की विलक्षण विशेषता है।

सत्यशाल की अमर-साधिका, परमाराध्या जेनागमों का अतीव गम्भीर एवं तल-स्पर्शी परिशीलन व अनुशीलन किया और उच्चस्तरीय परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं आप जैन-सिद्धान्ताचार्य जैसी विशिष्ट उपाधि से विभूषित हुई। यह उपाधि आपके लिए उपाधि रूप न होकर समाधि-रूप हैं।

आपने जहाँ एक ओर साहित्य के क्षेत्र में विकास किया, वहीं दूसरी ओर अध्यात्म के जगत में बहुमुखी प्रगति की। अतः आप 'अध्यात्मयोगिनी' पदवी से सम्मानित हुईं। पर सत्य है कि यह पदवी आप जैसी विरल विभूति से स्वयं गौरवान्वित हुईं।

आपने साहित्य और अध्यात्म की तरह प्रवचन कला में भी विशेष रूप से दक्षता प्राप्त की। आपकी प्रवचन-कला प्रारम्भ से ही चन्द्रकला की भाँति वर्द्धमान होती गई। अतः आप 'प्रवचन भूषण' के महनीय अलंकरण से अलंकृत हुईं।

आपका विशिष्ट जीवन विलक्षण विशेषताओं का एक ऐसा पावन संगम है कि दर्शक विस्मय-विमुग्ध हो उठता है कि एक साधिका में इतने गुणों का सहजरूपेण समावेश कैसे हो गया? पर जो भी आपके पावन सान्निध्य में आता है, कह उठता है कि यह श्रमणी जगत की दिव्यमणि है।

मेरा आपसे जिस क्षण साक्षात्कार हुआ वह क्षण मेरे लिए प्रेरणादायी बना और मैं बहिर्जगत से विमुख होकर अन्तर्जगत में प्रविष्ट होने हेतु तत्पर हो गई और मेरी यह उत्कण्ठा नित्य-निरन्तर वर्द्धमान होती गई और मेरी मनोभूमि पर बीजारोपण में आपकी तरह आराध्य-स्वरूप, साहित्य व साधना के ज्योतिस्तम्भ श्री राजेन्द्रमुनि जी म. एवं असीम आस्था की भव्य प्रतिमा, वैदुष्य और धामप्य की प्रशस्त-प्रतिमा, दिव्यप्रभाजी म० का भी मृत्यवान योगदान रहा जिससे मैं आपके श्री चरणों में दीक्षिता हुई तब से अब तक मेरी अनुभूति के दर्पण में आपके व्यक्तित्व के बहुआयामी आदर्श चित्र प्रतिबिम्बित हुए जिससे मैं स्वयं लाभाङ्कित

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

हुई। मेरी मंगलमनीषा है कि आपका आशीर्वाद मेरे लिए वरदान रूप सिद्ध होगा। आपश्री प्रतिपल, प्रतिक्षण, परम स्वस्थ रहें। और आपकी कीर्ति क्रौमुदी दिग् दिगन्त में जगमगाती रहे तथा मैं ज्ञान, दर्शन व चारित्र के उत्तुंग-शिखरपर आरोहण करती हुई, जिनशासन की प्रभावना को बढ़ाती रहूँ।

ॐ

यथानाम तथागुण

— जैन साध्वी इन्दुप्रभा "प्रभाकर"

परम विदुषी साध्वीरत्न महासती जी १००७ श्री कुसुमवती जी म० सा० की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में प्रकाशमान "कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ" में मेरी भी भावों की कुसुमावलि से गुम्फित उद्-गार माला समर्पित है।

आपका प्रेरणादायी पावन जीवन त्याग, तप की अद्वितीय निधि है। चन्दन की तरह आपने सर्वत्र अपनी सौरभ से गाँव-गाँव, नगर-नगर, डगर-डगर सुरमित किया है। आपका सान्निध्य पाकर समस्त मानव समाज धन्य होता रहा है। क्योंकि आपने अपनी गुण सम्पदा से मानव-जीवन को सुवासित किया है। आपका हृदय, करुणा, दया, औदार्यभाव से सदैव ओतप्रोत रहा है।

आपने सदा जनमानस को श्रेय के लिए प्रेरणा देकर मानव जीवन को सार्थक करने के लिए सन्नद्ध किया है।

कि बहुना ! संयमी जीवन के अर्द्धशताब्दी के शुभावसर पर महाप्रभु से हार्दिक शुभकामना करती हूँ कि आपश्री का निरोग जीवन जैन-जगत् तथा मानव समुदाय को श्रेय पथ प्रदान करता रहे। इन्हीं भावों की मुक्तावली के साथ।

ॐ

४६

जीवन तो सभी प्राणी जीते हैं पर जीने की कला सभी प्राणियों में नहीं होती। वे कूकर और शूकर की तरह जीवन जीकर अपना जीवन बर्बाद करते हैं। जीवन जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपने आपको खपाता हो। दुर्गुणों को जीतकर अपने जीवन को महान बनाता हो।

परम विदुषी साध्वी रत्न कुसुमवती जी म० का जीवन एक विशिष्ट जीवन है। जिनके जीवन में त्याग और वैराग्य की सुगन्ध है। स्वयं कष्ट सहन कर दूसरों को प्रेरणा प्रदान करती हैं। अपनी निर्मल वाणी से प्रसुप्त जीवन में अभिनव चेतना का संचार करती हैं। मैंने अनेकों बार आपके दर्शन किये हैं। सद्गुरुणी श्री पुष्पवती जी म० के साथ। मदनगंज-किशनगढ़ में साथ में वर्षा-वास करने का भी अवसर भी मिला। मैंने जब भी आपको देखा तब आपके चेहरे पर मधुर मुस्कान अठखेलियाँ करती हुई पाई। कभी भी उनके चेहरे पर क्रोध या तनाव व झुलझुलाहट की कुटिल रेखाएँ नहीं देखीं। हाँ, अपनी सुशिष्याओं के प्रति भी आप में वात्सल्य का निर्मल झरना प्रवाहित होते हुए देखा है। आपकी प्रवचन कला चित्ताकर्षक है। उसमें चिन्तन-मनन और अनुभवों का त्रिवेणी संगम है। वाणी में मधुरता होने के कारण वह सहज ग्राह्य है।

मैं अपनी अपार श्रद्धा महासती जी के श्री चरणों में समर्पित करते हुए यह मंगल कामना करती हूँ कि आपका यशस्वी जीवन संघ के लिए प्रेरणास्पद रहे।



शब्दों की एक सीमा है। वे अन्तर्हृदय के असीम को व्यक्त करने में कभी सक्षम नहीं होते। असीम भावों को ससीम शब्दावली कभी व्यक्त नहीं कर पाती। तथापि हृदयाकाश में उमड़ते-धुमड़ते भावों को व्यक्त करने का साधन केवल मात्र भाषा ही है। भाषा के रथ पर बैठकर ही भावों की यात्रा प्रारम्भ होती है। किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखना कठिन ही नहीं, कठिनतर है।

परम विदुषी साध्वीरत्न कुसुमवती जी एक विलक्षण प्रतिभा की धनी श्रमणी हैं। मेरे सद्गुरुणी जी पुष्पवती जी की वे ज्येष्ठ गुरु बहिन हैं। अतः बहुत ही निकटता से उन्हें देखने के अवसर जीवन में अनेकों बार आये हैं। और जब भी आये हैं तब उनके मधुर व्यवहार से मैं प्रभावित हुई हूँ। उन्होंने कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य-प्रदेश की यात्रा कर जन-जन को प्रेरणा प्रदान की, जहाँ भी गयीं वहाँ जन-मानस में आस्था संचार किया। आत्मकल्याण के साथ उन्होंने अनेक जनकल्याणकारी कार्य भी किये हैं।

मैं हृदय से महासती कुसुमवती जी के अभिनन्दन का स्वागत करती हूँ। जो अभिनन्दनीय होते हैं उनका सहज अभिनन्दन होता ही है।



जो वाणी से सुन्दर व मधुर बोलता है, कर्म से सदा शुभ आचरण करता है, वह व्यक्ति समय पर बरसने वाले मेघ की भाँति सबको प्रिय लगता है।

—ऋषिभाषित ३३/४



भावना के सुमन

— महासती रत्नज्योति

मैं अपने आपको सौभाग्यशालिनी मानती हूँ परम विदुषी साध्वी रत्न कुसुमवती जी की गुण गरिमा का वर्णन करने का सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ है। जल की नन्हीं सी बूँद में कोई चमत्कार नहीं होता, पर वही नन्हीं बूँद कमलिनी के पत्तों का संस्पर्श पा लेती है तो अनमोल मोती की तरह चमकने लगती है।

नाम के साथ जब गुण का संयोग होता है तब वह नाम यथार्थ होता है। महासती कुसुमवती जी कुसुम की तरह ही कोमल स्वभाव की धनी हैं। उनमें विद्वत्ता है किन्तु विद्वत्ता का अहंकार नहीं है। उनके गले में सहज माधुरी है। जब वे गाती हैं तब श्रोता झूमने लगते हैं। वे जब प्रवचन करती हैं तो उनके प्रवचन पीयूष का पान कर भव्य आत्माएँ त्याग-वैराग्य के पथ पर सहज रूप से बढ़ जाती हैं। आपकी प्रवचन शैली सरल है। कठिन से कठिन विषय को सरल रूप में प्रस्तुत करने में आप दक्ष हैं।

श्रद्धेय सद्गुरुणी जी श्री पुष्पवती जी म० की गुरुणी बहिन होने के कारण अनेकों बार महासती कुसुमवती जी के साथ रहने का अवसर मिला। मदनगंज में साथ-साथ वर्षावास का भी अवसर मिला। बहुत ही सन्निकटता से उनके जीवन को देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। उस आधार से मैं कह सकती हूँ कि उनमें सरलता, व्यवहार में निश्चलता आदि ऐसे सद्गुण हैं जिनके कारण उनका अभिनन्दन समारोह मनाया जा रहा है। मैं जिन शासन देव से यही मंगल कामना करती हूँ कि वे दीर्घायु बनें और जिनधर्म की प्रबल प्रभावना करें।

श्रद्धा-सुमन

—साध्वी श्री चन्द्रावतीजी म.

जिनके सद्गुण की महक रही फूलवारी, धन्य कुसुमवतीजी सती बाल-ब्रह्मचारी ॥.... मेवाड़-धरा में देलवाड़ा प्रियकारी, लिया जन्म आपने हर्षित जनता सारी, गणेशलाल जी पिता हुए सुखकारी.... कैलाशकुंवर जी मात आपकी प्यारी, ली दीक्षा साथ में मात-सुता हितकारी, गुरुणी जी सोहनकुंवर हुए तपधारी.... गुरुदेव आपके पुष्कर मुनिजी ज्ञानी उपाध्याय हैं और बड़े ही ध्यानी लघुवय में आपने व्रत लिया अतिभारी.... संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और गुजराती कई भाषा सीखी आगम में रगराती शिष्या और प्रशिष्या हैं गुणधारी.... युग-युग तक जीओ यही भावना मेरी रहे सौरभ फैलती यही कामना मेरी 'चन्द्रावती' करती अर्ज सुनो गुणधारी....

वन्दन अभिनन्दन

—महासती सिद्धकुंवरजी

सती 'कुसुम' का अभिनन्दन शत बार है, वन्दना करते सदा सृष्टिकार है।

उदयपुर की पुण्य धरा धन्य है

'कुसुम' महके जहाँ बड़े श्रेयकार है....

मात-पिता का नाम उज्ज्वल कर दिया, त्यागमय जीवन बना प्रियकार है।

बालवय में आपने संयम लिया,

ज्ञान की आई अजब बहार है....

ज्ञानी-ध्यानी ये बड़े विद्वान हैं,

जैन शासन के कुसुम श्रृंगार है....

युगों-युगों तक आपकी सौरभ रहे

सिद्ध अभिनन्दन करे शत बार है....

गुरुणी गुणगाथा

—साध्वी दर्शनप्रभा एम. ए., पी-एच. डी.

गुरुणी जी की महिमा का नहीं पार किसी ने पाया है
जो भी चरण-शरण में आया बेड़ा पार लगाया है....

कुसुमवती जी नाम है इनका सबको मंगलकारी है
उग्र विहारी उच्च विचारी समता के भण्डारी है
जिसने इनकी सेवा की है, उसका भाग्य सवाया है
जो भी चरण-शरण में आया बेड़ा पार लगाया है....

बालवृद्ध सब नर और नारी इनकी महिमा गाते हैं
एक बार जो दर्शन करते कभी भूल नहीं पाते हैं
इनका जीवन दुःखी जगत के लिए शान्ति की छाया है
जो भी चरण-शरण में आया बेड़ा पार लगाया है....

श्रमण धर्म पालन करने में सचमुच चन्दनबाला है
गुण वर्णन में करूँ कहाँ तक अमर गुणों की माला है
जीवन जिसका अतिशय पावन भक्तों के मन भाया है
जो भी चरण-शरण में आया बेड़ा पार लगाया है....

सत्य-अहिंसा दया-धर्म की इनमें ज्योति समाई है
त्याग-भाव वैराग्य भाव की इनकी बड़ी बड़ाई है
सारे जग में जैन-धर्म का डंका खूब बजाया है
जो भी चरण-शरण में आया बेड़ा पार लगाया है....

महावीर के वीर मार्ग पर चलने का संकल्प लिया
आत्मोन्नति के शुद्ध-भाव से साध्वी जीवन कल्प किया
अनेकाल सिद्धान्त न्याय का जीवन में अपनाया है
जो भी चरण-शरण में आया बेड़ा पार लगाया है....

सच्ची जिनवाणी माता की सेवा का व्रत धार लिया
झूठी जग की माया का जीवन से बोझ उतार दिया
आगम वाणी के प्रचार को अपना ध्येय बनाया है
जो भी चरण-शरण में आया बेड़ा पार लगाया है....

चरणों में आई 'दर्शना' इसका बेड़ा पार करो
दया करो गुरुणी जी मेरे जीवन का उद्धार करो
कृपा आपकी पाकर मैंने जीवन का फल पाया है
जो भी चरण-शरण में आया बेड़ा पार लगाया है....

दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती पर मैं श्रद्धा भेट चढ़ाऊँ क्या ?
सोच-सोच मन रह जाता है मैं सेवा में लाऊँ क्या ?
नमस्कार बन्दन लो मेरा यही समझ में आया है
जो भी चरण-शरण में आया बेड़ा पार लगाया है....

भूलोक के गौरव !

शत-शत नमन

—साध्वी गरिमा, एम. ए.

व्यक्तित्व,
चाहे कैसा भी हो,
मूल्यांकन की दृष्टि से,
मापना सहज नहीं
चाहे कितनी भी सजगता हो,
फिर भी,
त्रुटियाँ, कुछ रह ही जाती हैं,
सामान्यजन का मूल्यांकन भी कठिन,
तो, फिर,
ऐसे व्यक्तित्व के विषय में,
कहना या लिखना,
नीलगगन को,
दृष्टि से,
मापने के तुल्य,
विशाल पारावार को,
भुजाओं से,
तिर जाने सम सम्भव नहीं,
जो,
अनेक गुणों का आकर,
अनेक रंगों का सम्मिश्रण,
असंख्य पुष्पों की सुरभिराशि,
असंख्य दीपों का ज्योतिपुंज हो,
त्रय अपणाओं के संगम से,
प्रयाग, तीर्थ बन गया,
पर, जहाँ,
त्याग और वैराग्य,
तप और संयम,
विनय और विवेक,
समता और सहनता,
सौम्यता और सहिष्णुता,
साधना और भाराधना,
माधुर्यता और पवित्रता,

का संयम हो,
वह जीवन, या
वह स्थल,
मेरी दृष्टि में,
महातीर्थ है,
हे महातीर्थ !
भूलोक के गौरव,
स्वर्ण-जयन्ती पर,
शत-शत नमन,
युग-युग तक,
तेरी सुरभि से,
सुरभित रहे ये चमन,

□ □

जिनशासन की शान

—साध्वी श्री चन्दनबालाजी म.

जिनशासन की शान हैं, महासती गुणखान हैं
ज्ञान गरिमा भारी है, बड़े गुणधारी हैं....
कुसुमवतीजी ज्ञानी हैं, निर अभिमानी हैं
मधुर व्यवहारी हैं, बड़े गुणधारी हैं....
वाणी में मृदुता है, मन में साधुता है
काया कोमल वारी है, बड़े गुणधारी हैं....
अज्ञान तिमिर हटाते हैं, ज्ञान ज्योति जगते हैं
भव्य हितकारी हैं, बड़े गुणधारी हैं....
शिक्षा-नित्य देते हैं, जीवन नैया खेते हैं
सच्ची साधना तुम्हारी है, बड़े गुणधारी हैं....
बियासी की साल में, कोठारी परिवार में
जन्मे मुखकारी हैं, बड़े गुणधारी हैं....
श्याम-वर्ण लघुकाया, संयम का पद पाया
आत्मा ने तारी है, बड़े गुणधारी हैं....
शिक्षा-दीक्षा दाता थे, तपोधनी ज्ञाता थे
सोहन गुरुणी प्यारी हैं, बड़े गुणधारी हैं....
आपका अभिनन्दन है, 'चन्दना' का वन्दन है
शत-शत वारी है, बड़े गुणधारी हैं !....

सुवासित कुसुम

—साध्वी चन्दनप्रभा

सागर-सम गम्भीर आप हैं
नीर जैसा है निर्मल मन
सत्य ज्ञान समुज्ज्वलता से
ज्योतित होता है अन्तस्तल
चंचल मन की सुस्थिरता से
ध्यान-भाव में नित बहते
ज्ञान-राशि के रत्न महोज्ज्वल
आत्म-भाव में नित रहते
तत्व-बुद्धि को देख आपकी
मन हर्षित हो जाता है
प्रतिभाधारी संयमी ज्ञानी
यशोगान मन गाता है
वाणी-भाषा मधुर ओजस्वी
तेजस्वी मुख दर्पण है
छल-प्रपञ्च से दूर बहुत ही
सरल आपका जीवन है
अपनी अमृतमय वाणी से
सबका दुःख मिटाया है
भूले-भटके प्राणी जनों को
आपने मार्ग दिखाया है
जन्म ग्रहण करते पुरुषोत्तम
जग का दुःख मिटाने को
मौल्य निशाचर दूर भगाले
ज्ञान-ज्योति प्रगटाने को
सौरभ फैली जग में आपकी
जैसे महके चन्दन है
दीक्षा स्वर्ण जयन्ती पर तो
वन्दन शत, अभिनन्दन है !

मंजुल स्नेह देवि—

वन्दन—अभिनन्दन

—साध्वी दिव्यप्रभा, एम० ए, पी-एच० डी०

आ आराधना के आराध्य
ध ध्यान की निष्कम्प ज्योति
या याज्या ज्यों निर्मल
त त्याग की साकार प्रतिमा
म मही सम सहिष्णुता
यो योगिनी है तन व मन से
गि गिरि सम अडोल
नी नीलगगन ज्यों विशाल
का काया तक का है नहीं मोह
श शतपत्र की भाँति निर्लेप
मी मीत तुम सबके बने
र रहा न तुमसे कोई प्यारा
प्र प्रदीप्त कर जीवन बनाया
चा चाह और नयनाभिराम
रि रिद्धि तुम्हारे कदम चूमे
का कामना इर्द-गिर्द घूमे
म महिमा मण्डित तुम—अर्चें कैसे
हा हाला पी हम ज्यों हैं बेभान
स सहज श्रद्धा भक्ति के वश है
ती तीव्र तमन्ना गाए गान
कु 'कुसुम' अपनी सुरभि से
सु सुरभित करती हर डग को
म मंजुल स्नेह देवी !
व वन्दन अभिनन्दन शत बार
तो तीनों लोकों में हो जयकार
जी जीयो तुम तो वर्ष हजार

कुसुम-चालीसा

—साध्वी श्री चारित्रप्रभा जी

साध्य सिद्धि वरदायिनी करुणाकृति अत्यन्त ।
 श्री कुसुम महासती जी जय जय हो जयवन्त ॥
 नाम सदा जिनका सुखकारी ।
 गुण गण मण्डित महिमा भारी ॥ १ ॥
 जो भी चरण शरण में आया ।
 उसने ही जीवन फल पाया ॥ २ ॥
 सम्बत् शुभ उन्नीसौ व्यासी ।
 षष्ठी कृष्णा आश्विन मासी ॥ ३ ॥
 जन्म स्थान उदयपुर प्यारा ।
 मात-पिता को अति सुख कारा ॥ ४ ॥
 श्री गणेश लाल कोठारी ।
 'दिलवाडा' के श्रावक भारी ॥ ५ ॥
 धर्म पत्नी श्री सोहन बाई ।
 ओस वंश सबको सुखदाई ॥ ६ ॥
 मंगल जन्म हुआ पुत्री का ।
 पुर परिजन सब ही को नीका ॥ ७ ॥
 घर घर मंगल बटी बधाई ।
 मानो लक्ष्मी तनु धर आई ॥ ८ ॥
 देव देवि सम नर और नारी ।
 मुदित नजर हर्षित अति भारी ॥ ९ ॥
 धर्मवृद्ध श्रावक जन आये ।
 सबने आशीर्वचन सुनाये ॥ १० ॥
 शुभ संतति मिलती सदा पूर्व पुण्य अनुसार ।
 'नजर कुंवर' के नाम से किया नाम संस्कार ॥
 वृद्धि पाय सब विधि सुकुमारी ।
 कल्प वेलि सम प्रिय मन हारी ॥ ११ ॥
 सुखमय अपना समय बिताये ।
 विधि को ये सुख नहीं सुहाये ॥ १२ ॥
 वर्ष चार कछु बीत न पाये ।
 पिताश्री स्वर्ग लोक सिधाये ॥ १३ ॥

पत्नी के हिय हुआ अंधियारा ।
 बिछुड़ गया गृहि धर्म सहारा ॥ १४ ॥
 दुख पहाड असमय में टूटा ।
 क्षण में जीवन साथी छूटा ॥ १५ ॥
 ज्यों त्यों अपना मन समझाया ।
 समझ अनित्य जगत की माया ॥ १६ ॥
 मां के भाव पुत्री मन भाये ।
 जग असार छोड़न उमगाये ॥ १७ ॥
 माता दर्शन ज्ञान समाना ।
 हुई चारित्र सुता गुण खाना ॥ १८ ॥
 कर्म रोग बन तब ही आये ।
 नजर कुंवर पर नजर लगाये ॥ १९ ॥
 किये उपचार अनेक प्रकारा ।
 मिटा न रोग दुखी परिवारा ॥ २० ॥

माता ने प्रण ले लिया यदि पुत्री होय निरोग ।
 इसे संग लेकर समुद्र धारू संयम योग ॥

सुख का वेदनीय जब आया ।
 हुई निरोग सुता की काया ॥ २१ ॥
 मां पुत्री ने हर्ष मनाये ।
 मानो भाग्य उदय हो आये ॥ २२ ॥
 आत्म हित अवसर जब आवे ।
 तब ही समकित रत्न सुहावे ॥ २३ ॥
 चरण शरण आये गुरुणी के ।
 प्रगट दिचार किये सब जी के ॥ २४ ॥
 सोहन कुंवर महासती भारी ।
 दोनों की मति पै बलिहारी ॥ २५ ॥
 'जहा सुहं' गुरु मंत्र सुनाया ।
 मानो रंक राज पद पाया ॥ २६ ॥
 हुई दीक्षा की सब तैय्यारी ।
 मण्डित हुई पुत्री महतारी ॥ २७ ॥
 'दिलवाडा' के गली गलियारे ।
 हुए वैराग्य निछावर सारे ॥ २८ ॥

पुत्री मां के बीच समाई ।
मां पुत्री पर बलि बलि जाई ॥ २६ ॥

नर नारी सब मंगल गावें ।
धन्य धन्य जयकार लगावें ॥ २७ ॥

सम्बत् उन्नीसी त्रानवें फाल्गुण शुक्ल सुमास ।
दशमी तिथि सौभागिनी, पूर्ण हुई सब आस ॥

विधि निषेध आगम अनुसारी ।
मां पुत्री ने दीक्षा धारी ॥ २१ ॥

प्रथम सती हुई सोहन बाई ।
पदम कुँवर सती गुरुणी पाई ॥ २२ ॥

नाम कैलास कुँवर अति प्यारा ।
जग विश्रुत है मंगल कारा ॥ २३ ॥

नजर कँवर कुसुमवती सोहे ।
साध्वी रत्न सकल मन मोहे ॥ २४ ॥

सोहन कुँवर गुरुणी जिन पाई ।
गुण अनुसार मिली प्रभुताई ॥ २५ ॥

मैं अजान नहीं बुद्धि घनेरी ।
जिनकी प्रथम कहाई चेरी ॥ २६ ॥

द्वितीया शिष्या दिव्यप्रभा जी ।
तृतीया शिष्या श्री गरिमा जी ॥ २७ ॥

नर जीवन जग दुर्लभ जाना ।
अति दुर्लभ सद गुरुणी पाना ॥ २८ ॥

जिनके भाग बड़े जग मांदि ।
कुसुमवती सी गुरुणी पांदि ॥ २९ ॥

गुरुणी जी की सेवा पाके ।
जगे भाग चारित्रप्रभा के ॥ ४० ॥

सकल सिद्धि दातार है, गुरुणी जी का नाम ।
श्रद्धा से जो जपेंगे सिद्ध सभी हों काम ॥

□ □

कुसुमाष्टकम्

—साध्वी श्री चारित्र प्रभाजी

(१)

जगन्मान्या धन्या प्रशमनपरा पूर्ण सुयशा,
महासाध्वीरत्ना विजितमनसा सयमधरा ।
परंमूर्तिः स्फूर्तेः सकल जन शान्ते हितरता,
सुयोगैः संयुक्ता कुसुमवति साध्वी विजयताम् ॥

संसार में मान्य, धन्य, प्रशम भाव से युक्त
सुन्दर कीर्ति से सम्पन्न महान साध्वियों में रत्न,
मनोविजय के साथ, संयम धारण करने वाली,
स्फूर्ति की साक्षात् मूर्ति, सभी लोगों की सुख शान्ति
में तत्पर तथा सदगुणों के सुयोगों से युक्त साध्वी
कुसुमवतीजी की जय हो ।

(२)

गणेशाख्यस्तातः जिनमतरता निर्मलमतिः,
सुयोग्यात्मा माता गृहिगुण युता सोहनवतीः ।
जनुभूमिर्यस्योदयपुर पुरी सर्व विदिता,
सुयोगैः संयुक्ता कुसुमवति साध्वी विजयताम् ॥

गणेश नाम के जिनके पिता हैं जो जैन मत में
तत्पर हैं, स्वच्छ बुद्धि हैं, गृहस्थ के गुणों से युक्त
सोहनवती जिनकी माता है, सुविख्यात उदयपुर
जिनकी जन्म भूमि है, सदगुणों से युक्त ऐसी साध्वी
जी कुसुमवतीजी की जय हो ।

(३)

तपश्चर्यायुक्ता निखिलमलमुक्ता शुभयुता ।
महदिव्यैः ज्ञानैः प्रमुदित सुभव्याखिलजना ॥
जनान्मार्गध्वस्तानुपदिशति नित्यं हितकरा ।
सुयोगैः संयुक्ता कुसुमवति साध्वी विजयताम् ॥

तपस्या में तत्पर, समस्त मलिनताओं से मुक्त,
शुभ कार्यों में संयुक्त, अत्यधिक दिव्यज्ञान के प्रभाव

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

से समस्त भव्य प्राणियों को प्रमुदित करने वाली, सन्मार्ग से च्युत प्राणियों को उपदेश देने वाली, नित्य कल्याणकारिणी, सद्गुणों के सुन्दर योगों से अर्थात् लक्ष्यों से युक्त साध्वी कुसुमवतीजी की जय हो ।

(४)

प्रबुद्धा संशुद्धा कुगतिश्च रुद्धा सुगतिदा ।
शरण्या भक्तानां विनय सहितानां प्रतिदिनम् ॥
प्रसादादस्यायं विकसति सदा धर्मवितपः ।
सुयोगैः संयुक्ता कुसुमवति साध्वी विजयताम् ॥

प्रबुद्ध, शुद्ध, कुगतियों को रोकने वाली, सुन्दर गति देने वाली, विनययुक्त भक्तों को प्रतिदिन शरण प्रदान करने वाली या रक्षक और जिनके प्रसाद अर्थात् कृपा से सदैव धर्म वृक्ष विकसित होता रहता है, सद्गुणों के सुयोगों से युक्त ऐसी साध्वी कुसुमवतीजी की जय हो ।

(५)

गुणज्ञा तत्वज्ञा व्रत-नियम-पूर्णातिविमला ।
अनेकान्तात् मार्गाननुसरति नित्यं शुचिधिया ॥
समयातान् जीवान् प्रति दिशति निश्चयेस पदम् ।
सुयोगैः संयुक्ता कुसुमवति साध्वी विजयताम् ॥

गुणज्ञ, तत्वज्ञ, व्रत एवं नियमों से परिपूर्ण, अत्यन्त पवित्र अनेकान्त धर्म का अनुसरण करने वाली, पवित्र बुद्धि वाली, शरण में आये जीवों को कल्याण पथ प्रदान करने वाली, सद्गुणों के सुयोगों से युक्त ऐसी साध्वी कुसुमवतीजी की जय हो ।

(६)

सुधा सिक्ता वाणी हरति जनतापं च सकलम् ।
समर्चया संपूज्या जगति जनसंघः सुविधिना ॥
समुच्चैः श्रामण्यं सुवहति सुरेशोपि नमिता ।
सुयोगैः संयुक्ता कुसुमवति साध्वी विजयताम् ॥

जिनकी वाणी अमृत से सिंचित है, जो लोगों के सम्पूर्ण तापों या दुःखों को नष्ट करने वाली है और जो संसार में लोगों के द्वारा अच्छी प्रकार से

अर्चनीय व पूजनीय है । उत्कृष्ट श्रमण भाव को धारण करती है, और सुरेश भी जिनकी वन्दना करते हैं । सद्गुणों के सुन्दर लक्षणों से युक्त ऐसी साध्वी कुसुमवतीजी की जय हो ।

(७)

यशःपुञ्जो यस्या प्रसरति मही मण्डल तले ।
जगद्रम्या यस्या विमल शिवदा भाषण कला ॥
सदासर्वाधाराः विशदमतिना संयमपरा ।
सुयोगैः संयुक्ता कुसुमवति साध्वी विजयताम् ॥

जिनका कीर्ति पुञ्ज समस्त पृथ्वी मण्डल पर छा रहा है और जिनकी सुन्दर कल्याणकारी भाषण-कला अत्यन्त रमणीय है, जो सदैव सभी की आधार प्रेरणा स्रोत है, स्वच्छ बुद्धि के साथ संयम में तत्पर है । सद्गुणों के सुन्दर लक्षणों से युक्त ऐसी साध्वी कुसुमवतीजी की जय हो ।

(८)

यदीयां सत्कीर्ति कथयति सदा जैनजनता,
विचारा चाराभ्यामनुचरति सिद्धान्त समताम् ।
अहिंसा सन्देशान् प्रति दिशति लोकान् रुचिकरान्,
सुयोगैः संयुक्ता कुसुमवति साध्वी विजयताम् ॥

जिनकी सत्कीर्ति का वर्णन जैन जनता सदैव करती रहती है और जो विचार एवं आचार से सिद्धान्तों का अनुसरण करती है तथा जो लोगों को सुन्दर लगने वाले अहिंसा के सन्देशों का उपदेश करती रहती है । सद्गुणों के सुन्दर लक्षणों से युक्त ऐसी साध्वी कुसुमवतीजी की जय हो ।

चारित्रान्ते प्रभाख्याहं करोमि कुसुमाष्टकम् ।
यः पठेत् श्रुणुयात् नित्यं प्राप्नोति स परां गतिम् ॥

सुझ चारित्रप्रभा ने इस कुसुमाष्टक की रचना की है जो नित्य पढ़ेगा व सुनेगा वह परमगति को प्राप्त करेगा ।

✻

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

१७

□ साध्वी निरूपमा

गुरुणी सा गुणों की खान, करे गुणगान
है सूरत प्यारी, लगती है मोहनगारी

स्वर कोकिल के सम प्यारा है,
भव्यों को तिराने वारा है
नहीं भरता है दिल ऐसी वाणी प्यारी.....

व्याख्यान में जादू भरा हुआ,
जिसने भी सुना आनन्द हुआ
लगता है सुनते रहें जिन्दगी सारी.....

है नाम 'कुसुम' आनन्द दाता,
संघ सारा ही तो गुण गाता
महिमा तो फैली आपकी जगत मंजारी.....

गुण इतने हैं नहीं गा सकते,
नहीं शब्द है हम पे कह सकते
देना ऐसा आशीष हो भव से पारी.....



□ साध्वी सुप्रभा

इस विश्व पटल पर कई चित्र उभरते रहते हैं
पर उनमें से कुछ तो मिट जाते हैं और कुछ चित्र
जो उभरते हैं और उभरे हुए ही रहते हैं।

ऐसा ही एक भव्य चित्र है—परम विदुषी
साध्वी श्री कुसुमवती जी का, १० वर्ष की लघुवय
में आपने संयम पथ पर कदम बढ़ाये तभी से आज
तक स्व-पर कल्याण में आपने अपने जीवन को
लगाया है।

आपका पावन पुनीत जीवन नारी मात्र के
लिए एक आदर्श है। मैं इस अभिनन्दन की वेला
पर आपके चरणारविन्दों में वन्दन करती हुई यही
मंगलकामना करती हूँ कि आप दीर्घायु हों व हमें
सदा मार्ग दर्शन प्रदान करती रहें।



□ विदुषी साध्वी श्री सिद्धकुँवर जी

मुझे यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि परम
विदुषी साध्वी श्री कुसुमवती जी ए० का अभि-
नन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। पूजनीया महा-
सती जी हमारी स्थानकवासी जैन परम्परा की
एक विदुषी साध्वीरत्न हैं। आपका गरिमामय
जीवन महिमा मंडित है, आपके पावन जीवन
दर्शन से समाज को दिशा निर्देशन मिलता रहे
इन्हीं शुभकामनाओं के साथ अन्तर्हृदय से मंगल
कामना करती हूँ।



□ साध्वी सुप्रभा

कुसुमवतीजी पुण्यवान, बड़ी गुणवान
महिमा अपारी, सब गुण गावें नर नारी....

जन्म उदयपुर में पायो
मा-पितु का नाम चमकाया
लघुवय में दीक्षा-व्रत को तुमने धारी....

महासती सोहन गुरुणी पाई
शिष्या प्रथम तो कहलाई
ज्ञान-ध्यान तो किया खूब ही भारी....

वाणी मीठी प्यारी लगती
सबके दिल को यह हर लेती
जनता तो सुन-सुन खुश होती है सारी....

ये सागर सम गम्भीरा हैं
व्रत पालन में ये वीरा हैं
व्रत-तप-संयम-गुण के तो हैं भण्डारी....

'सुप्रभा' आपके गुण गाती
चरणों में शीष को झुकाती
अभिनन्दन शत-शत करते हैं हर वारी....



कुसुमश्रीजी म. का, कुसुम-सा महकता जीवन

—परम विदुषी साधवीरत्न
श्री विजेन्द्रकुमारी जी

तारोफ में जिनकी, शब्द ही खो जायें !
कैसे करें तारीफ उनकी, जरा आप ही बतायें ?
हमारी गौरवशालिनी मातृभूमि सन्तों की तपो-
मय भूमि रही है। सन्त ही भारतीय संस्कृति के
प्राण हैं। श्रमण-श्रमणियों की साधना से ही यह
संस्कृति अंकुरित-पल्लवित-पुष्पित हुई है।

गुलाब का फूल जिस वन उपवन में जहाँ भी
विकसित होता है, वहाँ के वातावरण को सुरम्य
सुहावना और सुवासित बना देता है। जन मन के
मानस को तरोताजा बना देता है। उसे इस बात
का जरा भी विचार नहीं आता कि कोई मुझे देख
रहा है या नहीं। कोई मेरा गुणगान भी कर रहा
या नहीं। मैं किसी बहुत बड़े बगीचे में खिला हूँ।
या एकान्त में।

जीवन का गुलाब सदा कष्टों के कांटों में ही
विकसित होता है। कांटों का मधुर मुस्कान से
सुवासित करने वाला जीवन ही महान् जीवन है
महान् साधक व साधिकाएँ कभी कांटों से घबराते
नहीं प्रत्युत कांटों को भी फूल बनाने की, उनकी
चुमन को सुवास में परिणत करने का प्रयत्न करते
हैं। उनका एक ही काम रहता है, विकसित होना
और अपने सद्गुणों की सौरभ को विस्तृत कर
देना।

परम पूज्या श्रद्धेया महासती श्री कुसुमवतीजी
म० का जीवन भी एक महकते हुए गुलाब की तरह
है।

महासती जी म० के जीवन के कण-कण में और
मन के अणु-अणु में साधना और तप का स्रोत बह
रहा है। जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध, दूध में धव-
लता, चन्द्र में शीतलता समाई हुई है। उसी प्रकार
आपके रोम-रोम में साधना अभिव्यक्त है।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

जिस मार्ग पर आपश्री जी को जन्मदात्री
जननी चली, उसी पथ का अनुसरण आपने भी
किया निर्भय होकर, यही तो शूरवीर वीरांगनाएँ
होती हैं जो कष्टों की भी परवाह किए बिना दुर्गम
पथ पर अग्रसर हो जाती हैं। हमारी चरितना-
यिकाजी (श्री कुसुमवती) म० भी संयम के पथ पर
अग्रसर होकर निर्भय रूप से चलीं।

मैं आपकी ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप त्रिवेणी
साधना का अभिनन्दन करती हुई, शासनेश
प्रभु से प्रार्थना करती हूँ कि आप दीर्घायु हों।
मेरा मुखरित मन पल-पल स्वयं ही गुंजन कर
उठता है।

तुम हमारे हो सदा ही, हम तुम्हारे हैं।
भावनाओं के सुमन, सब आज वारे हैं ॥
कह रहा है यह नित्य, धरती का कण-कण।
तुम जिओ इतने साल, कि जितने सितारे हैं ॥
७७

‘संयम पथ की अमर साधिका’

(साधवीरत्न श्री विजेन्द्र कुमारी जी म०
की शिष्या) साधवी ‘निधि ज्योति जी’

जग में जीवन श्रेष्ठ वही,

जो फूलों सा मुस्कराता है।

अपने गुण सौरभ से जग में,

कण-कण को महकाता है ॥

भारतीय संस्कृति में—श्रमण संस्कृति में उसके
महान सत्पुरुषों व आत्मसाधकों का गौरवपूर्ण
स्थान है। यहाँ पर आज से नहीं बल्कि अनादिकाल
से तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और अनेक
त्यागी, तपस्वी महान आत्माओं ने अवतार लेकर
इस धरा को पवित्र किया, और कर रहे हैं, तथा
करते रहेंगे। उनकी सुकीर्ति-सुयश, तप, त्याग
वृत्ति की ऊँचाइयाँ तथा अध्यात्मवाद का दिव्य
प्रकाश रवि रश्मि सम यत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप्त है।

५६

और विश्व का कण-कण उनका सदैव ऋणी है, एवं ऋणी रहेगा ।

ऐसी ही कोटि में महान साधिका दिव्य त्याग-मूर्ति, सरलात्मा, ज्ञाननिधि, करुणावत्सल, तपोधनी, महान साधिका श्री कुसुमवती जी महाराज हैं । आपश्री जी संयम में मेह के समान अडिग, अचल, स्थिर हैं, जिस प्रकार आँधी, तूफान आदि आने पर भी वह चलायमान नहीं होता है, वह स्थिर होता है, उसी प्रकार आप भी अनेक परीषद् उपसर्ग आने पर संयम-साधना में निष्कम्प तथा अविचल हैं । संयम तो आपके रोम-रोम में समाया हुआ है ।

बाल्यावस्था में मुझे दिल्ली चाँदनी चौक में अनेक बार आपके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । किन्तु आज भी मेरे स्मृति-पटल पर अंकित है कि आपका प्रतिभासम्पन्न एवं तप से आलोकित चमचमाता हुआ, वह दिव्य आनन बड़ा ही शान्तप्रिय है । और आपके मुखमण्डल पर भीनी-भीनी मुस्कराहट छाई रहती है । आप बड़े ही शान्त वीर-धीर-गम्भीर तथा प्रकृति से ही, बच्चों से लेकर बुड्ढे-बुजुर्गों के साथ एक ही जैसा प्रेमपूर्वक वार्तालाप किया करते हैं ।

जैसे कमल सूर्य की ओर ही मुँह किये रहता है, इसी तरह आपश्री सदैव अपने इष्टदेव प्रभु की स्वाध्याय में लीन रहते हैं ।

आप महान आत्मा के किन-किन गुणों को उद्भाषित करूँ, आपके जीवन के गुणों की माला तो इस प्रकार गुँथी हुई है, जिसका कोई ओर-छोर ही नहीं है, जिधर से भी देखो, जिधर से पकड़ो सर्वत्र गुण ही गुण दृष्टिगोचर होते हैं ।

शत-शत अभिनन्दन

आपश्री जी संयम-यात्रा के ५२वें वर्ष में मंगल प्रवेश कर चुके हैं । आपकी बहुमुखी साधना से मैं श्रद्धान्वित हूँ, व आपके गौरवमय, प्रेरणाप्रद निर्मल साधनामयी जीवन का हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ,

६०

शासनेश प्रभु से आपके स्वास्थ्य तथा दीर्घायु की मंगल-कामना करती हुई दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पुनीत अवसर पर शत-शत अभिनन्दन और भाव भरा अभिनन्दन ॥

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती की पुण्य बेला पर,
यही कामना करती हूँ ।
तुम जिओ हजारों साल,
यही भावना भाती हूँ ॥

❀

❑ जैन साध्वी जयश्री

जिसका हृदय कुसुम से भी कोमल है, जिसका जीवन चन्द्र से भी शीतल है, जिसका चरित्र क्षीर से भी उज्ज्वल है, ऐसे परम ज्ञान क्रिया के धारक जैन जगत की उज्ज्वल तारिका महासती श्रीकुसुमवतीजी म० हमारे स्थानकवासी जैन समाज के एक ज्योतिर्मय नक्षत्र हैं । आपका जीवन सागर से भी अधिक गहन है, पृथ्वी से भी अधिक धैर्यवान है । सुमेरु पर्वत के समान अडोल है, अकम्प है, आकाश से भी अधिक विशाल है ।

जिसने एक क्षण के लिए भी संयम स्वीकार कर लिया हो तो भी वह धन्य बन जाता है तो जिसने संयमसाधना के ५० से भी अधिक वर्ष सम्पन्न कर लिए हों उन्हें जितना भी धन्यवाद अर्पण किया जाए उतना ही कम है । आपने अपनी मातेश्वरी श्री कैलाशकुंवर जी के संग संयम स्वीकार कर जिनशासन की जो प्रभावना की है वह हम सभी साधिकाओं के लिए प्रेरणास्पद है ।

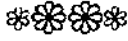
❀

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

शुभ कामना : अभिनन्दन

□ डॉ. बहामित्र अवस्थी
(महा महोपाध्याय एस्. के. योग इन्स्टीट्यूट, दिल्ली)

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आप महासती कुसुमवती जी के अभिनन्दन की व्यवस्था कर रही हैं एवं एक अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित कर रही हैं। वस्तुतः यह अभिनन्दन महासती जी के भौतिक स्वरूप का न होकर उनकी साधना का, उनकी तपश्चर्या का अभिनन्दन है। वस्तुतः आज जब समाज में भौतिकता के मूल्यों की प्रतिष्ठा बढ़ती जा रही है, उस समय साधना और तपश्चर्या का यह अभिनन्दन मूल्य का अभिनन्दन है, आध्यात्मिकता का अभिनन्दन है। इस प्रकार से यह कार्य समाज में आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना का प्रयास है, भौतिकता से नैतिकता की ओर साधना और तपश्चर्या की ओर बढ़ना और समाज को बढ़ाने का स्तुत्य प्रयास है और मैं इस प्रयास का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ एवं इस पावन प्रयास की सफलता के लिए अपनी मंगल कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।



□ डॉ० विनोद कुमार त्रिवेदी
(एम. ए. पो-एच. डी.
समस्तीपुर, बिहार)

जैन धर्म की महनीय विभूति परम साध्वी रत्न कुसुमवती जी का आदर्श जीवन धार्मिक एवं नैतिक अवदान की उज्ज्वल परम्परा का अनुगमन करते हुए दिव्यता की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ एक आध्यात्मिक और आदर्श जीवन है। उनसे सम्बन्धित अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन निश्चय ही एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य है।

इस ग्रंथ की सफलता हेतु मेरी हार्दिक शुभ-कामना स्वीकार की जाए।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

□ प० जनादेनराय नागर
(उपकुलपति)

राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

जैन शासन की महिमा और गरिमा साध्वीरत्न कुसुमवतीजी को उनके संयम साधना के ५४वें वर्ष में प्रवेश करने पर अभिनन्दन ग्रंथ अर्पित करने की प्रेरणापत्र योजना है।

सच तो यह है मैं जैन शासन तथा दर्शन का साधक नहीं हूँ और न ही रहा। मैं तो जिज्ञासु व्यक्ति हूँ तथा भारतीय दर्शन के जीवन विषयक आधारभूत तत्वों के लिये कभी-कभी जिज्ञासा करता हूँ। अतः मैं यही सोचता हूँ कि महिमामयी कुसुमवतीजी के श्रीचरणों में अपनी श्रद्धा अर्पित करूँ।

आपने मुझे याद किया, यह मेरा परम सौभाग्य है।

□ पुखराजमल एस० लूंकड़
अध्यक्ष

अ. भा. श्वे. स्था. जैन कांग्रेस

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि विदुषी साध्वी श्रीकुसुमवतीजी संयमी जीवन के पचास वर्ष पूर्ण कर चुकी हैं। दीक्षा की अर्ध शताब्दी अपने आप में एक उपलब्धि है। संयमसाधना के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं का ज्ञान और साधना आपकी विशेषता है।

व्यक्तिशः मेरा आपसे सम्पर्क नहीं हुआ है किन्तु जैसी जानकारी मिली है उसके अनुसार आप एक ओजस्वी वक्ता, प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं साधना सम्पन्न साध्वी हैं। दीक्षा की स्वर्ण जयंती के अवसर पर मैं उनके प्रति आदर व्यक्त करते हुए शासन देव से प्रार्थना करता हूँ कि आप संयममय जीवन का एक शतक पूर्ण करते हुए जन-जन को धर्म की प्रेरणा दें।

□ संचालाल बाफना
(भू. पू. अध्यक्ष
अ. भा. श्वे. स्था. जैन काँग्रेस)

पूज्य महासती श्री कुसुमवती जी महाराज के दीक्षा स्वर्णजयन्ती महोत्सव के शुभ अवसर पर अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

गुणीजनों का अभिनन्दन वंदन करना मानव मात्र का कर्तव्य है। सद्गुणों के जीवन्त रूप जब हमारे सामने होते हैं तो हमें उनके गुणों से प्रेरणा मिलती है, और गुणों के प्रति आकर्षण एवं उत्साह भी बढ़ता है। हम सद्गुणों की उपासना आराधना करके अपने जीवन को भी गुणी बना सकते हैं इसलिए गुणीजनों का आदर्श हमारे सामने रहना चाहिए।

पूज्य महासती जी का जीवन अनेक विशेषताओं से युक्त है। वे जितनी सरल और मधुर स्वभाव की हैं, उतनी ही गम्भीर और ज्ञान गरिमा से मंडित भी हैं। मैं उनके आरोग्यमय दीर्घ जीवन की शुभ कामना करते हुए हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। ❀

□ शांती लाल बूगड
(अ. भा. श्वे. स्था. जैन काँग्रेस
युवा अध्यक्ष)

पूज्य कुसुमवती जी म. अपनी ५०वीं संयम यात्रा पूर्ण कर चुकी है यह हमारे समस्त जैन समाज की गौरवपूर्ण बात है। इस दुनिया में सभी का अभिनन्दन किया नहीं जाता, जिसने अपने जीवन में संपूर्ण संयम यात्रा कोरी सफेद चादर जैसी निभाई हो, ऐसे ही महानुभावों का अभिनन्दन किया जाता है। जिसमें पूज्य कुसुमवती जी महासती जी एक हैं। जिन्होंने हमेशा भगवान महावीर शासन को खूब चमकाया है। जनजीवन को जागृत करके सत्य, शील, सेवा, सदाचार के पथ पर बढ़ने की हमेशा प्रेरणा दी है। मैं युवाशाखाओं की तरफ से उनका अभिनन्दन करता हूँ। ❀

□ रमाकांत जैन लखनऊ

यह ज्ञात कर प्रसन्नता हुई कि विदुषी साध्वी श्री कुसुमवतीजी को उनकी संयम यात्रा के गौरवपूर्ण ५० वर्ष पूर्ण करने के उपलक्ष में 'कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ' अर्पित करने की योजना उनकी शिष्याओं और प्रशिष्याओं द्वारा बनाई गई है। इसके लिए वे साधुवाद की पात्र हैं।

७ सितम्बर, १९२५ को उदयपुर (राजस्थान) में श्री गणेशलालजी कोठारी के घर में जन्मी कन्या नजरकंवर को साढ़े ग्यारह वर्ष की वय में दीक्षा दिलायी गई।

यह परम सन्तोष का विषय है कि कुसुमवती नाम से दीक्षित उस बालिका ने संयम-साधना के दृढ़कर पथ को प्रशस्त कर उसका पूर्ण सदुपयोग किया और 'अध्यात्मयोगिनी' सम्मान की अधिकारिणी बनी।

मधुर वाणी में चित्तन की गहराई को उतारने में पट्ट और ओजस्वी प्रवचनों द्वारा सुप्त जनजीवन को जागृत कर सत्य, सेवा, शील और सदाचार के पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देने वाणी विदुषी साध्वी कुसुमवतीजी को उनके सर्वथा योग्य 'प्रवचन भूषण' की उपाधि देकर स्थानकवासी संघ ब्यावर द्वारा सम्मानित किया गया।

सरलता, सहनशीलता और करुणा की त्रिनेत्री अपने जीवन में प्रवाहित करने वाली अध्यात्म-योगिनी विदुषी साध्वी श्री कुसुमवती जी स्थानकवासी समाज में तो अभिनन्दनीय हैं ही, अपनी संयम-साधना को सफल बनाने के कारण सम्पूर्ण जैन समाज के लिये भी श्रद्धास्पद हैं। उनका साधना पथ आगे भी ऐसा ही प्रशस्त बना रहे इसी सद्भावना के साथ।

□ डॉ. परमानन्द मिश्र, रोसड़ा

'कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ' प्रकाशन की महती योजना हेतु आपकी दृढ़तापूर्ण कटिबद्धता का समाचार हमारे लिए निश्चय ही प्रेरणा और उत्साह का स्रोतक है।

परम साध्वी महीयसी कुसुमवतीजी ने भगवान महावीर के सिद्धान्तों को आत्मसात करते हुए उनसे अपने जीवन को ही उदात्त और आदर्श नहीं बनाया है अपितु मानवता ने उनसे एक नूतन दृष्टि, नयी चेतना, सहज स्फूर्ति तथा श्रेष्ठ जीवन जीने की उत्कृष्ट कला भी प्राप्त की है।

अपने धावन वर्षों की महती जीवन यात्रा में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त करते हुए अपने मौलिक एवं उपादेयता पूर्ण शाश्वत धर्मोपदेश से मानव जीवन के जिन उदात्त मूल्यों को अपने पावन संस्पर्श से चमत्कृत किया है उसके लिए मानवता उनकी चिर ऋणी बनी रहेगी और जैन धर्म के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित होकर चमत्कृत बना रहेगा।

उनका लौकिक-मौलिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान, विविध विषयों पर उनका असाधारण अधिकार उन्हें महान से महीयसी बनाता है। सुसुप्त मानवीय चेतना के इस आस्थाहीन युग में अपनी महर्घ्य कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न उनका उज्ज्वल और आदर्श चरित्र वर्तमान का आदर्श ही नहीं भविष्य का मार्गदर्शक भी है।

ऐसी महीयसी के उदात्त गुणों से प्रेरणा ग्रहण करने तथा जैन सिद्धान्तों की उपादेय एवं सूक्ष्मेक्षिका दृष्टि से परिचित तथा लाभान्वित होने के व्यक्तित्व से सम्बन्धित अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन निश्चय ही श्लाघ्य कर्म है।

में उस प्राणवती महादेवी के प्रति अपनी समस्त हार्दिक श्रद्धा एवं भक्ति समर्पित करते हुए इस ग्रन्थ के प्रकाशन जैसे महत्वपूर्ण सारस्वत अनुष्ठान की निर्विघ्न सफलता हेतु हार्दिक शुभाशंसा व्यक्त करता हूँ।

6

□ श्रीमती उषा जैन, कांदला

यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे पूजनीया प्रतिपल वन्दनीया महासती श्री कुसुमवती जी म० के सम्बन्ध में कुछ लिखने का अवसर मिला है। एक कहावत चलती है कि 'सूर्य को दीपक दिखाना' महासती जी के बारे में मेरा लिखना भी कुछ इसी प्रकार का लग रहा है, फिर भी मन की भावना को साकार रूप दे रही हूँ। कांदला निवासियों के पुण्य स्वरूप सन् १९८० में आपके सात्त्विक में आप की दो शिष्याओं का दीक्षा महोत्सव करने का सु-अवसर प्राप्त हुआ। कांदला नगरी उत्तर प्रदेश की अति प्राचीन नगरी है जहाँ बड़े-बड़े आचार्यों के चातुर्मास हुए हैं, धर्म साधना की दृष्टि से भी इस नगरी का प्रमुख स्थान रहा है।

श्रद्धेया गुरुणी जी म० की कांदला नगरी पर बड़ी कृपा रही है। आपके निकट सम्पर्क में रहकर मैंने पाया कि आपके जीवन में सरलता, नम्रता, सहजता आदि अनेक गुण हैं, आपकी वाणी में ओज है, जहाँ-जहाँ पर भी आपके चातुर्मास होते हैं, वहाँ की समाज में एक नई जागृति, एक नई धर्म की लहर पैदा होती है। भगवान महावीर से किसी साधक ने पूछा कि धर्म का निवास स्थान कहाँ है तो प्रभु ने कहा--

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

जो सरल हृदय का है उसी के जीवन में शुद्ध धर्म का निवास होता है। पूज्या महासती जी के जीवन में सबसे बड़ा गुण सरलता का है।

महासतीजी का उत्कृष्ट जीवन मानव मात्र के लिए प्रेरणादायी है। आपके पावन जीवन से प्रेरणा पाकर हजारों को मार्गदर्शन प्राप्त हो रहा है। मैं अपनी ओर से, अपने परिवार की ओर से और समस्त कांदला निवासी जनता की ओर से दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन अवसर पर शतशः नमन वन्दन करती हुई यही मंगल कामना करती हूँ— हजारों वर्ष जी करके, सभी को पथ-प्रदर्शन दो। अध्यात्म की दिव्य ज्योति और ज्ञान का अमृत

वर्षण दो ॥ 6

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

६३

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

□ गहरोलाल चपलोट
मंत्रो—राज्यावास

जैन सन्त सतियों का सम्पूर्ण जीवन ज्ञान दर्शन चारित्र्य का प्रतीक होता है। परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी स्थानकवासी जैन समाज की एक सम्माननीया साध्वीरत्न हैं। आपके प्रति सम्पूर्ण समाज में एक आस्था है, एक श्रद्धा है। आपमें विद्वत्ता और विनम्रता का अद्भुत संगम है, आपका व्यक्तित्व बहुत ही लुभावना व चिन्तन गहरा है, प्रवचन शैली अत्यन्त रोचक है, वाणी मधुरता तथा ओजस्विता से परिपूर्ण है, प्रकृति सरल मिलनसार और गुण सम्पन्न है। आपके बहुमुखी व्यक्तित्व में अनोखा आकर्षण है, संयम साधना उत्कृष्ट है, आचार्य भद्रबाहु के शब्दों में—

थोवाहारो थोवभणिओ, जो होइ थोवनिहो य।
थोवोवहि उवगरणो, तस्स हु देवा वि णमसंति ॥

अर्थात् जो साधक थोड़ा खाता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी नींद लेता है, थोड़ी ही उपकरण आदि सामग्री रखता है, उसकी देवता भी नमस्कार करते हैं। साध्वी जी म. के जीवन में ये सारी बातें विद्यमान हैं।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पुनीत अवसर पर मैं अन्तर हृदय से यही सद्कामना करता हूँ कि आपका जीवन दीर्घायु हो और इसी प्रकार भविष्य में हम श्रावकों को मार्गदर्शन प्रदान करते रहें। ○

□ श्रीकृष्ण लोंगपुरिया

मुझे यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि जैन जगत की प्रख्यात साध्वी श्री कुसुमवती जी म. के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन अवसर पर समाज द्वारा अभिनन्दन स्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। जैन धर्म के सिद्धान्त जीवन निर्माण के लिए बड़े ही सहायक सिद्ध होते हैं, आज विश्व भयंकर विनाश के कगार पर खड़ा है, सारे संसार में हिंसा का ताण्डव हो रहा है, मानव आज राक्षसी वृत्ति धारण कर चुका है, ऐसी स्थिति में

भगवान महावीर के सत्य अहिंसा अपरिग्रह अनेकान्त सिद्धान्तों को अगर जीवन में आत्मसान कर लिये जाएँ तो सारी समस्याएं हल हो जाएँगी।

पूजनीया महासती जी का जीवन तप व त्याग का प्रतीक रहा है—

धन्य है वो मां और पिताश्री,
जिनके घर कुल में जन्म लिया,
अपने अतुलित ज्ञान धर्म से,
हम सबका जीवन धन्य किया।

इन्हीं रेखाओं के साथ उनके अच्छे स्वास्थ्य सहित दीर्घायु की मंगल कामना करता हूँ। ☺

□ सोहनलाल सोनी, नाथद्वारा

प्रातःस्मरणीया प्रतिक्षण वन्दनीया परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी महाराज जैन जगत की उज्ज्वल तारिका हैं। आपका वर्षावास हमारे नाथद्वारा नगर में हुआ। उनके वर्षावास से नाथद्वारा में अनेक नवीन कार्य हुए। संघ में अच्छी जागृति हुई।

महासती कुसुमवती जी म० ज्ञान के भण्डार हैं, ज्ञाननिधि हैं। किसी भी विषय को समझाने के लिए वे उसकी गहराई तक पहुँचती हैं, उनके मुख से विश्लेषित तथ्य अच्छी तरहसे समझ आ सकते हैं।

वे सरस्वती की पुत्री हैं। एक-एक शब्द उनका ऐसा निकलता है जैसे पहाड़ों से झरनों का उद्भव होता है। कहीं कोई अधोरता नहीं, कहीं कोई हड़बड़ाहट नहीं; एकदम शान्त स्थिर रूप से उनकी वाग्धारा बहती है।

उनकी वाणी धीर गम्भीर है, हृदय को छूने वाली है। बड़े-बड़े सन्तों की वाणी सुनकर के श्रोता ग्रहण कर पाते हैं या नहीं लेकिन आपके उपदेशों को किसी न किसी रूप में ग्रहण किया जाता है। आपके उपदेशों को सुनकर हमारे नाथद्वारा के ग्यारह व्यक्तियों ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया। अपने जीवन को प्रशस्त बनाया।

मैंने देखा है, वे समाज में फैले अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने में प्रयत्नशील हैं वे समाज में पनपती हुई रुढ़ियों—असत्परम्पराओं को नष्ट

करने में सदा संलग्न हैं। उनके जीवन का रोम-रोम आत्मोत्थान और समाजोत्थान में लगा हुआ है। उनके इस महनीय प्रयास में हमारे क्षेत्र की महिलाओं ने रोने-धोने की कुप्रथाओं को अत्यल्प करने के प्रत्याख्यान लिए।

ऐसे महिमामय साध्वीरत्न श्री के पावन चरणों में श्रद्धा से नत हो, मंगल कामना करता हूँ कि हमें आपका वरद हरत सदा मिलता रहे। ○

□ पवनकुमार जैन, काँधला

सन् १९८० का वर्ष मेरे लिए स्वर्णिम था, जब एक महान् आत्मा के दर्शन का लाभ मिला। मैं साधु सन्तों के दर्शन करने कम ही जाता था। मूढ़ ही नहीं बनता था।

सन् १९८० में जम्मू चातुर्मास कर पंजाब आदि प्रान्तों में विचरते हुए महासती कुसुमवती जी म० काँधला पधारे। काँधला उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले का छोटा-सा गाँव है जिसे पूज्य काशीराम जी म० जैसे महान सन्त सतियों की दीक्षा-स्थली बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यहां के लोगों में धर्म की भावना अधिक है।

महासती जी के पदार्पण से अच्छी रीनक लग गई। आपके पास दो विरक्ता बहनें थी—एक मेरठ की गीता जी और एक जम्मू की शान्ता जी। संघ ने विनति की कि इन दोनों वैरागिनों की दीक्षा यहीं कराई जाये। भाव पूर्ण आग्रह को देखकर आपने हमारे संघ की विनति स्वीकार की।

बड़े ठाठ-बाट से दोनों विरक्ताओं को दीक्षा दी गई थी, विशाल जलूस था—जिसमें बाजे, हाथी घोड़े, रथ, पदाति एवं संवाद करती हुई झँकियाँ थी। गाँव के जैन अजैन यहाँ तक कि मुस्लिम लोगों ने भी—बच्चे-बच्चे ने भाग लिया। लेकिन दुर्भाग्य से मैं आपसे परिचित नहीं हो सका।

आप हमारे काँधला से बिहार कर मेरठ बड़ीत होते हुए देहली पधारे। देहली हम अपने व्यापार से जाते रहते थे। चूँकि हमारे बड़े भाईसा आपके पास बहुत आते-जाते थे अतः उनके साथ-साथ मैं भी आपके पास स्थानक में पहुँचा।

आपके दर्शन किये और इतना प्रभावित हुआ कि अब तो आप जहाँ कहीं विराजते हों, प्रति वर्ष दर्शन करता हूँ।

आप में एक नहीं अनेक विशेषताएँ हैं, जिन्हें मैं अंकित करने में अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ।

आप में सरलता कूट-कूट कर भरी है। आपके पास चाहे कोई छोटा बच्चा आये या बड़ा व्यक्ति, चाहे निर्धन आये या धनी, सबके साथ समान व्यवहार हमने देखा है। आपके पावन सान्निध्य को पाकर असीम शान्ति का अनुभव होता है, असीम वत्सलता का अनुभव होता है। इस वात्सल्य की धारा में अवगाहन कर अपने आपको धन्य मानते हैं।

आप क्षमा की महादेवी हैं। मैंने आपको निकट से ही नहीं अति निकट से देखा है। आपका जीवन कितना शान्त प्रशान्त है। उफान और तूफान का जबाब भी मृदु मुस्कान से देती है। आपके जीवन में अद्भुत सहनशीलता है।

आप उच्चकोटि की ज्ञान साधिका हैं। आप के ज्ञान का पार पाना बड़ा मुश्किल है। आप ज्ञान के सूर्य हैं, संस्कृत प्राकृत के श्लोक गाथाएँ रटी पड़ी हैं। किसी विषय को समझाने के लिए उसके तलछट तक पहुँच जाती हैं। जहाँ आप में ज्ञान की गहराई है वहीं आप में चारित्र्य की भी ऊँचाई है। आप अपनी संयम साधना के प्रति सजग हैं। आप हमारे उत्तर भारत में विचरने पधारे। जगह-जगह आपके सामने कई समस्याएँ आई—माईक में बोलना, पंखे के नीचे बैठना, पलश आदि का उपयोग करना आदि। आपने कई संकटों का सामना किया पर कभी भी इन सबका उपयोग नहीं किया।

आप में एक नहीं अनेक गुण हैं। मैं अपनी स्वल्प मति से कहीं तक वर्णन करूँ। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर अपनी आस्था की केन्द्र गुरुणी जो म० के श्री चरणों में सादर श्रद्धार्पित करते हुए यही मंगल मन्तीषा करता हूँ—

आप जीयें हजारों साल, साल के दिन हों ५० हजार

संयम पूर्ण साधना की साक्षात् मूर्ति

—आचार्य राजकुमार जैन

समाज में साधु-सन्तों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। समाज उन्हें धर्म के प्रतिनिधि या अग्रदूत के रूप में देखता है। अतः समाज में उन्हें विशिष्ट स्थान एवं महत्व प्राप्त होता है। विभिन्न सामाजिक एवं वैयक्तिक बुराइयों एवं विकारों से वे दूर रहते हैं, अतः समाज एवं देश को वे सही दिशा निर्देश देते हैं।

हमारे देश और समाज में ऐसे साधु-सन्तों की अविरल परम्परा रही है। उस परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी है—परम विदुषी, साध्वीरत्न, वन्दनीय श्री कुसुमवती जी महाराज। आप एक उच्च कोटि की साधिका हैं और साधना के उच्चतम आदर्शों को प्राप्त करना आपके जीवन का मुख्य लक्ष्य है।

साधनामय जीवन के कंटकों को निस्पृह भाव से सहन करते हुए निरन्तर आगे बढ़ते रहना आपके जीवन की मुख्य विशेषता है जो आपकी संयम यात्रा के गौरवपूर्ण ५० वर्षों के साधना काल में लक्षित होती है। आपने अपनी साधना में संयम को प्रमुख स्थान देकर साधना के महत्व को द्विगुणित किया है, क्योंकि संयम के बिना साधना की पूर्णता सदिग्ध है।

साधना के साथ ज्ञान की अनिवार्यता भी अंगीकार की गई है। ज्ञान के बिना भी साधना अपूर्ण समझी जाती है। क्योंकि ज्ञान का आलोक ही साधक या योगी के अन्तःकरण के उस अन्धकार को निर्मूल करता है जो साधना में बाधक है। लौकिक ज्ञान जहाँ भौतिक दृष्टि से उपयोगी है वहाँ आध्यात्मिक ज्ञान आत्मा के विकास एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पूजनीय

कुसुमवती जी महाराज ने अपनी साधना के साथ ज्ञान का समन्वय कर उस पूर्णता की ओर बढ़ने का प्रयास किया है जिस ओर साधना का पथिक अपनी मंजिल देखता है।

श्री कुसुमवती जी महाराज का जीवन केवल साधनामय ही नहीं है, अपितु वे उन श्रेष्ठ मानवीय गुणों से परिपूर्ण हैं जो जीवन को सार्थकता प्रदान करते हैं। आपके जीवन में सहिष्णुता, सरलता, करुणा एवं मृदुता का ऐसा अद्भुत समन्वय है जो मानव समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है। आपके मुख मण्डल पर आभा एवं तेज युक्त ऐसा सौम्य भाव है कि व्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप से आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। विकार भाव रहित आपकी साम्य मूर्ति जिस प्रकृति प्रदत्त सहज भाव एवं नसर्गिकता का आभास देती है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

निःसन्देह आप जैसी सरल स्वभावी, साधनामय तपःपूत जीवनयापन करने वाली परम विदुषी साध्वीरत्न जैसे व्यक्तित्व के प्रति न केवल समाज अपितु सम्पूर्ण देश को गर्व है। मैं ऐसे निस्पृही व्यक्तित्व के प्रति नतमस्तक हो उनके चरण युगल में अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ।

6

तेजस्विता की साक्षात् मूर्ति

—ब्रह्म सुन्दरलाल जैन

साधना के क्षेत्र में जैन साधु, साध्वी, सन्तों की ऐसी विशिष्ट परम्परा रही है जो अन्यत्र दुर्लभ है। साधना की बात करना और उसे आत्मसात कर उसमें तल्लीन हो जाना अलग-अलग बात है। जैन साधु, सन्तों में साधना की बात नहीं की जाती है, अपितु उस पथ का अनुगामी बनकर तद्वत्

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

आचरण किया जाता है। परम विदुषी, साध्वी-रत्न, वन्दनीय कुसुमवती जी महाराज एक ऐसी परम तेजस्वी साधिका हैं, जिन्होंने मोह, ममता, अहंकार, क्रोध, राग, द्वेष आदि विकार भावों पर विजय प्राप्त कर साधना के कष्ट काकीर्ण पथ को अंगीकार किया। साधना ही उनका साध्य है और वह ऐसा साध्य है जो भौतिक साधन निरपेक्ष है। आपकी साधना दिखावे के लिए नहीं, अपितु आत्म कल्याण के लिए है। आत्म कल्याण भी ऐसा जो प्राणी कल्याण की अपेक्षा रखता है।

सत् साधना के परिणामस्वरूप आपका मुख मण्डल तेजस्विता से परिपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि आप तेजस्विता की साक्षात् सृति हैं। स्वभाव की सरलता, वाणी की मृदुता और हृदय की विशालता के अद्भुत सामंजस्य ने आपके आभायुक्त मुख-मण्डल की तेजस्विता को द्विगुणित किया है। सहज गुणों के कारण स्वाभाविक भावों में वृद्धि प्रकृति की देन है। आपकी वाणी में विलक्षण ओज है जिसका प्रभाव आपकी वाणी को सुनने वाले पर अवश्य पड़ता है। आपकी वाणी की मधुरता, मृदुता और ओजस्विता के कारण आपके प्रवचन इतने प्रभावशाली होते हैं कि वे लोगों के हृदय को छू लेते हैं और अपेक्षित प्रभाव डालते हैं।

आपके ज्ञान में गम्भीर्य और चिन्तन में गहराई है। कुरीतियों और अन्धविश्वासों को आप प्रबल विरोधी हैं। यही कारण है कि आपके प्रवचनों में सामाजिक बुराइयों के प्रति प्रबल कटाक्ष एवं विरोध होता है। आपके प्रवचनों से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने अपने जीवन को सुधार कर सन्मार्ग पर लगाया है।

आप जैसी परम तेजस्वी विदुषी साधिका के प्रति नतमस्तक हो आपके चरणों में अपने श्रद्धा मुमन अर्पित करता है।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

प्रतिभाशाली व्यक्तित्व

—सम्पत जैन, दिल्ली

परम विदुषी साध्वीरत्न महासती श्री कुसुमवतीजी म० का व्यक्तित्व एक महान प्रतिभाशाली रहा है। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन अवसर पर आपके श्री चरणों में एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। इस मौके पर मुझे कुछ संस्मरण याद आ रहे हैं जो ११ वर्ष पूर्व के हैं, जब आपश्री का चातुर्मास दिल्ली चांदनी चौक में था, मुझे भी उस चातुर्मास में एक बार लाला मुन्नालालजी की धर्मशाला में आपके दर्शन प्राप्त हुए थे, मैंने पाया कि आप स्वभाव से मधुर, मिलनसार, प्रसन्न-वदना, सही मार्ग-प्रदर्शक एवं सरलता की प्रति-सृति हैं।

मैंने आपके ओजस्वी प्रवचन सुने जो कि शास्त्र-सम्मत और अनुभवों से परिपूर्ण थे।

आपकी शिष्या मण्डली बड़ी भाग्यशाली है जिसे आप जैमी गुरुणीजी की छाया मिली। आप स्वयं तो जप-तप-स्वाध्याय-ध्यान इत्यादि में लगी ही रहती हैं, अपनी शिष्याओं को भी खाली नहीं रहने देतीं।

हे स्वनाम धन्य ! कुसुमवतीजी आप एक प्रखर वक्ता के रूप में व दृढ सेवाभावी विदुषी साध्वी के रूप में प्रसिद्ध हैं। मितभाषी, अध्ययनशील, जनोपयोगी साहित्य के निर्माण में संलग्न महासती जी के विराट व्यक्तित्व को मेरा शत-शत प्रणाम !

○ — —

मन्द कषायी (भव्य) आत्मा के तीन लक्षण हैं—

सब जगह प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन बोलने वाले की भी क्षमा कर देना, सब के गुण ग्रहण करना— —कार्तिकेय अनुप्रेक्षा ११

○

— — ○

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

६७

महासती आर्याकुसुमवती जी का सारस्वत अभिनन्दन विशिष्ट दृष्टि से यदि समय साध्वी-समाज का समादर है, तो सर्वसामान्यता के ख्याल से समस्त नारी-समाज का अभिनन्दन है। अर्हत्कृपा से उन्हें जो ज्ञान-गरिमा, वैदुष्य-वैभव एवं एक सन्नारी के योग्य सभी गुणधर्म प्राप्त हैं, उनका उपयोग वह समाज के उन्नयन में अर्हनिश करती रहती है। उनका तो एकमात्र सिद्धान्त है : 'तदेव ननुपाण्डित्यं यत्संसारत् समुद्धरेत्।' अवश्य ही, महासाध्वी कुसुमवती जी अपने पाण्डित्य को लोकहित एवं समाजोद्धार के लिए अकृपण भाव से वितरित करती रहती हैं। पर के दुःख का निवारण ही उनका धर्म है। वह यही मानती हैं कि 'परस्सिद्धदुःखकरणं धम्मो।' मैं जगजागरण में सदा निरत रहने वाली महामहिमामयी 'अध्यात्मयोगिनी' के प्रति अपनी विनम्र वन्दना निवेदित करता हूँ।

द्वेषादिदोषरहितां विदुषीं करुणामयीम् ।

वन्दे महासतीं दिव्यां लोकजागरणे रताम् ॥ ७

○ रामचन्द्र द्विवेदी, जयपुर

परम साध्वी कुसुमवती जी अपने वैदुष्य, उत्तम साधना, प्रवचन कौशल, आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये सुविख्यात हैं। भगवान् महावीर द्वारा चतुर्विध संघ की स्थापना का ही यह सुफल है कि जैनसाधु ही नहीं अपितु साध्वीगण भी युगों से जैन आदर्श को व्यवहार का रूप देता आ रहा है। तथापि उनके अवदान को अधिक रेखांकित नहीं किया गया है। यह भारतीय समाज की परम्परा दोषपूर्ण है। वस्तुतः साध्वी-समाज का उतना ही महत्त्वपूर्ण कृतित्व और व्यक्तित्व रहा है जितना कि साधु-गण का। परम विदुषी, साध्वीरत्न कुसुमवती जी का अभिनन्दन न केवल उनके वैयक्तिक गुणों का यशोगान होगा अपितु वह साध्वी-परम्परा का भी अभिनन्दन होगा। यह आवश्यक कर्तव्य था जिसे पूरा करने के लिये अभिनन्दन-ग्रन्थ के संयोजक एवं संपादक बधाई के पात्र हैं। ○

संकल्प ही सुनहरे नए कल का रूप है
सत्कर्म ही सृजन नये मंगल का रूप है
मेहनत तो रंग लाती है चट्टान तोड़िये
पावन पसीना ही तो गंगाजल का रूप है
बढ़ते ही रहिए रात-दिन प्रतिज्ञा ठानकर
प्रत्येक चरणचिह्न कहीं मंजिल का रूप है
जिसने भी चुभन को सहा वो ही महक गया
दलदल में मुस्कराये वो 'कुसुम' का रूप है
दर्द का उपचार है खुशियां बिखेरना
सिखलाये प्रीत-प्यार वो गजल का रूप है

□

मंगल-मनीषा

—अजीत नागोरी इंगला

दीक्षा जयन्ती की बहार है
नमन हमारा शत बार है
माता सोहन की ये दुलारी है
पिता गणेश की ये प्यारी है
उदयपुर सुखकार है, लिया जहाँ पे अवतार है
इनकी वाणी में अमृत बरसे है
इनको पाकर तो हम हरसे हैं
शासन के ये शृंगार हैं, जन-जन के आधार हैं
इनके चरणों में जो भी आता है
जीवन में आनन्द वो ही पाता है
सभी को इनसे प्यार है, ये भी करते उपकार हैं
दीक्षा जयन्ती इनकी आई है
रग-रग में सबके खुशियाँ छाई हैं
जियो तुम वर्ष हजार ये ही हमारे उदगार हैं

✱

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

श्रद्धा सुमनाञ्जलि

—राजेन्द्र मेहता सायरा

(१)

वर्द्धमान महावीर को, हम सबका प्रणाम ।
वीतराग पद प्राप्त कर, पाये आठों याम ॥

(२)

संघ नायक आनन्द हैं, श्रमण संघ की शान ।
उपाध्याय पुष्कर गुरु, चमके भानु समान ॥

(३)

भावोनायक शास्त्रीजी, उपाचार्य देवेन्द्र ।
श्रमण संघ में शोभते, ज्यों तारों में चन्द्र ॥

(४)

गुरुणी जी श्री सोहन को, नित्य नमाऊँ शीश ।
श्रमण संघ प्रवर्तिनी का, फल रहा आशीष ॥

(५)

शासन ज्योति महासती, कुसुमवती महाराज ।
अभिनन्दन वंदन करें, शीश झुकाकर राज ॥

(६)

वीरभूमि मेवाड़ में उदयपुर की शान ।
जहाँ जन्मे हैं आपश्री, पिता गणेश महान ॥

(७)

बालपने शिक्षा मिली, वैराग्य लिया अपनाय ।
मात सहित संयम लिया, देलवाड़ा के माँय ॥

(८)

साल उन्नीसो तराणू, फाल्गुन मुदि तेरस ।
धन्य हुई शुभ दिन षड़ी, पाया ज्ञान का रस ॥

(९)

सोहन के शुभ चरण में, अर्पित हो गई आप ।
पात्रता शुभ देखकर, ज्ञान दिया अमाप ॥

(१०)

पुष्कर गुरुवर की रही, अनुकम्पा हर बार ।
वीतराग शुद्ध धर्म को, ले लिया दिल में धार ॥

(११)

सरल हृदय है आपका, सहज सरल सुविचार ।
सहनशील मध्यस्थता, मधुर रहा व्यवहार ॥

(१२)

विनय धर्म का मूल है, विनय धर्म आधार ।
विनयवन्त हैं आपश्री, विनय आत्म का सार ॥

(१३)

अल्पवय में आपने, किया खूब अभ्यास ।
प्राकृत, हिन्दी, संस्कृत, न्याय व्याकरण खास ॥

(१४)

कोकिल कण्ठा मधुर वचन, मधुर रहा व्याख्यान ।
श्रोताजन हर्षित रहे, मुन-मुन मंगल गान ॥

(१५)

ज्ञानध्यान वैराग्यमय, तप-जप अरु स्वाध्याय ।
जीवन के ये अंग हैं, आत्मा का व्यवसाय ॥

(१६)

स्वाध्याय अरु साधना, जीवन के दो पक्ष ।
आत्मा को उन्नत किया, सदा रहा यह लक्ष्य ॥

(१७)

शिष्या समूह सब सरस है, ज्ञानवान मतिमान ॥
वाल ब्रह्मचारिणी सभी, करते आत्मकल्याण ॥

(१८)

परम विदुषी महासती, चारित्रप्रभा गुणवान ।
दिव्यप्रभा अरु गरिमामाजी, शिष्या आपकी जान ॥

(१९)

प्रशिष्या दर्शनप्रभा, जीवन संयम जान ।
विनयप्रभा और रुचिका, कर आत्मउत्थान ॥

(२०)

अनुपमा और राजश्री, प्रतिभा बड़े अपार ।
निरुपमा आदि सती, बारह का परिवार ॥

(२१)

अभिनन्दन है आपका, सदा रहें सुस्वस्थ ।
शासन की सेवा करें, धर्म ध्यान में व्यस्त ॥

(२२)

स्वर्ण जयन्ती वर्ष पर, राजेन्द्र के उद्गार ।
सर्व सुखी संसार हो, घर-घर मंगलाचार ॥

महान साधिका

—श्रीमती भुवनेश्वरी भण्डारी
(अध्यक्षा : अ. भा. श्वे. स्था. जैन काम्पेस
महिला-संगठन)

भारतभूमि में अनेकों महापुरुषों ने जन्म लिया है। उनका जीवन पर कल्याण के लिए होता है। आपश्री का जीवन भी उच्च आदर्श का अनूठा उदाहरण है। जन मानस में नवचेतना एवं नूतन स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली एक महान श्रमणी और श्रेष्ठ साधिका हैं। आपका संयमी जीवन रत्नत्रय की सम्यक साधना से समृद्ध है, आपने अहिंसा, संयम व तप की त्रिवेणी गंगा बहाकर जन मानस को उन्नत किया है। प्रभु महावीर की भव्य दिव्य जन कल्याणी सन्ताप हारिणी वाणी का ग्रामानुग्राम विचरण कर प्रचार-प्रसार कर रही हैं। आप तपोनिष्ठ महान साधिका हैं।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के शुभ अवसर पर आपश्री का हार्दिक अभिनन्दन एवं भावभीनी शुभकामनायें अर्पित करती हैं। आप निरन्तर अपने पावन लक्ष्य की ओर उन्मुख हों, यही मेरी हार्दिक कामना है।

ॐ

शासन प्रभाविका

—शान्तिलाल तलेसरा, सूरत

परम विदुषी महासती श्री कुसुमवतीजी स्थानकवासी जैन परम्परा की एक विदुषी साध्वी रत्न हैं। विगत कई वर्षों से आपकी सेवा व दर्शनों का लाभ मुझे बराबर मिलता रहा है, आपके सम्पर्क में रहकर मैंने पाया है आप में अनेक गुण हैं, विद्वत्ता के साथ नम्रता, ज्ञान के साथ क्रिया, विनय के साथ विवेक आदि अनेक विशेषताएँ हैं। आपने वात्स्यायनस्था में संयम अंगीकार कर निरन्तर आगम न्याय, व्याकरण, दर्शन का गहन अभ्यास किया व अनेक परीक्षाएँ समुत्तीर्ण की हैं।

आपका विहार क्षेत्र भी बहुत ही विस्तृत रहा

है, जम्मू-कश्मीर, पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि भारत के अनेक प्रान्तों में आपने विचरण कर जिनशासन की प्रभावना की है। आप की तरह ही आपका शिष्या परिवार भी विद्वत्ता से परिपूर्ण है। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पावन अवसर पर मैं हार्दिक वन्दन अभिनन्दन करता हुआ यही मंगल कामनाएँ अर्पित कर रहा हूँ कि आप स्वस्थ रहें और विगत वर्षों की भाँति आगत वर्षों में भी जिनशासन की प्रभावना करती रहें, हमें मार्गदर्शन प्रदान करते रहें जिससे हम भी धर्म व समाज सेवा में अपनी सेवा देते रहें।

ॐ

तपोमूर्ति

—सम्पत्तिलाल बोहरा, उदयपुर
(अध्यक्ष : तारक गुरु जैन ग्रन्थालय)

परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवतीजी म. स्थानकवासी जैन समाज की एक जानी-मानी, पहचानी हुई साधिका हैं। विगत कई वर्षों से मेरा आपसे सम्पर्क रहा है। किसी भी व्यक्तित्व का निर्माण उसके आचार व विचार से होता है, जिसके जीवन में आचार की ऊँचाई व विचारों की पवित्रता होती है वही जीवन आदर्श बनता है। हमारे राष्ट्र की यही धरोहर है। पूज्या महासतीजी को जब हम इन दोनों कसौटियों पर कसते हैं तो वे एक शुद्ध स्वर्ण के रूप में उभर कर हमारे सामने आती हैं।

जैनधर्म त्यागप्रधान धर्म है। यह भोग से योग की ओर, राग से विराग की ओर बढ़ने की पवित्र प्रेरणा प्रदान करता है यही कारण है कि जैन सन्त सतिवर्ग अपने जीवन को त्याग-तप की सौरभ से महका रहे हैं। विश्व प्रसिद्ध बर्नाडो शाँ ने कहा था—कि मैंने भारतवर्ष में दो अद्भुत वस्तुएँ देखीं। एक महात्मा गाँधी व दूसरी जैन श्रमण व श्रमणियाँ,

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

जो भौतिकवाद के युग में भी तप त्याग के पावन प्रतीक हैं। आज भी जैन शासन में अनेक प्रभाव-शाली, तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी सन्त-सतियां हैं।

साध्वीरत्न श्री कुसुमवतीजी इसी प्रकार की एक प्रतिभा सम्पन्न साध्वी हैं। आप में सेवा के, त्याग के, जप के अनेक गुण हैं। आप जहाँ भी पधारी हैं, वहाँ सम्प एवं संगठन की सौरभ फैलाई है।

विहार की दृष्टि से भी आपने भारत के विभिन्न अंचलों में हजारों मीलों की पदयात्रा कर लाखों हृदयों को धर्म के निर्मल सरोवर में स्नान कराया है। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन अवसर पर मैं अपनी ओर से व तारक गुरु जैन ग्रन्थालय के समस्त सदस्यों की ओर से आपका हादिक वन्दन अभिनन्दन करता हूँ व जिनशासन देव से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप दीर्घायु हों।



यथानाम तथागुण

—चांदमल मेहता, मदनगंज

स्थानांग सूत्र में ४ प्रकार के पुष्पों का वर्णन है। कितने ही पुष्प दिखने में सुन्दर दिखलाई देते हैं पर उनमें सुगन्ध-सौरभ का अभाव होता है। कितने ही पुष्प देखने में सुन्दर नहीं होते हुए भी उनमें सुगन्ध मौजूद रहती है और कितने ही पुष्पों में न तो सुगन्ध होती है और न देखने में ही सुन्दर होते हैं, इसके विपरीत कुछ पुष्प ऐसे भी होते हैं जो देखने में भी सुन्दर व सुगन्ध से भी भरपूर होते हैं।

परमादरणीया विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवतीजी म. उस चौथे पुष्प के सदृश हैं जो यथानाम तथागुण के धारक हैं, आप आकृति व प्रकृति दोनों दृष्टि से सुन्दर हैं।

जैसे लोहा पारस का स्पर्श पाकर स्वर्ण बन

जाता है उसी प्रकार कुसंस्कारों में पड़ा मानव सन्त सतिजन के संसर्ग से अपने जीवन को स्वर्णवत् बना देते हैं।

महासती श्री कुसुमवतीजी म. की कृपा हमारे परिवार पर लम्बे समय से रही है, साथ ही मदनगंज श्रावक संघ पर आपकी विशेष अनुकम्पा रही है। जब भी श्रावक संघ आपकी सेवा में चानुमांस की प्रार्थना को लेकर पहुँचा, आपने उदारतापूर्वक अपना न अपनी शिष्याओं का चानुमांस दिया।

आपका जीवन विविध गुणों से सम्पन्न है, विद्या, विनय, विवेक, सरलता, नम्रता, सेवा, शिक्षा आदि कई विशेषताएँ मैंने आप में पाई हैं। आप परम श्रेष्ठ उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. एवं उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी म. की विद्वान साध्वी हैं।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पावन अवसर पर मैं अपनी व अपने परिवार की ओर से आपका हादिक अभिनन्दन वन्दन करता हुआ यही मंगल कामनाएँ प्रेषित करता हूँ कि आप सदा स्वस्थ व दीर्घायु रहकर समाज को मार्ग-दर्शन प्रदान करते रहें।



हादिक-अभिनन्दन

—प्रमोद चन्द्र जैन

हमें याद है दिल्ली चांदनी चौक का वह चातु-मांस काल जब आप हमारे संघ की विनती स्वीकार कर जयपुर से उग्र विहार कर दिल्ली पधारीं! आपने पूरे ४ मास तक तीर्थंकर भगवान महावीर को ओजस्वी वाणी से सभी को लाभान्वित किया। आपकी चारित्र्यनिष्ठा पर समस्त श्री संघ को गौरव है। हम वीर प्रभु से यही मंगल कामना करते हैं कि आप जिनशासन का नाम रोशन करते हुए हम मुमुक्षु प्राणियों को जिन-मार्ग पर चलते रहने का प्रतिबोधन देती रहें।

प्रेरणा स्रोत

—रतनलाल मारू, मदनगंज

परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी म० स्थानकवासी जैन परम्परा की एक महान साधिका हैं। आपके जीवन में हजारों हजार विशेषताएँ हैं जिसे मैं लिखने में असमर्थ हूँ।

राजस्थान की पावन पुण्य धरा नररत्नों की जन्मभूमि रही है, इस पावन धरा में आध्यात्मिकता के बीज समाए हुए हैं। यहाँ पर अनेक नरवीर और दानवीर हुए हैं तो अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया है जिनकी पावन वाणी से हजारों नर-नारियों ने आत्म-कल्याण किया है। इसी पावन माटी में पूजनीया साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी म. का जन्म हुआ है। आपने बाल्यकाल में ही संयम अंगीकार कर शिक्षा के क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित किया है। शिक्षा के साथ आचार धर्म का भी आपने उत्कृष्ट पालन किया है। आपके द्वारा कइयों का उद्धार हुआ है। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन अवसर पर मैं अपनी ओर से और वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ मदनगंज की ओर से आपका हार्दिक वंदन, अभिनंदन करता हूँ एवं वीतरागदेव से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप सदा स्वस्थ रहकर हमें मार्गदर्शन प्रदान करने रहें ताकि हम अपने जीवन को समाज व धर्म के क्षेत्र में सदा लगाए रखें।

साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी

—शान्तिलाल पोखरना, भीलवाड़ा

मुझे जानकर प्रसन्नता हुई कि परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी म. सा. की दीक्षा के ५० वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। यह उनका केवल अभिनन्दन ही नहीं बल्कि संयमी जीवन का अभिनन्दन है। जिसे उनका भविष्य और अधिक

निर्मल बनने के साथ-साथ अनेक साध्वीवृन्द के लिए प्रेरणादायी सिद्ध होगा।

धर्म की प्रभावना हेतु इनकी विशेष रुचि रही। इसी कारण आपने सदैव परम्परागत क्षेत्रों का मोह त्याग कर दूर-दूर तक विहार किया। जिसके फलस्वरूप जम्मू, पंजाब, उत्तरी भारत के अनेक क्षेत्रों को आपकी वाणी का लाभ प्राप्त हुआ और उनमें धर्म के प्रति विशेष रुचि जागृत हुई।

कृतज्ञता ज्ञापन

—प्रकाशचन्द्र संचेती, जयपुर

परम विदुषी, साध्वीरत्न, अध्यात्मयोगिनी, कुसुमवती महासतीजी के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुअवसर पर प्रकाशित अभिनंदन ग्रंथ पर अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए, आपके दीर्घायु जीवन की मनोकामना करता हूँ।

आपश्री का स्थानकवासी जैन समाज पर असौम उपकार है। आपके गरिमामय व्यक्तित्व से सभी सुपरिचित हैं।

आप स्वयं अत्यन्त आत्मद्रष्टा साधिका हैं। आपकी अत्यन्त बुद्धिशालिनी संवर एवं साधना पथ पर चल रही विदुषी शिष्याएँ हैं। जिनमें प्रमुख साध्वी श्रीचारित्रप्रभाजी, साध्वी श्रीदिव्यप्रभाजी M.A. Ph.D., साध्वी श्रीगरिमाजी M.A. आदि का नाम लिखे बिना सच्ची श्रद्धार्चना नहीं हो सकती।

आपश्री ने आपके सुगुह श्रमण संघीय उपाध्याय श्रीपुष्करमुनिजी महाराज सा. के नाम को और देदीप्यमान किया है।

आप अध्यात्मसाधिका हैं, कमल के समान निर्लेप आपका जीवन है। आपको समीप से देखने का अवसर कई बार मिला है आप उच्चकोटि की साधिका हैं। मैं आपके संयमी-स्वस्थ दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ।

विलक्षण प्रतिभा की धनी

— चुन्नीलाल धर्मावत, उदयपुर
(कोषाध्यक्ष : तारक गुरु जैन ग्रन्थालय)

परमादरणीया महासती श्री कुसुमवती जी म० स्थानकवासी जैन समाज की एक प्रतिभा-सम्पन्न साध्वीरत्न हैं। आपका अध्ययन विशाल एवं चिन्तन गहरा है। वर्षों से समाज सेवा के कार्य में लगे रहने के कारण मैं साध्वी जी म० के अति निकट रहा हूँ। कई बार वर्ष में दशनों का लाभ भी प्राप्त होता है। उदयपुर में एक स्थानक भवन की आवश्यकता थी। उस समय आप अजमेर चातुर्मास हेतु विराजमान थीं। सेठ सम्पतमल जी लोढा का भव्य भवन उदयपुर में था, पूज्या महासतीजी की प्रेरणा से वह भवन हमें मिला जो आज श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय के नाम से सुविख्यात है।

आपके जीवन में सरलता है, सहजता है, समाजोत्थान की मंगल भावना सदा आपके दिल में समाई हुई रहती है। गहन अध्ययन होने के बावजूद भी नम्रता का गुण आप में विशेष रूप में विद्यमान है। आप उदयपुर की पावन पुण्य भूमि में जन्मी, और सद्गुरुणी श्री सोहनकुँवर जी म० के सान्निध्य को पाकर आपने बाल्यकाल में ही संयम धारण किया। आप जैसी विदुषी साध्वी पर समाज को गौरव है।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती की इस पावन बेला पर मैं अपनी ओर से एवं श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, श्री अमर जैन साहित्य संस्थान व अमर जैन स्वाध्याय भवन उदयपुर के समस्त सदस्यों की ओर से शुभकामनाएँ समर्पित करता हुआ वीतराग देव से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप चिरायु रहकर हमें सदा मार्गदर्शन प्रदान करते रहें।



प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

प्रेरणा स्रोत

— लुमानसिंह काप्रेचा, सिंघाड़ा

भारत की पावन भूमि अनन्त काल से त्याग व तप की स्थली रही है। श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक महापुरुष समय-समय पर यहाँ होते रहे हैं जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, संयम, क्षमा आदि का प्रचार-प्रसार किया। उनकी पावन वाणी से हजारों हजार का आत्म-उद्धार हुआ है। महापुरुषों अथवा महासतियों के जीवन-चरित्र की यह विशेषता रही है कि उनके उपदेशों को श्रवण कर सम्पूर्ण मानव जाति का मस्तक गौरव से ऊँचा उठता है। विनय और श्रद्धा से सिर झुक जाता है।

हमारा यह सम्पूर्ण शेर वाकल व झालावाड़ प्रान्त पूज्य गुरुदेव के प्रति सदा से ही आस्थावान रहा है। पूजनीया महासती श्री कुसुमवती जी म० से मेरा लम्बे समय से परिचय रहा है, प्रायः प्रतिवर्ष आपके दर्शनों और प्रवचनों का लाभ मिलता है, मैं साधिकार कह व लिख सकता हूँ कि आपका जीवन अन्तर् बाहर से सरल व सहज है। जो भी आपके सम्पर्क में एक बार पहुँचता है वह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, आपकी मधुर व ओजपूर्ण वाणी का उसके हृदय में असर होता है। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पावन अवसर पर मैं अपनी ओर से सम्पूर्ण प्रान्त की ओसवाल समाज की ओर से एवं वर्धमान जैन स्वाध्याय संघ सायरा की ओर से शतशः वन्दन अभिनन्दन करता हुआ आपकी दीर्घायु की मंगल कामना करता हूँ।



७३

चरणों में वंदन

—आनन्दीलाल मेहता, उदयपुर

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि परम विदुषी जिनशासन की प्रभाविका साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी म० सा० के ५० वर्ष के दीर्घ दीक्षाकाल के उपलक्ष में समाज की ओर से आपश्री का अभिनन्दन करने हेतु एक कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

महासतीजी से मेरा निकट का परिचय तब हुआ जब मैं सन् १९५७ में डबोक चातुर्मास में उनके दर्शनार्थ गया था और उनकी अमृतमय मधुरवाणी का रसास्वादन करते हुए डबोकवासियों को मैंने यह प्रेरणा प्रदान की थी कि ऐसी ज्ञानमूर्ति चारित्र आत्मा का अनन्त-अनन्त पुण्योदय से आपके यहाँ चातुर्मास हुआ है। अतः इस चातुर्मास की यादगार को चिरस्थायी बनाने एवं बालक-बालिकाओं में धार्मिक ज्ञान का बीजारोपण करने तथा जैनत्व के सुसंस्कारों का निर्माण करने हेतु एक ज्ञानशाला की भव्य स्थापना की जाय। मेरी इस प्रेरणा में मुझको ही इस महान कार्य का निर्माता चुन लिया। पूज्या महासती जी एवं श्रीसंघ डबोक के आग्रह को मैं टाल नहीं सका। मैंने इसी विभूति से आशीर्वाद प्राप्त कर १८ वर्ष तक प्रति रविवार को निःशुल्क रूप से डबोक में पाठशाला चलाई जिसमें कई बालक-बालिकाओं ने साधायिक, प्रतिक्रमण, प्रवेशिका, प्रथमा तथा जैन सिद्धान्त विशारद तक की परीक्षाएँ श्री तिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी (अहमदनगर) से सम्पन्न कीं और आज तक भी वह जैनशाला किसी न किसी रूप में अपने उद्देश्य की पूर्ति करने का सफल प्रयास कर रही है।

महासतीजी श्री कुसुमवती को मैंने बहुत निकट से देखा और परखा। आपमें सरलता, सहिष्णुता, विनय, सेवा एवं मधुरभाषिता आदि अनेकों गुण

सहज स्वाभाविक रूप में विद्यमान हैं। आगमों एवं दर्शनशास्त्र की आप कुशल व्याख्याता हैं। वीतराग विज्ञान की दिव्य ज्योति आपश्री के असंख्य प्रदेशों से निरन्तर प्रवाहित होती रही है। मैं विशेष किस उपमा से आपको उपमित करूँ। आप चन्दनबाला श्रमणी संघ की प्रथम प्रवर्तिनी महान् साध्वीरत्न श्री सोहनकुँवर जी म० सा० की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं।

महासतीजी का अभिनन्दन किन्हीं शब्दों, भाषणों अथवा ग्रन्थों से करना उनकी तेजोमय प्रतिमा को दीपक दिखाने के समान निरर्थक है। मेरी यह शुभ भावना है। आपश्री दीर्घकाल तक स्वस्थ रहकर अपने ज्ञान-गरिमा की दिव्य किरणों से जन-जन के हृदय में रहे हुए अज्ञान अन्धकार को दूर करते रहें और आप स्वयं वीतराग साधना के द्वारा अपने चरम लक्ष्य (सिद्धि) को प्राप्त करें। इन्हीं शब्दों के साथ यह भावात्मक श्रद्धा सुमन आपश्री के चरणों में समर्पित करता हुआ विराम ले रहा हूँ।

6

सद्कामनाएँ

—प्रो. अमरनाथ पाण्डेय, वाराणसी

आदरणीया श्री कुसुमवतीजी की संयम-यात्रा की अर्द्ध शताब्दी की पूर्ति के अवसर पर मेरी वधाई। उनका जीवन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा है और साधना के क्षेत्र में विशेष अभिनन्दनीय है।

उन्होंने दर्शन और संस्कृति का विशेष श्रृंगार किया है और अपनी तपस्या से अनेक गूढ़ रहस्यों का भी प्रकाशन किया है।

□

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

परमादरणीया साध्वीरत्न श्री कुसुमवतीजी म. स्थानकवासी जैन समाज की विदुषी साध्वी हैं। मेरा आपसे परिचय बहुत पुराना है। किसी भी साधनाभय जीवन का गुणानुवाद करना भी भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है, आपका व्यक्तित्व असीम और अपरिमित है। आपके मधुरिमापूर्ण व्यक्तित्व को निहारकर दर्शक मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। आपने संयम और तप की साधना से अपने जीवन को पवित्र किया है। आपके मार्गदर्शन से जनता को सुख शान्ति की राह उपलब्ध हो रही है। आपका नाम कुसुम है, कुसुम की सदा यह विशेषता रही है कि वह खिलता रहता है। चाहे मित्र या दुश्मन जो भी उसके समीप पहुँचता है वह सदा अपनी सुगन्ध सुवास देता ही रहता है, कभी भी उसमें दुर्गन्ध नहीं आती है।

आपका पवित्र जीवन एक प्रकाश स्तम्भ की तरह है, जो जन-जन को मार्गदर्शन कराता है। आपकी वाणी में तेज है, ओज है और उसमें चिन्तन का गाम्भीर्य है। जहाँ भी आप पधारीं वहाँ की जनता को एक नया मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पावन अवसर पर मैं अपनी ओर से एवं श्रावक संघ ढोल की ओर से हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ शासन देव से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप सदा स्वस्थ रहें और हमें सन्मार्ग की ओर चलने की प्रेरणा देते रहें।

गुणवान व्यक्ति का वचन घी से सीची हुई यज्ञाग्नि की भाँति तेजस्वी और प्रभावकारी होता है, जबकि गुणहीन व्यक्ति का कथन, तैलरहित दीपक की भाँति तेजोहीन !

—आचार्य जिनभद्र गणी

वृह. भा. २४५

परमादरणीया साध्वीरत्न श्री कुसुमवतीजी म. का जीवन कुसुम-सा कोमल व पवित्र है। आपके जीवन में सरलता सादगी, नम्रता, विनय, ज्ञानध्यान जप, स्वाध्याय आदि के अनेकानेक गुण विद्यमान हैं। आपके पावन जीवन दर्शन से हम युवक-युवतियों को भी मार्गदर्शन मिलता रहता है। आपकी तरह आपकी शिष्या परिवार भी ओजस्वी तेजस्वी व प्रभावशाली है, हमें गौरव है कि हमारी स्थानकवासी जैन समाज में आज भी ऐसी विदुषी साध्वीरत्न विद्यमान हैं, दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पावन अवसर पर हम सभी वर्धमान पुष्कर जैन युवा मंच के साथीगण आपका हृदय से शत-शत अभिनन्दन वन्दन करते हुए वीतराग प्रभु से यही प्रार्थना करते हैं कि आप सदा स्वस्थ रहें, दीर्घायु रहें व हमें मार्गदर्शन प्रदान करते रहें।

✱

मंगलकामना

—डी. सो. भाणावत, प्राचार्य

महासती कुसुमवतीजी के अत्यल्प सान्निध्य-लाभ ने भी मुझे बहुत प्रभावित किया—पांडित्य प्रदर्शन या उपदेश-प्रवृत्ति से नहीं, बल्कि आत्मीयतापूर्ण सरल व्यवहार से। आँखें ऐसी मानो स्नेह-निर्झर हों और सहज मुस्कान तो मानती ही नहीं मुंह-पत्ती का भी बन्धन।

उनकी करणी में ओज की गरिमा, वाणी में दिव्य माधुर्य और भावना में अनुपम प्रसाद स्वतः ही प्रस्फुटित होता रहता है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की त्रिवेणी प्रवाहित करती हुई उनकी श्रेयस्करी साधना शतायु हो, यही हमारी मंगलकामना है।

—कालूलाल ढासावत

—मुन्नालाल बोढा,
पाली

परमादरणीय महासती श्री कुसुमवतीजी का जीवन अमृत तुल्य है, आप राजस्थान की सुप्रसिद्ध साध्वी रत्ना हैं, मैं किन शब्दों में अपनी श्रद्धा भक्ति व्यक्त करूँ, मैं दिगंत कई वर्षों से आपको सेवा में आता-जाता रहा हूँ, मैंने पाया है आपका जीवन पारस के सदृश है जिसके सम्पर्क से लोह स्वर्ण में परिणत हो जाता है उसी प्रकार जो भी आपके पावन सम्पर्क में आया है उसके जीवन में एक नई भावना पैदा हुई है।

आप पूज्य उपाध्याय श्री के साध्वी परिवार की एक तेजस्वी साध्वीरत्न हैं। आपश्री के गुणों से मैं बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ। आपका प्रभावशाली व्यक्तित्व सभी के लिए पथप्रदर्शक है। आपके प्रवचन में इतनी मधुरता, कोमलता तथा प्रभाव-शीलता है कि श्रवण करने वाला मन्त्र मुग्ध हो जाता है। आपकी प्रेरणा से स्थान-स्थान पर अनेक लोकोपकारी कार्य हुए हैं, हमारे तरपाल गाँव में भी महासती श्री सोहन कुँवरजी जिनकी यह पावन जन्म स्थली है उनके नाम से मानव सेवा समिति का गठन हुआ जो जनकल्याण के कार्य में सेवा दे रही है।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस अवसर पर मैं अपनी ओर से, समाज व वर्धमान ज्ञानपीठ तिरपाल एवं श्री पुष्कर गुरु जैन सेवा शिक्षण संस्थान सेमटाल के समस्त सदस्यों की ओर से आपका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।



काफी वर्षों पहले आपके पूज्या गुरुणी जी श्री प्रवतिनी श्री सोहनकुँवर जी महाराज साहब के साथ मैं पाली चातुर्मास हुआ था। तब गुरुणी जी की सेवा का मौका हमें भी प्राप्त हुआ था मगर काल विकराल ने गुरुणी जी पर आक्रमण कर दिया और अचानक स्वर्ग पधार गये। श्री सोहनकुँवर जी म. सा. तो शुद्ध कंचन स्वर्ण के समान उज्ज्वल क्रिया पात्राणी थे। उनके स्वर्गवास से स्थानकवासी जैन साध्वियों में भारी कमी पड़ी है उनकी पूर्ति शीघ्रता से हो यही शासनदेव से प्रार्थना है और स्वर्गीय आत्मा को शान्ति प्रदान हो, एवं गुरुणी जी के नाम को भी सुश्रिष्या श्री कुसुमवती म. सा. ने उज्ज्वल कीर्तिमय किया है जिसका समाज को गौरव है।

साध्वी श्री कुसुमवतीजी ने छोटी उमर में दीक्षा ग्रहण करके अनेकों भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है एवं आगम सूत्रों व धार्मिक कई थोकड़ों आदि की जानकारी में भी सफलता प्राप्त की है। इसके अलावा व्याख्यान शैली भी बहुत ही मधुर व जोशीली तथा समयानुकूल उपयोगी है जिससे जनता मुग्ध हो जाती है।

आपने शरीर से टुबले-पतले होते हुए भी देश-देशान्तरों, अनेकों प्रान्तों में जबरदस्त भ्रमण करके धर्म प्रचार किया है जो कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है।

अतः अ० भा० समग्र जैन चातुर्मास सूची प्रकाशन परिषद आपके दीर्घायु की शुभकामना करता है।



प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

सागर वर गम्भीरा

—पदमचन्द्र जैन,
दिल्ली

नदियाँ अपना नीर स्वयं नहीं पीतीं, वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते। इनका नीर या फल-फूल सभी कुछ दूसरों के लिए ही होता है। इसी प्रकार संत भी परोपकार के लिए अपना सौरभ यत्र-तत्र सर्वत्र बिखेरते चलते हैं। वे जहाँ जाते हैं, अपने तप संयम की अभिवृद्धि करते हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप भगवान की वाणी का अमृत पान कराते चलते हैं। उनके जीवन का उद्देश्य ही प्राणीमात्र का कल्याण करना और आत्म-वैभव से सम्पन्न होना और कराना ही होता है।

महासती श्रीकुसुमवतीजी महाराज का व्यक्तित्व अत्यन्त सहज और सरल है। भोलापन और आत्मीयता से ओत प्रोत है। करुणा से भरपूर है। आँखों में ज्ञान की एक अजीब सी गहनता है। दूरदर्शिता से सम्पन्न है। गुण श्राद्धता के साथ क्षमा-शान्ति का अद्भुत मिश्रण है। सबके प्रति सम्माननीय भाव रखना आपकी स्वाभाविक गरिमा है।

वट का बीज चाहे छोटा ही होता है परन्तु उसमें एक विशाल वृक्ष की सत्ता है उसी प्रकार महासतीजी का शारीरिक संस्थान चाहे बाह्य दृष्टि से विशालता प्राप्त नहीं है, विशेष शक्त भी नहीं दिखता, परन्तु आपका आत्म-विश्वास, ज्ञान का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं तप-संयम की निष्ठा प्रशंसनीय है। व्यक्ति को पहचानने की आपकी क्षमता अद्भुत है तथा विशाल है इसीलिए महासती जी के चरणों में आने वाला कोई भी व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

महासतीजी का आगमिक अध्ययन तथा दर्शन शास्त्र पर पर्याप्त अधिकार है। प्राकृत,

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

संस्कृत, अध्यागम्यो, हिन्दी आदि भाषाओं पर आपका अच्छा अधिकार है। यही कारण है कि आज आपका सतीवर्ग विद्वान ही नहीं, आगमों में, दर्शन (दार्शनिक-अध्ययन) में, चिन्तन मनन में और साधवी चर्या के प्रति पूर्ण जागरूक है।

समस्त स्थानकवासी समाज को ऐसी विदुषो, सरल-आत्मा एवं कर्तव्यपरायण महासतीजी के सान्निध्य के नाते, श्रद्धावन्त होकर बधाई प्रेषित करते हुए, शासन की प्रभावना हो, संयम के प्रति निष्ठा एवं जागरूकता बनी रहे और भव्य-जीव सदा-सदा प्रतिबोध पाकर आत्म-कल्याण करते रहें। ऐसी कामना करता हूँ।

सुमनाञ्जलि

—रणजीतसिंह सियाल,
उदयपुर

मैंने कभी कोई लेख लिखा नहीं लेकिन आज अन्तर हृदय की भावना कुछ लिखने को प्रेरित कर रही है। महासती कुसुमवतीजी मेरी भुआजी की पुत्री, वहन है।

बचपन में उनके सुन्दर संस्कार और उनका असीम वात्सल्य मुझे मिला। मेरे पूज्य पिताश्री कन्हैयालालजी सियाल जिनका जीवन सिद्धान्त-परक और नीतिनिष्ठ था। मेरी पूजनीया मातेश्वरी चौथबाई जो धर्मनिष्ठ श्रद्धालु श्राविका थीं जिनके जीवन के कण-कण और मन के अणु-अणु में धर्म की भावना बहती थी। मेरे पिताश्री की बहिन सोहनबाई का विवाह देलवाड़ा किया। वे उदयपुर गये थे। उनके एक लड़का और एक लड़की दो सन्तान हुई। शादी को पाँच वर्ष ही हुए थे कि भरी (जवानी में २१ वर्ष की उम्र में वे विधवा हो गई थीं। लड़का भी मर गया। विपत्ति पर विपत्तियाँ आयीं। मेरे पिताश्री उनको पोहर ले आये।

सोहनबाई अपनी पुत्री नजर के साथ पोहर में

दुख के दिन व्यतीत कर रही थी। नजर जब ७-८ वर्ष की थी तब मेरा जन्म हुआ। मेरे जन्म से नजर को बहुत खुशी हुई। वे मुझे खिलाती लाड़ लड़ाती और छोटे भाई को लाड़-प्यार करने का आनन्द लेती। मेरी मातुश्री और भुआजी बताया करती थी कि नन्दे हाथ तुझे उठाने में समर्थ नहीं थे फिर भी उठाये उठाये घूमती।

जब मैं दो ढाई वर्ष का था तब दीदी नजर ने एवं भुआजी ने दीक्षा लेने की ठान ली। मेरे पिता श्री का अपनी भानजी नजर पर अत्यधिक स्नेह था वे उनको अपनी पुत्री से भी अधिक प्यार करते थे वे किसी भी स्थिति में उनको दीक्षा दिलाना नहीं चाहते, मेरे पिताश्री ने दीक्षा रुकवाने के कई प्रयास किये पर उनकी वैराग्य भावना बहुत प्रबल थी। माता की आज्ञा प्राप्त हो गई थी और माँ ने समु-राल से आज्ञा ले ली। इस प्रकार रोकने के सारे प्रयास विफल हो गये और संवत् १६६३ फाल्गुन शुक्ला दशमी को दोनों माता-पुत्री ने दीक्षा ले ली। दीक्षा लेने पर नजर कुमारी महासती कुसुमवतीजी के नाम से विश्रुत हुई तथा मेरी भुआजी कैलाश-कुंवर के नाम से प्रसिद्ध हुई।

भुआ महाराज कैलाशकुंवर जी बड़े ही धीर-वीर गम्भीर थे। विचक्षण बुद्धि के धारक थे। सम-यज्ञ थे। ज्ञान-ध्यान साधना में अपने जीवन को तन्मय बना दिया। बहुत ही सेवाभावी थे। उन्होंने अनेक साध्वियों की सेवा करी।

पूज्या कुसुमवती जी महाराज के जीवन के निर्माण में उनका अपूर्व योगदान रहा है। वे छाया की तरह उनके सुख-दुख में साथ रहीं। उनका अपार वात्सल्य उनकी पुत्री को तो मिला ही, मुझे भी कम नहीं मिला। मेरा लालन-पालन उनके ही हाथों हुआ।

पूज्या कुसुमवतीजी महाराज साधना-पथ की अमर साधिका बनीं। उनके महान जीवन से प्रभा-वित होकर हमारी छोटी बहिन स्नेहलता कुमारी

ने भी विक्रम संवत् २०३० कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन उनके पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की जो आज दिव्यप्रभा जी के नाम से विश्रुत है तथा एम. ए. पी-एच. डी. की उपाधि से अलंकृत हैं।

इस प्रकार तीनों ने संघम मार्ग स्वीकार कर हमारे परिवार की गौरव-गरिमा में चार चाँद लगाये हैं, तीनों ने जिनशासन की प्रभावना की है। आज हमें गौरव है कि हमारे परिवार में ऐसी तेजस्वी सतियाँ हुईं जिनका विश्व में नाम चमक रहा है।

मेरे पिताश्री का स्वर्गवास दिव्यप्रभाजी की दीक्षा के २० दिन पूर्व हुआ था और मातुश्री का स्वर्गवास दो वर्ष पूर्व हुआ। मेरी मातुश्री की पूज्या कुसुमवतीजी म० पर असीम श्रद्धा थी। वे उनके लिए तन-मन-धन सब न्योछावर करने को तैयार थीं। इसी श्रद्धातिरेक के कारण उन्होंने अपनी लाड़ली बेटी दिव्यप्रभाजी को उनकी सेवा के लिये (अनेक परीषद्दों को स्वयं सहन करते) सहर्ष सम-पित्त किया।

मैंने अनेक बार पूज्या महासतीश्री के दर्शन किये हैं, प्रवचन सुने हैं। उनके दर्शन मन आत्मा को असीम शान्ति प्रदान करते हैं, उनकी वाणी भवों-भवों के पाप और ताप का हरण करने वाली है। आपने दीक्षा जयन्ती के ५० वसन्त पार कर लिए हैं, दीक्षा स्वर्ण जयन्ती की इस मंगलवेला में मैं अपनी ओर से, अपने परिवार की ओर से अनन्त-अनन्त श्रद्धा समर्पित करता हूँ और यही मंगल कामना करता हूँ कि आप दीर्घायु हों हमारे कुल एवं जिन शासन को दिपाते रहें।

□□—

जल ज्यों-ज्यों स्वच्छ होता है, त्यों त्यों उसमें प्रति-विम्ब स्पष्टतया दीखने लगता है। मन ज्यों-ज्यों निर्मल होता है त्यों-त्यों उसमें ज्ञान उद्भासित होने लगता है।

—माचार्य मद्रबाहु

□□

शत-शत वन्दन

—ऋषभ जैन, अलवर

जीवन कण-कण हुआ सुपावन,
अणु-अणु में मधु ऋतु छाई ।
स्वर्ण जयन्ति अवसर पर,
कुसुमाकर श्री महिमा गाई ।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के शुभ अवसर पर अभि-
वन्दन एवं अभिनन्दन की पावन क्षणिकाओं में परम
विदुषी, बालब्रह्मचारिणी, चारित्र्य चूड़ामणि, अध्या-
त्मयोगिनी, आगम अध्येता, प्रवचन भूषण, पूज्य
सतीवर्या श्री कुसुमवतीजी म० सा० के पावन चरण
सरोजों में अपनी आकांक्षाओं के अक्षत अपित करने
का सौभाग्य प्राप्त कर अत्यन्त ही आनन्द हो रहा
है ।

भारतीय आध्यात्मिक साधकों की गौरव-गाथाएँ
(Golden deeds) एक से एक सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण
रही हैं। वे सुख में रहे हों या दुःख में, फूलों की
सेज पर अथवा काँटों की तीक्ष्ण धार पर, उनकी
साधना अक्षुण्ण एवं अविरल रही है, उनका जीवन
सारभौम होता है। प्राणी मात्र के प्रति उनके मन में
कल्याण कामना रहती है, वाणी सर्वोद्देश्य एवं व्यव-
हार प्रेममय होता है ।

पाश्चात्य देशों में जिस प्रकार अमेरिका को
घन का, ब्रिटेन को राजनीति का, फ्रांस को सुन्दर-
तम नगरों का, जापान को देशभक्ति का और जर्मनी
को वैज्ञानिक शक्ति का गर्व है उससे भी अधिक
भारत को गर्व एवं गौरव है अपनी धार्मिक संस्कृति,
संत, सती परम्परा एवं आध्यात्मिक विकास का ।

ऐसे आध्यात्मिक साधकों का जीवन प्रकाश
स्तम्भ बनकर आलोकित कर देता है जन मन को ।
अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से चमत्कृत ही नहीं
करते बल्कि युगों-युगों तक महका देते हैं आलोक
को अपनी सौरभ से । उनकी यशोकीर्ति से सभी

दिशाएँ परिपूरित हो जाती हैं और कण-कण पावन
हो जाता है उनके अवतरण से ।

व्यक्ति की महिमा है उसके व्यक्तित्व और
कृतित्व से । समाज, देश व जाति पर उसका प्रभाव
नहीं पड़ता किन्तु पड़ता है उसके व्यक्तित्व और
कृतित्व का । सूर्य गगनमण्डल में गमकता है किन्तु
उसकी रश्मियाँ किरणें भूतल को प्रकाशित कर
देती हैं, चमका देती हैं, विराट बना देती हैं उसके
महत्त्व को, इसी प्रकार सद्गुणों की सौरभ जीवन
को महतो महीयान बना देती है ।

सतीवर्या श्री कुसुमवतीजी म० सा० भी ऐसी
ही उच्चकोटि की सती हैं । आपने अनेक बाधाओं,
झंझावतों, कष्टों को सहन कर अपनी आकांक्षाओं,
अरमानों, कामनाओं एवं वासनाओं की होली जला
कर निरपेक्ष भाव से अपनी साधना को अक्षुण्ण
बनाये रखा है । आपकी साधना-आराधना अनुपम
है, अद्वितीय है । सती श्री के हृदय की निर्मलता,
मन की विराटता, अन्तःकरण की उदारता, बुद्धि
की विवेकशीलता, करुणा की संवेदनशीलता, आनन
की सरलता इतनी महान है कि शब्दों द्वारा व्यक्त
नहीं की जा सकती । और इसीलिए आप श्रद्धेय,
आदरणीय एवं उपास्य बनी हुई हैं जन-जन को ।

आपका निरन्तर स्वाध्याय, श्रावक-श्राविकाओं
की शंका का समाधान, शिष्य परिवार का स्नेहभरा
संरक्षण और मानव मन को झकझोर देने वाला
ओजस्वी प्रवचन अत्यन्त ही प्रभावशाली रहता है ।
आपकी साधना एवं आराधना की विशेषताओं
से प्रभावित हो उदयपुर श्रीसंघ ने आपको 'अध्या-
त्मयोगिनी' पद से विभूषित किया । तलस्पर्शी,
ओजस्वी भाषणों एवं प्रवचनों की महिमा कुसुम के
सौरभ की भाँति चहुँ ओर प्रसारित हुई देख ब्याबर
संघ ने आपको 'प्रवचन-भूषण' की उपाधि से अलंकृत
किया ।

ऐसी प्रतिभाशाली सती श्री के जीवन की प्रार-
म्भिक रेखाओं का दिग्दर्शन करने की इच्छा किसे
न होगी, सद्भाग्य से ऐसी सतियों के दर्शन होते हैं ।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

७६

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

वन्दना के स्वर

—श्रीमती प्रमिला मेहता, एम. ए., बी. एड.

हमारे परिवार में सम्बत् १९८२ को एक प्रकाश किरण का पदार्पण हुआ। वह किरण मात्र किरण न रहकर प्रकाश पुञ्ज बन गई। जिसने केवल घर में ही नहीं, सम्पूर्ण जगत् में धर्म का प्रकाश फैलाया। हम सबको हमारे परिवार से निकलो इस अलौकिक ज्योति पर गर्व है। वह ज्योति है—परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवतीजी म.।

आपने अपनी मातेश्वरी श्री कैलाशकुंवरजी महाराज के साथ दीक्षा-ग्रहण की। श्री कैलाशकुंवरजी महाराज मेरे पिताश्री यशवन्तसिंहजी सियाल की भुआजी तथा मेरे दादाजी श्री कन्हैयालालजी सियाल की बहिन थीं।

पूज्य कैलाशकुंवरजी महाराज आज हमारे मध्य नहीं रहे। लेकिन अपनी अमूल्य धरोहर पूज्य श्री कुसुमवतीजी महाराज को समाज को समर्पित कर गई है।

पूज्य कुसुमवतीजी महाराज ने भगवान महावीर के पथ पर अग्रसर होकर ज्ञान, ध्यान, तप, शील, सदाचार आदि की कठिन साधना की। उनका जैसा नाम है 'कुसुम' उसी के अनुरूप ही वे अपनी सूरभि फैला रही हैं। जिस प्रकार फूल की सुगन्ध से आकर्षित होकर भंवरे बिना बुलाये ही फूल पर मंडराते हैं ठीक उसी प्रकार आपके गुण सौरभ से आकर्षित होकर अनेक लोग आपके भक्त बन गये हैं।

श्रमणसंघ के क्षितिज पर इस ज्योतिपुञ्ज चंद्र के साथ अनेक सुशोभित सितारे भी उदित हुए हैं। उनमें से एक हैं—पूज्याश्री दिव्यप्रभाजी जो संसारपक्षीय मेरी भुआ है। उन्होंने आपके पावन सान्निध्य को प्राप्त कर अपना जीवन उज्ज्वल बना लिया। वे राजस्थान विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम. ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हैं तथा जैनाचार्य सिद्धार्थि की महत्त्वपूर्ण कृति 'उपमिति भव प्रपंच कथा' पर Ph. D. की उपाधि प्राप्त हैं। वे अपनी दिव्य आभा से संसार को आलोकित कर रही हैं।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

आपकी साधना एवं आराधना तथा धार्मिक ज्ञान-ध्यान-तप-संयम की सौरभ से प्रभावित हो आपकी शिष्या प्रशिष्या भी कोई कम चमकते सितारे नहीं हैं। सतीश्री चारित्रप्रभाजी, श्री दिव्यप्रभाजी, श्री गरिमाजी आदि के संयमनिष्ठ जीवन ज्ञान-ध्यान तप-संयम की आराधना तथा सम्मानित उपाधियाँ, विद्वतडिग्रियों का कहीं तक उल्लेख किया जावे, अद्वितीय है। यथानाम तथागुणों से भी सभी सम्पन्न विभूतियाँ हैं जिनकी महिमा अत्यन्त महत्वशाली है। आपकी ममेरी बहिन श्री दिव्यप्रभाजी भी आपके पास ही दीक्षित हैं—आपने अच्छा ज्ञानार्जन किया है और आप जैन जगत की एक दीप्तमान अलौकिक सती हैं—ऊपर की पंक्तियों में आपका उल्लेख आया हुआ है।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के शुभ प्रसंग पर शत-शत वन्दन करते हुए आपश्री की दीर्घ आयु की शुभकामना करता हूँ साथ ही शासनेश से प्रार्थना है कि सती श्री के जीवन से जैन समाज को आलोक एवं सन्मार्ग प्राप्त होता रहे इन्हीं शुभकामनाओं के साथ शत-शत वन्दन, अभिवन्दन एवं अभिनन्दन। हे श्रमण संस्कृति के दिव्य रत्न,

तुम अवन्तिल पर चमको ।

जैन जगत के दिव्य भाल पर--

चन्द्र सूर्य सम दमको ॥

एवं

जैन जगत के लिये आपश्री

मंगलमय वरदान बनो ।

श्रावक जन सब करें कामना

जैन जग के भव त्राण बनो ॥



ऐसी महान् विभूतियों पर हमारे परिवार को गौरव है। महासतीजी के सयंमाराधना के ५३ वर्ष सफलतापूर्वक सम्पूर्ण होने की खुशी में हम परिवारिकजन हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

उनके जीवन का कण-कण शीतल निरंतर की तरह प्रवाहित हो रहा है। उसकी शीतल बयार से जगत को आनन्द की अनुभूति होती रहे। उनके जीवनरूपी वटवृक्ष की अनेक शाखायें, प्रशाखायें पुष्पित पल्लवित हों, खूब फलें-फूलें और उन्नति के शिखर पर पहुँचें, यही हमारी शुभकामना है।

उनकी दोक्षा अर्द्धशती के पावन प्रसंग पर हमारा पूरा परिवार हार्दिक अभिनन्दन करता है। ❀

वंदना-अर्चना

—श्री फूलचन्द जैन सर्राफ, कांधला

महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. चारित्रवान, ज्ञानवान, दृढसंयमी ही नहीं बल्कि एक सुलझी हुई वक्ता भी हैं। उनकी व्याख्यान शैली ऐसी है जिसका असर कानों तक ही नहीं बल्कि हृदय पर भी होता है। वे अति-मधुरभाषिणी हैं।

करीबन दस साल पहले सन् ८० में राजस्थान से पानीपत आई थी तब कांधला श्री संघ की विनती स्वीकार कर कांधला पधारी थीं। उस समय मुझे आपके चरणों में बैठने का सौभाग्य मिला। मैंने बहुत नजदीक से देखा और परखा कि आप इतनी दृढसंयमी और प्रकाण्ड-विद्वान होने के बावजूद बच्चे जैसी सरल हैं। ऐसी सरल महासती जी के लिए हमारे दिल में अगाह श्रद्धा है। सरल आत्माएँ ही निकट अवतारी होती हैं।

ऐसी महासतीजी म. सा. के पावन चरण-कमलों में कोटि-कोटि वन्दन करते हुए शासन-देव से प्रार्थना करता हूँ कि आप दीर्घायु हों और आपके ज्ञान, ध्यान, संयम, चारित्र, स्वास्थ्य में खूब वृद्धि हो, आप सदा प्रसन्नचित्त रहें। मुझ पर तथा मेरे परिवार पर सदा की भाँति आपकी कृपा दृष्टि रहेगी ऐसी आशा ही नहीं पूरा विश्वास है। ☪

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

सरलता एवं त्याग की प्रतिमूर्ति महासती कुसुमवती जी का जीवन-दर्शन

—कन्हैयालाल गौड़, एस. ए. सा. रत्न

मेरी भाषा तेरे विचार।

मैं तो निमित्त-भर हूँ,

तू ही दे रही जगत् को धर्मसार ॥

भगवान् महावीर के विराट् ज्ञानालोक ने अध्यात्मवाद को नया स्वर दिया, 'जे एग जाणई से सब्ब जाणइ' एक आत्मा को जानने वाला सब कुछ जान लेता है। आया सामाईए—आत्मा ही सामायिक-समता का अधिष्ठान है, यही तप है, यही संयम है, यही ज्ञान है।

धर्म और दर्शन का आधार बिन्दु मनुष्य का अध्यात्म-जीवन है। जब तक मनुष्य भौतिकवाद में भटकता रहता है, तब तक उसे सुख, शान्ति और सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति का लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है; संघर्ष नहीं शान्ति है, विषमता नहीं समता है; विषाद नहीं आनन्द है। जीवन की आधारशिला भोग को मान लेने पर जीवन का विकास नहीं, विनाश हो जाता है। जीवन के संरक्षण, सम्बर्द्धन और विकास के लिए आध्यात्मिकता का होना नितान्त आवश्यक है।

साधक की साधना एक सत्य की साधना है। सत्य के मूल स्वरूप को पकड़ना ही साधक जीवन का मुख्य उद्देश्य है। सत्य अनन्त होता है। भारतीय संस्कृति में और विशेष रूप से अध्यात्मवादी दर्शन में मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना ही माना गया है। भव बन्धनों से विमुक्त होने के लिए तत्त्वज्ञान की नितान्त आवश्यकता रहती है। जैन-दर्शन में मोक्ष जीवन की पवित्रता का अन्तिम परिपाक, रस और लक्ष्य है। देह की आसक्ति और वासना के बन्धन को छोड़ना ही मुक्ति है। प्रत्येक आत्मा में परमात्म-ज्योति विद्यमान है। प्रत्येक चेतन में परम चेतन विराजमान है।

जैन-दर्शन का तत्त्व-चिन्तन उस ज्योति प्रकाश और परमात्म-तत्त्व को खोज कहीं बाहर नहीं, अपने भीतर ही करता है। वह कहता है कि अप्पा सो परमप्पा अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। 'तत्त्व-मसि' का अर्थ भी यही है कि आत्मा केवल आत्मा ही नहीं है, बल्कि वह स्वयं परमात्मा है, परब्रह्म है और ईश्वर है। आवश्यकता है अपने को जागृत करने की और आवरण को दूर फेंक देने की। सरलता एवं त्याग की प्रतिमूर्ति महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. का ज्ञान सागर-सा विशाल है, पर उस ज्ञान का गर्व नहीं है। इनके विचार में भारतीय दर्शन कहता है कि जगत् की कोई भी आत्मा भले ही वह अपने जीवन के कितने ही नीचे स्तर पर क्यों न हो, भूल कर भी उससे घृणा और द्वेष मत करो। क्योंकि न जाने कब उस आत्मा में परमात्म-भाव की जागृति हो जाये। इनके विचारों में विकारों से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है। जीव-मुक्ति का अर्थ है—जीवन के रहते हुए ही शरीर और श्वासों के चलते हुए ही काम, क्रोध आदि विकारों से यह आत्मा सर्वथा मुक्त हो जाये। इनका कथन है—जैन-दर्शन के अनुसार राग एवं द्वेष आदि कषायों को सर्वथा क्षय कर देना ही मुक्ति है। राग एवं द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिए ही प्राणी संयम मार्ग की ओर प्रस्थान करता है।

वैराग्य का बीजांकुर

बाल्यकाल से ही महासतीजी के बालमन पर वैराग्य का बीजांकुर प्रस्फुटित होने लगा था, पर उसे आवश्यकता थी आधार की। बिना आधार के बीज भी अंकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना मार्गदर्शक के संयमव्रत ग्रहण नहीं किया जा सकता। फिर इनका जन्म तो संसार के उपकार के लिए हुआ है न कि गृह की चारदीवारी में बन्द रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिए। किसी को विश्वास भी नहीं था कि कुसुम-सी कोमल बालिका संयम के कठोर मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण के साथ-साथ जग-कल्याण के लिए निकल

पड़ेगी। जिस दिन यह अवसर आया, सभी आश्चर्य-चकित थे। चंचल पवन क्षण-भर ठहरकर पुनः समाचार देने चल पड़ा था।

सन्तों का तो सहज-स्वभाव ही परोपकार करना होता है। सन्तों के विषय में किसी कवि का यह कथन कितना सटीक है—

“पद्माकपं {दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति,
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगा ॥”

अर्थात्—तालाब के पुष्पों को सूर्य विकसित करता है, चन्द्रमा कुमुद समूह को खिला देता है। बादल भी इसी प्रकार बिना प्रार्थना के ही जल बरसा कर सृष्टि को हरी-भरी कर दिया करते हैं, उक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि संसार की सन्तात्माएँ स्वभाव से ही परोपकार के लिए कृत-निश्चय होती हैं।

बाल्यावस्था में बालक के कोरे मन पर जो वैराग्य का रंग चढ़ जाये तो वह जीवन-पर्यन्त उतर नहीं सकता। बाल्यकाल में पड़े संस्कार आजीवन जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। किसी कवि ने कहा है—‘यन्नवे भाजने लग्नः, संस्कारोनाज्यथा भवेत्’ वृद्धावस्था का वैराग्य उत्तम वैराग्य नहीं होता, क्योंकि उस आयु में संस्कारों में परिवर्तन लाता अत्यन्त कठिन है। इस भाव को दृष्टि में रखकर यह कहना कि बाल्यकाल में लिया गया वैराग्य ही वास्तव में धर्म के महान रथ को खींच सकता है, वृद्धावस्था का वैराग्य नहीं, सर्वथा उचित प्रतीत होता है। बालकों से धर्म के उद्धार की अधिक आशा की जा सकती है।

आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति बिना दुःखों को सहन किये सम्भव नहीं। सन्त शिरोमणि श्रीलाल-चन्द महाराज श्रमणलाल के शब्दों में—

“दुःख बिना सुख है कठे,
मुख बिना ज्यों नहीं बोल।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

मैं रख जोड़ी धर्म सूँ,
अब कित झुकतो तोल ।”

अर्थात्—दुःख के बिना सहन किये सुख कहाँ रखा है ? दुःख के बिना सुख वैसे ही सम्भव नहीं जैसे मुख के बिना वाणी सम्भव नहीं । मैंने तो अपना नाता धर्म से जोड़ दिया है, मैं अधिक तोलने वाला नहीं हूँ, अर्थात् मैं आत्मकल्याण के मार्ग से विचलित होने वाला नहीं हूँ ।

साध्वी के रूप में बिना गुरु की शुश्रूषा के, बिना गुरु की कृपा से, बिना गुरु के आशीर्वाद से परमपद की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? किसी आचार्य की यह उक्ति सत्याधारित है—

“बिना हि गुर्वादिशेन सम्पूर्णाः सिद्धयः कुतः”

अर्थात्—कैसे मिल सकती हैं सम्पूर्ण सिद्धियाँ बिना गुरु के अनुशासन से ? महासती श्री सोहन कुंवरजी साध्वी बालिका को अनेक प्रकार की वैराग्य की कहानियाँ सुनाती थीं, जिससे आध्यात्मिक जीवन के उच्च, उच्चतर और उच्चतम मोपानों पर चढ़ने के लिए उनके संस्कार सुदृढ़ बनें, उनका बौद्धिक विकास हो और उनके मन में धर्म के प्रति स्थिरता और दृढ़ता आये । समय की प्रगति के साथ-साथ गुरुकृपा से साध्वी का श्रुत-ज्ञान भी प्रगति पथ पर था । विहार में जैसे-जैसे सती मण्डल के चरण आगे बढ़ते जा रहे थे, वैसे-वैसे साध्वी कुसुमवती के संस्कार भी धर्म-क्षेत्र में आगे बढ़ते जा रहे थे । इस समय उनकी आयु मात्र तेरह वर्ष की थी ।

अध्ययन—नवदीक्षित साध्वी श्री कुसुमवती की प्रतिभा से प्रभावित होकर गुरुणी महासती श्री सोहनकुंवरजी ने तिथिवार की शुद्धि देखकर विद्या का आरम्भ भी करा दिया था ।

महासती श्री सोहनकुंवरजी को साध्वी श्री कुसुमवती जैसी शिष्या मिलीं जो सुयोग्य शिष्या के सभी गुणों से सम्पन्न हैं । सुयोग्य शिष्या के गुणों का निर्देश करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

गुर्वाज्ञा करणं हि सर्वगुणैभ्योऽतिरिच्यते ।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष० १/६

अर्थात् गुरु की आज्ञा मानने का गुण शिष्य में सब गुणों से बढ़कर होता है ।

गुणों का जनक है ज्ञान, इसी कारण जेनागमों में ज्ञान को प्रथम स्थान दिया गया है—

“पढम नाणं तभो दया”

और ज्ञान की जननी विद्या है । महासती साध्वी श्री कुसुमवतीजी ने गुरुणी महासती श्री सोहनकुंवरजी के चरणों में बैठकर प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं का अध्ययन किया । जेनागम ग्रन्थों और सिद्धान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय की भी ज्ञाता हैं । प्रखर प्रतिभाशाली होने के कारण निरन्तर अध्ययन, चिन्तन और मनन द्वारा अपने ज्ञान का विकास किया और कर रही है ।

व्यक्तित्व निर्माण—महासती श्री कुसुमवतीजी एक ऐसी महान आत्मा है जिन्होंने दीक्षित होने के पश्चात् पंच महाव्रतों के (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) पालन के द्वारा कर्मों की उत्तरोत्तर निर्जरा करते हुए अपने सहज गुणों को पहचान कर, अपने महान व्यक्तित्व का निर्माण किया । ऐसा व्यक्तित्व जिसने बड़े से छोटे तक सब को प्रभावित किया और स्वयं न तो विश्व के प्रलोभनों से और न किसी व्यक्ति के तर्क, मान-सम्मान से ही प्रभावित हुई ।

प्रवचन-शैली—प्रवचन में रोचकता, धारावाहिक वाणी में ओजस्विता, शैली में माधुर्यता । इतना सब कुछ होने पर भी प्रवचन में पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं, शैली में बनावट नहीं । दो दिन प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला ! धर्म का विवेचन करते हुए कहती हैं—

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवावि तं नमसंति, जस्स धम्मो सया मणो ॥

—दशवं सू. १/१

अर्थात्—संसार का सबसे उत्कृष्ट तत्त्व या

८३

मानव कर्तव्य है, धर्म का पालन करना और इस धर्म की साधना, अहिंसा, संयम और तपश्चर्या द्वारा होती है। जिस प्राणी का मन सदा धर्म में निरत रहता है, उनको तो देवता भी नमस्कार करते हैं।

धर्म से बढ़कर दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए उसको कोई शरण देने वाला इस जग में नहीं है, शास्त्र का कथन है—

जरा मरण वेगेण, बुज्जमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो, पइट्ठाय गई सरणमुत्तमं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र २३/८८

अर्थात् जरा और मरण के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों की रक्षा के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा का आधार है, गति है और उत्तम शरण है।

धर्मो बन्धुश्च मित्रश्च धर्मोऽयं गुरुरंगिनाम् ।
तरमाद् धर्मं मतिं धत्स्व स्वर्मोक्ष सुखदायिनि ॥

—आदिपुराण १०/१०६

अर्थात् धर्म ही मनुष्य का सच्चा बन्धु है, मित्र है और गुरु है। इसलिए स्वर्ग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति कराने वाले धर्म में अपनी बुद्धि को स्थिर रखो।

सम्बत्सरी पर्व पर क्रोध विषय पर प्रवचन दे तो क्रोध की व्याख्या करते हुए कहती हैं—

कोहं माणं च मायां च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥

—दशवैकालिक ८/३७

अर्थात्—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय पाप की वृद्धि करने वाले हैं, अतः अपनी आत्मा का हित चाहने वाला साधक इनका परि-त्याग कर दे।

मनुष्य को जब क्रोध आता है तो उसके शरीर में क्रोध के सारे चिह्न प्रकट हो जाते हैं। ओठों में फड़फड़ाहट आरम्भ हो जाती है, आँखें लाल हो जाती हैं और नसों में रक्त का प्रवाह तीव्रगति

पकड़ जाता है। क्रोधी व्यक्ति सामने आने वाले प्रतिपक्षी को चुनौती देने लगता है।

शास्त्रकारों ने क्रोध के चार प्रकारों का उल्लेख किया है, पहला वह जो उत्पत्ति से अन्त तक ज्यों का त्यों बना रहे। क्रोध की दूसरी अवस्था एक वर्ष तक एक-सी रहती है। तीसरे प्रकार का क्रोध चार मास पर्यन्त एक-सा रहता है। चार माह पश्चात् क्रोध की प्रकृति समाप्त हो जाती है। क्रोधी व्यक्ति के मन में महान परिवर्तन आ जाता है। चौथे प्रकार के क्रोध की स्थिति केवल पन्द्रह दिन तक ही रहती है। यह पानी की लकीर का-सा क्रोध प्रायः उत्तम व्यक्तियों में ही देखने को मिलता है।

सरल स्वभावी महासती श्री कुसुमवती जी की दीक्षा स्वर्ण-जयन्ती के पावन प्रसंग पर वीरप्रभु से दीर्घायु की कामना करता है।

५

मेरा प्रणाम

—नेमीचन्द्र जैन, मेडता सिटी

जैनधर्म त्यागप्रधान धर्म है, दान शील तप भाव का धर्म है, जैन साधु साध्वीगण अपना सम्पूर्ण जीवन इसी तप त्याग के लिए अर्पित करते हैं। परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी महाराज जिन शासन को उद्योतित करने वाली महान साध्वी रत्न हैं।

आपके २०४१ के मेडता सिटी के चातुर्मास में मुझे भी सत्संग प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, लम्बे समय तक सम्पर्क में रहकर मैंने पाया कि आप भीतर बाहर से एकदम सरल हैं, आपकी वाणी में ओज है, तेज है। सिंहगर्जनावत् आपके प्रवचन के प्रखर व ओजस्वी शब्द श्रोताओं के हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं। आप संयमनिष्ठ साधिका हैं। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पावन अवसर पर शतशः नमन करता हुआ यही शुभ कामनाएँ अर्पित करता हूँ कि आप शतायु बनें और समाज को सदा मार्ग-दर्शन प्रदान करते रहें।

○

प्रथम खण्ड : श्रद्धाचंदा

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

शत-शत प्रणाम

—श्रीचन्द डोसी
(अध्यक्ष, मेडता श्रावक संघ)

भगवान महावीर ने ४ प्रकार के तीर्थ प्ररूपित किये हैं—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका। हजारों वर्षों से आज भी यह तीर्थ भगवान महावीर के बताये गये त्याग मार्ग पर चलता आया है और आज भी स्थान-स्थान पर पूज्य मुनिराजों के श्रावक सघों द्वारा चातुर्मास कराये जाते हैं। हमारे श्रावक संघ का परम सोभाग्य रहा कि २०४१ में पूज्या महासती जी का चातुर्मास प्राप्त हुआ, उस चातुर्मास में दान-शील-तप-भाव की अपूर्व प्रभावना हुई। यह सब आपकी ओजस्वी मधुर वाणी का प्रताप था, आपकी प्रवचन कला मन-मोहक है, उसमें तात्विक ज्ञान के साथ ही जीवन जीने की कला का भी विश्लेषण होता है। जीवन व्यवहार के अनेक पहलुओं पर महासती जी प्रकाश डालती हैं जिससे जीवन में सुख और शान्ति का संचार होता है। आपका मधुर व्यवहार चुम्बक की तरह हर व्यक्ति को आकर्षित करता है।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस सुनहरे अवसर पर मैं अपनी ओर से अपने परिवार व समाज की ओर से आपके श्री चरणों में कोटिशः वन्दन करता हुआ यही शासनेश प्रभु महावीर से प्रार्थना करता हूँ कि आप चिरायु हों और जन-जन के मन में स्नेह सद्भाव सत्य अहिंसा की सरिता प्रवाहित करते रहें।

श्रद्धा सुमन

—नाथुलाल चण्डालिया, कपासन

परम श्रद्धेय मधुर एवं प्रेरणादायक प्रवचन भूषण विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी म० की दीक्षा स्वर्णजयन्ती के उपलक्ष्य में समाज द्वारा साध्वी जी के श्रद्धा सुमन के रूप में अभिनन्दन ग्रंथ

के प्रकाशन करने के सकारात्मक प्रयत्न जारी हैं। श्रद्धेय महासती जी जैसा नाम वैसा ही गुण वाली कहावत चरितार्थ करती हुयी समाज को ऊँचा उठाने में, मार्ग भूले हुए पथिकों को सत्य मार्ग बतलाते हुए दान दया के शुभ कार्य कराते हुए हजारों को सद्प्रेरणाएँ प्रदान की हैं।

आपकी वाणी में जो प्रभावशाली हृदय को छूने वाली शक्ति रही है, उससे भक्तबन्धु आपकी वाणी से आकर्षित होकर अपने जीवन को सत्य की ओर अग्रसर करके सफलता को प्राप्त कर रहे हैं। आपकी आत्मा तो सफल है ही, अभिनन्दन की इस पुनीत वेला पर मैं अन्तर् हृदय से यही मंगल कामना कर रहा हूँ कि आप सदा स्वस्थता को प्राप्त करते हुए समाज को राह बतलाते रहें, भूले-भटके प्राणियों को भगवान महावीर के मार्ग की ओर प्रेरित करते रहें, अन्त में मैं अपनी ओर से, जैन श्रावक संघ कपासन, अखिल भारतीय जैन दिवाकर संगठन समिति, स्थानकवासी जैन कांफ़ेस दिल्ली आदि सभी की ओर से श्रद्धा सुमन समर्पित कर रहा हूँ।

कोटि-कोटि वन्दन

—कन्हैयालाल गौड़, उज्जैन

वे सद्विचार को नित जीवन में गति देती, पावन दृष्टि लिये जीवन से उलझी रहती, पथ करती सबका प्रशस्त, रखती हृदय विशाल, ही मंगलमय जीवन उनका रहे यशस्वी भाल। है जीवन दिव्य-प्रकाश युक्त देता नूतन संदेश, पाकर दर्शन उनका पूरा हो जाता जीवनका उद्देश्य, गागर में सागर भरने का, जिनमें है साहस औ क्षमता, ऐसा ही परम-विदुषी के कारण उज्जवल भारत देश। उनमें-सागर-सी गहराई, देख उसे मानवता हर्षायी, मैं-अकिंचन माटी का लघुकण करता शत-शत वन्दन, ज्ञात से अज्ञात की और ही है जीवन का परम-लक्ष्य, दीक्षा स्वर्ण-जयन्ती पर है, कोटि-कोटि अभिनन्दन।

• ❁::❁

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

८५

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

—उम्मेदमल जैन, जयपुर

—कमल मेहता, अलवर

परमादरणीया महासती श्री कुसुमवती जी म० स्थानकवासी जैन समाज की एक सुप्रसिद्ध साध्वी रत्न हैं, आपके प्रवचनों में दीन दुःखियों के लिए उदारता पूर्वक दान देने की प्रेरणा रहती है—

लाखों आते लाखों जाते,
दुनिया में वो निशानी है ।
जिसने दुःखियों की सेवा की,
उसकी अमर कहानी है ।

अगर आप दीन-दुःखियों की सहायता करेंगे, तो आपके जीवन में सभी प्रकार की शान्ति वनी रहेगी ।

जयपुर चातुर्मास में आपके इन उपदेशों से मेरे हृदय में भी सेवाकार्य की भावना जगी और जब भी मैं किसी असहाय को, दीन-दुःखियारे को आपके समीप ले गया तब आप उदारतापूर्वक श्रावकों को प्रेरणा देकर उसके लिए अन्न, वस्त्र, दवा आदि का कार्य करवा देते हैं । महात्मा गांधी ने एक स्थान पर लिखा है—सेवा मनुष्य का सब से बड़ा गुण है—दूसरे मनुष्य या मनुष्यों को शांति पहुँचाने के लिए जो काम किया जाता है वही मेरी दृष्टि से उत्तम सेवा है ।

सेवा की ऐसी साक्षात् मूर्ति साध्वी जी म. के इस दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर मैं अपनी ओर से और भगवान महावीर विकलांग समिति जयपुर के समस्त सदस्यों की ओर से शतशः वन्दन अभिनन्दन करता हूँ और प्रभु से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप दीर्घजीवी होकर हमें सदा मार्ग दर्शन प्रदान करते रहें ।

भारतभूमि कर्मभूमि ही नहीं धर्मभूमि भी रही है, इस रत्न प्रसूता वमुन्धरा ने समय-समय पर अनेक रत्न उत्पन्न किए हैं । उन्हीं रत्नों में एक रत्न है मेरी आस्था के केन्द्र पूज्या साध्वी श्री कुसुमवतीजी म० । आपका दिव्य साक्षिध्व मझे सर्व प्रथम सन् १९५० के अलवर वर्षावास के दौरान प्राप्त हुआ और आपके व्यक्तित्व से मैं इतना प्रभावित हुआ कि आज भी मंगलमूर्ति जब-जब भी आपकी मेरे आंखों के सामने तैरती रहती है । और मेरा मन श्रद्धा से नतमस्तक हो उठता है ।

आपका दिव्य जीवन साध्वोचित गुणों से युक्त, प्रदर्शन से दूर सुमेरु सदृश उच्च भेद भाव रहित और गंगाजी के सलिल के समान शीतल शुद्ध व निर्विकार है । दया क्षमा आर्जव लाघव आदि अनेकों गुणों की आप साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं, आपका जीवन महाकवि कालिदास रचित रघुवंश की निम्न पंक्तियों में सर्वथा चरितार्थ हो रहा है—

आकार सदृशः प्रज्ञः, प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमे समारम्भः, आरम्भः सदृशोदयः ॥

अर्थात् आपका जीवन आकार के समान प्रज्ञा-वाला, प्रज्ञा के सदृश आगमों के अध्ययन से युक्त आगमानुकूल आचार वाला है ।

ऐसे महान व्यक्तित्व कृतित्व की धनी साध्वी जी म० को अन्तःकरण से शतशः नमन वन्दन अभिनन्दन करता हूँ ।



जिन शासन की ज्योति

—खूबीलाल खोखावत, डबोक

परम श्रद्धेया शान्त, दांत, गुणगम्भीरा महा-गुरुणी श्री सोहन कृ. वर जी म० की प्रथम व विद्वान शिष्या पूज्या गुरुणी जी श्री कुसुमवती जी म० का हमारे डबोक गांव पर बड़ा उपकार रहा है, आपका सर्वप्रथम चातुर्मास सन् १९५७ में डबोक हुआ। उस समय आपकी मधुर व ओजस्वी वाणी से संघ में काफी उत्साह आया, श्रावक संघ की स्थापना के साथ आपकी प्रेरणा से जैन धार्मिक विद्यालय की संस्थापना हुई और यह विद्यालय आज भी निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है। आपकी प्रेरणा से स्थान स्थान पर अनेक सामाजिक व धार्मिक रचनात्मक कार्य होते रहते हैं। आप स्थानकवासी जैन समाज की प्रतिभा सम्पन्न साध्वी रत्न हैं। आपकी ही भाँति आपका शिष्या परिवार भी तेजस्वी है। दीक्षा स्वर्ण जयन्ति के इस पावन अवसर पर मैं तथा समस्त श्रावक संघ के सदस्यों की ओर से आपके चरणारविन्दों में कोटिशः वन्दन करता हुआ जिनशासनदेव से यही भूक प्रार्थना करता हूँ कि आपका स्वास्थ्य सदा स्वस्थ रहे और सदा हमें सद्प्रेरणा व आशीर्वाद प्रदान करते रहें जिससे हम धार्मिक व सामाजिक कार्यों में अपना योगदान देते रहें।

सहज-सौम्य व्यक्तित्व

—अमरचन्द मोदी, व्यावर

महापुरुषों के गुणों का वर्णन करना सहज काय नहीं है। परमपूज्य महासतीजी श्री कुसुमवतीजी म. सा. उन विशिष्ट नारीरत्नों में से एक हैं, जिनका जीवन निर्मल व महान् तथा अन्य सभी के लिए प्रथमदर्शक के रूप में है। उनके उज्ज्वल चारित्र्य की ज्योति साधना पथ पर बढ़ने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रेरणास्रोत है।

आप श्रमण संघ की वाटिका को निरन्तर शोभित कर रही हैं। आपकी छत्र-छाया में रहकर अनेक शिष्याएँ आज धर्म की प्रभावना में महत्वपूर्ण

भूमिका निभा रही हैं। इस प्रकार आपका जीवन आत्म-कल्याण व जन-कल्याण में संलग्न है। वास्तव में आपका जीवन अभिनन्दनीय है। शासनदेव से प्रार्थना है कि आप इसी प्रकार जिन शासन एवं संघ की दीर्घकाल तक सेवा करते रहें। इन्हीं शुभ-कामनाओं के साथ.....।

यथानाम तथागुण

—कमला माताजी, इन्दौर

नामकरण तो बहुत सुन्दर-सुन्दर वाक्य रचनाओं से करना मन को अति प्रियकारी लगता है, लेकिन गुणों के अभाव में वह कागजी फूलों के समान ही सुगन्धविहीन ऊपरी सुन्दरता का धारक होता है। सुगन्धयुक्त रसपान करने वाला भ्रमर निराश होकर लौट जाता है, लेकिन यहाँ तो यथा नाम तथा गुणोंयुक्त पूज्य महासतीजी श्री कुसुमवतीजी म. सा. का दीर्घकालीन साधनामय जीवन ज्ञानदर्शन चारित्र्य युक्त सौरभ को धारण किये हुए तो है ही, लेकिन चिन्तन की धाराएँ भी अत्यन्त गहरी हैं। जिस प्रकार भ्रमर अनेक फूलों के रसों को ग्रहण कर उन्हें संग्रहीत करता है और वे रस कालान्तर में शहद के रूप को धारण कर लेते हैं, शहद शक्तिवर्धक/व्याधि निवारक आदि अनेक गुणों से युक्त होता है। ठीक उसी प्रकार पूज्य महासतीजी ने अपने चिन्तन युक्त शहद का पान करवाकर जन-जन के कर्म व्याधियों को दूर किया है, भव भ्रमण करते हुए भूले-भटके प्राणियों को कर्म और आत्मा का स्वरूप समझाकर अपने स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मार्गदर्शन किया है। जहाँ कथनी और करनी में समानता होती है, वे ही आत्माएँ स्वयं संसार सागर से पार होती है और अन्य को भी पार करवाती है। ऐसी गुण सम्पन्ना पूज्य महासतीजी श्री कुसुमवतीजी म. सा. के अभिनन्दन की शुभ वेला पर श्रद्धा मुमन अर्पित करती हूँ। शत-शत वन्दन-अभिनन्दन युक्त।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

यह माथे का चन्दन है

—कवि निर्मल 'तेजस्वी', उदयपुर

अभिनन्दन करके हर्षित हम
यह माथे का चन्दन है।

गुण ग्राहकता से ही फलता है
दुनिया का नन्दन बन है।

कब चाहा था नाम सूर्य ने
तिमिर गला जग जान गया
तेजस्वी सूरज की ताकत
सारा जग पहिचान गया।

तुमने भी कब चाहा था
नाम मिले बहुमान मिले
पर कर्मठता से ही तुमको
सारे ही सम्मान मिले।

यह प्रशस्ति का गीत नहीं है
गुण का पूजन अर्चन है
अभिनन्दन करके हर्षित हम
यह माथे का चन्दन है।

उजली किरण भोर को तुम हो
गीत जागरण के नूतन
सतत प्रवाहित जल गंगा हो
श्रमण संघ की तुम भूषण।

ग्रन्थ सुधा का गागर है
या फिर बूँटी संजीवन है
अभिनन्दन करके हर्षित हम
यह माथे का चन्दन है”

मंगल दिवस अनुठा आया
आओ इसे मनाएँ हम
जीवन की जागृति के सपने
आओ सफल बनाएँ हम।

संघ एकता के आरोही
हम मंजिल तक जायेंगे
जिनवाणी के गीत अनूठे
अपनी धुन में गायेंगे।

ये जड़ता के बोल नहीं
यह सिहों का गर्जन है
अभिनन्दन”

समर्पण

—श्री हीरालाल जैन, खरड (पंजाब)

गुलिस्तां भी है उनसे आबाद वीराने भी हैं
तेरे दिवानों में कावा भी है बुतखाने भी हैं
शमां पर यूँ तो जला करते हैं परवाने सभी
शमां खुद ही जलती है जिन पे ऐसे परवाने भी हैं।

जिन्दगी लाखों की बनाई तूने
सोई तकदीर भी जगाई तूने
ज्ञान के प्यासों की है प्यास बुझाई तूने
किश्ती लाखों की किनारे पर लगाई तूने।

बाग था खुश्क उसे तूने ही आबाद किया
दिल था नाशाद उसे तूने ही शाद किया
रंग महफिल में जब आके जगाया तूने
सारे मतवालों को जब राग सुनाया तूने।

तेरे दीवाने बने तेरे परस्तार बने
तू सारंगी हम साज के तार बने
मीठी आवाज में पैगाम सुनाया तूने
धरोपकार में ही जीवन लगाया तूने।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

खिला कुसुम जग बगिया में

—कवि श्रेणोदान चारण, बीकानेर

एक कुसुम खिला जग बगिया में
जो सब सुमनों से न्यारा है
वो और नहीं है कुसुमवती
जो जैन धर्म उजियारा है।

श्वेत वसन धारित तन है
गंगा जल सा पावन मन है
कोई चाह नहीं जिनको जग से
बस एक अहिंसा ही धन है

हिमगिरि सा ऊँचा चिन्तन है
सागर सम जिनकी गहराई
मधु सा मिठास ले वाणी में
देने उपदेश हमें आई।

संयम पथ कितना दुष्कर है
ये हम सांसारिक क्या जाने
विरले ही आगे आते हैं
इस कंटक पथ को अपनाते।

जिसने सांसारिक मोह त्यागा
संयम - पथ को ही अपनाया
कुछ चाह नहीं रखी जग में
बस महावीर का मग भाया।

हरने को जग का अंधियारा
अब ज्ञान मुग्धा जो बाँट रही
ज्ञान की गंगा बन बहती
अज्ञान अंधेरा छाँट रही।

इस गंगा को बहते - बहते
आधा युग पार उतरता है
दर्शन की चाह लिए चारण
इन्हें शत-शत वन्दन करता है।

कुसुम नाम वह प्यारा है

—बेरागन गुणमाला चपलोट

श्रमण संघ की बगिया में
खिला पुष्प एक न्यारा है।
सारा संघ जिससे है सुरभित
'कुसुम' नाम वह प्यारा है।

लघुवय में ही बनी साधिका
वीर का पथ अपना करके।
कहनामयी देवी कहलाई
सब जन के दुःख हर करके।

देश के हर कोने में जाकर
जन-जीवन को मोड़ दिया।
महावीर सन्देश सुना कर
धर्म से जन को जोड़ दिया।

व्याख्यानों की छटा निराली
झम-झूम मन जाता है।
'प्रवचन-भूषण' इसीलिए तो
जग सारा ही गाता है।

चन्दा सम जीवन है शीतल
तेज सूर्य-सा लगता है।
वाणी में है ओज अनोखा
सुन लेता सो जगता है।

शिव्याएँ हैं सभी आपकी
एक से बढ़कर एक महान।
चारित्र, दिव्या और गरिमा
चमक रही हैं बीच जहान।

ज्ञान-ध्यान त्याग और तप से
जीवन दिव्य बनाया है।
त्याग और सेवा की मूर्ति
गुण गाये ना जाया है।

दीक्षा स्वर्ण-जयन्ती आई
करे आपका अभिनन्दन।
ममतामयी हे ! गुरुणी मैया
श्रद्धा से शत-शत वन्दन।



युग की मीरा को नमन मेरा

—गीतकार रमेश चेतन्य, बोम्बे

मेवाड़ धरा पर सात सितम्बर पच्चीस को नव कुसुम खिला ।
गुरुदेव पुष्कर मुनि जी से, जीवन में अध्यात्म मिला ॥
सती सोहन जी से प्रेरित हो दीक्षा का व्रत ठान लिया ।
नजर कुंवर था जन्म नाम दीक्षा ने नाम कुसुम दिया ॥
कैलाश कुंवर माता जो भी पुत्री कुसुम संग दीक्षा ली ।
कैसा संयोग मिला मां पुत्री ने संग में ही शिक्षा ली ॥
'दिव्य' गरिमा 'अनुपमा' व निरुपमा नित साथ रहे ।
आज्ञाकारिणी बन गुरुणी की, नित चरणों में ध्यान रहे ॥
सहज सरल व्यक्तित्व आपका अधरों पर रहती मुस्कान ।
शहर-शहर और गाँव-गाँव सद् उपदेशों का किया बखान ॥
सत्य, शील, और सदाचार पर बढ़ने का आह्वान किया ।
'अध्यात्मयोगिनी' 'प्रवचन भूषण' से समाज ने मान दिया ॥
ऐसी गुरुणी महासती का हम गायेंगे नित ही गुणगान ।
जो भी अन्तर में भाव उठे, उन भावों से हम करें बखान ॥
विशाल-हृदय व दूर दृष्टि है महासती को नमन मेरा ।
युगों-युगों तक अमर रहे, युग की मीरा को नमन मेरा ॥

—○—

अध्यात्मयोगिनी...शत-शत वन्दन

—अनुराधा जैन, बी. ए., उदयपुर

जीवन के सच्चे लक्ष्य का आदर्श आप हैं,
है 'कुसुम' कुसुम सी खिली जग में तो आप हैं ।
सारे सुखों को त्याग के सुख को ग्रहण किया,
'अध्यात्मयोगिनी' की एक मिसाल आप हैं ।
अनेक भाषा ज्ञान जिन तत्व को ज्ञाता,
अध्ययन, मनन, चिन्तन की तो त्रिवेणी आप हैं ।
आया निकट जो आपके बस आपका हुआ,
विचलित हुए मनुज का तो आलोक आप हैं ।
मेवाड़ धरा धन्य हुई आपको पाकर,
संसार के दल-दल में खिले कमल आप हैं ।
शेरनी-सा ओज रहा जिनकी वाणी में,
प्रवचन - भूषण इसलिए कहलाई आप हैं ।
दीक्षा पचास वर्ष पे शत - शत नमन करूँ,
अभिनन्दनीय और वन्दनीय आप हैं ।

जैनाचार्य से कम नहीं

—युवा कवि धर्मेश छाजेड़, सुरत

ज्यों ही,
गुरुणी जी के अभिनन्दन ग्रन्थ छपने का,
समाचार पाया,
गुरुणी जी के गुणगान लिखने का
मन में विचार आया
एक दिन गुरुणी जी के गुणगान लिखने का
अभ्यास किया
एक छोटा-सा कागज का टुकड़ा लेकर
कविता लिखने का प्रयास किया
मगर,
समस्या यहाँ आकर खड़ी हो गई कि
गुरुणीजी के गुणगान की रूपरेखा बड़ी हो गई
जैसे कि द्रौपदी का चीर
मैंने सोचा,
अगर गुणगान लिखने जाऊंगा
तो लिखते-लिखते बूढ़ा हो जाऊंगा
फिर भी गुणगान नहीं लिख पाऊँगा
और तो और
इतनी कलम कहाँ से लाऊंगा
इतनी स्याही कहाँ से लाऊंगा
इतने कागज कहाँ से लाऊंगा
मेरी कविता यही है,

वैसे भी हिन्दुस्तान में कागज,
पर्याप्त मात्रा में नहीं है,
इसलिए मैंने
गुरुणी जी के गुणगान लिखने का
विचार छोड़ दिया
अपनी लेखनी को मैंने
हास्य-व्यंग की ओर मोड़ दिया
गुरुणी जी को,
किसी ने 'मेवाड़सिंहनी' के नाम से विभूषित
किया
किसी ने 'अध्यात्मयोगिनी' के नाम से
शोभित किया
किसी ने 'काश्मीर प्रचारिका' नाम से पुकारा,
किसी ने 'प्रवचन भूषण' इनका नाम दिया
मगर धर्मेश छाजेड़ में तो,
इतनी उपाधि से विभूषित करने का दम
नहीं है
गुरुणी के गुणगान नहीं लिख पाया
इसका भी मुझे कोई गम नहीं है
लेकिन गुरुणी कुसुमवती जी
किसी जैनाचार्य से कम नहीं है।

तप की देवी को है वन्दन.....

—युवाकवि-गीतकार हरीश व्यास, प्रतापगढ़

ममतामयी त्याग और तप देवी को है वन्दन,
शतशत नमन करूँ तुमको और बार-बार अभिनंदन ।
सात सितम्बर उन्नीस सौ पच्चीस को जन्म था पाया
मात-पिता 'कैलाशकंवर' 'गणेश' का मन हर्षाया
देलवाड़ा में दीक्षा पाकर तोड़ा जग से बन्धन....।
जन्म नाम था 'नजरकंवर' और 'कुसुम' हुई दीक्षा से
'सोहनकंवर' का आशीष पाया लक्ष्य मिला शिक्षा से
ज्ञान की सौरभ घर-घर फैली जैसे महके चन्दन....।
'पुष्कर मुनि' से गुरुवर जिसके श्रमण संघ की जान
पथ आलोकित हुआ मिला इस जीवन को ब्रह्मज्ञान

तन काशी सा तीर्थ लगे है मन जैसे वृन्दावन....।
धन्य हुआ मेवाड़ 'उदयपुर' 'कुसुमवती' को पाकर
'अध्यात्मयोगिनी' 'प्रवचन-भूषण' महासती को पाकर
जिनधर्म की बावरी मीरा बनी नैन का अंजन....।
'दिव्य प्रभा' ने दिव्यज्ञान से गुरु का मान बढ़ाया
सृजन से 'गरिमा' ने जीवन के मर्म का अलख जगाया
'अनुपमा' और 'निरुपमा' की वाणी निर्मल कंचन....।
स्वस्थ दीर्घ जीवन हो बस अन्तस की यही दुआ है
आशीर्वाद का साया बना रहे बस यही दुआ है
दीक्षा के पचास बरस पर मेरा अनुनय वंदन....।

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

६१

किस विध-नमन करुं

—श्री भंवरलालजी चपलोत, नाथद्वारा

ओ,
महासती जी !
कुमुमवती जी !
तुम्हीं बताओ
किस विधि
तुमको नमन करूँ ?
चरण पखारूँ उपमाओं से
या श्रद्धा सुमन अर्पन करूँ ?

तुम
शान्त
जैसे ठहरा जल हो
'मुखर'
जैसे खिला कमल हो
ज्योतिर्मय
तुम साधना में लीन
अध्यात्मयोगिनी हो

ओ,
अध्यात्मयोगिनी !
तुम्हीं बताओ
किस विधि
तुमको नमन करूँ
अर्पण करूँ सारा जीवन
या, साधना में रमन करूँ

तुम,
दृढ़ संकल्पी
जैसे अडिग हिमालय हो
मधुमयी वक्ता
जैसे बहता सरिता सलिल हो
'संयमी' तुम
पंच महाव्रतधारी
पंच शीला हो
ओ
पंचशीला
तुम्हीं बताओ

किस विधि

तुमको नमन करूँ
तर्पण करूँ सारे अवगुण
या, संयमी बन तब गुणगान करूँ

तुम
ममतामयी
जैसे, अनुरागी माँ हो
करुणामयी
जैसे स्वयं कृपा हो
सदाचारी तुम
बहुभाषा विद्
प्रवचन भूषण हो

ओ,
प्रवचन भूषण !
तुम्हीं बताओ
किस विधि
तुमको नमन करूँ
अर्पण करूँ सारे गीत
या कविता लिख
अभिनन्दन करूँ ।

'अभिलाषा'

—वनिता चपलोत, बी. ए. नाथद्वारा

मेरी अभिलाषा,
कि, तुम,
थाम पतवार,
बनो खिदैया,
युग-दृष्टा बनो,
बनो राष्ट्र-धर्म उन्नायक,
यही कामना,
कि, तुम,
दीर्घायु हो,
तब पल-पल बीते,
'ज्ञांत' किसी ध्यानस्थ योगी सा
'सुरभित' किसी वासन्ती सुमन-सा,
'निलिप्त' किसी नीलकमल-सा,

करुणामूर्ति—अभिवंदन
—कन्हैयालाल गौड़, उज्जैन

ओ अध्यात्मयोगिनी,
तुम बहुगुणी,
गुरुभक्त विनयशील,
उर सिन्धु सा विशाल,
उच्च ललाट,
दिव्य भाल,
दृष्टि बहुजन हिताय
स्वांतः सुखाय
वाणी में ओजस्विता,
उर में अति आत्मीयता,
प्रकृति शांत धर्मरत जीवन,

क्रोध भी पराजित सम्मुख तुम्हारे,
देख चकित मन,
शांति प्रेम करुणा की,
साक्षात् प्रतिमूर्ति,
जीवन में संकल्पों की दृढ़ता,
गति और निर्भयता
मंगलमय,
दीक्षा स्वर्ण जयन्ति पर,
दीर्घायु की करता हूँ,
अंतस से कामना,
तुम्हारे आदर्श
जग पूजित हो,
मन में उदय हो,
विश्व बन्धुत्व की भावना

महके सुमन-सुरभित पवन

—श्रीमती विजयलक्ष्मी, उदयपुर

'कुसुम'-'कुसुम' कह महक उठा आज हरेक उपवन ।
महासती तुम महातपस्विनी है निर्झर सा मन ॥
सात सितम्बर सन् पच्चीस का सुखद वह सोमवार ।
मात-पिता के हर्ष का जब रहा ना परावार ।
पूर्व जन्म के संचित फल से होते तब दर्शन...॥
आई हो कुछ सार खोजने इस असार संसार में ।
जान लिया छुटपन में ही कि सुख है जन उपकार में ।
अध्यात्म क्षेत्र में कर पदार्पण किया है नव सृजन...॥
जीवन में साधना प्रचुर औ' वाणी में है ओज ।
निकल पड़ी जन-जन में करने भक्ति-भाव की खोज ।
जहाँ गई हो वहाँ सभी का मिट जाता क्रन्दन...॥
चिन्तन में गहराई, सेवा सत्य शील आधार ।
करने लगी जगह-जगह पर ज्ञान का नवल प्रसार ।
प्रवचन प्रभाव से जन-जन की मिट जाती भटकन...॥
ज्ञान विविध भाषाओं का व्यक्तित्व सहज सरल ।
गंगा-सम निसृत तब वाणी वहती है अबिरल ।
'अध्यात्मयोगिनी' बन कष्टों का करती आप शमन...॥
अर्द्ध शताब्दी हुई अध्यात्म में लगी लिये लगन ।
है शुभकामना यही कि चलती रहे सुमन्ध पवन ।
योग-शेम सत्य शील पुजारिन वारम्बार नमन...॥

'कुसुम' तुम सचमुच कुसुम
—श्रीमती विजयकुमारी बोथरा (बी.ए.बी.एड)
मंडी गीदडवाहा (पंजाब)

जैसे जैन समाज में
नामी नामी सन्त
महासती श्री कुसुमजी
शोभित है अत्यन्त ।

दिनकर को दीपक यथा
दिखलाना बेसूद
'सती कुसुम' में कुसुम के
गुण हैं सब मौजूद ।

जैसे होती कुसुम में
भीनी-भीनी गन्ध
त्याग तपस्या 'कुसुम' की
देती परमानन्द ।

कोमलता भी कुसुम का
गुण है एक महान
कोमलमन है 'कुसुम' का
सचमुच सुमन समान ।

होता है फिर सुमन में
अद्भुत-अद्भुत रूप
सतियों का तो शील ही
होता रूप अनूप ।

सुमन माल्य में शोभता
जैसे कोई सुमन
श्रमणी माला मध्य में
श्रमणी आप रतन ।

काव्यतीर्थ है 'कुसुम' जी
न्याय तीर्थ है साथ
जैन सिद्धान्ताचार्य है
बहुत-बहुत विख्यात ।

महासती सोहनकंवर
गुरुणी मिली महान
क्यों न होती 'कुसुम' की
जग में ऊँची ज्ञान ।

अनथक धर्म-प्रचारिका
विरली होगी अन्य
ऐसी श्रमणी से हुआ
श्रमण-संघ है धन्य ।

विजयकुमारी बोथरा
अधिक कहे क्या और
श्रमणी है श्री 'कुसुमजी'
श्रमणी-गण सिरमीर ।

उजाला करने एक ज्योति आई !

—कवि माधव बरक, उधमपुर

ज्ञानवान गुणवान गुण की निधि हैं आप
आत्म-साधना के पथ पर बढ़ी जा रही
वाणी में सरसता व नम्रता की मूर्ति हैं
जीवन में ज्ञान का प्रकाश बिखरा रही
हृदय के भाव उद्गार होते हैं प्रकट
समता का स्रोत जैसे नीर सा बहा रही
साधवी रत्न श्री कुसुमवती जी
तप और त्यागमय जीवन बिता रही ।
धन्य है धरा मेवाड़ भाटी भी अमोलक है
जिस धरती पे वीर सन्त-सती जाये हैं
धरती का मान, प्राणत्याग भी बचाया जहाँ
मान—भर्यादा हित प्राण भी गंवाये हैं
पन्ना, पदमण, भीरा, नारियाँ जहाँ पे हुई
कुसुमवती जी साधवी सी लख पाये हैं
सफल किया है, निज जीवन भी धन्य हुआ
प्रतिभा के कानन में फूल मरसाये हैं ।
उन्नीस सौ पच्चीस का महिना सितम्बर व
तारीख थी सात शुभ बढ़ी ऐसी आई थी
पिताश्री गणेशलाल कोठारी के घर में
करने उजाला एक ज्योति चल आई थी
कैलाशकुंवर भात धन्य हुई उस दिन
कुसुमवती सी कन्या निज गोद आई थी
नवल-प्रभात की ही भला दहलीज पर
आशा की किरण पहली बार मुस्काई थीं ।

महासती श्री कुसुमवतीजी

संयम व ज्ञान की अनुपम ज्योति

—उत्तमचन्द्र डागा

(संयुक्त मंत्री श्री वर्धमान स्था० जैन श्रावक संघ, जयपुर)

परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवती जी म० सा० साधना की अनुपम ज्योति हैं। आपका प्रत्येक क्षण साधना के क्षणों में गुजरता रहा है। वे विराट व्यक्तित्व की तेजस्वी साध्वीरत्न हैं। आपका जीवन निर्मल प्रभात की तरह तेजस्वी रहा है। आप श्री शान्त निर्मल स्वभात्री व गम्भीरता से साधना पथ की ओर सदा अग्रसर रहने वाली साध्वीरत्न हैं। आपके जीवन का कण-कण क्षण-क्षण साधनामय, तपोमय, पथ पर आगे बढ़ता रहा है। आप स्वभाव से विनम्र, शान्त, निर्मल स्वभाव व मधुरभाषी हैं। आपश्री के ज्ञान की आपके प्रवचनों में स्पष्ट झलक मिलती है। इसी-लिए आपकी वाणी में मधुरता स्वभावतः पैदा हो जाती है।

आपका विद्याध्ययन इतना विशाल है कि उसे कहीं तक लिखा जावे, समझ नहीं पाता। बड़े-बड़े शास्त्र आपको कण्ठस्थ याद हैं। आज भी आपका प्रत्येक क्षण कर्म के क्षेत्र पर साहित्य से लगाकर साधना तक गतिशील है। आपके सम्पर्क में जो भी आया उसे कुछ-न-कुछ ज्ञान आपने दिया है। सच्चा साधक भी वही है जो दूसरों को अमृत बाँटता है। आपश्री का व्यवहार से प्रस्फुटित 'अनुकम्पा' का निरंतर सांसारिक ताप से त्रस्त जन-जन को शीतलता प्रदान करता है। आपकी स्वाध्याय व ध्यान में रुचि के अलावा जप-साधना में विशेष रुचि रही है। जब भी समय मिलता आप जप में ध्यान में संलग्न हो जाती और भक्त जनों को भी जप की महिमा बताकर जप साधना के पथ पर आकृष्ट करती रहती हैं।

आपने अपने जीवन के साथ अपनी शिष्याओं

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चना

को नई चेतना-नया चिन्तन देकर संवारा है। पारस के स्पर्श से ही लोहा सोना बन जाता है उसी प्रकार आपने अपनी शिष्याओं को ज्ञान-साधना का अखण्ड पाठ कर ज्योतिर्मय साधक के रूप में प्रज्ज्वलित कर दिया है। वह दिन दूर नहीं जब साधकों के आकाश पर ये साध्वियां अपनी स्वर्णिम आभा बिखेर सकेंगी। साध्वी श्री चारित्रप्रभा जी, श्री दर्शनप्रभाजी जैसी योग्य शिष्याएँ आज आपके नाम के अनुरूप ही अपने साधना पथ को उज्ज्वलकर रहो हैं।

कहावत है रत्नों के रत्न निकलते हैं। आपश्री की पौत्र शिष्या साध्वी दर्शनप्रभाजी ने उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी की सम्प्रदाय में एवं समस्त साध्वी समुदाय में सर्वप्रथम पी-एच०डी० की डिग्री प्राप्त करके आपके गौरव को चार चांद लगाए हैं। इस पुनीत पावन प्रसंग पर मैं हृदय के अन्तःकरण से इस दिव्य तेजस्वी साध्वीरत्न को वन्दन-अभिवन्दन करता हूँ।

✽

बगिया में—एक कुसुम खिला

—पुरुषोत्तम 'पल्लव' उदयपुर

अपनेपन की महक बिखेरी तुमने इस बगिया में
इस चन्दा को अपना माना
मगर पराया वह निकला
पूनम की बढ़-चढ़कर आया
मावस को वह न पिघला
दीप जलाकर किया उजाला, तुमने इस रतिया में
आज यहाँ और कल वहाँ
यह चलता फिरता डेरा था
पर्वत से सपने थे अपने
यह मन मरुस्थल मेरा था
कुसुम ने अमृत-धारा दी जीवन की नदिया में
संध्या मोहक लगती हमको
कई सुन्दर प्रभातों से
सावन भादों में खो जाते
रिमझिम उन बरसातों से
नैया की पतवार तुम्हीं हो, जग की इस दरिया में

महिमा का नहीं कुछ पार

— श्रीमती विमलादेवी जैन

मण्डी भीड़वाहा (पंजाब)

महासती श्री कुसुमवती की महिमा का कुछ पार नहीं,
इनके गीत गुणों के गाते थकते हैं नर नार नहीं।
पढ़ने लिखने में कुछ आलस, इनको है स्वीकार नहीं,
ज्ञान, ध्यान, व्याख्यान, तपस्या तजने को तैयार नहीं ॥

शान्ति, शील, श्रम, दम, संयम से कम है कोई प्यार नहीं,
समिति-गुप्ति की योग-युक्ति की तजते हैं रफ्तार नहीं।
कहदे कोई कुछ भी आकर करते हैं तकरार नहीं,
इनसे मधुर अधिक किसी की सुनी कभी गुफ्तार नहीं ॥

उन्हें जमाने की बेढंगी रुचती है रफ्तार नहीं,
कहते हैं यह मानव-जीवन खोने को बेकार नहीं।
गया समय फिर हाथ किसी के आता बारम्बार नहीं,
हिंसा, वैर, विरोध तजे बिन, मिले मुक्ति का द्वार नहीं ॥

दया सत्य का, तप का, जप का होता जहाँ प्रचार नहीं,
सन्त सती का प्रिय-प्रभु का, सच्चा वह दरबार नहीं।
हर एक ऐसी निर्भयता की, दे सकता ललकार नहीं,
एक शेरनी जैसी सबको, सबल सुलभ हुंकार नहीं ॥

करे प्रशंसा दुनिया इनकी, इनको कुछ दरकार नहीं,
प्यारा सत्य प्राण से बढ़कर सकते कभी बिसार नहीं।
कभी भूलते महासती जी महामन्त्र नवकार नहीं,
उससे बढ़कर-चढ़कर इनको और अन्य आधार नहीं ॥

इन्होंने अब तक किये जगत पर कम कोई उपकार नहीं,
लिखने में असमर्थ लेखनी कर सकती विस्तार नहीं।
दीक्षा स्वर्ण जयन्ती इनकी, कम कुछ मंगलकार नहीं,
उन्हें बढ़ाई देते थकते कवियों के सरदार नहीं ॥



सज्झी-रयण-सिरी-कुसुमवई

—डॉ० उदयचन्द्र जेन,

(पिऊ कुञ्ज ३), अरविन्द नगर, उदयपुर

लोगप्यगासण जुत्तं कंतिमयसरूवं,
णाणाराहणकरणं सतत—समर्थं ।

देवेहि थुया विगयकम्ममलामहेसं,
वंदे च संमइ—भगवच्चरणारविदं ॥१॥

पणमामि अहं णिच्चं संसार-सायर-तरणं तरणि व्व ।
सम्मं सुबोहं सयं पुण्णतित्थ-भव-करण-णासणं ॥२॥

रायट्ठाण—पमुह—णयर—अई-खणण—संपदा संपणो ।
वरो पुरो उदयपुरो सुसोहइ णिसग्ग—सुन्देरं ॥३॥

वीराण कित्तिगाहा विधिणा जस्स गिरि-कंदरेसु अवि ।
मेवाणणामधेया अजेयजोधा तह पसिद्धा ॥४॥

मणुण्ण—रूव--कमणोय--सिहरावली---आरावली--गिरी ।
जस्स सुमज्झभागम्मि सुरम्म-रम्म-कलकलत्त-झीला वि ॥५॥

जह वीर—पसूयभूमि तह संजम—अजस्सधारा वि ।
वीर—अज्झप्प—उहया संगमथली मेवाडभूमी ॥६॥

उदयपुरमंडलंतर देलवाला अईसुरम्मगामा ।
कोठारीपरिवारो तस्सिं पसिद्धधम्मणिट्ठो ॥७॥

दोलतमलकोठारी तस्स भज्जा माणियवाई ।
दो पुत्त एगपुत्ती जाया धम्माणुरामी अवि ॥८॥

अस्सिं णयरम्मि एव एगो कुलसेट्ठी गणेसमलो ।
तस्स भज्जा धम्मिगा सुसाविगा धम्माराहिगा ॥९॥

सम्मभावाराहणं संघसेवा—गुणीणं पडिसद्धा ।
अरहभत्ती जुत्ता तु णं कम्ममल—दलणं पयत्ता ॥१०॥

एगा पुत्ती जाया सिरिमइ—सोहणकुँवरकुक्कोए ।
माया—पिउ—अइपिया, सुकुलभूसणा बालिगा सा ॥११॥

पुण्णदिवस-विक्रम-संवत् एग-सहस्स णवसय-अस्सो दो ।
असोजकण्हपंचमी सुमहुराणंदजुत्तजाया ॥१२॥

णं कूरकालदिट्ठी सुहंगणे गणेसमलं पडि पडिदा ॥
पुत्तपूणमच्चदो वि राहुगसच्चंदोविव हूओ ॥१३॥

मामा-भामी-णाणीणाणामासीवग्गाए लणा ।
भयावसवाहिजुत्ता सव्वे अइआउला जाया ॥१४॥

महासई—सोहणकुवर-महामंत-मंगलिअं कहिआ वि ।
तस्स पहावेणं अवि सा णिच्चैया जाया चैया ॥१५॥

सत्त संग-पहावेणं कि कि ण जायए भावसुद्धा ।
सलिलपडिय—जलधारा मुरम्मा णिम्मला दीसइ ॥१६॥

बालत्तणबाला सा सामाइय—पडिक्कमणाहिरत्ता ।
धम्मभावणाजुत्ता अईगहीरा उदहिक्क सा ॥१७॥

सत्त—वासावट्ठाइ समकितभावजुत्ता जाया ।
रागग्गि डज्जाइ वइरग्गी विसयाणि णस्सेइ ॥१८॥

आरंभविणिक्कत्ती तु णिग्गंठाणं चैव जायए ।
ण हि कज्जपरंगमुहे मण्णए कारणं भुवि ण हि ॥१९॥

णिग्गंठं हि सुतवो य संसारस्स साहणं वरं ।
सुमुक्खूण हि सरीरो हेयो किमवरं पुणो अवि ॥२०॥

तत्तणाणविहीणाण णिग्गंठ—साहणं अवि णिप्फलं च ।
ण हि कज्जकारणोहि कम्म—कलंकपरिखीयए तु ॥२१॥

रागादि—दोसजुत्तो पाणीणं तारगो ण हवइ ।
पतंत—जुत्तसयंजो अण्णसि कि अवलंबणं ॥२२॥

केहि च आणंदो वि केहि च जाओ विजोग—भावो ।
केहि च गिह-रागो रुदण—रंग—भाव—संजुत्तो ॥२३॥

जेहि गिह-सोल्लासो उच्छाह—उम्मग्ग—गोयवो ।
तेहि कालंतरे वि हा हा अहिय—लहाओ अवि ॥२४॥

संसार—असारमयं सारं कि कि ण जायए लोणे ।
सुह—संपई—सरीरं इह जल-बुद-बुद-समं दीसइ ॥२५॥

समण-पहाविगा

अस्सिं लोमे संघा बहु—विज्जए जिणसासणे वि ।
चउविह—तित्था तित्था भगवय—महावीरस्स पच्छा ॥२६॥

आगम—पवीण—सीसा तम्मि समयम्मि अवि जाया ण ।
अस्सिं समयम्मि तु अवि सुय-पारंगया दीसते ॥२७॥

चंदणवालासई वि महासई णामा विक्खाया ।
समणी परंपराए सुगुण—गण—समद्धि—संजुत्ता ॥२८॥

कुमई—पह—विजेया तु मोक्ख—मग्ग—पवत्ता महासई ।
सुद्ध—तत्त—णाणट्ठं सयल—कम्म—विणट्ठ—रत्ता वि ॥२९॥

अमर-आणंद-पोक्खर-देविद-सिवाइ-मुणी जस्स संघे ।
सुमोक्ख-मग्ग-रमंता जण-मण-कल्लाण-सय-अहिरत्ता य ॥३०॥

समण-संघ-पवट्ठिणी गुरणी-सोहण-कुवर-महासई वि ।
सा तु सेट्ठा जेट्ठा वि गुण-रयण-विभूसिया जुत्ता य ॥३१॥

विज्जागुण-संजुत्ता आगम-धारा-कल्लाण-कारिणी ।
संजम-सील-सुगंधा कि ण विज्जए इह लोयम्मि ॥३२॥

विदुस्सेण हि वंसस्स कित्ति-जस-वइभवं वि उप्पज्जए ।
जीवाणं जीवणं वि आजीवणं आणंदणं अवि ॥३३॥

उत्तम-गुरुभत्ती अवि कि किं ण साहेइ अस्सिं लोमे ।
तइलुक्करयणं वि बहुमुल्ल-रयणं किं ण सिया ॥३४॥

अणादी—संसारे चिर—परिचिय—विस्समहिलं ।
णो जाणेसि हियाहियं जडमए तत्थेव सत्तो सि किं ।

अंतासंतिमुवेहि मुंच जडतं संभावय सं—अप्पमं ।
णिच्चं चेतसि चित्तमप्पविमलं चिदुदुवमेगं परं ॥३५॥

चागं विणा णेव हवेइ मुत्ती
चागं विणा णेव जणस्स सत्ता ।
चागो हि लोगोत्तरमत्थि तत्तं
चागं विणा णेव रागस्स हाणी ॥३६॥

आणंद - चित्तमय-सुहारस-पाणत्तित्ता
सुद्धोवयोग—महिमाणमुवागओ च ।
केवल्ल-णाण-भरिय-जण-धाम-घण्णो
एप्पेइ पवित्तित्तजगं परमप्पराआ ॥३७॥

रे चित्त किं भाससि भूरिविकप्पजाले
कज्जं करय तव समत्थि भवंधकूवे ।

किं खिज्जसे परगिहे स-णिवास-सुण्णं

सुहोवयोगमुवयाहि कुण सक्कज्जं ॥३८॥

सुसुद्धप्पाणं परं णच्चा णाणारूव-णिरंजणमयं ।

सा बालणजर-बाला संसार-छेद-करणं पवड्ढए ॥३९॥

संकप्प-विकप्प-सुण्ण-हियया णाणेण णाणं कम्मक्खयं ।

विवेग-विभूसिया सा स-पर-भेय-विण्णाणं सेयं ॥४०॥

मामो चोथवाई तु णिरक्खर-सीला अईगुणसीला ।

णजर-सह-संसग्गा तु अक्खर-मालं सुसिक्खिया हि ॥४१॥

माउमहासई अवि तु कइलास-कुवर-पव्वयविव दिढसीला ।

णाणज्जाणतवरत्ता अज्जाप्प-सुणिम्मल-गंगा समा अवि ॥४२॥

स-कल्लाणकरणट्ठं भगवइ-दिक्खा-सिक्खं धारेइ ।

गिह-विहवं परिहरणं उग्ग-तवच्चरणं चरणं ॥४३॥

वरंजम्मं हेउं सयल-गुण-वग्गं णियहिए ।

वरं दीहं कालं गुरु-सरण-मज्जे णिवसिआ ।

वरं धम्मं कम्मं बुहज्जण-गुणेषुं वि रमिआ ।

सु-सज्जायं जुत्तं पवयण-सु-सारे अहिरया ॥४४॥

सिरी-केलास — कुंवर — महसईआ ।

वरं धम्मं पातुं सुचरण-चरंतं अहिगया ।

सुसुत्तं-तच्चणं जिणपह-सुपत्तं मणरया ।

दुरावं दोहणं सिव-सुह-करत्थं अहिरया ॥४५॥

परमविउसि-महासई सज्जी-रयण-सिरी-कुसुमवई ।

फग्गुण-सुक्क-दसमीइ सुह-तिहीइ पुत्तीमाया-दिक्खा ॥४६॥

विककम - संवत्त - उणवीससय-णवतिय-रविवार-सुह-लग्गा ।

सण-उणवीससय - सत्तत्तिस - एगवीस - मारच-सुह-दिवसा ॥४७॥

कुसुमवई-गुणीणं च विज्जापहा-भस्सर-कित्तिमाला ।

सतकव्वक्ता अवि तु सुचिकम्म-णिट्ठ-विउस-वरिट्ठा ॥४८॥

आयारपूया सया विण्णाण-गही-गुणाहि पविस्ता ।

सिट्ठा विसिट्ठागुणा सोम्मसीला विणया-वरिण्णा ॥४९॥

वय-तव-चरण-सुविण्णा सेट्ठा-सुधीरा-आगम-पवीणा ।

जोगप्पवीणा सया णाणाभासा-भासी अवि सा ॥५०॥

चरित्त-दिव्वा-गरिमा दंसण-विणय-रुचिग-अणुवम-राजी ।

पडिह-णिरूवम-सज्जी सीसा-पसीसा णओ उदयचंदो वि ॥५१॥ ७

सरलता की मूर्ति

— डॉ० गुलाबचन्द जैन, जयपुर

हृदय चेतना-युक्त सुकोमल कुसुम सरीखा है ऐसा
क्रोध-लोभ-मद-मोह रहित मक्खन मानो है जैसा

बालब्रह्मचारिणी गृहत्यागी स्नेहमयी ये माता है
सभी शिष्य-शिष्याओं के प्रति सदा एक-सा नाता है

स्त्री हो या पुरुष सभी को प्रेम एक-सा देती हैं
धनी-निर्धन-युवा-वृद्ध में समता रस भर देती हैं

राग-द्वेष से दूर साम्य-भावों में नित ये बहते हैं
तप संयम से ओत-प्रोत प्रतिपल शान्त ये रहते हैं

पुण्य-पाप का मर्म सभी जीवों को ये समझाते हैं
बता मोक्ष का मार्ग सभी भवो जन को यह जगाते हैं

विकथा कभी न मुख पर आती धर्ममयी चर्चा करते
महासती श्री कुसुमवती जी क्षण भर में दुष्कृत हरते

मैंने इनको सदा मनन-चिन्तन में डूबा देखा
रहे तपस्या लीन प्रमत्तपन दूर हटाते ही देखा

जब भी मैं आकर नवता निज शीश झुकाता चरणों में
बोले हितकर वचन सुकोमल मंगलकारी वरणों में

पुष्कर मुनि की सभी योग्य शिष्याओं में यह योग्यतमा
अभिनन्दन मैं करूँ हृदय से, अपने सब छलछिद्र गमा

है मेरा विश्वास कामना भी है मेरी रात और दिन
पाकर के निःश्रेयस सुखमय हो जायेंगे एक दिन

6

सरलता की निशानी

—श्री कंवरचन्दजी जैन, मण्डी गीदड़वाहा

कुसुम है नाम श्रमणी का, कुसुम-सी मुख में वाणी है,
दया की सत्य-समता की सरलता की निशानी है ।
हुए बावन वर्ष इनको किये स्वीकार संयम को,
जयन्ती स्वर्ण दीक्षा की सभी ने मिल मनानी है ।
लगाते लोग जयकारे गगन में गुँजते नारे,
नहीं होगा पुरुष कोई, खुशी जिसने न मानी है ।
करो इनके सदा दर्शन सुनो इनके सदा भाषण,
सफल जो आपने अपनी बनानी जिन्दगानी है ।
कथा कैसी सुनाते हैं, सभी श्रोता बताते हैं,
श्री महावीर-गौतम की मधुर जैसी कहानी है ।
करीतियाँ दूर की जितनी गिनाएँ किस तरह इतनी,
सुधारक आप-सी श्रमणी नजर मुश्किल से आनी है ।
'कंवरचन्द बोथरा' कहता तो गीदड़वाहा में रहता,
सती की गहन गुण-गाथा सरल सबने सुनानी है । ●

—पद्मचन्द जैन, (दिल्ली)

देख न पाया 'दीप' कभी भी निज आभा को
जान न पाया 'रत्न' मूल्य मानव ने आँका जो ।
सूर्य चन्द्र आलोक—सुधा वर्षा बरसाते
नदी नीर—निज, तरु—पुष्प फल देते जाते ।
सन्त—सुकुमल—समता—ममता—करुणा दानी
त्याग—तितिक्षा—क्षमा—तपस्या, महा उपकारी ।
धन्य सती श्री 'कुसुम' शिरोमणि जीवन इनका धन्य
परम प्रतापी गुरु सेवा से, पाया संयम, धन्य ।
ऐसा सुन्दर विनयी विवेकी है जिनका आचार
कोटि-कोटि वन्दन चरणों में, ही मेरा स्वीकार ।
मैं क्या ? मेरी वाणी क्या ? केवल कुछ गुंजन
नहीं शब्द की शक्ति मुझमें कैसे हो गुण भुंजन ।
शब्द योजना जो भी है भक्ति के ही कारण
अल्प-बुद्धि हूँ मैं क्या जानूँ, कैसे हो गुण वर्णन ।
दीप जले, आलोकित कर दे, महिमण्डल को
वही सन्त ! पिये गरल, बाँटे अमृत जन-जन को ।
'कुसुम' सुगन्ध सुकुमल उपवन की शोभा
बढ़े सती-संयम सहिष्णुता, प्रेम, ज्ञान-आभा ! 卐



॥ २ ॥

रत्न का मुल्यांकन उसकी निर्मल कांति से होता है, उसी प्रकार किसी व्यक्तित्व को मुल्यांकन उसके तेजोमय कृतित्व से होता है ।

महासती श्री कुमुभवतीजी का जीवन प्रारम्भ से ही तेजस्वी और सक्रिय रहा है । साहस, इदं संकल्प, परोक्षकार वृत्ति, सेवा एवं सहयोग की भावना, धर्म प्रचार के लिए असीम तितिक्षा एवं बलवती सद्प्रेरणाएँ उनके बहुमुखी जीवन की दिव्य किरणें हैं, जिनसे उजागर/प्रभास्वर है उनका व्यक्तित्व-मणि ।

पूज्य महासती जी के बहुआयामी व्यक्तित्व का तटस्थ सहज रेखांकन किया है, ग्रंथ की कुशल सम्पादिका विदुषी साध्वी दिव्यप्रभाजी (एम. ए., पी-एच. डी.) ने अपनी सरल भाव-प्रवण प्रवाहशील भाषा शैली में ।

महिला उत्कर्ष

भारतवर्ष में आर्य संस्कृति की दो धाराएँ प्रवाहित हैं (१) वैदिक धारा और (२) श्रमण संस्कृति धारा। श्रमण संस्कृति ने जीवन के आध्यात्मिक चिंतन को जहाँ चरम उत्कर्ष पर पहुँचाया वहीं वैदिक संस्कृति ने भौतिक जीवन को मधुर, समृद्ध एवं सामाजिकता के एक सूत्र में आवद्ध कर आध्यात्मिक साधना की सुन्दर पृष्ठभूमि तैयार करने का महानोय कार्य किया है। संस्कृति की इन दोनों धाराओं को अलग-अलग न मानकर दोनों को एक-दूसरे का पूरक माना जाये तो दोनों के बीच आज जो दूरी है वह कम हो सकती है, ज्ञान और कर्म निकट आ सकते हैं। संस्कृति के दोनों क्षेत्र, आध्यात्मिक और भौतिक, में पुरुष और नारी का समान योगदान रहा है। यहाँ हमारा मूल उद्देश्य नारी समाज की स्थिति का संक्षिप्त अवलोकन करने का है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि प्रत्येक क्षेत्र में जितना हाथ या महत्व पुरुष वर्ग का रहा है, उतना ही नारी जाति का भी रहा है।

भारतवर्ष का इतिहास उठाकर देखने से विदित होता है कि प्राचीनकाल में यहाँ नारी को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली हुई थी। वह प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करती थी। वर्तमान युग की भाँति उस पर कोई प्रतिबंध नहीं थे। संभव सभ्यता में नारी की स्वतन्त्रता के प्रमाण तो मिलते ही हैं, वैदिक काल में नारी की स्थिति का उत्तम उदाहरण वैदिक ग्रंथों में मिलता है। अनेक विदुषी नारियों द्वारा रचित वैदिक ऋचाएँ इस बात का प्रमाण हैं। नारी के अभाव में पुरुष का कार्य अपूर्ण ही रहता था। नारी सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में पुरुष के समान ही कार्य करती थी। कोई भी धार्मिक अनुष्ठान नारी के बिना पूर्ण नहीं होता था। अपने जीवन साथी के

विदुषीवर्या साध्वीरत्न

महासती श्री कुसुमवती जी

महाराज का

जीवन दर्शन

—डॉ. साहवी दिव्यप्रभा

चुनाव में भी उसे पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली हुई थी। विभिन्न उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में नारी समाज का समाज में पर्याप्त आदर और सम्मान था। तभी तो यह उद्घोष गूँजता था—यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः। जहाँ स्त्रियों का आदर सत्कार होता है वहाँ देवताओं का वास होता है। जिस देश में नारी जाति के विषय में इस प्रकार की भावना हो, उससे सहज ही नारी के आदर सम्मान का अनुमान लगाया जा सकता है। कालान्तर में नारी के इस आदर-सम्मान की भावना में कमी आती गई और उस पर अनेकानेक प्रतिबंध लगने लगे। स्थिति यहाँ तक आ गई कि जहाँ पहले 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' का उद्घोष था, वहीं अब नारी को 'नरक की खान' कहा जाने लगा। संत कवि तुलसीदास ने तो यहाँ तक कह दिया—ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी। इस प्रकार के विचार नारी जाति के सम्मान को ठेस पहुँचाने वाले तो हैं ही साथ ही पुरुष प्रधान संस्कृति के निम्नस्तरीय सोच को भी उजागर करते हैं।

नारी समाज की गिरती हुई स्थिति पर विचार किया जाये कि ऐसी स्थिति क्यों हुई? तो हमें इसका उत्तर भी सहज ही मिल जाता है। नारी जाति के विषय में ऐसे विचार का मूल कारण स्त्री-शिक्षा का अभाव रहा है। अशिक्षा के कारण समाज में अव्यावहारिकता, अशिष्टता, दुश्चरित्रता आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इन दुर्गुणों के परिणामस्वरूप नारी समाज का प्राचीन आदर सम्मान समाप्त हुआ। यदि नारी समाज का वही प्राचीन गौरव स्थापित करना है तो उसके लिए उसे शिक्षित करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। शिक्षा उसे प्राचीन रुढ़ियों से, खोखली परम्परायों से बाहर निकालकर मुक्त करती है। प्रसन्नता की बात है कि वर्तमानकाल में इस ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

विभिन्न रूपों में नारी :—इतिहास के विभिन्न युगों में नारी की स्थिति एक समान नहीं रही है। उन सबका विवेचन तो यहाँ प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता है किन्तु नारी के विविध आयामी व्यक्तित्व पर संक्षिप्त रूप से विचार अवश्य करना है। नारी के ये रूप भी अनेक हैं, उन सबका तो वर्णन हम नहीं करेंगे, हाँ नारी के प्रमुख रूपों की चर्चा अवश्य की जायेगी।

नारी : आदर्श माता :—नारी के विषय में समय-समय पर कुछ भी धारणाएँ रही हों किन्तु आज तक विश्व में जितने भी महापुरुषों ने जन्म लिया है, उनकी जन्मदात्री नारी ही रही है। फिर मातृस्वरूपा नारी के विषय में ऐसे हीन विचारों को कैसे जन्म मिला? आश्चर्य की बात है।

माता को बालक की प्रथम शिक्षक के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। माता ही अपनी संतान को सुसंस्कारित करती है। व्यक्ति में गुणों का विकास करने का श्रेय माता को ही जाता है। एक ममतामयी माता की दृष्टि में उसकी सभी संतानें समान होती हैं। फिर चाहे रूपवान हो या कुरूप, बुद्धिमान हो या मूर्ख, शक्ति सम्पन्न हो या निर्बल। यदि इतिहास के पृष्ठ उलट कर देखें तो हम पाते हैं कि प्रत्येक महापुरुष के निर्माण में उसकी माता का ही हाथ लगता है। माना का महत्व प्रकट करते हुए एक स्थान पर नेपोलियन ने कहा था—'यदि मुझे बीस श्रेष्ठ माताएँ मिल जायें तो मैं विश्व का साम्राज्य तुम्हारे चरणों में अर्पित कर सकता हूँ।'

माता के रूप में नारी वात्सल्य की प्रतिमूर्ति है, सेवा की प्रतिमूर्ति है। ऐसा आदर्श सेवा भाव जो एक माता के हृदय में अपनी संतान के प्रति देखने को मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है।

नारी : एक आदर्श पत्नी :—पत्नी के रूप में नारी अपने पति की सहायिका, मित्र, सलाहकार और मार्गदर्शक भी होती है। अपने पितृकुल को छोड़कर वह अपने पति-कुल के प्रति मन-वचन-कर्म से समर्पित हो जाती है। पति के सुख में सुख और पति के दुःख में अपना दुःख मानती है। पति और उसका परिवार ही उसके लिए सब कुछ होता है।

यदि अतीत के इतिहास को देखें तो ऐसी अनेक सन्नारियों के नाम मिल जायेंगे जो पति-सेवा में अपना सुख मानती थीं और उसके लिए वे हर प्रकार का कष्ट उठाने के लिए तत्पर रहती थीं। ऐसी ही महान नारियों में सती सीता, महासती दमयन्ती, महारानी द्रौपदी, महासती मदनरेखा, महारानी चेलना, सती सुभद्रा आदि-आदि। इनमें से अनेक अपने पति की धर्माराधना में भी सहयोगी बनीं। यहाँ इनका विवरण देना प्रासंगिक नहीं है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि अनेक नारियों ने अपने पति के साथ आत्मकल्याण का मार्ग अपनाया। कुछ ने अपनी शील-रक्षा के लिए अपने प्राणों तक का बलिदान कर दिया। राजरानी धारिणी इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

राजमति ने अपने होने वाले पति का अनुसरण कर संयमव्रत अंगीकार किया।

इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण आज भी मिल सकते हैं। विस्तारभय से विवरण देना उचित प्रतीत नहीं होता।

नारी : एक कुशल शासिका :—नारी जितनी सुकुमार होती है, आवश्यकता पड़ने पर वह उतनी ही कठोर भी हो सकती है। धर्म क्षेत्र में वह सुकुमारता के साथ-साथ आचार पालन में दृढ़ रहती है और अपने समुदाय की साध्वियों को भी ऐसा ही आचरण अपनाने के लिए निर्देश देती रहती है। चौबीस तीर्थकरों के साध्वी समुदाय का नेतृत्व चौबीस नारियों ने ही किया। इनकी धर्माराधना और नेतृत्व दोनों ही अद्वितीय हैं।

यदि राजनैतिक क्षेत्र में शासिका के रूप में नारी को देखते हैं तो पता चलता है कि एक शासिका के रूप में नारी पुरुष से किसी भी प्रकार उन्नीस नहीं रही, वरन् वह बीस ही प्रमाणित हुई है।

प्राचीनकाल में वाकाटक वंश की रानी प्रभावती, सल्तनतकाल में रजिया सुलताना, मुगलकाल में चाँद बीबी, रानी दुर्गावती, अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजों को दांतों चने चबाने वाली रानी लक्ष्मीबाई, (शांसी की रानी), इन्दौर की रानी अहिल्याबाई, अवध की बेगम हजरतमहल, किचूर की रानी चिनम्मा आदि अनेक ऐसे नाम हैं जो इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों पर अंकित हैं। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी अनेक नारियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और अपना अमूल्य योगदान दिया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जब लालबहादुर शास्त्री के पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने देश के प्रधानमन्त्री के रूप में कार्यभार सम्हाला तो किसी को विश्वास नहीं था कि श्रीमती गाँधी एक शासिका के रूप में नये कीर्तिमान स्थापित कर देंगी। श्रीमती इन्दिरा ने वह सब कर दिखाया जो शायद एक पुरुष शासक भी नहीं कर पाता। उनका युग भविष्य में भारतीय इतिहास का स्वर्णिम अध्याय कहलायेगा। वर्तमानकाल में अनेक नारियाँ शासिका के रूप में कार्यरत हैं और वे अपने-अपने विभागों का कुशलता के साथ संचालन कर रही हैं।

इनके अतिरिक्त नारी, बहन-पुत्री आदि के रूप में भी अपना कर्तव्य निर्वाह करती है। वह कई स्थानों पर शांति की अग्रदूत बनकर भी सामने आई है। वह अदभुत साहस की प्रतिमूर्ति भी है।

नारी : त्याग की प्रतिमूर्ति :—नारी के सदृश त्याग और बलिदान आज तक न तो किसी ने किया है और न कोई करेगा।

जहाँ तक अपने लिए त्याग करना, अपने परिवार के लिए त्याग करना आदि बातों का प्रश्न है, नारी के ऐसे त्याग से ग्रन्थों के पृष्ठ भरे पड़े हैं। वास्तव में त्याग का दूसरा नाम ही नारी है। किन्तु अपने स्वामी (मालिक) के लिये अपनी संतान का बलिदान कर देना विश्व इतिहास का एक अनुपम उदाहरण है। यह सर्वविदित है कि पत्नाधाय ने अपने भावी राजा की प्राण-रक्षा के लिये अपने पुत्र का बलिदान कर दिया था। क्या विश्व में ऐसे बलिदान का उदाहरण कहीं मिल सकता है? नहीं, कदापि नहीं। यह भारतीय नारी का ही साहस है कि वह ऐसा बलिदान कर सकती है। इसके अतिरिक्त अपने शील की रक्षा के लिए हँसते-हँसते जौहर की ज्वाला में अपने प्राणों की आहुति भी भारतीय नारी ही दे सकती है। रानी पद्मिनी के जौहर जैसा उदाहरण भी मिलना दुर्लभ है।

नारी : कुशल उपदेशिका—माता के रूप में नारी एक कुशल शिक्षक है। साध्वी रूप में उसका यह रूप और भी विकसित हो जाता है। संयमव्रत अंगीकार करने के पश्चात् वह जिनवाणी का प्रचार तो करती ही है, लोगों को अपने उपदेश से प्रतिबोधित भी करती है। उनका पथ प्रशस्त करती है।

यह सर्वविदित है कि भगवान ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र बाहुबली संयम ग्रहण करने के पश्चात् एक वर्ष तक तपस्या करते रहे और झूठे अहं में भी रहे। घोर तपश्चर्या करने के पश्चात् भी केवलज्ञान नहीं हुआ। उनको प्रतिबोधित करने के लिए भगवान ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा। दोनों बहनें वन में उस स्थान पर गईं जहाँ बाहुबली तपस्यारत थे। उनकी उत्कट तपस्या देखकर दोनों रोमांचित हो उठी। ब्राह्मी और सुन्दरी ने उस समय समवेत स्वर से गाया—

वीरा ! म्हारा गज थकी उतरो,
गज चढ्या केवल न होसी रे !

जब यह मधुर स्वर बाहुबली के कर्ण कुहरों में पड़ा तो उनका चिन्तन चल गया। अन्तर झकझोर उठा। कौन-सा गज ? कैसा गज ? और तभी उन्हें अहसास हुआ 'अहंकार' रूपी गज का। हाँ, मैं अहंकार रूपी हाथी पर बैठा हूँ। अहंकार चूर-चूर हो गया। अनुर्जों को वन्दना के लिये उनके कदम उठे और उन्हें केवलज्ञान हो गया।

रश्मि को प्रतिबोध प्रदान कर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करने वाली राजीमति भी तो नारी ही थी।

महासती महत्तरा याकिनी ने हरिभद्र को प्रतिबोध प्रदान कर उनकी दिशा ही पलट दी और आज आचार्य श्री हरिभद्रसूरि जैन धर्म में सैकड़ों ग्रन्थों के रचयिता विद्वान आचार्य के रूप में विख्यात हैं।

ये कुछ उदाहरण अवश्य हैं किन्तु ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। इन सबसे नारी की महत्ता प्रतिपादित होती है। इस क्षेत्र में भी नारी नर से पीछे नहीं है।

जैन धर्म में नारी—इस विषय पर तो बहुत कुछ लिया जा सकता है किन्तु यहाँ हमारा उद्देश्य मात्र यही स्पष्ट करने का है कि जैनधर्म का नारी के प्रति दृष्टिकोण क्या है? निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो जैन धर्म में लिंग भेद के आधार पर कोई भेदभाव नहीं है। जो स्थान पुरुष को प्राप्त है, वही स्थान

नारी को भी है। आध्यात्मिक दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। यदि पुरुष आत्म-साधना करते हुए परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता है तो नारी भी यही पद प्राप्त कर सकती है। यहाँ तक कि नारी तीर्थंकर पद भी प्राप्त कर सकती है। इस समानता का ही परिणाम था कि प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में साध्वियों की संख्या अधिक रही। ऐसा करके नारी जाति ने यह भी बता दिया कि संयम व्रत अंगीकार करने में वह पुरुषों से पीछे नहीं आगे ही है। नारी को पुरुष द्वारा हेय समझना अज्ञान, अधर्म एवं अतात्त्विक है। नारी अपने मातृप्रेम से पुरुष को प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान कर समाज का सर्वाधिक हित साधन करती है तथा वासना, विकार और कर्मजाल को काटकर मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इसीलिए महावीर ने अपने चतुर्विध संघ में साधुओं की भाँति साध्वियों को और श्रावकों की भाँति श्राविकाओं को समान स्थान दिया। उन्होंने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं को तीर्थ कहा और चारों को मोक्ष मार्ग का पथिक बताया। यही कारण था कि महावीर के धर्मशासन में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक थी। पुरुषों की अपेक्षा नारियों की अधिक संख्या होना इस बात का प्रतीक है कि महावीर ने नारी जागृति का जो बिगुल बजाया, उससे नारी समाज में जागृति आई व पतित और निराश नारी साधना के मार्ग पर बढ़ी।

भगवान् महावीर ने दास-दासी प्रथा और नारी क्रय-विक्रय पर रोक लगवाई। उनके धर्म संघ में उन्होंने सभी श्रेणी की नारियों को दीक्षाव्रत अंगीकार करने का अधिकार दिया। यह उनकी उदार एवं समान दृष्टि थी।

महावीर ने साध्वी समाज का नेतृत्व महासती चन्दनबाला के हाथों में सौंपकर भी यह स्पष्ट कर दिया कि नारी में नेतृत्व क्षमता भी है।

अपनी साधना के बल पर नारी तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लीनाथ हैं। सर्वप्रथम मोक्ष प्राप्त करने वाली मरुदेवी हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने वाली भी अनेक नारियाँ हुई हैं। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि नारी को आदर-सम्मान और गौरव प्रदान करवाने में जैनधर्म अग्रणी है। इस धर्म में नर और नारी में कोई भेद नहीं किया जाता है। वर्तमान काल में भी अनेक महासतियाँ ऐसी हैं जिन्होंने अपनी साधना और वैदुष्य से समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। अनेक ऐसी साधवियाँ भी हैं जो साधुओं से भी आगे हैं।

प्राणीमात्र में एक समान आत्मचेतना का स्वीकरण श्रमण संस्कृति की धुरा है, उसके चिन्तन-मनन की आधारशिला है। इसी धारणा के आधार पर उसके तीन मूल सिद्धान्त स्थिर हुए हैं—

१. आत्म-साधना, आत्म-कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक प्राणी को समान अधिकार है, इसलिए उनमें वर्ण, जाति, लिंग, वय आदि किसी भी प्रकार का भेद अतात्त्विक है। अतः जन्म, जाति, पद, लिंग आदि की दृष्टि से न कोई श्रेष्ठ है और न कोई हीन।

२. प्रत्येक प्राणी में अपने समान ही चेतना है, आत्मा है, अनुभूति एवं संवेदना है, इसलिए किसी को भी कष्ट नहीं देना चाहिए, उत्पीड़ित नहीं करना चाहिए।

३. जो प्राणी अपनी शान्ति, समृद्धि एवं आनन्द की कामना करता है, उसे उसी रूप में दूसरों की शान्ति, समृद्धि एवं आनन्द की कामना करनी चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रमण संस्कृति ने प्राणीमात्र के बीच अभेद दृष्टि, समत्व बुद्धि एवं मैत्री संस्कार का अमर सूत्र जोड़ने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक प्राणी को आत्म-विकास एवं

जीवनोत्थान का समान अवसर प्राप्त हो, समान अधिकार प्राप्त हो, यह श्रमण संस्कृति की समानता का महान उद्घोष है।

श्रमण संस्कृति प्रारम्भ से ही पुरुष के मिथ्या दर्प को ललकारती रही है। उसने प्राणीमात्र को आत्म-सखा, बन्धु एवं मित्र दृष्टि से देखने की प्रेरणा दी है। नारी को उसने पुरुष की अर्धांगिनी ही नहीं किन्तु उसकी जननी, जीवन सहायिका एवं उपदेशिका के रूप में भी देखा है। चिन्तकों के कुछ क्षुद्र हृदयों ने जहाँ धर्म-साधना, शास्त्र-स्वाध्याय एवं मोक्ष का अधिकार अपने अधीन रखने के लिये प्रकल्पित शास्त्रों का निर्माण किया, वहाँ श्रमण संस्कृति एक ईस्वर से उसे पुरुष के समान धर्मसाधिका के सिंहासन पर आसीन कर नारी के देव-दुर्लभ गौरव का उद्गान करती आई है।

यहाँ श्रमण संस्कृति को विशिष्ट रूप से उल्लेखित किया गया है। इसलिये हमारे लिये 'श्रमण' शब्द को सार्थ समझना आवश्यक हो जाता है।

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'जैन नीतिशास्त्र : एक परिशीलन' में 'श्रमण' शब्द की विशिष्टताएँ के अन्तर्गत श्रमण की उत्पत्ति पर विचार करते हुए उसके अर्थ को सुन्दर रीति से समझाया है। उन्हीं के अनुसार—

'जैनाचार्यों ने 'श्रमण' शब्द को संस्कृत के 'श्रम' धातु से व्युत्पन्न माना है। उनके विचार से श्रम का अभिप्राय है—व्यक्ति अपना विकास स्वयं परिश्रम द्वारा करता है। सुख-दुःख, उत्थान-पतन सभी के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है।'

विद्वान् आचार्यों की यह मान्यता भगवान् महावीर के उस उत्तर पर आधारित प्रतीत होती है, जो भगवान् ने देवराज इन्द्र को उस समय दिया था जब उसने भगवान् की सेवा में रहकर कष्ट-निवारण की अनुमति चाही थी।

प्राकृत भाषा के 'समण' शब्द का संस्कृत रूपान्तर 'श्रमण' संस्कृत विद्वानों ने किया है, किन्तु प्राकृत भाषा के 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—(१) सम, (२) श्रम और (३) श्रम। इन तीनों में ही समण अथवा श्रमण शब्द की विशिष्टता का रहस्य छिपा हुआ है। (१) सम—सभी को, प्राणीमात्र को अपने (अपनी आत्मा के) समान मानना। (अप्यसमं मनिज्ज छप्पिकाए)—छह काया (संसार के सभी सूक्ष्म और स्थूल प्राणी) के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझें।

(२) श्रम—इसका अभिप्राय है शान्ति। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों का शमन करना, सदा अपनी आत्मा को उपशम भाव की शान्त-प्रशांत गंगा में निमज्जित करते रहना।

जैन परम्परा में तो उवसमसारं खु सामण्णं—श्रमणत्व का सार ही उपशम है, कहकर उपशम—शांति का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

(३) श्रम—मनुष्य स्वयं ही अपना, अपनी आत्मा का विकास करता है, अपने सुख-दुःख का स्वयं ही कर्ता है और स्वयं ही उसका भोक्ता है।

जैन ग्रन्थों में श्रमण के लिए कहा गया है—सममणइ तेण सो समणो।

'सममणइ' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—सममणती त्ति तुल्यं वर्तते यतस्तेनासौ समण इति। जो सब जीवों के प्रति समान भाव रखता है, वह 'श्रमण' है। इसीलिए कहा गया है कि श्रमण सुमना होता है, पाप मना नहीं। (जैन नीतिशास्त्र पृष्ठ : १३-३१६)।

जैनधर्म में विद्यमान साध्वी संघ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से समाज पर बहुत उपकार कर रहा है। साध्वियाँ समाज में स्त्री-शिक्षा और स्त्री-जागृति का कार्य करके नारी समाज को उन्नति के मार्ग पर बढ़ने के लिए प्रेरित कर रही हैं। वर्तमान काल में तो स्त्री-शिक्षा का विकास हो रहा है, किन्तु विचार कीजिये जब स्त्री-शिक्षा नहीं के बराबर थी तब साध्वी समाज द्वारा बालिकाओं के साथ-साथ युवा एवं प्रौढ़ महिलाओं को भी ज्ञान प्रदान किया जाता रहा है। जिसके परिणामस्वरूप नारियों में एक नई चेतना उत्पन्न हुई। आज भी साध्वी समाज द्वारा नारी जागरण एवं शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया जा रहा है। बालिकाओं में धार्मिक संस्कार उनके द्वारा ही बोये जा रहे हैं। यही कार्य बालकों के लिए भी किया जा रहा है। इससे समाज में नैतिक जागृति उत्पन्न होती है, जो आगे चलकर जीवन में अत्यधिक उपयोगी प्रमाणित होती है।



गौरव गरिमा मण्डित सद्गुरुणी परम्परा

भगवान महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद चतुर्विध संघ की स्थापना की। साधुओं में गणधर गौतम प्रमुख थे तो साध्वियों में चन्दनवाला मुख्य थी। किन्तु उनके पश्चात् कौन प्रमुख साध्वियाँ हुईं, इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है। वैसे आर्या चन्दनवाला के पश्चात् अनेक सन्नारियों द्वारा जैन भागवती दीक्षा लेने का वर्णन मिलता है। इनमें आर्या सुन्नता से लेकर साध्वी धारिणी तक का नाम है किन्तु सुव्यवस्थित परम्परा रूप में नामोल्लेख नहीं है।

प्राचीनकालीन साध्वियाँ

वीर निर्वाण की दूसरी-तीसरी शताब्दी में महामन्त्री शकलाल की पुत्रियाँ और आर्य स्थूलभद्र की बहनें यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा इन सातों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। वे अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न थीं। उन्होंने अन्तिम नन्द की राज्यसभा में अपनी अद्भुत स्मरणशक्ति के चमत्कार से वरसूचि जैसे मूर्धन्य त्रिज के अहंकार को नष्ट किया था। इन सभी साध्वियों का साध्वी संघ में विशिष्ट स्थान था।

साध्वियों की पट्ट परम्परा भी उपलब्ध नहीं होती है। वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह के समय हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार आर्या पोडणी और तीन सौ अन्य साध्वियों की जानकारी मिलती है। कलिग नरेश महामेघवाहन खारवेल द्वारा वीर निर्वाण की चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण में कुमार गिरि पर आगम परिषद हुई थी, इसमें आर्या पोडणी भी तीन सौ श्रमणियों के साथ उपस्थित हुई थी। इससे आर्या पोडणी की प्रतिभा का पता चलता है। अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती।

वीर निर्वाण की पाँचवीं शताब्दी में कालकाचार्य द्वितीय की भगिनी साध्वी सरस्वती का विवरण उपलब्ध होता है। उनके पिता का नाम वैरसिंह और माता का नाम सुरसुन्दरी था। राजकुमार

कालक का अपनी बहन सरस्वती पर अपार स्नेह था। गुणावर मुनि के उपदेश से दोनों ने जैन दीक्षा ग्रहण की। उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल द्वारा सरस्वती का अपहरण और फिर कालकाचार्य द्वारा शकों की सहायता से अपनी बहन साध्वी सरस्वती को मुक्त कराना, इतिहास की प्रसिद्ध घटना है।

इसी शताब्दी में आर्य वज्र की माता मुनन्दा ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। उन्होंने कब व किसके पास दीक्षा ग्रहण की थी, यह जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

वीरनिर्वाण की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में साध्वी रुक्मिणी का वर्णन मिलता है। वह पाटली-पुत्र के कोट्याधीश श्रेष्ठी धन की इकलौती पुत्री थी। आर्य वज्र के अनुपम रूप को निहार कर मुग्ध हो गई। उसने अपने हृदय की बात अपने पिता से कही। वह एक अरब मुद्राएँ तथा दिव्य वस्त्राभूषणों को लेकर वज्रस्वामी के पास पहुँचा। किन्तु रुक्मिणी ने वज्रस्वामी के त्याग—वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की और रुक्मिणी और वज्रस्वामी के अपूर्व त्याग को देखकर सभी श्रद्धावनत हो गये।

इसी अवधि में एक विदेशी महिला द्वारा आर्हती दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। विशेषावश्यकभाष्य तथा निशीथर्चण में वर्णन मिलता है कि मुरुण्डराज की विधवा बहन प्रव्रज्या लेना चाहती थी। मुरुण्डराज ने साध्वियों की परीक्षा लेने हेतु एक आयोजन किया कि कौन साध्वी कैसी है? एक भीमकाय हाथी पर महावत बैठ गया और चौराहे पर खड़ा हो गया। जब कोई भी साध्वी उधर से निकलती तब महावत हाथी को साध्वी की ओर बढ़ाते हुए साध्वी को चेतावनी देता कि सभी वस्त्रों का परित्याग कर निर्वसना हो जाय, नहीं तो यह हाथी तुम्हें अपने पैरों से कुचल डालेगा। अनेक साध्वियाँ, परित्राजिकाएँ, भिक्षुणियाँ उधर से निकलीं। भयभीत होकर उन्होंने वस्त्रों का परित्याग कर दिया। अन्त में एक जैन श्रमणी उधर आई। श्रमणी के धैर्य की कठोर परीक्षा लेने के लिए हाथी ज्योंही उसकी ओर बढ़ने लगा, त्योंही उसने क्रमशः अपने धर्मोपकरण उधर फेंक दिये, उसके पश्चात् साध्वी हाथी के इधर-उधर घूमने लगी। किन्तु उसने अपना वस्त्र-त्याग नहीं किया। जब जन-समूह ने यह दृश्य देखा तो उसका आक्रोश उभर आया। मुरुण्डराज ने भी संकेत कर हाथी को हस्तिशाला में भिजवा दिया और उसी श्रमणी के पास अपनी बहन को प्रव्रजित करवाया। उस साहसी श्रमणी तथा मुरुण्डराज की बहन का नाम उपलब्ध नहीं होता है।

साध्वी रुद्रसोमा—वीर निर्वाण की छठी शताब्दी में आर्यरक्षित की माता साध्वी रुद्रसोमा का नाम भी उल्लेखनीय है। जब आर्यरक्षित गम्भीर अध्ययन कर लौटा था तो उसे पूर्वों का अध्ययन करने हेतु माता रुद्रसोमा ने आचार्य तोसलीपुत्र के पास भेजा था। रुद्रसोमा की प्रेरणा से ही राजपुरोहित सोमदेव तथा उसके परिवार के अनेकों व्यक्तियों ने आर्हती दीक्षा स्वीकार की और स्वयं उसने भी। उसका यशस्वी जीवन इतिहास की अनमोल सम्पदा है।

दानवीरा श्रमणी ईश्वरी—श्रमणी ईश्वरी भी वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के अन्त में हुई। उसके पति का नाम श्रेष्ठी जिनदत्त था, जो सोपारक नगर का रहने वाला था। सोपारक नगर में भयंकर दुष्काल पड़ा था। एक लाख मुद्रा से अंजली भर अन्न प्राप्त हो पाया था। उसमें विष मिलाकर सभी ने मरने का निश्चय किया। उसी समय मुनि भिक्षार्थ आये। मुनि दर्शन से ईश्वरी भावविभोर हो गई। आर्य वज्रसेन ने ईश्वरी को बताया कि अन्न में विष मिलाने की आवश्यकता नहीं है। कल से सुकाल होगा। उसी रात्रि में अन्न के जहाज आ गये। जिससे जीवन में सुख-शांति हो गई। ईश्वरी की प्रेरणा

से सेठ जिनदत्त और उसके चारों पुत्र नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर के साथ जैन दीक्षा ग्रहण कर ली। उनके नामों से गच्छ और कुल परम्परा प्रारम्भ हुई। साध्वी ईश्वरी ने भी उत्कृष्ट साधना कर अपना जीवन चमकाया।

इसके पश्चात् अनेक साध्वियाँ हुईं किन्तु उनका किसी प्रकार का कोई परिचय नहीं मिलता है।

आधुनिककालीन साध्वियाँ

तेजोमूर्ति भाग्यशालिनी भागाजी—इनका जन्म दिल्ली में हुआ था। माता-पिता के नाम ज्ञात नहीं हैं। भागाजी के सांसारिक नाम का भी पता नहीं है। इन्होंने आचार्य अमरसिंहजी म० के सम्प्रदाय में किसी साध्वी के पास आहती दीक्षा ग्रहण की थी। ये महान प्रतिभा-सम्पन्न थीं। इनके द्वारा लिखे हुए अनेकों शास्त्र, रास तथा अन्य ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ श्री अमर जैन ज्ञान भंडार, जोधपुर में तथा अन्यत्र संग्रहीत हैं। लिपि सुन्दर नहीं है, पर शुद्ध है। आचार्य श्री अमरसिंह जी म० के नेतृत्व में पंचेवर ग्राम में संत-सम्मेलन हुआ था, उसमें उन्होंने भी भाग लिया था और जो प्रस्ताव पारित हुए उनमें उनके हस्ताक्षर भी हैं।

अनुभूति है कि उन्हें बत्तीस आगम कण्ठस्थ थे। वे स्वाध्याय-प्रेमी भी थीं। उनका विहार क्षेत्र दिल्ली, पंजाब, राजस्थान रहा। महासती श्री भागाजी की अनेक विदुषी शिष्यायें हुई थीं। उनमें वीराजी प्रमुख थीं। वे भी आगमों के ग्रहणों की ज्ञाता और चारित्रनिष्ठा थीं। वीराजी का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता है। इनकी मुख्य शिष्या सदाजी थीं।

मोहजयी महासती सदाजी—इनका जन्म सांभर-राजस्थान निवासी पीथोजी मोदी की धर्मपत्नी पाटनदे की कुक्षि से वि० सं० १८५७, पौष कृष्णा दशमी के दिन हुआ था। मालचन्द और बालचन्द ये दो इनके ज्येष्ठ भ्राता थे। सदाजी अद्वितीय रूपवती थीं, इस कारण इनका विवाह जोधपुर रियासत में एक अधिकारी सुमेरसिंहजी मेहता के साथ हुआ था। सदाजी को बाल्यकाल से ही धार्मिक संस्कार मिले थे। इस कारण वे प्रतिदिन सामायिक करती थीं और प्रातःकाल व संध्या के समय प्रतिक्रमण भी करती थीं।

एक बार वे एक ग्रहर तक संवर की मर्यादा लेकर नमस्कार महामन्त्र का जाप कर रही थीं, उसी समय दासियाँ घबराई हुईं और रोती हुईं दौड़ी आईं और कहा—“स्वामिन् ! गजब हो गया। मेहता जी की हृदयगति एकाएक रुक जाने से उनका प्राणान्त हो गया है।” यह सुनते ही सदाजी ने तीन दिन का उपवास कर लिया और दूध, दही, घी, तेल और मिष्ठान्न इन पांचों विषय का जीवन-पर्यन्त के लिये त्याग कर दिया। भोजन में केवल रोटी और छाछ आदि का उपयोग करना ही रखकर शेष सभी वस्तुओं का त्याग कर दिया। पति मर गया, पर उन्होंने रोने का भी त्याग कर दिया। सास-ससुर विलाप करने लगे तो उन्हें भी समझाया कि रोने से कोई लाभ नहीं है। आपका पुत्र आपको छोड़कर संसार से विदा हो चुका है, ऐसी स्थिति में मैं अब भ्रमण धर्म स्वीकार करूँगी। सभी ने उन्हें समझाया, पर वे दृढ़ बनी रहीं और अन्त में महासती भागाजी की शिष्या महासती वीराजी के पास वि. सं. १८७७ में बाड़मेर जिले के जसोल गांव में जैन भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षोपरान्त उन्होंने अठारह शास्त्र कण्ठस्थ किये, सैकड़ों थोकड़े और अन्य दार्शनिक धार्मिक ग्रन्थ भी। देश के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रमण कर सदाजी ने धर्म की खूब प्रभावना की। अपने अन्तिम दिनों में वे जोधपुर में स्थिरवास रहीं

और यहीं वि० सं० १६२१ भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा के दिन पचपन दिन के संथारे के साथ उनका स्वर्गवास हुआ ।

फत्तूजी की परम्परा—महासती सदाजी की अनेक शिष्यायें हुईं । उनमें फत्तूजी, रत्नाजी, चेनाजी और लाधाजी ये चार मुख्य थीं । महासती फत्तूजी का विहार क्षेत्र मारवाड़ रहा और उनकी शिष्याएँ भी मारवाड़ में ही विचरण करती रहीं । आज पूज्यश्री अमरसिंह जी म० की सम्प्रदाय की मारवाड़ में जो साधिव्याँ हैं, वे सभी फत्तूजी के परिवार की हैं । आपकी अनेक शिष्याएँ भी हुईं किन्तु सभी का परिचय उपलब्ध नहीं होता है ।

महासती रत्नाजी का विचरण मेवाड़ में रहा । मेवाड़ में जितनी साधिव्याँ हैं, वे रत्नाजी के परिवार की हैं ।

महासती चेनाजी सेवाभावी और महासती लाधाजी उग्रतपस्विनी थी । इन दोनों की शिष्या परम्परा उपलब्ध नहीं होती है ।

शासन प्रभाविका लछमाजी—लछमाजी महासती रत्नाजी के परिवार की थीं । इनका जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम निवासी रिखबचन्द जी माण्डोत की धर्मपत्नी नन्दूबाई की कुक्षि से सं० १६१० में हुआ था । किसना जो और वच्छराज जी आपके भाई थे । आपका पाणिग्रहण मादड़ा ग्राम के सांकलचन्दजी चौधरी के साथ हुआ था । कुछ समय पश्चात् सांकलचन्द जी का निधन हो गया । उसी समय महासती रत्नाजी की शिष्या महातपस्विनी, गुलाबकुँवर जी मादड़ा पधारीं । उनके उपदेश से लछमा जी के मन में वैराग्य भावना जाग्रत हुई और वि० सं० १६२८ में भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली । वे प्रवृत्ति से भद्र, विनीत और सरल मानस वाली थी । लछमाजी प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं । उनके जीवन की अनेक घटनाओं का चमत्कारिक वर्णन मिलता है । वि० सं० १६५६ ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या के दिन ६७ दिन के संथारे से उनका स्वर्गवास हुआ ।

प्रतिभापुंज रंभाजी—रंभाजी भी महासती रत्नाजी की शिष्या थीं । रंभाजी प्रतिभा की धनी थीं । उनकी शिष्या नवलाजी हुईं । नवलाजी परम विदुषी साध्वी थीं । उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त प्रभावक थी । आपकी अनेक शिष्याएँ हुईं । उनमें से पाँच शिष्याओं की कुछ जानकारी मिलती है ।

महासती नवलाजी का शिष्या परिवार—महासती नवलाजी की सुशिष्या कंसुबा जी थीं । उनकी एक शिष्या हुई । उनका नाम सिरिकुंवरजी था । उनकी साकरकुंवरजी और नजरकुंवरजी नामक दो शिष्याएँ हुईं । महासती साकरकुंवर जी की शिष्याओं के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती है ।

महासती नजरकुंवरजी एक विदुषी साध्वी थीं । उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था । उन्हें आगम साहित्य का अच्छा ज्ञान था । आपकी पाँच शिष्याओं के नाम इस प्रकार हैं—

- (१) महासती रूपकुंवरजी—ये उदयपुर के निकट ग्राम देलवाड़ा की निवासिनी थीं ।
- (२) महासती प्रतापकुंवरजी—ये उदयपुर राज्य के वीरपुरा ग्राम की थीं ।
- (३) महासती पाटूजी—ये समदड़ी की थीं । इनके पति का नाम गोडाजी लुंकाड़ था । इनकी दीक्षा वि० सं० १६७८ में हुई थी ।
- (४) महासती चौथाजी—इनका जन्म उदयपुर राज्य के ग्राम बंबोरा में हुआ था । इनकी समुराल वाटी ग्राम में थी ।

(५) महासती एजाजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के शिशोदे ग्राम निवासी भेरुलाल जी की धर्मपत्नी कर्धुबाई की कुक्षि से हुआ था। आपका विवाह वारी (मेवाड़) में हुआ और वहीं दीक्षा भी हुई। इनकी कोई शिष्या नहीं है। यह परम्परा यहीं तक है।

महासती नवलाजी की द्वितीय शिष्या गुमनाजी थीं। उनकी शिष्या परम्पराओं में विदुषी महासती आनन्दकुंवरजी हुईं। उनकी अनेक शिष्याओं में से एक बालब्रह्मचारिणी अभयकुंवरजी हुईं। आपका जन्म वि० सं० १६५२ फाल्गुन कृष्णा १२ मंगलवार को राजवी के बाटेला गांव (मेवाड़) में हुआ। आपने अपनी माताजी हेमकुंवरजी के साथ महासती आनन्दकुंवरजी के सान्निध्य में वि० सं० १६५० मृगशिर शुक्ला १३ को पाली—मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की। आपकी प्रवचन शैली आकर्षक थी। आप भीम में स्थिरवास रही और वि० सं० २०३३ के माघ मास में संधारे सहित आपका स्वर्गवास हुआ।

आपकी दो शिष्याएँ महासती बदामकुंवरजी तथा महासती जसकुंवरजी हुईं।

महासती नवलाजी की तृतीय शिष्या केसरकुंवरजी थीं। उनकी शिष्या छगनकुंवरजी हुईं।

महासती छगनकुंवरजी—आप कुशलगढ़ के सन्निकट ग्राम केलवाड़े की निवासिनी थीं। आपका पाणिग्रहण लघुवय में ही हो गया था। कुछ समय पश्चात् पति का देहावसान हो गया। महासती गुलाबकुंवरजी के प्रवचन से वैराग्य हुआ और दीक्षा ग्रहण कर ली। आपका ससुर पक्ष मूर्तिपूजक आम्नाय के प्रति आकर्षित था। आपकी अनेक शिष्याएँ हुईं। वि० सं० १६६५ में संधारे के साथ उदयपुर में आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती ज्ञानकुंवरजी—आप महासती श्री छगनकुंवरजी की शिष्या थीं। आपका जन्म वि० सं० १६०५ में जम्मड़ गाँव में हुआ था। आपका विवाह बम्बोरा निवासी शिवलाल जी के साथ हुआ था। आपने वि० सं० १६५० में महासती छगनकुंवरजी के पास जालोट में दीक्षा ग्रहण की। आपके पुत्र हजारीमल ने भी वि० सं० १६५० ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी के दिन समदड़ी में दीक्षा ग्रहण की और मुनि नाम ताराचन्द जी म० रखा गया। वि० सं० १६८७ में उदयपुर में संधारे सहित आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती फूलकुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के अन्तर्गत दुलावतों के गुड़े के निवासी भागचन्दजी की पत्नी चुन्नीबाई की कुक्षि से वि० सं० १६२१ में हुआ। लघुवय में आपका विवाह तिरपाल में हुआ। पति के देहान्त के बाद सत्तरह वर्ष की आयु में महासती छगनकुंवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आप तीक्ष्ण बुद्धि थीं। आपको अनेक शास्त्र कंठस्थ थे। आपकी प्रवचन शैली मधुर थी। आपकी सात शिष्याएँ (१) महासती माणककुंवर (२) महासती धूलकुंवर (३) महासती आनन्दकुंवर (४) महासती लाभकुंवर (५) महासती सोहनकुंवर (६) महासती प्रेमकुंवर (७) महासती मोहनकुंवर हुईं। आप बारह दिन के संधारे के साथ स्वर्ग सिधारी।

महासती माणककुंवर—आपका जन्म उदयपुर राज्य के कानोड़ ग्राम में वि० सं० १६१० में हुआ। आपकी प्रकृति सरल, सरस थी। सेवा-भावना भी अत्यधिक थी। ७५ वर्ष की आयु में वि० सं० १६८५ के आसोज में आपका उदयपुर स्वर्गवास हुआ।

महासती धूलकुंवर—आपका जन्म उदयपुर राज्य के मादड़ा ग्राम निवासी पन्नालालजी चौधरी की धर्मपत्नी नाथीबाई की कुक्षि से वि० सं० १६३५ माघ कृष्णा अमावस्या को हुआ था। तेरह वर्ष की आयु में वास निवासी चिमनलालजी ओरडिया के साथ आपका विवाह हुआ। कुछ समय बाद पति का

देहान्त हो गया तो आपने वि. सं. १९५६ फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी के दिन वास ग्राम में महासती फूलकुंवरजी के पास दीक्षा ग्रहण करली। विनय, वैयावृत्य और सरलता आपके जीवन की विशेषताएँ थीं। आपको अनेक शास्त्र और ३०० थोकड़े कण्ठस्थ थे। महासती आनन्दकुंवरजी, महासती सौभाग्यकुंवरजी, महासती शम्भु कुंवरजी, बा. व. शीलकुंवरजी, महासती मोहन कुंवरजी, महासती कंचन कुंवरजी, महासती सुमनवतीजी, महासती व्याकुंवरजी आदि आपकी शिष्याएँ थीं। आपका विहार क्षेत्र राजस्थान और मध्य प्रदेश रहा। वि. सं. २०१३ कार्तिक शुक्ला एकादशी को चौबीस घण्टे के संयारे के साथ गोगुन्दा में आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती लाभकुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्यान्तर्गत ग्राम ढोल निवासी मोतीलालजी ढालावत की धर्मपत्नी तीजबाई की कुक्षि से वि. सं. १९३३ में हुआ था। आपका विवाह सायरा के कावेडिया परिवार में हुआ था। लघु वय में ही आपके पति का देहान्त हो जाने से महासती फूलकुंवरजी के पास वि. सं. १९५६ में सादड़ी मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की। आपका कण्ठ मधुर और व्याख्यान कला सुन्दर थी। महासती लहर कुंवरजी और महासती दाख कुंवरजी—दोनों आपकी शिष्याएँ हुईं। आपका स्वर्गवास वि. सं. २००३ के श्रावण में यशवंतगढ़ में हुआ।

महासती लहरकुंवर—नान्देशमा निवासी सूरजमलजी सिधवी की धर्मपत्नी फूलकुंवर की कुक्षि से आपका जन्म हुआ। आपका विवाह ढोल निवासी गेगरायजी ढालावत के साथ हुआ था। पति के देहान्त के पश्चात् पुत्री का भी स्वर्गवास हो गया। सात वर्षीय पुत्री अपनी सास को सौंपकर वि. सं. १९८१ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन नान्देशमा में दीक्षा ग्रहण कर ली। आप मिलनसार थीं। महासती खमानकुंवरजी आपकी शिष्या हैं। आपका स्वर्गवास वि. सं. २०२६ में माघ कृष्णा अष्टमी को १२ घण्टे के संयारे के साथ सायरा में हुआ।

महासती प्रेमकुंवर—आपका जन्म गोगुन्दा में और विवाह उदयपुर में हुआ था। पति के देहावसान के पश्चात् महासती फूलकुंवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आप विनीत, सरल एवं क्षमाशील थीं। वि. सं. १९६४ में उदयपुर में आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या महासती पानकुंवरजी हुई थीं जिनका स्वर्गवास गोगुन्दा में वि. सं. २०२४ के पौष माह में हुआ।

महासती मोहनकुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के वाटी ग्राम में हुआ था। आपका विवाह मोलेरा ग्राम में हुआ था। महासती फूलकुंवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आपको थोकड़ों का अच्छा अभ्यास था।

महासती सौभाग्यकुंवरजी—आपका जन्म बड़ी सादड़ी के नागोरी परिवार में हुआ था। बड़ी सादड़ी के ही प्रतापमलजी मेहता के साथ आपका विवाह हुआ था। आपके एक पुत्र भी हुआ। महासती फूलकुंवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर उनके ही पास दीक्षा ग्रहण की। आपकी प्रकृति भद्र थी। वि. सं. २०२७ के आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन तीन घण्टे के संयारे के साथ गोगुन्दा में आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती शम्भुकुंवरजी—आपका जन्म बागपुरा निवासी गेगराजजी धर्मावत की धर्मपत्नी नाथीबाई की कुक्षि से वि. सं. १९५८ में हुआ था। खाखड़ निवासी अनोपचन्द बनोरिया के सुपुत्र धनराज जी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। आपके दो पुत्रियाँ हुईं। पति की मृत्यु के पश्चात् अपनी लघुपुत्री के साथ वि. सं. १९८२ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को खाखड़ ग्राम में महासती धूलकुंवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। पुत्री अचरजबाई का साध्वी नाम सती शीलकुंवर रखा गया। आपको थोकड़े और साहित्य

का अच्छा ज्ञान था। वि. सं. २०२३ आषाढ कृष्णा त्रयोदशी को गोगुन्दा में आपका संधारे के साथ स्वर्ग-वास हुआ।

इस परम्परा में महासती शीलकुंवरजी म. अभी विद्यमान हैं। महासती मोहनकुंवरजी, महासती सायरकुंवरजी, विदुषी महासती चन्दनबालाजी, महासती चेलनाजी, महासती साधनाकुंवरजी, महासती देवेन्द्राजी, महासती मंगलज्योति, महासती धर्मज्योति आदि अनेक आपकी शिष्याएँ हैं।

महासती नवलाजी की चतुर्थ शिष्या जसाजी हुईं। इसी परम्परा में महासती लाभकुंवरजी हुईं। इनका जन्म उदयपुर राज्य के कम्बोल गाँव में हुआ था। लघुवय में ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी। आप साहसी और निर्भीक प्रकृति की थीं। आपके जीवन में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं। आपकी अनेक शिष्याएँ हुईं। उनमें एक शिष्या महासती छोटे आनन्दकुंवरजी थी। आपका जन्म उदयपुर राज्य के कमोल गाँव में हुआ था। आप त्यागी भावना वाली थीं। प्रवचन प्रभावशाली होते थे। आपकी भी अनेक शिष्याएँ हुईं। जिनमें महासती मोहनकुंवरजी म. और लहरकुंवरजी म. का विशेष स्थान है।

महासती मोहनकुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के भूताला ग्राम के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपका जन्म नाम मोहनबाई था। नौ वर्ष की अल्पायु में आपका विवाह हो गया था। एक बार पति-पत्नी तीर्थ यात्रा पर गये थे। भड़ोच में स्नान करते समय पति की बहकर मृत्यु हो गयी।

महासती आनन्दकुंवरजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भूताला पधारीं। उनके उपदेश से मोहनबाई की वैराग्य भावना जाग्रत हुई। दीक्षा मार्ग में बाधायें भी आयीं, किन्तु अन्ततः सोलह वर्ष की आयु में आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

आपको अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था। बत्तीस वर्ष की आयु में स्वस्थ होते हुए आपने संधारा ग्रहण करना चाहा किन्तु सद्गुरुस्वर्या आनन्दकुंवरजी व आचार्य श्री लालजी महाराज ने संधारा करवाने से मना कर दिया। इस सम्बन्ध में महाराणा फतहसिंह ने भी पुछवाया था कि असमय संधारा क्यों किया जा रहा है। आप अपने संकल्प से पीछे नहीं हटीं। अन्त में संधारा ग्रहण किया और गौतम प्रतिपदा के दिन निश्चित समय पर उनका देहावसान हुआ।

महासती लहरकुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के सलोदा में हुआ था और यहीं आपका पाणिग्रहण भी हुआ। लघुवय में पति का देहान्त हो जाने के कारण आपने महासती आनन्दकुंवरजी म. के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। आपको आगम साहित्य का अच्छा ज्ञान था। आपने शास्त्रार्थ कर विजय पताका भी फहराई। आपकी वाणी में मिठास और व्यवहार सरल था। सं. २००७ के यशवंतगढ़ चालु-मास में आपका स्वर्गवास हुआ।

आपकी दो शिष्याएँ हुईं—महासती सज्जनकुंवर जी और महासती कंचनकुंवर जी।

महासती सज्जनकुंवर जी का जन्म तिरपाल ग्राम के बंबोरी परिवार में भेरूलाल जी की धर्मपत्नी रंगूबाई की कुक्षि से हुआ था। तेरह वर्ष की आयु में कमोल निवासी ताराचन्द्र जी जोशी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। आपका जन्म जमनाबाई था। पति का देहान्त होने के उपरान्त महासती आनन्दकुंवर जी के पास सं० १९७६ में दीक्षा ग्रहण की। सं० २०३० आसोज पूर्णिमा के दिन यशवंतगढ़ में आपका स्वर्गवास हुआ। बालब्रह्मचारिणी विदुषी महासती कौशल्या जी आपकी शिष्या हैं।

महासती कौशल्या जी की सात शिष्याएँ हैं—महासती विनयवती जी, महासती हेमवती जी,

महासती दर्शनप्रभा जी, महासती सुदर्शनप्रभा जी, महासती संयमप्रभा जी, महासती स्नेहप्रभा जी और महासती सुलक्षणा जी ।

महासती कंचनकुंवर जी—आपका जन्म कमोल गाँव के दोशी परिवार में हुआ था । तेरह वर्ष की आयु में आपका विवाह पादरडा में हुआ और चार माह बाद पति का देहान्त हो गया । महासती लहरकुंवर जी के पास दीक्षा ग्रहण की । नांदेशमा ग्राम में सन्थारे के साथ आपका स्वर्गवास हुआ । आपकी शिष्या महासती वल्लभकुंवर हैं जो बहुत ही सेवाभावी हैं ।

महासती सदाजी की पाँचवी शिष्या अमृताजी हुई । उनकी परम्परा में महासती रायकुंवरजी हुई जो प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं । उनका जन्म स्थान उदयपुर के निकट क्विता ग्राम था । आप ओस-वाल तलेसरा वंश की थी । इससे अधिक और कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

महासती सूरजकुंवर जी—आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी और पाणिग्रहण साडोल (मेवाड़) के हनोत परिवार में हुआ था । अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

महासती फूलकुंवर जी—आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी । आंचलिया परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ था । अन्य जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

महासती हुल्लासकुंवर जी—आपका जन्म भी उदयपुर में हुआ था । आपका पाणिग्रहण उदयपुर के हरखावत परिवार में हुआ था । महासती जी के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की । आपकी पाँच शिष्याएँ हुई—महासती देवकुंवर जी, महासती प्यारकुंवर जी, महासती पदमकुंवर जी, स्थाविरा महासती सौभाग्यकुंवर जी और सेवामूर्ति महासती चतुरकुंवर जी । महासती पदमकुंवर जी की महासती कैलाशकुंवर शिष्या हुई ।

महासती सौभाग्यकुंवर जी—आप महासती हुल्लासकुंवर जी की चतुर्थ शिष्या हैं । आपका जन्म उदयपुर निवासी मोडीलाल जी खोखावत की धर्मपत्नी रूपाबाई की कुक्षि से हुआ था । आप मधुर स्वभावी हैं । आपकी एक शिष्या हुई—महासती मोहनकुंवर जी जिनका जन्म दरीबा (मेवाड़) में हुआ था और पाणिग्रहण दबोक में हुआ । वि० सं० २००७ में आपने दीक्षा ग्रहण की और वि० सं० २०३१ में उदयपुर में आपका स्वर्गवास हुआ ।

महासती हुल्लासकुंवरजी की पाँचवी शिष्या महासती चतुरकुंवरजी हैं जो सेवापरायणा साध्वी रत्न हैं ।

महासती रायकुंवरजी की चतुर्थ शिष्या हुकुमकुंवरजी थीं । उनकी सात शिष्याएँ हुई । महासती भूरकुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के क्विता ग्राम में हुआ था । पचहत्तर वर्ष की आयु में आपका देहावसान हुआ । आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती प्रतापकुंवरजी था जो भद्र प्रकृति की थीं । लगभग सत्तर वर्ष की आयु में आपका स्वर्गवास हुआ ।

महासती हुकुमकुंवर जी की दूसरी शिष्या रूपकुंवर जी थीं जिनका जन्म देवास (मेवाड़) में हुआ था और उदयपुर में आपका स्वर्गवास हुआ ।

महासती हुकुमकुंवरजी की तृतीय शिष्या वल्लभकुंवरजी थीं । आपका जन्म उदयपुर के बाफना परिवार में हुआ था और पाणिग्रहण उदयपुर के ही गेलड़ा परिवार में हुआ था । दीक्षा के बाद आपने आगमों का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था । आपकी एक शिष्या हुई जिसका नाम महासती गुलाब कुंवरजी था ।

महासती हुकुमकुंवरजी की चौथी शिष्या सज्जनकुंवर थीं। आपका जन्म उदयपुर के बाफना परिवार में और पाणिग्रहण दूगड़ परिवार में हुआ था। आपकी एक शिष्या मोहन कुंवरजी हुईं। उदयपुर में आपका स्वर्गवास में हुआ।

महासती हुकुमकुंवर जी की पांचवीं शिष्या छोटे राजकुंवरजी थीं जो उदयपुर के माहेश्वरी वंश की थी।

महासती हुकुमकुंवरजी की छठी शिष्या देवकुंवरजी थीं, जो उदयपुर के निकट कर्णपुर ग्राम की थीं और पोरवाड़ वंश की थीं। सातवीं शिष्या महासती गेंदकुंवर थीं जिनका जन्म उदयपुर के निकट भुआना के पगारिया परिवार में हुआ था। चन्देसरा गाँव के बोकड़िया परिवार में आपका विवाह हुआ था। आप सेवापरायणा थीं और सं. २०१० में व्यावर में आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती मदनकुंवर जी—आपकी जन्म स्थली उदयपुर थी। दीक्षोपरान्त आपने आगम साहित्य का गहन अध्ययन किया। आचार्य श्री मन्नालालजी म० ने, जो स्वयं भी आगम साहित्य के मूर्धन्य विद्वान थे, उदयपुर में महासतीजी से एक प्रवचन सभा में आगमों से सम्बन्धित उन्नीस प्रश्न किए थे। सभी प्रश्नों का महासती मदनकुंवरजी ने सटीक और सप्रमाण उत्तर देकर अपने वैदुष्य का परिचय दिया था। आचार्यश्री ने तब कहा था—“मैंने कई सन्त-सतियाँ देखीं, पर इनके जैसी प्रतिमा सम्पन्न साध्वी नहीं देखी।”

महासती मदनकुंवरजी गुप्त तपस्विनी भी थीं। उनमें सेवा गुण भी गजब का था। सन् १९४९ में तीन दिन के संधारे के साथ उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

महासती सल्लेकुंवरजी और महासती सज्जनकुंवरजी दोनों संसार पथ से माता और पुत्री थीं। उदयपुर जन्मस्थली थी और मेहता परिवार से सम्बन्धित थीं।

महासती तीजकुंवर जी—आपका जन्म उदयपुर के तिरपाल गाँव में हुआ था। आपका जन्म-नाम गुलाबदेवी था। आपका विवाह तिरपाल के ही सेठ रोडमल जी भोगर के साथ हुआ था। आपके दो पुत्र और एक पुत्री थी। पति की मृत्यु के उपरान्त आपने दोनों पुत्र प्यारेलाल, भेरूलाल और पुत्री खमाकुंवर के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। आप उग्र तपस्विनी थीं। सोलह वर्ष तक आपने एक घी के अतिरिक्त दूध, दही, तेल और मिष्ठान्न इन चार विषयों का त्याग किया। एक दिन के संधारे के साथ आपका स्वर्गवास हुआ।

परमविदुषी महासती श्री सोहनकुंवरजी म०

आपका जन्म उदयपुर के निकट तिरपाल निवासी रोडमलजी की धर्मपत्नी गुलाबदेवी की कुक्षि से वि० सं० १९४९ (ई० सन् १८९२) में हुआ था। आपका जन्मनाम खमाकुंवर था। नौ वर्ष की लघुवय में आपका वाग्दान डुलावतों के गुड़े के तकतमलजी के साथ हो गया। किन्तु परमविदुषी महासती रायकुंवरजी और कविवर्य पं० मुनि नेमीचन्दजी महाराज के त्याग-वैराग्ययुक्त उपदेश श्रवण कर आप में वैराग्य भावना जागृत हुई और जिनके साथ वाग्दान किया गया था, उनका सम्बन्ध छोड़ कर अपनी मातेश्वरी और अपने ज्येष्ठ भ्राता प्यारेलाल एवं भेरूलाल के साथ क्रमशः महासती रायकुंवरजी और कविवर्य पं० मुनि नेमीचन्दजी महाराज के पास जैन भागवती दीक्षा ग्रहण की। आपकी

दीक्षा पञ्चमड़ा (बाड़मेर) में हुई थी और दोनों भाइयों ने शिवगंज में दीक्षा ग्रहण की थी। दीक्षा के समय आपकी आयु नौ साल थी और आपके भ्राताओं की क्रमशः १३ और १४ साल की आयु थी। दोनों भ्राता बड़े ही मेधावी थे। कृष्ण ही वर्षों में उन्होंने आगम साहित्य का गहन अध्ययन कर लिया। किन्तु दोनों ही युवावस्था में क्रमशः मदार (मेवाड़) और जयपूर में संधारा कर स्वर्गस्थ हुए।

आपका दीक्षा नाम महासती सोहनकुंवर जी रखा गया।

मधुरभाषिणी सोहनकुंवरजी म०

आपने दीक्षा ग्रहण करते ही आगम साहित्य का गहन अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। इसके साथ ही थोड़े-थोड़े साहित्य का भी अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। आपने शताधिक रास, चौपाइयाँ तथा भजन भी कण्ठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जिस समय आप प्रवचन करती थी उसमें विविध आगम रहस्यों के साथ रूपक, दोहे, कवित्त, श्लोक और उर्दू शायरी का भी यत्र-तत्र उपयोग करती थी। विषयानुरूप आपकी भाषा में ओज और कभी शांत रस प्रवाहित होता था और जनता आपके प्रवचनों को सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाती थी।

अध्ययन के साथ ही तप के प्रति आपकी स्वाभाविक रुचि थी। माता के संस्कारों के साथ तप की परम्परा आपको विरासत में मिली थी। आपने अपने जीवन की पवित्रता हेतु अनेक नियम ग्रहण किए थे, उनमें से कुछ नियम इस प्रकार हैं—

- (१) पंच पर्व दिनों में आयम्बिल, उपवास, एकासन, नीवि आदि में से कोई न कोई तप अवश्य करना।
- (२) बारह महीने में छह महीने तक चार विगय ग्रहण नहीं करना। केवल एक विगय का ही उपयोग करना।
- (३) छः महीने तक अचित्त हरी मञ्जी आदि का उपयोग नहीं करना।
- (४) चाय का परित्याग।
- (५) तीन शिष्याओं के पश्चात् शिष्या बनाने का त्याग किया। इनके पहले तीस-पैंतीस साध्वियों को दीक्षा दी किन्तु अपनी शिष्या नहीं बनाई।
- (६) प्लास्टिक, सेलुलाइड आदि के पात्र, पट्टी आदि कोई वस्तु अपनी नेश्राय में न रखने का निर्णय।
- (७) जो उनके पास पात्र थे, उनके अतिरिक्त नए पात्र ग्रहण करने का भी उन्होंने त्याग कर दिया।
- (८) एक दिन में पाँच द्रव्य से अधिक द्रव्य ग्रहण न करना।
- (९) प्रतिदिन कम से कम पच्चीस गाथाओं का स्वाध्याय करना।
- (१०) बारह महीने में एक बार पूर्ण बत्तीस आगमों का स्वाध्याय करना।

इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन को अनेक नियमों और उपनियमों से आबद्ध बनाया। उनके जीवन में वैराग्य भावना अठखेलियाँ करती थी। यही कारण है कि अजमेर में सन् १९६३ में श्रमणी संघ

ने मिलकर आपको चन्दनबाला श्रमणी संघ की अध्यक्ष नियुक्त किया और श्रमण संघ के उपाचार्य श्रीगणेश लालजी म. समय-समय पर अन्य साधवियों को प्रेरणा देते हुए कहते कि देखो, विदुषी महासती सोहन कुँवरजी कितनी पवित्र आत्मा है। उनका जीवन त्याग-वैराग्य का साक्षात् प्रतीक है। तुम्हें उनका अनुसरण करना चाहिए।

विदुषी महासती सोहनकुँवरजी जहाँ ज्ञान-ध्यान में तल्लीन थी वहाँ उन्होंने उत्कृष्ट तप की भी अनेक बार साधनाएँ कीं। उनके तप की सूची विस्तृत है। आप जब भी तप करतीं तब पारणों में घोरसो करती थीं या पारणों के दिन आयं बिल तप करतीं जिससे पारणों में औद्देशिक और नैमित्तिक दोष न लगें।

आभ्यन्तर तप की सफल साधिका

बाह्य तप के साथ आन्तरिक तप की साधना भी आपकी निरन्तर चलती रहती थी। सेवा भावना आपमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। आप स्व-सम्प्रदाय की साधवियों की ही नहीं किन्तु अन्य सम्प्रदाय की साधवियों की भी उसी भावना से सेवा करती थी। आपके अन्तर्मानस में स्व और पर का भेद नहीं था।

आचार्य श्री गणेशलाल जी महाराज की शिष्या केसरकुँवर जी, जो सायकिल एक्सीडेंट में सड़क पर गिर पड़ी थीं, संध्या का समय था, आप अपनी साधवियों के साथ शौच भूमि के लिए गईं, तब आपने उन्हें दयनीय स्थिति में गिरी हुई देखा। उस समय आपके पास दो चद्दर ओढ़ने की थीं। उनमें से आप एक चादर की झोली बनाकर और सतियों की सहायता से स्थानक तक उठाकर लाईं और उनकी सेवा-सुश्रूषा की। इसी प्रकार महासती नाथकुँवर जी आदि की भी आपने अत्यधिक सेवा-सुश्रूषा की और अन्तिम समय में उन्हें संथारा करवाकर सहयोग दिया। आचार्य हस्तीमल जी म० की शिष्याएँ महासती अमरकुँवर जी, महासती धनकुँवर जी, महासती गोगा जी आदि अनेक सतियों की सुश्रूषा की और संथारा आदि करवाने में अपूर्व सहयोग दिया।

चन्दनबाला श्रमणीसंघ की प्रथम प्रवर्तिनी

सन् १९६३ में अजमेर में श्रमण संघ का शिखर सम्मेलन हुआ। उस अवसर पर वहाँ अनेक महासतियाँ एकत्र हुईं। उन सभी ने चिन्तन किया कि सन्तों के साथ हमें भी एकत्र होकर कुछ कार्य करना चाहिए। उन सभी ने वहाँ पर मिलकर अपनी स्थिति पर चिन्तन किया कि भगवान् महावीर के पश्चात् आज दिन तक सन्तों के अधिक सम्मेलन हुए, किन्तु श्रमणियों का कोई भी सम्मेलन आज तक नहीं हुआ और न श्रमणियों की परम्परा का इतिहास ही सुरक्षित है। भगवान् महावीर के पश्चात् साध्वी परम्परा का व्यवस्थित इतिहास न मिलना हमारे लिये लज्जास्पद है जबकि श्रमणों की तरह श्रमणियों ने भी आध्यात्मिक साधना में अत्यधिक योगदान दिया है। इसका मूल कारण है—एकता व एक समाचारी का अभाव। अतः उन्होंने श्री वर्द्धमान चन्दनबाला श्रमणी संघ का गठन किया और श्रमणियों के ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के विकास हेतु इक्कीस नियमों का निर्माण किया। उसमें पञ्चोस प्रमुख साधवियों को एक समिति भी बनाई गई। चन्दनबाला श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी पद पर सर्वानुमति से आपकी को नियुक्त किया गया जो आपकी योग्यता का प्रतीक था।

द्वितीय खण्ड : जीवन-दर्शन

११९

उदार व दीर्घदर्शी दृष्टि

राजस्थान प्रांत में रहने के बावजूद आपका मस्तिष्क संकुचित विचारों से ऊपर उठा हुआ था। यही कारण है कि सर्वप्रथम राजस्थान में साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा के उच्चतम अध्ययन करने के लिए आपके अन्तर्मानस में भावनाएँ जाग्रत हुईं। आपने अपनी सुशिष्या महासती कुसुमवती जी, महासती पुष्पवती जी, महासती चन्द्रावती जी आदि को किंग्स कॉलेज, बनारस की संस्कृत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की साहित्यरत्न प्रभृति उच्चतम परीक्षाएँ दिलवाईं। उस समय प्राचीन विचारधारा के व्यक्तियों ने आपश्री का डटकर विरोध किया कि साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी का उच्च अध्ययन न कराया जाय और न परीक्षा ही दिलवाई जाएँ। तब आपने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की—‘साधुओं की तरह साध्वियों को भी अध्ययन करने का अधिकार है। आगम साहित्य में साध्वियों के अध्ययन का उल्लेख है। युग के अनुसार यदि साध्वियाँ संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अध्ययन नहीं करेंगी तो आगम और उसके उत्तरकालीन साहित्य को पढ़ नहीं सकतीं और बिना पढ़े आगमों के रहस्य समझ में नहीं आ सकते।’ इसका विरोधियों के पास कोई उत्तर नहीं था। आप विरोध को विनोद मानकर अध्ययन करवाती रहीं। उसके पश्चात् स्थानकवासी परम्परा में अनेक मूर्धन्य साध्वियाँ हुईं।

आज अनेक साध्वियाँ एम० ए०, पी-एच० डी० भी हो गई हैं। यह था आपका शिक्षा के प्रति अनुराग।

आपने अनेक व्यक्तियों को प्रतिबोध दिया। जब अन्य सन्त व सतीजन अपनी शिष्या बनाने के लिये उत्सुक रहती हैं तब आपकी यह विशेषता थी कि प्रतिबोध देकर दूसरों के शिष्य-शिष्याएँ बनाती थीं। आपने अपने हाथों से तीस-पैंतीस बालिकाओं और महिलाओं को दीक्षाएँ दीं पर सभी को अन्य नामों से ही घोषित किया। अपनी ज्येष्ठ गुरु बहन महासती मदनकुँवरजी के आग्रह पर उनकी आज्ञा के पालनार्थ तीन शिष्याओं महासती कुसुमवती जी, महासती श्री पुष्पवती जी, महासती श्री प्रभावती जी को अपनी नेत्राय में रखा। यह थी आप में अपूर्व निस्पृहता।

आपके जीवन में अनेक सद्गुण थे जिसके कारण आप जहाँ भी गयीं, वहाँ जनता जनार्दन के हृदय को जीता। आपने अहमदाबाद, पालनपुर, इन्दौर, जयपुर, अजमेर, जोधपुर, व्यावर, पाली, उदयपुर, नाथद्वारा प्रभृति अनेक क्षेत्रों में वर्षावास किये। सेवाभावना से प्रेरित होकर अपनी गुरु बहनों की तथा अन्य साध्वियों की वृद्धावस्था के कारण दीर्घकाल तक आप उदयपुर में स्थानापन्न रहीं।

सन् १९६६ में आपका वर्षावास पाली (मारवाड़) में था। कुछ समय से आपको रक्तचाप की शिकायत थी, पर आपश्री का आत्मतेज अत्यधिक था जिसके कारण आप कहीं पर भी स्थिरवास नहीं विराजीं। सन् १९६६ (वि० सं० २०३३) में भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को संधारे के साथ रात्रि में आपका स्वर्गवास हुआ। आप महान प्रतिभासम्पन्न साध्वीरत्न थीं। आपके स्वर्गवास से एक तेजस्वी महासती की क्षति हुई। आपका तेजस्वी जीवन जन-जन को सदा प्रेरणा देता रहेगा।

ऐसी तेजस्वी, मनस्वी, तपस्वी महान आराधिका महासती की सुशिष्या होने का गौरव प्राप्त हुआ ज्ञानाराधिका, जपसाधिका, बालब्रह्मचारिणी, परम विदुषी महासती कुसुमवती जी म० को। जिनका विस्तृत जीवन परिचय प्रस्तुत करने जा रही हैं।

जन्म से दीक्षा तक

जन्मभूमि—त्याग और वलिदान की भूमि है राजस्थान। सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस प्रान्त का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मुख को उज्ज्वल करने वाली महान विभूतियों से भी यह भूखण्ड सदैव परिपूर्ण रहा है। यहाँ की समाजमूलक आध्यात्मिक क्रान्तियों ने समय-समय पर देशव्यापी जनमानस को प्रभावित किया है। सन्तों की समन्वयात्मक अन्तर्मुखी साधना से राष्ट्र का नैतिक स्तर समृद्ध रहा है। उनके सारगर्भित उपदेशों और संयम-साधना ने जो आदर्श स्थापित किये, उनसे शताब्दियों तक मानवता अनुप्राणित होती रहेगी। सन्तों का औपदेशिक साहित्य प्राचीन होकर आज भी नवीन और विविध भावनाओं से परिपूरित है। समीचीन तथ्यों का नूतन मूल्यांकन भावी पीढ़ी का समुचित मार्गदर्शन करने में पूर्णतः सक्षम है।

राजस्थान की भूमि की विशेषता है कि उसने एक ओर अजेय योद्धाओं को जन्म दिया तो दूसरी ओर ऐसे सन्त भी अवतरित हुए जिनके संयम की सौरभ से आज भी दिग्-दिगन्त महक रहा है और जिनकी तपश्चर्या की चमक मुमुक्षु साधक को अनुभव हो रही है। उनकी प्रकाश किरणें और चिन्मय चेतना ऐसा स्फुलिंग है, जो सहस्राब्दी तक अमरत्व को लिए हुए है।

राजस्थान का एक भाग मेवाड़-मेदपाट के नाम से सुविख्यात है। उसका स्वर्णिम अतीत अत्यन्त गौरवास्पद रहा है। वीरों की कीर्ति-गाथा से यहाँ की भूमि परिप्लावित होती रही है। नारी जाति का उच्चतम आदर्श यहाँ की एक ऐसी विशेषता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

मेवाड़ की भूमि में प्रकृति सदैव अठखेलियाँ करती रही है। यहाँ के गिरि-कन्दराओं में आत्मस्थ सौन्दर्य को उद्भूत करने वाली शक्ति और कला के उपादान विद्यमान हैं। इसलिए प्रकृति की गोद में पलने वाली संस्कृति की असखधारा का प्रवाह निरन्तर गतिशील रहता है। उसके कण-कण में केवल भौतिक शक्ति का ही स्रोत नहीं बहता अपितु आध्यात्मिक शक्ति का प्रवाह भी परिलक्षित होता है। एक ओर मेवाड़ की यह वीरभूमि है तो दूसरी ओर यह त्यागभूमि भी है। जहाँ एक ओर देश की रक्षा के लिए यहाँ के वीरों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया वहीं दूसरी ओर मानवता के नाम पर होने वाले अमानवीय कृत्यों के विरुद्ध शंखनाद करने वाले भी इस मिट्टी में उत्पन्न हुए जिनकी साधना आज भी हमारा मार्गदर्शन कर रही है।

इसी वीर प्रसविनी रत्नगर्भा मेवाड़ भूमि के अन्तर्गत उदयपुर राज्य भी था जो आज राजस्थान का एक भाग है। उदयपुर जिला मुख्यालय है और झीलों की नगरी तथा अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण न केवल भारतवर्ष में वरन् विश्व में प्रसिद्ध है। इसी उदयपुर जिले में देलवाड़ा नामक एक सुन्दर कस्बा है। देलवाड़ा में एक कोठारी परिवार अपनी कीर्तिमयी गौरव-गाथा के कारण प्रसिद्ध और लोकप्रिय रहा है। कोठारी परिवार की जानकारी प्रस्तुत करने के पूर्व हमारे लिए यह आवश्यक है कि संक्षिप्त रूप से उनके वंश और गोत्र की जानकारी कर लें।

वंश और गोत्र—यह परिवार ओसवाल वंशीय था। ओसवाल वंश की उत्पत्ति मारवाड़ के

‘ओसिया’ से मानी जाता है और इसके लिए एक कथा भी प्रचलित है। उसका विवरण देना यहाँ प्रासंगिक नहीं है। कोठारी गोत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया जाता है कि राठीड़ रावचूड़ा ने ठाकरसी नामक एक जैन ओसवाल को अपने कोषालय का प्रभारी/कोठारी नियुक्त किया था। इसके पश्चात् ठाकरसी के उत्तराधिकारी अपने नाम के साथ कोठारी पुकारे जाने लगे। और इस प्रकार ‘कोठारी’ नाम प्रचलित हो गया।

परिवार—देलवाड़ा में श्री इन्दरमल जी कोठारी एक धर्मनिष्ठ श्रावक था। उनकी धर्मपत्नी सौभाग्यवती माणकबाई धर्मपरायणा और पतिपरायणा सन्नारी थी। उनके दो पुत्र—गणेशमल जी और शेषमल जी थे तथा एक पुत्री सुन्दरबाई थी।

गणेशमल जी होनहार और मेधावी थे। युवा होने पर उनका विवाह उदयपुर निवासी सेठ हीरालाल जी सियाल की सुपुत्री सोहनबाई के साथ हुआ। सेठ श्री हीरालाल जी के तीन पुत्र एवं तीन पुत्रियाँ—भंवरवाल जी, कन्हैयालाल जी, एवं फतहलाल जी तथा मोहनबाई, सोहनबाई और बग्गाबाई थीं। सोहनबाई रूप-लावण्य और गुण दोनों में विशिष्ट थीं साथ ही धार्मिक संस्कारों से भी परिपूर्ण थीं।

गणेशमलजी स्वभाव से अत्यन्त कोमल, सरल और विनम्र थे। सरलता की तो वे साक्षात् प्रतिमा थे। सौभाग्य से यह भी संयोग ही था कि उनकी धर्मपत्नी सोहनबाई भी परम विवेकवती थीं। पति सेवा ही उनके जीवन का आदर्श था। सामाजिक मर्यादा, पारिवारिक शील-शिष्टता और लोक-लाज का वे सदैव ध्यान रखती थीं।

पति और पत्नी का पारस्परिक सद्भाव ही कुटुम्ब और समाज में सुख और शांति का संचार करता है। जिस परिवार में यह सुख नहीं है, वहाँ घोर अशान्ति का साम्राज्य रहता है। स्वयं अपना परिवार तो अशांत रहता ही है, पड़ोस के परिवारों की शांति भी भंग हो जाती है। पारिवारिक कलह कभी-कभी भीषण रूप भी धारण कर लेता है। श्री गणेशमलजी और उनकी धर्मपत्नी सोहनबाई अपने पारस्परिक सद्भावपूर्ण पारिवारिक जीवन से अत्यन्त संतुष्ट थे। दोनों का जीवन आनन्द के क्षणों में हँसते-गाते व्यतीत हो रहा था।

श्री गणेशमलजी के विनम्र एवं स्नेहसिक्त व्यवहार को देखकर उदयपुर निवासी रव० धूलचन्द जी की धर्मपत्नी सरदारबाई ने गोद रख लिया।

पुत्री रत्न की प्राप्ति—श्री गणेशमलजी अपनी धर्मपत्नी सोहनबाई के साथ आकर उदयपुर रहने लगे। पुण्योदय से वि० सं० १९८२ आसोज कृष्णा पंचमी की रात को श्रीमती सोहनबाई की पावन कुक्षि से एक पुत्री रत्न का जन्म हुआ। पुत्री के जन्म से परिवार में प्रसन्नता का निशान फूट पड़ा। खुशियों से परिवार के सभी सदस्य झूम उठे। सभी ओर खुशियाँ ही खुशियाँ। कारण कि एक दीर्घ अन्तराल के पश्चात् शून्य आँगन बच्चे की मधुर किलकारियों से गूँज उठा। बालिका के जन्म से गृह-वाटिका लहलहा उठी। माता-पिता को प्रसन्नता तो असीम थी। बालिका यद्यपि श्यामवर्णीय थी तथापि उसका मुखमण्डल भव्य और शरीर सौष्ठव मनभावन था। प्रत्येक आगन्तुक को वह बरबस ही आकर्षित करने में समर्थ थी। इस कारण परिवार के सदस्य प्रायः कहा करते थे कि कहीं इसे नजर (दृष्टिविष) न लग जाए। शनैः-शनैः बालिका को सभी ‘नजर’ नाम से ही पुकारने लगे, सम्बोधित करने लगे और इस प्रकार बालिका का नाम ही ‘नजर’ पड़ गया।

पुत्ररत्न का जन्म—जब नजर की आयु दो वर्ष की थी तब माता सोहनबाई की पावन कुक्षि से द्वितीय संतान के रूप में पुत्ररत्न का जन्म हुआ। पुत्र जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया गया। परिवार की खुशियाँ द्विगुणित हो गई। बालक बहुत ही पुण्यवान था। गौरवर्ण, लम्बे कान, घुटने तक लम्बे हाथ, दीप्त उन्नत लनाट, तेजोमय मुखमण्डल एवं पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सौम्य था। बालक का नाम रखा गया पूनमचन्द्र। जो वास्तव में पूनम का चाँद ही था। श्री गणेशमलजी एवं सोहनबाई ने पुत्ररत्न को पाकर अपने भाग्य को सराहा और अपने आपको धन्य समझने लगे। अब उन्हें किसी प्रकार का कोई अभाव न रहा। वे अपने परिवार सहित आनन्द रस में सराबोर थे। घर का वातावरण आनन्द से उल्लसित था, सभी सुखानुभव कर रहे थे।

वज्राघात—परिवर्तन जगत का शाश्वत नियम है। दिन के बाद रात, रात के बाद दिन, सुख के बाद दुःख व दुःख के बाद सुख नियति का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस परिवार के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। बड़े ही सुखपूर्वक हर्षोल्लास वातावरण में इस परिवार के दिन व्यतीत हो रहे थे। बालिका 'नजर' साढ़े तीन वर्ष की थी, तभी गणेशमलजी पुत्र, पुत्री तथा पत्नी को संसार-सागर में असहाय छोड़कर अचानक इस लोक से महाप्रयाण कर गये। परिवार पर यह वज्राघात था। परिवार के मुखिया की मृत्यु से परिवार में शून्य उत्पन्न हो गया।

नारी का सर्वसुख उसका सभी कुछ उसके सौभाग्य पर निर्भर है। यदि वह सौभाग्यवती बनी रही तो इस लोक को स्वर्ग मानती है। चाँद को सुधाकर कहती है और दुःख में भी फूली-फूली घूमती फिरती अपने कर्तव्य का निर्वाह करती रहती है। यदि उसका सुहाग बाग हरा-भरा और फला-फूला न रहा तो उसके लिए अमृत तुल्य संसार भी इतना निस्सार हो जाता है कि वह एक पल भी इसमें रहना स्वीकार नहीं करती। योगियों से भी अधिक वह इस संसार को असार/निःसार समझने लगती है। वह जल्दी से जल्दी इससे छुटकारा चाहती है।

भारतीय परिवार को स्वर्गीय सुखों की क्रीडास्थली बनाने वाली आर्य कुलांगना का अनेक रूपों में से माता और पत्नी का रूप सर्वापेक्षा श्रेष्ठ और महिभामण्डित है। किन्तु जिस समय हिन्दू परिवार की विधवा पर दृष्टि पड़ती है, तो उस समय सारी कामनाओं का भस्म रमाकर बैठी एक तरुण तपस्विनी ही ध्यान में आती है। उसके चारों ओर सर्वेन्द्रिय सुखों की चिताग्नि धधकती रहती है। उसकी लालसाओं की लोल लहरें किसी किनारे तक नहीं पहुँचने पातीं। उसकी अभिलाषाओं की अल्हड़ आँधी हृदय में हाहाकार मचाकर उद्धत ववण्डर की भाँति उसके मस्तिष्क में चढ़ जाती है। सहन-शीलता का कैसा निष्ठुर निदर्शन है। सहिष्णुता की फैंली गगनाकार सीमा है। आत्म-त्याग का कैसा ज्वलन्त आदर्श है। सामाजिक संध्या का कैसा भयंकर चित्र है।

गणेशमलजी की अनायास मृत्यु से सोहनबाई पर वज्र टूट पड़ा। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। पति के स्वर्गवास के पश्चात् समुराल पक्ष का कोई भी सहारा नहीं मिला। यह भी एक विडम्बना ही है कि जब तक नारी सौभाग्यवती रहती है, तब तक उसे सब मानते हैं, आदर देते हैं, सिर आँखों पर रखते हैं। और पति की मृत्यु होते ही उसके सभी अपने उससे मुँह मोड़ लेते हैं। जो रात-दिन उसका ध्यान रखते हैं वे भी उसके पास फटकते तक नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी उसके शत्रु हो गये हैं।

ज्येष्ठ भ्राता श्री कन्हैयालाल जी सियाल ने अपनी अनुजा की स्थिति देखी और वे सहन नहीं कर पाये। अपनी भगिनी को वे अपने घर लिवा लाये। अब पिता और भाई के आश्रय में दिन बीतने लगे।

आघात पर आघात—विधि का विधान बड़ा ही विचित्र है। यहाँ सुखी और सुखी होता जाता है और दुःखी और दुःखी। विधि का विधान प्राणी को कठपुतली की भाँति नचाता रहता है। पल में खुशी और पल में गम देना उसका स्वभाव है। सोहनबाई अपने पति के वियोग का दुःख भूल भी नहीं पाई थीं उन पर एक और महान् आघात हुआ। अभी पति की मृत्यु को छः मास ही व्यतीत हुए थे कि पुत्र पूनमचन्द को भी काल के क्रूर हाथों ने उसे छीन लिया। पति के अभाव में माता सोहन बाई के भविष्य का एकमात्र यह पुत्र ही तो सहारा था। वह भी क्रूर काल ने छीन लिया। पुत्र की मृत्यु से सोहनबाई के दुःख की कोई सीमा न रही। दुःखों का पहाड़ उन पर दूट पड़ा। सोहनबाई एकदम हताश एवं निराश हो गयीं। उनकी स्थिति जुए में हारे हुए खिलाड़ी से भी बदतर हो गई। जाने वालों के साथ जाया तो नहीं जाता। अपनी स्थिति को स्वयं ही सम्भालना होता है। पहले पति वियोग और अब पुत्र वियोग को सहते हुए येन केन प्रकारेण समय व्यतीत होने लगा। अब माता सोहनबाई का एकमात्र सहारा और केन्द्र बिन्दु 'नजर' ही थी।

बाल्यकाल—परिवार में नजर को भरपूर प्यार-दुलार, स्नेह और ममता मिल रही थी। एक ओर माँ का अपार वात्सल्य था तो दूसरी ओर मामाजी प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। नाना हीरालाल जी की आँखों का एकमात्र तारा बन गयी। मौसी बग्गा भी 'नजर' को बहुत प्यार करती थीं। इस प्रकार लाड़-प्यार में बचपन बीतने लगा।

इदं शरीरं व्याधि मंदिरम्। यह कथन ही नहीं सत्य वचन है। जिस समय नजर पाँच वर्ष की भी नहीं हुई थीं। उस समय एक दिन अचानक वह भयंकर व्याधि की जकड़ में आ गई। खाना-पीना आदि सभी बन्द हो गया। 'नजर' के जीवित बच जाने की कोई आशा नहीं थी। इस कारण परिवार के सभी सदस्य चिंतित, व्यग्र, परेशान एवं दुःखी हो गये। माँ का हृदय असह्य दुःख से भर उठा। वह अपनी एकमात्र पुत्री को ऐसी स्थिति में देख-देख कर जीवन के क्षणों को जी रही थी। ऐसी विषम परिस्थिति में उस्टे-सौधे विचार भी उत्पन्न होते हैं। उसके मस्तिष्क में विचार उठा—'यदि इसे कुछ हो गया तो क्या होगा? पति चल बसे, एक पुत्र था वह भी छोड़कर चला गया। अब तो इसका ही एकमात्र आधार है।' ऐसा विचार आते ही सोहनबाई के शरीर में कँपकपाहट उत्पन्न हो गई। उनकी आँखों से सावन-भादों की वर्षा की भाँति अश्रुधारा प्रवाहित हो चली।

महासतीजी का पदार्पण—जिस समय नजर भयंकर रूप से रगण थी उन दिनों पास के ही एक मकान में महासती श्री सोहनकुँवर जी म. सा. विराज रही थीं। उन्हें किसी ने जाकर बताया कि एक छोटी बच्ची की तबियत बहुत अधिक खराब है। माता बिलख-बिलख कर रो रही है। आप उन्हें दर्शन देने पधारो। कृष्णा की मूर्ति, दया की सागर महासतीजी ने मुना और शोभ्र ही दर्शन देने पधारो। परिवार के सदस्य भी वहाँ खड़े थे। महासतीजी ने मांगलिक सुनाया। माता को धैर्य धारण करने का कहते हुए फरमाया—“चिन्ता मत करो, बीतराग प्रभु की कृपा से सब ठीक हो जायगा।”

महासती जी ने बालिका के विशिष्ट चिन्हों तथा रेखाओं को देखते हुए विचार किया कि यदि यह बालिका संयम व्रत अंगीकार कर ले तो जिनशासन की प्रभाविका होगी, अपना तथा अज्ञान में भटकते हुए अनेक प्राणियों का उत्थान करेगी। हृदयस्थ भावनाओं को महासती जी ने माता सोहनबाई से कहा—“मेरी एक बात जरा ध्यान से सुनो। यदि यह बच्ची स्वस्थ हो जाए और यदि इसके हृदय में संयम मार्ग अपनाने की इच्छा हो तो तुम इसे रोकोगी नहीं, ऐसा संकल्प लो।”

सोहनबाई ने कहा—“महाराजश्री ! इसके जीने की आशा ही नहीं है और आप दीक्षा की बात कर रही हैं।”

महासतीजी ने फरमाया—“धर्म के प्रताप से सब कुछ अच्छा ही होता है। तुम धर्म पर विश्वास रखो।”

महासतीजी के वचन शिरोधार्य करते हुए सोहनबाई ने प्रतिज्ञा की—“यदि यह बच जाएगी तथा दीक्षा लेना चाहेगी तो मैं अन्तराय नहीं दूंगी।”

महासती जी अपने स्थान पर पधार गईं। संकल्प शक्ति का चमत्कार हुआ। जहाँ कुछ समय पहले जीवन मृत्यु की ओर जा रहा था, वहीं अब मृत्यु जीवन की दिशा से भागने लगी। समय व्यतीत होता गया और बालिका के स्वास्थ्य में सुधार होता गया। कुछ ही दिनों में बालिका एकदम स्वस्थ हो गई। अब वह नियमित रूप से भोजन भी करने लगी। माता एवं परिवार के अन्य सभी सदस्य बालिका को स्वस्थ एवं हँसते-खेलते देखकर प्रसन्न हो उठे।

बालिका के स्वस्थ होने के पश्चात् लोगों में यह चर्चा आम हो गई कि बालिका धर्म के प्रभाव से बच गई। इसी सन्दर्भ से लोगों को अनाथी मुनि का दृष्टांत स्मरण हो आया। एक प्रकार से अनाथी मुनि की घटना की यह एक पुनरावृत्ति थी। अनाथी मुनि की आंख में भयंकर वेदना उठी। बहुत उपचार किये, किन्तु सभी व्यर्थ। अन्ततः उन्होंने संकल्प शक्ति का प्रयोग किया—‘यदि वेदना शान्त हो जाए तो मुनि दीक्षा स्वीकार करूँगा।’ रात्रि के प्रथम चरण में संकल्प किया और अन्तिम चरण में आंख की वेदना शान्त हो गई तथा अपने संकल्प के अनुसार वे मुनि बन गए। उनकी साधना से प्रभावित होकर मगध सम्राट श्रेणिक जैनधर्म के अनुयायी बनें।

बालिका नजर का जीवन सुखपूर्वक बीतने लगा। आनन्दपूर्वक हँसते-खेलते पाँच वर्ष पूर्ण हुए। उस समय महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. उदबपुर में ही विराज रही थी, क्योंकि उनसे, वरिष्ठ एक महासतीजी का वहाँ स्थिरवास था। इसके अतिरिक्त सोहनबाई के चचेरे भाई मुनिश्री हस्तीमलजी म. सा. भी वहाँ विराजमान थे। मुनिश्री हस्तीमलजी महाराज का प्रारम्भ से ही अर्थात् सांसारिक अवस्था में थे तब से ही बहिन सोहन से बहुत स्नेह था।

अपनी माता के साथ बालिका नजरकुमारी भी दर्शनार्थ स्थानक भवन जाती थी। धार्मिक संस्कार तो प्रारम्भ से थे ही, सत और सतियों के समागम और उपदेश श्रवण से ये संस्कार और भी अधिक अभिवृद्धि पा गये। रूग्णावस्था में माता द्वारा किये गये संकल्प की जानकारी नजर को नहीं थी। सत्संग का परिणाम यह हुआ कि ‘नजर’ के हृदय में वैराग्य भावना हिलोरें लेने लगी। विचारों में वह अपने आपको एक साध्वी के रूप में देखने लगी। उसे अपना यह साध्वी वाला प्रतिबिम्ब अच्छा और आकर्षक लगता। इस लघुवय में बच्चे जहाँ खेलकूद में आनन्द लेते हैं, वहीं बालिका नजर को खेलना अच्छा नहीं लगता था। स्कूल की छुट्टी होते ही वह अपना बस्ता घर पर रखकर सीधी स्थानक में महा-

सतीजी के पास पहुँच जाती थी। जिस परिवेश में व्यक्ति रहता है, उसका प्रभाव उसके जीवन पर अवश्य पड़ता है। और उसके अनुरूप जीवन बनने लगता है/बन जाता है। जैसा परिवेश होगा वैसा जीवन होगा। बालिका नजर का परिवेश धार्मिक था, उसके अनुरूप उस पर प्रभाव पड़ रहा था। महा-सतीजी के सम्पर्क में आने से 'नजर' ने भी त्यागमय भावना के कारण इन छोटी-सी अवस्था में रात्रि-भोजन नहीं करना, कच्चा पानी नहीं पीना आदि के त्याग कर लिए। साथ ही सामायिक, प्रतिक्रमण, पच्चीस बोल आदि सीखना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार नजर वैराग्य पथ की ओर अग्रसर हो रही थी।

वैराग्योत्पत्ति के कारण—स्थानांग सूत्र में वैराग्य के दस कारण इस प्रकार बताए गए हैं—

- (१) छन्दा प्रव्रज्या—अपनी अथवा दूसरों की इच्छा से ली जाने वाली दीक्षा।
- (२) रोषा प्रव्रज्या—रोष से ली जाने वाली दीक्षा।
- (३) परिच्यूना प्रव्रज्या—दरिद्रता से ली जाने वाली दीक्षा। गरीबी से घबराकर दीक्षा लेना।
- (४) स्वप्ना प्रव्रज्या—स्वप्न देखने से ली जाने वाली या स्वप्न में ली जाने वाली दीक्षा।
- (५) प्रतिश्रुता प्रव्रज्या—पहले से की हुई प्रतिज्ञा के कारण ली जाने वाली दीक्षा।
- (६) स्मारणिका प्रव्रज्या—पूर्व जन्मों का स्मरण होने पर ली जाने वाली दीक्षा।
- (७) रोगिणिका प्रव्रज्या—रोग के हो जाने पर ली जाने वाली दीक्षा।
- (८) अनादृता प्रव्रज्या—अनादर होने पर ली जाने वाली दीक्षा।
- (९) देवसंज्ञप्ति प्रव्रज्या—देव के द्वारा प्रतिबुद्ध करने पर ली जाने वाली दीक्षा।
- (१०) वत्सानुवन्धिक प्रव्रज्या—दीक्षित होते हुए पुत्र के निमित्त से ली जाने वाली दीक्षा।

एक जैनाचार्य ने वैराग्योत्पत्ति के तीन कारण भी बताये हैं। ये इस प्रकार हैं—

(१) दुःखर्गभित वैराग्य—मानव जीवन में सुख-दुःख तो आते रहते हैं। शुभ कर्मों के उदय से सुख और अशुभ कर्मों के उदय से दुःखों का आगमन होता है। दुःखों से, पीड़ा से अथवा संकट से घबरा कर जो व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करता है, उसका वैराग्य दुःखर्गभित वैराग्य कहलाता है। जब दुःख समाप्त हो जाता है तो सुख आ जाता है, व्यक्ति दुःख को भूल जाता है और फिर आनन्दपूर्वक रहने लगता है। इसी जब दुःख का कारण दूर हो जाता है तो इस प्रकार का वैराग्य भाव भी समाप्त हो सकता है। इस कारण दुःखर्गभित वैराग्य को स्थायी नहीं माना जाता है।

(२) मोहर्गभित वैराग्य—माता-पिता, पुत्र, परिजनों के वियोग होने पर जो विरक्त भाव उत्पन्न होते हैं, वह मोहर्गभित वैराग्य कहलाता है। व्यक्ति अपने जीवन में सूनपन का अनुभव करता है। मृत्यु की इच्छा करता है, मृत्यु न होने की स्थिति में संसार छोड़कर साधु बन जाता है। मोहवश व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करता है। मोह की डोरी को तोड़ना सरल कार्य नहीं है। फिर भी यह वैराग्य भाव न तो सामान्य है न श्रेष्ठ। इसे मध्यम श्रेणी का वैराग्य कहा जा सकता है।

(३) ज्ञानर्गभित वैराग्य—जन्म-जन्मान्तरों के शुभ कर्मोदय से, गुरु के उपदेशों के कारण, अध्ययन से संसार के प्रति जो विरक्ति होती है, उसे ज्ञानर्गभित वैराग्य कहा जाता है। वैराग्य का यह कारण श्रेष्ठ भी है और स्थायी भी।

जैनागमों का अध्ययन करने के पश्चात् हमें यह विदित होता है कि विशुद्ध वैराग्योत्पत्ति के दो कारण हैं। यथा—

(१) नैसर्गिक—जिस वैराग्य में गुरु दर्शन, साधु-संगति, पठन-पाठन की आवश्यकता नहीं रहती हो, और जो जन्म-जन्मान्तरों के शुभ संस्कारों द्वारा स्वतः उत्पन्न होता है, वह नैसर्गिक वैराग्य कहलाता है।

(२) आधिगामिक—जिस वैराग्य में बाह्य निमित्त की अपेक्षा हो, संत-संगति, पठन-पाठन का सहयोग अपेक्षित हो वह आधिगामिक वैराग्य कहलाता है।

वैराग्योत्पत्ति के और भी अनेक कारणों का उल्लेख मिलता है किन्तु इनका विवरण यहाँ देना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है।

वैराग्योत्पत्ति के कारणों के परिप्रेक्ष्य में यदि हम 'नजर कुमारी' के वैराग्योदय के कारण को देखते हैं तो हम पाते हैं कि उसका वैराग्य 'ज्ञानगर्भित वैराग्य' है। कारण कि नजर को जो वैराग्यभाव उत्पन्न हो रहे हैं, वे ज्ञान के आधार पर हो रहे हैं। माता की प्रतिज्ञा का अभी नजर को अहसास भी नहीं है। अपने ज्ञान-चक्षु से अनुभव कर नजर अपने कदम आगे बढ़ा रही है।

डधर परिवार में मामा कन्हैयालालजी एवं मौसी बग्गा के विवाह की तैयारियाँ चल रही थी। उदयपुर के पास गुडली नामक एक छोटा-सा गाँव है। गुडली गाँव में सेठ अमरचन्दजी बागरेचा अपने परिवार के साथ रहते थे। उनके चार पुत्र मगनलालजी, छगनलालजी, कन्हैयालालजी (जो बाद में आचार्यश्री घासीलालजी, म. सा. के शिष्य रत्न हुए) तथा खूबीलालजी और एक पुत्री चौथबाई थी। कन्हैयालालजी का विवाह सेठ अमरचन्दजी बागरेचा की इसी सुपुत्री चौथबाई के साथ समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ।

मामी को अक्षर ज्ञान कराना—चौथबाई अपने माता-पिता की इकलौती पुत्री एवं चार भाइयों की एकमात्र बहिन थी। वह रूपवती एवं गुणवती तो थी ही, विनय विवेक से भी सम्पन्न थी, साथ ही धार्मिक संस्कार भी उसमें कूट-कूट के भरे थे। जब वह दुल्हन बनकर ससुराल में आई तब वह बहुत ही छोटी आयु की थी। उस समय उसकी आयु केवल नौ वर्ष की थी। उन दिनों बाल-विवाह का प्रचलन था। सास नहीं थी। ननद सोहनबाई का वह सास के समान ही आदर करती थी, उनकी आज्ञानुसार कार्य करना, आज्ञा मानना वह अपना धर्म समझती थी। बालिका नजर को अपनी ननद के समान मानती थी। नजर भी अपनी प्रिय मामीजी के साथ अत्यधिक धुल-मिल गई थी। दोनों में परस्पर बहुत अधिक स्नेह था।

कुमारी नजर की बुद्धि कुशाग्र थी। विद्यालय में जो कुछ पढ़ाया जाता, उसे वह बहुत जल्दी आत्मसात कर लेती थी। एक-दो वर्ष की अल्पावधि में ही कुमारी नजर ने अच्छी प्रकार से पुस्तक पढ़ना सीख लिया।

मामी पढ़ना-लिखना नहीं जानती थी। उन दिनों बालिकाओं को पढ़ाना-लिखाना आज की भाँति कोई पसन्द नहीं करता था। फिर गाँव में तो यह स्थिति और भी खराब थी। गाँव में कन्याओं को प्रायः पढ़ाया ही नहीं जाता था। चौथबाई की रुचि अक्षर ज्ञान के साथ ही पढ़ने-लिखने के प्रति अधिक थी। किन्तु किससे पढ़े, कैसे पढ़े? और फिर ससुराल में पढ़ना तो और भी कठिन कार्य था। अथवा यह कहा जाय कि असम्भव था तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अपनी मामी की रुचि और जिज्ञासा का अहसास कुमारी नजर को हो गया और वह अपनी मामी को अक्षर लिख-लिखकर देने लगी और कभी-कभी सिखाने भी लगी। कुमारी नजर के श्रम और

मामी की लगन के परिमाणस्वरूप मामी चौथबाई ने भी पढ़ना-लिखना सीख लिया। अल्पवय में कुमारी नजर ने शिक्षिका का कार्य कर दिया।

वैराग्य : परिपक्वता की ओर—नजरकुमारी की स्कूली शिक्षा तो चल ही रही थी। अध्ययन में कहीं कोई बाधा नहीं थी। इस शिक्षा के साथ ही वैराग्य रंग भी चढ़ रहा था। रात्रि भोजन का त्याग तो पहले था ही, अब रात्रि में पानी पीने का भी त्याग कर लिया। सप्त-आठ वर्ष की आयु में प्रतिक्रमण, पच्चीस बोल, समकित के सतरह बोल, पुच्छिसुणं, नमिपव्वजा आदि ज्ञान कण्ठस्थ कर लिया। तपोमूर्ति श्री सोहनकुंवरजी महाराज के त्यागमय जीवन और वैराग्यमय उपदेशों से नजर कुमारी के हृदय में वैराग्य की भावना प्रबल होती जा रही थी।

नानाजी का स्वर्गवास— समय अपनी गति से चल रहा था। चलना उसकी नियति है। किसी के रोकने से भी वह रुकता नहीं है। इधर नानाजी श्री हीरालालजी का स्वास्थ्य अस्वस्थ रहने लगा था और दिन प्रतिदिन गिरता ही जा रहा था। पुत्री सोहनबाई के विधवा होने का उन्हें जबर्दस्त धक्का लगा था और अन्दर ही अन्दर उन्हें चिन्ता का घुन लग गया था। अब वे निरन्तर अस्वस्थ रहने लगे और स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि इस अस्वस्थता में उन्होंने एक दिन अचानक परिवार के सभी सदस्यों को रोता-बिलखता छोड़कर सदा-सदा के लिए अपनी आँखें मूँद ली। पिता की मृत्यु से पुत्र कन्हैयालालजी और पुत्री सोहनबाई को अत्यधिक दुःख हुआ। सोहनबाई पर तो मानो पहाड़ ही टूटकर गिर पड़ा हो। नजर भी अब कुछ सयानी हो गई थी और सब कुछ समझने लगी थी। अपने नाना की मृत्यु के बाद वह विचार करने लगी—‘यह मृत्यु क्या है? व्यक्ति मरता क्यों है? मृत्यु इस प्रकार प्रियजनों को क्यों उठा कर ले जाता है? क्या मुझे भी इसी प्रकार मृत्यु उठाकर ले जायेगी? क्या इससे बचने का कोई उपाय नहीं है? इसी प्रकार के अनेकानेक प्रश्न उसके मानस-पटल पर मँडराने लगे। उसने निश्चय किया कि अपने प्रश्नों के उत्तर गुरुजी श्री सोहनकुंवरजी महाराज से पूछना चाहिए। सदगुरुवर्या से ही समाधान मिलाने की सम्भावना है।

नजरकुमारी सदगुरुवर्या श्री सोहनकुंवरजी महाराज के पास गई। अन्य दिनों की अपेक्षा आज गुरुवर्या ने नजर को कुछ गम्भीर और विशिष्ट मुद्रा में देखा। उन्होंने सहज ही पूछ लिया—“नजर! आज कौन-सी विशेष बात है, जो इतनी गम्भीर हो।”

“बात विशेष है अथवा नहीं। यह तो मैं नहीं जानती। किंतु आज मैं आपश्री से कुछ पूछना चाहती हूँ। मेरे मानस पटल पर उथल-पुथल मची हुई। आपश्री से समाधान की अपेक्षा है।” नजर ने कहा।

महासती श्री सोहनकुंवरजी महाराज साहब ने जब नन्ही बालिका के मुख से यह कथन सुना तो वे उसे पहले तो कुछ क्षण तक एकटक देखती रही फिर कहा—“अच्छा! पूछो तो क्या पूछना है तुम्हें।”

“महाराज सा० मौत क्यों आती है? बिना किसी भूमिका के नजर कुमारी ने पूछा।

महासती श्रीसोहनकुंवरजी महाराज नजर के इस प्रश्न से एकाएक चौंक उठी। उन्हें इस प्रकार के प्रश्न की अपेक्षा नहीं थी। उन्होंने शान्त भाव से कहा—“मृत्यु! हर उस प्राणी की होगी जिसने जन्म लिया है। जिस प्रकार दिन के बाद रात आती है, उसी प्रकार जन्म के बाद मृत्यु का आना स्वाभाविक है।”

“क्या मृत्यु से बचने का कोई उपाय है?” नजर ने दूसरा प्रश्न किया।

“मृत्यु से बचने का उपाय है। तपों के द्वारा/साधना के द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।” महासतीजी ने फरमाया।

“ये कर्म क्या हैं ? इनके क्षय की आवश्यकता क्यों पड़ती है ?” नजर ने पूछा।

“मनुष्य जो भी सही-गलत कार्य करता है और उससे उसके आत्मा पर जो बंधन पड़ता है, वह कर्म है। जैनधर्म में वीतराग भगवान ने आठ प्रकार के कर्म बताये हैं। जब तक आठों प्रकार के कर्मों की निर्जरा नहीं हो जाती तब तक मोक्ष नहीं होता। मोक्ष के लिये कर्मों की निर्जरा या क्षय होना जरूरी है।” महासतीजी ने समाधान किया।

“मोक्ष क्या होता है ?” नजर ने पूछा।

“मोक्ष पद प्राप्त होने के पश्चात् यह जीवन-मरण का चक्कर समाप्त हो जाता है।” महासतीजी ने बताया।

“आपका मतलब है कि मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् फिर न तो जन्म होता है और न मृत्यु।” नजर ने जिज्ञासा से पूछा।

“हाँ, तुमने सही समझा। परन्तु नजर ! इसके लिये बहुत बड़े त्याग और कठोर साधना की आवश्यकता होती है।” महासतीजी ने समझाते हुए कहा।

“महाराज साहब ! आप तो मुझे वह मार्ग बताने की कृपा करें जिस पर चलकर जन्म और मृत्यु के झंझट से छुटकारा मिल सकता है।” नजर ने पूछा।

“इसके लिये तो तुम्हें बहुत कष्ट करना पड़ेगा। अभी तुम बच्ची हो। साधना का पथ अपनाना अभी तुम्हारे वय की बात नहीं है। संयम मार्ग अपनाना खांडे की धार पर चलने के समान है।” महासतीजी ने कहा।

“आप तो डराने वाली बात करने लगीं। मुझे किसी प्रकार का भय नहीं है। कठोर से कठोर मार्ग हुआ तो भी मैं उस पर चलने के लिए प्रस्तुत हूँ। कृपा करके आप मार्गदर्शन तो करें।” नजर ने दृढ़तापूर्वक पूछा।

“यदि तुम वास्तव में आत्मकल्याण करना चाहती हो तो उसके लिए सबसे पहले दीक्षाव्रत अंगीकार करना पड़ता है।” महासतीजी ने बताया।

“अर्थात् आप जैसी बनकर आपके शरण में रहना।” नजर ने तत्काल कहा। उसने पुनः कहा—“दीक्षा लेने के भाव तो मेरे मन में कभी से उठ रहे हैं। मैंने अभी तक किसी को भी नहीं बताया है किन्तु अब बताना ही होगा। मैं आत्मकल्याण करना चाहती हूँ।”

“वीतराग भगवान, तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करे। किन्तु ध्यान रहे जो भी कदम उठाना है उसके पूर्व उसके प्रत्येक पक्ष पर गम्भीरता से विचार कर लेना। साथ ही अपने पालकों से भी अनुमति प्राप्त कर लेना। बिना अभिभावकों की अनुमति मिले तुम दीक्षाव्रत अंगीकार नहीं कर सकती।” इन शब्दों के साथ महासतीजी ने नजरकुमारी को मांगलिक सुनाया और फिर नजरकुमारी अपने घर आ गईं। उसके चेहरे पर हर्ष और संतोष था। जो ऊहापोह उसके मस्तिष्क में मची हुई थी, उसका उसे समाधान मिल गया था।

माता सोहनबाई भी प्रारम्भ से ही धार्मिक स्वभाव की थी। पति की मृत्यु के पश्चात् उसका मन विरक्त हुआ था किन्तु पुत्र और पुत्री के मोह ने उसे बाँध रखा था। पुत्र के देहावसान के पश्चात् तो वह विरक्त हो चुकी थी और नजर के बड़े होने तथा उसका घर संसार बसाने के पश्चात् संयममार्ग पर चलने का विचार मन ही मन कर चुकी थी। किन्तु बीच में नजर की बीमारी, महासतीजी द्वारा करवाया गया संकल्प आ गया, इसलिए वह अपने अन्तर्मन की बात अभी तक किसी को नहीं बता पाई थी। बीमारी के समय के संकल्प से उसके मन में एक संतोष यह था कि दीक्षा प्राप्त कर दोनों मां-बेटी साथ-साथ ही रहेंगी। माता सोहनबाई समय की प्रतीक्षा कर रही थी।

एक दिन सोहनबाई और नजरकमारी अवकाश के क्षणों में बैठी थीं। बीच-बीच में दोनों के बीच कुछ वातचीत भी हो जाती थी। नजरकमारी दीक्षा लेने वाली बात अपनी माता को बताना चाहती थी। आज उसे उचित अवसर मिल गया था। उसने वातचीत के दौरान कहा—“माँ! मेरी भावना दीक्षा लेने की हो रही है। आपका क्या विचार है?”

माता सोहनबाई अपनी पुत्री के ये विचार सुनकर चौंकी नहीं। उन्हें आश्चर्य भी नहीं हुआ। उन्हें तो नजर के ये विचार सुखद लगे। एक तो वे स्वयं अन्दर से विरक्त थीं। दूसरे नजर के लिए वे पूर्व में इसी प्रकार का संकल्प ले चुकी थी। वे तो केवल अपनी पुत्री के लिए ही संसार पक्ष को छोड़ नहीं पा रही थी। अपनी पुत्री की बात सुनकर कुछ क्षण तक वे उसकी ओर देखती रही। फिर उसके भावों की दृढ़ता देखने के लिए, उसकी परीक्षा लेने की दृष्टि से कहा—“आज तू यह कंसी बात कर रही है। तू तो मेरी इकलौती पुत्री है। मेरी लाड़ली है। मेरे जीवन का एकमात्र आधार है। पुत्री! मैं तो विचार कर रही थी कि कोई अच्छा परिवार और अच्छा लड़का मिल जाये तो खूब धूमधाम से तेरा विवाह कर दूँ; ताकि तू सुखपूर्वक अपना जीवनयापन कर सके। जहाँ तक दीक्षा का प्रश्न है, उसमें क्या रखा है? उसमें सिवाय कष्ट और असुविधाओं के कुछ भी नहीं है।”

नजर अपनी माताजी की बात बड़े ध्यान से सुन रही थी। अपनी माताजी को गौर से देखकर नजर ने कहा—“माताजी! मेरे शादी-विवाह का चक्कर तो आप भूलकर भी मत चलाना। मैं किसी भी स्थिति में विवाह करने वाली नहीं हूँ। मुझे ऐसे सांसारिक सुखों की कामना नहीं जिनके कारण मुझे बार-बार जन्म लेना पड़े। आपने दीक्षा के मार्ग के कष्टों और असुविधाओं की बात कही है। तो संसार पक्ष में क्या कम कष्ट और असुविधाएँ हैं? यहाँ तो और भी अधिक परेशानियाँ हैं। आप ध्यानपूर्वक सुन लें। मैं दीक्षा लेने का दृढ़ संकल्प कर चुकी हूँ। कोई भी ताकत/बाधा मुझे दीक्षा लेने से रोक नहीं सकती।”

माता सोहनबाई ने अपनी पुत्री को हर प्रकार से समझाने का प्रयास किया किन्तु उस पर तो मंजीठे का रंग चढ़ा हुआ था। कोई प्रलोभन उसे लुभा नहीं सका और कोई भय उसे डिगा नहीं सका। तब माता सोहनबाई ने अपने अन्तर्मन की बात—दीक्षा लेने की उसके सम्मुख प्रकट कर दी। माता और पुत्री दोनों एक साथ दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गईं। अब इन दोनों के सम्मुख प्रमुख समस्या आज्ञा की थी।

दीक्षा की राह और बाधाएँ—सोहनबाई यह जानती थी कि यहाँ आज्ञा भाई से लेनी पड़ेगी और वे किसी भी स्थिति में आज्ञा प्रदान नहीं करेंगे। भाई का अपनी बहिन के प्रति असीम स्नेह था। और बहिन से भी बढ़कर अधिक स्नेह और वात्सल्य उन्हें अपनी भानजी नजर पर था। इस स्थिति पर सोहनबाई ने गम्भीरता से विचार किया।

दीक्षा के पूर्व आज्ञा की आवश्यकता क्यों होती है ? इस प्रश्न का समाधान उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री ने बहुत ही सुन्दर रीत्यानुसार किया है उन्हीं के शब्दों में—

“प्रब्रज्या ग्रहण करने के लिए दीक्षार्थी को माता-पिता या अन्य अभिभावकगुण की अनुज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था । उनकी आज्ञा प्राप्त होने पर ही दीक्षा ग्रहण की जाती रही है । बौद्ध ग्रन्थ महावग्ग में राहुल की प्रब्रज्या का भी ऐसा ही प्रसंग है ।

स्वयं महावीर को उनके ज्येष्ठ भ्राता नन्दोवर्द्धन की आज्ञा प्राप्त नहीं हुई तब तक वे गृहवास में रहे । मेनकुमार, राजषि उदयन, गाथापति मकाति महाराज श्रेणिक के पुत्र-पौत्र, मृगावती, धन्य अनगर, अतिमुक्त मुनि आदि शताधिक व्यक्तियों ने अपने अभिभावकों से अनुमति प्राप्त करके ही प्रब्रज्या ग्रहण की है ।

यद्यपि अन्तरंग त्याग-वैराग्य की प्रबल भावना से ही साधक दीक्षा ग्रहण करता है, तथापि परिजनों की अनुज्ञा की आवश्यकता क्यों है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जा सकता है कि जिस साधना को उसने श्रेयस्कर समझा है, जिस आर्हती दीक्षा के प्रति उसके मन में दृढ़ आस्था पैदा हुई है, उस साधना-मार्ग के प्रति अभिभावकों की श्रद्धा जागृत की जाय और उनके आशीर्वाद को ग्रहण कर साधना के पथ पर प्रसन्नता से आगे बढ़ा जाय । इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कोई घर से भागा हुआ या गलत व्यक्ति दीक्षित न हो सके । क्योंकि ऐसे प्रब्रजितों के कारण श्रमण संघ में अशान्ति और विग्रह का वातावरण बनने की सम्भावना थी तथा संघ का अपयश भी हो सकता था ।

आगम साहित्य में एक भी व्यक्ति ऐसा दिखाई नहीं देता जिसने बिना अनुज्ञा दीक्षा ली हो । हाँ, एक बात स्मरण रखनी होगी कि जो स्वयं ही सर्वोसर्वा है या संन्यासी आदि जिसका कोई अधिपति नहीं है उसको किसी की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं रही है, पर सामान्य व्यक्तियों के लिए यह नियम रहा है कि वह अनुमति प्राप्त कर दीक्षा ले । यह एक बहुत ही सुन्दर परम्परा रही है और इस परम्परा का अनुसरण आज भी हो रहा है ।”

दीक्षा तो ग्रहण करनी ही है । समस्या केवल आज्ञा की है । भाई के साथ रहने से इस श्रुत कार्य में कठिनाई/बाधा आ सकती है । सभी पहलुओं पर पर्याप्त सोच-विचार कर सोहनबाई ने भाई से अलग रहने का निर्णय कर अलग रहने लगी । इस समय बालिका नजर दस वर्ष की हो चुकी थी । वैराग्य की प्रबलता के कारण माता और पुत्री शीघ्र ही संयम-मार्ग पर चलने के लिए कटिबद्ध थीं ।

सोहनबाई ने अपने देवर श्री शेषमल जी को देलवाड़ा से बुलवाया और अपनी आन्तरिक इच्छा उनके समक्ष रख दी । यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि बालिका नजर भी साथ ही दीक्षित हो रही है । शेषमल जी ने तो यह सोचा भी नहीं था । सोचना क्या कल्पना भी नहीं की थी कि उनकी भाभी और भतीजी दीक्षा का मार्ग भी अपना सकती हैं ! उन्होंने अपनी भाभी की भावना की गम्भीरता को नहीं समझा और वे अपनी भाभी को नानाविध से समझाने का प्रयास किया । कुछ धौंस भी बताई कुछ प्रलोभन भी दिये । शेषमल जी ने देखा कि उनकी किसी भी बात का प्रभाव माता और पुत्री पर नहीं हो रहा है । दोनों ही अपने संकल्प पर दृढ़ हैं । अन्ततः दृढ़ इच्छाशक्ति के सम्मुख उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और कहा—“यदि आप देलवाड़ा चलकर दीक्षा ग्रहण करें तो मैं आज्ञा देने के लिए तैयार हूँ ।”

१ जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ ४४८-४४९

द्वितीय खण्ड : जीवन-दर्शन

१३१

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

“नजर टोटी है, किसी भी प्रकार की कठिनाई उपस्थित हो सकती है।” सोहनबाई ने कहा।

“परेशानी अथवा कठिनाई की आप कोई चिन्ता न करें। जो भी होगा, मैं उन सबका मामला करने के लिए तत्पर हूँ।” आश्वासन देते हुए शेषमल जी ने कहा।

अपने देवर का आश्वासन पाकर सोहनबाई अपनी पुत्री के साथ देलवाड़ा आ गई। उनकी विनती को स्वीकार करके महासती श्री सोहनकुँवर जी महाराज भी देलवाड़ा पधार गये। खूब धूम-धाम से दीक्षा की तैयारियाँ प्रारम्भ हो गईं।

उधर देलवाड़ा में दीक्षा की तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई थीं और इधर उदयपुर में जैसे ही कन्हैयालालजी को विदित हुआ कि बहिन के साथ भानजी भी दीक्षा ले रही है तो मोह के बशीभूत होकर उन्हें बहुत अधिक क्रोध आया और इसी क्रोध के आवेश में पुलिस में जाकर रिपोर्ट कर दी कि चैत्र कृष्णा द्वितीया के दिन देलवाड़ा में एक अबोध बालिका को दीक्षा दी जा रही है, उसको रुकवाया जाय। साथ ही देलवाड़ा के कुछ लोगों ने भी उस दीक्षा का विरोध करते हुए कहा कि नाबालिग लड़की को दीक्षा नहीं देना चाहिए। दीक्षा समारोह में एक विघ्न उपस्थित हो गया।

क्या दीक्षा व्रत अंगीकार करने के लिये कोई आयु बंधन है? इस प्रश्न का उत्तर उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री के शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है—“जैन धर्म में वय की दृष्टि से दीक्षा ग्रहण करने पर बल नहीं दिया है। चाहे बालक हो, चाहे युवक हो और चाहे बृद्ध हो, जिसमें भावों की प्रबलता और वैराग्य भावना बलवती हो, वह दीक्षा ग्रहण कर सकता है। बालक भी प्रतिभा का धनी होता है, उसमें भी तेज होता है। यही कारण है कि आगम साहित्य में बाल दीक्षा के उल्लेख प्राप्त होते हैं। भगवती सूत्र के अनुसार अतिमुक्त कुमार ने जब भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की थी, उस समय उनकी उम्र छः वर्ष की थी। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महावीर ने अतिमुक्त कुमार ही आंतरिक योग्यता और क्षमता को निहार कर ही दीक्षा दी थी। पर सामान्य साधकों के लिए आठ वर्ष से कुछ अधिक उम्र होने पर दीक्षा प्रदान करने का विधान है।

गजसूकुमाल मुनि भी लघुवय के थे। युवावस्था में प्रवेश करने के पूर्व ही उन्होंने साधना पथ को अपनाया था। चतुर्दशपूर्वधर आचार्य शय्यभद्र ने अपने पुत्र मणक को और आर्य महागिरि ने वज्र-स्वामि को बालवय में दीक्षा प्रदान की। इसी प्रकार के उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं।

शैशवकाल में सहजता, कोमलता और निर्मलता के साथ बुद्धि का अनाग्रह भाव तत्व के रहस्य को ग्रहण करने में जितना सहायक होता है, वह अन्य अवस्थाओं में नहीं। बचपन में दिये गये संस्कार परछाई की तरह साथ-साथ चलते हैं किन्तु ढलती उम्र में दिये जाने वाले संस्कार न तो अच्छी तरह आत्मसात होते हैं और न वे चिरस्थायी हो पाते हैं। इसलिये दीक्षा के लिये वय नहीं वैराग्य भाव प्रमुख माना गया है।

जैन साहित्य के इतिहास में ऐसे सैकड़ों साधकों का वर्णन प्राप्त होता है जिन्होंने बाल्यावस्था में दीक्षा ग्रहण कर जैनधर्म की प्रबल प्रभावना को है। आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय, महान कलाकार आचार्य जीतमलजी, महास्थविर ताराचन्द्रजी महाराज आदि अनेक व्यक्तियों के नाम गिनाये जा सकते हैं।

आगम साहित्य एवं परवर्ती साहित्य में कहीं पर भी बाल दीक्षा का निषेध नहीं है। बालकों की भांति हजारों युवक-युवतियों ने भी दीक्षा ग्रहण की है। आगम साहित्य में उन युवक-युवतियों की

उत्कृष्ट साधना का निरूपण है। हजारों साधकों के गौरवपूर्ण नाम गिनाये जा सकते हैं। इसी तरह वृद्ध व्यक्तियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की है। श्रमण भगवान महावीर ने ऋषभदत्त ब्राह्मण को प्रव्रज्या प्रदान की थी। आचार्य जम्बू द्वारा उनके पिता श्रेष्ठी ऋषभदत्त को और आचार्य आर्यरक्षित द्वारा अपने पिता सोमदेव की प्रव्रज्या देने का उल्लेख मिलता है।

दशवैकालिक में स्पष्ट कहा है—जीवन के संध्याकाल में दीक्षा लेकर भी कितने ही व्यक्ति अपनी तेजस्वी साधना से वर्ग और अपवर्ग को प्राप्त कर सकते हैं।^१

इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि आयु का बन्धन कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता है। आठ वर्ष के पश्चात् दीक्षा देना और लेना शास्त्र सम्मत है।

श्री कन्हैयालाल जी द्वारा उत्पन्न व्यवधान तो उनके मोह के कारण था। मोह ने संसार के प्राणियों को घेर रखा है। प्रत्येक को किसी-न-किसी का मोह है। किसी को परिवार का मोह तो किसी को धन-सम्पत्ति का। जब तक यह मोह का बन्धन रहता है तब तक कुछ भी नहीं हो सकता। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवन्तों ने सबसे पहले मोह पर ही प्रहार किया है। जब तक मोह का क्षय नहीं हो जाता तब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य सम्यक् नहीं होते और अन्य कर्म भी क्षीण नहीं होते हैं। सभी जानते हैं कि गणधर गौतम का भगवान महावीर के प्रति सर्वाधिक मोह था और यही मोह उनके केवल ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा था। जैसे ही उनका मोह बन्धन टूटा वैसे ही वे केवलज्ञानी हो गये। मोह की अदृश्य गाँठ बहुत अधिक मजबूत होती है। इसे तोड़ने के लिये कठोर साधना करनी पड़ती है। इसी मोह के जाल में श्री कन्हैयालाल जी फसे हुए थे। भानजी नजर पर उनका वास्तव्य ममत्व अधिक था। बहिन पर भी असौम स्नेह था। वे नहीं चाहते थे कि ये दीक्षा लेकर साध्वी बने। वे इन्हें अपने पास ही रखना चाहते थे और नजर का विवाह धूमधाम से कर उसका घर बसाना चाहते थे। यहाँ उनकी भावना के प्रतिकूल हो रहा था। इसलिए उन्होंने बाधा उत्पन्न कर दी।

ममत्व रखने वाला व्यक्ति यह भूल जाता है कि वह जो कुछ समझ रहा है, वह सब मिथ्या है। दूसरे तो क्या उसका अपना शरीर भी उसका नहीं है। वह मैं (आत्मा) और शरीर में अन्तर नहीं कर पाता है। जब उसका यह भ्रम दूर होता है तब वह वास्तविकता को समझता है। किन्तु यह समझ पाना/आत्मसात कर पाना बड़ा कठिन होता है। कई एक तो ऐसे होते हैं जो वास्तविकता को जानते हुए भी जात-बूझकर मिथ्यावाद में जीते हैं। इसी मिथ्या मोह में कन्हैयालाल जी भी जी रहे थे।

महासती श्री सोहन कुँवर जी म० सा० बड़े धीर-वीर-गम्भीर थे। उन्होंने परिस्थिति को देखा एवं विचार किया। उन्होंने सभी प्रकार से इस समस्या पर विचार किया। इस सम्बन्ध से उन्होंने प्रमुख श्रावकों से भी विचार-विमर्श किया। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यद्यपि दीक्षा प्रदान करने के लिये परिवारवालों की आज्ञा हमारे पास है तथापि इस समय परिस्थिति अनुकूल नहीं है। किन्तु इस शुभ कार्य को टालना भी उचित नहीं है। क्योंकि इस समय सभी तैयारियाँ हो चुकी हैं। अतः दीक्षा का दूसरा मुहूर्त भी निकलवा लिया। दूसरा मुहूर्त निकला फाल्गुन शुक्ला दशमी। पहले मुहूर्त के भी पूर्व। श्रावकों की सहमति से यह निर्णय हुआ कि अनावश्यक विलम्ब करने में कोई सार नहीं है। वरन् कुछ अन्य सम-

१ जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप पृष्ठ ४४४ से ४४६

स्याएं उत्पन्न हो सकती हैं। इसलिए फाल्गुन शुक्ला दशमी के दिन ही दीक्षा प्रदान करना निश्चित हो गया।

दीक्षा का महत्व—दीक्षा एक आध्यात्मिक साधना है। आहंती दीक्षा साधक के उस अटकने-भटकने को रोकने का एक उपक्रम है। वह ऐसी अखण्ड ज्योतिर्मय यात्रा है जिसमें साधक असत् से सत् की ओर, तमस् से आलोक की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर होता है। वह ऐसी अद्भुत आध्यात्मिक साधना है जिसमें साधक बाहर से अन्दर सिमटता है। वह अशुभ का बहिष्कार कर शुभ संस्कारों से जीवन-यापन करता है और शुद्धत्व की ओर अपने हर कदम बढ़ाता है। दीक्षा में साधक अपने आप पर शासन करता है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने दीक्षा को परिभाषा करते हुए लिखा है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धनाः ।

दानाक्ष-परम संयुक्तः दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

दीक्षा एक रासायनिक परिवर्तन है। सात्त्विक जीवन जीने की अपूर्व कला है। आत्म-साधना के परम और चरम बिन्दु तक पहुँचाने वाले सोपान का नाम दाक्षा है। दीक्षा में पाँचों महाव्रतों का जीवन पर्यन्त पालन करना होता है। 'सर्व्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' के सुट्ट कवच को पहनकर ही साधक सद्गुरुदेव के पथ-प्रदर्शन में साधना के पथ पर आगे बढ़ता है तथा अपने पर नियन्त्रण करता है।

दीक्षा अन्तर्मुखी साधना है। मानव-मस्तिष्क सुदीर्घकाल से सत्य की अन्वेषणा कर रहा है। उसने जड़ तत्व देखा, परखा और गहराई में पेंठकर परमाणु जैसे सूक्ष्म तत्व में निहित विराट शक्ति की अन्वेषणा की। मानव सभ्यता ने विजय फहराकर जन-मानस को मुग्ध किया है, पर यह जड़ की अन्वेषणा वास्तविक शांति प्रदान नहीं कर सकी। किन्तु जब मानव ने अपने अन्दर निहारा तो अपनी अनन्त आत्मशक्ति के दर्शन किये और परम शान्ति का अनुभव किया।¹ इससे सहज ही दीक्षा का महत्व समझ में आ जाता है।

दीक्षोत्सव—फाल्गुन शुक्ला दशमी वि. सं. १९९३ के दिन शुभ मुहूर्त में आस-पास के गाँवों से आये सैकड़ों नर-नारियों की साक्षी में महासती श्री सोहनकुंवरजी महाराज ने दोनों मुमुक्षु भव्यात्माओं को जैन भागवती दीक्षा प्रदान की। दीक्षास्थल जय-जयकारों के गगनभेदी नारों से गूँज उठा। माता सोहनवाई का नाम महासती श्री कैलाशकुंवरजी म. रखा तथा उन्हें महासती श्री पदमकुंवरजी म. सा. की शिष्या घोषित किया गया। पुत्री नजरकुमारी का नाम महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. रखा गया। वे साध्वीप्रमुखा सद्गुरुवर्या श्री सोहनकुंवरजी म. सा. की शिष्या बनीं।

महासती श्री सोहनकुंवरजी महाराज ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी आदि अनेक गुणों के आगार थे, वे संयम के पालन में प्रतिपल जागरूक थे, उनको शिष्य-शिष्याएँ बनाने का स्वल्प भी लोभ या मोह नहीं था। उनके मन में संकल्प भी था कि अपने नाम से शिष्या नहीं बनाऊँगी, लेकिन बालिका नजर के हृदय में उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी। वह उन्हें ही अपनी आराध्या मान चुकी थी। उसकी एकमात्र इच्छा भी यही थी कि वह उन्हीं की शिष्या बने। महासती श्री सोहनकुंवरजी म. नजर के अत्याग्रह और स्नेह सम्पण के सम्मुख इन्कार न कर सके। नजरकुमारी अर्थात् महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. सद्गुरुवर्या श्री सोहनकुंवरजी म. सा. का शिष्यत्व पाकर आपको महान् सौभाग्यशाली मान रही थी। सुयोग्य शिष्या को प्राप्त कर गुरुणीजी महाराज भी प्रफुल्लित थे।

१ जैन आचार्य.....पृष्ठ ४३८।



ऋजुता-मृदुता की जीवन्तमूर्ति पुण्यश्लोका मातृश्री कैलाशकंवर जी महाराज

संयम-साधना

विहार—महासती श्री सोहनकुंवरजी म. देलवाड़ा दीक्षा के निमित्त से पधारे थे। दीक्षा निविधन सानन्द हर्षोल्लासमय वातावरण के बीच सम्पन्न हो गई थी। इसलिए दीक्षा सम्पन्न होते ही महासतीजी ने अपने धर्म परिवार सहित देलवाड़ा से उदयपुर की ओर विहार कर दिया। नन्हीं साध्वी कुसुमवतीजी के लिए नंगे पाँव इतना लम्बा पैदल चलना एक नया अनुभव था। कोमल पैर थे। लड़खड़ाते हुए कंकरोँ पर पड़ रहे थे। कभी पत्थर की ठोकर लग जाती, तो कभी काँटों से पैर विध जाते और खून निकल आता। थकावट से मुख-कमल मुरझा जाता। गुरुणीजी पूछती—“तुम थक गई होगी ?”

बाल साध्वी श्री कुसुमवतीजी म. अपने उन कष्टों की चिन्ता किये बगैर मृदु हास्य के साथ बोल पड़तीं—“नहीं पूज्याश्री, अभी हम चले ही कितने हैं।” ऐसा कहकर वे जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने का प्रयास करतीं। थकावट को देखकर कभी-कभी सेवाभावी महासती श्री चतरकुंवरजी महाराज थोड़ी देर के लिए उन्हें कन्धे पर उठाकर विहार करते। महासती श्री कुसुमवतीजी म. बालक सी थीं ही, साथ ही उनका शरीर भी बहुत हल्का था।

विहार करते हुए महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. अपनी नवदीक्षिता सतियों के साथ मेवाड़ की राजधानी उदयपुर पधारे। सैकड़ों भाई-बहिनों ने अगवानी की और विशाल जुलूस के साथ पूर्ण आदर एवं सम्मान सहित नगर प्रवेश करवाया।

बड़ी दीक्षा—महासती श्री सोहनकुंवरजी म. एवं सतीमण्डल के आगमन से उदयपुर की जनता में आनन्द की लहर छा गई। एक नये उत्साह और उमंग का संचार हुआ। दीक्षा के आठवें दिन चैत्र कृष्ण द्वितीया सं. १९६३ को दोनों नवदीक्षिता सतियों की समारोहपूर्वक बड़ी दीक्षा सम्पन्न हुई। यह वही दिन है जब प्रथम मुहूर्तानुसार इस दिन दोनों की दीक्षा देनवाड़ा में होने वाली थी। पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि दीक्षा रुकवाने के लिए पुलिस में रिपोर्ट की जा चुकी थी। उस रिपोर्ट पर कार्यवाई करने के लिए जब पुलिस देलवाड़ा पहुँची तो पता चला कि दीक्षा तो एक सप्ताह पूर्व ही हो चुकी है और महाराज ने यहाँ से विहार भी कर दिया। पुलिस को मुँह लटकाये वापस आना पड़ा।

संयम मार्ग पर दृढ़ता से बढ़ते कदम—बालसाध्वी महासती श्री कुसुमवती जी संयम मार्ग पर बड़ी दृढ़ता के साथ अपने कदम बढ़ा रही थीं। गुरुवर्या श्री सोहनकुंवर जी म. सा. एवं समस्त महासतियाँ जी का आपको अपरिमित स्नेह मिल रहा था, क्योंकि एक तो लघुवय और दूसरे सहजता, सरलता एवं विनम्रता आदि गुण, बरबस ही सभी का मन मोह लेते थे। यों भी परम विदुषी महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. के अतिरिक्त सती मण्डल में जितनी भी महासतियाँ थीं, सभी ने विवाहोपरान्त संयम व्रत अंगीकार किया था। आपके ही बाल ब्रह्मचारिणी होने से सभी का सहज आकर्षण एवं स्नेह था।

विद्याध्ययन—वैराग्य काल में ही आपने भक्तामर स्तोत्र, कल्याणमन्दिर स्तोत्र, रत्नाकर पञ्चीसी, महावीराष्टक आदि स्तोत्र, दशवैकालिक सूत्र, सुखविपाक सूत्र, आवश्यक सूत्र, पुच्छिसुणं, नमिपवज्जा आदि शास्त्र, पञ्चीस बोल, तैतीस बोल, समकित के सड़सठ बोल, पाँच समिति, तीन गुप्ति, नवतत्व, लघुदण्डक आदि कई थोकड़े कण्ठस्थ कर रखे थे ।

दोषा के पश्चात् आप ज्ञान-ध्यान में पूर्णतः निरत हो गये । जो स्मरण था उसे पुनः-पुनः दोहराना और नवीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए आप सदैव जागरूक रहते । प्रातः चार बजे उठते एवं रात्रि को देर से सोते । इस बीच का समय स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, मनन, पठन-पाठन, आहार-विहार, एवं साधवोचित क्रिया के परिपालन में व्यतीत होता । आप एक मिनट भी प्रमाद में नहीं खोना चाहती । जब तक सूर्यास्त नहीं हो जाता तब तक अध्ययन करती रहती । स्वाध्याय एवं ध्यान-साधना में आपकी विशेष रुचि परिलक्षित हुई । अतः स्वाध्याय एवं ध्यान पर संक्षिप्त विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

स्वाध्याय—जैन दर्शन में तप के भेद करते हुए बताया गया है कि तप बारह भेदों में विभक्त है । इनमें छः आभ्यंतर एवं छः बाह्य तप हैं । स्वाध्याय आभ्यंतर तप में चौथा तप है । जैनेतर दर्शनों में भी स्वाध्याय को "स्वाध्याय परमं तपः" कहकर उत्कृष्ट तप के रूप में वर्णन किया है । जैन दर्शन में "न वि अत्थि न वि य होई सज्जाय समं तवोकम्म" कहकर स्वाध्याय की आभ्यंतर तपों में गणना की है ।

स्वाध्याय का अर्थ है—सत् शास्त्रों का अध्ययन, वाचन, चिन्तन और प्रवचन । स्वाध्याय दो शब्दों के योग से बना है—स्व + अध्याय, जिसका अर्थ होता है 'स्व' का अथवा 'स्व' सम्बन्धी अध्ययन करना । दूसरे शब्दों में इसे आत्म-चिन्तन करना भी कह सकते हैं । इस पर प्रश्न उठता है कि क्या इसमें 'पर' चिन्तन के लिए कोई स्थान नहीं है ? नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है । कारण कि इसका एक अन्य अर्थ है स्वयं अध्ययन करना । अर्थात्—स्वाध्यायी स्वयं ही स्वयं का गुरु और शिष्य होता है ।

आवश्यक सूत्र के अनुसार—'अध्ययनं अध्यायः शोभनी अध्यायः 'स्वाध्यायः'—अर्थात्—श्रेष्ठ अध्ययन ही स्वाध्याय है । जिसके अध्ययन-अध्यापन से आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है, वही स्वाध्याय है । आचार्य अभयदेव के शब्दों में—“सुष्ठु आ—मर्यादया अधोयते, इति स्वाध्यायः”—अर्थात् सत् शास्त्रों का अध्ययन करना, विधिपूर्वक अध्ययन करना, विधिपूर्वक श्रेष्ठ पुस्तकों का वाचन करना स्वाध्याय है । स्वाध्याय का उत्पत्तिजन्य अर्थ इस प्रकार है—'स्वस्य स्वस्मिन् अध्यायः स्वाध्यायः यानी स्वयं का स्वयं के भीतर अध्ययन, दूसरे शब्दों में आत्म-चिन्तन मनन स्वाध्याय है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि आत्मकल्याणकारी पठन-पाठन रूप श्रेष्ठ अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है । स्वयं का अध्ययन कर उस पर चिन्तन और मनन करना, अपना ध्यान कर दुर्गुणों से विग्रह करना, स्वयं की मनोभूमि और चित्तवृत्तियों का साक्षात्कार करना, 'स्व' को ओर जाना, 'स्व' की ओर आना, 'स्व' को ओर देखना, 'स्व' में ही रमण करना और 'स्व' में ही लीन होकर 'स्व' के साथ अन्यान्यों का पथ आलोकित करना । यही स्वाध्याय है । इस प्रकार स्वाध्याय स्व-पर-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है ।

स्वाध्याय के पाँच भेद बताये गए हैं—(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनु-प्रेक्षा और (५) धर्मोपदेश । जब तक पाँचों भेदों की पूर्ति नहीं हो जाती । तब तक स्वाध्याय के उद्देश्य की भी पूर्ति नहीं होती है ।

स्वाध्याय के नियम चिन्तकों द्वारा इस प्रकार बताये गये हैं—

(१) एकाग्रता, (२) निरन्तरता, (३) विषयोपरति, (४) प्रकाश की उत्कंठा और (५) स्थान । इन सब पर प्रकाश डालना यहाँ उचित प्रतीत नहीं होता है । स्वाध्याय के सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है । यहाँ स्वाध्याय पर विस्तार से विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है । हम तो यही बताने का प्रयास कर रहे हैं कि स्वाध्याय क्या है ? स्वाध्याय की स्वल्प जानकारी यहाँ देने का प्रयास है ।

स्वाध्याय के परिणाम की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं कि भगवान महावीर ने कहा है कि स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिल जाती है—“सज्ज्ञाए वा निउत्तेण सव्वदुक्ख-विमोक्खणे” (उत्तराध्ययन २६/१०) । जन्म-जन्मांतरों में संचित किए हुए अनेक प्रकार के कर्मों का क्षण-भर में क्षय हो जाता है—“बहुभवे संचियं पि हु सज्ज्ञाएणं खणे खवेइ” (चन्दविज्ज्ञापडन्ना, ६१) । स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय हो जाता है—“सज्ज्ञाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ” (उत्तरा० २६/१८) । स्वाध्याय सब भावों का प्रकाश करने वाला भी है—“सज्ज्ञायं च दओ कुज्जा, सव्व भाव विभावणं” (उत्तरा० २६/३७) । आचार्यश्री अकलंक के द्वारा स्वाध्याय के सात फल इस प्रकार बताए गए हैं—

- (१) स्वाध्याय से बुद्धि निर्मल होती है ।
- (२) प्रणस्त अध्यवसाय की प्राप्ति होती है ।
- (३) शासन रक्षा होती है ।
- (४) संशय की निवृत्ति होती है ।
- (५) परमतवादियों की शंकाओं के निरसन की शक्ति प्राप्त होती है ।
- (६) तप त्याग की वृद्धि होती है और,
- (७) अतिचार की शुद्धि होती है ।

स्वाध्याय करने के लिये भी समय निर्धारित है । आगमों में मुनि की दैनिकचर्या के साथ स्वाध्याय का भी निर्देश मिलता है ।

ध्यान—आभ्यंतर तपों में ध्यान का पाँचवां स्थान है । अर्थात् ध्यान भी आभ्यंतर तप है । उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री ने अपने ग्रंथ ‘जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप’ में ध्यान पर सुन्दर रूप से प्रकाश डाला है । उसी के आधार पर हम यहाँ ध्यान पर विचार प्रस्तुत कर रहे हैं ।

साधना पद्धति में ध्यान का अत्यधिक महत्त्व रहा है । कोई भी आध्यात्मिक धारा उसके बिना अपने साध्य तक नहीं पहुँच सकती है । यही कारण है कि भारत की सभी परम्पराओं ने ध्यान को महत्त्व दिया है । ध्यान शतक में मन की दो अवस्थाएँ बताई गई हैं—(१) चल अवस्था (२) स्थिर अवस्था । चल अवस्था चित्त है और स्थिर अवस्था ध्यान है । चित्त और ध्यान—ये मन के ही दो रूप हैं । जब मन एकाग्र, निरुद्ध और गुप्त होता है, तब वह ध्यान होता है ।

“ध्येय चिन्तायाम्”—धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है । शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन है किन्तु प्रवृत्तिलब्ध अर्थ उससे जरा पृथक है । इस दृष्टि से ध्यान का अर्थ है—चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना । आचार्य उमास्वाति ने लिखा है—एकाग्र चिन्ता तथा शरीर, वाणी और मन का निरोध ध्यान है । इससे स्पष्ट है कि जैन परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही

नहीं है अपितु शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति अथवा निष्प्रकम्प स्थिति को ही ध्यान की संज्ञा दी गई है ।

आचार्य पतंजलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही माना है. उनका अभिमत है कि जिसमें धारणा की गई हो, उस देश में ध्येय विषयक ज्ञान की एकतानता जो अन्य ज्ञान से अपरावृष्ट हो, वह ध्यान है । सहश प्रवाह से तात्पर्य है जिस ध्येय विषयक प्रथम वृत्ति हो उसी विषय की द्वितीय और तृतीय हो—ध्येय से अन्य ज्ञान बीच में न हो । पतंजलि ने एकाग्रता और निरोध ये दोनों चित्त के ही माने हैं । गरुड़ पुराण में ब्रह्म और आत्मा की चिन्ता को ध्यान कहा है ।

विभुद्धिमग्न के अनुसार ध्यान मानसिक है । पर जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने ध्यान को मानसिक ही नहीं माना, वाचिक और कायिक भी माना है । पतंजलि ने जिसे संप्रज्ञात समाधि कहा है वह जैन परिभाषा में शुक्लध्यान का पूर्व चरण है । पतंजलि ने जिसे असंप्रज्ञात समाधि कहा है उसे जैन परम्परा में शुक्लध्यान का उत्तर चरण कहा है । जो केवलज्ञानी है, उनके केवल निरोधात्मक ध्यान होता है, किन्तु जो केवलज्ञानी नहीं है, उनके एकाग्रतात्मक और निरोधात्मक—दोनों प्रकार के ध्यान होते हैं ।

मन सहित काया और वाणी को जब एकरूपता मिलती है, वह पूर्ण ध्यान है । उसमें अखण्डता और एकाग्रता होती है । एकाग्रता स्वाध्याय में भी होती है और ध्यान में भी । किन्तु स्वाध्याय में एकाग्रता घनीभूत नहीं होती; जबकि ध्यान में वह घनीभूत होती है ।

ध्यान में चेतना की वह अवस्था है जो अपने आलम्बन के प्रति पूर्णतया एकाग्र होती है । एकाग्र चिन्तन ध्यान है । चेतना के विराट आलोक में चित्त विलीन हो जाता है, वह ध्यान है ।

अतीत काल में त्रियोग के निरुद्घन को ध्यान कहा गया । आचार्य भद्रबाहु ने चित्त को किसी भी विषय में स्थिर करने को ध्यान कहा है । आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—अपने विषय में मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है ।

आराधनासार में आचार्य ने कहा है—प्रकाण्ड विद्वत्ता प्राप्त भी की हो पर यदि सम्यक् प्रकार से ध्यान नहीं किया गया है तो सभी निरर्थक है । क्योंकि उस विद्वत्ता से आकुलता-व्याकुलता नहीं मिटेगी । आकुलता-व्याकुलता को मिटाने के लिए ध्यान संजीवनी एक बूटी है । ध्यान करते समय पूर्व संस्कारों के कारण यदि मन में चंचलता आवे तो घबराकर ध्यान छोड़ने की आवश्यकता नहीं है किन्तु निरन्तर अभ्यास से शनैः-शनैः वह चंचलता भी नष्ट हो जाती है ।

ध्यान के मुख्य रूप से दो भेद किए गए हैं—(१) अप्रशस्त ध्यान और (२) प्रशस्त ध्यान । वैदिक परम्परा में क्लिष्ट और अक्लिष्ट ध्यान कहा है तथा बौद्ध परम्परा ने उन्हें कुशल ध्यान और अकुशल ध्यान शब्द दिए हैं ।

ज्ञानार्णव में ध्यान के तीन भेद किए गए हैं—(१) अशुभ (२) शुभ और (३) शुद्ध । ये तीनों भेद आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं । आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार अवन्तर भेदों का वर्णन किया है । आचार्य हेमचन्द्र ने इनका भी आगे उपविभाजन किया है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में ध्यान करने की इच्छा रखने वाले के लिये कहा है कि उसे तीन बातें जान लेनी चाहिए—वे तीन बातें हैं—१ ध्याता—ध्यान करने वाले में कैसी योग्यता होनी

चाहिए ? २—ध्येय—जिसका ध्यान करना है, वह वस्तु कैसी होनी चाहिए ? ३—ध्यान के कारणों की समग्रता, अर्थात् सामग्री कैसी हो ? क्योंकि सामग्री के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने ध्याता की योग्यता के सम्बन्ध में लिखा है—“जो प्राणों का अवसर आ जाने पर भी संयम-निष्ठा का परित्याग नहीं करता है, अन्य प्राणियों को आत्मवत् देखता है, अपने ध्येय, लक्ष्य से च्युत नहीं होता है, जो सर्दी, गर्मी और वायु से विन्न नहीं होता, जो अजर-अमर बनाने वाले योग-रूपी अमृत, रसायन को पान करने का इच्छुक है, रागादि दोषों से आक्रान्त नहीं है, क्रोध आदि कषायों से दूषित नहीं है, मन को आत्माराम में रमण कराने वाला है, समस्त कर्मों में अलिप्त रहने वाला है, काम-भोगों से पूर्णतया निरक्त है, अपने शरीर पर भी ममत्व-भाव नहीं रखता है, संवेग के सरोवर में पूरी तरह मग्न रहने वाला है, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि में समभाव रखने वाला है, समान रूप से प्राणिमात्र के कल्याण की कामना करने वाला है, प्राणिमात्र पर करुणा-भाव रखने वाला है, सांसारिक सुखों से विमुक्त है, परीषह और उपसर्ग आने पर भी सुमेरु की तरह अचल-अटल रहता है, चन्द्रमा की भाँति आनन्ददायक और वायु के समान निःसंग—अप्रतिबन्ध विहारी है, वही प्रशस्त बुद्धि वाला प्रबुद्ध-साधक प्रशंसनीय और श्रेष्ठ ध्याता हो सकता है ।”¹

ध्याता के चार लक्षण उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री ने इस प्रकार बताये गये हैं—(१) आज्ञा रुचि, (२) निसर्ग रुचि, (३) सूत्र रुचि और (४) अवगाढ़ रुचि । इन चार लक्षणों से धर्म-ध्यानी की आत्मा की पहचान की जाती है ।

धर्म-ध्यान के चार आलम्बन इस प्रकार हैं—(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना और (४) धर्मकथा ।

धर्म-ध्यान की चार भावनाएँ बताई गई हैं—(१) एकात्वानुप्रेक्षा, (२) अनित्यानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा और (४) संसारानुप्रेक्षा ।

इन चार भावनाओं से मन में वैराग्य की लहरें तरंगित होती हैं । सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण कम हो जाता है और आत्मा शांति के क्षणों में विचरण करता है ।²

ध्यान के जितने प्रकार बताये गये हैं, उसी के अनुरूप उनके आलम्बन भी हैं । और अधिक विस्तार यहाँ अप्रासंगिक प्रतीत होता है । इस विवेचन से ही ध्यान के सम्बन्ध में धारणा स्पष्ट हो जाती है । ध्यान एक उत्कृष्ट तप है, यह एक ऐसी धधकती ज्वाला है जिसमें कर्म दग्ध हो जाते हैं ।

ऐसे प्रशस्त ध्यान और आत्मकल्याणकारी स्वाध्याय में महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. की विशेष रुचि उनकी भविष्य की महान साधना की प्रतीक थी ।

प्रथम चातुर्मास एवं सद्गुरुवर्यों के दर्शन—ज्ञानार्जन और गुरुसेवा करते हुए संवत् १९९४ का प्रथम चातुर्मास उदयपुर शहर में सम्पन्न हुआ । चातुर्मास के पश्चात् माघ शुक्ला त्रयोदशी संवत् १९९४ को उदयपुर निवासी श्री जीवनलाल जी बरडिया की आत्मजा सुन्दरकुमारी ने श्री सोहनकुंवर जी महाराज के पास जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की । दीक्षोपरांत उनका नाम महासती श्री पुष्पवती जी महाराज रख गया । लघु गुरु बहिन श्री पुष्पवती जी को पाकर आपको हार्दिक प्रसन्नता हुई । दोनों गुरु बहिनों में सहोदरा बहिनों से भी अधिक स्नेह था ।

गुजरात, बम्बई, महाराष्ट्र, खानदेश और मालवभूमि को अपनी चरण-रज से पावन करते हुए

१. योगशास्त्र, ७/२ से ७ ।

२. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ० ५६८ ।

पूज्य गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज, श्री पुष्कर मुनि जी महाराज ठाणा दो से वर्षों के पश्चात् उदयपुर पधारे। सद्गुरुवरों के आगमन से सर्वत्र हर्षोल्लास का वातावरण छा गया। सद्गुरुणी जी महासती श्री सोहनकुँवर जी महाराज, महासती श्री कुसुमवती जी म० और महासती श्री पुष्पवती महा० आदि नवदीक्षिता साध्वियों को लेकर गुरुचरणों में पहुँची। वन्दन और सुख-साता पृच्छा के पश्चात् गुरुदेव दोनों ही नवदीक्षिता साध्वियों को देखकर प्रसन्न हुए। उसी समय गुरुदेव ने दोनों के आगमिक ज्ञान की परीक्षा भी ली। दोनों ही साध्वियाँ इस परीक्षा में समुत्तीर्ण रहीं। महास्थविर श्री ताराचन्दजी महा० की आज्ञा से उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म. सा. ने महासती श्री सोहनकुँवर जी महाराज को निर्देश देते हुए फरमाया—‘लक्षणों के आधार पर ये दोनों साध्वियाँ प्रतिभासम्पन्न प्रतीत होती हैं। इनकी प्रतिभा का समुचित विकास हो सके इसलिये गुरुणी होने के नाते आपका कर्तव्य है कि आप इन दोनों के लिये संस्कृत और प्राकृत ये दोनों भाषाएँ, जैन आगम साहित्य और उसके व्याख्या साहित्य को पढ़ाने के लिये आवश्यक व्यवस्था अनिवार्य रूप से करें। इन्हें इनका व्यवस्थित अध्ययन करावें। एक-एक शब्द के अर्थ को समझने के लिये शब्दार्थ याद करना तो पल्लवग्राही पाण्डित्य है। यदि मूल भाषाओं पर इनका अधिकार हो गया तो फिर कैसा भी साहित्य क्यों न हो ये बिना किसी की सहायता के स्वयं ही उसके अर्थ का अभिप्राय न केवल स्वयं समझ लेंगी, वरन् किसी अन्य को भी सरलता से समझा देंगी।’

सद्गुरुवर्यों के प्रथम दर्शन कर दोनों ही साध्वियाँ प्रसन्न थीं। उस पर गुरुदेव का आदेश सुनकर तो उनका हृदय आनन्दित हो उठा। अध्ययन के प्रति उनकी लगन तो प्रारम्भ से ही रही है। अब गुरुदेव के आदेश से तो उनकी मनोकामना पूर्ण होने जा रही थी।

गुरुणीजी श्री सोहनकुँवर जी म० सा० ने सद्गुरुवर्य के आदेश को बहुत ही ध्यान से सुना। उन्होंने गहराई से इस बात पर चिन्तन किया। चिन्तन करने का कारण यह था कि उस युग में साधु-साध्वियाँ गृहस्थ पण्डितों से नहीं पढ़ा करते थे तथा पढ़ने पर प्रायश्चित्त दिया जाता था। ऐसी परिस्थिति में गुरुणीजी का चिन्तन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था। एक ओर समाज की प्रचलित मान्यताएँ थीं और दूसरी ओर प्रतिभा के विकास का प्रश्न।

सद्गुरुवर्या महासती श्री सोहनकुँवर जी म० ने विचार किया कि युग बदल चुका है। गृहस्थ वर्ग प्रबुद्ध हो रहा है। साधु-समाज इसी प्रकार यदि अध्ययन से कतराता रहा/वंचित रहा तो फिर गृहस्थ का नेतृत्व किस प्रकार कर सकेगा? उनकी ज्वलन्त समस्याओं का समाधान किस प्रकार कर सकेगा? पुरानी रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास कब तक मार्ग की बाधा बना रहेगा? इनको तोड़ना ही होगा। गुरुणीजी साहसी और नवीन परम्पराएँ स्थापित करने, पुरानी रूढ़ियों को समाप्त करने, समाज में युगानुरूप परिवर्तन की पक्षधर थीं। उन्हें अपने गुरुदेव का उक्त आदेश समयोचित प्रतीत हुआ। इसलिए उन्होंने गुरुदेव के सुझाव को आदेश मानकर उसे कार्य रूप में परिणत करने का विचार किया। साध्वियों को पण्डित पढ़ायेंगे। इस बात को लेकर समाज में कुछ रूढ़िग्रस्त व्यक्ति ऊहापोह भी कर सकते हैं। किन्तु सत्य के लिए डर किस बात का? महासतीजी ने हृढ़ निश्चय करके दूसरे दिन गुरुदेव के सम्मुख उपस्थित होकर निवेदन किया—‘गुरुदेव! मैं दोनों नवदीक्षिता साध्वियों का भविष्य उज्ज्वल और समुज्ज्वल देखना चाहती हूँ। इसलिए उनको व्यवस्थित अध्ययन कराऊँगी। किन्तु इस वर्ष वर्षावास की स्वीकृति सलोदा गाँव की हो चुकी है। उस गाँव में योग्य पण्डित का मिलना कठिन

है। हाँ, चातुर्मास के पश्चात् इनका अध्ययन दीर्घकाल तक व्यवस्थित रूप से चल सके, इसकी समुचित व्यवस्था हो जाएगी।”

गुरुदेव ने इस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। इसके पश्चात् गुरुदेव उदयपुर से विहार कर गोगुन्दा, नान्देशमा आदि ग्रामों में धर्म प्रचार करते हुए चातुर्मासार्थ कम्बोल पधार गये।

वर्षावास सं० १६६५—वि० सं० १६६५ का वर्षावास ग्राम सलोदा में करना निश्चित हो चुका था। अतः महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० अपनी सद्गुरुवर्या के साथ वि० सं० १६६५, ई० सन् १६३८ के वर्षावास हेतु सलोदा पहुँची। सलोदा हल्दी घाटी के सन्निकट बसा हुआ एक छोटा-ता गाँव है। हल्दीघाटी वही स्थान है जहाँ राणाप्रताप ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए मुगल सम्राट अकबर की सेना से टक्कर ली थी।

सलोदा गाँव में स्थानकवासी जन समाज के पच्चीस-तीस घर थे। उन सबकी आर्थिक स्थिति भी कोई विशेष अच्छी नहीं थी। वे प्रायः कृषिकर्म करके अपना जीवन-यापन करते थे। उस समय वहाँ पर जौ और मकई का प्रचलन था। जौ की हथेली जितनी मोटी रोटी बनती थी जिसमें तुष की प्रधानता थी। तुष कांटे की भाँति गले में चुभता था। महिलाएँ भी प्रायः पाक-कला से अनभिज्ञ थीं। जौ की उन तुषयुक्त मोटी रोटियों को बिना पूर्वाभ्यास के कोई खा नहीं सकता था। सब्जी का उपयोग तो नहीं के समान था। केवल चटनी, उड़द की दाल, कड़ी, चाकी और इनके अतिरिक्त राबड़ी, बड़ी या चने की दाल का उपयोग होता था। छाछ में मक्की के टुकड़े करके और फिर उबाल कर राब तैयार करते थे। बस, यही था, उस समय का वहाँ का भोजन।

महासती श्री कुसुमवतीजी म० ने पहली बार गाँव में चातुर्मास किया। इस प्रकार के खान-पान का उपयोग उन्होंने पहले कभी किया नहीं था। परन्तु वे समभाव में रमण करते हुए उसी आहार को थोड़ा-बहुत ग्रहण कर लिया करतीं। इस सम्बन्ध में कभी किसी से कुछ नहीं कहा।

सद्गुरुवर्या महासती श्री सोहनकुँवर जी म० सा० ने इस परिस्थिति को देखा और भलीभाँति समझा। उन्होंने विचार किया—“मैंने इन नवदीक्षिताओं के साथ यहाँ चातुर्मास कर उचित नहीं किया। ये शहर की सुकुमार बालिकाएँ हैं। ऐसा नीरस आहार इन्होंने कभी किया नहीं होगा। यहाँ ये किस प्रकार कर रही हैं? साध्वाचार का उचितरूपेण परिपालन भी कर रही हैं। अब भविष्य में क्षेत्र को देखकर ही चातुर्मास की स्वीकृति प्रदान करूँगी।”

इतना होते हुए भी यह वर्षावास सानन्द सम्पन्न हुआ। यही तो संयमी जीवन की परीक्षा भी है। सभी प्रकार की सुविधाओं के साथ संयमी जीवन व्यतीत करना हो तो फिर संयम ग्रहण करने की आवश्यकता ही क्या? सच्चे साधु को तो अपने मूल उद्देश्य से मतलब होता है। जो मिला, जैसा मिला खा लिया। नहीं मिला तो उपवास कर लिया। समता भाव में रहते हुए अपनी साधना करना ही साधु का परम लक्ष्य होता है। इस चातुर्मास में नवदीक्षिता साध्वी महासती श्री कुसुमवती जी ने यह प्रमाणित कर दिया कि संयम की धारा में वह समान रूप से खरी उतरेंगी।

वर्षावास समाप्त हुआ और ग्राम सलोदा से उदयपुर की ओर विहार हुआ। ग्रामानुग्राम धर्म-प्रचार करते हुए गुरुणी जी महासती श्री सोहनकुँवर जी म० सा० के साथ महासती श्री कुसुमवती जी म० उदयपुर पहुँच गईं।

वर्षावास वि० सं० १९९६—वि. सं. १९९६ का वर्षावास गुरुणीजी महासती श्री सोहनकुंवरजी म. के साथ उदयपुर में हुआ। वि० सं० १९९६ का चातुर्मास उदयपुर के इतिहास में विशेष महत्व रखता है। कारण कि इस वर्ष उदयपुर में स्थानकवासी परम्परा के दो तेजस्वी और प्रभावक मुनि प्रवरों के वर्षावास थे। पोरवाड़ों के पंचायती नोहरें में आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. के पट्टधर युवाचार्य श्री गणेशलाल जी म.सा. अनेक सन्तरत्नों के साथ विराज रहे थे। ओसवालों के पंचायती नोहरें में जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता श्री चौथमल जी म० सा० अपने शिष्यों के साथ विराज रहे थे। दोनों ही ओर प्रवचन के समय हजारों की संख्या में उपस्थित रहती थी। उदयपुर की भक्त नगरी में धर्म-रंग की वर्षा हो रही थी।

महासती श्री सोहन कुंवर जी म. सा. महामहिम आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज साहब के सम्प्रदाय की थीं किन्तु उनका मानस सम्प्रदायवाद के संकीर्ण घेरे में आवद्ध नहीं था और न वे किसी एक पक्ष से बँधी हुई थीं। अतः वे दोनों ही स्थानों पर अपनी सुविधानुसार प्रवचन में पहुँचती। श्री गणेशलाल जी म. सा. एवं श्री जैन दिवाकर जी म. सा. दोनों के ही अन्तर्मानस में महासती जी के प्रति अपार स्नेह व सद्भावनाएँ थीं।

शिक्षण की व्यवस्था—महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. ने भी इस वर्ष अपनी गुरुणी जी के साथ दोनों ही महापुरुषों के प्रवचन श्रवण का लाभ लिया। वर्षावास के पश्चात् आपने मन ही मन यह दृढ़ संकल्प किया कि उन्हें गुरुदेव श्री के आदेशानुसार संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का गहराई से अध्ययन करना है। महासती श्री मदनकुंवर जी म. सा. की शारीरिक स्थिति बिहार करने के अनुकूल नहीं थी। इसलिये वे उदयपुर में ही स्थिरवास विराज रही थीं। उनकी सेवा में रहते हुए अध्ययन व्यवस्थित रूप से हो सकता था।

उदयपुर में संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान पण्डित गोविन्द वल्लभ जी से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। चार-पाँच महीने तक पं० गोविन्द वल्लभ जी ने लघु सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन करवाया। इसके पश्चात् पण्डित श्री चम्पालाल जी के द्वारा अध्यापन प्रारम्भ किया गया। इसी बीच पण्डित श्री चम्पालाल जी किसी आवश्यक कार्य से अन्यत्र चले गए। अध्ययन में बाधा उत्पन्न हो गई। उस समय उदयपुर में पाणिनीय व्याकरण के महामनीषी विद्वानरत्न पण्डित श्री मार्कण्डेय जी मिश्र रहते थे। उनके शिष्य रत्न पं० रमाशंकर झा उन दिनों पं० मिश्र जी के पास अध्ययन कर रहे थे। पं० श्री रमाशंकरजी झा सीदे-सादे चरित्रवान एवं विद्वान व्यक्ति थे। अध्यापन कला में भी वे दक्ष थे। महासतियाँ जी को पढ़ाने का भार पं० श्री रमाशंकरजी झा को सौंपा गया। जब वे अध्ययन करवाते तब श्रमण-मर्यादा के अनुसार एक श्राविका और एक वरिष्ठ साध्वी जी महासती श्री कुसुमवती जी म. और महासती श्री पुष्पवती जी म. के समीप ही बैठी रहती थीं।

अध्ययन क्रम अपनी गति से चल ही रहा था कि एक दिन यकायक महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. के शरीर में ज्वर का प्रकोप प्रारम्भ हुआ। उपचार के लिए योग्य चिकित्सकों को बुलाकर दिखाया गया। औषधियाँ दी गईं किन्तु ज्वर का प्रभाव कम नहीं हो पा रहा था। ज्वर का प्रकोप लम्बे समय तक बना रहा। इसके परिणामस्वरूप अध्ययन का क्रम अवरुद्ध हो गया। अपनी गुरुबहिन के अध्ययन में बाधा न पड़े, इसलिये जब कभी भी ज्वर का प्रकोप कम होता, आप किसी सहारे से बैठ जातीं, किन्तु अधिक वेदना होती तो अध्ययन छूट ही जाता था। आपकी अस्वस्थता के कारण पण्डित जी अन्य सतियाँ, जो पढ़ना चाह रही थीं, उनको भी आगे नहीं पढ़ाते थे। आपके मन में विचार उत्पन्न

होता कि मेरे कारण दूसरों को अन्तराय लगती है, परन्तु आपके पास इसका कोई समाधान नहीं था। आप कर ही क्या सकती थीं ? स्वस्थ होने पर ही अध्ययन सुचारु रूप से चल सकता था।

सहनशीलता—महासती श्री कुसुमवती जी म. उस वेदना में भी सदैव प्रसन्न रहती थी तथा समभाव से व्यथा को सहन करतीं। वे सोचतीं कि उनके पूर्ववद्ध कर्मों के उदय होने का ही यह परिणाम है। यदि उनके मन में किञ्चित् मात्र भी विषम भाव आ गया तो नया कर्म बन्धन हो जाएगा। जब आत्मा ने हँस-हँस कर कर्म बाँधा है तो भोगते समय क्यों कतराना ? इस प्रकार समत्व भाव धारण कर निराकुल, निर्विकार मन से उस वेदना को सहन किया। जब भी थोड़ी-सी भी वेदना शान्त होती तब वे स्वाध्याय, ध्यान में तल्लीन हो जातीं।

कर्म सिद्धान्त के प्रति उनके मन में अपूर्व निष्ठा थी। वे विचार करती रहती थीं कि एक दिन यह असातावेदनीय कर्म दूर होगा और साता का उदय होगा। यदि इस समय वेदना है तो उससे घबराना नहीं चाहिए। इसका भी एक न एक दिन अन्त/क्षय अवश्य होगा ही। आत्मा तो वेदना से मुक्त है। मुझे सदैव आत्मभाव में रहना है। जहाँ न व्याधि है, न रोग है। मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निराकुल हूँ, अजर और अमर हूँ। तीन महीने की दीर्घ अवधि तक ज्वर का प्रकोप बना रहा। धीरे-धीरे वेदना दूर हुई तो उसके साथ ही ज्ञान की साधना भी प्रारम्भ हुई।

अध्ययन पुनः प्रारम्भ—पूर्ण स्वास्थ्य लाभ प्राप्त होते ही अध्ययन का क्रम पुनः अवधि गति से प्रारम्भ हुआ। सन् १९४२ में वाराणसी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, (वर्तमान में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) से क्वीन्स कालेज उदयपुर के माध्यम से व्याकरण मध्यमा सम्पूर्ण, एक वर्ष में उत्तीर्ण की। व्याकरण मध्यमा में सिद्धान्त कौमुदी का विशेषरूप से अध्ययन किया था। उसके पश्चात् साहित्य मध्यमा का अध्ययन किया। मध्यमा के पश्चात् साहित्यरत्न का भी अध्ययन किया। व्याकरण एवं साहित्य के साथ दर्शन एवं जैनागमों का भी अध्ययन गहराई के साथ किया।

विद्वेष भड़क उठा—दोनों महासतियों की अध्ययन के प्रति रुचि और सफलताओं को देखकर कितने ही ईर्ष्यालु व्यक्ति जल-भुन रहे थे। किन्तु सुखद बात यह थी कि वे व्यक्ति इतना साहस नहीं जुटा पा रहे थे कि महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. के सम्मुख कुछ कर सकें। इस कारण वे कुछ करना चाहकर भी नहीं कर पा रहे थे। इसलिए ये विद्वेषी मन ही मन कसमसा रहे थे। यह भी संयोग ही था कि इसी समय उदयपुर जैनागमों के मर्मज्ञ विद्वत्‌रत्न श्री घासीलालजी म. सा. का उदयपुर में आगमन हुआ। श्री घासीलालजी म. सा. को आगम साहित्य का तलस्पर्शी ज्ञान था। समाज में उनका कुछ दबदबा भी था। श्री घासीलालजी म. सा. के आगमन से विद्वेषी तत्वों को अपने सामने अच्छा अवसर दिखाई दिया और वे सीधे उनकी सेवा में जा पहुँचे तथा प्रारम्भिक चर्चा के पश्चात् महासतियों के विरुद्ध विष वमन कर दिया।

श्री घासीलालजी म. सा. ने उन लोगों की बात को बड़े ध्यान से सुना था। उन्होंने सुनी हुई बातों के तथ्य तक पहुँचने का प्रयास किया और वे स्थविरा महासतीजी श्री मदनकुंवरजी म. सा. को दर्शन देने के लिए उनके स्थान तक पधारे। महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. एवं महासती श्री पुष्पवती जी म. सा. अपने नियमित कार्यक्रमानुसार उस समय अध्ययन कर रही थीं। उन दोनों के समीप ही सद्गुरुवर्या महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. विराजमान थीं। वंदना एवं सुख-साता पुच्छा के पश्चात् सभी ने अपना-अपना आसन ग्रहण किया। एक दो इधर-उधर की बात भी हुई और उसके पश्चात् श्री

घासीलालजी म. सा. ने महासती श्री सोहनकुंवरजी महाराज से सीधा प्रश्न पूछा—“संस्कृत और प्राकृत का अध्ययन करने वाली आपकी दोनों शिष्याएँ क्या ये ही हैं ?” यह पूछकर उन्होंने महासती श्री कुसुमवतीजी म. और महासती श्री पुष्पवतीजी म. की ओर संकेत किया तथा पुनः बोले—“मैंने ऐसा भी सुना है कि इन दोनों ने लघु सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन भी समाप्त कर लिया है।”

सद्गुरुवर्या महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. कुछ बोल पातीं इसके पूर्व ही श्री घासीलालजी म. सा. ने लघु सिद्धान्त कौमुदी से सम्बन्धित कुछ प्रश्न अलग-अलग महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. तथा महासती श्री पुष्पवतीजी म. सा. से पूछ लिए। इस पर सद्गुरुवर्या ने मौन रहना ही उचित समझा। गुरुवर्या को अपनी शिष्याओं के ज्ञान, अभ्यास और अध्यवसाय पर पूर्ण विश्वास था। महासती श्री कुसुमवतीजी म. एवं महासती श्री पुष्पवतीजी म. ने उनके प्रश्नों का सटीक उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट कर दिया। दोनों के उत्तर सुनकर उन्हें पूर्णतः विश्वास हो गया कि दोनों ही साध्वियाँ योग्य, प्रतिभासम्पन्न एवं निर्भीक हैं। दोनों की ज्ञान गरिमा से श्री घासीलालजी म. प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। किन्तु विद्वेषी तत्वों ने उनके कर्ण कुहरोँ में जो विष उगला था, उसका प्रभाव अभी समाप्त नहीं हुआ था, इसलिए उन्होंने महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. से कहा—“मेरे विचार से अब इन दोनों का अध्ययन यहीं समाप्त कर देना चाहिए। इससे अधिक पढ़ाना उचित प्रतीत नहीं होता। इसका एक कारण और यह भी है कि यदि ये अधिक अध्ययन कर गईं और विशिष्ट योग्यता अर्जित कर ली तो फिर ये आपकी आज्ञा में नहीं रह सकेंगी। इसलिए अच्छा तो यही है कि इनका अध्ययन अब यहीं समाप्त कर दो।” इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ और भी इसी प्रकार की बातें गुरुवर्या से कही थीं।

सद्गुरुवर्या महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. ने उनके एक-एक शब्द को बड़े ही ध्यान से सुना था। वे इस प्रकार की चर्चा क्यों कर रहे हैं ? इस बात को भी वे अच्छी प्रकार से समझती थीं। उन्होंने बड़े ही विनम्र और संयमित शब्दों में उत्तर दिया—“महाराजश्री ! आपश्री जो आज इस प्रकार की बात कर रहे हैं, उससे मैं आश्चर्य-चकित हूँ। आपश्री स्वयं प्रकाण्ड विद्वान् है और ज्ञान तथा ज्ञान-प्राप्ति के महत्व को अच्छी प्रकार समझते हैं। फिर भी आप महासतियों की ज्ञानप्राप्ति की भावना पर प्रतिबन्ध लगाने का सुझाव दे रहे हैं। मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार आपका सुझाव न तो उचित है और न ही समय के अनुकूल। नीतिज्ञों का कहना तो है—विद्या ददापि विनयम्—विद्या से तो विनय की प्राप्ति होती है, विनय से विवेक की वृद्धि होती है। मुझे तो आश्चर्य इसी बात का हो रहा है कि आपश्री जैसा पारगामी विद्वान् ऐसी विपरीत बातें क्यों सोच रहा है ?”

“मैं अपनी शिष्याओं को भलीभांति जानती हूँ। जिस प्रकार आप सोच रहे हैं, वैसा तो नहीं होगा किन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि अध्ययन करके ये दोनों जैनधर्म की अच्छी प्रभावना करेंगी और गुरु गच्छ के नाम में चार चाँद लगावेगी। मैं अपना कर्तव्य अच्छी प्रकार समझती हूँ। मैं यह भी समझती हूँ कि मुझे क्या पढ़ाना है और क्या नहीं। अब कृपा कर आप मुझे एक बात बताने की कृपा करें कि आपने अभी जो कुछ भी कहा है, वह अपने अन्तर्मन की पुकार सुनकर कहा है अथवा किसी के कहने में आकर आपश्री मुझे हित-शिक्षा देने आ गये।”

श्री घासीलालजी म. सा. के लिए अब कहने के लिए कुछ नहीं बचा था। वे यह भी समझ गये कि महासती श्री सोहनकुंवरजी म. को परिस्थिति का सब ज्ञान है। अब यदि अधिक कुछ कहा तो वास्तविक बात प्रकट हो जायेगी। इसलिए वे कुछ नहीं बोले।

अस्तित्व की चिन्ता— श्री घासीलालजी म. सा. महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. के कथन के परिप्रेक्ष्य में विचारमग्न हो गये। वे मन ही मन विचार करने लगे कि निःसन्देह इनकी शिष्याएँ अपूर्व मेधा सम्पन्न हैं। मैंने स्वयं लघु सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन अनेक वर्षों तक किया, तब कहीं जाकर उसे आत्मसात कर पाया। किन्तु इन साध्वियों ने एक वर्ष में ही इसका अध्ययन सम्पन्न कर परीक्षा भी दे दी और उस परीक्षा में प्रथम श्रेणी भी प्राप्त की। वास्तव में यह इनकी अद्वितीय प्रतिभा का प्रतीक है। यदि ये साध्वियाँ और इन्हीं की भाँति अन्य साध्वियाँ भी ज्ञान के क्षेत्र में इसी प्रकार विकास करती रहें तो फिर सन्तों की स्थिति क्या होगी? ज्ञानसम्पन्न और प्रतिभासम्पन्न तपस्विनी साध्वियों के होते हुए कम प्रतिभावान् साधुओं को कौन पूछेगा! उनके मान-सम्मान का क्या होगा? यदि ऐसा ही चलता रहा तो फिर भविष्य में तो साधुओं के अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित हो जायेगा। इसी प्रकार के और भी अनेकानेक प्रश्न उनके मनमानस को कचोटते रहे। वे इस विषय पर जितना चिन्तन करते वे उसमें और अधिक उलझ जाते। उन्हें कहीं कोई समाधान नहीं मिलता। स्पष्टतः प्रति-बन्धात्मक चर्चा भी नहीं की जा सकती थी। उनका यह सोच पुरुषप्रधान संस्कृति की भावना का पोषक था। इस सम्बन्ध में आगे फिर कोई चर्चा नहीं हुई।

प्रवचन प्रारम्भ—दीर्घकाल तक उदयपुर में रहते हुए महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० की ज्ञानाराधना चलती रही। जनमानस महासती श्री कुसुमवतीजी म० सा० की अध्ययन के प्रति लगन भावना से अच्छी प्रकार परिचित था। वह चाहता था कि महासती जी द्वारा अर्जित ज्ञान का लाभ उसे भी मिले। जन-जन की भावना को मान देते हुए, उनकी मनोकामना को पूर्ण करने के लिये आपने अपनी सद्गुरुवर्या के आशीर्वाद, मार्गदर्शन और सान्निध्य में प्रवचन फरमाना प्रारम्भ किया। आपकी प्रवचन शैली आकर्षक थी। तथ्यों का निरूपण शास्त्रोक्त था। विषयवस्तु की गूढ़ता को किसी दृष्टान्त के माध्यम से सरल कर समझा देती थीं। भाषा सहज एवं बोधगम्य होती थी। बोलते समय आप आरोह-अवरोह का बराबर ध्यान रखती थीं। बीच-बीच में संदर्भानुसार काव्य पंक्तियों से आप अपने प्रवचन को सरस भी बना दिया करती थीं। उदयपुर में आपके प्रवचन की चर्चा होने लगी थी और श्रोता आपका प्रवचन श्रवण करने के लिए खिंचे चले आते थे। जिसने भी आपके प्रवचन पीयूष का एक बार भी पान कर लिया वह पुनः पुनः आपकी धर्म सभा में उपस्थित होकर आपके अमृत वचनों का पान करना चाहता था। आपकी प्रवचन कला आज भी वैसी ही प्रभावशाली है बल्कि अब तो उसमें और भी निखार आ गया है।

अध्ययन हेतु गुरुकुल में—

व्याकरण और साहित्य का अध्ययन तो हो गया था किन्तु अभी बहुत कुछ अध्ययन करना शेष था। जैन न्याय और जैन टीकाओं का अध्ययन करना आवश्यक था। इन विषयों के विद्वान इधर नहीं थे। अध्ययन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था। यदि इनका अध्ययन नहीं किया जाता है तो ज्ञान अपूर्ण ही रह जाता है। इसलिए वि० सं० २००३, ईस्वी सन् १९४६ में आप अपनी माताजी महाराज और लघु गुरु बहिन महासती श्री पुष्पवती जी म० सा० के साथ ब्यावर पधारीं। ब्यावर में देश प्रसिद्ध गुरुकुल था और वहाँ विद्वान अध्यापक अध्यापन कराते थे। ब्यावर में ही जैन न्याय के उद्भट विद्वान पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल से जैन न्याय और जैनागमों की टीकाओं का गम्भीर अध्ययन किया। ब्यावर में एक वर्ष तक आपका मुकाम रहा। इस अवधि में गहन अध्ययन और कठोर अध्यव-साय से आपने न्याय-तीर्थ और सिद्धांताचार्य की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं।

द्वितीय खण्ड : जीवन-दर्शन

१४५

कुशाग्रबुद्धि के कारण जिस किसी भी ग्रंथ का आप पारायण करतीं, वह स्मृति पटल पर अंकित हो जाता। आपकी स्मरण शक्ति बहुत ही तेज थी। संस्कृत भाषा पर तो आपका इतना अधिकार हो गया था कि आप धारा प्रवाह संस्कृत बोल लेतीं। इसके साथ ही आपकी लेखन कला भी सुन्दर थी। उस समय आपने जैन दर्शन और साहित्य पर उच्चकोटि के निबन्ध भी लिखे थे। बेकन ने ठीक ही कहा है—

रीडिंग मेक्स ए फुल मेन
स्पीकिंग ए परफेक्ट मेन
राइटिंग एन एग्जेक्ट मेन।

—अध्ययन मानव को पूर्ण बनाता है, अभिव्यक्ति उसे परिपूर्णता देती है, और लेखन उसे प्रामाणिकता प्रदान करता है। तीनों ही दृष्टियों से आपका विकास निरन्तर प्रगतिशील था।

संवत् २००६ में भी आपका वर्षावास अध्ययनार्थ व्यावर में था। सबसे सुखद बात यह थी कि इस वर्ष आचार्य सम्राट श्री आनन्दकृष्णजी म० का चातुर्मास भी व्यावर में ही था। चातुर्मास काल में आचार्यश्री के दर्शन, प्रवचन एवं शास्त्र श्रवण का अच्छा लाभ मिला। आचार्यश्री के अगाध आगमिक ज्ञान को सुनकर हृदय आनन्दविभोर हो जाया करता था।

व्यावर का अध्ययन समाप्त कर ग्रामानुग्राम धर्मध्वजा फहराते हुए आप उदयपुर संभाग में विचरण कर रहे थे।

महासती श्री मदनकुंवरजी का स्वर्गवास

महासती श्री मदनकुंवर जी म० सा० अनेक वर्षों से उदयपुर में स्थिरवास थीं। उनकी सेवा में महासती श्री सोहनकुंवर जी म० सा० तथा अन्य महासतियाँजी रहती थीं। वि० सं० २००७ में संलेखना सहित महासती श्री मदनकुंवरजी म० सा० का स्वर्गवास हो गया। संलेखना, संधारा, अनशन आदि के सम्बन्ध में कई लोगों के मन में मिथ्या धारणा है। इसलिए यह आवश्यक है कि संलेखना के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लिया जाये, जिससे वास्तविकता स्पष्ट हो सके।

संलेखना—संलेखना और संधारा के अन्तर को उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—“संधारा ग्रहण करने के पूर्व साधक संलेखना करता है। संलेखना संधारे के पूर्व की भूमिका है। संलेखना के पश्चात् जो संधारा किया जाता है उसमें अधिक निर्मलता और विशुद्धता होती है।”^१

संलेखना का महत्व प्रतिपादित करते हुए आपने लिखा है—“श्रमण और श्रावक दोनों के लिए संलेखना आवश्यक मानी गई है। श्वेताम्बर परम्परा में ‘संलेखना’ शब्द का प्रयोग हुआ है तो दिगम्बर परम्परा में ‘सत्लेखना’ शब्द का। संलेखना व्रतराज है। जीवन की अन्तिम बेला में की जाने वाली एक उत्कृष्ट साधना है। जीवन भर कोई साधक उत्कृष्ट तप की साधना करता रहे, पर अन्त समय में यदि वह राग-द्वेष के दल-दल में फँस जाये तो उसका जीवन निष्फल हो जाता है। आचार्य शिवकोटि ने तो यहाँ तक लिखा है—ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मानव यदि मरण के समय धर्म की विराधना कर बैठता है तो वह संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता है।”^२

१. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ ६६७।

२. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ ६६७-६६८।

“संलेखना मन की उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। संलेखना मृत्यु का आकस्मिक वरण नहीं है और न वह मौत का आह्वान ही है, वरन् जीवन के अन्तिम क्षणों में सावधानीपूर्वक चलना है।”

‘संलेखना को एक दृष्टि से स्वेच्छा-मृत्यु कहा जा सकता है। जब वैराग्य का तीव्र उदय होता है तब साधक को शरीर और अन्य पदार्थ में बन्धन की अनुभूति होती है। वह बन्धन को समझकर उससे मुक्त बनना चाहता है।”¹

‘संलेखना को मृत्यु पर विजय पाने की कला के रूप में निरूपित करते हुए उपाचार्य ने लिखा है—‘संलेखना मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कला सिखाती है। वह जीवन-शुद्धि और मरण-शुद्धि की एक प्रक्रिया है। जिस साधक ने मदन के मद को गलित कर दिया है जो परिग्रह पंक से मुक्त हो चुका है, सदा सर्वदा आत्म-चिन्तन में लीन रहता है, वही व्यक्ति उस मार्ग को अपनाता है। संलेखना में सामान्य मनोबल वाला साधक, विशिष्ट मनोबल प्राप्त करता है। उसकी मृत्यु असमाधि का नहीं, समाधि का कारण है।”²

‘संलेखना और समाधिमरण ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरषड श्रावकाचार में प्रथम संलेखना का लक्षण बताया है और द्वितीय श्लोक में समाधिमरण का। आचार्य शिवकोटि ने ‘संलेखना’ और समाधिमरण को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक और श्रमण दोनों के लिये संलेखना का प्रतिपादन कर संलेखना और समाधिमरण का भेद मिटा दिया है। आचार्य कुंदकुन्द समाधिमरण श्रमण के लिये मानते हैं और संलेखना गृहस्थ के लिये।³

इस विषय पर और अधिक चर्चा न करते हुए केवल संलेखना की व्याख्या और संलेखना का समय तथा इसके अधिकारी की चर्चा कर प्रकरण को यहीं समाप्त कर दिया जायेगा।

‘संलेखना ‘सत्’ और ‘लेखना’ इन दोनों के संयोग से बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और लेखना का अर्थ है कृश करना। सम्यक् प्रकार से कृश करना। जैन दृष्टि से काय और कषाय को कर्म बन्धन का मूल कारण माना है इसलिए उसे कृश करना संलेखना है।⁴

“आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखा है—जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को दुर्बल और कृश किया जाता है वह ‘संलेखना’ है। ज्ञातासूत्र की वृत्ति में भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। प्रवचनसारोद्धार में—शास्त्र में प्रसिद्ध चरम अनशन की विधि को संलेखना कहा है। निशीथचूर्णि व अन्य स्थलों पर संलेखना का अर्थ छीलना—कृश करना किया है। शरीर को कृश करना द्रव्य-संलेखना है और कषाय को कृश करना भाव-संलेखना है।”⁵

संलेखना के समय और अधिकारी का वर्णन करते हुए उपाचार्यभी ने लिखा है—‘आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है प्रतीकार रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा व रुग्ण स्थिति में या अन्य कारण के उपस्थित होने पर साधक संलेखना करता है।’

मूलाराधना में संलेखना के अधिकारी का वर्णन करते हुए सात मुख्य कारण⁶ दिये हैं—

(१) दुश्चिकित्स्य व्याधि—संयम को परित्याग किये बिना जिस व्याधि का उपचार करना सम्भव नहीं हो, ऐसी स्थिति समुत्पन्न होने पर।

- | | |
|--|---|
| १. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ० ६६८ | २. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ० ६६६। |
| ३. वही, “ ” ” पृ० ६६६ | ४. वही, पृ० ७००-७०१। |
| ५. वही, “ ” ” पृ० ७०० | ६. वही, पृ० ७०२-७०३। |

- (२) वृद्धावस्था—जो श्रमण-जीवन की साधना करने में बाधक हो ।
- (३) मानव, देव और तिर्यंच सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित होने पर ।
- (४) चारित्र्य विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग उपस्थित किये जाते हों ।
- (५) भयंकर दुकाल में शुद्ध भिक्षा प्राप्त होना कठिन हो रहा हो ।
- (६) भयंकर अटवी में दिग्विमूढ होकर पथभ्रष्ट हो जाय ।
- (७) देखने की शक्ति व श्रवण शक्ति और पैर आदि से चलने की शक्ति क्षीण हो जाय ।

संलेखना के सम्बन्ध में ग्रन्थ में अगे और भी अधिक विस्तार से विचार किया गया है । यहां उन बातों पर कुछ लिखना अप्रासंगिक है । इतने मात्र से ही हमारा उद्देश्य पूरा हो जाता है ।

मालवा के आंगन में—उदयपुर में महासती श्री सोहनकुंवरजी म० सा० आदि अन्य सतियां जो का रहने का मूल कारण महासती श्री मदनकुंवरजी म. सा. थे । उनकी सेवा-सुश्रूषा के लिए उनकी सेवा में रहना आवश्यक था ।

जब महासती श्री मदनकुंवरजी म. सा. का देहावसान हो गया तो महासती श्री सोहनकुंवर जी म. सा. ने अपनी सहवर्ती साध्वियों और शिष्याओं के साथ उदयपुर से शस्य श्यामला मालवभूमि की ओर विहार कर दिया । मेवाड़ क्षेत्र के विभिन्न ग्राम-नगरों में धर्म-प्रचार करते हुए सत्तरह-अठारह महासतियों के समूह ने जिस समय मालवा की सीमा में प्रवेश किया तो इनके आगमन का समाचार वायुवेग से मालवा के विभिन्न ग्राम-नगरों में प्रसरित हो गया । जिस नगर में, जिस गाँव में सती-मण्डल के मालव-भूमि में पधारने के समाचार मिलते—उस नगर-गाँव की जनता आपके दर्शनार्थ और प्रवचन-पीयूष का पान करने के लिए उस ग्राम-नगर की ओर उमड़ पड़ती, जहाँ आप अपने धर्म-परिवार के साथ विराजतीं । इस प्रकार मालवा में आपके पदार्पण ने धर्म जागृति की एक नवीन लहर उत्पन्न कर दी ।

मन्दसौर, जावरा, रतलाम और इनके बीच में पड़ने वाले छोटे-बड़े गाँव-नगरों को पावन करते हुए, अपने अमृत वचनों से जनता-जनार्दन को तृप्त करते हुए आप महारानी अहिल्याबाई की नगरी इन्दौर पधारीं । श्री संघ इन्दौर के विशेष आग्रह से महानती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. ने इस वर्ष का अपना चातुर्मास इन्दौर किया । इन्दौर में उज्जैन श्रीसंघ के पदाधिकारी और कुछ धर्मप्रेमी श्रावक उपस्थित हुए थे । इन्होंने भी उज्जैन में चातुर्मास के लिए आग्रह-भरी विनम्र विनती की थी । श्रीसंघ उज्जैन के अत्याग्रह, धर्म प्रेम और विनयशीलता को देखते हुए महासती श्री सोहनकुंवरजी म. सा. ने महासती श्री कुसुमवती जी आदि कुछ महासतियों को उज्जैन चातुर्मासार्थ भेजा ।

उज्जैन एक ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक नगरी है । जैनधर्म सम्बन्धी यहाँ की परम्पराएँ प्राचीन हैं । अनेक महान् विभूतियों की यह कर्मस्थली रही है । आचार्यदेव श्री कालकाचार्य ने तो यहाँ इतिहास बनाया है । आचार्य सिद्धसेन दिवाकर भी यहाँ की एक महान् विभूति थे । इनके पश्चात् भी यहाँ अनेक सुविख्यात जेनाचार्य रहे हैं । क्रियोद्धारक श्री धर्मदासजी म. सा. को यहीं आचार्य पद से विभूषित किया गया था । उज्जैन और जैनधर्म पर तो और भी अधिक विस्तार से लिखा जा सकता है, किन्तु यहाँ उसकी आवश्यकता नहीं है । केवल संकेत मात्र ही पर्याप्त है ।

ऐसी महान् ऐतिहासिक नगरी में महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. का चातुर्मास विभिन्न धार्मिक कार्यक्रमों के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ ।

राजस्थान की ओर

चातुर्मास समाप्त हुआ और आपने विहार कर दिया। फिर सद्गुरुवर्या के पास जा पहुँचीं। मालवभूमि के ग्राम-नगरों को पावन करते हुए सद्गुरुवर्या के साथ आपने राजस्थान के कोटा नगर की ओर विहार कर दिया। उन दिनों मार्ग निरापद नहीं थे। आज की भांति मार्ग सुविधाजनक भी नहीं थे। अतः विहार और फिर वह भी लम्बा विहार सुविधाजनक नहीं था। फिर भी विभिन्न बाधाओं को पार करते हुए आप अपनी सद्गुरुवर्या के साथ कोटा पधारीं और इस वर्ष अर्थात् सं. २००१ का चातुर्मास श्रीसंघ के अत्यधिक आग्रह से कोटा में किया।

कोटा का यज्ञस्वी चातुर्मास सम्पन्न हुआ और कोटा से मारवाड़ की ओर विहार हुआ। मार्ग में आने वाले ग्राम-नगरों में अपना प्रभाव छोड़ते हुए समय के प्रवाह के साथ सती-मण्डल भी अपने कदम बढ़ाता रहा।

सोजत सम्मेलन में—इसी समय सूचना प्राप्त हुई कि सोजत में एक लघु सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है। इसके पूर्व भी ऐसे ही साधु-सम्मेलनों का आयोजन हो चुका था। महासतीजी ने इस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए अपना मानस बना लिया और समय पर आप सोजत पधार गईं। महासती श्री कुसुमवती जी म. को इस अवसर पर सोजत में पधारे हुए अनेक मुनि, भगवन्तों और महासतियों के दर्शन करने का अवसर मिला। अनेक मर्मज्ञ मुनिराजों, विदुषी महासतियों से भी विचार चर्चा करने का अवसर मिला। वरिष्ठ मूर्धन्य विद्वान मुनिराजों के प्रवचन श्रवण का भी लाभ मिला। आपके लिए एक प्रकार से यह नवीन अनुभव था। इस सम्मेलन में अनेक प्रश्नों पर खुलकर विचार-विमर्श हुआ था। अनेक मुनिराजों और महासतियों से परिचय भी हुआ था। कुल मिलाकर सोजत सम्मेलन आपके लिए ज्ञानवर्द्धक सिद्ध हुआ।

राजस्थान से उग्र विहार करते हुए महासती श्री कुसुमवती जी म. सा., माताजी महाराजश्री कैलाशकुंवर जी म. सा., महासती श्री सौभाग्यकुंवरजी म. सा. तथा अन्य सतियों के साथ भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली पधारे। अभी दिल्ली पधारे एक माह भी व्यतीत नहीं हुआ था कि गुरुणोजी का आदेश मिला कि महासती श्री पद्मकुंवर जी म. का स्वास्थ्य ठीक नहीं है अतः शीघ्र मारवाड़ लौट आओ। अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करते हुए, मार्ग की बाधाओं को पार करते हुए आप दिल्ली पधारे थे। उन दिनों अजमेर से जयपुर का मार्ग बहुत विकट था। आहार-पानी की भी समस्या रहती थी। उपलब्ध भी होता तो बड़ी कठिनाई से। अनेक बार प्रासुक आहार के अभाव में केवल पानी के सहारे रहना पड़ता था। विहार भी लम्बे-लम्बे करने पड़ते थे। पन्द्रह-सोलह किलोमीटर चलकर थोड़ा विश्राम करते और फिर चल पड़ते। इतनी कठिनाइयों को सहन करते हुए आप दिल्ली पधारे ही थे कि 'गुरोराज्ञा अविचारणीया' समझकर पुनः उसी वीहड़ पथ पर कदम बढ़ा दिये जिसकी थकान अभी उतरी ही नहीं थी। इसका एकमात्र कारण यह है कि महासती श्री कुसुमवती म. सा. अपनी गुरुणी की परम आज्ञाकारिणी थीं।

दिल्ली से विहार कर महासतीजी ब्यावर पधारों। विक्रम संवत् २०१३ का वर्षावास ब्यावर में हुआ। उस समय पंजाब केसरी श्री प्रेमचन्दजी म० सा० का वर्षावास भी ब्यावर में था। पंजाबकेसरी श्री प्रेमचन्द जी म० सा० ओजस्वी प्रवचनकार थे। उनके प्रवचन एवं आगम श्रवण का लाभ इस वर्षा-

वास में मिला। उनके प्रवचन इतने ओजस्वी होते थे कि यदि किसी को नींद भी आ रही होती तो वह जाग जाया करता। महाराजश्री के ज्ञानगर्भित प्रवचनों को सुनकर मन मन्त्रमुग्ध हो जाता था।

गुरुणीजी की रुग्णता— महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० ज्ञान-साधना और आत्म-आराधना करते हुए, साथ ही जन-कल्याण की भावना से नगर-नगर, ग्राम-ग्राम विचरण करते रहे और जिनवाणी का प्रचार करते रहे। आपके ज्ञानगर्भित प्रभावोत्पादक प्रवचनों से प्रभावित होकर अनेक क्षेत्रों के लोग अपने-अपने क्षेत्र की आग्रहभरी विनती लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होते थे। इस कारण आप इच्छा होते हुए भी अपनी सद्गुरुवर्या के सान्निध्य में वर्षावास नहीं कर पाती थीं। किन्तु जैसे ही वर्षावास समाप्त होता आप गुरुवर्या की सेवा में पहुँच जाती थीं। वि० सं० २०२२ का चातुर्मास सद्गुरुवर्या महासती श्री सोहनकुंवरजी म० सा० का जोधपुर में था और आपका चातुर्मास सादड़ी मारवाड़ में था। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् गुरुणीजी म० सा० जोधपुर से विहार कर पाली पधारे रहे थे। गुरुणीजी म० रोहट गाँव पहुँचे थे कि यकायक किसी भयानक व्याधि ने उन्हें जकड़ लिया। गुरुवर्या की अस्वस्थता के समाचार महासती श्री कुसुमवतीजी म० सा० को मिले। सद्गुरुवर्या की रुग्णता के समाचारों को सुनकर आपको हार्दिक दुःख हुआ। समाचार सुनते ही आपने विहार कर दिया और उग्र विहार करते हुए आप यथाशीघ्र सद्गुरुवर्या के श्री चरणों में जा पहुँचीं।

गुरुणी जी म० का स्वास्थ्य अत्यधिक नाजुक था। दस-पन्द्रह सतियाँ जी थीं। गुरुणीजी को डोली में उठाकर पाली मारवाड़ लाये। पाली पहुँचते ही उचित उपचार प्रारम्भ करवाया गया किन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। योग्यतम चिकित्सकों और वैद्यों को दिखाकर भी उपचार कराया फिर भी कोई लाभ होता दिखाई नहीं दिया। इधर चातुर्मास का समय भी सन्निकट आ रहा था। विभिन्न क्षेत्रों से महासती श्री कुसुमवतीजी म० की सेवा में चातुर्मास की विनतियाँ भी आ रही थीं। किन्तु अपनी जीवन निर्मात्री सद्गुरुवर्या की रुग्णता में छोड़कर चातुर्मासार्थ अन्यत्र जाना आपने उचित नहीं समझा और यह चातुर्मास गुरुणीजी की सेवा में पाली में ही किया। पाली चातुर्मास में गुरुणीजी श्री सोहनकुंवरजी म० सा० सहित कुल ग्यारह महासतियाँ थीं।

महासती श्री सोहनकुंवरजी म० सा० का स्वास्थ्य अस्वस्थ ही चल रहा था। जब से पाली पधारे तब से महासती श्री कुसुमवतीजी म० सा० अपनी वीर्यवर्षा वाणी से जिनवाणी की वर्षा कर भव्यप्राणियों को आप्लवित कर रही थीं।

गुरुणी जी का व्रियोग— वर्षावास के कार्यक्रम चल रहे थे। श्रावण और पर्युषण तप त्याग एवं अन्य धार्मिक कार्य पूरे ठाट-बाट से व्यतीत हुए। भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी वि० सं० २०२२ के दिन असाध्य व्याधि को भोगते हुए सती शिरोमणि तपोभूति सद्गुरुवर्या श्री सोहनकुंवरजी म० सा० का संलेखनासथारा सहित स्वर्गवास हो गया। किसी ने सत्य ही कहा है कि टूटी की बूटी नहीं है। गुरुवर्या और जीवन निर्मात्री के स्वर्गवास से शिष्या समूह में अत्यधिक शोक छा गया। ऐसी महामहिम गुणरत्नों की खान गुरुवर्या का अवसान किसको व्यथित नहीं करता। पाली की धमनिरागिनी जनता को भी असीम दुःख हुआ। दो दिन तक पाली का पूरा बाजार बन्द रहा। हजारों धर्मप्रेमी लोगों ने उनकी महाप्रयाण यात्रा में भाग लिया, उनकी पार्थिक देह के अन्तिम दर्शन किये और अपनी भावभरी श्रद्धाजलि अर्पित की।

जन्म और मरण इस सृष्टि का ध्रुव नियम है। जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। इससे आज तक कोई भी बच नहीं पाया है। महासती श्री कुसुमवतीजी को अपनी सद्गुरुवर्या का वियोग अत्यधिक व्यथित कर रहा था। इस व्यथा को हरने वाली यदि कोई औषधि है तो वह समय ही है। समय बड़े से बड़े घाव को भर देता है।

वर्षावास का शेष समय पूरा हुआ और उसके साथ ही सद्गुरुवर्या की चिरस्मृति के साथ अन्तिम आशीर्वाद लिए आपने पाली से विहार कर दिया। भारवाड़ के ग्राम-नगरों को अपनी चरण-रज से पावन करते हुए आपने भैवाड़ की भूमि में अपने कदम रखे। श्री संघ उदयपुर की विनती को मान देते हुए वि. सं. २०२४ को वर्षावास उदयपुर में किया।

उदयपुर अपनी आन-बान-शान प्राकृतिक सौन्दर्य और अन्य अनेकों विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध रहा है। यहाँ जैनधर्मावलम्बियों की संख्या भी विपुल मात्रा में है। अपार जनमेदिनी के मध्य महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. जब प्रवचन फरमाती थीं तो ऐसा लगता था मानो मेघ अमृत वर्षा कर रहे हैं। भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी का दिन सद्गुरुवर्या श्री सोहन कुंवर जी म. सा. की प्रथम पुण्य तिथि जप-तप के साथ मनाई गई। पाँच सौ आयम्बल तप एक साथ सम्पन्न हुए। इसी दिन गरीबों को भी भोजन करवाया गया। आपके सदुपदेशों से प्रभावित होकर संसारपक्षीय आपके मामा श्री कन्हैयालालजी सियाल एवं मामी श्रीमती चौथबाई की सुपुत्री सुश्री स्नेहलता कुमारी (वर्तमान में साध्वी दिव्यप्रभा) की वैराग्य भावना जागृत हुई।

प्रथम शिष्या की प्राप्ति—उदयपुर का यशस्वी वर्षावास समाप्त हुआ। वर्षावास समाप्ति के ठीक पश्चात् बगडुन्दा निवासी श्री गोपीलालजी छाजेड़ अपने गाँव में पधारने की विनती लेकर महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुए। उनकी बहिन हीराकुमारी की वैराग्य भावना थी और वे आपके गुणों से प्रभावित होकर आपके पास ही दीक्षा दिलाना चाहते थे। उसी उद्देश्य को अपने मन में रखकर उन्होंने अपने क्षेत्र को स्पर्श कर पावन करने की अत्यधिक आग्रह भरी विनती की। उनके आग्रह को ध्यान में रखकर महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए बगडुन्दा पधारे।

आपके ज्ञानगर्भित प्रवचनों एवं संगीत की मधुर स्वर लहरी को सुनकर बगडुन्दा की जनता मन्त्रमुग्ध हो रही थी। प्रवचनों के मध्य जब आपके माताजी महाराज तथा आप स्वयं भजनों की कड़ियाँ सस्वर गातीं तो ऐसा प्रतीत होता मानो कोकिलाएँ पंचम स्वर से गा रही हों। कुछ समय पश्चात् बगडुन्दा से विहार कर दिया। वैराग्यवती हीराकुमारी भी दीक्षा अंगीकार करने की भावना से आपके साथ थी। वर्षावास डूंगला सम्पन्न हुआ। नाथद्वारा श्री संघ को विदित हुआ कि महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. के साथ एक वैरागिन बहिन है और उसकी दीक्षा भी निकट भविष्य में ही होने वाली है। तो श्री संघ नाथद्वारा ने आपकी सेवा में उपस्थित होकर निवेदन किया—“महाराजश्री! वैरागिन बहिन के दीक्षोत्सव के आयोजन का लाभ लेने का अवसर हमारे संघ को प्रदान करने की कृपा करें।” श्री संघ नाथद्वारा की इस भावभीनी विनती में विनम्रता के साथ आग्रह भी था। श्री संघ नाथद्वारा की विनती को ध्यान में रखकर महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। दीक्षोत्सव के आयोजन की स्वीकृति मिल जाने से श्रीसंघ नाथद्वारा में हर्ष, उमंग और उत्साह का

आश्चर्यजनक संचार हुआ और विक्रम संवत् २०२५ फाल्गुन शुक्ला पंचमी को नाथद्वारा में भव्य समारोह के साथ विशाल मानवमेदिनी के मध्य आपने हीराकुमारी को जैन भागवती दीक्षा प्रदान कर उनका नया साध्वी नाम महासती श्री चारित्रप्रभा जी म० रखा। दीक्षा के बत्तीस वर्ष बाद वे आपकी प्रथम शिष्या बनी।

अजमेर का यशस्वी चातुर्मास—दीक्षोपरान्त अपनी नवदीक्षिता साध्वी तथा माताजी महा० आदि सतियों के साथ विहार करने हुए महासती श्री कुसुमवतीजी म० सा० ब्यावर पधारे। ब्यावर में श्री संघ अजमेर आपकी सेवा में वर्षावास की विनती लेकर उपस्थित हुआ। अन्य स्थानों से भी वर्षावास की विनतियाँ समय-समय पर आ रही थीं। अजमेर श्री संघ की अत्यधिक आग्रह भरी विनती को देखते हुए आपने वि० सं० २०२६ के वर्षावास की स्वीकृति अजमेर श्री संघ को प्रदान कर दी।

माताजी महाराज श्री कैलाशकृ० वरजी म० सा०, महासती श्री कुसुमवतीजी म० सा० एवं महासती श्री चारित्रप्रभा जी म० सा० वर्षावास हेतु अजमेर पधारे। श्री संघ अजमेर द्वारा समारोह पूर्वक नगर प्रवेश करवाया गया और भव्य स्वागत सत्कार भी हुआ।

माताजी महाराज का स्वास्थ्य इस समय ठीक नहीं था, सती श्री चारित्रप्रभा जी म० सा० नवदीक्षिता थीं। ऐसे में महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० अकेले पड़ गये। चातुर्मास काल में वैसे भी धार्मिक कार्यक्रम तथा तपाराधनाएँ आदि अधिक होती हैं। साथ ही प्रतिदिन प्रवचन भी फरमाना। दर्शनार्थियों की जिज्ञासा भी शान्त करना आदि और भी अनेक कार्य होते हैं। सारी परिस्थिति को देखते हुए अजमेर श्री संघ के लोगों के मानस में विचार उठ रहे थे कि अकेले महासती जी सब काम कैसे संभालेंगे? यहाँ का श्री संघ भी बड़ा है। कैसे क्या होगा? किन्तु ज्यों ही वर्षावास का प्रारम्भ हुआ। मेघ की धाराओं के साथ-साथ आपके प्रवचन की धारा भी कुछ इस प्रकार प्रवाहित हुई कि वहाँ का समाज देखता ही रह गया। सभी कार्य व्यवस्थित होते रहे। कहीं कुछ भी कमी नहीं रही। सभी वाह-वाह करने लगे। रिकार्ड तोड़ तपस्याएँ हुई। एक साथ सात सौ सामूहिक तैले तथा एक साथ दो हजार सामूहिक दयाव्रत हुए। वर्षों में एक साथ दो-दो मासखमण का होना इस चातुर्मास की विशेष उपलब्धि थी। मासखमण तप श्रीमती नोरतबाई धर्मपत्नी श्री उदयलाल जी कोठारी एवं श्रीमान् श्रीलाल जी कावड़िया की धर्मपत्नी ने किया था। हर तरह से वर्षावास ऐतिहासिक एवं यशस्वी रहा।

चातुर्मास की समाप्ति के दिन अजमेर के प्रसिद्ध श्रावक कवि हृदय श्री जीतमल जी चोपड़ा ने भाव भरी कविता द्वारा विदाई देते हुए महासती जी से श्री संघ की ओर से आग्रह भरी विनती की कि आप कहीं भी पधारें परन्तु वैरागिन स्नेहलता कुमारी की दीक्षा यहाँ के लिए फरमाने की कृपा करें।

महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. ने समायोचित उत्तर देते हुए फरमाया—“अभी तो वैरागिन को आज्ञा भी प्राप्त नहीं हुई है, फिर अभी किस प्रकार आपको आश्वस्त किया जाये। हाँ आपकी विनती हमारी झोली में है।”

गुरुदेव के सान्निध्य में पुनः अजमेर—वि० सं० २०३० का गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी म० सा० का चातुर्मास अजमेर हुआ। अजमेर श्री संघ के अत्यधिक आग्रह भरी विनती के कारण महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० का चातुर्मास भी गुरुदेव श्री की सेवा में हुआ। छत्तीस वर्षों में यह प्रथम अवसर था कि गुरुदेव श्री के सान्निध्य में चातुर्मास किया।

इस वर्षावास में आगम और उनके व्याख्या साहित्य तथा जैन दार्शनिक ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन करने का अवसर मिला। चातुर्मास के अन्त में कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी वि. सं. २०३० के दिन आपकी ममेरी बहन वैराग्यवती सुश्री स्नेहलता सियाल एवं वैरागी भाई श्री चतरलाल मोदी की जैन भागवती दीक्षा दृषोर्लासमय वातावरण में भव्य समारोह के साथ सम्पन्न हुई। विभिन्न वस्तुओं की बोलियों पर समाज के लिए लगभग पचास हजार रुपये की धनराशि एकत्र हुई। कुमारी स्नेहलता सियाल आपकी द्वितीय शिष्या बनी और दीक्षोपरांत नाम रखा साध्वी दिव्यप्रभा तथा श्री चतरलाल मोदी का श्री दिनेश मुनि नाम रखकर पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी म. सा. के शिष्य घोषित किया गया।

शिष्याओं के अध्ययन की व्यवस्था—महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० का लक्ष्य प्रारम्भ से ही उच्चतम ज्ञान प्राप्ति का रहा। इस लक्ष्य का समुचित ध्यान तो आपने अपने लिए रखा ही, साथ ही आपने अपनी शिष्याओं को भी इसके लिए सदैव प्रेरित किया। आपकी यह मान्यता रही है कि पढ़ो-लिखो साध्वियाँ जिनशासन की विशेष रूप से प्रभावना कर सकती हैं। आपने अपनी शिष्याओं के लिए संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी, साहित्य, व्याकरण, जैननागम एवं दर्शन के समुचित अध्ययन की व्यवस्था करवाई। इसके साथ ही माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, अजमेर, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की परीक्षाएँ भी दिलवायीं। साध्वियों के अध्ययन और परीक्षाओं के कारण आप लम्बे समय तक अजमेर तथा अजमेर के समीपवर्ती ग्राम-नगरों में ही विचरण करती रहीं। यह आपके ही सुप्रयासों का सुफल है कि आपकी सभी शिष्याएँ तथा प्रशिष्याएँ सुशिक्षित तथा उच्च उपाधियों से विभूषित विदुषी हैं। आज भी ज्ञान के प्रति इनकी लगन एवं निष्ठा दर्शनीय है।

चारित्र्य का प्रभाव—अपनी शिष्याओं के अध्ययन के निमित्त जिस समय आप अजमेर में विराज रही थीं, उस समय दिल्ली निवासिनी सरोज कुमारी लोढ़ा अपने किसी निजी कार्य से अजमेर आईं। सरोज कुमारी लोढ़ा अजमेर में आपके सम्पर्क में आईं और आपके उच्च आचार-विचार-व्यवहार को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुईं। अन्तर्मन में वैराग्य भावना तो पूर्व से ही थी। योग्य गुरुणी जी को पाकर सरोजकुमारी ने आपके सान्निध्य में ही रहने का निश्चय किया। कुछ समयोपरांत वैराग्य भावना परिपक्व होने पर फाल्गुन कृष्ण पंचमी, वि० सं० २०३२ के दिन सरोजकुमारी लोढ़ा ने आपके सान्निध्य में ब्यावर शहर में आर्हती दीक्षा ग्रहण की और दीक्षोपरांत साध्वी श्री दर्शनप्रभाजी म० सा० के नाम से अभिहित हुईं।

माताजी महाराज की अस्वस्थता—निर्धारित समय पर साध्वी श्री दर्शनप्रभा जी म० सा० की बड़ी दीक्षा भी सम्पन्न हुई और फिर आपने अपने माताजी महाराज तथा शिष्याओं के साथ ब्यावर से अजमेर की ओर विहार कर दिया। ग्राम खरवा में ठहरे हुए थे कि वहाँ अचानक माताजी म. श्री कैलाश कुंवर जी म. सा. अस्वस्थ हो गईं। हृदय रोगी तो पूर्व से ही थीं। साथ ही अन्य और भी कई व्याधियों ने अचानक घेर लिया। डॉक्टर को बुलवाया गया। उपचार प्रारम्भ हुआ किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ।

महासती श्री कुसुमवती जी महाराज ने बहुत सेवा की। श्री संघ खरवा ने अपनी सामर्थ्य से भी अधिक जितनी भी हो सकती थी, सेवा की। यहाँ एक दिन ठहरने की भावना थी किन्तु एक माह

व्यतीत हो गया। उपचार बराबर चलता रहा किन्तु स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हुआ, वरन् स्वास्थ्य दिन पर दिन और अधिक बिगड़ता गया। माताजी महाराज की अस्वस्थता के समाचार आसपास के ग्राम-नगरों तक भी पहुँच चुके थे। इसके परिणामस्वरूप अनेक श्रद्धालु भक्त स्वास्थ्य पृच्छा एवं दर्शनार्थ भी आने लगे थे। कई लोगों ने ब्यावर-अजमेर ले जाने का भी आग्रह भरा अनुरोध किया था किन्तु उस समय ऐसी स्थिति नहीं थी। जब स्वास्थ्य सुधार के कोई लक्षण दिखाई नहीं दिये तब श्री संघ ने आग्रह भरी बिनती की कि आप अजमेर पधारें। अजमेर में सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। वहाँ समुचित उपचार सम्भव है। अन्ततः माताजी महाराज को अजमेर ले जाया गया।

माताजी महाराज का वियोग—अजमेर पधारने के पश्चात् यह निर्णय लिया गया कि माताजी महाराज का उपचार चिकित्सालय में ही करवाया जाये। लेकिन रात्रि में व्याधि अधिक बढ़ गई। चिकित्सालय ले जाना स्थगित कर दिया गया। उस दिन संवत् २०३३ चैत्र शुक्ला सप्तमी को आयम्बिल ओली का प्रारम्भिक दिवस था। पांडाल में ढाई सौ तीन सौ आयम्बिल हो रहे थे। दोपहर के समय संलेखना-संधारापूर्वक माताजी महाराज अपनी पार्थिव देह का त्याग कर अनन्त की यात्रा के महायात्री बन गये। उनके देहावसान से सर्वत्र शोक छा गया।

काल की महिमा अगम्य है। भविष्य के गर्भ में क्या छिपा हुआ है, उसको कोई नहीं जान सकता। मृत्यु के समक्ष, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, राजा और रंक किसी भी प्राणी का कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। माताजी महाराज के स्वर्गवास से सभी को बहुत दुःख हुआ। महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. को गहरा आघात लगा। जन्म से लेकर इतने लम्बे समय तक वे छाया की तरह आपके साथ रहे। माता का अपनी सन्तान के प्रति स्नेह तो होता ही है लेकिन माताजी महाराज का स्नेह असीम था। वे वत्सलता को साक्षात् प्रतिमूर्ति थी। स्वयं के पहाड़ सदृश दुःख की भी वे परवाह नहीं करती थीं लेकिन आपकी स्वल्प-सी रुग्णता भी उन्हें अत्यधिक चिन्तित, बेचैन और व्यथित कर देती थी। माताजी म. से आपको माता की ममता और पिता का स्नेह दोनों ही मिले थे। इसलिए ऐसे माताजी म. के वियोग पर गहरा दुःख होना स्वाभाविक ही है।

स्मृतियाँ और स्मृतियाँ—आपने अपने माताजी महाराज के नेतृत्व में रहकर ही इतना ज्ञान-भ्यास किया और जिनशासन की ज्योति बन सकीं। माताजी महाराज ने आपके जीवन विकास में, पठन-पाठन, चिन्तन-मनन, स्वाध्याय-प्रवचन में सक्रिय सहयोग दिया था। वात्सल्यमूर्ति माताजी महाराज के कारण आपको ज्ञान साधना के लिए पूरा-पूरा समय मिल जाया करता था। गोचरी लाना, पानी लाना (आहार-पानी लाना), पात्रे साफ करना, कपड़े धोना, सिलाई करना आदि सभी कार्य वे कर लेते थे। जब कभी आप करने लगते तो वे कहते—“नहीं, रहने दो। तुम तो ज्ञान-ध्यान की ओर ध्यान दो, वही करो। ये कार्य मैं कर लूंगी।” माताजी महाराज का उद्देश्य यही था कि जानार्जन करके ये जैनधर्म का प्रचार और प्रसार करें, जिनशासन की प्रभाविका बनें। न केवल अपनी पुत्री के लिए वरन् अन्य सभी साध्वियों के पठन-पाठन में भी उन्होंने पूर्ण सहयोग प्रदान किया था। संसार पक्ष में वे मेरी बुआ सा. थे। मेरे अध्ययन में भी उनका भरपूर सहयोग रहा।

माताजी महाराज में सेवा भावना एवं विनय बहुत अधिक था। छोटे-बड़े अनेक साधु-साध्वियों की उन्होंने सेवा की थी। सेवा के अतिरिक्त वे ज्ञानाभ्यास भी करते थे। अनेक शास्त्र, थोकड़े आदि

उनको कण्ठस्थ थे। प्रवचन एवं चौपाई भी फरमाते थे। जप-साधना में उन्हें विशेष रूप से अधिक रुचि थी। आगम-स्वाध्याय वे हमेशा करते रहते थे। एक क्षण भी वे व्यर्थ खोना नहीं चाहते थे। चालीस वर्षों की सुदीर्घ अवधि पर्यन्त संयम का पालन किया। संयमोचित क्रिया-साधना के प्रति वे सतत सावधान रहते थे। उनका हृदय निष्कपट था। चित्त सरल था। वे मित एवं मृदुभाषी थे। प्रकृति से भद्र थे।

ऐसी ममतामयी, संयमयात्रा में सहयोगी माता जी महाराज के वियोग से व्यथित होना स्वाभाविक ही था। परन्तु भेद-विज्ञान की ज्ञाता महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. ने धैर्य से काम लिया। वियोग की असह्य व्यथा को समभाव से सहन किया। सोचा—आत्मा तो ध्रुव है, नित्य है, उसकी कभी मृत्यु नहीं होती। शरीर अस्थायी है, नश्वर है, वह आत्मा का अपना नहीं होता है। अतः शरीर के नष्ट होने पर कैसा शोक, कैसा मोह? फिर जिसने जन्म लिया है उसको एक न एक दिन मरना ही पड़ता है, यह संसार का ध्रुव सत्य है। फिर शोक करके, मोह में पड़कर कर्मों का बन्धन क्यों बाँधा जाय। ऐसा विचार कर सन्तोष धारण किया। अब तो माताजी महाराज की केवल स्मृतियाँ ही स्मृतियाँ थीं। जो कुछ भी ग्रहण करना है, उनसे किया जाय।

अजमेर से विहार—दीक्षा से लगाकर मृत्यु पर्यन्त चालीस वर्ष तक माताजी महाराज साथ थे। अब उनके स्वर्गवास के पश्चात् अपनी शिष्याओं सती श्री चारित्रप्रभा म., सती श्री दिव्यप्रभाजी म. एवं सती श्री दर्शनप्रभाजी म. के साथ अजमेर से विहार कर दिया। ग्रामानुग्राम धर्म-प्रचार करते हुए आपने वि. सं. २०३३ का वर्षावाम केकड़ी में किया।

वर्षावास की समाप्त के पश्चात् अपनी शिष्याओं के अध्ययन एवं परीक्षा के लिए आप राजस्थान की राजधानी, पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र गुलाबी नगर जयपुर पधारी। कुछ अपरिहार्य कारणों से परीक्षाओं की तिथि कुछ आगे बढ़ा दी गई थी। इस कारण लम्बे समय तक आपको जयपुर में ठहरना पड़ा।

वर्षावास दिल्ली—जब आप जयपुर में विराज रहे थे, तब विभिन्न स्थानों से आपकी सेवा में वर्षावास हेतु बराबर विनितियाँ आ रही थीं। इनमें श्रीसंघ दिल्ली, जयपुर और अलवर का आग्रह अधिक था। उन तीनों में भी श्रीसंघ दिल्ली का अत्यधिक आग्रह था। देश, काल, परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए आपने दिल्ली श्रीसंघ को वि. सं. २०३४ के वर्षावास की स्वीकृति प्रदान कर दी। समय कम था और जयपुर से दिल्ली पहुँचना था। परीक्षाएँ समाप्त हुईं तब वर्षावास प्रारम्भ होने में एक माह शेष था। इसीलिए जैसे ही परीक्षाएँ समाप्त हुईं वैसे ही आपने अपनी शिष्याओं के साथ दिल्ली की ओर विहार कर दिया। भीषण गर्मी में लम्बे-लम्बे विहार। मार्ग भी निरापद नहीं था। कहीं बीहड़ की कठिनाई तो कहीं जैन साधुओं एवं उनकी परम्पराओं से सर्वथा अपरिचित लोग, सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओं को सहन करके २०-२२ दिन में आप दिल्ली जा पहुँचीं। दिल्ली आगमन पर दिल्ली के निवासियों ने आपका भव्य स्वागत किया और समारोहपूर्वक नगर प्रवेश करवाया।

वर्षावास के लिए दिल्ली के चाँदनी चौक क्षेत्र में पदार्पण हुआ। चाँदनी चौक के स्थानक बारादरी (महावीर भवन) में आपके ओजस्वी प्रवचनों की जो धारा प्रवाहित हुई, उससे वहाँ का जनमानस अत्यधिक प्रभावित हुआ। तपश्चर्यायें भी बहुत हुईं। अनेक वर्षों के पश्चात् इस चातुर्मास में

श्रीमती उषाजी धर्मपत्नी श्री इन्दरचन्द्रजी चौरङ्गिया ने मासखमण की उग्र तपस्या की। तपस्या के साथ जो आडम्बर होता था, उसका आपने बहुत विरोध किया। फलस्वरूप इस चातुर्मास में तपस्या पर आडम्बर बाजे-गाजे आदि बन्द हो गए।

बाढ़ पीड़ितों की सहायता—इस वर्ष वर्षाकाल में अत्यधिक वर्षा हुई। जिसके परिणामस्वरूप नदियाँ और नालों में भीषण बाढ़ आई और इस बाढ़ ने अपना ताण्डव दिखाया। अनेक स्थानों पर घर मकान ढह गये। लोग बेघर हो गये। अनेक स्त्री और पुरुष तथा बच्चे बाढ़ से घिर गये थे। दया की मूर्ति, करुणा की सागर महासती श्री कुसुमवती जी. म. सा. ने जब बाढ़ के प्रकोप का विवरण सुना तो उनका हृदय चीत्कार कर उठा। अब आपके प्रवचनों की धारा का प्रवाह बदल गया। अपने प्रवचनों में बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिये आप बहुत जोर देने लगीं। इसका परिणाम भी सामने आया। आपके उपदेशों से प्रेरित होकर दानदाताओं ने मुक्त हृदय से दान दिया और एकत्रित धनराशि बाढ़-पीड़ितों के सहायतार्थ भेज दी गई। चाँदनी चौक दिल्ली का वषावास हर्ष, उमंग और उत्साह के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ। वर्षावास के पश्चात् चाँदनी चौक दिल्ली में ही आपके सान्निध्य में जयपुर निवासिनी वैराग्यवती कुमारी सविता को आर्हती दीक्षा प्रदान कर साध्वी विनयप्रभा नाम रखा।

वर्षावास के पश्चात् दिल्ली के उपनगरों में विचरण किया। उपनगरों में भी आपके प्रवचनों का अच्छा प्रभाव रहा। इसी बीच वीर नगर दिल्ली के श्रीसंघ ने आगाभी वर्षावास के लिये विनयपूर्वक आग्रह किया। आपका विचार तो अब पुनः राजस्थान की ओर विहार करने का था किन्तु वीर नगर वालों की विनती अत्यधिक आग्रह-भरी थी और आप उन्हें इन्कार नहीं कर सकीं और वि. सं. २०३५ के वर्षावास के लिए वीर नगर वालों को स्वीकृति प्रदान कर दी। चातुर्मास निश्चित हो चुका था। शेष काल में दिल्ली में विचरते हुए उत्तर प्रदेश की ओर विहार कर दिया। उत्तर प्रदेश के बड़ौत, काँधला, मेरठ, गाजियाबाद आदि अनेक छोटे-बड़े क्षेत्रों को अपनी पावन चरण रज से पावन किया और धर्म की गंगा प्रवाहित की। आपके सदुपदेशों से प्रतिबोध पाकर मेरठ निवासी गीता कुमारी के हृदय में वैराग्य भावना जागृत हुई। वह भी आपके साथ-साथ विहार करती हुई दिल्ली आई।

वि. सं. २०३५ का आपका वर्षावास वीर नगर, दिल्ली में हुआ। वीर नगर जैन कालोनी है। वहाँ सभी जैन धर्मावलम्बी रहते हैं। वे सब पंजाबी हैं। पंजाबी जैन लोगों में धर्म की भावना बहुत अधिक थी। प्रवचन में प्रातःदिन अच्छी उपस्थिति रहती थी। तपश्चर्यायें भी प्रचुर मात्रा में हुईं। स्थानीय संघ ने स्वागत व विदाई का विराट आयोजन किया। वर्षावास की अवधि में पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों के श्रीसंघ भी उपस्थित हुए। सभी ने पंजाब की ओर पधारकर अपने-अपने क्षेत्रों को पावन करने का आग्रह किया। यद्यपि आपकी भावना तो राजस्थान की ओर जाने की थी, किन्तु पंजाब के लोगों की धार्मिक भावना, विनयशीलता और आग्रह को देखकर वर्षावास के पश्चात् पंजाब की ओर विहार करने का आपका मानस बन गया।

पंजाब की ओर—वीर नगर, दिल्ली का चातुर्मास सानन्द सम्पन्न कर आपने दिल्ली से पंजाब की ओर विहार कर दिया। विहार करते हुए आप सोनीपत पधारे। उस समय वहाँ शासन प्रभावक श्री सुदर्शन मुनिजी म. सा. विराज रहे थे। उनके सान्निध्य में दो वैरागी भाइयों की दीक्षा सम्पन्न होने वाली थी। इसके पूर्व भी काँधला में श्री सुदर्शन मुनिजी म. सा. के दर्शन हो चुके थे और परिचय भी हो

गया था। श्री संघ ने आपकी सेवा में दीक्षा तक ठहरने की आग्रह भरी विनती की। श्री संघ सोनीपत के आग्रह को स्वीकार करते हुए आप अपनी शिष्याओं सहित दीक्षा तक वहीं ठहरे और दीक्षोपरांत आपने सोनीपत से विहार कर दिया।

पानीपत, करनाल, कुरुक्षेत्र, अम्बाला आदि छोटे-बड़े ग्राम-नगरों में जिनवाणी और जैनधर्म का प्रचार करते हुए आप पंजाब की राजधानी चण्डीगढ़ पधारे। चण्डीगढ़ आधुनिक तरीके से बसा हुआ एक सुन्दर नगर है। पंजाब के साथ ही हरियाणा की भी यह राजधानी है। नगर विभिन्न सेक्टरों में बसा हुआ है जो दूर-दूर हैं। इस कारण चण्डीगढ़ में प्रतिदिन प्रवचन नहीं हो सके। यहाँ प्रवचन रविवार को ही होता था। जब कभी यहाँ साधु-साध्वियों का पदार्पण होता है तो श्री संघ के सदस्यों को साधु-साध्वियों के पधारने की एवं प्रवचन की सूचना अध्यक्ष या मन्त्री द्वारा पत्र से दी जाती है।

महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. का चण्डीगढ़ में रविवार के दिन प्रथम प्रवचन हुआ। आपके सारगर्भित और सटीक प्रवचन से वहाँ के लोग अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने अगले रविवार को प्रवचन फरमाने की आग्रह भरी विनती की। श्री संघ की विनती स्वीकार कर मात्र एक दिन के प्रवचन के लिए आपको एक सप्ताह तक रुकना पड़ा। एक सप्ताह तक रुकना बड़ा कठिन था, किन्तु लोगों का आग्रह एवं भावना आदि को देखकर विषम परिस्थिति होने पर भी रुकना पड़ता है। फिर इस ओर जैन साधु-साध्वियों का आगमन कम ही हो पाता था। इस कारण जिनवाणी का पान करने वाले तृषितों की प्यास बुझ नहीं पाती थी। आप रुकीं और अगले रविवार को ज्ञानार्भित प्रवचन फरमाकर श्रोताओं को तृप्त किया।

सन्त समागम—चण्डीगढ़ से विहार कर दिया। मार्ग में एक छोटा गाँव करौली पड़ता है। करौली पहुँचने पर भण्डारी पद्मचन्दजी म. सा., हरियाणा केशरी श्री अमरमुनिजी म. सा. आदि सन्त रत्नों के दर्शन और प्रवचन श्रवण आदि का लाभ मिला। करौली से विहार कर रोपड़ पहुँचीं। यहाँ शशिकांताजी महाराज, विदुषी श्री सरिताजी म. आदि से मिलना हुआ। इससे पूर्व चण्डीगढ़ आते हुए सरहिन्द गाँव में महासती श्री स्वर्णकांताजी म. सा. से मिलना हुआ था। सभी साधु-साध्वियाँजी महाराज का अत्यधिक स्नेह मिला। होशियारपुर पहुँचने पर महासती श्री सावित्रीजी म. सा. एवं महासती श्री शिमलाजी म. सा. ने आपका भावभीना स्थागत किया। यहाँ महावीर जयन्ती धूमधाम से मनाई गई। यहां से विहार कर जब आप मुकेरिया पधारीं तो यहाँ श्री सच जम्मू आपकी सेवा में चातुर्मास की विनती लेकर उपस्थित हुआ। श्रीसंघ की आग्रह भरी विनती को देखकर आपने जम्मू में वर्षवास करने की स्वीकृति प्रदान कर दी। और इसके साथ ही आपके कदम जम्मू की ओर बढ़ चले।

काश्मीर की ओर—चातुर्मास प्रारम्भ होने में अभी दो माह के लगभग दिन शेष थे। इस अवधि में आपने काश्मीर में धर्म प्रचार करने का विचार किया। विचार दृढ़ हुआ और उसके साथ ही विहार भी हो गया। छोटे-बड़े ग्राम-नगरों की अपनी वीथूष वर्षा वाणी से आप्लावित करते हुए, आप काश्मीर की राजधानी श्रीनगर पधारीं। आपके साथ आपकी शिष्यायें भी थीं। श्रीनगर में आपका भावभीना स्वागत हुआ। जम्मू से श्रीनगर तक का मार्ग विकट भी है और मार्ग में अधिकांश अजैन क्षेत्र हैं और ये लोग विशेष रूप से सामिषभोजी हैं। उधर के ब्राह्मण जिन्हें काश्मीरी पण्डित कहते हैं, वे भी मांस का सेवन करते हैं। महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. जिस ग्राम में भी पधारीं आपने वहाँ के

निवासियों को मांसाहार को अभक्ष्य प्रमाणित कर उसका त्याग करने के लिए प्रेरणा प्रदान की। बहुत-सी महिलाओं को आपने नियम भी करवाये कि आप अपने घर में/रसोईघर में मांस नहीं पकाओगी। उन लोगों में आपने जैनधर्म की शिक्षाओं का भी प्रचार किया। आपने उन लोगों को नमस्कार महामन्त्र का महत्व और उसका अद्भुत प्रभाव भी बताया। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक स्त्री-पुरुष और बच्चों ने श्रद्धा से नमस्कार महामन्त्र को कंठस्थ किया। आपने लोगों को नमस्कार महामन्त्र के नित्य स्मरण से होने वाले विशिष्ट लाभों को भी बताया।

श्रीनगर प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से जहाँ एक ओर भारत का स्वर्ग है, वहीं दूसरी ओर पशुओं का मांस लटकने के कारण बीभत्स बना हुआ नरक भी लगता है। यहाँ पशुओं का वध कर उनका मांस खुलेआम बाजारों में बिक्री के लिए लटका दिया जाता है। श्रीनगर में श्वेताम्बर, दिग्म्बर, स्थानकवासी, मूर्तिपूजक, तेरापथी आदि सब मिलाकर जैन मतानुलम्बियों के कुल २०-२५ घर हैं। महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. ने इन सभी को साम्प्रदायिक भेद भुलाकर संगठित रूप से एक होकर रहने का उपदेश दिया। आपके प्रवचनों का यहाँ भी अच्छा प्रभाव रहा।

उग्र विहार और अवरोध—जम्मू से विहार कर आप अपनी शिष्याओं के साथ पन्द्रह दिन में श्रीनगर पहुँची थी। दस दिन तक श्रीनगर में ठहरकर आपने जैनधर्म की प्रभावना की। इसके पश्चात् श्रीनगर से लम्बे-लम्बे विहार कर वर्षावास हेतु आप पन्द्रह दिन में जम्मू पधारीं। बीस पच्चीस किलोमीटर का विहार तो आपका प्रायः होता ही था किन्तु एक बार इकत्तीस और एक बार छत्तीस किलोमीटर का विहार किया। उधर मौसम की अनिश्चितता रहती है। कभी वर्षा रोक देती, तो कभी पहाड़ों पर पड़ी बर्फ ठिठुरा देती और मार्ग अवरुद्ध कर देती। जब मार्ग ही बन्द है तो फिर विहार किस प्रकार सम्भव होता। इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए वि. सं. २०३७ के वर्षावास हेतु जम्मू नगर में आपका पदार्पण हुआ।

वर्षावास जम्मू—जम्मू आगमन पर श्रीसंघ जम्मू ने आपका भावभीना स्वागत किया और समारोहपूर्वक नगर प्रवेश करवाया। जम्मू महिला संघ की सेक्रेटरी श्रीमती कलावतीजी ने आपका स्वागत करते हुए कहा—“हमें तो विश्वास ही नहीं था कि आप वहाँ तक पधारकर वापस यहाँ पधार जावेंगी। क्योंकि इतने कम समय में तीन सौ कि० मी० जाना और वापस आना और उस पर मार्ग की अनेक बाधाएँ और असुविधाएँ, यह सब अति दुष्कर कार्य था। किन्तु आपने जैसा, सोचा वैसा कर दिखाया। वास्तव में आप मेवाड़सिंहनी हैं। आप जैसी दृढ़ इच्छा शक्ति वाली साधिका के ही सामर्थ्य का यह कार्य है।”

सम्पूर्ण चातुर्मास काल विभिन्न धर्माराधनाओं में व्यतीत हुआ और इस प्रकार यह ऐतिहासिक चातुर्मास सानन्द उल्लासमय वातावरण में समाप्त हुआ।

विहार और पुनः सन्त-मिलन—चातुर्मास समाप्त होते ही आपने अपनी शिष्याओं के साथ विहार कर दिया। अमृतसर, जालन्धर, लुधियाना आदि पंजाब के प्रमुख बड़े-बड़े क्षेत्रों को पावन किया। मार्ग में आने वाले छोटे-छोटे गाँवों में भी धर्म-ध्यान का उपदेश करमाया।

लुधियाना में शान्त-दांत, गुण-गम्भीर, उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्दजी म. सा., कविचक्र चूड़ा-मणि श्री चन्दनमुनिजी म. सा. आदि मुनिवृन्द एवं साध्वीप्रमुखा महासती श्री लज्जावतीजी म. सा., महासती श्री अभयकुमारी जी म. सा. आदि साध्वी वृन्द के दर्शन हुए। मिलन हुआ। पण्डितरत्न श्री

फूलचन्द जी म. सा. और महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. के मध्य शास्त्रीय चर्चा हुई, अनेक गहन प्रश्न हुए, जिनके आपने सटीक उत्तर दिये। साध्वीचन्द का मिलन बहुत ही मधुर रहा। मुनिचन्द और साध्वीचन्द के साथ आपके ओजस्वी प्रवचन भी हुए।

लुधियाना से विहार कर अम्बाला, करनाल, पानीपत होते हुए आप उत्तरप्रदेश के कांघला क्षेत्र में पधारे। कांघला पूज्य श्री काशीरामजी महाराज आदि बड़े-बड़े सन्तों की दीक्षा भूमि रही है। कांघला के निवासी बहुत ही श्रद्धालु और धर्मनिष्ठ हैं। श्री संघ कांघला ने वैरागियों की दीक्षा की विनती की। उनकी अनुरोध-भरी विनम्र विनती को मान देते हुए महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. ने स्वीकृति फरमा दी। बड़े उत्साह के साथ दीक्षा की तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं। दीक्षा के प्रसंग पर मेरठ में विराजित उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक श्री शांतिमुनि जी म० सा० को आमन्त्रित किया गया। अस्वस्थ होने के कारण वे पधारने में असमर्थ थे उन्होंने अपने शिष्य तपस्वीरत्न श्री सुमति प्रकाशजी म.सा., श्री विशाल मुनिजी म. सा. आदि मुनिराजों को भेजा, जिससे दीक्षोत्सव में चार चाँद लग गए।

दीक्षा के दिन हाथी, घोड़े, रथ, पदाति एवं सुन्दर-सुन्दर झाँकियाँ से युक्त जुलूस बहुत लम्बा था। सबसे अन्त में हाथी पर सवार वैरागिन बहिनें थीं। जुलूस का स्थान-स्थान पर जलपान, शरबत आदि से स्वागत किया गया था। सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जैन मतावलम्बियों के अतिरिक्त बिना किसी भेदभाव के अजैन मतावलम्बी भी जलपानादि से स्वागत कर रहे थे। दीक्षा-स्थल पर अपार जन-मेदिनी के बीच वैरागियों को तपस्वीरत्न मुनिश्री सुमतिप्रकाश जी म० सा० ने दीक्षा मन्त्र प्रदान किया। मेरठ निवासिनी वैरागिन गीताकुमारी का नाम साध्वीश्री गरिमाजी म. सा. तथा जम्मू निवासिनी वैरागिन शान्ताकुमारी का नाम साध्वी श्री रुचिकाजी म. सा. रखा। साध्वी श्री गरिमाजी म. सा. आपकी तृतीय शिष्या बनीं। साध्वी श्री रुचिकाजी म. सा. को महासती श्री चारित्रप्रभाजी म. सा. की शिष्या घोषित किया गया।

राजस्थान में—दीक्षा के पश्चात् आप अपनी शिष्यामण्डली के साथ मेरठ, दिल्ली होते हुए राजस्थान पधारे। श्रीसंघ अलवर वर्षों से अपने यहाँ चातुर्मास करने के लिए विनती करता आ रहा था। अलवर श्रीसंघ की आग्रह भरी विनती महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. के ध्यान में थी और उनकी इस बार की विनती को मान प्रदान करते हुए वि. सं. २०३७ के चातुर्मास के लिए अलवर श्रीसंघ को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। चातुर्मासार्थ अलवर पधारने पर अलवर की धर्मप्राण जनता ने आपका तथा आपकी शिष्याओं का हार्दिक स्वागत किया।

चातुर्मास काल में धर्म की गंगा प्रवाहित हुई। श्रीसंघ में एक समान उत्साह बराबर मना रहा। विभिन्न धार्मिक क्रियाओं के साथ उल्लासमय बातावरण में चातुर्मास समाप्त हुआ।

मातृभूमि में—चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् अलवर की धर्मप्रिय जनता ने अश्रुपूरित नेत्रों से आपको विदाई दी। अलवर से विहार कर विभिन्न ग्राम-नगरों को पावन करते हुए दीर्घकाल के पश्चात् आपका अपनी जन्मभूमि झीलों की नगरी, पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र उदयपुर में चातुर्मासार्थ पदार्पण हुआ। संवत् २०२४ के वर्षावास के पश्चात् चौदह वर्ष से आपका उदयपुर पदार्पण हुआ था। राम के चौदह वर्ष वनवास के पश्चात् अयोध्या आगमन पर ज्यों अयोध्यावासियों को अपार प्रसन्नता हुई इसी प्रकार आपके पदार्पण से उदयपुरवासियों को भी बहुत प्रसन्नता हुई। आपके आगमन पर उदयपुर श्रीसंघ ने आपका और आपकी शिष्या-प्रशिष्याओं का भव्य स्वागत किया।

और समारोह के साथ आपका नगर प्रवेश करवाया। इस वर्ष यानी वि. सं. २०३८ में आचार्यश्री नानालालजी महाराज सा. का चातुर्मास भी उदयपुर में ही था। दूसरी ओर आपका था। आपके इधर भी लोगों में बहुत उत्साह था, प्रवचनों में उपस्थिति अच्छी रहती थी।

उपाधि से विभूषित—आपका आध्यात्मिक जीवन प्रेरणा का केन्द्र बन चुका था। आपके आध्यात्मिक जीवन से प्रभावित होकर उदयपुर श्रीसंघ की ओर से माननीय श्रीमान कन्हैयालाल जी नागौरी ने आपको 'अध्यात्मयोगिनी' की उपाधि से विभूषित किया।

विभिन्न धार्मिक क्रियाओं के साथ उदयपुर का यह चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ।

गुरुदेव की सेवा में—सुदीर्घकाल से आपने गुरुदेव श्री पुष्करमुनिजी म. सा. के दर्शन नहीं किये थे। गुरुदेव के दर्शनों की आपकी अभिलाषा बलवती हो रही थी। इन दिनों गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी म. सा. अपनी शिष्यमण्डली के साथ राखी वर्षावास सम्पन्न कर पाली मारवाड़ विराज रहे थे। गुरुदर्शन की तीव्र अभिलाषा लिए आपने अपनी शिष्याओं के साथ पाली की ओर विहार कर दिया। गुरुदेव के दर्शन लम्बे समय से न होने का कारण यह था कि गुरुदेव दक्षिण भारत में विचरण करते हुए धर्म प्रचार कर रहे थे और आप उत्तर भारत में विचरण कर रही थीं।

महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. अपनी शिष्याओं और प्रशिष्याओं के साथ पाली पहुँची, गुरुदेव के दर्शन कर अपार प्रसन्नता का अनुभव किया। कुछ दिन गुरुदेव के सांनिध्य में रहकर फिर विहार कर दिया।

'प्रवचनभूषण' से विभूषित—वि. सं. २०३६ का आपका चातुर्मास ब्यावर श्रीसंघ के आग्रह से ब्यावर में हुआ। श्रीसंघ ब्यावर में अच्छी धार्मिक जागृति है। उत्साह भी पूरे चातुर्मास काल में अच्छा रहा। ब्यावर को धर्मनगरी भी कहा जाता है। यहाँ तपस्याएँ भी बहुत रहीं और प्रवचनों की भी खूब धूम रही। आपके ओजस्वी, ज्ञानगर्भित, प्रभावोत्पादक प्रवचनों से प्रभावित होकर श्रीसंघ ब्यावर ने आपको 'प्रवचनभूषण' उपाधि से विभूषित किया।

आपके साधनामय जीवन एवं वैराग्योत्पादक उपदेशों से प्रभावित होकर ब्यावर में रह रहे जामोला निवासी श्री नोरतनमल जी बोहरा की पुत्रियाँ कुमारी शकुन और कुमारी शान्ता के हृदय में वैराग्य भावना जागृत हुई।

आगम रहस्य समझने का अवसर

वि. सं. २०४० में आपका चातुर्मास गुरुदेव श्री की सेवा में मदनगंज में हुआ। इस चातुर्मास में गुरुदेव से आगम के रहस्यों की समझने-समझाने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ। ज्ञानाराधना की दृष्टि से यह चातुर्मास विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा।

दीक्षा और विहार

चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् श्रीसंघ किशनगढ़ के विशेष आग्रह से ब्यावर निवासी वैरागिन बहिन शकुन कुमारी का वैराग्य परिपक्व होने पर भागवती दीक्षा सोत्साह सम्पन्न हुई। नाम साध्वी श्री अनुपमा म० रखा गया। बहुत समय से किशनगढ़ में कोई दीक्षा नहीं हुई थी। इस कारण इस दीक्षोत्सव में अत्यधिक उत्साह था। संत-सतियाँ भी इस अवसर पर विशेष रूप से पधारें थे। जिससे समारोह की शोभा द्विगुणित हो गई थी। दीक्षा प्रदान करने के पश्चात् गुरुदेव श्री पुष्करमुनिजी म. सा. आदि समस्त संत रत्नों ने दिल्ली की ओर विहार किया और महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० ने अजमेर की ओर।

वर्षावास मेड़ता शहर

वि. सं. २०६१ का आपका चातुर्मास मेड़ता शहर में हुआ। मेड़ता अध्यात्मयोगी श्री आनन्द-धनजी की साधनाभूमि है तो भक्तिमती मोराबाई की जन्मभूमि भी है। चार माह तक मेड़ता में आपकी प्रवचन गंगा प्रवाहित होती रही और जिनवाणी की प्रभावना होती रही। आपके प्रवचनों से मेड़ता की जनता मन्त्रमुग्ध हो गई। घर-घर में आपके प्रवचनों की, विषय प्रतिपादन की प्रशंसा-त्मक चर्चा होती रही। चातुर्मास समाप्त होने पर आपने अपनी शिष्याओं/प्रशिष्याओं के साथ मेड़ता शहर से विहार कर दिया।

शेष काल में ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, जैनधर्म की ध्वजा फहराती रहीं और गुरुगच्छ का नाम उज्ज्वल करती रहीं। श्रीसंघ जयपुर के आग्रह से वि. सं. २०४२ के चातुर्मास की स्वीकृति प्रदान की।

वर्षावास जयपुर

विहार क्रम में आपका पदार्पण पूर्व में जयपुर हो चुका था। अपनी शिष्याओं की शिक्षा के निमित्त दीर्घकाल तक यहाँ स्थिरता भी रही थी, किन्तु अभी तक यहाँ चातुर्मास नहीं किया था। वि. सं. २०४२ का चातुर्मास जयपुर में प्रथम बार ही हो रहा था। जयपुर राजस्थान की राजधानी है और सर्वत्र गुलाबी नगर के नाम से विख्यात है। जयपुर नगर की स्थापना महाराजा सवाई जयसिंह ने सन् १७२८ में की थी। अनेक यूरोपीय नगरों के नक्शों का अध्ययन करवाने के पश्चात् इस नगर की बसावट की योजना को स्वीकृत कर मूर्त रूप प्रदान किया गया था। यह नगर चारों ओर से लगभग २० फीट ऊँचे और ६ फीट चौड़े परकोटे से घिरा हुआ है, जिसके एक समान आठ प्रवेश द्वार हैं। इस नगर में अनेक ऐतिहासिक महत्व के दर्शनीय स्थल भी हैं, जो पर्यटकों के आकर्षण के केन्द्र हैं। आमेर का सुप्रसिद्ध किला यहाँ से उत्तर-पूर्व में आठ-नौ किलोमीटर है। यह जयपुर रियासत की राजधानी था। जयगढ़ का सुप्रसिद्ध किला भी यहीं है।

इस चातुर्मास में मासखमण अठाइयाँ आदि अनेक तपस्याएँ हुईं। सकारण सन्तरत्न भी यहाँ विराजमान थे। प्रतिदिन लाल भवन में साथ-साथ ही प्रवचन होते थे। परस्पर अच्छा स्नेहभाव रहा। सम्पूर्ण चातुर्मास काल में जयपुर की धर्मप्रेमी जनता में उल्लेखनीय धार्मिक उत्साह बना रहा। धर्म-ध्यान के मामले में जयपुर का श्रावक-श्राविका वर्ग वैसे भी सदैव अग्रणी रहता है। पूर्ण हर्षोल्लासमय वातावरण में यह चातुर्मास समाप्त हुआ। चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् जयपुर से विहार हो गया।

गुरुदेव के सान्निध्य में—वि. सं. २०४३ का वर्षावास पाली में गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर-मुनि की म० सा० के पावन सान्निध्य में हुआ। इस चातुर्मास में ब्यावर निवासी वैरागिन शांताकुमारी की दीक्षा सम्पन्न हुई और साध्वी निरूपमा नाम रखा। स्मरण रहे वि. सं. २०४० में किशनगढ़ में इनकी संसारपक्षीय बहिन ने भी संयम व्रत अंगीकार किया था। जो वर्तमान में साध्वी श्री अनुपमाजी म. सा. के नाम से विद्यमान हैं।

अमरगच्छ की वर्तमान साध्वी-समुदाय में माता, पुत्री, भुआ, भतीजी आदि तो कई हैं किन्तु सहोदरा बहिनों की यह प्रथम जोड़ी है।

मेवाड़ में

इस चातुर्मास में सभी सतियाँ जी को अध्ययन का अच्छा सुअवसर प्राप्त हुआ। चातुर्मास समाप्त होने पर महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. ने अपने धर्म परिवार के साथ गढ़सिवाना, समदड़ी, जालौर, फालना, सादड़ी आदि क्षेत्रों में धर्म-प्रचारार्थ भ्रमण किया। उधर धर्मध्वजा फहराकर आपका

पदार्पण पुनः मेवाड़ में हो गया। मेवाड़ में पहुँचते ही मेवाड़ की धर्मप्रेमी, गुरुभक्त जनता ने सायरा में आपका भव्य स्वागत किया।

वि. सं. २०४४ के वर्षावास के लिए शेरा प्रांत, भीलवाड़ा, डूंगला आदि अनेक श्रीसंघों की ओर से आपकी सेवा में विनतियाँ आईं। संगठन शक्ति और आग्रह भरी विनम्र विनती को देखते हुए आपने अपने चातुर्मास की स्वीकृति शेरा प्रांत स्थित नादेशमा के श्रीसंघ को प्रदान कर दी।

नान्देशमा कोई बड़ा गाँव नहीं है फिर भी लोगों की भक्तिभावना को देखकर आपने चातुर्मास यहाँ किया। चातुर्मास काल में आसपास के सभी श्रीसंघों और ज़ेनेतर लोगों ने भाग लेकर धार्मिक लाभ अर्जित किया और इस प्रकार इस चातुर्मास को ऐतिहासिक बनाया। यहाँ की पच्चीस बालक-बालकाओं ने प्रतिक्रमण सीखा।

चातुर्मास समाप्त होने के उपरांत आप ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उदयपुर पधारे। अस्वस्थता के कारण कुछ दिन उदयपुर में रिथरता रही। इसी बीच स्थान-स्थान से चातुर्मास के लिए विनतियाँ आने लगीं। देश-काल-परिस्थिति को ध्यान में रखकर आपने सुप्रसिद्ध वैष्णव तीर्थस्थान नाथद्वारा के श्रीसंघ को वि० सं० २०४५ के चातुर्मास को स्वीकृति प्रदान कर दी।

वर्षावास नाथद्वारा :

नाथद्वारा के श्रीसंघ में अच्छी धर्मजागृति है। यहाँ कई लोग तस्वीं के जानकार भी हैं। आपके वर्षावास से और भी अच्छी धर्मजागृति हुई। महासती श्री कुमुमवती जी म० सा० की सद्प्रेरणा से रोने-धोने की कुप्रथा को कम करने का अनेक लोगों ने त्याग किया और अभी भी वहाँ इसका परिपालन किया जा रहा है। आपके उपदेशों से प्रभावित होकर दस-ग्यारह लोगों ने भजोड़े शीलव्रत ग्रहण किया। आपकी प्रेरणा से यहाँ तपस्याएँ भी खूब हुईं। सामूहिक आयम्बिल, तैले, प्रथम बार आपकी प्रेरणा से हुए। नाथद्वारा के इतिहास में प्रथम बार इस वर्ष मासखमण तप हुआ। मासखमण की यह तपस्या श्रीमती रतनबाई धर्मपत्नी श्री मोहनलाल जी राठौड़ ने की थी। इस प्रकार नाथद्वारा का चातुर्मास समाप्त हुआ और चातुर्मास समाप्त होने के पश्चात् नाथद्वारा से विहार कर अपनी शिष्याओं-प्रशिष्याओं के साथ चित्तौड़गढ़ पधारीं। लघु साध्वियों की परीक्षा के कारण चित्तौड़गढ़ में आपको लम्बे समय तक ठहरना पड़ा। परीक्षा समाप्त होते ही आपने उदयपुर की ओर विहार कर दिया। उदयपुर की ओर गुरुदेव की सेवा में :

इस समय परम पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पृष्कर मुनि म० सा०, पू० उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म० सा० आदि अपना इन्दौर का यशस्वी चातुर्मास समाप्त कर विभिन्न ग्राम-नगरों को लाभान्वित कर उदयपुर पधारकर अपनी अमृतमयी वाणी से उदयपुर की जनता का ताप मिटा रहे थे। उदयपुर में श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय भवन के स्वाध्याय भवन का उद्घाटन हुआ, वर्षों तप के पारण हुए। सभी अवसरों पर आप अपनी शिष्याओं सहित उपस्थित रहीं। उदयपुर में ही आपका चातुर्मास डूंगला घोषित हुआ।

वर्षावास डूंगला—श्रीसंघ डूंगला की अनेक वर्षों से आपके चातुर्मास की विनती चली आ रही थी। डूंगला में भी धर्म के प्रति अच्छी लगन और निष्ठा है। सेवाभावना भी उल्लेखनीय है। दिनांक १३-६-६६ को आपका डूंगला में चातुर्मास प्रवेश समारोह के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ। चातुर्मास प्रारम्भ होते ही धर्मध्यान की, प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो गयीं। प्रतिदिन प्रार्थना, प्रवचन, चौपाई आदि तप-त्रप के महोत्सव हो रहे हैं। इन पक्तियों के लखने तक विभिन्न धार्मिक आयोजन उत्साह एवं उमंग सहित हो रहे हैं। ●

व्यक्तित्व की विशेषताएँ

छोटा कद, सांवला वर्ण, ब्रह्मचर्य के तेज से दीप्त मुखमण्डल, तेजस्वी नेत्र, तीखी नाक, छोटे-छोटे हाथ-पैर के पंजे और पतली अंगुलियों से मिलकर एक व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, जिसे आज सभी बाल ब्रह्मचारिणी, महात्रिदुषी, प्रवचन-भूषण महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० के नाम से जानते-मानते और उनके पावन चरणों में अपनी श्रद्धासिक्त वंदना निवेदन करते हैं। ज्ञान-राधिका, जपसाधिका, दया और सरलता की प्रति-मूर्ति, प्रेम और वात्सल्य की देवी, विनय-विवेक सम्पन्ना, क्षमामूर्ति, मितभाषी, मधुर व्यवहारी, प्रभावक प्रवचनदात्री पू० महासती श्रीकुसुमवती जी म० सा० के विराट व्यक्तित्व की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

बाल ब्रह्मचारिणी—धन-जन आदि पदार्थों का परित्याग कर देना इतना कठिन कार्य नहीं है जितना विषय-वासना की काली नागिन को नाशना कठिन है। बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी एवं शक्तिसम्पन्न व्यक्ति भी इसके सामने घुटने टेकते हुए दिखाई दिये हैं। इन्हीं कारण अनुभवो महापुरुषों ने ब्रह्म-चर्य को असिधारा व्रत उद्घोषित किया है।

मन, वचन, कर्म से जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य को विशुद्ध परिपालना एवं आराधना करता है, उसका जीवन कितना महान बन जाता है, उसके सम्बन्ध में उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

देव दाणव गंधवा जकख रक्खस किन्नरा ।
बंभयारि नमंसंति दुक्करं जे करंति तं ॥

विष्व बन्ध भगवान् महावीर फरमाते हैं कि जो लोग दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत की परिपालना करते हैं, उनके चरणों में देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी शक्तियाँ झुक जाती हैं।

ब्रह्मचर्य की शक्ति बड़ी अद्भुत है। उसके प्रभाव से विष अमृत बन जाता है। अग्नि शीतल हो जाती है। सिंह जैसे हिंसक प्राणी भी अपनी हिंसक वृत्ति छोड़कर अहिंसक बन जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य की महिमा अपरम्पार है। इस विषय पर जितना लिखा जाये कम है।

पूजनीया महासती श्री कुसुमवती जी म० बाल ब्रह्मचारिणी हैं। दस वर्ष की लघु वय से ही आप साधना पथ की पथिका बनीं। इस प्रकार आप ब्रह्मचर्य की परिपालना और आराधना करती आ रही हैं।

सरलता की प्रतिमूर्ति—सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो मुद्धस्स चिट्ठई। आपके जीवन में शान्ति, समता और सरलता का अद्भुत समन्वय है। आपका जीवन सरल ही नहीं अपितु अति सरल है। सरलता आपके जीवन का विशिष्ट गुण है। छल, कपट, प्रपंच एवं दिखावे से आप कोसों दूर रहते हैं। सत्य कहें तो आपमें बालकों सी सरलता है।

आपके पास चाहे बालक आये, या युवक आये या वृद्ध। चाहे धनवान आये या निर्धन। आपके यहाँ सबके लिए द्वार खुला है। सबके प्रति समान व्यवहार है। आपकी सरलता सभी के द्वारा अनु-

भव की जा सकती है। यह नहीं कि यह छोटा-सा बच्चा है, इससे क्या बोलना। आप समान भावना में बात करते हैं। इसी प्रकार आप धनी और गरीब में भी भेद नहीं मानकर समान रूप से व्यवहार करते हैं। गरीबों के साथ तो आपका आत्मीय व्यवहार देखते ही बनता है। आपको धनवानों का ऐश्वर्य आकर्षित नहीं कर पाता है। आप तो अपनी साधना में ही लगन लगाये रहते हैं।

इसी प्रकार जब आपसे किसी भी सम्प्रदाय, पन्थ, मजहब के सन्त-सतियाँ मिलते हैं तब आप बिना किसी भेदभाव के उनके साथ बैठना, बोलना, प्रवचन देना आदि सहज भाव से निभा लेते हैं। सभी आपकी सहजता और सरलता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। जिस प्रकार आप गच्छ के बड़े सन्त या सतियों के साथ प्रेम एवं सद्भावपूर्वक व्यवहार करते हैं ठीक उसी प्रकार छोटे सन्त या सतियों से भी आपका व्यवहार आत्मीयता पूर्ण रहता है। आपके तन, मन, जीवन में अहंकार का नाम ही नहीं है। आपकी सरलता के संदर्शन प्रत्येक व्यक्ति आपके सम्पर्क में आकर अनुभव कर सकता है। आप अपने कार्य अपनी छोटी सतियों से कराने के पक्ष में नहीं रहते हैं। आप अपने छोटे बड़े कार्य स्वयं अपने हाथों से ही कर लेते हैं। इस सब कारणों से आपको सहज ही सरलता की प्रतिमूर्ति कहा जा सकता है।

प्रेम और वात्सल्य की मूर्ति—आपका हृदय स्नेह की स्रोतस्विनी से ओतप्रोत है। अपनी शिष्याओं को आप माता के समान ममता और वात्सल्य प्रदान करती हैं। यह प्रेम और वात्सल्य भाव अपनी शिष्याओं के प्रति तो है ही, साथ ही जो भी आपके सान्निध्य में रहते हैं उनको भी आप अपने निर्मल स्नेह के निर्झर से नहला देती हैं। आपका अपनी गुरु बहिनों एवं उनकी शिष्याओं के प्रति भी असीम स्नेह रहा है। जिस किसी के साथ भी आपने चातुर्मास किये वे आपके स्नेहिल व्यवहार से अत्यधिक प्रसन्न और प्रभावित रहते। उन्हें

ऐसा अनुभव होता है जैसे वे आपकी ही शिष्याएँ हैं। आपके स्नेहसिक्त व्यवहार के कारण वे भी आपको अपने गुरु-गुरुणी जी के समान सम्मान एवं महत्व देते हैं।

विनय विभेक की प्रतिभा—आपका जीवन विनय गुण से ओत प्रोत है। अहंकार तो आपको छूता ही नहीं है। बड़ों के प्रति असीम आदर-सत्कार सम्मान की भावना सदैव बनी रहती है। बड़ों के वचनों को आप ससम्मान स्वीकार करते हैं। गुरु-जनों के प्रति आपका विनय प्रशंसनीय है। आप अपनी शिष्याओं को भी सदैव विनय का पाठ पढ़ाती रहती हैं। आपकी मान्यता है कि विनयपूर्ण व्यवहार सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान करने में सहायक होता है। 'गुरुराजा अविचारणीया' यह आपके जीवन का सिद्धांत है।

क्षमा की देवी—आपकी मान्यता है कि क्षमा ही तप का सार है। इस मान्यता के अनुरूप आप में अद्भुत सहनशीलता है। आपके जीवन में उग्रता तो कभी दिखाई ही नहीं दी। शान्त-प्रशान्त आपका जीवन है। आप सौम्यमूर्ति हैं। आप कटू-कृतियों और अपशब्दों का उत्तर भी मधुर मुस्कान के साथ देती हैं, उफान और तूफान में भी आपकी सहनशीलता विचलित नहीं होती। कभी जोर से बोलना तो आपने सीखा ही नहीं। आप अपनी शिष्याओं को भी डांट-फटकार के रूप में कभी कुछ नहीं कहती।

अपने प्रति कटु वचन बोलने वाले अथवा दुर्व्यवहार करने वाले को भी आप क्षमा प्रदान कर देती हैं। आप में क्षमा का अद्भुत गुण विद्यमान है।

मित एवं मृदुभाषी—आप आवश्यकता से अधिक नहीं बोलती हैं। बड़े ही संतुलित शब्दों में बोलने के कारण आप में मितभाषी का गुण आ गया है। फिर जो भी बोलती है वह मधुरता, मृदुता के साथ बोलती हैं। अपनी वाणी के अनुरूप ही आपका व्यवहार भी मधुर है। मित एवं मृदु

भाषी और मधुर व्यवहारी होने से आपकी लोक-प्रियता और अधिक विकसित हो रही है।

सेवाभावी—सेवा कार्य प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता। सेवा में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। महासती श्री कुसुमवती जी महाराज सा० की तो सेवा-भावना अनुपम है। आपने अनेकानेक संत-सतियों की सेवा की है। पूजनीया गुरुणी जी श्री सोहन-कुंवर जी महाराज की अन्तिम सेवा का लाभ आपने ही लिया। माताजी महाराज श्री कैलाश-कुंवरजी महाराज की भी खूब सेवा की। वे हृदय-रोगी थी। विहार काल में कई बार हृदय का दर्द हो जाता था। उनके सीने पर हाथ फिराते हुए आप उनके साथ धीरे-र चलते थे। अन्तिम समय में वे एक महीने तक असाध्य व्याधि से ग्रस्त रहे। उस अवधि में आपने जो सेवा की उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक माह तक दिन-रात जागकर आपने उनकी सेवा की। आप रूह के वशीभूत होकर ही नहीं वरन् कर्तव्य भावना और सेवा भावना से सेवा कार्य करते थे।

आपके सान्निध्य में जो साध्वियाँ रहती हैं। उनमें चाहे बड़े हों या छोटे। यदि किसी को कोई व्याधि या वेदना हो जाती है तो आप बेचैन हो उठती हैं तथा आप अपनी स्वयं की चिंता न करते हुए दूसरों के दर्द को दूर करने में लग जाती हैं। स्वयं अपने हाथों से सेवा करती हैं। बिना किसी ग्लान भाव से आप तन-मन से दूसरों की सेवा करती हैं। सेवा का गुण आपको नैसर्गिक रूप से मिला हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।

करुणा की स्रोतस्वनी—संत कवि तुलसीदास ने कहा है—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब तर्काघट में प्राण ॥
दया/करुणा की महिमा सभी धर्म गाते हैं।
दया, करुणा, अहिंसा जैनधर्म की प्राण हैं। महा-सती श्री कुसुमवती जी म० सा० के जीवन में करुणा कूट-कूटकर भरी है। किसी भी दुःखी प्राणी

को देखकर आपके अन्तर् की करुणा सहज ही प्रस्फुटित हो जाती है। पीड़ित को देखकर आपका हृदय रो उठता है। जो भी दुःखी व्यक्ति आपको सम्पर्क में आया वह आपको जीवन पर्यन्त नहीं भूल सकता। जहाँ तक हो सकता है आप दुःखी व्यक्ति के दुःख को दूर करने का भरसक प्रयास करती हैं।

आप अपने प्रवचनों में भी प्रायः दोन-दुखियों पर दया-अनुकम्पा करने पर जोर देती रहती हैं। आपकी ओजस्वी वाणी में अक्सर मानवता का स्वर मुखरित होता है। आपने अपने उपदेशों के द्वारा अनेक स्थानों पर स्वधर्मी सहायता फण्ड, मानव सेवा संस्था आदि की स्थापना करवाई है और प्रायः इसी प्रकार का उपदेश भी आप फरमाती रहती हैं।

प्राणी-वध न हो, इसके लिए भी आप सदैव उपदेश दिया करती हैं। आपकी प्रेरणा से कई बार पर्व दिनों में कसाईखाने बन्द करवाये गये हैं।

यदि आपके सामने कोई पीड़ा से कराह रहा हो तो आप मौन दर्शक की भाँति बैठी नहीं रह सकती हैं। आप उस समय यह विचार नहीं करती कि अभी मैं अपने कार्य में व्यस्त हूँ, बाद में इस व्यक्ति के विषय में कुछ पूछताछ कर जो करना होगा कर लिया जायेगा। चाहे आधी रात ही क्यों न हो आप अपने काम की या नींद की चिन्ता किये बिना अविलम्ब उस पीड़ित व्यक्ति की पीड़ा सुनने पहुँच जाती हैं। कोई दुःखी या हर्षण व्यक्ति आपको दर्शन देने के लिए बुलाता है तो आप उसकी उपेक्षा नहीं करती हैं। दूसरों को प्रसन्न देखकर आपको महती प्रसन्नता होती है। आपकी करुणा भावना को देखकर आपको करुणा सागर कहा जा सकता है।

ज्ञान और क्रिया की आराधिका—कहा है—
“न हि ज्ञानेन सहस्रं पवित्रमिह विद्यते।” आपने दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् संयममाधना और

द्वितीय खण्ड : जीवन दर्शन

९६५

ज्ञान आराधना को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया । आठ दस वर्षों तक निरन्तर अध्ययन में जुटे रहे । आपने आगमों का गहन अभ्यास किया । बत्तीस ही आगमों का आपने कई बार अवलोकन/अवगाहन किया । लघु सिद्धान्त कौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी को कण्ठस्थ किया । हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत के अन्य साहित्य का अध्ययन भी किया । साहित्यिक अध्ययन के साथ-साथ आपने दार्शनिक ग्रन्थों का भी अध्ययन किया । कर्म, आत्मा, जीव-जगत्, मोक्ष, स्याद्वाद, सप्तभंगी, ईश्वर कर्तृत्व आदि के गूढ़ रहस्यों को जाना-समझा । आपने पाथर्डों परीक्षा बोर्ड से जैन सिद्धान्त आचार्य तक की परीक्षाएँ दीं और बनारस की व्याकरण मध्यमा परीक्षा भी उत्तीर्ण की । आपने संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है ।

ज्ञान के साथ-साथ आप आचार के भी प्रबल पक्षधर हैं । आप अपनी संयमसाधना के प्रति हर समय सजग हैं । साधुमर्यादा के विपरीत चलना आपको विलकुल नहीं सुहाता है । आपने सुदूर प्रान्तों में भी विचरण किया है । वहाँ विषम परिस्थितियों में भी आप अपनी मर्यादाओं में दृढ़ रहीं । दिल्ली और पंजाब में जब आप पधारी तो अनेक स्थानों पर समस्याएँ उपस्थित हो जाती थीं—जैसे माइक में बोलने की, व्याख्यान हॉल में पंखे चलने की, पलश में निपटने की । लेकिन आप इसका स्पष्ट और प्रत्यक्ष विरोध कर देती थीं । आप इस बात की चिन्ता नहीं करती थीं कि व्याख्यान में श्रोताओं की उपस्थिति कम रहेगी । चातुर्मास की स्वीकृति के पूर्व आप लोगों से इस प्रकार की स्वीकृति ले लेती थीं और उसके पश्चात् ही अपनी स्वीकृति फरमाती थीं ।

जप साधिका—जपात्सिद्धिः जपात्सिद्धिः जपात्सिद्धि न संशयः ।

आप जप की भी बड़ी दृढ़ साधिका हैं । प्रातः तीन चार बजे उठकर जप, माला, ध्यान करती हैं । सायंकाल भी एक घण्टा माला, ध्यान आदि

नियमित करती हैं । चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, अशक्त हों, रुग्ण हों, फिर भी आपका जप निरन्तर चलता रहता है । किसी भी स्थिति में आप जप बन्द नहीं करती हैं ।

प्रभावक प्रवचनदात्री—प्रवचन गद्य-साहित्य की एक विशिष्ट विधा है । साधारण वाणी को वचन कहा जाता है किन्तु सन्त मुनिराजों और आध्यात्मिक अनुभवियों और विचारकों का कथन प्रवचन कहलाता है । प्रवचन में आत्मा का स्पर्श, साधना का तेज और जीवन का सत्य परिलक्षित होता है । प्रवचन का प्रभाव तीर की भाँति बेधकड़ता लिये होता है । उसमें प्रयुक्त शब्द, मात्र शब्द नहीं होते, वे जीवन की गहराइयों और अनुभवों की ऊँचाइयों का अर्थ लिये होते हैं ।

प्रवचनों में पाण्डित्य का प्रदर्शन न होकर उनका उद्देश्य शास्त्रों में निहित गूढ़ तथ्यों/रहस्यों को सरल से सरल शब्दों में अभिव्यक्त कर जनमानस तक पहुँचाना है । इसी भावना से अभिप्रेरित होकर महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. प्रवचन फरमाती हैं ।

आप अपने ओजस्वी प्रवचनों के माध्यम से सुप्त जन-जीवन को जागृत कर सत्य, शील, सेवा, सदाचार के पथ पर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करती हैं । आपकी मधुर वाणी में संध एकता, समन्वय, जन-सेवा एवं सामाजिक कुरीतियों के निवारण की पावन प्रेरणा गूँजती रहती है ।

जब आप प्रवचन फरमाती हैं तो श्रोतावर्ग मन्त्रमुग्ध हो जाता है । शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को आप सरलतम भाषा में किसी दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करती हैं । अपने कथन के प्रमाण में शास्त्रीय प्रमाण भी प्रस्तुत करती हैं । प्रवचन को सरस और आकर्षक बनाने के लिए बीच-बीच में आप काव्य पंक्तियों का भी सस्वर पाठ करती हैं ।

प्रवचन में आपकी भाषा सरल और प्रवाहमयी होती है, किन्तु वाणी ओजस्वी है । वाणी का प्रभाव तो यह है कि यदि आपके प्रवचन चल रहे हों और

द्वितीय खण्ड : जीवन-दर्शन

कोई अनजान व्यक्ति उधर से निकल रहा हो तो वह वाणी सुनकर कुछ देर ठहर जाना है।

श्रोताओं को बाँधे रखने की कला में भी आप प्रवीण हैं। श्रोताओं की मनोदशा को समझकर आप अपने प्रवचन प्रवाह को इस प्रकार मोड़ दे देती हैं कि श्रोतावर्ग तन्मय होकर बैठ रहा है। आपके प्रवचन काफी प्रभावोत्पादक होते हैं। जो भी एक बार आपकी वाणी का रसास्वादन कर लेता है, वह लम्बे समय तक भूल नहीं पाता है।

नाम की सार्थकता—स्थानांग सूत्र ४/३/३८६ में बताया गया है कि पुष्प चार प्रकार के होते हैं। यथा—

१—रूप सम्पन्न, न गन्ध सम्पन्न—कोई फूल रूप सम्पन्न होता है, किन्तु गन्ध सम्पन्न नहीं होता। जैसे आकुलि का फूल।

२—गन्ध सम्पन्न, न रूप सम्पन्न—कोई फूल गन्ध सम्पन्न होता है, किन्तु रूप सम्पन्न नहीं होता, जैसे—वकुल का फूल।

३—रूप सम्पन्न भी, गन्ध सम्पन्न भी—कोई फूल रूप सम्पन्न भी होता है और गन्ध सम्पन्न भी होता है। जैसे—जुही का फूल।

४—न रूप सम्पन्न, न गन्ध सम्पन्न—कोई फूल न रूप सम्पन्न होता है और न गन्ध सम्पन्न ही होता है। जैसे—बदरी (बोरड़ी) का फूल।

महासती श्री कुसुमवती जी महाराज सा. की तुलना तीसरे प्रकार के जुही के फूल से की जा सकती है। जिसमें रूप और सुगन्ध दोनों हैं। महासतीजी के आकर्षक, बाह्य व्यक्तित्व के साथ-साथ सदाचार की मीठी सुगन्ध भी कूट-कूट कर भरी हुई है। ऐसे कुसुमवत् बाह्य व आन्तरिक व्यक्तित्व की धारक श्री कुसुमवती जी महाराज श्रमण संघ की वाटिका को निरन्तर शोभित कर रही हैं और अपनी सौरभ से जन-जन के मन को आनन्दित कर रही हैं।

अतीत की स्मृतियाँ

ब्रह्मचर्य की उत्कट साधना और जप, तप और ध्यान की आराधना से आपके जीवन में अनेक विशेषताएँ, चमत्कारिक घटनाएँ घटी हैं। साधक निष्काम भाव से साधना करता है, ऐसे चमत्कारों से उसे कोई प्रयोजन नहीं होता है। लेकिन ये तो स्वतः उसके साथ उत्पन्न हो जाती हैं। जैसे किसान खेती करता है, वह अनाज के लिए न कि घास-फूस के लिए। लेकिन घास-फूस भी साथ में उग जाता है। घटनाएँ तो अनेक हैं, किन्तु विस्तारभय से कुछ ही घटनाओं का विवरण यहाँ दिया जा रहा है। यथा—

वह कौन था ?

एक बार आप पाली पधार रहे थे। रास्ते के किसी एक गाँव तक पहुँचना था। लेकिन चलते-

चलते रास्ता भूल गये। चारों ओर जंगल ही जंगल। चलते-चलते काफी समय हो गया। थक कर चूर हो गये। लेकिन कहीं कोई गाँव तो क्या गाँव के चिह्न भी दिखाई नहीं दे रहे थे। आसपास कोई व्यक्ति भी दिखाई नहीं दे रहा था। साथ वाली सभी स्मृतियाँ हैरान-परेषान हो गईं। अब क्या होगा ? कहाँ जाएँ ? किधर जाएँ ? यही प्रश्न सब के मानस-पटल पर उभर रहा था। उस समय आपके मन में जाप चल रहा था। एकाएक एक व्यक्ति कुछ दूरी पर विपरीत दिशा से आता हुआ दिखाई दिया। कुछ ही क्षणों में वह व्यक्ति निकट आ गया। उसने वन्दन करते हुए कहा—“आप इधर किधर पधार रहे हैं ? इधर तो कोई रास्ता भी नहीं है। ऐसा लगता है कि आप रास्ता भूल

द्वितीय खण्ड : जीवनद-शंन

१६७

गई हैं। बलिये, मैं आपको पास के गाँव का रास्ता बता देता हूँ।”

उस व्यक्ति के मिलने से एवं उसके उपर्युक्त कथन से सभी ने राहत की साँस ली। उस व्यक्ति ने बहुत देर तक साथ-साथ चलकर गाँव की ओर संकेत कर वहाँ पहुँचने का रास्ता भी बता दिया। जाते हुए उसने कहा—“यह सीधा रास्ता उस गाँव तक जाता है। आप सीधे ही पधार जाना।”

उस व्यक्ति को धन्यवाद देकर आप अपनी शिष्याओं के साथ उस गाँव की ओर बताए रास्ते से आगे बढ़ चलीं। कुछ ही दूरी तक चली होंगी कि साथ वाली एक साध्वीजी ने पीछे मुड़कर देखा तो वह व्यक्ति कहीं भी दिखाई नहीं दिया। उन साध्वी जी ने कहा—“देखो, वह रास्ता बताने वाला व्यक्ति कहं दिखाई नहीं दे रहा है। इतनी जल्दी वह कहाँ चला गया?” सबने पीछे मुड़कर देखा तो दूर-दूर तक कोई दिखाई नहीं दे रहा था। आखिर वह था कौन? तभी सभी के हृदय में भाव उत्पन्न हुए कि आज किसी अदृश्य शक्ति ने हमारी सहायता की है।

पैरों का दर्द गायब

एक बार आप अपने माताजी महाराज एवं पूज्य महासती श्री सौभाग्यकुंवर जी महाराज के साथ प्रथम बार दिल्ली पधारे। दिल्ली से पुनः लौटते समय अलवर से जयपुर के रास्ते में पूजनीया महासती श्री सौभाग्यकुंवरजी महाराज सा. से पैर में असह्य दर्द होने लगा। यहाँ भयंकर जंगल है, जो सुप्रसिद्ध वन्य पशु अभयारण्य ‘सिरस्का’ के नाम से विख्यात है। यहाँ एक सरकारी कोठी बनी हुई है, उसी में ठहरना पड़ा। पू० महासती श्री सौभाग्यकुंवर जी महाराज के पैर दर्द के विषय में आपने कहा कि यह दर्द कल प्रातः होते-होते ठीक हो जायेगा। उस समय आपकी इस बात पर किसी ने कोई विशेष ध्यान

नहीं दिया। सब कोठी में ठहरे हुए थे और रात भर चारों ओर से गेरों की दहाड़ें सुनाई दे रही थीं। कभी-कभी तो दहाड़ इतने निकट से सुनाई पड़ती मानो वह कोठी के आसपास ही हो। तप-संयम के प्रभाव से सभी सुरक्षित थे। उधर प्रातः होते-होते पू० महासती जी पैर का दर्द गायब हो गया। उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो रात्रि में पैर में दर्द था ही नहीं। इससे सभी ने चैन की साँस ली। सभी ने यही सोचा कि यदि पैर-दर्द ठीक नहीं हुआ होता तो इस जंगल में क्या करते ?

वे चुपचाप चले गए

एक बार जोधपुर से पाली की ओर पधार रहे थे। किसी अपरिहार्य कारणवश गाँव तक नहीं पहुँच पाये और सूर्यास्त हो गया। ऐसी स्थिति में जंगल में बने एक तबारे में ठहरना पड़ा। उस तबारे के समीप एक कुंआ भी था। रात्रि प्रतिक्रमण के पश्चात् सभी चुपचाप बैठे हुए जाप कर रहे थे। जाप करते-करते काफी समय व्यतीत हो गया। कुछ साध्वियाँ सो गईं, कुछ सोने का विचार कर रही थीं। आप अभी भी बैठीं समता भाव में रमण करते हुए अपने आराध्य का जाप कर रही थीं। तभी बाहर कुछ आहट हुई और रोशनी भी। एक बार तो सभी भयभीत हो उठीं। आप निर्भय होकर शान्त मुद्रा में बैठी रहीं। प्रकाश तबारे के अन्दर भी आया। शायद उन लोगों के पास टार्च थी। उनमें से किसी एक ने पूछा—“कौन है अन्दर! बाहर निकलो और जो कुछ भी पास में है हमारे हवाले कर दो।”

आपने निडर होकर कहा—“हम जैन साध्वियाँ हैं। हमारे पास केवल आशीर्वाद है। चाहो तो ले लो।” इसके साथ ही आपने ‘दया पालो’ भी कहा। बाहर कुछ देर मौन रहा। फिर आवाज सुनाई दी—“ऐसा कैसे हो सकता है? कुछ तो होगा ही।”

जो भी: हे, वही हमें सौंप दो। वरना...।" शायद ये सब डाकू थे और बोलने वाला उनका सरदार।

"वरना... वरना... क्या कर लगे... लो...।" इतना कहकर आपने जोर-जोर से मन्त्राधिराज नवकार मुनाना आरम्भ कर दिया। जैसे ही नवकार मन्त्र समाप्त हुआ वैसे ही बाहर से आवाज आई—“हमारी भूल माफ करना महाराज सा। अब आप निर्भय होकर यहाँ रात बिताओ।” इतना कहकर वे वहाँ से हट गये और कुएँ से पानी पीकर अनजान दिशा की ओर चले गये। यह घटना आपकी साधना और साहस की परिचायक है।

○

शेर गर्जना करता रहा

एक बार आप अपनी सद्गुरुवर्या के साथ विचरण करते हुए देलवाड़ा से उदयपुर पधार रही थीं। मार्ग की विषमता और कुछ अस्वस्थता के कारण एक दो साध्वीजी को कमजोरी के कारण चलने में कठिनाई हो रही थी। चोरवा घाटे के ऊपर आते-आते उन्होंने जवाब दे दिया। अशक्तता इतनी अधिक हो गई थी कि बिलकुल ही चला नहीं जा रहा था। तब चोरवा घाटे के ऊपर ही ठहरने का निर्णय कर लिया। वही समीप ही पुलिस वाले भी थे। पुलिस वालों ने कहा भी कि आप लोग यहाँ न ठहरें। यहाँ रात्रि में शेर आते हैं। यहाँ ठहरना अपने आपको खतरे में डालना है। किन्तु जब एक कदम भी चला नहीं जा रहा हो तो आगे किस प्रकार बढ़ा जाये? बाध्य होकर वहीं ठहर गये। रात्रि में पुलिस वालों ने तो अग्नि जलाकर अपनी सुरक्षा की व्यवस्था कर ली और उनके पास तो बन्दूकें भी थीं। अग्नि के जलने से प्रकाश भी हो गया।

इधर जहाँ आप ठहरी हुई थीं, अन्धकार था किन्तु इस अन्धकार के साथ जाप का, संयम का अद्भुत प्रकाश था? आधी रात के पश्चात् शेर की

भयानक गर्जनाएँ सुनाई देने लगीं। शनैः-शनैः ये गर्जनाएँ समीप आती गईं। जिधर से आवाज आ रही थी, उधर देखा तो थोड़ी दूर पर दो टिम-टिमते दीये-से दिखाई दिये और उसी के साथ पुनः गर्जना। सभी साध्वियाँ उठकर बैठी हो गईं। प्राण सभी को प्रिय होते हैं। शेर की आवाज से भय भी लग रहा था। आपने अपना ध्यान आरम्भ कर दिया। आत्मस्थ हो गयी। थोड़ी देर में शेर गर्जना करता हुआ चला गया। सबने राहत की सांस ली और प्रातः होते ही वहाँ से विहार कर दिया।

मासखमण

सन् १९७७ में आपका वर्षावास चाँदनी चौक दिल्ली में था। आपके उपदेशों से प्रभावित होकर श्रीमती उषादेवी चौरडिया ने मासखमण का तप किया। उन्होंने भरे-पूरे परिवार को छोड़कर तपस्या के दिनों में आपके चरणों का शरणा लिया। मासखमण की अवधि में श्रीमती चौरडिया कभी-कभी अस्वस्थ हो जाती तो आपके चरणों में झुक जातीं। आप उनको कुछ सुनातीं तो वे सुनते ही एकदम स्वस्थ हो जातीं। वे कहती हैं कि महासतीजी की कृपा से उनका मासखमण का तप हो सका है।

○

और फिर भी भोजन बच गया

सन् १९८७ का आपका चातुर्मास उदयपुर के निकट स्थित छोटे-से ग्राम नान्देशमा में था। यहाँ श्रमणसंघीय आचार्य सम्राट श्री आनन्दऋषिजी म. सा. का जन्म जयन्ती का आयोजन किया गया था। जिस भाई के यहाँ भोजन की व्यवस्था थी, उन्होंने अनुमान से लगभग दो सौ व्यक्तियों के लिए भोजन तैयार करवा लिया। किन्तु इस दिन आसपास के ग्राम नगरों से लगभग तीन-चार सौ

लोग आ गये। वह भाई घबरा उठा। आपकी सेवा में भी आया। उस समय भी उसकी घबराहट स्पष्ट दिखाई दे रही थी। महासती जी ने उसे इतना ही कहा कि देव, गुरु और धर्म पर विश्वास रखो। वीतराग भगवान् सब ठीक ही करेंगे। वह भाई अपने घर आ गया। तत्काल अन्य कुछ व्यवस्था क्या हो सकती है? इस पर भी विचार करने लगा। इधर जागत अतिथियों ने भोजन करना आरम्भ कर दिया। कुछ ऐसा चमत्कार हुआ कि सब अतिथियों ने भोजन कर लिया और फिर भी कुछ भोजन बचा रह गया। वह भाई आपकी सेवा में उपस्थित हुआ और अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोला—“महाराज साहब यह सब आपकी कृपा का ही परिणाम है।”

○

पुत्रवधू स्वस्थ हो गई

सन् १९८५ में अपनी शिष्याओं के अध्ययन हेतु आप अजमेर से विहार कर जयपुर पधारे। जयपुर में प्रवेश करके श्री धर्मीचन्दजी जैन के मकान में ठहरे। उनके घर में पुत्रवधू बहुत बीमार थी। उपचार भी चल रहा था किन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा था। पुत्रवधू की अस्वस्थता से परिवार के सभी सदस्य अत्यधिक परेशान थे। पुत्रवधू आपकी सेवा में वन्दन करने आईं। आपने उसे मांगलिक सुनाया। उस दिन धर्मीचन्दजी की पुत्रवधू ने दिन में तीन बार मांगलिक सुना। दूसरे दिन जब पूजनीया गुरुणी म. सा. ने वहाँ से विहार किया तो देखा कि जो बहू कई दिन से बीमार थी, वह एकदम स्वस्थ है और अपने बच्चे को स्नान करवा रही है। इसके पश्चात् वह नियमित रूप से मांगलिक सुनने आती रही। अभी भी उनका पूरा परिवार आपके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता है और समय-समय पर दर्शन लाभ लेने आता रहता है।

✽

उसकी बाधा दूर हुई

बात उन्हीं दिनों की है जब आप जयपुर में विराज रही थीं। जयपुर के बाहर गणगौर स्थानक में एक बाई काम करती थी। आप तो प्रवचन देने के लिए लाल भवन पधारे हुए थे। स्थानक में थोकड़ों के पारंगत सुश्रावक श्री मोहनलालजी सूथा छोटी सतियाँ जी को थोकड़ों का अभ्यास करवा रहे थे। वह बाई पास ही बैठी थी। न मालूम क्या हुआ कि बैठे-बैठे ही वह बाई जोर-जोर से चिल्लाने लगी और दो मंजिल ऊपर से नीचे छलाँग लगाने लगी। उसे बड़ी कठिनाई से पकड़कर नीचे बैठाया। तो वह बेहोश होकर फर्श पर गिर गई जब आप प्रवचन से वापस पधारीं तो आपको सब बात बताई आपने उस बाई को कुछ सुनाया। थोड़ी ही देर में उस बाई ने आँखें खोलीं। वह ऐसे उठकर काम में लग गई, मानो कुछ हुआ ही नहीं हो। बाद में भी वह बिलकुल स्वस्थ ही रही और सेवा करती रही।

✽

सुइयाँ चुभना बन्द हो गया

जयपुर में ही एक बहुत सम्पन्न घर की महिला थी। वह बहुत ही धार्मिक वृत्ति की थी। समय-समय पर वह व्रत, उपवास, पौषध आदि करती रहती थी। धार्मिक क्रिया करते समय उसे अक्सर ऐसा दर्द होता था जैसे सारे शरीर में सुइयाँ चुभ रही हों। और किसी ने बोली बन्द कर दी हो। कई बार वह महिला संकेत से महासतीजी की अपने पास बुलाती—आप उसके समीप जाकर कुछ देर तक उसे कुछ सुनाते। इससे उसकी वेदना शान्त हो जाती थी। कुछ दिन तक यही क्रम चलता रहा। धीरे-धीरे उसकी यह बीमारी दूर हो गई। उस महिला की आप पर अनन्य श्रद्धा है और अभी भी दर्शन लाभ लेने आपकी सेवा में आती रहती है।

⑥

सर्प चला गया

(मांगलिक सुनने आया था)

यह घटना इसी वर्ष १९८६ की है। आप अपनी शिष्याओं के साथ चित्तौड़ से उदयपुर पधार रही थीं। उदयपुर में आँख का आपरेशन करवाना था। उदयपुर से बीस कि० मी० दूर डबोक नामक गाँव है। वहीं चौराहे पर श्री शान्तिलाल जी कोठारी के वहाँ ठहरे। रात्रि प्रतिक्रमण के पश्चात् वहाँ कहीं से एक सर्प आ गया। उस सर्प को भगाने का प्रयास किया गया, किन्तु वह नहीं गया। नहीं गया, यहाँ तक तो ठीक था, पर उसने फुफकारा भी नहीं और शान्त बैठा रहा। जब देखा कि सर्प नहीं जा रहा है तो आपने उसे लक्ष्य कर मांगलिक सुनाया। मांगलिक सुनते ही वह सर्प चुन्चाप चला गया। उसके जाने के थोड़ी ही देर बाद आसपास देखा, चारों ओर देखा, किन्तु वह कहीं भी दिखाई नहीं दिया। जहाँ हम ठहरे थे, उन घर वालों ने कहा कि हमें यहाँ रहते हुए छः वर्ष हो गये हैं। हमने कभी यहाँ सर्प देखा ही नहीं। सभी को इस घटना से बड़ा आश्चर्य हुआ। सर्प तो मांगलिक सुनने आया था, सुनकर चला गया। ❀

आना-जाना शुरू हुआ

डूंगला की यह घटना इसी वर्ष (वि. सं. २०४६) की है। यहाँ के श्री भँवरलाल जी मेहता की पुत्र-वधू को विवाह के पश्चात् से उसके पितृ परिवार में नहीं भेज रहे थे। लगभग आठ वर्ष बीत गए। समाज के लोगों ने समझाने का प्रयास किया। कुछ सन्त-सतियों ने भी समझाया, लेकिन मायके भोजना स्वीकार नहीं किया।

संयोग से इस वर्ष महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. चातुर्मास डूंगला में हुआ। महासतीजी म. के सम्मुख भी यह समस्या आई। महासतीजी के सरल, शान्त जीवन, प्रभावोत्पादक प्रवचनों एवं प्रेरणा का प्रभाव हुआ और पुत्रवधू को मातृ-गृह जाने-आने को अनुमति मिल गई। इस आठ वर्ष पुरानी समस्या को इतनी आसानी से सुलझी हुई, जानकर न केवल दोनों परिवारों में हर्ष और आनंद व्याप्त हो गया, वरन् सम्पूर्ण गाँव में प्रसन्नता की लहर फैल गई। अब सब आनन्द ही आनन्द है।

महासती श्री कुसुमवतीजी महाराज साहब की प्रेरणा से स्थापित सस्थाओं का परिचय

१. तारक गुरु जैन धार्मिक पाठशाला, डबोक—
व्यावहारिक ज्ञान के साथ-साथ धार्मिक ज्ञान होना भी आवश्यक है। उसके अभाव में जीवन पतनोन्मुख हो सकता है। इसलिए महासतीजी सदैव धार्मिक शिक्षण के लिए भी समाज को प्रेरणा प्रदान करती रहती हैं। समय-समय पर आप अपने उपदेशों में बालक/बालिकाओं को धार्मिक शिक्षा/संस्कार दिलाने के लिए धार्मिक पाठशालायें स्थापित करने की बात पर भी जोर देती हैं। आपके सदुपदेशों से अनेक स्थानों पर धार्मिक पाठशालायें खोली गईं। प्रायः ऐसा होता है कि ये धार्मिक

पाठशालायें समुचित व्यवस्था के अभाव में कुछ दिन तक चलकर बन्द हो जाती हैं। लेकिन उदयपुर के समीप ग्राम डबोक में आपकी प्रेरणा से स्थापित धार्मिक पाठशाला ३०-३२ वर्षों से नियमित चल रही है।

इस पाठशाला में अभी तक अनेक बालक-बालिकायें सामायिक, प्रतिक्रमण, स्तोत्र, थोकड़े आदि धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ जीवन व्यवहार की शिक्षा एवं संस्कार प्राप्त कर चुकी हैं। इसके परिणामस्वरूप वे अपना सांसारिक जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत कर रहे हैं।

द्वितीय खण्ड : जीवन-दर्शन

१७१

२. श्री सोहनकुंवर मानव सेवा सहायता फण्ड—प्राणिमात्र की सेवा करना मानव का कर्तव्य है। आपके उपदेशों में प्रायः यह भावना मुखरित होती रहती है। आपने अनेक स्थानों पर स्थायी/अस्थायी स्वधर्म सहायता फण्ड खूलवाये। आपके विचार विराट हैं और भावना अति उदार है। स्वधर्मों की तो सहायता करनी ही चाहिए, इससे तो पीछे हटना भी नहीं चाहिए। लेकिन स्वधर्मों से भी अधिक सहायता की आवश्यकता अन्य मनुष्यों को है। अनेकों को अपनी उदर पूर्ति के लिए परिश्रम करते हुए भी भोज्य पदार्थ प्राप्त नहीं हो पाते हैं। “बुभुक्षित किं न करोति पापं” पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए अज्ञानी जन पशुओं को मारकर खाते हैं। ऐसे मनुष्यों की सेवा/सहायता के लिये आपने तिरपाल गाँव में श्री सोहनकुंवर मानव सेवा सहायता फण्ड की स्थापना की है। आपकी सद्गुरुणी श्री सोहनकुंवर जी महाराज इसी तिरपाल गाँव की थी। यह संस्था मानव सेवा का उल्लेखनीय कार्य कर रही है।

३. श्री सोहनकुंवर बालिका मण्डल, नान्देशमा—सन् १९८७ में नान्देशमा तहसील गोगुन्दा जिला उदयपुर में आपका वर्षावास था। यह वर्षावास पूरे मेयाड़ संघ की ओर से हुआ था। इस वर्षावास में अनेक धार्मिक, सांस्कृतिक आयोजन हुए। आपकी प्रेरणा से यहाँ श्री सोहनकुंवर बालिका मण्डल की स्थापना हुई। बालिका मण्डल ने आपकी प्रेरणा से अनेक सराहनीय कार्य किये। अनेक सांस्कृतिक कार्य भी किये। बालिकाओं की अभिव्यक्ति की प्रतिभा का विकास भी इस मण्डल के माध्यम से हुआ। इसके अतिरिक्त यह मण्डल धार्मिक जागृति में भी उल्लेखनीय योगदान दे रहा है। जो बालिकायें सामायिक, प्रतिक्रमण, भक्तामर, पच्चीस बोल आदि नहीं जानती हैं, उन्हें इस मण्डल के माध्यम से सिखाया जाता है।

४. चन्दनबाला जैन बालिका मण्डल, नाथद्वारा—नाथद्वारा का बालिका मण्डल सुशिक्षित

है। उन्होंने अपने समाज में अनेक उल्लेखनीय कार्य किये हैं। इस मण्डल के द्वारा धार्मिक शिक्षण के साथ-साथ मानव सेवा भी की जाती है। इस मण्डल की सदस्ययें अस्पताल में जाकर गरीबों में दवाई व दूध-फल आदि का वितरण करती हैं। आपकी प्रेरणा से यह मण्डल उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है।

५. महावीर जैन महिला मण्डल, नाथद्वारा—समाज में नारी का विशेष महत्व है। संगठित होकर महिलायें पुरुषों के समान कार्य कर सकती हैं। इस मण्डल की स्थापना से जो महिलायें पदों में रहती थीं, वे भी आगे आकर सेवा कार्य में भाग लेने लगी हैं। समारोहों में भाग लेकर अपने विचारों को सबके सामने रखने लगी हैं। इस महिला मण्डल के माध्यम से अनेक रूढ़ियों को भी मिटाया गया जिनमें मृत्यु के समय रोने-धोने और सबसे बड़ी समस्या दहेज पर भी करारी चोट कर सकती है। इस मण्डल के प्रयास से रोने-धोने की रूढ़ि तो कम हुई है। इस मण्डल के माध्यम से महिलायें धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने में रुचि लेने लगी हैं। सही देखा जाये तो इस मण्डल के कारण नाथद्वारा की महिलाओं में नई जागृति उत्पन्न हो रही है। यह आपकी प्रेरणा का ही परिणाम है।

६. महावीर जैन महिला मण्डल, डूंगला—इस मण्डल के माध्यम से डूंगला की महिलाओं में धार्मिक चेतना जागृत की जा रही है। सप्ताह में एक बार धर्म स्थानक में आकर धार्मिक चर्चा एवं ज्ञान-ध्यान सीखा जाता है।

७. महावीर जैन युवा मण्डल, डूंगला—युवक राष्ट्र का कर्णधार है। वह समाज का मुख भी है, मस्तिष्क भी है। वह शक्ति का अक्षय कोष है। यदि वह संगठित होकर अपनी शक्ति का सदुपयोग करे तो निश्चित ही समाज संघ व धर्म की उन्नति हो सकती है। अतः आपने युवकों को संगठित होने का आह्वान किया। आपकी प्रेरणा से डूंगला

के युवकों ने अपना संगठन बनाया और समाज में सक्रिय सहयोग प्रदान कर रहे हैं।

इनके अतिरिक्त एक उल्लेखनीय कार्य यह किया कि तिरपाल, तहसील गोमुन्दा जिला उदयपुर आपकी सद्गुरुवर्या श्री महासती श्री सोहनकुंवर

जा म० सा० की जन्मभूमि के स्थानक भवन के प्रवचन हाल का नाम वहाँ के श्रावक संघ को प्रेरणा प्रदान कर महान साधिका श्री सोहनकुंवर जी म० सा० के नाम से महासती श्री सोहनकुंवर प्रवचन हाल रखा।

विशिष्ट व्यक्तित्वों से सम्पर्क

बाल ब्रह्मचारिणी, महाविदुषी, प्रवचनभूषण महासती श्री कुसुमवतीजी म० सा० का सुदीर्घ संयमकाल में अनेक विशिष्ट व्यक्तियों से सम्पर्क हुआ है। उनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी म० सा०— पूजनीया महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० अपने गुरुणी जी म० सा० के साथ उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. के अनेक बार दर्शन करने एवं प्रवचन सुनने पधारा करते थे। आप कई बार अपनी जिज्ञासा उनके समक्ष प्रस्तुत करती थीं और उसका समुचित समाधान भी पाती थीं। आप उनसे ज्ञान-ध्यान विषयक चर्चा प्रायः करती रहती थीं। लघुवय में आपकी ज्ञान-पिपासा से उपाचार्य श्री जी अत्यन्त प्रभावित हुए।

२. आचार्य सम्राट श्री आनन्दकृष्णजी म.सा.— महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. अपने अध्ययन-काल में व्यावर स्थित गुरुकुल में अध्ययनरत थीं। उस समय आचार्य सम्राट श्री आनन्दकृष्ण जी महाराज का व्यावर में वर्षावास था। आप प्रायः उनके दर्शन करने, प्रवचन श्रवण का लाभ प्राप्त करने तथा ज्ञान चर्चा करने के लिए जाया करती थीं।

राजस्थान के ग्राम नगरों में विचरण करते हुए एक बार भीलवाड़ा में आपने आचार्यश्री के दर्शन किए। उस समय आपकी सरलता, वैदुष्य, प्रवचन पटुता एवं ज्ञानाभ्यास की आचार्यश्री ने भी प्रशंसा की।

आगम व्याख्याकार आचार्यश्री घासीलाल जी म०— उदयपुर में जिस समय महासती श्री कुसुमवती जी म. एवं महासती श्री पुष्पवती जी म. अपनी सद्गुरुवर्या के सान्निध्य में अध्ययनरत थीं, उस समय पू. आचार्यश्री घासीलाल जी म. उदयपुर में ही विराजमान थे। यदा-कदा आप अपनी सद्गुरुवर्या के साथ उनके दर्शन करने जाया करती थीं। पं. श्री घासीलालजी म. सा. व्याकरण संबंधी तथा अन्य भी अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते थे। जिनका आप सटीक उत्तर देती थीं। आपकी अध्ययन के प्रति रुचि और सरल व्यवहार से वे बहुत प्रभावित थे। महासती श्री चारित्रप्रभाजी म. को आपके पास दीक्षा लेने की प्रेरणा भी आचार्यश्री घासीलालजी म. सा. ने ही दी।

पंजाबकेसरी श्री प्रेमचन्दजी म० सा०—संवत् २०१३ में महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. का वर्षावास व्यावर था और उसी वर्ष पंजाबकेसरी जी का वर्षावास भी व्यावर में ही था। पंजाबकेसरीजी महाराज के गुरु श्री वृद्धिचन्दजी म. सा. उदयपुर जिले के बगडुन्दा गांव के थे। उन्होंने अमर सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी। फिर विचरण करते हुए पंजाब पधार गये थे। अतः उधर ही विचरते रहे। इसी कारण श्री प्रेमचन्द जी म. महासती जी को 'ताऊजी की चेलियाँ' बोलते थे। क्योंकि श्री ताराचन्दजी म. सा. एवं श्री वृद्धिचन्द जी म. सा. गुरुभाई थे। महासतीजी ने अनेक प्रवचन सुने। कई बार दिन में ज्ञान चर्चा भी होती थी।

उपाध्याय श्री अमरचन्दजी म. सा.—कविश्री अमरचन्द जी म. सा. से भी जयपुर, दिल्ली, अजमेर आदि स्थानों पर मिलना हुआ और जान चर्चा हुई ।

उपाध्याय श्री फूलचन्द जी म. सा.—महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. जब पंजाब की ओर विचरण कर रही थीं, तब लुधियाना में उपाध्याय श्री फूलचन्द जी म. सा. से मिलना हुआ । वे वहाँ स्थिरवास में थे । बड़े ही स्नेह से चर्चा-वार्ता की । वे आपके वैदुष्य से बहुत प्रभावित हुए । उनके साथ ही कवि चूड़ामणि श्री चन्दन मुनिजी म. सा. भी विराजते थे । आपके प्रवचन को वे उसी समय कविताबद्ध करके जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर देते थे । श्री फूलचन्द जी म. सा. से आगमिक विषयों पर भी चर्चा हुई थी । उन्होंने जो प्रश्न पूछे थे उनके आपने विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिये थे ।

उत्तर भारतीय प्रवर्तक श्री शान्तिस्वरूप जी म० सा०—महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० उत्तर भारत में विचरण करती हुई अपनी शिष्याओं के साथ मेरठ पधारी । मेरठ में पूज्य श्री शान्तिस्वरूप जी म० सा० दीर्घकाल से स्थिरवास थे । श्री शान्तिस्वरूपजीम० के शान्त प्रशान्त जीवन से महासतीजी अत्यधिक प्रभावित हुए । वहाँ श्री संघ के आग्रह से महासतीजी के प्रवचन भी हुए । मेरठ से आपकी भावना हस्तिनापुर की ओर जाने की थी किन्तु श्री शान्तिस्वरूप जी म० के आग्रह के कारण यहाँ कुछ अधिक दिनों तक रुकना पड़ा ।

श्री शान्तिस्वरूप जी महाराज प्रतिदिन कई घण्टों का मौन रखते थे । तीन वजे बाद वे सबसे मिलने, चर्चा आदि का समय बेटे थे । जब तक आप वहाँ ठहरीं तब तक आगमिक प्रश्नोत्तर एवं अन्य धर्म चर्चा हुई । यहीं पर श्री सुमतिप्रकाश जी म० सा० एवं श्री विशालमुनिजी आदि से भी मिलना हुआ ।

विद्वद्गुरु श्री सुदर्शनमुनि जी म० सा०—महासती श्री कुसुमवतीजी म० ने अपना चांदनी चौक,

दिल्ली का यशस्वी चातुर्मास सम्पन्न कर उत्तरप्रदेश की ओर विहार किया । ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आप पू० श्री काशीराम जी म० की दीक्षा स्थली कांघला पधारी । यहां आपका और श्री सुदर्शनलाल जी म० सा० का स्नेह सद्भावनापूर्वक मिलन हुआ । दोनों के साथ-साथ प्रवचन भी हुए । दोनों एक-दूसरे से अत्यधिक प्रभावित हुए ।

जैन दिवाकर श्री चौथमल जी म० सा०—महासती श्री कुसुमवतीजी म० सा० का जैन दिवाकर श्री चौथमल जी म० सा० से भी अनेक बार मिलना हुआ । उनके दर्शन किये और प्रवचन भी सुने । अच्छा परिचय, स्नेह सद्भावना रही । विचार चर्चा भी की ।

आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा०—महासती श्री कुसुमवती जी म० ने आचार्य श्री हस्तीमल जी म० के दर्शन भी किये और प्रवचन भी सुने । ज्ञान चर्चा का सुअवसर भी मिला । किशनगढ़, अजमेर आदि स्थानों पर उनकी जन्म जयन्ती समारोहों में सम्मिलित होने का अवसर भी मिला ।

आचार्य श्री नानालालजी म० सा०—सन् १९८१ में आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० का वर्षावास उदयपुर में था । महासती श्री कुसुमवती जी म.सा. का वर्षावास भी श्रमण संघ की ओर से उदयपुर में ही था । क्षमापर्व के दिन महासती श्री आचार्य श्री के समीप क्षमापना करने पधारीं । अपार जन-मेदिनी के बीच आचार्यश्री ने अपना प्रवचन रोककर आपसे स्नेह सद्भाव्यहार के साथ क्षमत क्षमापना किया ।

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. सा.—महासती श्री कुसुमवती म० सा० अमरगच्छ की प्रमुख महासतियों में हैं । वर्तमान में राजस्थान केसरी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. सा. की आज्ञा में विचरण कर रही हैं । महासती जी ने अजमेर, मदन गंज और पाली में उपाध्याय श्री जी के सान्निध्य में वर्षावास किये और ज्ञानाभ्यास भी किया । आगमों

का ज्ञानाभ्यास भी आपके सान्निध्य में ही प्राप्त किया।

उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी म. सा.—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. सा. से आपका बाल्यकाल से ही त्रिजिष्ट परिचय रहा है। इसका कारण यह है कि उपाचार्य श्री जी की बहिन महासती श्री पुष्पवती जी म. सा. एवं महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. दोनों गुरु-बहिन हैं अतः उपाचार्य श्री आपको बहिन महाराज के समान ही आदर एवं स्नेह देते हैं। उपाचार्य श्री एक महान् चित्तक एवं मनीषी सन्तरत्न हैं। आपसे कई बार अनेक विषयों पर चिंतन-मनन और चर्चाएँ हुईं।

मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी म. सा.—महा-श्री कुसुमवती जी म. सा. का मरुधर केसरी जी म. सा. से भी अनेक बार मिलन हुआ। अनेक विषयों पर चर्चा भी होती थी। महासती जी के ज्ञानाभ्यास में आप भी प्रभावित थे।

युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म. सा.—महा-सती श्री कुसुमवती म. सा. ने स्व० युवाचार्य श्री जी के व्यावर में दर्शन किये थे। वे शान्त, दान्त और गुण गम्भीर थे। महासती जी आपके प्रवचन में तथा सेवा में पधारती थीं। महासती जी के सरल स्वभाव एवं वैदुष्य से युवाचार्य श्री बहुत प्रसन्न और प्रभावित थे। वे आपको समुचित आदर भी देते थे।

युवाचार्य श्री डॉ० शिवमुनि जी म. सा.—महा-सती श्री कुसुमवतीजी म. सा. का युवाचार्य श्री डॉ० शिवमुनि जी से अजमेर के समीप तीर्थराज पुष्कर में मिलना हुआ था। वहाँ साथ-साथ प्रवचन भी हुए और ज्ञानचर्चा भी हुई थी।

प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी म. सा.—प्रवर्तक श्री जी के दर्शनों का लाभ अनेक बार मिला। आपसे महासती जी की ज्ञान चर्चा भी हुई। आपश्री के व महासती जी के बीच सद्भावनापूर्ण व्यवहार है।

प्रवर्तक श्री पन्नालाल जी म. सा.—महासतीजी ने प्रवर्तक श्री पन्नालाल जी म. सा. के भी दर्शन किये। उन्होंने महासतीजी के वैदुष्य, मधुरवक्तृत्व, एवं मिलनसारिता आदि से प्रभावित होकर अपने क्षेत्र विजयनगर श्री संघ को चातुर्मास कराने के लिये भी कहा। महासती जी ने आपकी भावना को मान देकर वहाँ चातुर्मास भी किया।

मूर्तिपूजक आचार्य श्री कांति सागर जी म. सा.—अजमेर के स्थानक के विशाल पंडाल में महा-सती जी का एवं आचार्य श्री कांति सागरजी म. सा. का साथ-साथ प्रवचन हुआ। महासती जी ने आचार्य श्री का स्वागत किया। आचार्य श्री ने महासती जी का गुणानुवाद किया।

मूर्तिपूजक खरतरगच्छीय साध्वी श्री विचक्षण श्री जी म. सा.—केकड़ी चातुर्मास सम्पन्न कर महासती श्री कुसुमवती जी म. जयपुर की ओर पधार रही थीं। बीच में मालपुरा गांव में ठहरना हुआ। मालपुरा में मूर्तिपूजक समुदाय की सुप्रसिद्ध साध्वी जी श्री विचक्षण श्री जी म. भी विराज रही थीं। दोनों के बाजार में सामूहिक प्रवचन हुए। इस आयोजन से जनता बहुत प्रभावित हुई।

तेरापंथी संत-सतियाँ जी—कई बार तेरापंथी संघ के साधु साध्वियों के साथ मिलना हुआ और साथ-साथ प्रवचन भी हुए।

विश्व मैत्री दिवस के अवसर पर कई बार सभी सम्प्रदाय के सन्त सातियों के साथ आपके प्रवचन हुए। आप संकीर्ण विचारों से मुक्त हैं। आपका कहना है कि हम साधारण गृहस्थ से प्रेम/स्नेह से बोल सकते हैं तो किसी भी सम्प्रदाय के साधु-साध्वियों से बोलने में हिचकिकाहट क्यों? इन विचारों से आपके विशाल दृष्टिकोण का पता चलता है।

महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. का धर्मपरिवार

ऐसा कहा जाता है कि यदि गुरु योग्य होता है तो उसके शिष्य भी योग्य होते हैं। यह कहावत बाल ब्रह्मचारिणी महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. के सम्बन्ध में सत्य चरितार्थ होती है। जिस प्रकार आपने अपने जीवन में ज्ञानाराधना कर ज्ञान अर्जित किया है, और अपनी प्रतिभा का विकास किया है, उसी के अनुरूप आपने ज्ञानार्जन हेतु अपनी शिष्याओं/प्रशिष्याओं के लिये भी व्यवस्था करने का सदैव ध्यान रखा। ज्ञानाभ्यास के लिए आपने उन्हें समय और सुविधा भी उपलब्ध करवाई। इसका परिणाम यह है कि आपकी समस्त शिष्याएँ/प्रशिष्याएँ विदुषी, विवेकशीला और वाक्पटु हैं। संयम-राधना में भी सभी एक से एक बढ़कर हैं। दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सभी सरल स्वभावी और विनयशीला तथा सेवाभावी हैं।

तीसरी उल्लेखनीय बात यह है कि सभी ने महासती जी के वैराग्योत्पादक प्रवचनों से प्रभावित होकर संयम व्रत अंगीकार किया और चौथी विशेषता यह है कि सभी बाल ब्रह्मचारिणी हैं। पांचवाँ वैशिष्ट्य यह है कि इस सिंघाड़े में दो साध्वियाँ Ph. D. उपाधि से विभूषित हैं। ऐसा सिंघाड़ा शायद ही अन्य कोई दूसरा हो।

इस परिप्रेक्ष्य में हम महासती जी के धर्म परिवार का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) महासती श्री चारित्रप्रभा जी म. सा. —

आपका जन्म उदयपुर जिले के ग्राम बगडुन्दा निवासी श्रीमान् कन्हैयालालजी छाजेड़ की धर्मपत्नी सौभाग्यवती हंसा देवी छाजेड़ की पावन कुक्षि से श्रावण कृष्णा अमावस्या सं. २००५ के दिन हुआ। आपका जन्म नाम हीराकुमारी है। आपने उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. सा. को अपना गुरु बनाकर परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी म. के सान्निध्य में सं. २०२५ फाल्गुन

शुक्ला पंचमी दिनांक २१ फरवरी सन् १९६६ को नाथ द्वारा में दीक्षा ग्रहण की।

आपने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी भाषाओं का उच्चस्तरीय अध्ययन किया। आपने जैन सिद्धांतों का भी गहन अभ्यास किया है। आपने हिन्दी साहित्यरत्न, जैनदर्शन में शास्त्री. पाथर्डी बोर्ड की सिद्धांताचार्य आदि परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर उपाधियाँ प्राप्त कीं। जैनागमों और दर्शन साहित्य का भी अध्ययन किया है।

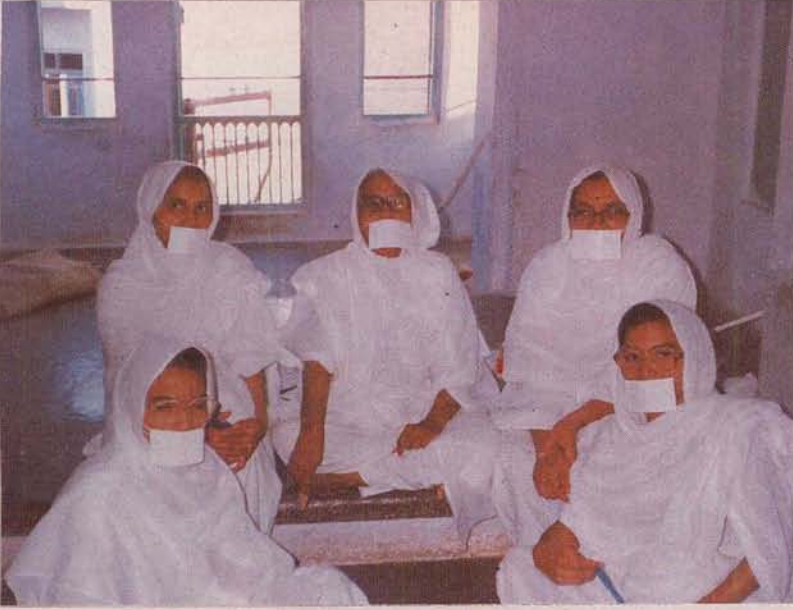
आपकी प्रवचन, गायन, विचरण और लेखन कार्य में विशेष रुचि है। आपके द्वारा लिखित/संकलित पुस्तकें हैं—चारित्र सौरभ, कुसुम चारित्र स्वाध्याय माला, कुसुम चरित्र नित्य स्मरण माला चारित्र ज्योति आदि।

आपकी प्रेरणा से अनेक संस्थाओं की स्थापना भी हुई है जिनमें—महिला मण्डल, चांदनो चौक, दिल्ली, धार्मिक पाठशाला, अमी नगर सराय, जैन वीरवाल संघ, दोघट, जैन वीर बालिका संघ, कांधला, प्रमुख हैं।

आपकी पांच शिष्यायें हैं—(१) श्री दर्शनप्रभा जी म., (२) श्री विनयप्रभा जी म., (३) श्री रुचिकाजी म., (४) श्री राजश्रीजी म. और (५) श्री प्रतिभा जी म.।

आपने राजस्थान, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, पंजाब, दिल्ली आदि प्रदेशों में विचरण कर धर्म का प्रचार किया है।

महासती (डा.) विद्यप्रभाजी म. सा.—आपका जन्म उदयपुर निवासी श्रीमान् कन्हैयालाल जी सियाल की धर्मपत्नी सौभाग्यवती चौथबाई की पावन कुक्षि से वि. सं. २०१४ मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी दिनांक ३० नवम्बर १९५७ को हुआ था। संसार पक्ष से आप महासती श्री कुसुमवती जी म.



महासती श्री कुसुमवती जी : शिष्या परिवार के साथ
महासती गरिमा जी, पूज्य गुरुणी प्रवरा महासती कुसुमवती जी (मध्य में)
महासती श्री दिव्यप्रभा जी, महासती निरुपमा जी
एवं महासती अनुपमा जी :



महासती रुचिका जी महासती चारित्रप्रभा जी,
महासती दर्शनप्रभा जी, महासती विनयप्रभा जी,
महासती राजश्री जी एवं महासती प्रतिभाश्री जी :

की ममेरी बहिन हैं। आपका जन्म नाम कु० स्नेह लता है।

आपने उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. सा. को गुरु बनाकर परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. के पास वि. स. २०३० कातिक शुक्ला त्रयोदशी, दि. ३ नवम्बर १९७३ के दिन अजमेर में जैन भागवती दीक्षा ग्रहण की।

आपने राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से संस्कृत विषय में एम. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। हिन्दी साहित्य सम्मेलन से साहित्य-रत्न, राज. वि. वि. से जैन दर्शन शास्त्री तथा दिल्ली संस्थान से जैन दर्शन आचार्य उत्तीर्ण की।

आचार्य श्री सिद्धार्थ के 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' पर शोध प्रबन्ध लिखकर राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

आपने रत्नाकर पच्चीसी का हिन्दी अनुवाद किया है और प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन भी आपने ही किया है। साहित्य के प्रति आपकी विशेष रुचि है। यही कारण है कि आप सदैव अध्ययन, अध्यापन एवं लेखनादि में व्यस्त रहते हैं। विश्वास है कि आपकी प्रतिभा का लाभ समाज को मिलेगा।

आपकी दो शिष्याएँ हैं—(१) साध्वी श्री अनुपमाजी म. एवं (२) साध्वी श्री निरुपमा जी म.। दोनों ही सांसारिक रिश्ते में बहिनें हैं।

आपने राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, जम्मू-काश्मीर आदि में धर्म प्रचार किया है।

(३) महासती श्री गरिमा जी म. सा.—आपका जन्म उत्तर प्रदेश के मेरठ नगर के निवासी श्रीमान तालेराम जी उज्ज्वल की धर्मपत्नी सौभाग्यवती रमादेवी की पावन कुक्षि से दिनांक १५-४-१९६३ को हुआ। आपका जन्म नाम कु. गीता (कु. गीतिका) है। आपने महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. के उपदेशों से प्रेरित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर दीक्षाव्रत अंगीकार किया।

द्वितीय खण्ड : जीवन-दर्शन

उत्तर भारतीय प्रवर्तक श्री शान्तिस्वरूप जी म. सा. के सुशिष्य श्री सुमतिप्रकाश जी म. सा. ने आपको कांछला में दिनांक ३० अप्रैल १९८० के दीक्षा प्रदान की।

आपने उत्तर प्रदेश से इण्टरमीडियट तक अध्ययन किया। फिर निरन्तर परीक्षोत्तीर्ण करते हुए आपने एम. ए. किया और अभी पुनः आप एम. ए. की परीक्षा की तैयारी कर रही हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी व अंग्रेजी में अच्छी योग्यता प्राप्त की है। आपको जैन सिद्धांतों का भी अच्छा अभ्यास है।

आपको रुचि काव्य रचना, मुसाहित्य का अध्ययन और चित्रकला में विशेष है। 'गीतों की गरिमा' नाम से आपकी एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।

आपने राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, जम्मू-काश्मीर आदि प्रान्तों में विचरण किया है।

(४) महासती (डॉ.) श्री दर्शनप्रभाजी म. सा.—आपका जन्म दिल्ली निवासी ओसवाल वंशी, लोढा गोत्रीय श्रीमान रतनलाल जी की धर्मपत्नी सौभाग्यवती कमलाबाई की पावन कुक्षि से संवत् २०१० आश्विन शुक्ला त्रयोदशी, दि. २३ अक्टूबर १९५३ को हुआ। आपका जन्मनाम सरोजकुमारी है।

आपने उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. सा. को गुरु बनाकर महासती श्री चारित्रप्रभाजी म. सा. के पास अजमेर जिले के ब्यावर नगर में सं. २०३२ फाल्गुन कृष्णा पंचमी दिनांक २० फरवरी, १९७६ के दिन दीक्षाव्रत अंगीकार किया। आप महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. की प्रशिष्या हैं।

आपने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से साहित्यरत्न, वर्धा से राष्ट्रभाषारत्न, अहमदाबाद गुजरात से जैन दर्शनाचार्य, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से एम. ए. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं और तत्पश्चात् "आचार्य हरिभद्र एवं उनके साहित्य" पर शोध प्रबन्ध लिखकर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

आपको संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान है। आपकी रुचि प्रवचनादि में अधिक है।

आपने राजस्थान, दिल्ली, पंजाब, हरियाणा तथा उत्तर प्रदेश में विचरण किया है।

विश्वास है कि आपकी योग्यता और प्रतिभा का समाज को लाभ मिलेगा।

(५) महासती श्री विनयप्रभाजी म० सा०—आपका जन्म जयपुर निवासी ओसवाल वंशी, गाँधी गोत्रीय श्रीमान् सुन्दरलालजी की धर्मपत्नी सौभाग्यवती मुन्नीबाई की पावन कुक्षि से दिनांक ५ जून, १९५६ के दिन हुआ था। आपका जन्मनाम सविता कुमारी है।

आपने उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. सा. को गुरु मानकर महासती श्री चारित्रप्रभाजी म. सा. के पास दिल्ली में दिनांक २४ फरवरी, १९७८ सं. २०३४ को दीक्षाव्रत स्वीकार किया। आप महासती श्री कुसुमवतीजी म. की प्रशिष्या हैं।

आपने संस्कृत, हिन्दी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है। आपने माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, अजमेर से हायर सेकण्डरी परीक्षा और जैन सिद्धान्त विशारद परीक्षा उत्तीर्ण की।

अपनी गुरुणीजी एवं गुरु बहिनों के साथ आपने दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, जम्मू-काश्मीर आदि का भ्रमण किया। आपकी विशेष रुचि 'सेवा कार्य' करने में है।

(६) महासती श्री रुचिकाजी म० सा०—आपका जन्म काश्मीर के जम्मू नगर निवासी श्रीमान् मनीरामजी आनन्द की धर्मपत्नी सौभाग्यवती राजदेवी की पावन कुक्षि से सं. २०१६ श्रावण शुक्ला षष्ठी, दिनांक ८ अगस्त, १९५९ के दिन हुआ था।

आपने उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. सा. को गुरु मानकर महासती श्री चारित्रप्रभाजी म. सा. के सांनिध्य में सं. २०३७ वैशाख शुक्ला पूर्णिमा दिनांक ३० अप्रैल, १९८० कांधला में दीक्षाव्रत

अंगीकार किया। आप महासती श्री कुसुमवतीजी म. की प्रशिष्या हैं।

आपने एम. ए., बी. एड. तक व्यावहारिक शिक्षण प्राप्त किया है। दार्मिक दृष्टि से जेनागम साहित्य और थोड़े आदि का भी अध्ययन किया है। जैन सिद्धान्तों का भी आपको अच्छा अभ्यास है। जैन सिद्धान्त परीक्षा भी उत्तीर्ण की है।

हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी में भी आपने अच्छी योग्यता अर्जित की। आपकी विशेष रुचि संगीत में है।

अपनी गुरुणीजी और गुरु बहिनों के साथ आपने दिल्ली, पंजाब, हरियाणा, जम्मू काश्मीर, राजस्थान आदि में विचरण किया है।

(७) महासती श्री अनुपमाजी म० सा०—आपका जन्म जामोला जिला अजमेर निवासी श्रीमान् नोरतमलजी बोहरा की धर्मपत्नी सौभाग्यवती सोहनबाई बोहरा की पावन कुक्षि से सं. २०२४ वैशाख कृष्ण द्वितीय दिनांक १५ अप्रैल, १९६८ को हुआ। आपका जन्मनाम कु. शकुन बोहरा है।

आपने श्रद्धेय श्री राजेन्द्र मुनिजी म. सा. को गुरु बनाकर महासती श्री दिव्यप्रभाजी म. सा. के पास वि. सं. २०४० माघ शुक्ला त्रयोदशी दिनांक १५ फरवरी, १९८४ को किशनगढ़ जिला अजमेर में जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की।

आपने जैन सिद्धान्तों के बोल व थोकड़ों का अध्ययन किया है एवं व्यावहारिक शिक्षण बी. ए. की तैयारी कर रही हैं।

आपने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान अर्जित किया है। आपकी विशेष रुचि भ्रमण, चित्रकला और अध्ययन में है। 'दीक्षा ज्योति' नामक आपकी सम्पादित प्रकाशित गीत रचना है। आपकी बहिन ने भी संयम ग्रहण किया है जिनका नाम साध्वी निरूपमाजी म. है।

आप महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. की प्रशिष्या हैं और अपनी सदगुरुणीजी एवं गुरुणी के साथ राजस्थान आदि प्रान्तों में विचरण किया है।

द्वितीय खण्ड : जीवन-दर्शन

(८) महासती श्री राजश्रीजी म. सा.—आपका जन्म ग्राम बगडुन्दा जिला उदयपुर निवासी श्रीमान् गोपीलालजी छाजेड़ की धर्मपत्नी सौभाग्यवती अमृताबाई छाजेड़ की पावन कुक्षि से सं. २०२३ फाल्गुन शुक्ला पंचमी दिनांक १० फरवरी, १९७७ को हुआ। आपका जन्मनाम राधाकुमारी है।

आपने उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. सा. को गुरु बनाकर विदुषी साध्वी श्री चारित्रप्रभाजी म. सा. के पास सं. २०४१ मगसर शुक्ला दशमी, दिनांक २ दिसम्बर, १९८४ के दिन चाँदनी चौक, दिल्ली में दीक्षा ग्रहण की। आप महासती श्री कुसुमवतीजी म. की प्रशिष्या हैं।

आपने मेरठ विश्वविद्यालय से बी. ए. की उपाधि प्राप्त की। पाथर्डी बोर्ड से जैन सिद्धान्त शास्त्री परीक्षा पास की। आपको थोकड़ों और शास्त्र का अच्छा ज्ञान है। आप हिन्दी साहित्यरत्न भी उत्तीर्ण हैं। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओं का आपको अच्छा ज्ञान है। गायन में आपकी विशेष रुचि है।

आपने राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, पंजाब आदि में विचरण किया है।

(९) महासती श्रीप्रतिभाजी म० सा०—आपका जन्म जयपुर निवासी ओसवालवंशी श्रीमान् झंवरलालजी झाबक की धर्मपत्नी सौभाग्यवती किरणदेवी झाबक की पावन कुक्षि से सं. २०२७ भाद्रपद कृष्णा तृतीया दिनांक १५ अगस्त, १९७१ को हुआ था। आपका जन्म नाम प्रवीणाकुमारी है।

आपने उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. सा. को गुरु बनाकर सं. २०४१ मगसर शुक्ला दशमी दिनांक २ दिसम्बर, १९८४ को चाँदनी चौक, दिल्ली में महासती श्री चारित्रप्रभाजी म. सा. के सान्निध्य

में दीक्षा ग्रहण की। आप महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. की प्रशिष्या हैं।

आपने उत्तर प्रदेश बोर्ड से हाईस्कूल परीक्षा व प्रयाग से विशारद परीक्षा उत्तीर्ण की है। आप जैन सिद्धान्त विशारद परीक्षा भी उत्तीर्ण हैं। थोकड़े आदि कण्ठस्थ हैं।

संस्कृत, हिन्दी भाषाओं का आपको ज्ञान है। आपकी विशेष रुचि आज्ञापालन में है।

आपने राजस्थान, पंजाब, दिल्ली आदि प्रान्तों का भ्रमण किया है।

(१०) महासती श्री निरुपमाजी म० सा०—आपका जन्म जामोला (व्यावर) जिला अजमेर निवासी ओसवाल वंशी, बोहरा गोत्रीय श्रीमान् नोरतमलजी की धर्मपत्नी सौभाग्यवती सोहनबाई की पावन कुक्षि से सं. २०२२ माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन हुआ था। आपका जन्मनाम शांताकुमारी है।

आपने उपप्रवर्तक श्री राजेन्द्र मुनिजी म. सा. को गुरु बनाकर पाली (भारवाड़) में विदुषी साध्वी (डॉ.) श्री दिव्यप्रभाजी म. सा. का शिष्यत्व जैन आर्हती दीक्षा ग्रहण कर स्वीकार किया। आपकी दीक्षा सं. २०४३ आश्विन शुक्ला चतुर्दशी दिनांक १६ अक्टूबर, १९८६ को हुई थी। आप महासती श्री कुसुमवतीजी म. सा. की प्रशिष्या हैं।

आपने मैट्रिक पर्यन्त व्यावहारिक शिक्षण प्राप्त कर संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषाओं का अभ्यास किया है। आपको अनेक थोकड़े, ढालें, चौपाइयाँ आदि कण्ठस्थ हैं। महासती श्री अनुपमाजी म. सा. आपकी सांसारिक बहिन हैं।

सेवा विचरण आदि में आपकी विशेष रुचि है। आप संयम-साधना में सदैव अग्रसर रहती हैं। आपका विहार क्षेत्र राजस्थान है।



चातुर्मास सूची

क्रम	संवत्	क्षेत्र	सन्	क्रम	संवत्	क्षेत्र	सन्
१	१९९४	उदयपुर	१९३७	२७	२०२०	डबोक	१९६३
२	१९९५	सलोदा	१९३८	२८	२०२१	जोधपुर	१९६४
३	१९९६	उदयपुर	१९३९	२९	२०२२	सादड़ी (मारवाड़)	१९६५
४	१९९७	उदयपुर	१९४०	३०	२०२३	पाली (मारवाड़)	१९६६
५	१९९८	उदयपुर	१९४१	३१	२०२४	उदयपुर	१९६७
६	१९९९	उदयपुर	१९४२	३२	२०२५	डूंगला	१९६८
७	२०००	उदयपुर	१९४३	३३	२०२६	सेमा	१९६९
८	२००१	उदयपुर	१९४४	३४	२०२७	भीलवाड़ा	१९७०
९	२००२	उदयपुर	१९४५	३५	२०२८	बनेडा	१९७१
१०	२००३	ब्यावर	१९४६	३६	२०२९	अजमेर	१९७२
११	२००४	नाथद्वारा	१९४७	३७	२०३०	अजमेर	१९७३
१२	२००५	उदयपुर	१९४८	३८	२०३१	मदनगंज	१९७४
१३	२००६	ब्यावर	१९४९	३९	२०३२	गुलाबपुरा	१९७५
१४	२००७	डूंगला	१९५०	४०	२०३३	केकड़ी	१९७६
१५	२००८	उज्जैन	१९५१	४१	२०३४	देहली (चांदनोचौक)	१९७७
१६	२००९	कोटा	१९५२	४२	२०३५	देहली (वीर नगर)	१९७८
१७	२०१०	ब्यावर	१९५३	४३	२०३६	जम्मू (कश्मीर)	१९७९
१८	२०११	विजयनगर	१९५४	४४	२०३७	अलवर	१९८०
१९	२०१२	भीलवाड़ा	१९५५	४५	२०३८	उदयपुर	१९८१
२०	२०१३	ब्यावर	१९५६	४६	२०३९	ब्यावर	१९८२
२१	२०१४	डबोक	१९५७	४७	२०४०	मदनगंज	१९८३
२२	२०१५	नाथद्वारा	१९५८	४८	२०४१	मेड़ता सिटी	१९८४
२३	२०१६	भूपालगंज (भीलवाड़ा)	१९५९	४९	२०४२	जयपुर	१९८५
				५०	२०४३	पाली (मारवाड़)	१९८६
२४	२०१७	देलवाड़ा	१९६०	५१	२०४४	नान्देशमा	१९८७
२५	२०१८	बाघपुरा	१९६१	५२	२०४५	नाथद्वारा	१९८८
२६	२०१९	बम्बोरा	१९६२	५३	२०४६	डूंगला	१९८९



॥ ३ ॥

धर्म का समन्वय मनुष्य की हृदयगत सहज आस्था से है, तो दर्शन का सम्बन्ध मस्तिष्क की तर्क-वितर्क प्रधान बुद्धि और विचारणा से जुड़ा है।

दर्शन, धर्म की आधारभूमि है, तो धर्म, दर्शन को जीवन्त रूप प्रदान करता है। दर्शन की सुदृढ़ भूमिका पर स्थिर धर्म सदा अपनी धुरी पर गतिमान रहता है तो धर्म के रूप में अभिव्यक्त और मूर्तिमान दर्शन हर किसी को अपनी कुशलता और उज्वलता की ओर आकर्षित करता है।

प्रस्तुत धर्म और दर्शन खण्ड में अनेकानेक विद्वान् लेखकों, चिन्तकों के महत्त्वपूर्ण विचारों का वह गुलदस्ता प्रस्तुत है जिसमें धर्म का रम्य रमणीय स्वरूप विविध पक्षों को उजागर करता है तो दर्शन की सौरभ उन सबको मन्त्रमुग्धकारी रूप प्रदान करती है।

एक को जानो

हमारी दार्शनिक परम्पराओं में अनेक समान विचार विद्यमान हैं। उनको प्रस्तुत करने के विभिन्न प्रकार हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि किसी तत्त्व का प्रतिपादन निगूढ़ रूप में किया जाता है, जिसका अभिप्राय गहराई से परीक्षण करने पर ही प्रकट होता है। आचार्य किसी एक सूत्र को पकड़ लेते हैं, जिसके आधार पर अनेक विचार प्रकट किये जाते हैं। उन सभी विचारों तथा सूत्रों का परीक्षण सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिए तथा अन्य सन्दर्भों के साथ करना चाहिए। यदि किसी वस्तु का परीक्षण उसके स्वरूप को ही ध्यान में रखकर किया जायगा, तो उसका स्वरूप पूर्णतः प्रकाशित नहीं हो सकता। भारतीय दर्शनों की एक सुदीर्घ परम्परा है। विभिन्न दर्शनों के आलोचन-प्रत्यालोचन से विभिन्न दर्शनों में प्राप्त तत्त्वों में संवाद दृष्टिगत होता है। यहाँ हम जैन-दर्शन में स्वीकृत वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं और देखने का प्रयास कर रहे हैं कि इस प्रकार की मान्यता उपनिषदों में भी मिलती है।

प्रत्येक वस्तु के दो प्रकार के धर्म हैं—(१) भावात्मक धर्म, जिन्हें स्वपर्याय कहा जाता है, और (२) अभावात्मक धर्म, जिन्हें परपर्याय कहा जाता है। भावात्मक धर्म में किसी मनुष्य के सम्बन्ध में उसके आकार, रूप, जाति, कुल, जन्मस्थान, आयु, पद आदि के सम्बन्ध में जानकारी दी जाती है, किन्तु इतने से ही उसका सारा स्वरूप प्रकाशित नहीं हो पाता। वह एक समुदाय में रहता है, अनेक व्यक्तियों से उसके अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं। जब तक उन सम्बन्धों का निरूपण न हो जाय, यह पता न लग जाय कि वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से किन दृष्टियों से भिन्न है, तब तक उस व्यक्ति का पूरा विवेचन नहीं माना जा सकता। उसमें रहने वाले धर्मों को भी जानना है और न रहने वाले धर्मों को भी। किसी भी व्यक्ति के स्वरूप का सर्वाङ्गीण विवेचन उसके भावात्मक तथा अभावात्मक धर्मों को प्रस्तुत करने से ही सम्भव होता है।

स्वपर्याय थोड़े होते हैं, जबकि परपर्याय अनन्त—

“स्तोकाः स्वपर्यायाः परपर्यायास्तु व्यावृत्तिरूपा अनन्ताः।”

—वददर्शन समुच्चय, गुणरत्न की टीका।

—डा० अमरनाथ पाण्डेय

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

संस्कृत विभाग

काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी

जेनदर्शन में कहा गया है कि वस्तु अनन्त धर्मों वाली होती है—अनन्तधर्मकं वस्तु। यह एक सूत्र है, जिससे वस्तु के स्वरूप को सरलता से समझा जा सकता है। जब हम किसी वस्तु के भावात्मक धर्मों के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तब हम देखते हैं कि उस वस्तु के भावात्मक धर्मों की संख्या कम है और जब अभावात्मक धर्मों के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तब यह स्पष्ट होता है कि अभावात्मक धर्म संख्या में बहुत अधिक हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु के अनन्त धर्म हो जाते हैं। समय के अनुसार धर्मों में परिवर्तन भी होता रहता है, नवीन धर्मों की उत्पत्ति भी होती रहती है। एक ही मनुष्य की अवस्था आदि के क्रम से अनेक विशेषताएँ होती हैं और इन विशेषताओं में समय-समय पर परिवर्तन भी होता रहता है। किसी व्यक्ति की किसी स्थिति में प्रशंसा होती है और किसी स्थिति में निन्दा। यह धर्मों में परिवर्तन के कारण होता है।

हमारे सामने प्रश्न है कि किसी वस्तु को ठीक ठीक जाना जाय। हम यह भी जानते हैं कि वस्तु के अनन्त धर्म हैं, जो भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों हैं। जब हम वस्तु को जानेंगे, तो अनन्त धर्मों को जानेंगे, उसके सारे सम्बन्धों को जानेंगे। पूरे जगत् के सन्दर्भ में उसे रखकर उस पर विचार करेंगे। वह वस्तु अकेली नहीं होगी, वह जगत् की अगणित वस्तुओं के सन्दर्भ में होगी। जब उसका मूल्याङ्कन होगा, तो अन्य वस्तुओं के स्वरूप का भी मूल्याङ्कन होगा। 'अनन्तधर्मकं वस्तु' का यही रहस्य है। इसके पीछे बहुत बड़ा भाव छिपा हुआ है।

जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को पूर्णतः जान लेता है, तब यह कहा जा सकता है कि सभी वस्तुओं को जान लेता है। कोई सामान्य व्यक्ति इस स्थिति में नहीं पहुँच सकता। हम प्रतिदिन देखते हैं कि जिसके सम्बन्ध में हमारा यह विचार

है कि हम उसे पूर्णतः जानते हैं, उसे हम पूर्णतः नहीं जानते। आज किसी के साथ मैत्री है, तो कल शत्रुता। आज उसके सम्बन्ध से हमारा लाभ होता है, तो कल हानि। हम किसी से वञ्चित होते हैं, किन्तु वञ्चना के बाद भी हम पुनः उसके सम्पर्क में आते हैं और धोखा खाते हैं। यह क्यों होता है? क्या हम इसके कारणों पर विचार करते हैं? व्यक्ति तो सामान्य रूप से यही समझता है कि किसी व्यक्ति का इतना काम किया, फिर भी वह धोखा देता है। इसके पीछे रहस्य यह है कि हम उस व्यक्ति को नहीं समझते, फलतः हम दुःखित होते हैं। मूल बात तो यह है कि वस्तु के स्वरूप को ठीक से जाना जाय। जब हम किसी महापुरुष के जीवन के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो देखते हैं कि वे व्यवहारों में इस प्रकार दुःखित नहीं होते, जिस प्रकार हम होते हैं। इसका कारण यह है कि वे वस्तु अथवा व्यक्ति के स्वरूप को ठीक-ठीक जानते हैं, अतः व्यवहार में किसी भी प्रकार सन्देह नहीं रहता और न तो आसक्ति रहती है, अतः व्यवहार से किसी भी प्रकार दुःखित होने की बात नहीं उठती। सामान्य व्यक्ति वस्तु के स्वरूप को नहीं जानता, अतः दुःखित होता है।

वस्तु स्वरूप मे सत् है, किन्तु पर रूप से असत्, अतः वस्तु सदसदात्मक है—

सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः ॥

जब किसी घट के सम्बन्ध में विचार उठता है, तो यही कहा जायगा कि उस घट में घटव्यतिरिक्त पदार्थों का अभाव है। घट के ज्ञान के लिए घट के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है और साथ ही घटव्यतिरिक्त पदार्थों का भी ज्ञान आवश्यक है, अतः घट को जान लेने पर अन्य पदार्थों का भी ज्ञान हो जाता है। आगम में कहा गया है कि जो एक को जान लेता है, वह सभी को जान लेता है और जो सभी को जान लेता है, वह एक को जान लेता है—

जे एगं जाणइ से सब्बं जाणइ ।
जो सब्बं जाणइ से एगं जाणइ ॥
‘य एक्कं जानाति स सर्वं जानाति ।
यः सर्वं जानाति स एक्कं जानाति ॥

इसी बात को इस प्रकार से भी प्रकट किया गया है—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः ।
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ॥
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः ।
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टाः ॥

जिसने एक भाव को सब प्रकार से देख लिया है, उसने सभी भावों को सब प्रकार से देख लिया है और जिसने सभी भावों को सब प्रकार से देख लिया है, उसने एक भाव को सब प्रकार से देख लिया है ।

जैन-आचार्यों का यह विवेचन—एक के ज्ञान से सबका ज्ञान—नितांत महत्त्वपूर्ण है । इससे यह प्रकट होता है कि जैन-आचार्यों की दृष्टि में एक सत्ता के सभी विलास हैं । जो तत्त्व एक में विद्यमान है वही अन्य पदार्थों में भी विद्यमान है । इस प्रकार एक के ज्ञान से सभी का ज्ञान सम्भव होता है । वेदान्त-दर्शन में भी यह तत्त्व प्रकाशित किया गया है । वेदान्त मानता है कि एक के अतिरिक्त दूसरा नहीं है । जो कुछ दिखाई पड़ रहा है, वह उस परम सत्ता का ही विलास है ।

उपनिषद् कहती है कि एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है, अतः मुख्य बात यह है कि एक का ज्ञान प्राप्त किया जाय । जिस एक को जान लेने से सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, उसी को जानना चाहिए और वह तत्त्व है—ब्रह्म । ब्रह्म-ज्ञान

से मुक्ति होती है । ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है । जो कुछ दिखाई पड़ रहा है, वह ब्रह्म ही है, अतः यह कथन समीचीन है कि एक को जान लेने से सब-कुछ जान लिया जाता है । जैन-आचार्यों ने उपनिषद् के इस रहस्य को समझा था, अतः उन्होंने एक भाव के दर्शन से सभी भावों के दर्शन की बात कही है ।

“यथा सोम्यकेन मृत्पिण्डेन, सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् [वाचारम्भणं, विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येष सत्यम् ।”

—छान्दोग्योपनिषद् ६/१/१

मिट्टी सत्य है, घट, शराब आदि उसके विकार हैं । जैसे एक मृत्तिकापिण्ड के ज्ञान से मिट्टी के सभी विकारों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि विकार तो वाणी के आश्रयभूत नाम ही हैं, सत्य तो केवल मिट्टी है,^१ उसी प्रकार यह समझना चाहिए कि ब्रह्म ही सत्य है ।

अन्य सभी वस्तुएँ नाममात्र हैं ।

उपनिषदें कहती हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है—

‘इदं सर्वं यदयमात्मा’—(बृहदारण्यक २/४/६),
‘ब्रह्मवेदं सर्वम्’ (मु० २/२/१२),
‘आत्मवेदं सर्वम्’ (छा० ७/२५/२) इत्यादि ।

अद्वैतदर्शन में जिस प्रकार एक तत्त्व के ज्ञान से सभी वस्तुओं के ज्ञान की बात कही गई है, उसी प्रकार जैन-दर्शन में भी एक भाव के ज्ञान से सभी भावों के ज्ञान की बात कही गई है । यह महत्त्वपूर्ण बात है कि किस प्रकार आचार्य अपने दर्शनों के आधार पर चिंतन करते हुए परम तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं ।

१. ‘एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरोबोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद् विज्ञातं भवति । यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयंवाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते—विकारो घटः शराव उदञ्चनञ्चेति ।’

—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य —२/१/१४

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

१८३

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

विभिन्न दर्शनों में अनेक बातें भिन्न-भिन्न संदर्भों में प्राप्त होती हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं, किन्तु यदि उनका संयोजन किया जाय, तो यह पूर्णतः भासित होगा कि उन भिन्न-भिन्न सन्दर्भों के द्वारा एक अभेद का उपस्थापन होता है। यह अभेद ही हमारा लक्ष्य है, क्योंकि उसी से ज्ञान का वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है। जो भेद है, वह दृष्टि में भेद उत्पन्न करता है और वस्तु के स्वरूप पर आवरण डाल देता है। इसी आवरण को हटाना है यह अभेददृष्टि से दूर होता है। इसका उन्मीलन अद्वैत-वेदान्त और जैन-दर्शन में किया गया है। विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि जैनदर्शन एक परम तत्त्व की खोज में लगा हुआ है। प्रक्रियाओं के भेद के कारण भेद दिखाई पड़ रहा है। यह भेद साधनागत भेद है, लक्ष्य का भेद नहीं। उस लक्ष्य की खोज करनी है, जो एक है। अनेक की दृष्टि भ्रान्ति दृष्टि है। असत् का अपलाप करना है, क्योंकि उसका कोई भाव नहीं है। जानना है उस सत् को, जिसका अभाव नहीं है।

जैनदर्शन एक को जानने के लिए जिस पद्धति का निर्देश करता है, वह भी विविक्त मार्ग है। केवल वही मार्ग है, ऐसी बात नहीं है। जैनदर्शन में विचार की यह उदात्तता है कि वह दूसरे मार्गों के भी महत्व को स्वीकार करता है और यह केवल स्थूल विचार के धरातल पर नहीं है। इसके मूल में चित्त के धरातल पर विद्यमान अहिंसा है। यहीं से निकलती है विचार की उदात्तता और सिद्धान्तों के गर्भ में पलती है प्रेम की भावना। न केवल विचार के क्षेत्र में यह औदार्य है, अपितु व्यवहार के क्षेत्र में

भी यही दिखाई पड़ रहा है। इस प्रकार जैन-दर्शन का अन्तस्थल और बाह्यरूप पूर्णतः निर्मल और निष्कपट हो जाता है। यह तभी सम्भव होता है, जब यह जान लिया जाता है कि एक भाव है, एक सत्ता है, एक तत्त्व है, और उसी के सभी विलास हैं। वर्तमान परिस्थितियों में यह परम आवश्यक हो गया है कि एक को जानो, भेद को नष्ट करो। जिससे हमारा देश अखण्डित रहेगा, वह अभेद की दृष्टि है।

जब-जब समाज में अनेक वादों का प्रचार हुआ है, तब-तब विषमताएँ उत्पन्न हुई हैं और मनुष्य का मार्ग धुंधला हो गया है। उस परिस्थिति में कोई ऐसा आचार्य उत्पन्न होता है, जो अभेद-दृष्टि का उपस्थापन करता है। इससे मानव अपने निश्चित लक्ष्य को देख पाता है और उचित मार्ग पर चल पड़ता है। शंकराचार्य के पहले अनेक वाद प्रचलित थे और मनुष्य निश्चित नहीं कर पाता था कि उसका मार्ग क्या है। शंकराचार्य ने स्थिति की गम्भीरता को पहचाना और अद्वैत का उपदेश दिया। इससे देश का कल्याण हुआ, अखण्ड भारत का स्वरूप सामने आया तथा सांस्कृतिक परम्परा की व्याख्या का मार्ग प्रशस्त हुआ। आज शंकराचार्य के समय की परिस्थिति विद्यमान है। समाज में अनेक वाद प्रचलित हो रहे हैं और मनुष्य भटक रहा है। इस समय समाज को आवश्यकता है अभेद की दृष्टि की। जैनदर्शन में जिस अभेद-दृष्टि की प्रतिष्ठा मिलती है, उसकी निभ्रान्ति अवतारणा होनी चाहिए। इससे देश का कल्याण हो सकेगा और विश्व की मानवता को उचित प्रकाश मिल सकेगा।

—५—

यतनाशील (जागरूक) साधक का अल्प, कर्मबन्ध अल्पतर होता जाता है और निर्जरा तीव्र, तीव्रतर। अतः वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

—निर्णय भाष्य ३३३५

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

जैन दर्शन-सम्मत आत्मा का स्वरूप- विवेचन

भारत के दार्शनिक चिन्तन-क्षितिज में आत्म-विचारण के द्योतक दो मौलिक सिद्धान्त, सर्वप्रथम प्रकाशयमान दिखलाई पड़ते हैं। ये हैं— (१) भूतचैतन्यवाद, और (२) स्वतन्त्र जीव/आत्म-वाद ! इनमें प्रथम भूत चैतन्यवादी चिन्तन का विकास विस्तार, कई प्रकार के अवान्तर सिद्धान्तों में परिस्फुरित हुआ, तो दूसरे स्वतन्त्र जीव/आत्मवादी चिन्तन ने विविध-चिन्तनपरक स्वतन्त्र विचारणाओं की कई पप-पगएँ विकसित कीं। इन सबकी सैद्धान्तिक-चर्चा और समीक्षात्मक-विचारणा के लिए साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ^१ में प्रकाशित मेरे लेख को देखा जा सकता है। उन्हीं चर्चाओं के सन्दर्भ में, जैन दार्शनिक आत्म-सिद्धान्तों के अन्तर्गत जीव-आत्मा का स्वरूप-अस्तित्व-विवेचन इस लेख का लक्ष्य है।

जैनदर्शन में छः द्रव्य माने गये हैं—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें 'जीव' प्रमुख द्रव्य है। शेष पाँचों द्रव्य 'अजीव' हैं। इन अजीव-द्रव्यों के साथ जब जीव का सम्बन्ध जुड़ता है, तब, विश्व का विस्तार होता है, और इस जगत् की समग्र-प्रक्रिया सतत् गतिमान बनी रहती है। जैन दार्शनिकों ने 'जीव' द्रव्य के लिये 'आत्मा' शब्द का भी प्रयोग किया है। अतः जहाँ-जहाँ भी 'जीव' की विवेचना की गई है, उसे 'आत्मा' की भी विवेचना मानना चाहिए। तथापि, 'जीव' और 'आत्मा' दो अलग-अलग शब्द हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थबोध एक ही द्रव्य में कैसे होता है? यह जानने के लिये दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति, लक्षण और व्याख्या भी अपेक्षित है।

—डॉ. एम० पी० पट्टेरिया
संस्कृत विभाग
एस. डी. डिग्री कालेज मठलार
(देवरिया)

७७

'सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः' इस वचन के अनुसार 'गमन' का अर्थ 'ज्ञान' होता है। इस आधार पर 'अतति-गच्छति-जानाति इति आत्मा'—यह व्युत्पत्ति 'आत्मा' की की गई है अर्थात्, शुभ-अशुभरूप कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार यथासम्भव तीव्र-मन्द आदि रूपों में, समग्रतः ज्ञान-आदि गुणों में रहते हैं। ज्ञानादिगुण जीव/आत्मा द्रव्य के हैं। अतः उक्त व्युत्पत्ति, इन्हीं गुणों के आधार पर की गई मानी जा सकती है। अथवा, 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का त्रिक जिसमें है,' वह आत्मा है।^२ 'जीव' वह है, 'जो चार-प्राणों से जीवित है, जीवित था, और जीवित रहेगा।' अर्थात्, 'जीवित रहने का गुण जिसमें त्रिकालिक/सार्वकालिक है, वह जीव है। प्राणों के यद्यपि दश प्रकार हैं। किन्तु वे मूलतः चार ही माने गये हैं। ये हैं—बाल प्राण, इन्द्रिय-प्राण, आयु प्राण और श्वासोच्छ्वास।^३ इनमें से बल प्राण के तीन प्रकार हैं—कायबल, मनोबल और वाक्-बल। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र भेदों से इन्द्रिय-प्राण के पाँच प्रकार होते हैं। इन आठों के

साथ श्वासउच्छ्वास को मिलाकर, प्राणों की दश संख्या हो जाती है।

उक्त चार-प्राणों से युक्त 'जीव' है, यह कथन, व्यावहारिक दृष्टि से किया गया है। निश्चयदृष्टि से तो 'जीव' वह है जिसमें 'चेतना' पाई जाये। यह चेतना, तीनों कालों में निराधि और अविच्छिन्न रूप से जीव में रहती है।¹⁴ इस आधार पर हम यह कह सकते हैं—इन्द्रिय-आदि दश प्रकार के प्राण पुद्गल/द्रव्यमय हैं। अतः वे 'द्रव्य प्राण' हैं; और 'चेतना' भाव प्राण है। मुक्त-आत्माओं में दश प्रकार के द्रव्य प्राण नहीं रहते। तथापि चेतना रूप भाव प्राणों का अस्तित्व उनमें रहता है। इसी आधार पर उन्हें भी जैन दार्शनिक 'जीव' संज्ञा का व्यवहार करते हैं।¹⁵

जीव का लक्षण

जैन दृष्टि, जीव का लक्षण 'उपयोग' मानती है। उपयोग वह है, जो यथासम्भव 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' दोनों प्रकार के हेतुओं का सन्निधान रहने पर, ज्ञाता के चैतन्य के अनुविधायी-परिणाम रूप में प्राप्त होता है। उक्त दोनों हेतुओं को 'आत्मभूत' और 'अनात्मभूत' दो-दो प्रकारों में विभाजित किया गया है। आत्मा से सम्बन्धित शरीर की चक्षु आदि इन्द्रियाँ 'आत्मभूत बाह्य हेतु' हैं, तथा दीपक आदि 'अनात्मभूत बाह्य हेतु' हैं। शरीर, वाणी और मन की वर्गणाओं के निमित्त से आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन पैदा करने वाले द्रव्य योग को 'अनात्मभूत आभ्यन्तर हेतु' कहा गया है। जबकि, इसी द्रव्य योग के निमित्त से उत्पन्न ज्ञान-दिरूप 'भावयोग' को तथा 'आत्मविशुद्धि' को 'आत्मभूत आभ्यन्तर हेतु' कहा गया है।

उपयोग, दो प्रकार का है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। दर्शनोपयोग 'निर्विकल्पक' तथा ज्ञानोपयोग 'सविकल्पक' होता है। अतः व्यवहारदृष्टि से जीव का लक्षण करते समय कहा जायेगा—'ज्ञान और दर्शन उपयोग का जो धारक है, वह 'जीव' है।' किन्तु, शुद्ध निश्चय दृष्टि से शुद्ध ज्ञान-दर्शन को ही जीव का लक्षण माना जायेगा।¹⁶

जीव का स्वरूप

जीव का स्वरूप दो प्रकार का है—शुद्ध स्वरूप और अशुद्ध स्वरूप। विभिन्न प्रकार के कर्मों के साथ जब तक जीव का सम्बन्ध है और जन्म-मरण-आदि कर्मजन्य विभाव पर्यायों के रूप में उसका परिणमन जब तक हो रहा है, तब तक वह 'अशुद्ध स्वरूप' वाला रहता है। किन्तु, जब गुप्ति, समिति-आदि रूप संवर-निर्जरा के द्वारा घातिकर्मों का क्षय करके अनन्तचतुष्टय से युक्त हो जाता है, तब वह 'विशुद्ध' स्वरूप वाला हो जाता है, और, बाकी बचे चार अघाति कर्मों को भी जब नष्ट कर देता है, तब, आठ अनन्त गुणों वाला होकर 'परमात्मा' कहलाने का हकदार हो जाता है। इसी अवस्था में उसे 'सिद्ध' कहा जाने लगता है।¹⁷

जीव का परिणमन

यह जगत्, पर-परिणमनात्मक है। इसमें, ज्ञानावरण-आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, अयोपशम के अनुसार क्रोध, मान आदि रूप जो संख्यातीत मलिन भाव पैदा होते हैं, उन्हें 'वैभाविक' और 'स्वाभाविक' दो भागों में विभाजित किया गया है।¹⁸ अर्थात् जीव, संसारी-अवस्था में, अपनी वैभाविक-शक्ति से कर्म निमित्त के अनुसार क्रोध, मान, माया-आदि विभाव रूपों में परिणमित होता है; और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाने पर, अपनी उसी शक्ति से, मुक्त-अवस्था में भी वह केवलज्ञान-आदि स्वभावरूप में परिणमन करता है। इसी आधार पर जीव परिणमन के उक्त दो प्रकार किये गये हैं। वैभाविक, संक्षेपतः तीन प्रकार का है—औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक। कर्मों के उदय से प्राप्त 'गति'-आदि इक्कीस प्रकार का है औदयिकभाव।¹⁹ जबकि कर्मों के उपशम से उत्पन्न औपशमिक भाव 'उपशमसम्यक्त्व' एवं 'उपशम-चारित्र्य' नाम से दो प्रकार का है।¹⁰ कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न क्षायोपशमिक भाव के अट्ठारह प्रकार होते हैं।¹¹

विभाव-कर्मों का उत्पादक-कर्म मुक्त-अवस्था में विद्यमान नहीं रहता। इस कारण वहाँ विभाव-

पर्याय नहीं होते। विभाव-पर्यायों के बीजभूत कर्म का अभाव होने से मुक्त-अवस्था में विभाव-पर्यायों उत्पन्न ही नहीं होतीं। बल्कि अनन्दानन्त-अगुरु-लघु गुण के कारण जीव का परिणमन वहाँ 'स्व-धर्म' रूप में ही होता है। जिससे मुक्त-आत्माओं में और उनके गुणों में भी षड्स्थान पतित हानि-वृद्धि के कारण उत्पाद-व्यय रूप स्वाभाविक-पर्याय ही उत्पन्न होते हैं।¹²

जीव की मूर्तता/अमूर्तता

जैन दर्शन में आत्मा की कथञ्चित् मूर्तता और कथञ्चित् अमूर्तता मानी गई है। आत्मा, अनादि-काल से ही पुद्गलरूप कर्मों के साथ नीर-क्षीर जैसा मिश्रित है। चूँकि, पुद्गल का स्वरूप 'मूर्त' है; इस दृष्टि से जीव की मूर्तता मानी गई है। वस्तुतः तो आत्मा अतीन्द्रिय—इन्द्रियों से अगम्य-पदार्थ है। इसी शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से उसमें अमूर्तता भी है।

पुद्गल, रूपी-रूपवान् पदार्थ है। उसमें श्वेत, नील, पीत, अरुण और कृष्ण पाँच-वर्ण, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर पाँच रस, सुगन्ध-दुर्गन्ध रूप दो-गन्ध, तथा शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मृदु-कर्कश, गुरु-लघु रूप आठ स्पर्श भी सदा विद्यमान रहते हैं। पुद्गल से संयुक्त होने के कारण सारे के सारे वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श का योग आत्मा में भी हो जाता है। अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित होने के कारण, मूर्त-पञ्चेन्द्रिय विषयों में आसक्त होने के कारण, मूर्त-कर्मों को अजित करने के कारण तथा मूर्त-कर्मों के उदय के कारण व्यावहारिक-अपेक्षा से उसे मूर्त माना जाता है।¹³

शुद्ध निश्चयदृष्टि से तो जीव/आत्मा, अमूर्त-स्वभाव वाला ही है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—आदि पुद्गल भावों से वह रहित है। 'चैतन्य' होने के कारण धर्म, अधर्म आदि चार मूर्त-पदार्थों से भी वह भिन्न है, और एकमात्र शुद्ध-बुद्ध-स्वभाव का धारक होने से 'अमूर्त' भी है।

अतीन्द्रियता/अलिङ्गग्रहणता

आत्मा, इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का ग्रहण नहीं

करता। यह उसका पारमार्थिक स्वभाव है। अन्य जीव भी अपनी-अपनी इन्द्रियों के द्वारा इसे नहीं जान पाते। क्योंकि, एक तो यह अतीन्द्रिय-पदार्थ है; दूसरे, स्व-संवेदनज्ञान से ही इसे जाना जाता है। जिस प्रकार धुँआ-रूप लिङ्ग—चिह्न को देख कर 'अग्नि' का ज्ञान होता है, इस प्रकार के किसी लिङ्ग/चिह्न को देखकर, किसी भी पदार्थ को आत्मा नहीं जानता। बल्कि, अपने अतीन्द्रिय-प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा ही यह समस्त पदार्थों को जानता है। इसी तरह, दूसरे जीव भी किसी इन्द्रियगम्य लिङ्ग विशेष को देखकर आत्मा का अनुमान नहीं करते। इसीलिये इन्द्रियों से अग्राह्यता, शब्दों से अवाच्यता और अतीन्द्रिय-स्वभावता होने के कारण, आत्मा की अलिङ्गग्रहणता सिद्ध होती है।¹⁴

बन्धन-बद्धता

यद्यपि आत्मा, वस्तुतः अमूर्त और अतीन्द्रिय है, तथापि ज्ञान दर्शन-स्वभावी होने के कारण मूर्त-अमूर्त द्रव्यों का द्रष्टा और ज्ञाता भी है। इस जानने-देखने से ही उसका अन्य द्रव्यों के साथ बन्ध होता है। यदि यह ज्ञाता-द्रष्टा न होता, तो बन्धन को भी प्राप्त न करता। चूँकि यह देखता है, जानता है, इसी से बन्धन में बँधता भी है।¹⁵

कोई एक बालक, मिट्टी के किसी खिलौने को आत्मीयता से देखता है, और उसे आत्मीय/अपना जानता/मानता है। किन्तु वह मिट्टी का खिलौना, वस्तुतः उस बालक से सर्वथा भिन्न है। उससे उसका किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता; तो भी, उस खिलौने को यदि कोई तोड़ता है, उससे छिनता है, तो वह बालक खिन्न हो जाता है। बालक और खिलौना, दोनों ही वस्तुतः अलग-अलग हैं। तब फिर खिलौने के टूट-फूट जाने, या छिन जाने से बालक को खिन्नता क्यों होती है? चूँकि बालक, उस खिलौने को अपनत्व-भाव से देखता है; अर्थात्, उस बालक का ज्ञान, खिलौने के कारण, तदाकार रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए 'पर-रूप' खिलौने के साथ उसका व्याव-

हारिक-सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसी तरह आत्मा का पुद्गल/द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि अनादिकाल से पुद्गल-क्षेत्र में अवगाहन करते रहने के कारण, उसके प्रति राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्धोपयोग बन जाता है। इसी अशुद्ध-उपयोग के कारण भावात्मक रूप में पुद्गल/पदार्थ से बंध जाता है। इस बन्धन को हम 'भाव-बन्ध' कह सकते हैं।¹⁶

अशुद्ध-उपयोग से उत्पन्न राग-द्वेष-मोह भावों से जब-जब भी ज्ञेय-पदार्थों को आत्मा देखता है, या जानता है, तब-तब उसकी चेतना में विकार पैदा होने लगता है। इसी विकार के परिणाम-रूप में राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होते हैं, जो 'भाव-बन्ध' का आकार ग्रहण कर लेते हैं। भाव बन्ध का प्रारम्भ हो जाने पर, तदनुसारी द्रव्य-कर्मों का बंध भी हो जाता है।

आशय यह है, कि पर-उपाधियों से उत्पन्न, चेतना के विकार-रूप राग-द्वेष-मोह-परिणामों से आत्मा बँधता है। इन्हीं परिणामों के कारण, एक ही क्षेत्र/स्थान/आकृति में 'जीव' और 'कर्म' का पारस्परिक बन्ध होता है। तब, पुद्गल कर्म-वर्ण-णाओं की, यथायोग्य स्निग्ध-रूक्ष गुणों के अनुसार होनेवाली पारस्परिक बद्धता जो एक-पिण्ड आकृति ग्रहण करती है, उसे 'द्रव्य-बन्ध' कहते हैं।¹⁷

कथञ्चित् कर्तृत्व

आत्मा, व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से पर-पर्यायों में निमज्जन करता हुआ पुद्गल कर्मों का, अशुद्ध-निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से राग आदि चेतन-भावों/कर्मों का, शुद्ध-द्रव्याधिक-निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से शुद्ध-ज्ञान-दर्शन आदि आत्मभावों का कर्ता होता है। यद्यपि, ये ज्ञान-दर्शन-आदि भाव से आत्मा से अभिन्न हैं; तथापि पर्यायाधिक दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न-स्वरूप वाले होने के कारण आत्मा से भिन्न भी। इसलिए -आत्मा, अपने ज्ञान-दर्शन आदि का भी कथञ्चित् कर्ता होता है।¹⁸

राग-आदि विकल्प-उपाधियों से रहित, निष्क्रिय और परम चेतन्य भाव से रहित जीव ने राग आदि को उत्पन्न करने वाले जिन कर्मों को उपाजित कर लिया है, उनका उदय होने पर, निर्मल आत्मज्ञान को प्राप्त करता हुआ 'भावकर्म' कहे जाने वाले राग आदि विकल्प-रूप चेतन कर्मों का कर्ता, अशुद्ध निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से कहलाता है। शुद्ध निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से तो चेतन कर्मों का ही कर्ता होता है।

छद्म अवस्था में, शुभ-अशुभ काय-वाङ्-मनो-योग के व्यापार से रहित, एकमात्र शुद्ध स्वभाव-रूप में, जब जीव का परिणमन होता है, तब, भावना रूप से विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से अनन्त-ज्ञान-सुख आदि शुद्ध भावों का कर्ता होता है। जबकि मुक्त अवस्था में, शुद्धनिश्चय दृष्टि की अपेक्षा से ज्ञान आदि शुद्ध भावों का कर्ता होता है।

जीव में शुद्ध-अशुद्ध भावों के परिणमन का ही कर्तृत्व मानना चाहिए, न कि हाथ-पैर आदि व्यापार रूप परिणमन का। क्योंकि, नित्य, निरञ्जन, निष्क्रिय-स्वरूप भाव से रहित जीव में ही कर्म आदि का कर्तृत्व बनता है। अर्थात्—आत्मा, व्यवहार से पुद्गल कर्मों का, निश्चय से चेतन कर्मों का और शुद्धनय से शुद्धभावों का ही कर्ता होता है।¹⁹

कथञ्चित् अकर्तृत्व

'परिणाम' और 'परिणामी' में परस्पर अभेद होने से, परिणामी अपने ही परिणामों का कर्ता होता है।²⁰ चूँकि, जीव का परिणमन जीवन-क्रिया रूप में ही होता है, इसलिए जीव का परिणाम जीव ही होता है। जिस किसी द्रव्य में, जो भी परिणाम रूप क्रियाएँ होती हैं, इन क्रियायों के साथ वह द्रव्य तन्मय हो जाता है। इसी तरह जीव को भी अपनी क्रियाओं में तन्मयता के कारण, वे क्रियाएँ/परिणाम भी जीवमय बन जाते हैं। जो क्रियाएँ जीव के द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक की जाती हैं,

वे 'कर्म' हैं। इसलिए आत्मा, जब राग-द्वेष आदि विभाव-परिणाम वाली अपनी क्रियाओं के साथ तन्मय हो जाता है, तब उसकी 'तन्मयता' उसका 'भावकर्म' बनती है। इसी आधार पर आत्मा भावकर्मों का ही कर्ता ठहरता है, द्रव्यकर्मों का नहीं।²¹

चूँकि परिणाम और परिणामी में एकत्पत्ता होती है, और परिणामों का कर्ता भी परिणामी ही होता है। इसलिए पुद्गल का परिणाम भी पुद्गल ही होगा। परिणाम रूप क्रियाओं के साथ सारे के साथ द्रव्य तन्मय बन जाते हैं। अतः पुद्गल का परिणाम भी पुद्गल क्रियामय है, यह मानना चाहिए। जो 'क्रिया' है, वही 'कर्म' है। इसलिए पुद्गल में पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणामों का ही कर्तृत्व, एक स्वतन्त्र कर्ता के रूप में बनता है, न कि जीव के भावकर्मरूप-परिणामों का। इस तरह, पुद्गल रूप द्रव्यकर्मों का कर्तृत्व, पुद्गल में ही ठहरता है। आत्मा में द्रव्यकर्मों का कर्तृत्व व्यवस्थित नहीं हो पाता।²²

द्विप्रदेशी आदि पुद्गल परमाणुओं के स्कन्ध, स्निग्ध-रुक्ष-गुणों की परिणमन-शक्ति के अनुसार, स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' जाति के पृथ्वी-जल-अग्नि-वायुकायिक भी, स्निग्ध-रुक्ष भावों के परिणामों से, पुद्गल स्कन्ध पर्यायों में उत्पन्न होते हैं। इन परिणमनों में आत्मा/जीव की आवश्यकता रंचमात्र भी अपेक्षित नहीं होती।²³

अनादिबन्ध के योग से जीव अशुद्ध भाव में परिणमन करता है। इस अशुद्ध-परिणाम के बहिरंग/बाह्य-बन्धरूप निमित्त कारण को प्राप्त करके कर्म वर्गणाएँ, अपनी ही अन्तरंग शक्ति के बल पर आठ कर्मों के रूप में परिणमित होती हैं। चूँकि ये कर्मवर्गणाएँ, स्वतः ही परिणमनशील हैं। इसलिए, इनके परिणामों का कर्ता भी आत्मा नहीं होता।

'लोक' में सर्वत्र अनंतानंत कर्मवर्गणाएँ भरी

हुई हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि लोक के हर-एक प्रदेश/स्थान में जीवों की सत्ता है और सबत्र ही कर्मबन्ध के योग्य पुद्गल वर्गणाएँ भी विद्यमान हैं। इसलिए जीव, जहाँ भी जिस रूप में परिणमन करता है, वहाँ, वैसी ही कर्मवर्गणाएँ, उसके परिणामानुसार बन्ध जाती हैं। इस स्थिति से स्पष्ट है कि आत्मा, कर्मवर्गणाओं को बंधने के लिए प्रेरित तक नहीं करता। क्योंकि, जीव जहाँ है, वहाँ अनन्त कर्मवर्गणाएँ भी हैं। अतः उन दोनों का पारस्परिक बन्ध, स्वतः ही वहाँ हो जाता है। इसलिए, आत्मा, न तो पुद्गल पिण्ड रूप कार्माण-वर्गणाओं का कर्ता ठहरता है, न ही उनका वह प्रेरक होता है।²⁴

कथञ्चित् भोक्तृत्व

व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा को सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मफलों का भोक्ता माना जाता है। निश्चय-दृष्टि से तो चेतन भाव का ही वह भोक्ता ठहरता है।²⁵ जो आत्मा, स्व-शुद्ध-आत्मज्ञान से प्राप्त होने वाले पारमार्थिक-सुखामृतस का भी भोग नहीं करता है; वही आत्मा, उपचरित-असद्भूत व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा से, पंचेन्द्रिय विषयों से उत्पन्न इच्छित/अनिच्छित सुख-दुःखों का भोक्ता होता है। इसी तरह, अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से अनन्तसुख-दुःखों के उत्पादक द्रव्यकर्मरूप साता-अमाता-उदय को भोगता है। यही आत्मा, अशुद्ध-निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से हर्ष-विषाद रूप सुख-दुःख का भी भोक्ता है। जबकि शुद्ध निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से, परमात्मस्वभाव के परिचायक सभ्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण का, और इनसे उत्पन्न अविनाशी-आनन्द-लक्षण वाले सुखामृत का भोक्ता है।

स्वदेह प्रमाणता

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह-प्रभृति समस्त राग आदि विभाव, देह में ममत्व के कारण हैं। इनमें आसक्ति होने के कारण और निश्चयदृष्टि से स्व-

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

१८६

देहभिन्न, किन्तु केवलज्ञान आदि अनन्तगुणराशि से अभिन्न शुद्ध-आत्मस्वरूप को प्राप्त न कर पाने के कारण, जीव जिस 'नामकर्म' को उपाजित करता है, उसका उदय होने पर, जिस गुरु-लघु-देह को प्राप्त करता है, उसी के प्रमाण वाला वह होता है। आत्म-प्रदेशों के उपसंहार-प्रसर्पण स्वभाव से भी उसकी स्व-देह प्रमाणता सिद्ध होती है।

जैसे एक दीपक, छोटे से कमरे में रखने पर, उस छोटे कमरे में रखी हुई समस्त वस्तुओं को जिस तरह प्रकाशित करता है, उसी तरह, लम्बे-चौड़े कमरे में उसे रख देने पर, उस पूरे कमरे में रखी हुई वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसी तरह आत्मा भी गुरु—बड़े आकार के शरीर में स्थित रहकर अपने प्रसर्पण-स्वभाव से गुरु देह प्रमाणता का धारक बनता है। जबकि सूक्ष्म-शरीर-स्थिति में उपसंहार-स्वभाव से सूक्ष्म-शरीर प्रमाणता का धारक बनता है। किन्तु, वेदना, कषाय, विक्रिया, आहारक, मारणान्तिक, तैजस और केवली नामक समुद्घात दशाओं में उसकी देह प्रमाणता नहीं रह जाती।

'समुद्घात' का अर्थ होता है—'अपने मूल-शरीर को छोड़े बिना ही, आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलकर उत्तर देह की ओर जाना।¹²⁶ स्पष्ट है, समुद्घात की उक्त सातों अवस्थाओं में, आत्मा, अपने शरीर में ही स्थित नहीं रह जाता, वरन् तत्तत् समुद्घात दशा के अनुरूप, देह से बाहर भी निकल पड़ता है।

लोक-व्यापकता

आत्मा की गुरु-लघु देह प्रमाणता, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार-दृष्टि की अपेक्षा से ही है। निश्चयदृष्टि से आत्मा लोकाकाश प्रमाण या असंख्येय प्रदेशप्रमाण ही है।¹²⁷ अर्थात् स्व-संवित्ति समुत्पन्न केवलज्ञान को अवस्था में, ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा को, व्यावहारिक दृष्टि से 'लोक व्यापक' माना गया है। इसी तरह, पाँचों इन्द्रियों और

ज्ञान के विकल्प से रहित सभाधिकाल में आत्मज्ञान-रूप ज्ञान के विद्यमान होने पर भी, बाह्य-विशेष-रूप इन्द्रियों का ज्ञान न हो पाने के कारण आत्मा को 'जड़' भी माना गया है। इसी अवस्था में राग-द्वेष आदि विभाव परिणामों का अभाव हो जाने से उसे 'शून्य' भी कहा जाता है। और, इसे अणु-मात्र शरीर वाला कहने के अभिप्राय में उत्सेघ-घनांगुल-असंख्येय भागमात्र लब्धि-अपूर्णसूक्ष्म-निगोद शरीर को ही ग्रहण करने का भाव निहित है न कि पुद्गलपरमाणु के ग्रहण का भाव।

यहाँ 'गुरु' शब्द से एक सहस्र योजन परिमाण वाले महामत्स्य शरीर का, और 'मध्यम' शब्द से मध्यम-आकार वाले शरीरों का ही ग्रहण किया जाता है। आशय यह है कि व्यवहारदृष्टि से आत्मा, समुद्घात अवस्था को छोड़कर, अपने संकोच-विस्तार स्वभाव से गुरु-लघुदेह प्रमाण वाला है। निश्चयदृष्टि से तो लोक-प्रमाण-असंख्येय प्रदेश वाला है।

देहान्तरता

सांसारिक दशा में, क्रमशः होने वाली विभिन्न अवस्थाओं में एक ही आत्मा रहता है। चूँकि, एक शरीर में एक ही आत्मा की प्रवृत्ति होती है, इसलिए, उस शरीर की समस्त पर्याय-परम्परा में वही आत्मा रहता है, कोई नया आत्मा, अलग-अलग पर्यायों में पैदा नहीं होता। यद्यपि व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा से आत्मा और शरीर, दोनों ही, एक ही शरीर में नीर-क्षीर की तरह मिश्रित एक ही आकार में रहते हैं। तथापि, निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से वह, देह में मिश्रित होकर भी एकरूपता प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि आत्मा, अपने स्वरूप के अनुसार देह से भिन्न ही होता है, किन्तु वही आत्मा, जब शुद्ध-राग-द्वेष परिणामों से संयुक्त होता है, तब, ज्ञानावरण-आदि कर्मों से मलिन होकर संसार में परिभ्रमण करता है।¹²⁸

यद्यपि आत्मा, शरीर आदि पर-द्रव्यों से भिन्न है, तथापि, संसारावस्था में अनादिकर्म-सम्बन्ध से

और विभिन्न प्रकार के विभाव भावों का धारण करने से, नये-नये कर्मों से बंधता रहता है। इन्हीं कर्मों के कारण पुनः एक देह से दूसरा देह प्राप्त करता रहता है।

प्रदेश प्रमाणता

प्रत्येक समय में हो रही षड्गुण हानि वृद्धि से अनन्त-गुरुलघु गुणों की उत्पत्ति होती रहती है। ये गुण, आत्मा के अगुरुलघुस्वभाव से अविनाभावी होते हैं और आत्मा की स्थिति के अतिसूक्ष्म कारण बनते हैं। जितने भी जीव हैं, वे सभी, इन गुणों से परिणत होते हैं। कोई जीव ऐसा भी नहीं है, जिसमें ये गुण न हों। सभी जीव लोक प्रमाण-असंख्येय प्रदेशी हैं। इनमें से कुछ जीव, किसी प्रकार, दण्ड कपाट आदि अवस्थाओं में घनाकार रूप समस्त लोक प्रमाणता को प्राप्त कर लेते हैं, और समस्त जाति कर्मों के उदय से लोकप्रमाण विस्तार को प्राप्त करते हैं। इसी कारण, समुद्रघात की अपेक्षा से, कुछ जीवों को लोकप्रमाण माना गया है। समुद्रघात की अभाव दशा में जीवों को असवलोक प्रमाण ही माना गया है।

नित्यानित्यता

पूर्वलिखित लक्षणों से युक्त जीव को सहज शुद्ध चैतन्य पारिणामिक भावों से अनादि-अनन्तता होती है, और अपने स्वभाव से तीनों ही कालों में टड्को-त्कीर्ण विनाशी होकर औदयिक एवं क्षायोपशमिक भावों से सादि-सान्ता भी होती है। आत्मा का स्वभाव कर्मजनित है, इस दृष्टि से, कर्मजनित औदयिक-आदि भाव भी उसके हैं। कर्म का स्वभाव है बंधना और निर्जरित होना। अतः कर्म में भो सादि-सान्ताता है। इसी अपेक्षा से जीव में भी सादि-सान्ताता बन जाती है।

यही जीव, क्षायिकभाव की अपेक्षा से सादि-अनन्त भी होता है। क्षायिकभाव, कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है। अतः जीव में सादिता के साथ अनन्तकालिक स्थिति बन जाने से अनन्तता भो आ

जाती है। सत्ता-स्वरूप की दृष्टि से तो जीव राशि में अनन्तता रहती ही है।

‘भव्य’ और ‘अभव्य’ भेद से जीव के दो प्रकार हैं। अभव्य जीव अनन्त हैं। इनसे भी अनन्तगुणा अधिक भव्य जीव हैं। अतः भव्य जीव भी अनन्त हैं। अनादि कर्म सम्बन्ध के कारण, आत्मा अशुद्ध भाव से परिणमन करता है। इससे वह ‘सादि-अन्त’ और ‘सादि-अनन्त’ भी होता है। कीचड़ मिला जल अशुद्ध होता है। कीचड़ के ‘सम्मिश्रण’ और ‘अभाव’ की स्थितियों के आधार पर उसे क्रमशः ‘अशुद्ध’ और ‘शुद्ध’—जल कहा जाता है। इसी प्रकार, आत्मा में भी कर्म सम्बन्ध की ‘संयोग’ और ‘विप्रयोग’ स्थितियों के अनुसार ‘सादि-अन्तता’ और ‘सादि-अनन्तता’ बन जाती है।²⁹

इन पूर्वोक्त भाव परिणतियों वाला जीव, जब मनुष्य आदि पर्याय को प्राप्त करता है, तब, उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से उसमें ‘विनाशात्मकता’ आ जाती है। क्योंकि, मनुष्य-आदि पर्याय ‘विनाशी’ हैं। और, चूँकि देव-आदि पर्यायों को उसने प्राप्त नहीं किया है, इससे देव-आदि पर्यायों उसके लिए ‘उत्पाद’ रूप बनी रहती है। इस कारण उसमें ‘उत्पादकता’ भी बनी रहती है। इस उत्पाद-व्ययात्मकता अथवा विनाश-उत्पादकता के कारण भी जीव में ‘अनित्यता’ रहती है। तथापि वह, मनुष्य-देव आदि पर्यायों में ‘जीव’ रूप से सदा विद्यमान रहता है। इससे उसकी ‘नित्यता’ भी सिद्ध होती है। जैसे जल, तरंग-कल्लोल आदि की अपेक्षा से उत्पाद व्ययात्मक स्वरूप वाला, अतएव ‘अनित्य’ कहा जाता है। परन्तु जलरूप द्रव्यात्मकता के कारण ‘नित्य’ भी सिद्ध होता है। ठीक इसी प्रकार, जीव भी द्रव्य दृष्टि से ‘नित्य’ है। जबकि गुण-पर्यायों की दृष्टि से ‘अनित्य’ ही है। जीव/आत्मा की नित्यानित्यता का यही स्वरूप है।³⁰

द्विविधरूपता

द्रव्य की दो शक्तियाँ हैं—क्रियावती शक्ति

और भाववती शक्ति। 'जीव' और 'पुद्गल' में ये दोनों की शक्तियाँ रहती हैं। किन्तु शेष चारों पदार्थों में केवल भाववती शक्ति ही होती है। इन्हीं शक्तियों से द्रव्यों में परिणमन होता है। भाववती शक्ति से 'शुद्ध-परिणाम' और क्रियावती शक्ति से 'अशुद्ध परिणाम' होता है। अतः भाववती शक्ति के निमित्त से उत्पन्न परिणाम को 'शुद्धपर्याय' कहा जाता है। जबकि क्रियावती शक्ति के निमित्त से उत्पन्न परिणाम को 'अशुद्ध-पर्याय' कहा जाता है। इसी आधार पर जीव-पुद्गल के शुद्ध-अशुद्ध-परिणाम होते हैं। किन्तु शेष चार पदार्थों में केवल भाववती शक्ति ही विद्यमान रहती है। जिससे तज्जन्य-परिणाम केवल शुद्ध पर्याय रूप में ही होता है।

जीव में जो स्व-प्रदेश मात्र परिणमन होता है, वह उसकी 'शुद्ध पर्याय' होती है। कर्म सम्बन्ध के कारण जीव को एक अवस्था से दूसरी अवस्था में रूपान्तरित करने वाले परिणमन को उसका अशुद्ध पर्याय कहा जाता है। इन्हीं दो परिणमनों के आधार पर, जीव के 'संसारी' और 'मुक्त' दो रूप बन जाते हैं।³¹ कर्मसहित जीवों को 'संसारी' और कर्मरहित जीवों को 'मुक्त' कहा जाता है।

संसारित्व

अनन्त जीव-समुदाय में अनन्तानन्त-जीव ऐसे हैं, जो अनादिकाल से मिथ्यात्व और कषाय के संयोग के कारण संसारी हैं। देहधारियों को नारकी-तिर्यञ्च-मनुष्य गतियों का जो भी शरीर प्राप्त होता है, और उस शरीर के आकार रूप आत्मप्रदेशों में जो परिणमन होता है, उसे 'अशुद्ध आत्म पर्याय' या 'अशुद्ध आत्मद्रव्य' कहा जाता है। इसी को 'अशुद्ध-जीव' या 'संसारी' नामों से भी व्यवहृत किया जाता है। क्योंकि आत्मा, कर्म-संयोग के निमित्त से ही देशान्तर, अवस्थान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त करता है।³²

आत्मा का जो 'अतीन्द्रिय'—'अमूर्तिक' स्वभाव है, उसके अनुभव से उत्पन्न सुखामृत-रस-भाव को

प्राप्त न कर सकने वाले कुछ ही जीव, इन्द्रिय सुख की अभिलाषा से, और इस सुख का ज्ञान हो जाने पर इस सुख में आसक्ति से एकेन्द्रिय जीवों का घात करते हैं। इस घात से उपाजित त्रस-स्थावर नाम कर्म से उदय से संसारी जीवों के दो भेद—'त्रस' एवं 'स्थावर' हो जाते हैं। अर्थात्—एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से पृथिवी-जल-तेज-वायु और वनस्पति जीव, एकमात्र स्पर्शन-इन्द्रिय वाली 'स्थावर' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। जबकि दो-तीन-चार-पाँच इन्द्रियों के धारक जीव 'त्रस' नामकर्म के उदय के कारण, 'त्रस' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। संसारी जीवों की यही द्विविधता है।

सिद्धत्व

जो जीव, ज्ञानावरण-आदि अष्टविध कर्मों से रहित, अतएव जन्म-मरण से रहित, सम्यक्त्व-आदि अष्टविधगुणों के धारक, अतएव संसार में पुनः वापिस न आ सकने वाले स्वभाव-युक्त, अमूर्तिक, अतएव अभेद्य-अच्छेद्य-चेतनद्रव्य की शुद्ध-पर्याय-युक्त होते हैं, उन्हें 'सिद्ध', 'मुक्तजीव' या 'विमल-आत्मा' कहा जाता है।³³

ये सिद्ध-जीव, ऊर्ध्वगामी-स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित रहते हैं। क्योंकि जीव, जहाँ-कहीं पर कर्मों से विप्रयुक्त होता है, तब, वह वहाँ पर ठहरा नहीं रह जाता, अपितु, पूर्व-प्रयोग, असङ्गता, बन्ध-विच्छेद तथा गति-परिमाण रूप चार कारणों से, अविद्ध कुलालचक्रवत्, व्यपगनलेप-अलम्बुवत्, एरण्डबीजवत् और अग्निशिखावत्, ऊर्ध्वगमन कर जाता है तथा लोकाग्र में पहुँचकर ठहर जाता है। चूँकि, गति में सहायक घर्मास्तिकाय द्रव्य की सत्ता, लोक से आगे नहीं है। अतः मुक्त-जीव भी लोक से ऊपर नहीं जा पाता। यद्यपि संसार के कारणभूत द्रव्य-प्राण, सिद्ध-मुक्त-जीवों में नहीं पाये जाते, तथापि, भावप्राणों के विद्यमान रहने से कथञ्चित् प्राणसत्ता रहती ही है। इसी दृष्टि से इन्हें 'अमूर्तिक', 'शरीररहित' और 'अवागोचर' आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है।

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

त्रिविधता

यद्यपि, द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से आत्मा एक है, किन्तु परिणामात्मक पर्यायाधिक-नय की अपेक्षा से वह 'बहिरात्मा', 'अन्तरात्मा' और 'परमात्मा' भेदों से तीन प्रकार का हो जाता है।³⁴

सांसार-जीव, शरीर-आदि पर-द्रव्यों में जब तक 'आत्मबुद्धि' बनाये रखता है, अथवा मिथ्यात्व दशा में अवस्थित रहता है, तभी तक उसे 'बहिरात्मा' कहा जाता है।³⁵ किन्तु, जब शरीर आदि में से उसकी आत्मबुद्धि और मिथ्यात्व भी दूर हो जाता है, तब वह 'सम्यग्दृष्टि' बन जाता है। और उसे 'अन्तरात्मा' कहा जाने लगता है।³⁶

यह अन्तरात्मा भी उत्तम, मध्यम एवं जघन्य भेदों से तीन प्रकार का होता है। 'उत्तम-अन्तरात्मा' वह आत्मा होता है, जो समस्त परिग्रहों का त्याग कर चुका हो, निस्पृह हो, शुद्धोपयोग

वाला हो और आत्मध्यानी हो। 'मध्यम-अन्तरात्मा' वे जीव हैं, जो देशव्रतों के धारक गृहस्थ हैं, अथवा षष्ठ-गुण-स्थानवर्ती निर्ग्रन्थ-साधु हैं। जबकि चतुर्थगुणस्थानवर्ती, व्रतरहित, सम्यग्दृष्टि जीव 'जघन्य अन्तरात्मा' कहलाते हैं। तीनों ही अन्तरात्मा अन्तर्दृष्टि वाले और मोक्षमार्ग के साधक होते हैं।

'परमात्मा' के भी दो प्रकार हैं—'सकल परमात्मा' और 'विकल परमात्मा'। घाति-कर्मों के विनाशक, सम्पूर्ण पदार्थों के वेत्ता 'अहन्त' को 'सकल परमात्मा' शब्द से अभिहित किया जाता है। जबकि घाति-अघाति-समस्त कर्मों से रहित, अशरीरी, 'सिद्ध परमेष्ठी' के लिए 'विकल-परमात्मा' शब्द का प्रयोग किया जाता है।³⁷ सांसारिक जीव/आत्मा, इसी स्थिति में पहुँच कर अपने उच्चतम/उन्नत-स्वरूप को प्राप्त करता है। जैनदर्शनसम्मत आत्मा के स्वरूप का यही संक्षिप्त-विवेचन है।

卐

टिप्पण-सन्दर्भ

- | | |
|--|------------------------------|
| १. साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ | २०. प्रवचनसार-२/३० |
| २. बृहद्द्रव्यसंग्रह-५७ | २१. समयसार-१०२ |
| ३. पञ्चास्तिकाय-३० | २२. वही-१०३ |
| ४. बृहद्द्रव्यसंग्रह-३ | २३. प्रवचनसार-२/७५ |
| ५. तत्त्वार्थराजवातिक-१/४/७ | २४. वही-२/७६ |
| ६. बृहद्द्रव्यसंग्रह-६ | २५. बृहद्द्रव्यसंग्रह-१० |
| ७. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/४ | २६. गोमटसार-जीवकाण्ड-६६८ |
| ८. वही-३/७-८ | २७. प्रवचनसार-२/४४ |
| ९. तत्त्वार्थसूत्र-१/६ | २८. पञ्चास्तिकाय-३४ |
| १०. तत्त्वार्थसूत्र-१/३ | २९. वही-५३ |
| ११. वही-१/५ | ३०. वही-५४ |
| १२. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/६ | ३१. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/६ |
| १३. द्रव्यसंग्रह-७ | ३२. वही-३/११ |
| १४. प्रवचनसार-२/८० | ३३. वही-३/१० |
| १५. वही-२/८२ | ३४. मोक्षप्राभृत-४ |
| १६. प्रवचनसार-२/८३ | ३५. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/१४ |
| १७. वही-२/८४ | ३६. वही |
| १८. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/१३ | ३७. समाधितंत्र-५ |
| १९. बृहद्द्रव्यसंग्रह-८ | |

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

१६३

सामाजिक चरित्र के नैतिक उत्थान में

जैनधर्म के दश लक्षणों को प्रासंगिक उपयोगिता

—प्रो० चन्द्रशेखर राय
विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग,
बी० एस० एस० कॉलेज,
बचरी, पीरो, भोजपुर, बिहार

आत्म-स्वरूप की ओर ले जानेवाले और समाज को संधारण करने वाले विचार एवं प्रवृत्तियाँ धर्म हैं।¹ दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान भौतिक जगत् के नियमों का अनुसन्धान करता है, उसी प्रकार धर्म नैतिक एवं तात्विक जगत् के आन्तरिक नियमों का अन्वेषण करता है। दोनों ही अपने-अपने ढंग से मनुष्य जगत् के लिए मोक्ष का द्वार प्रशस्त करते हैं। अतः जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठा कर उत्तम मुख (वीतराम मुख) में धारण करे उसे धर्म कहते हैं।²

संसार के प्राचीनतम धर्मों में जैन धर्म भी एक है। यह विश्व का एक अति प्राचीन तथा स्वतन्त्र धर्म है। यह स्मरणातीत काल से इस भारतभूमि पर अपना विकास एवं विस्तार कर रहा है। वर्तमान युग में भी इसकी प्रासंगिक उपयोगिता ज्यों की त्यों है। जैन-दर्शन में राग-द्वेष रूप दुर्भावों से उत्पन्न मानसिक अवस्थाओं के उपशमन के लिए दस प्रकार के धर्मों का निरूपण किया गया है। इनका आचरण करने से आत्मा में कर्म का प्रवेश रुक जाता है। ये दस धर्म निम्नलिखित हैं—

उत्तमक्षमामार्दवाज्वशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यत्ब्रह्मचर्याणि धर्मः।³

अर्थात्—उत्तम क्षमा, मार्दव, आज्ञव, शौच, सत्य, संयम, तप-त्याग, आकिञ्चन्य, और ब्रह्मचर्य—ये दस उत्तम धर्म हैं। इन दस धर्मों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(१) उत्तम क्षमा—सहनशीलता अर्थात् क्रोध न करना और साथ ही उत्पन्न क्रोध को विवेक एवं नम्र भाव से दबा डालना ही उत्तम क्षमा है। दूसरे शब्दों में क्रोध की स्थितियों में भी मन के संयम को विकृत न होने देना उत्तम क्षमा है, जिस क्षमा से कायरता का बोध हो, आत्मा में दोनता का अनुभव हो, वह धर्म नहीं है, बल्कि क्षमाभास है, दूषण है। मन पर विजय पाना बहुत बड़े साहसी और वीर पुरुष का कार्य है। शक्ति के अभाव के कारण बदला न लेना क्षमा नहीं है। क्षमा के लिए जीव में निम्नलिखित भावों का होना अनिवार्य बताया गया है—

- (१) क्रोधोत्पन्न स्थिति में अपने में क्रोध का कारण ढूँढना,
- (२) क्रोध से होने वाले दोषों का चिन्तन करना,
- (३) दूसरे के द्वारा अपमान किए जाने पर नासमझ समझकर बदले की भावना का परित्याग करना।

(४) दूसरे के क्रोध को अपने कर्म का परिणाम समझना एवं

(५) क्षमा से उत्पन्न गुणों का विचार करना ।

इन सब भावों से सुशोभित क्षमा के द्वारा मन का संयम होता है, अहिंसा की भावना जागृत होती है । अतः जैनाचार्यों ने इसको उत्तम धर्म की संज्ञा प्रदान की है ।

(२) उत्तम मार्दव—मार्दव का अर्थ है—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मान का त्याग । कुल, रूप, जाति, ऐश्वर्य, विज्ञान, तप, बल और शरीर आदि की किञ्चित् विशिष्टता के कारण आत्मस्वरूप को न भूलना एवं इनका मद न चढ़ने देना ही उत्तम मार्दव है । अहंकार दोष है और स्वाभिमान गुण । अहंकार में दूसरे का तिरस्कार छिपा है और स्वाभिमान में दूसरे के मान का सम्मान है । अतः अभिमान न करना एवं मन में हमेशा मृदुभाव रखना उत्तम मार्दव के अन्तर्गत आता है ।

(३) उत्तम आर्जव—मन, वचन और काय की कुटिलता को छोड़ना—उत्तम आर्जव कहलाता है, जो विचार हृदय में स्थित है, वही वचन में रहता है तथा वही बाहर फलता है अर्थात्—शरीर से भी तदनुसार कार्य किया जाता है, यह आर्जव है । दूसरे शब्दों में मायाचारी परिणामों को छोड़कर शुद्ध हृदय से चरित्र का पालन करना उत्तम आर्जव धर्म है । जो मन में हो, वही वचन में और तदनुसार ही शरीर की चेष्टा हो, जीवन व्यवहार में एकरूपता हो । इस प्रकार मायाचार का त्याग, ऋजुता और सरलता ही उत्तम आर्जव धर्म है ।

(४) उत्तम शौच—सुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभन में नहीं फँसना आदि उत्तम शौच धर्म माना गया है । लोभादि कषायों का परित्याग कर पाप वृत्तियों में मन न लगाना उत्तम शौच कहलाता है । अर्थात् यह पूर्ण निर्लोभता की स्थिति है ।

(५) उत्तम सत्य—भारतीय दर्शन के अनुसार

सत्य का अर्थ है—असत्य का परित्याग । सत्य का अर्थ सुनृत बताया गया है । सुनृत का अर्थ है—वह सत्य जो प्रिय एवं हितकारी हो । उत्तराध्ययन सूत्र में क्रोध, लोभ, हास्य, भय एवं प्रमाद आदि इन झूठ बोलने के कारणों के मौजूद रहने पर भी मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से कभी भी झूठ न बोलकर सावधानीपूर्वक हितकारी, सार्थक और प्रिय वचनों को ही बोलना सत्य कहा गया है ।⁴

इसी प्रकार निरर्थक और अहितकर बोला गया वचन सत्य होने पर भी त्याज्य है । जैनधर्म दर्शन में सत्य की पांच भावनाओं का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है—

(१) वाणी विवेक, (२) क्रोध त्याग, (३) लोभ त्याग (४) भय त्याग और (५) हास्य त्याग ।

(६) उत्तम संयम—संयम मानवीय जीवन का एक अति महत्वपूर्ण प्रत्यय है । सामान्य रूप से मन, वचन और काय का नियमन करना अर्थात् विचार, वाणी, गति और स्थिति आदि में सावधानी करना संयम है । गोम्मटसार में संयम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए बताया गया है—

उत्तमभित्तिकषायाणां दण्डानां तपेन्द्रियाणां पञ्चानाम् ।
धारणपालन निग्रहत्यागजपः संयमी भणितः ॥⁵

अर्थात्—अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील (ब्रह्मचर्य), अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का धारण करना ईर्ष्या भाषा एषणा आदान निक्षेपण उत्सर्ग इन पांच समितियों का पालना, क्रोधादि चार कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप दण्ड का त्याग करना तथा पाँच इन्द्रियों का जय, इसको संयम कहते हैं ।

जैनाचार्यों ने संयम के निम्नलिखित १७ भेदों की चर्चा की है—⁶ पाँच अत्रतों (हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह) का त्याग । पाँच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र और चक्षु) का निग्रह, चार कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) का

जय तथा मन, वचन एवं काय की प्रवृत्तियों का त्याग । कहीं-कहीं पर भिन्न-भिन्न तरह के संयम के १७ प्रकारों का उल्लेख भी मिलता है, यथा— पांच स्थावर और चार त्रस—इन नव के विषय में संयम, प्रेक्ष्य संयम, उपेक्ष्य संयम, अपद्धय संयम, प्रमृज्य संयम, काय संयम, वाक् संयम, मनःसंयम और उपकरण संयम । डॉ० सागरमल जैन के अनुसार^४ जैन और गीता के आचार-दर्शन संयम के प्रत्यय को मुक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं । संयम का अर्थ है—मर्यादित या नियमपूर्वक जीवन, संयम और मानव-जीवन ऐसे घुले-मिले तथ्य हैं कि उनसे परे सुव्यवस्थित जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती ।

यों सभी मर्यादाओं का पालन करना संयम नहीं है लेकिन मर्यादाओं का पालन स्वेच्छा से किया जाता है तो उनके पीछे अव्यक्तरूप में संयम का भाव निहित रहता है । सामान्यतया वे ही मर्यादाएँ संयम कहलाती हैं जिनके द्वारा व्यक्ति आत्म-विकास और परमसाध्य को प्राप्ति करता है ।

(७) उत्तम तप—मलिन वृत्तियों को निर्मूल करने के उद्देश्य से अपेक्षित शक्ति की साधना के लिये किया जाने वाला आत्मदमन उत्तम तप है । दूसरे शब्दों में कर्मक्षय के लिये तथा समुचित आध्यात्मिक बल की साधना के लिए जीव को जिन उपायों का सहारा लेना पड़ता है—वे सब तप कहलाते हैं । इसके मुख्यतः दो भेद हैं—(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप । पुनः इन दोनों प्रकार के तपों के ६, ६ प्रकार बताये गये हैं, यथा—

अनशनानवमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ।^९

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ।^{१०}

अर्थात्—अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान,

रस परित्याग, विविक्त शय्यासन एवं काय-क्लेश—इस प्रकार 'बाह्य' तप के छः भेद हैं । प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान—ये छः भेद आभ्यन्तर तप के हैं । इस तरह तप के कुल १२ भेद हो जाते हैं । इन बारहों प्रकार के तपों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

अनशन—सब प्रकार के आहारों का परित्याग करना अनशन तप कहलाता है । इसके दो भेद हैं—इत्वरिक और यावत्कथित ।

अवमौदर्य—अपनी भूख से कम आहार ग्रहण करना अवमौदर्य तप या ऊनोदरी तप कहलाता है ।

वृत्ति-परिसंख्यान—विविध वस्तुओं में कम लालच रखना वृत्ति-परिसंख्यान तप कहलाता है ।

रसपरित्याग—घृतादि विशेष पौष्टिक एवं मद्यदि विकारी वस्तुओं का त्याग तथा मिष्टादि रसों का नियमन करना रस परित्याग तप कहलाता है ।

विविक्त-शय्यासन—बाधा रहित एकान्त स्थान में वास करना विविक्त-शय्यासन तप कहलाता है ।

कायक्लेश—ठण्ड, गर्मी, वर्षा आदि बाधाओं को सहना एवं विविध आसनादि द्वारा कष्ट सहन करने को काय-क्लेश तप कहा जाता है ।

प्रायश्चित्त—दोष की विशुद्धि के लिए जो क्रिया की जाती है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं । इसके निम्नलिखित नौ भेद किये हैं—(१) आलोचन (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तप (७) छेद (८) परिहार (९) उपस्थापन ।^{११}

विनय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार की साधना में विशेष रूप से प्रवृत्त होना विनय तप कहलाता है । इसके भी यथाक्रम से चार भेद हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार ।

वैयावृत्य—सत्पुरुषों के दुःख-दर्दों को दूर करने के लिए सेवा आदि करना वैयावृत्य तप कहलाता है । इसके भी दस भेद बतलाए गए हैं—

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और समनोज्ञ की वैयावृत्य ।

स्वाध्याय—उचित समय एवं परिस्थितियों में अध्ययन करने को स्वाध्याय तप कहते हैं । जैनाचार्यों ने इसके निम्नलिखित पाँच भेदों की कल्पना की है—(१) वाचना (२) प्रच्छना (३) अनुप्रेक्षा (४) आमनाय (५) धर्मोपदेश ।

व्युत्सर्ग—गृह, धनादि बाह्य उपाधियों तथा क्रोधादि अंतरंग उपाधियों का त्याग करना व्युत्सर्ग तप कहलाता है । इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से इसके भी दो भेद माने गए हैं ।

(८) उत्तम त्याग—दान देना, त्याग की भूमिका पर आना, शक्त्यानुसार भूखों की भोजन, रोगी को औषधि, अज्ञान निवृत्ति के लिए ज्ञान के साधन जुटाना और प्राणीमात्र को अभय देना, देश और समाज के लिए तन-मन आदि का त्याग आदि उत्तम त्याग के अन्तर्गत माना जाता है । समस्त पर-द्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीन रहकर सत्पुरुषों की सेवा करना ही उत्तम त्याग माना गया है । लाभ, पूजा और ख्याति आदि से किया जाने वाला त्याग या दान उत्तम त्याग नहीं है ।

(९) उत्तम आकिंचन्य—आंतरिक विभाव तथा बाह्य पदार्थों में ममत्व का त्याग उत्तम आकिंचन्य कहलाता है । धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह तथा शरीर में यह मेरा नहीं है, आत्मा का धन तो उसके चैतन्य आदि गुण हैं । 'नास्ति मे किंचन' मेरा कुछ नहीं है, आदि भावनाएँ आकिंचन्य हैं ।

भौतिकता से हटकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना आकिंचन्य धर्म है । दूसरे शब्दों में किसी भी वस्तु में ममत्व बुद्धि न रखना उत्तम आकिंचन्य है ।

(१०) उत्तम ब्रह्मचर्य—अध्यात्म-मार्ग में ब्रह्मचर्य को सर्वप्रधान माना जाता है क्योंकि ब्रह्म में रमणता वास्तविक ब्रह्मचर्य है । इसके अन्तर्गत क्रोधादि

निग्रह के भाव का भी अन्तर्भाव होता है । वस्तुतः ब्रह्मचर्य का तात्पर्य वीर्य की रक्षा करना है । वीर्य की रक्षा करने के लिए बहुत बड़े संयम की आवश्यकता पड़ती है, अतः जैनाचार्यों ने इसे उत्तम तप कहा है । इसका आवश्यक रूप से जीवन में आचरण करने के लिए पाँच महाव्रतों में स्थान दिया गया है तथा दश धर्मों में इसे उत्तम धर्म की संज्ञा दी गई है । कुंदकुंदाचार्य ने ब्रह्मचर्य को उत्तम धर्म मानकर इसका निम्नलिखित स्वरूप स्पष्ट किया है ।

सव्वंग पेच्छतो इत्थीणं तामु भुयवि दुग्भावम् ।
सो ब्रह्मचर्यं भाव सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ॥¹²

अर्थात् जो स्त्रियों के सारे सुन्दर अंगों को देख कर उनमें रागरूप दुर्भाव करना छोड़ देता है, वही दुद्धर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करता है ।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका में कहा गया है—

आत्मा ब्रह्म विविक्त बोधनिलयो च तत्र चर्मपर, स्वांगा
संग-विवर्जितकमनसस्तद् ब्रह्मचर्यं मुनेः ॥¹³

अर्थात् ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है । उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है । जिस मुनि का मन अपने शरीर के भी सम्बन्ध में निर्ममत्व हो चुका है, उसी को ब्रह्मचर्य होता है ।

जैनाचार्यों के अनुसार ब्रह्मचर्य के नव अंग हैं—

(१) स्त्रियों का संसर्ग न करना (२) स्त्री कथा न करना, (३) स्त्रियों के स्थान का सेवन न करना, (४) स्त्रियों के मनोहर अंगों को न देखना, न ध्यान देना, (५) कामोद्दीपक भोजन न करना, (६) आहार-पान मात्रा से अधिक न करना, (७) पूर्व-कृत कामक्रीड़ा का स्मरण न करना, (८) स्त्रियों के शब्द, रूप व सौभाग्य की सराहना न करना और (९) इन्द्रिय सुखों की अभिलाषा न करना ।

उपर्युक्त दस धर्म आत्मा के लिए कल्याणकारक माने गये हैं तथा उनके साथ 'उत्तम' विशेष-

षण का प्रयोग इष्ट प्रयोजन की निवृत्ति के अर्थ में किया गया है।¹⁴

ख्याति और पूजा आदि की भावना की निवृत्ति के अर्थ में उत्तम विशेषण दिया गया है।¹⁵ अर्थात् ख्याति पूजादि के अभिप्राय से ग्रहण की गई क्षमादि उत्तम नहीं है।

जहाँ तक सामाजिक चरित्र के नैतिक उत्थान में जैन धर्म के उपर्युक्त दस लक्षणों की प्रासंगिक उपयोगिता का प्रश्न है, इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि धर्म का एक पहलू सामाजिक चरित्र के नैतिक उत्थान भी रहा है। सामाजिक नैतिकता के मूल्य जब-जब विस्थापित हुए हैं, अमानवीय व्यवहारों की प्रचुरता बढ़ी है तब-तब उसे धर्म के द्वारा ही मर्यादित किया गया है। आज भी जैन धर्म के दसों लक्षणों की उपयोगिता ज्यों की त्यों बनी हुई है, क्योंकि आज समाज में आतंकवाद, बलात्कार, चोरी, डकैती, छूटपाट आदि दुर्गुणों से नैतिक मूल्यों का प्रायः ह्रास हो गया है जिसकी पुनर्स्थापना जैन धर्माचरण से ही सम्भव है।

आज के मनुष्य क्रोधी, दम्भी, घमंडी, झूठ बोलने वाले हो गये हैं। क्षमाधर्म के द्वारा क्रोध को बहुत हद तक समाप्त किया जा सकता है। क्रोध के प्रमन से समाज के बहुत से दोष स्वतः निराश्रित हो जाते हैं। अहिंसा की भावना जागृत होती है तथा समाज में कोढ़ के रूप में व्याप्त आतंकवाद स्वतः समाप्त हो जाता है। अभिमान का त्याग कर उत्तम मार्दव धर्म के द्वारा आसानी से समाज में मृदुता कोमलता विनम्रता आदि भावों का प्रसार किया जा सकता है। आज समाज में दोहरे व्यक्तित्व जीने वालों की संख्या बढ़ रही है जिससे समाज में शंका एवं सन्देह का बोलवाला होता जा रहा है। एक-दूसरे पर विश्वास करना अत्यन्त कठिन हो गया है। इस दोष का निरसन आर्जव धर्म से ही सम्भव है। इसी प्रकार समाज में बढ़ती हुई लोभ प्रवृत्ति, असत्य भाषण, असंयम का परिहार क्रमशः शीघ्र, सत्य और संयम से ही सम्भव है।

आज दुनिया में सो में निन्यानवे अपराधी घटनाओं का कारण अर्थ या काम होता है। अदना-सी बात पर कौड़ी तक का मूल्य नहीं रखने वाली चीजों के लिए भी लोग हिंसा पर उतारू हो जाते हैं, मनुष्य ही मनुष्य की जान का ग्राहक बन गया है। इन मलिन वृत्तियों का विनाश आज भी उत्तम तप और ब्रह्मचर्य नामक धर्म से किया जा सकता है।

समाज में व्याप्त भुखमरी, रोग, अज्ञान की निवृत्ति उत्तम त्याग के द्वारा ही सम्भव है। वास्तविक आनन्द शारीरिक सुखों में या भौतिक सुविधाओं के अनन्त साधनों को एकत्रित करने में नहीं मिलता। इसकी प्राप्ति मोहमाया के बीच सम्भव नहीं है। भोगवृत्ति राह के प्रत्येक मोड़ पर मनुष्य ठगा जाता है। शाश्वत आनन्द की प्राप्ति भौतिकता में हटकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिपात करने तथा किसी वस्तु में ममत्व बुद्धि न रखते हुए उत्तम आकिंचन्य धर्म-पालन करने में ही है।

टिप्पण-सन्दर्भ

१. जैन दर्शन—डा० महेन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ—२३६
२. महापुराण—२३७
३. तत्त्वार्थ सूत्र—६/६
४. उत्तराध्ययन सूत्र—२५/२४
५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा—४६५
६. पं० सुखलाल संघवी—त० सू० टीका, पृष्ठ ३०५
७. वही
८. देखें जैन धर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ६१—६५
९. तत्त्वार्थ—सूत्र ६/१६
१०. तत्त्वार्थ सूत्र—६/२०
११. तत्त्वार्थ सूत्र—६/२२
१२. बारस अणुवेकखा—८०
१३. प० वि०—१२/२
१४. सर्वार्थसिद्धि—६/६
१५. चारित्र सार—५८/१

जैनधर्म में भगवान् महावीर की देन अद्वितीय है, मृत्यु और व्यसन इन दोनों में से व्यसन अधिक हानिप्रद है। क्योंकि मृत्यु एक बार ही कष्ट देती है पर व्यसनी व्यक्ति जीवन-भर कष्ट पाता है और मरने के पश्चात् भी वह नरक आदि में विभिन्न प्रकार के कष्टों को झेलता है। जबकि अव्यसनी व्यक्ति जीते-जी भी यहाँ पर सुख के सागर पर तैरता है और मरने के पश्चात् स्वर्ग-सुख का उपभोग करता है।

व्यसन शब्द संस्कृत भाषा का है, जिसका परिणाम है—कष्ट। यहाँ हेतु में परिणाम का उपचार किया गया है। जिन प्रवृत्तियों का परिणाम कष्टकर हो, उन प्रवृत्तियों को व्यसन कहा गया है। व्यसन एक ऐसी आदत है जिसके बिना व्यक्ति रह नहीं सकता, व्यसनों की प्रवृत्ति अचानक नहीं होती। पहले व्यक्ति आकर्षण से करता है फिर उसे करने का मन होता है, एक ही कार्य को अनेक बार दोहराने पर वह व्यसन बन जाता है।

जैनधर्म में व्यसनमुक्त जीवन का तुलनात्मक अध्ययन

व्यसन बिना बोये हुए ऐसे विष वृक्ष हैं, जो मानवीय गुणों के गौरव को राख में मिला देते हैं। ये विषवृक्ष जिस जीवनभूमि में पैदा होते हैं, उसमें सदाचार के सुमन खिल ही नहीं सकते।

व्यसनों की तुलना हम उस गहरे गर्त से कर सकते हैं जिसके ऊपर हरियाली लहलहा रही हो, फूल खिल रहे हों, पर ज्यों ही व्यक्ति उस हरियाली और फूलों से आकर्षित होकर उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करता है त्यों ही वह दल-दल में फँस जाता है। व्यसनशील व्यक्ति की बुद्धिमत्ता, कुलीनता आदि समाप्त हो जाती है।

यों तो व्यसनों की संख्या का कोई पार नहीं है, वैदिक ग्रन्थों में व्यसनों की संख्या १८ बताई गई है। उन १८ में १० व्यसन कामज हैं और ८ व्यसन क्रोधज हैं।

—प्रो. जनेश्वर मौआर

कामज व्यसन हैं—मृगया (शिकार), जुआ, दिन का शयन, पर-निन्दा, परस्त्रीसेवन, मद, नृत्यसभा, गीतसभा, वाद्य की महफिल और व्यर्थ भटकना।

आठ क्रोधज व्यसन हैं—चुगली खाना, अतिसाहस करना, द्रोह करना, ईर्ष्या, असूया, अर्थदोष, वाणी से दण्ड और कठोर वचन।

जैनाचार्यों ने व्यसन के मुख्य सात प्रकार बताये हैं—जुआ, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, परस्त्रीगमन।

छूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पार्षाद्धि चौर्यं परदारसेवा ।
एतानि सप्तव्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥

इन सातों व्यसनों में अन्य जितने भी व्यसन हैं उन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।

आचार्य हरिभद्र ने मद्यपान करने वाले व्यक्ति में सोलह दोषों का उल्लेख किया है—वे दोष इस प्रकार हैं—शरीर विद्रूप होना, शरीर विविध रोगों का [आश्रयस्थल होना, परिवार से तिरस्कृत होना, समय पर कार्य करने की क्षमता न होना, अन्तर्मानस में द्वेष पैदा होना, ज्ञान तन्तुओं का धुँधला हो जाना, स्मृति का लोप हो जाना, बुद्धि-भ्रष्ट होना, सज्जनों से सम्पर्क समाप्त हो जाना, वाणों में कठोरता आना, नीच कुलोत्पन्न व्यक्तियों से सम्पर्क, कुलहीनता, शक्तिहास, धर्म-अर्थ-काम तीनों का नाश होना।

महाकवि कालिदास ने एक मदिरा बेचने वाले व्यक्ति से पूछा—तुम्हारे पात्र में क्या है? मदिरा बेचने वाला दार्शनिक था, उसने दार्शनिक शब्दावली में कहा—कविवर! मेरे प्रस्तुत पात्र में आठ दुर्गुण हैं—मस्ती, पागलपन, कलह, घृष्टता, बुद्धि का नाश, सच्चाई और योग्यता से नफरत, खुशी का नाश और नरक का मार्ग।

शिकार को जैन ग्रन्थों में पापद्धि कहा गया है पापद्धि से तात्पर्य है—पाप के द्वारा प्राप्त ऋद्धि, इसलिए आचार्य ने शिकारी की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है—जिसे शिकार का व्यसन लग जाता है वह मानव प्राणीवध करने में दया को

तिलांजलि देकर हृदय कठोर बना लेता है! वह अपने पुत्र पर भी दया नहीं रख पाता।

जैन साधना पद्धति में व्यसन-मुक्ति साधना के महल में प्रवेश करने का प्रथम द्वार है।

जब तक व्यसन से मुक्ति नहीं होती, मनुष्य में गुणों का विकास नहीं हो सकता। इसलिए जैनाचार्यों ने व्यसन-मुक्ति पर अत्यधिक बल दिया है। व्यसन से मुक्त होने पर जीवन में आनन्द का सागर ठाठें मारने लगता है।

जनतन्त्रमूलक युग के लिए व्यसन-मुक्ति एक ऐसी विशिष्ट आचार पद्धति है जिसके परिपालन से गृहस्थ अपना सदाचारमय जीवन व्यतीत कर सकता है और राष्ट्रीय विकास के कार्यों में भी सक्रिय योगदान दे सकता है।

दर्शन के दिव्य आलोक में ज्ञान के द्वारा चारित्र्य की सुदृढ परम्परा स्थापित कर सकता है। यह एक ऐसी आचार-संहिता है जो केवल जैन गृहस्थों के लिए ही नहीं, किन्तु मानवमात्र के लिए उपयोगी है। यह व्यावहारिक जीवन को समृद्ध व सुखी बना सकती है तथा निःस्वार्थ कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर राष्ट्र में अनुपम बल और ओज का संचार कर सकती है। सम्पूर्ण मानव-समाज में सुख-शांति व निर्भयता भर सकती है। अतः व्यसनमुक्त जीवन सभी दृष्टियों से उपयोगी और उपादेय है।

—○—

[जिस तरह श्लेष्म में पड़ी हुई मक्खी श्लेष्म से बाहर निकलने में असमर्थ होती है वैसे ही विषय रूपी श्लेष्म में पड़ा हुआ व्यक्ति अपने आपको विषय से अलग होने में असमर्थ पाता है।—इन्द्रिय पराजय शतक ४६]

—■—

जैन पदार्थ—विवेचना में वैज्ञानिक दृष्टि

मानव सृष्टि के पूर्व तथा पश्चात् जो कुछ भी अस्तित्ववान् था, है अथवा सम्भावित है, उनके मनन तथा चिन्तन का इतिहास अनादि है। अनादि परम्परा से सृष्टि की उत्पत्ति तथा विनाश का अर्थ किसी शाश्वत अव्यक्त की अभिव्यक्ति तथा संहार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चाहे वह वैदिक ऋषियों के गहन प्रयोग और अनुभवपरक प्रमाणित किये गये सिद्धान्त वचन हों; वेदान्त दर्शन तथा नास्तिक दर्शनों की क्रान्तिपूर्ण वैज्ञानिक व्याख्याएँ हों; यूनान, इटली, जर्मनी तथा चीन की दार्शनिक मान्यताएँ हों; अथवा आधुनिक विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ तथा उनके अध्ययन की सीमाएँ; सबके अध्ययन का विस्तार वहीं तक है, जहाँ तक दृष्टि का, बुद्धि का, मन का प्रसार है। दूसरे शब्दों में जो कुछ 'अस्ति' की सीमा में आता है, वह सब चिन्तन का विषय है। हाँ, यह अवश्य है कि अध्ययन की विधि, उद्देश्य तथा स्वरूप में भिन्नता है। सृष्टि के जड़-चेतन का अथवा जीव-जगत का मूल कारण, मूलभूत तत्व—चाहे वह वेदान्त का ब्रह्म हो अथवा चार्वाकों का परमाणु-स्वभाव, अनादि अनन्त शाश्वत है। चाहे वह एक हो या अनन्त, मूल तत्व या तत्वों की निरन्तर गतिशील परिवर्तन की सहज, स्वाभाविक प्रक्रिया, तत्वों का संचय और प्रचय, विस्तार और संकोच, सब कुछ किसी स्वचालित, स्वाभाविक ऊर्जा के अजस्र-स्रोत की भाँति अविच्छिन्न-गति से निरन्तर चलता रहता है। यह क्रम ही सृष्टि को काल के पथ पर ले जाता हुआ प्रलय, महाप्रलय, सृष्टि, स्थिति की नेमि पर घुमाता रहता है, अविराम यात्री की भाँति, जिसका पाथेय ही गम्य हो।

उस अव्यक्त तथा उससे व्यक्त पदार्थ जगत् के स्वरूप, कार्य तथा गति को देखने, निरीक्षण, परिबीक्षण, अन्वीक्षण तथा व्यक्तीकरण की क्षमता और दृष्टिकोण की विभिन्नता अवश्य ही परिलक्षित होती है। जो कुछ भी ज्ञेय तथा अभिधेय है, वह या तो दृश्य, मूर्त, भौतिक पदार्थ के रूप में है अथवा अमूर्त प्रत्यय के रूप में। पदार्थ और प्रत्यय भिन्न हैं अथवा अभिन्न? तात्त्विक दृष्टि से दोनों का साधर्म्य तथा वैधर्म्य किस सीमा तक बोध्य है? दोनों की वैज्ञानिक व्याख्या के आधार तथा दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि क्या है? इस विषय में वैमत्य रहा है। कुछ विचारकों के मतानुसार प्रत्यय मात्र—वेद्य तत्व की प्रधानता तथा तात्त्विक सत्ता है, कुछ शास्त्रवेत्ता केवल पदार्थ (ज्ञेय वस्तु—आकार) को ही अध्येय तथा व्याख्येय मानते हैं, कुछ दार्शनिक पदार्थात्मक प्रत्ययवाद, तो कुछ प्रत्ययात्मक पदार्थवाद के पोषक हैं।

—डॉ. नवलता

प्रवक्ता—वि. सि. स. ध. कालेज,

कानपुर

पदार्थ शब्द की व्यापक परिभाषा के अनुसार तो प्रत्यय भी पदार्थ की सीमा से परे नहीं है। अपितु दोनों परम एवं चरम सत्य रूप गम्य तक पहुँचने की यात्रा के क्रमिक आयाम हैं, क्योंकि पदार्थ के स्वरूप का अनुशीलन तथा विश्लेषण किये बिना प्रत्यय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से विज्ञान और दर्शन परस्पर सहयोगी तथा सम्पूरक हैं। विज्ञान का कार्य, जो वस्तु जैसी है, उसके यथातथ्य स्वरूप का विश्लेषण है, किन्तु दर्शन उस वस्तु के स्वरूप का बाह्यावरण वेधकर आन्तरिक तत्व का उद्घाटन कर चरम यथार्थ की प्राप्ति का उपाय बताता है। विज्ञान 'क्या' का उत्तर देता है, तो दर्शन 'क्यों' और 'कैसे' का समाधान।

आज के अतिविकासवादी युग का विज्ञान अभी तक पदार्थ जगत् के ही सम्यक् तथा आत्यन्तिक सत्य (तथ्य) के अनुसन्धान तथा विश्लेषण में सफल नहीं हो सका है, जिसका प्रमाण है नित्य-परिवर्तनशील वैज्ञानिक सिद्धान्त। जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक वैज्ञानिक ने किया उसी को असिद्ध कर अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन दूसरे वैज्ञानिक ने कर दिया। खण्डन-मण्डन की यह परम्परा भी वर्तमान चिन्तन की देन नहीं है। सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे महर्षियों ने, विचारकों ने इस परम्परा का सूत्रपात किया था। यह भारतीय शिक्षा की मौलिक पद्धति भी थी, और चिन्तन का दृष्टिकोण भी। परन्तु भारतीय तथा पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण में यह अन्तर अवश्य था कि पाश्चात्य आधुनिक विज्ञान में एक सिद्धान्त कालान्तर में असिद्ध होकर नये सिद्धान्त को जन्म देता है तथा वह अन्तिम सिद्धान्त ही सर्वमान्य होता है, जबकि दार्शनिक सिद्धान्त अपने आप में कभी असिद्ध तथा अमान्य नहीं होते, उन्हें मानने वाले किसी भी काल में हो सकते हैं। अतः वैज्ञानिक सिद्धान्तों की परिवर्तनशील प्रकृति का तर्क बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्तुतः सिद्धान्त

व्यवस्था के अपरिवर्तनीय नियम तथा परिवर्तन के आधार होते हैं।

मूल सिद्धान्तों के निर्धारण में भारतीय विज्ञान के प्रतिपादक वेद, वेदान्त, आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन तथा अन्य शास्त्रों ने श्रद्धापरक तर्क द्वारा पदार्थ और प्रत्यय दोनों के स्वरूप की व्याख्या की। वेदों में विश्वास रखने वाले आस्तिक दर्शनों में व्याख्यात्मक जटिलता नास्तिक दर्शनों की अपेक्षा अधिक थी। नास्तिक दर्शनों में जैन दर्शन वस्तु-निष्ठ विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों ही दृष्टियों से जनसामान्य के यथार्थ विषयक दृष्टिकोण के अधिक निकट था, अपि च, इसकी व्याख्याएँ अधिक स्पष्ट तथा वैज्ञानिक थीं। यद्यपि जैन दर्शन के बीज ई० पू० ५००-६०० के लगभग पड़ चुके थे, और विक्रम की प्रथम शताब्दी तक उनका अंकुरण भी हो चुका था। छठी शताब्दी तक वैचारिक प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में न्याय, बौद्ध तथा जैन दर्शन प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों के रूप में अपन-अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा में लगे थे। यद्यपि न्यायदर्शन की वैज्ञानिकता भी कम नहीं थी, तथापि जैनदर्शन अपने आचार तथा व्यावहारिक पक्ष की प्रबलता के कारण तथ्य को अधिक वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर सका। आधुनिक विज्ञान का प्रारम्भ तो चतुर्दश शताब्दी के पश्चात् हुआ।

जैनदर्शन का चिन्तन तथा अभिव्यक्ति मूर्त तथा अमूर्त, स्थूल तथा सूक्ष्म, भौतिक तथा अबौतिक सत्ताओं का जिस प्रकार समन्वय करता है, वह निश्चय ही यह मानने के लिए उत्साहित करता है कि जैनदर्शन विज्ञान के आधारभूत घटकों में से एक है। न्यायदर्शन की ही भाँति जैनदर्शन भी उस प्रत्येक घटक को पदार्थ स्वीकार करता है जो सत्तावान् है, ज्ञेय है तथा अभिधेय है। पदार्थ की बाह्य तथा सत् मानने वाले जैन दार्शनिक पदार्थ-ग्रहण के विषय में दो धारणाएँ व्यक्त करते हैं। प्रथम के अनुसार किसी पदार्थ के गुणों तथा विशेषताओं को पदार्थ से अपृथक रूप से ग्रहण किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ 'यह पुस्तक है' इस कथन में पुस्तक के साथ उसकी विशेषताएँ भी अपृथक् रूप से ग्राह्य हैं।¹

द्वितीय धारणा के अनुसार पदार्थों से पृथक् गुणों का ग्रहण होता है। यह धारणा सभी पदार्थ-वादी प्राच्य और पाश्चात्य विचारकों तथा वैज्ञानिकों को मान्य है। वर्तमान भौतिक विज्ञान किसी भी पदार्थ में आकृति, परिमाण तथा गति को अवश्य ही स्वीकार करता है। ये तीनों ही गुणधर्म पृथक् सत्ता वाले होते हुए भी पदार्थ में आधेय भाव से रहते हैं। कोई भी पदार्थ जब ग्रहणविषयता वाला होता है, तो उसका परिमाण, आकृति तथा गति ही ग्राह्य होती है।

जैनदर्शन अपने जिस मौलिक सिद्धान्त के कारण लोकविख्यात है, वह है स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। स्याद्वाद वस्तुतः पदार्थ के स्वरूप विश्लेषण की वस्तुनिष्ठ कल्पना है जो भौतिक विज्ञान के नियमों से तुलनीय है। अनेकान्तवाद के अनुसार कोई भी वस्तु त्रिकाल में न तो पूर्ण सत्य है और न पूर्णरूप में उसका ग्रहण किया जा सकता है।² पदार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में सात प्रकार की सम्भावनाएँ हो सकती हैं, जो सप्तभंगीनय के नाम से विख्यात है।

सप्तभंगीनय में सम्भवतः वैज्ञानिक सम्भावनावाद के बीज निहित हैं। स्याद्वाद की व्याख्या के लिए हस्ति का उदाहरण प्रसिद्ध है। जिस प्रकार कोई नेत्रहीन विशालकाय हाथी के सूँड़, कान, पैर आदि का स्पर्श करके उन-उन अंगों को ही हाथी समझने लगता है उसी प्रकार अज्ञान के आवरण के कारण जीव पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जान नहीं पाता। यह अज्ञान इन्द्रियों के सर्वत्र गमन की अक्षमता ही है। स्याद्वाद का सिद्धान्त वैज्ञानिक सापेक्षतावाद की पृष्ठभूमि है। आधुनिक भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति का सूत्रपात करने वाले आइंस्टीन महोदय ने प्रत्येक पदार्थ को गति का परिणाम बताया। सापेक्षता भी मूलरूप से गति पर

ही आधारित है तथा दैशिक व कालिक परिवर्तनों का हेतु है। कोई भी वस्तु इस समय जो है, वह अगले क्षण नहीं रहेगी। जबकि सत्य त्रिकालाबाधित अव्यय होता है; और विज्ञान भी अभी तक किसी ऐसे तत्त्व की खोज नहीं कर पाया है, जो अव्यय तथा अविनाशी हो। हाँ परमाणुओं की मूल स्थिति अविनाशी है, किन्तु गति की स्वाभाविक सहज क्रिया के कारण उनमें भी निरन्तर कुछ-कुछ परिवर्तन अवश्य होता है। इस दृष्टि से कोई भी वस्तु त्रिकाल में सत्य नहीं होती। इसी प्रकार इन्द्रियाँ एक ही समय में किसी वस्तु के पूर्ण स्वरूप को ग्रहण नहीं कर पातीं। क्योंकि इन्द्रिय का पदार्थ के सभी पक्षों से सन्निकर्ष एक ही क्षण में नहीं हो पाता। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—जिस प्रकार किसी गोले को सामने रखा हुआ दीपक पूर्णरूप से प्रकाशित नहीं करता, अपितु जहाँ तक आलोक को पहुँच है, वहीं तक गोले को देखा जा सकता है उसी प्रकार इन्द्रिय का पदार्थ के जिस भाग से सन्निकर्ष होता है उसी का ग्रहण हो पाता है।

इस प्रसंग में विज्ञान यथार्थ का उद्घाटन अन्यान्य भौतिक तथा रासायनिक प्रयोगों द्वारा करता है, जबकि अन्य दर्शनों की भाँति जैन दर्शन उसका कारण खोजता है, जिसका पर्यवसान 'जीव' के 'अज्ञानाभाव' में होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह 'अज्ञान' ही सत्य की खोज की अविच्छिन्न परम्परा को प्रेरित करता है। जैन दर्शन निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति त्रिरत्नों के द्वारा मानता है। ये त्रिरत्न हैं—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र।³ सापेक्षतावादी वैज्ञानिक विचारधारा उस निरपेक्ष तत्त्व तक अपनी दृष्टि का विस्तार अभी तक नहीं कर पाई है, यद्यपि कुछ वैज्ञानिक-दार्शनिक इस दिशा की ओर प्रयत्नशील हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर गमन का नियम विज्ञान का सूक्ष्मतम व्यक्त तक तो पहुँचाने में समर्थ हुआ है, किन्तु अव्यक्त की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसके स्वरूप,

गुणधर्म की स्पष्ट और सुनिश्चित व्याख्या अभी तक विज्ञान की सीमा से परे है। रत्नत्रय (सम्यक् ज्ञान, सम्यक्दृष्टि तथा सम्यक्चारित्र) बिना अव्यक्त ऊर्जा रूप स्फोटात्मक शक्ति सम्भव नहीं जो वर्तमान आविष्कृत परमाणु ऊर्जा से भी शत-सहस्र गुणा सूक्ष्म है तथा जो 'परा' स्थिति है।

यह तो हुआ पदार्थ के ग्रहण का विज्ञान। अब प्रश्न है पदार्थों की संख्या तथा उनके विश्लेषण का। विज्ञान पदार्थ (Matter) को कुछ मूल तत्वों (Elements) के यौगिक के रूप में परिभाषित करता है, किन्तु पदार्थों की संख्या सुनिश्चित नहीं समझी जा सकती, क्योंकि नवीन अनुसन्धानात्मक प्रयोगों द्वारा मूल तत्वों की संख्या ही बढ़ती जा रही है। जैन दर्शन भी यद्यपि पदार्थों की संख्या अनन्त मानता है, किन्तु गुणधर्मों के आधार पर पदार्थों का वर्गीकरण सात भागों में करता है। ये सात पदार्थ हैं आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, जीव तथा अजीव। जैनदर्शनसम्मत ये पदार्थ वैशेषिक सप्त पदार्थों से भिन्न हैं। कुछ जैन दार्शनिक केवल जीव तथा अजीव को ही पदार्थ मानते हैं।⁴ किन्तु विश्लेषण के आधार पर सात पदार्थ स्वीकार करना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इनमें से प्रथम पाँच पदार्थ तथा अन्तिम दो मूर्त तथा भौतिक सत्ता वाले होते हैं। जीव के कर्म ही सभी पदार्थों को प्रभावित करने वाले मूल तत्व घटक हैं।

जैनसम्मत उक्त सप्त पदार्थों का स्वरूप विशुद्ध दार्शनिक होते हुए भी वैज्ञानिक विश्लेषण का अविषय नहीं हैं। संक्षेप में इन पदार्थों की व्याख्या करने पर ज्ञात जाता है कि प्रथम पदार्थ आस्रव कर्मों का जीव में प्रवेश अथवा जन्ममरणादि है। यह दो प्रकार का होता है—भावास्रव तथा द्रव्यास्रव। जीव का जन्मादिभाव भावास्रव तथा कर्मपुद्गलों का जीव में प्रवेश द्रव्यास्रव कहलाता है। कर्मों द्वारा जीव को जकड़ना ही बन्ध है। आस्रव के विपरीत कर्ममार्ग का अवरोध संवर कहलाता है। यह जीव को मोक्ष को ओर अग्रसर

करता है। आस्रव की भाँति ही यह भी दो प्रकार का होता है। जीव के जन्मादिभाव का क्षय भाव-संवर तथा कर्मपुद्गलों का जीव में न आना द्रव्य-संवर कहलाता है। कर्मफल का जीर्ण कर देना ही निर्जरा है। कर्मों का आत्यन्तिक क्षय मोक्ष है। जीव और अजीव द्रव्य हैं।

परवर्ती भौतिक विज्ञान के आविष्कारों तथा अनुसन्धानों द्वारा पदार्थ के विवेचन में आकृति, परिमाण तथा गति को प्रमुख तत्व स्वीकार किया गया। आकृति तथा परिमाण दोनों गति द्वारा प्रभावित होते हैं। गतिसिद्धान्त आधुनिक भौतिक विज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त है। वैज्ञानिक पदार्थ मीमांसा के लिए गति का विश्लेषण अनिवार्य है। तुलनात्मक अध्ययन से जैनदर्शनसम्मत 'कर्म' और वैज्ञानिक 'गति' किन्हीं बिन्दुओं पर समकक्ष तथा समवर्ती प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार आस्रव से लेकर अजीव तक सभी पदार्थों की अभिव्यक्ति और तिरोधान कर्माश्रित है, उसी प्रकार विज्ञान-प्रतिपादित गति समस्त पारमाणविक तथा स्थूल भौतिक संरचना परिवर्तन (परिणाम) और ध्वंस के लिए उत्तरदायी है। गति के कारण ही पदार्थ में निहित ऊर्जा व्यक्त होती है। परमाणु में स्थित न्यूक्लियस या नाभिक के आस-पास ऋण विद्युन्मय कण (इलेक्ट्रान) चक्कर लगाते रहते हैं। नाभिक में प्रोटान की स्थिति होती है, जो विभिन्न तत्वों में विविध संख्याओं में होते हैं। इनके अतिरिक्त न्यूट्रान विद्युत्तरहित कण तथा पाजिट्रान धनात्मक विद्युत्युक्त कण भी परमाणु में पाये जाते हैं। यह विद्युत् ऊर्जा रूप तथा अपने से अधिक ऊर्जा की उत्पादिका होती है। गति के कारण प्रत्येक कण परस्पर एक दूसरे को आकर्षित करता है। यह आकर्षण ही परमाणु संयोग या परमाणु संघात का कारण होता है। परमाणुओं के संघात के लिए न्यूट्रान की भूमिका महत्वपूर्ण होती है क्योंकि उसके बिना प्रोटान एकत्र रूप से नहीं रह सकते।⁵

यहाँ परमाणुसृष्टि की विशद व्याख्या का अवकाश तथा आवश्यकता नहीं है अपितु इतना ही विचारणीय है कि जिस प्रकार कर्म आश्रवादि का कारण होता है उसी प्रकार सम्भवतः गतिज ऊर्जा अथवा तीव्र विद्युत आवेश तथा भौतिक परमाणुओं के संयोग से जैविक सृष्टि (जन्ममरण) प्रारम्भ होती है। जैविक सृष्टि विषयक विशेष चर्चा जीव पदार्थ के विवेचन का विषय है। भावास्व तथा द्रव्यास्व के लक्षणों पर विचार करने से कर्म और भोग की अद्विज गतिशील परम्परा सुस्पष्ट होती है। जीव का जन्मादिभाव कर्मपुद्गलों के प्रवेश के बिना भोक्तृत्व नहीं प्रदान कर सकता तथा कर्मों के द्वारा जन्मादि का निर्धारण होता है। जहाँ परमाणु सृष्टि का प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ जैन दर्शन अन्य दर्शनों के विपरीत विज्ञान की भाँति ही परमाणुओं की समरूपता तथा समगुणवत्ता को स्वीकार करता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक परमाणु में किसी भी भौतिक पदार्थ को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। वे ही परमाणु पार्थिव सृष्टि करते हैं, जो वायवीय, जलीय अथवा तैजस सृष्टि। पदार्थ की भिन्नता में परमाणु-क्रमाङ्क प्रभावी होते हैं। 'परमाणु क्रमाङ्क' वे सकेत विशेष हैं, जो किसी तत्व (Element) के परमाणु में प्रोटॉनों तथा इलेक्ट्रॉनों की संख्या का निर्धारण करते हैं। जैसा कि, पूर्व चर्चा की जा चुकी है कि, प्रोटॉन न्यूट्रॉनों द्वारा एकत्रीभूत होते हैं। पार्थिवादि परमाणुओं के परिणाम में गतिज ऊर्जा भी कारण होती है। ऊर्जा के वेग में अन्तर तथा परमाणु-क्रमाङ्क के कारण ही कुछ परमाणु पार्थिव पदार्थ की सृष्टि करते हैं तो कुछ तैजस आदि की।

यद्यपि कर्म और गति की जैनसम्मत तथा विज्ञान प्रतिपादित परिभाषाएँ भिन्न हैं तथापि स्वरूप की दृष्टि से कुछ अधिक अन्तर नहीं। गति में स्वभाव कारण होता है तथा कर्म स्वतः सिद्ध होते हुए भी उत्प्रेर्य होता है। परमाणुओं में विक्रम गति या कर्म के ही कारण होता है। इस प्रकार

जन्ममरणचक्र आस्रव के समकक्ष ही है। जीवविज्ञान तथा भौतिक जीव विज्ञान के अनुसार परमाणु में चैतन्य उत्पन्न होने पर उसमें अनेक ऐसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं, जो उसे जड़ से भिन्न करते हैं। वे चेतन परमाणु असोमकाल तक गतिशील होते हुए गति द्वारा ही नियन्त्रित होते हुए चक्रवत् स्थित रहते हैं। भौतिक तन्त्रों का संसर्ग होते ही इनका भोग की ओर चुम्बकीय आकर्षण हो जाता है। विचारणीय है, क्या 'बन्ध' का वैज्ञानिक स्वरूप इस स्वाभाविक प्राकृतिक चेतन सृष्टि प्रक्रिया में देखा जा सकता है ?

परमाणुओं की स्थिति सदा एक सी नहीं रहती, अपितु निरन्तर गतिशीलता के कारण उसके स्वरूप में उसके अन्दर स्थित प्रोटॉनों की संख्या में तथा ऊर्जा में भी परिवर्तन होता रहता है। किसी तत्व विशेष के परमाणुओं में तीव्र गति वेग के कारण उनकी ऊर्जा दूसरे तत्व में परिणत हो सकती है। ऊर्जा का निरन्तर क्षय होता रहता है। तत्व परिवर्तन की यह स्थिति बहुत समय पश्चात् आती है। सम्भवतः जैविक, भौगोलिक, आनुवंशिक यहाँ तक कि सांस्कृतिक परिवर्तनों में भी किसी सीमा तक यह कारण रहता हो। जैसे कोई चक्र वेगपूर्वक घुमाकर छोड़ दिए जाने पर अपने अधिकतम वेग तक पहुँचकर पुनः विपरीत वेग से गतिमान होते हुए स्थिर हो जाता है, स्थिरता के बिन्दु पर पहुँचते ही पुनः वही क्रम प्रारम्भ हो सकता है, उसी प्रकार अपरिमित काल तक ऊर्जा का क्षरण शून्यता के बिन्दु तक पहुँचता है, पुनः संकोच-विस्तार चलता रहता है। शून्यता का यह बिन्दु इस प्रकार विनाश का बिन्दु न होकर ऊर्जा का तत्त्वान्तर में परिवर्तित होने का बिन्दु है। यही वह बिन्दु है, जहाँ कुछ विशेष परिस्थितियों में द्रव्य के गुण-धर्म परिवर्तित हो सकते हैं। परमाणु क्रमाङ्क अधिक होने से उसमें से स्वतः विकिरणें निर्गम होनी लगती हैं, जिनका निर्धारण प्रोटॉनों की संख्या देखकर किया जाता

है।⁶ यह स्थिति गति को लगभग वही अवस्थिति बतलाती है, जो 'संवर' तथा 'निर्जरा' की है।

गति के आत्यन्तिक क्षय के प्रश्न पर विज्ञान मौन है। जिस प्रकार गति स्वयं सापेक्ष होते हुए पदार्थों की सापेक्षता के लिए उत्तरदायी है, वैसे ही कर्म आत्मवाद पदार्थों की सापेक्ष स्थिति के लिए उत्तरदायी है। जीव के कर्मों का आत्यन्तिक क्षय ही जैन मत में मोक्ष है। वैज्ञानिक गवेषणाएँ अभी तक इस विषय पर प्रयोग तथा निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं कर पायी हैं, कि अनन्त सृष्टि चक्र के प्रवाह का, अनन्त-चेतन परमाणुओं का पर्यवसान कहीं है अथवा नहीं। भले ही यह अप्रासंगिक तथा अप्राकरणिक प्रतीत हो किन्तु, चिन्तन का विषय अवश्य हो सकता है कि जीव के कर्मों का क्षय किस सीमा तक तथा किस रूप में होता है? जीवों की संख्या भी न्यूनाधिक होती रहती है अथवा निश्चित रहती है? जीव विज्ञान के अनुसार प्रत्येक जैविक तन्त्र में अपने ही समान जैविक तन्त्रों को उत्पन्न करने की क्षमता होती है।⁷ ये जैविक तन्त्र भौतिक तन्त्र से सम्पर्क टूटने के पश्चात् (मृत्यु के पश्चात्) कहाँ जाते हैं, वे पुनः शरीर धारण किस आधार पर करते हैं? क्या कोई ऐसा विन्दु भी है, जहाँ वे जैविक तन्त्र परमाणुरूप में विखण्डित हो जाते हैं? यदि विज्ञान इन प्रश्नों का उत्तर दे सका, तो जैविक तन्त्रों की गति का विराम विन्दु जैन सम्मत (तथा अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में भी प्रतिपादित) मोक्ष की समस्या का वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत कर सकेगा।

उक्त पाँचों पदार्थों का भोक्तृभाव से जीव तथा भोग्यभाव से अजीव से सम्बन्ध है। जीव तथा अजीव जैन मत में द्रव्य हैं। द्रव्य गुण तथा पर्याय से युक्त पदार्थ है।⁸ द्रव्य में रहने वाले तथा स्वयं गुण न धारण करने वाले धर्म गुण तथा द्रव्य का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में जाकर होना पर्याय कहलाता है। गुणधर्म नित्य तथा पर्याय अनित्य है।⁹ द्रव्य की यह परिभाषा भी वैज्ञानिक है। न्यायादि

दर्शनों की भाँति ही गुण तथा क्रियावान् होना द्रव्य का लक्षण है, यह विज्ञान स्वीकार करता है। मूलतः यह द्रव्य दो प्रकार का है—अस्तिकाय तथा अनस्तिकाय। काल, तम इत्यादि अदृश्य पदार्थ अनस्तिकाय तथा जीव और अजीव अस्तिकाय हैं, क्योंकि ये दृश्य हैं। जीव भी बद्ध तथा मुक्त भेद से द्विधा है। बद्ध जीवों में एकेन्द्रिय अचर वनस्पति आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय (मनुष्य) इन चर जीवों की गणना होती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि वनस्पति में जीवन का अनुसन्धान आधुनिक जीव-विज्ञान की खोज समझी जाती है, बल्कि अभी तक यह विवादास्पद विषय है; किन्तु लगभग २ सहस्र वर्ष पूर्व जैन दर्शन ने कितना वैज्ञानिक निर्णय प्रस्तुत किया, इसका प्रमाण द्रव्यों का उक्त वर्गीकरण है। अजीव द्रव्यों के अन्तर्गत धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल की गणना की गई है। धर्म तथा अधर्म की व्याख्या जैन दर्शन क्रमशः गति सहकारी कारणभूत द्रव्यविशेष तथा स्वैर्य सहकारी कारणभूत के रूप में करता है जो परम्परागत न होकर पारिभाषिक है। एक गति है तो दूसरा स्थिति। एक प्रेरक है तो दूसरा निष्क्रिय ये अनुमान द्वारा सिद्ध हैं।¹⁰ ये जड़ भाव हैं तथा सम्पूर्ण तत्व-मीमांसा को प्रभावित करते हैं। विज्ञान की भाँति ही, जैन धर्माधर्म की धारणा समग्र अभिधेय को गति तथा स्थिरता इन दो अवस्थाओं में विभक्त करती है। विज्ञान की शाखाओं के रूप में जिन गति-विज्ञान (Dynamics) अथवा गति सम्बन्धी विज्ञान (Kinematics) तथा स्थितिविज्ञान (Statics) की प्रतिष्ठा है, वे भी पदार्थों की इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं का ही अध्ययन करते हैं।

न्यूटन ने गति सम्बन्धी जिन सिद्धांतों को प्रतिपादित किया, उनके अनुसार पदार्थ या तो ऋजु अथवा वक्र गति वाले होते हैं।¹¹ स्थिति गति सापेक्ष है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च, जो निरन्तर प्रत्येक क्षण में आविर्भाव और लय को प्राप्त होता है, गति तथा स्थिति के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

चाहे वह त्रिगुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति हो, शान्त अवस्था में स्थित परमाणु हो, माया हो अथवा पुद्गल हों। भेद केवल नाम-रूप का है, चिन्तन के दृष्टिकोण का है, मूल रूप में एक ही शाश्वत अविनाशी तत्व विद्यमान है, जो अव्यक्त रूप से व्यक्त होता है जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् का मत है।¹²

जैन आकाश को द्रव्य मानकर अनुमान से उसकी सिद्धि मानते हैं क्योंकि पुद्गलों की व्यापकता के लिए कोई आधार अवश्य मानना पड़ेगा। विज्ञान आकाश को नहीं मानता, वह दिक् और काल (Space and Time) की सत्ता स्वीकार करता है। आकाश तो वस्तुतः वह सम्पूर्ण रिक्त स्थान है जहाँ कोई पदार्थ नहीं है। यहाँ विज्ञानवेत्ताओं का तर्क हो सकता है कि परमाणु सघन अथवा विरल रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं; अतः उस आकाश की सिद्धि नहीं होती, जो रिक्त स्थान का पर्याय है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि परमाणुओं का संघनित होना दृश्य पदार्थ की स्थिति है। विरल रूप में परमाणुओं के होते हुए भी पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना किसी अवरोध के गतिमान होते हैं, क्योंकि परमाणुओं का अपना कोई निश्चित आकार नहीं होता, इसी से आकाश की सिद्धि होती है। उपाधिभेद से वही घटाकाश इत्यादि के रूप में अभिधेय होता है।

अन्तिम अजीव द्रव्य पुद्गल है। 'पूरयन्ति गलन्ति च' इस व्युत्पत्ति के आधार पर पुद्गल वे द्रव्य हैं; जो अणुओं के विश्लेषण या संघात से स्कन्धादि की उत्पत्ति के कारण होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—अणु तथा स्कन्ध या संघात। विज्ञान की भाषा में इन्हें क्रमशः Atomic तथा Compound कहा जा सकता है। अणु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उपभोग्य नहीं हैं। द्रव्यणुक से आरम्भ करके स्कन्धों का निर्माण होता है। पुद्गल उपादान तथा मूल इकाई है। संघात ही दृश्य

जगत की उत्पत्ति करता है, जो रसायन विज्ञान की यौगिकों की धारणा के ही समान है। जिस प्रकार जैन मत में संघात या स्कन्ध से ही स्थूल जगत की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार रसायन विज्ञान प्रत्येक पदार्थ को कुछ विशेष मूल तत्वों (Elements) के यौगिक के रूप में विश्लेषित करता है।

ये पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण से युक्त होते हैं।¹³ भौतिक पदार्थों का निष्पादन करने वाले इन अणुओं का अपना निश्चित परिमाण तथा आकार नहीं होता। इनमें गुणगत ध्वंस विद्यमान है।¹⁴

यह ध्वंस विनाश (प्रध्वंसाभाव) न होकर क्षय या क्षरण रूप है। परमाणु का विरलत्व या सघनत्व वस्तु के आकार को प्रभावित करता है। विज्ञान इस तथ्य को मानता है। यही कारण है कि समान संख्यक परमाणुओं वाले दो पदार्थ अथवा समान भार वाले दो पदार्थ परमाणुओं के विरलत्व या सघनत्व के कारण भिन्न आकार के होते हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दार्शनिकों ने जिन सिद्धान्तों की स्थापना की तथा पदार्थों का जिस प्रकार विवेचन किया वह वैज्ञानिक पद्धति है। जो वर्तमान विज्ञान-वेत्ता विकासवाद का मिथ्या उद्घोष करते हुए आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों को मानव की चमत्कारपूर्ण बुद्धि का परिणाम मानते हैं, वे अपने सहस्रों वर्ष पूर्व प्रतिपादित किए गए दार्शनिक विचारों को पुरातन इतिहास कहकर उनका उपहास करते हैं, किन्तु उन दार्शनिक विचारों को कितने विचार मन्थन के पश्चात् प्रस्तुत किया गया था, यह विचार का विषय है। दर्शन का क्षेत्र विज्ञान के क्षेत्र से अधिक व्यापक है क्योंकि विज्ञान ब्रह्माण्ड से भी परे उसे नियन्त्रित करने वाली शक्ति के विषय में मौन है जबकि दर्शन किसी

पूर्ण सत्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्त सत्ता अथवा स्थिति को मानता है चाहे वह ज्ञान मात्र ही क्यों न हो। जैन पदार्थ मीमांसा को एक-एक कोण से विज्ञान की तुला पर रखकर निष्पक्ष समन्वयात्मक समीक्षा की

आवश्यकता है। इसके लिए अध्येताओं को प्रोत्साहन तथा प्रेरणा प्रदान कर उनमें दर्शनों के वैज्ञानिक अनुशीलन के प्रति अभिरुचि जागृत करने की आवश्यकता है।

टिप्पण-सन्दर्भ

1. History of Indian Philosophy—S. N. Dass Gupta, Page 176
2. भारतीय दर्शन—डॉ० कुंवरलाल व्यासशिष्य—पृ. १७४
3. 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि ।'
—तत्त्वार्थसूत्र १/१
4. 'अत्र संक्षेपतस्तावज्जीवाजीबाह्ये द्वे तत्त्वे स्तः ।'
—सर्वदर्शन संग्रह—पृ. १४३
5. द्रव्य के गुण—डा. डी. बी. देवधर—पृ. ३
6. विज्ञान का दर्शन—डा. अजित कुमार सिन्हा—पृ. ७३
7. विज्ञान का दर्शन—पृ. १६७
8. 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ।' तत्त्वार्थसूत्र ५/३७
9. सर्वदर्शन संग्रह पृ. १५४
10. 'अतएव भ्रमास्तिकायः प्रवृत्त्यनुमेयः अधर्मास्तिकायः स्थित्यनुमेयः ।'—सर्वदर्शनसंग्रह—पृ. १५२
11. ऋजुगति Rectilinear Motion तथा वक्रगति Curvilinear Motion कहलाती है।
Handbook of Elementary Physics—N. Koshkin and M. Shirkevich—Translated by F. Leic Page 17
12. वाचारम्भणं विकारोनामधेयम्। छा० उ० ६-४-१
13. 'रूपरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।'
—तत्त्वार्थसूत्र ५/२४
14. भारतीय दर्शन का इतिहास—हरदत्त शर्मा पृ. ८१



सुचिरं पि अच्छमाणो,
वेरुलिओ कायमणिओ मोसे ।
न य उतेइ कायभाव,
पाहअगुणे नियएण ॥

—ओघ नि. ७७२

बहुते रत्न काच की मणियों में कितने ही लम्बे समय तक क्यों न मिला रहे, वह अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण रत्न ही रहता है, कभी काच नहीं होता।



तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

कर्म-सिद्धान्त भारतीय दर्शन का आधार है, नाव ह । प्रायः सभी दर्शनों में कर्म को किसी न किसी रूप में माना गया है, भले ही कर्म के स्वरूप निर्णय में मतैक्य न हो, पर अध्यात्मसिद्धि कर्ममुक्ति पर निर्भर है। इसमें मतभिन्नता नहीं है । प्रत्येक दर्शन में किसी न किसी रूप में कर्म की मीमांसा की है, जैन दर्शन में इसका चिन्तन बहुत ही गहराई, विस्तार एवं सूक्ष्मता से किया गया है ।

कर्म का स्वरूप—लौकिक भाषा में तो साधारण तौर से जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं । जैसे—खाना, पीना, चलना, बोलना इत्यादि । श्रुति और स्मृति में भी यही अर्थ किया गया है । उपनिषद् और वेदान्त सूत्रों के अनुसार कर्म सूक्ष्म शरीर को चिपकते हैं और जिससे जीव को अवश्य जन्म-मरण करने पड़ते हैं । सांख्य दर्शन में सत्व, रजस, तमस गुण पर कर्म निर्भर हैं ।

परलोकवादी दार्शनिकों का मत है कि हमारा प्रत्येक कार्य—अच्छा हो या बुरा हो अपना संस्कार छोड़ जाता है । जिसे नैयायिक और वैशेषिक धर्माधर्म कहते हैं । योग उसे आशय और अनुशय के नाम से सम्बोधित करते हैं । उक्त ये भिन्न-भिन्न नाम कर्म के अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं तात्पर्य यह है कि जन्म जरा मरण रूप संसार के चक्र में पड़े हुए प्राणी, अज्ञान, अविद्या, मिथ्यात्व से आलिप्त हैं जिसके कारण वे संसार का वास्तविक स्वरूप नहीं समझ सकते, अतः उनका जो भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक है, रागद्वेष का दुराग्रह होता है, इसलिए उनका प्रत्येक कार्य आत्मा के बन्धन का कारण होता है ।

—साध्वो श्रुतिदर्शना

एम. ए.

सारांश यह है कि उन दार्शनिकों के अनुसार कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है और उस प्रवृत्ति के मूल में रागद्वेष रहते हैं । यद्यपि प्रवृत्ति क्षणिक होती है किन्तु उसका संस्कार फल—काल तक स्थायी रहता है जिसका परिणाम यह होता है कि संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा चलती रहती है और इसी का नाम संसार है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार कर्म का स्वरूप किसी अंश में उक्त मतों से भिन्न है ।

जैनदर्शन में कर्म केवल संस्कार मात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तु-भूत पदार्थ है, जो जीव की राग-द्वेषात्मक क्रिया से आकर्षित होकर जीव के साथ सश्लिष्ट हो जाता है, उसी तरह घुल-मिल जाता है जैसे दूध में पानी । यद्यपि वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिए रूढ़ हो गया है कि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया के कारण

आकृष्ट होकर वह जीव के साथ बन्ध जाता है। इस प्रकार जैनदर्शन में कर्म को सिर्फ क्रिया—अच्छे बुरे कार्य इतना ही नहीं किन्तु जीव के कर्मों के निमित्त से जो पुद्गल परमाणु आकृष्ट होकर उसके साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, वे पुद्गल परमाणु भी कर्म कहलाते हैं।

संसार के सभी प्राणियों में अनेक प्रकार की विषमताएँ और विविधताएँ दिखलाई देती हैं। इसके कारण के रूप में सभी आत्मवादी दर्शनों ने कर्म-सिद्धान्त को माना है। इतना ही नहीं अनात्मवादी बौद्धदर्शन में कर्म-सिद्धान्त को मानने के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा है कि—“सभी जीव अपने कर्मों से ही फल भोग करते हैं सभी जीव अपने कर्मों के आप मालिक हैं, अपने कर्मों के अनुसार ही नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं, अपना कर्म ही अपना बन्धु है, अपना कर्म ही अपना आश्रय है, कर्म से ही ऊँचे और नीचे हुए हैं।” (मिलिद प्रश्न पृष्ठ ८०-८१)

इसी तरह ईश्वरवादी भी प्रायः इसमें एकमत है कि—

“करम प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करहि तो तस फल चाखा ॥”

प्राणी जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है—यही कर्मसिद्धान्त का आशय है। अंग्रेजी में कहा है—

“As you sow so you reap.”

उपर्युक्त प्रकार से कर्म-सिद्धान्त के बारे में ईश्वरवादियों और अनौश्वरवादियों, आत्मवादियों और अनात्मवादियों में मतैक्य होने पर भी कर्म के स्वरूप और उसके फलदान के सम्बन्ध में मौलिक मतभेद हैं।

अब हम कर्म के फलदान के सम्बन्ध में देखेंगे। प्रायः सभी आस्तिकवादी दार्शनिकों ने कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करके उसकी वध्यमान, सत्

और उदय ये तीन अवस्थाएँ मानी हैं। इनके नामों में अन्तर भी हो सकता है। लेकिन कर्म के बन्ध, उदय व सत्ता के विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। लेकिन विवाद है कर्म के स्वयं जीव द्वारा फल भोगने में या दूसरे के द्वारा भोग कराये जाने में, जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व में, उसके सदात्मक रूप से बने रहने के विषय में।

सांख्य के सिवाय प्रायः सभी वैदिक दर्शन किसी न किसी रूप से आत्मा को ही कर्म का कर्ता और उसके फल का भोक्ता मानते हैं किन्तु सांख्य भोक्ता तो पुरुष को मानता है और कर्ता प्रधान प्रकृति को कहता है। इस प्रकार कुछ तत्त्वचिन्तकों का मतव्य है कि जीव कर्म करने में तो स्वतन्त्र है लेकिन उसका फलभोग ईश्वर द्वारा कराया जाता है अर्थात् जीव अपने कर्मों का फल भोगने में परतन्त्र है—इस तरह कर्म फल देने की निर्णायक शक्ति ईश्वर है, उसके निर्णय के अनुसार जीव कर्मफल का भोग करता है।

जैसा कि महाभारत में लिखा है—

“अज्ञोऽज्जुर्नरीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वप्नमेव वा ॥”

अर्थात् अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।

भगवद्गीता में भी लिखा है—‘लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान्।’ मैं अर्थात् ईश्वर जिसका निश्चय कर देता है, वही इच्छित फल मनुष्य को मिलता है।

बौद्ध दर्शन ईश्वर को कर्मभोग कराने में सहायक नहीं मानता किन्तु वह जीव को त्रिकाल स्थायी तत्त्व न मानकर क्षणिक मानता है।

उक्त दृष्टियाँ एकांगी हैं क्योंकि कृतकृत्य ईश्वर द्वारा सृष्टि में हस्तक्षेप करने से उसकी स्वतन्त्रता

एवं निष्पक्षता में बाधा पड़ती है। स्वयं जीव के आत्मस्वातन्त्र्य की हानि होती है। यदि जीव को सिर्फ वर्तमान क्षणस्थायी माना जाय तो कर्म-विपाक की उपपत्ति नहीं बन सकती क्योंकि जिस क्षण वाली आत्मा ने कर्म किया है उसी क्षण वाली आत्मा को यह कर्म का फल मिल रहा है यह नहीं हो सकेगा क्योंकि वे क्षणिक मानते हैं। जड़ पदार्थ चेतन के अभाव में फल भोग नहीं कर सकते हैं। यह कार्य तो कृतकर्म भोगी पुनर्जन्मवान् स्थायी-तत्व ही करता है। इस प्रकार से त्रिकालस्थायी स्वतन्त्र जीवतत्व का अस्तित्व और उसे अपने ही सुख-दुःख का कर्ता, भोक्ता बताना ही कर्म-सिद्धान्त का प्रयोजन है।

जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का नियंता नहीं मानता है, अतः कर्मफल देने में भी उसका हाथ नहीं है। कर्म अपना फल स्वयं देते हैं, उनके लिये अन्य न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है। जैसे शराब नशा पैदा करती है और दूध ताकत देता है जो मनुष्य शराब पीता है, उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है, उसके शरीर में पुष्टता आती है। शराब या दूध पीने के बाद यह आवश्यकता नहीं रहती है कि उसका फल देने के लिए दूसरी नियामक शक्ति हो। इसी प्रकार जीव के प्रत्येक कार्यात्मक, वाचिक, मानसिक परिस्पन्द से जिन कर्म पुद्गलों का बन्ध होता है, उन कर्म परमाणुओं में भी शराब और दूध की तरह शुभ या अशुभ करने की शक्ति रहती है। जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर उस पर अपना प्रभाव दिखलाती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो उसे सुखदायक और दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं तो बंधने वाले कर्म परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और कालान्तर में उससे अच्छा फल मिलता है तथा यदि भाव बुरे हों तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तर में फल भी बुरा ही मिलता है।

यदि ईश्वर को फलदाता माना जाये तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का घात करता है, वहाँ घातक को दोष का भागी नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस मनुष्य के द्वारा ईश्वर मरने वाले को मृत्यु का दण्ड दिलाता है। जैसे राजा जिन पुरुषों के द्वारा अपराधियों को दण्ड दिलाता है, वे पुरुष अपराधी नहीं कहे जाते क्योंकि वे राजा की आज्ञा का पालन करते हैं।

इसी तरह किसी का घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है, उसके पूर्वकृत कर्मों का फल भुगवाता है, क्योंकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मों की यही सजा नियत की होगी, तभी तो उसका वध किया गया है। यदि कहा जाय कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है अतः घातक का कार्य ईश्वर-प्रेरित नहीं है किन्तु उसकी स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है तो कहना होगा कि संसार दशा में कोई भी प्राणी वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं, सभी अपने-अपने कर्मों से बंधे हुए हैं।

कर्मणा बध्यते जन्तु (महाभारत) और कर्म की अनादि परम्परा है। ऐसी स्थिति में 'बुद्धिकर्मानु-सारिणी'—अर्थात् कर्म के अनुसार प्राणी की बुद्धि होती है, के न्यायानुसार किसी भी काम को करने या न करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। इस स्थिति में यह कहा जाय कि कोई भी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा क्योंकि जीव कर्म से बंधा हुआ है और कर्म के अनुसार जीव की बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अतः अच्छे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को सन्मार्ग पर ले जाती है और उससे मुक्ति लाभ हो सकता है, और बुरे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि कुमार्ग पर ले जाती है जिससे कर्मबन्ध होता है। ऐसी दशा में बुद्धि के कर्मानुसारिणी होने से मुक्ति लाभ में कोई बाधा नहीं आती है, आत्मा में कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दोनों अवसरों पर स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य फलित होते हैं।

जैसे कि सहजतया कर्म करने में आत्मा स्व-तन्त्र है, वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है, इस प्रकार आत्मा ही स्वयं के भाग्य का निर्माता है न कि ईश्वर के हाथ को कठपुतली। कर्मों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध बनकर मुक्त हो सकती है। किन्तु कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह जैसा चाहे वैसा कभी भी नहीं कर सकती है, जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर बढ़ना चाहती है, किन्तु कर्मोदय की बलवत्ता से उस मार्ग पर चल नहीं पाती है, फिसल जाती है, यह है आत्मा का कर्तृत्व काल में स्वातन्त्र्य और परतन्त्र्य।

कर्म करने के बाद आत्मा पराधीन—कर्माधीन ही बन जाती है, ऐसा नहीं। उस स्थिति में भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ में परिवर्तित कर सकती है, स्थिति और रस का ह्रास कर सकती है। विपाक (फलोदय) का अनुदय कर सकती है, फलोदय को अन्य रूप में परिवर्तित कर सकती है। इसमें आत्मा का स्वातन्त्र्य मुखर है। परतन्त्रता इस दृष्टि से है कि जिन कर्मों को ग्रहण किया है, उन्हें बिना भोगे मुक्ति नहीं होती। भले ही सुदीर्घ काल तक भोगे

जाने वाले कर्म थोड़े समय के लिए भोगे जाय किन्तु सबको भोगना ही पड़ता है।

जैनदर्शन की कर्म के बन्ध, उदय की तरह कर्म क्षय की प्रक्रिया भी सयुक्तिक है। स्थिति के परिपाक होने पर कर्म उदयकाल में अपना वेदन कराने के बाद झड़ जाते हैं। यह तो कर्मों का सहज क्षय है। इसमें कर्मों की परम्परा का प्रवाह नष्ट नहीं होता है। पूर्व कर्म नष्ट हो जाते हैं लेकिन साथ ही नवीन कर्मों का बन्ध चाख रहता है। इस श्रृंखला को तोड़ने के लिए तप, त्याग, संयम आदि प्रयत्नों की आवश्यकता है। संयम, संवर से नये आते कर्मबन्ध बन्द होगा, तप द्वारा जो कर्म रहे हैं, उनका क्षय होगा। इस प्रकार पुरुषार्थ से आत्मा कर्म के बन्धनों से मुक्त हो सकती है। कर्म तत्व के सम्बन्ध में जैन दर्शन की विशेषताएँ हैं कि कर्म के साथ आत्मा का बन्ध कैसे है? किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न होती है, आत्मा के साथ कितने समय तक कर्म लगे रहते हैं, कब फल देते हैं? इसका विस्तार यहाँ नहीं करते हुए विराम लेती हैं, क्योंकि लेख की मर्यादा है। कर्म सिद्धान्त सागर-सा विशाल है उसे गागर में भरना बहुत ही कठिन है। इस प्रकार जैन दर्शन में वैज्ञानिक रूप से कर्म सिद्धान्त का निरूपण किया गया है।

—५—

जगत में ऐसा कोई बलवान नहीं है जो उगते हुए सूर्य को रोक सकता हो, वैसे ही लोक में ऐसा कोई नहीं जो उदय में आये हुए कर्म को रोक सकता हो।

—भाग० आ० १७४०

—०—

विश्व-धर्म के रूप में जैनधर्म दर्शन की प्रासंगिकता

—डॉ. महावीर सरन जैन

एम. ए., डी. फिल., डी. लिट्.

आज के विश्व को एक ऐसे धर्म दर्शन की आवश्यकता है जो उसकी वर्तमान समस्याओं का समाधान कर सके।

आज भौतिक विज्ञानों ने बहुत विकास किया है। उनकी उपलब्धियों एवं अनुसन्धानों ने मनुष्य को चमत्कृत कर दिया है। ज्ञान का विकास इतनी तीव्र गति से हो रहा है कि प्रबुद्ध पाठक भी सम्पूर्ण ज्ञान से परिचय प्राप्त करने में असमर्थ एवं विवश है। ज्ञान की शाखा-प्रशाखा में विशेषज्ञता का दायरा बढ़ता जा रहा है। एक विषय का विद्वान् दूसरे विषय की तथ्यात्मकता एवं अध्ययन-पद्धति से अपने को अनभिज्ञ पा रहा है। हर जगह, हर दिशा में नई खोज, नया अन्वेषण हो रहा है। प्रतिक्षण अनुसन्धान हो रहे हैं। जो आज तक नहीं खोजा जा सका, उसकी खोज में व्यक्ति संलग्न है, जो आज तक नहीं सोचा गया उसे सोचने में व्यक्ति व्यस्त है। जिन घटनाओं को न समझ पाने के कारण उन्हें 'परात्पर परब्रह्म' के धरातल पर अगम्य-रहस्य मानकर, उन पर चिन्तन करना बन्द कर दिया गया था वे आज अनुसंधेय हो गई हैं। सृष्टि की बहुत सी गुत्थियों की व्याख्या हमारे दार्शनिकों ने परमात्मा एवं माया के आधार पर की थी। उन व्याख्याओं कारण वे 'परलोक' की बातें हो गई थीं। आज उनके बारे में भी व्यक्ति जानना चाहता है। अन्वेषण की जिज्ञासा बढ़ती जा रही है। आविष्कार का धरातल अब भौतिक पदार्थों तक ही सीमित होकर नहीं रह गया है। अन्तर्मुखी चेतना का अध्ययन एवं पहचान भी उसकी सीमा में आ रही है। पहले के व्यक्ति ने इस संसार में कष्ट अधिक भोगे थे। भौतिक उपकरणों का अभाव था। उसने स्वर्ग की कल्पना की थी। भौतिक इच्छाओं की सहज तृप्ति की कल्पना ही उस लोक की परिकल्पना का आधार थी। आज का युग दिव्यताओं को धरती के अधिक निकट लाने के प्रयास में रत है। पृथ्वी को ही स्वर्ग बना देने के लिए बेताब है।

इतना होने पर भी मनुष्य सुखी नहीं है। यह अशान्ति क्या ? वह सुख की तलाश में भटक रहा है। धन बटोर रहा है, भौतिक उपकरण जोड़ रहा है। वह अपना मकान बनाता है। आलीशान इमारत बनाने के स्वप्न को मूर्तिमान करता है। फिर मकान को सजाता है। सोफासेट, कालीन, वातानुकूलित व्यवस्था, मँहगे पर्दे, प्रकाश-ध्वनि के आधुनिकतम उपकरण एवं उनके द्वारा रचित मोहक प्रभाव। सब कुछ अच्छा लगता है। मगर परिवार के सदस्यों के बीच जो प्यार, विश्वास बनपना चाहिए उसकी कमी होती जा रही है।

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

२१३

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

पहले पति-पत्नी भावना की डोरी से आजीवन बंधने के लिए प्रतिबद्ध रहते थे। दोनों को विश्वास रहता था कि वे इसी घर में आजीवन साथ-साथ रहेंगे। दोनों का सुख-दुःख एक होता था। उनकी इच्छाओं की धुरी 'स्व' न होकर 'परिवार' थी। वे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को पूरा करने के बदले, अपने बच्चों एवं परिवार के अन्य सदस्यों की इच्छाओं की पूर्ति में सहायक बनना अधिक अच्छा समझते थे। आज की चेतना क्षणिक, संशयपूर्ण एवं तात्कालिकता में केन्द्रित होकर रह गई है। इस कारण व्यक्ति अपने में ही सिमटता जा रहा है। सम्पूर्ण भौतिक सुखों को अकेला भोगने की दिशा में व्यग्र मनुष्य अन्ततः अतृप्ति का अनुभव कर रहा है।

भौतिक विज्ञानों के चमत्कारों से भयाकुल चेतना को हमें आस्था प्रदान करनी है। निराश एवं संत्रस्त मनुष्य को आशा एवं विश्वास की मशाल थमानी है। परम्परागत मूल्यों को तोड़ दिया गया है। उन पर दुबारा विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि वे अविश्वसनीय एवं अप्रासंगिक हो गये हैं। परम्परागत मूल्यों की विकृतियों को नष्ट कर देना ही इच्छा है। हमें नये युग को नये जीवन मूल्य प्रदान करने हैं। इस युग में बौद्धिक संकट एवं उलझने पैदा हुई हैं। हमें समाधान का रास्ता ढूँढना है।

आज विज्ञान ने हमें गति दी है, शक्ति दी है। लक्ष्य हमें धर्म एवं दर्शन से प्राप्त करने हैं। लक्ष्य-विहीन होकर दौड़ने से जिन्दगी की मंजिल नहीं मिलती।

वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण जिस शक्ति का हमने संग्रह किया है उसका उपयोग किस प्रकार हो, गति का नियोजन किस प्रकार हो—यह आज के युग की जटिल समस्या है। इसके समाधान के लिए हमें धर्म एवं दर्शन की ओर देखना होगा।

इसका कारण यह है कि धर्म ही ऐसा तत्व है जो मानव हृदय की असीम कामनाओं को सीमित करने की क्षमता रखता है, उसकी दृष्टि को व्यापक बनाता है, मन में उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेम की भावना का विकास करता है।

कोई भी समाज धर्महीन होकर स्थिर/स्थित नहीं रह सकता। समाज की व्यवस्था, शान्ति तथा समाज के सदस्यों में परस्पर प्रेम एवं विश्वास का भाव जगाने के लिए धर्म का पालन आवश्यक है।

धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है। धर्म का अर्थ है—'धञ् धारणे'—धारण करना। जिन्दगी में जो हमें धारण करना चाहिए—वही धर्म है। हमें जिन नैतिक मूल्यों को जिन्दगी में उतारना चाहिए वही धर्म है।

मन की कामनाओं को नियन्त्रित किये बिना समाज रचना सम्भव नहीं है। जिन्दगी में संयम की लगाम आवश्यक है।

कामनाओं के नियन्त्रण की शक्ति या तो धर्म में है या शासन की कठोर व्यवस्था में। धर्म का अनुशासन 'आत्मानुशासन' होता है। व्यक्ति अपने पर स्वयं शासन करता है। शासन का अनुशासन हमारे ऊपर 'पर' का नियन्त्रण होता है। दूसरों के द्वारा अनुशासित होने में हम विवशता का अनुभव करते हैं, परतन्त्रता का बोध करते हैं, घुटन की प्रतीति करते हैं।

माक्स ने धर्म की अवहेलना की है। वास्तव में माक्स ने मध्ययुगीन धर्म के बाह्य आडम्बरों का विरोध किया है। जिस समय माक्स ने धर्म के बारे में चिन्तन किया उस समय उसके चारों ओर धर्म का पाखण्ड भरा रूप था। माक्स ने इसी को धर्म का पर्याय मान लिया।

वास्तव में धर्म तो वह पवित्र अनुष्ठान है जिससे चेतना का शुद्धिकरण होता है। धर्म वह तत्व है जिससे व्यक्ति अपने जीवन को चरितार्थ कर पाता है। धर्म दिखावा नहीं, प्रदर्शन नहीं,

रुद्धियाँ नहीं, किसी के प्रति घृणा नहीं, मनुष्य मनुष्य के बीच भेदभाव नहीं अपितु मनुष्य में मनुष्यता के गुणों के विकास की शक्ति है; सार्वभौम चेतना का सत्-संकल्प है।

आज के विश्व के लिए किस प्रकार का धर्म एवं दर्शन सार्थक हो सकता है ?

मध्य युग में विकसित धर्म एवं दर्शन के परम्परागत स्वरूप एवं धारणाओं में आज के व्यक्ति की आस्था समाप्त हो चुकी है। इसके कारण हैं।

मध्ययुगीन चेतना के केन्द्र में 'ईश्वर' प्रतिष्ठित था। हमारा सारा धर्म एवं दर्शन इसी 'ईश्वर' के चारों ओर घूमता था। सम्पूर्ण सृष्टि के कर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता के रूप में हमने 'परम शक्ति' की कल्पना की थी। उसी शक्ति के अवतार के रूप में, या उसके पुत्र के रूप में या उसके प्रतिनिधि के रूप में हमने ईश्वर, ईसा या अल्लाह को माना तथा उन्हीं की भक्ति में अपनी मुक्ति का मन्त्र मान लिया। स्वर्ग की कल्पना, देवताओं की कल्पना, वर्तमान जीवन की निरर्थकता का बोध, अपने देश एवं अपने काल की माया एवं प्रपंचों से परिपूर्ण अवधारणा आदि बातें हमारे मध्ययुगीन धर्म दर्शन के घटक थे। वर्तमान जीवन की मुसीबतों का कारण हमने अपने विगत जीवन के कर्मों को मान लिया। वर्तमान जीवन में अपने श्रेष्ठ आचरण द्वारा अपनी मुसीबतों को कम करने की तरफ हमारा ध्यान कम गया, अपने आराध्य की स्तुति एवं जयगान की ओर अधिक।

ईश्वर और मनुष्य के बीच के बिचौलियों ने मनुष्य को सारी मुसीबतों, कष्टों, विपदाओं से मुक्त होकर स्वर्ग, बहिष्ठ में मौज की जिन्दगी बिताने की राह दिखायी और बताया कि हमारे माध्यम से अपने आराध्यों के प्रति तन, मन, धन से समर्पित हो जाओ—पूर्ण आस्था, पूर्ण विश्वास, पूर्ण निष्ठा के साथ भक्ति करो। तर्क को साधना पथ का सबसे बड़ा शत्रु मान लिया गया।

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

धर्म की उपर्युक्त धारणायें आज टूट चुकी हैं। विज्ञान ने हमें दुनियाँ को समझने और जानने का तर्कवादी रास्ता बताया है। विज्ञान ने यह स्पष्ट किया कि यह विश्व किसी की इच्छा का परिणाम नहीं है। विश्व तथा सभी पदार्थ कारण-कार्य भाव से बद्ध हैं। भौतिक विज्ञान ने सिद्ध किया है कि जगत में किसी पदार्थ का नाश नहीं होता केवल रूपान्तर मात्र होता है। इस धारणा के कारण इस जगत को पैदा करने वाली शक्ति का प्रश्न नहीं उठता। जीव को उत्पन्न करने वाली शक्ति का प्रश्न नहीं उठता। विज्ञान ने शक्ति के संरक्षण के सिद्धान्त में विश्वास जगाया है। पदार्थ की अनश्वरता के सिद्धान्त की पुष्टि की है। समकालीन पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शन ने भी ईश्वर का निषेध किया है। उसने यह माना है कि मनुष्य का सृष्टा ईश्वर नहीं है। मनुष्य वह है जो अपने आपको बनाता है।

इस प्रकार जहाँ मध्ययुगीन चेतना के केन्द्र में 'ईश्वर' प्रतिष्ठित था वहाँ आज की चेतना के केन्द्र में 'मनुष्य' प्रतिष्ठित है। मनुष्य ही सारे मूल्यों का स्रोत है। वही सारे मूल्यों का उपादान है। आज के मनुष्य के लिए ऐसा धर्म एवं दर्शन व्याख्यायित करना होगा जो 'ईश्वरवादी' नहीं होगा, भाग्यवादी नहीं होगा। उसके विधानात्मक घटक होंगे— (१) मनुष्य, (२) कर्मवाद की प्रेरणा, (३) सामाजिक समता।

आज के अस्तित्ववादी दर्शन में, विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओं में तथा साम्यवादी शासन-व्यवस्था में कुछ विचार प्रत्यय समान हैं।

(१) तीनों ईश्वरवादी नहीं हैं। ईश्वर के स्थान पर मनुष्य स्थापित है।

(२) तीनों भाग्यवादी नहीं हैं। कर्मवादी तथा पुरुषार्थवादी हैं।

(३) तीनों में मनुष्य की जिन्दगी को सुखी बनाने का संकल्प है।

२१५

अस्तित्ववादी दर्शन में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य पर जोर है तो साम्यवादी दर्शन में सामाजिक समानता पर। इन समान एवं विषम विचार-प्रत्ययों के आधार पर क्या नये युग का धर्म एवं दर्शन निर्मित किया जा सकता है ?

हम देखते हैं कि विज्ञान ने शक्ति दी है। अस्तित्ववादी दर्शन ने स्वातन्त्र्य चेतना प्रदान की है। साम्यवाद ने विषमताओं को कम कराने पर बल दिया है। फिर भी, विश्व में संघर्ष की भावना है; अशांति है, शस्त्रों की स्पर्धा एवं होड़ है; जिन्दगी में हैवानियत है। फिर यह सब क्यों है ?

इसका मूल कारण है कि इन तीनों ने 'संघर्ष' को मूल मान लिया है। मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष पर आधारित है। विज्ञान में जगत, मनुष्य एवं यंत्र का संघर्ष है। अस्तित्ववाद व्यक्ति एवं व्यक्ति के अस्तित्व-वृत्तों के मध्य संघर्ष, भय, घृणा आदि भावों की उद्भावना एवं प्रेरणा मानता है।

आज हमें मनुष्य को चेतना के केन्द्र में प्रतिष्ठित कर उसके पुरुषार्थ और विवेक को जागृत कर उसके मन में सृष्टि के समस्त जीवों एवं पदार्थों के प्रति अपनत्व का भाव जगाना है; मनुष्य एवं मनुष्य के बीच आत्म-सुल्यता की ज्योति जगानी है जिससे परस्पर समझदारी, प्रेम, विश्वास पैदा हो सके। मनुष्य को मनुष्य के खतरे से बचाने के लिए हमें आधुनिक-चेतना-सम्पन्न व्यक्ति को आस्था एवं विश्वास का सन्देश प्रदान करना है।

प्रश्न उठता है कि हमारे दर्शन एवं धर्म का स्वरूप क्या हो ?

हमारा दर्शन ऐसा होना चाहिए जो मानव मात्र को सन्तुष्ट कर सके, मनुष्य के विवेक एवं पुरुषार्थ को जागृत कर उसकी शान्ति एवं सौहार्द का अमोघ मंत्र दे सकने में सक्षम हो। इसके लिए हमें मानवीय मूल्यों की स्थापना करनी होगी; सामाजिक बंधुत्व का वातावरण निर्मित करना

होगा; दूसरों को समझने और पूर्वाग्रहों से रहित मनःस्थिति में अपने को समझाने के लिये तत्पर होना होगा; भाग्यवाद के स्थान पर कर्मवाद की प्रतिष्ठा करनी होगी; उन्मुक्त दृष्टि से जीवनोपयोगी दर्शन का निर्माण करना होगा। धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो प्राणीमात्र को प्रभावित कर सके एवं उसे अपने ही प्रयत्नों के बल पर विकास करने का मार्ग दिखा सके। ऐसा दर्शन नहीं होना चाहिए जो आदमी आदमी के बीच दीवारें खड़ी करके चले। धर्म और दर्शन को आधुनिक लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के आधारभूत जीवन मूल्यों—स्वतंत्रता, समानता, विश्व बंधुत्व तथा आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्षों का अविरोधी होना चाहिए।

जैन : आत्मानुसन्धान का दर्शन—'जैन' साम्प्रदायिक दृष्टि नहीं है। यह सम्प्रदायों से अतीत होने की प्रक्रिया है। सम्प्रदाय में बन्धन होता है। यह बन्धनों से मुक्त होने का मार्ग है। 'जैन' शाश्वत जीवन-पद्धति तथा जड़ एवं चेतन के रहस्यों को जानकर 'आत्मानुसन्धान' की प्रक्रिया है।

जैनदर्शन : प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा—भगवान् महावीर ने कहा—'पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं'।

पुरुष तू अपना मित्र स्वयं है। जैन दर्शन में आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य' आत्मा ही दुख एवं सुख का कर्ता या विकर्ता है। यानी कोई बाहरी शक्ति आपको नियंत्रित, संचालित, प्रेरित नहीं करती। आप स्वयं ही अपने जीवन के ज्ञान से, चरित्र से उच्चतम विकास कर सकते हैं। यह एक अत्यधिक क्रान्तिकारी विचार है। इसको यदि हम आधुनिक जीवन-सन्दर्भों के अनुरूप व्याख्यायित कर सकें तो निश्चित रूप से विश्व के ऐसे समस्त प्राणी जो धर्म और दर्शन से निरन्तर दूर होते जा रहे हैं, इससे जुड़ सकते हैं।

भगवान् महावीर का दूसरा क्रान्तिकारी एवं वैज्ञानिक विचार यह है कि मनुष्य जन्म से नहीं अपितु आचरण से महान बनता है। इस सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने मनुष्य समाज की समस्त दीवारों को तोड़ फेंका। आज भी मनुष्य और मनुष्य के बीच खड़ी की गई जितने प्रकार की दीवारें हैं उन सारी दीवारों को तोड़ देने की आवश्यकता है। यदि हम यह मान लेते हैं कि 'मनुष्य जन्म से नहीं, आचरण से महान बनता है' तो जो जातिगत विष है, समाज की शान्ति में एक प्रकार का जो विष थुला हुआ है, उसको हम दूर कर सकते हैं। जो पढ़ा हुआ वर्ग है उसे निश्चित रूप से इसको सैद्धान्तिक रूप से ही नहीं अपितु इसे अपने जीवन में आचरण की दृष्टि से भी उतारना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा बन सकता है—प्रत्येक व्यक्ति साधना के आधार पर इतना विकास कर सकता है कि देवता लोग भी उसको नमस्कार करते हैं। 'देवा वि त्तं नमसन्ति जस्स धम्मं सया मणो !' महावीर ने ईश्वर की परिकल्पना नहीं की; देवताओं के आगे झुकने की बात नहीं की अपितु मानवीय महिमा का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि जिस साधक का मन धर्म में रमण करता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। व्यक्ति अपनी ही जीवन-साधना के द्वारा इतना उच्चस्तरीय विकास कर सकता है कि आत्मा ही परमात्मा बन सकती है।

जैन तीर्थंकरों का इतिहास एवं उनका जीवन आकाश से पृथ्वी पर उतरने का क्रम नहीं है अपितु, पृथ्वी से ही आकाश की ओर जाने का उपक्रम है। नारायण का नर शरीर धारण करना नहीं है अपितु नर का ही नारायण बनना है। वे अवतारवादी परम्परा के पोषक नहीं अपितु उत्तारवादा परम्परा के तीर्थंकर थे। उन्होंने अपने जीवन की साधना के द्वारा, प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रमाण दिया; उसे यह विश्वास दिलाया कि यदि वह

साधना कर सके, राग-द्वेष को छोड़ सके तो कोई ऐसा कारण नहीं है कि वह प्रगति न कर सके। जब प्रत्येक व्यक्ति प्रगति कर सकता है, अपने ज्ञान और साधना के बल पर उच्चतम विकास कर सकता है और तत्त्वतः कोई किसी की प्रगति में न तो बाधक है और न साधक तो फिर संघर्ष का प्रश्न ही कहाँ उठता है? इस तरह उन्होंने एक सामाजिक दर्शन दिया।

प्रत्येक जीव में आत्मशक्ति—सामाजिक समता एवं एकता की दृष्टि से श्रमण परम्परा का अप्रतिम महत्व है। इस परम्परा में मानव को मानव के रूप में देखा गया है; वर्णों, सम्प्रदायों, जाति, उपजाति, वादों का लेबिल चिपकाकर मानव मानव को बाँटने वाले दर्शन के रूप में नहीं। मानव-महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैनदर्शन में हुआ है, वह अप्रतिम है। भगवान् महावीर ने आत्मा की स्वतन्त्रता की प्रजातन्त्रात्मक उद्घोषणा की। उन्होंने कहा कि समस्त आत्माएँ स्वतन्त्र हैं। विवक्षित किसी एक द्रव्य तथा उसके गुणों एवं पर्यायों का अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसके साथ-साथ उन्होंने यह बात कही कि स्वरूप की दृष्टि से समस्त आत्माएँ समान हैं। अस्तित्व की दृष्टि से समस्त आत्माएँ स्वतन्त्र हैं; भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से समस्त आत्माएँ समान हैं। मनुष्य मात्र में आत्म-शक्ति है। शारीरिक एवं मानसिक विषमताओं का कारण कर्मों का भेद है। 'जीव' अपने ही कारण से संसारी बना है और अपने ही कारण से मुक्त होगा। व्यवहार से बन्ध और मोक्ष के हेतु अन्य पदार्थ को जानना चाहिए किन्तु निश्चय से यह जीव स्वयं मोक्ष का हेतु है। आत्मा अपने स्वयं के उपाजित कर्मों से ही बँधती है। आत्मा का दुःख स्वकृत है। प्रत्येक व्यक्ति ही प्रयास से उच्चतम विकास कर सकता है।

जैनदर्शन में आत्माएँ अनन्तानन्त हैं तथा परिणामी स्वरूप हैं किन्तु चेतना स्वरूप होने के कारण एक जीवात्मा अपने रूप में रहते हुए भी ज्ञान के अनन्त पर्यायों का ग्रहण कर सकती है।

स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं। जीव के सहज गुण अपने मूल रूप में स्थित रहते हैं। पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप शुद्धि-अशुद्धि की मात्रा घटती-बढ़ती रहती है।

आत्म-तुल्यता तथा सामाजिक समता—भगवान् ने समस्त जीवों पर मैत्रीभाव रखने एवं समस्त संसार को समभाव में देखने का निर्देश दिया। 'श्रमण' की व्याख्या करते हुए उसकी सार्थकता समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखने में बतलायी। समभाव की साधना व्यक्ति को श्रमण बनाती है।

भगवान् ने कहा कि जाति की कोई विशेषता नहीं, जाति और कुल से त्राण नहीं होता। प्राणी मात्र आत्मतुल्य है। से इस कारण प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रखो; आत्मतुल्य समझो, सबके प्रति मैत्रीभाव रखो, समस्त संसार को समभाव से देखो। समभाव के महत्व का प्रतिपादन उन्होंने यह कहकर किया कि आर्य महापुरुषों ने इसे ही धर्म कहा है।

अहिंसा : जीवन का विधानात्मक मूल्य एवं भाव दृष्टि—भगवान् महावीर ने अहिंसा शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया—मन, वचन, कर्म से किसी को पीड़ा न देना। यहाँ आकर अहिंसा जीवन का विधानात्मक मूल्य बन गया।

महावीर ने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया। उन्होंने संसार में प्राणियों के प्रति आत्मतुल्यता-भाव की जागृति का उपदेश दिया, शत्रु एवं मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखने का शंखनाद किया।

जब व्यक्ति सभी जीवों को समभाव से देखता है तो राग-द्वेष का विनाश हो जाता है। उसका चित्त धार्मिक बनता है। रागद्वेष-हीनता धार्मिक बनने की प्रथम सीढ़ी है।

समभाव एवं आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति अहिंसक अपने आप हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्राणी मात्र जीवित रहने की कामना करने वाले हैं। सबको अपना जीवन प्रिय है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। जब सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है तो किसी भी प्राणी को दुःख न पहुँचाना ही अहिंसा है। अहिंसा केवल निवृत्तिपरक साधना नहीं है, यह व्यक्ति को सही रूप में सामाजिक बनाने का अमोघ मन्त्र है।

अहिंसा के साथ व्यक्ति की मानसिकता का सम्बन्ध है। इस कारण महावीर ने कहा कि अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है। एक कृषक अपनी किया करते हुए यदि अनजाने जीवहिंसा कर भी देता है तो भी हिंसा की भावना उसके साथ जुड़ती नहीं है। भले ही हम किसी का वध न करें, किन्तु किसी के वध करने के विचार का सम्बन्ध मानसिकता से सम्पृक्त हो जाता है।

इसी कारण कहा गया है कि रागद्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा एवं उसका प्रादुर्भाव हिंसा है।

हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है, अहिंसा से मानवीयता एवं सामाजिकता का। दूसरों का अनिष्ट करने की नहीं, अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करने की प्रवृत्ति ने मनुष्य को सामाजिक एवं मानवीय बनाया है। प्रकृति से वह आदमी है, नैतिकता-बोध के संस्कारों ने उसमें मानवीय भावना का विकास कर उसके जीवन को सार्थकता प्रदान की है।

अहिंसा से अनुप्राणित अर्थ तन्त्र : अपरिग्रह— अहिंसा के साथ ही जुड़ी हुई भावनाएँ हैं—अपरिग्रहवाद एवं अनेकान्तवाद। परिग्रह से आसक्ति एवं ममता का जन्म होता है। अपरिग्रह वस्तुओं के प्रति ममत्वहीनता का नाम है। जब व्यक्ति अहिंसक होता है, रागद्वेष रहित होता है तो स्वयमेव अपरिग्रहवादी हो जाता है। उसकी जीवन-दृष्टि बदल जाती है। भौतिक-पदार्थों के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है। अहिंसा की भावना से प्रेरित व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को उसी सीमा तक बढ़ाता है, जिससे किसी अन्य प्राणी के हितों को आघात न पहुँचे।

बहुत अधिक उत्पादन मात्र करने से ही हमारी सामाजिक समस्याएँ नहीं सुलझ सकतीं। हमें व्यक्ति के चित्त को अन्दर से बदलना होगा। उसकी कामनाओं, इच्छाओं को सीमित करना होगा तभी हमारी बहुत सारी सामाजिक समस्याओं को सुलझाया जा सकेगा।

ऐसा नहीं हो सकता कि कोई सामाजिक प्राणी सम्पूर्ण पदार्थों को छोड़ दें। किन्तु हम अपने जीवन को इस प्रकार से ढाल सकते हैं कि पदार्थ हमारे पास रहें किन्तु उनके प्रति हमारी आसक्ति न हो, उनके प्रति हमारा ममत्व न हो।

समाज में इच्छाओं को संयमित करने की भावना का विकास आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। 'परकल्याण' की चेतना व्यक्ति की इच्छाओं को लगाम लगाती है तथा उसमें त्याग करने की प्रवृत्ति एवं अपरिग्रही भावना का विकास करती है।

परिग्रह की वृत्ति मनुष्य को अनुदार बनाती है, उसकी मानवीयता को नष्ट करती है। उसकी लालसा बढ़ती जाती है। धनलिप्सा एवं अर्थ-लोलुपता ही उसका जीवन-लक्ष्य हो जाता है। उसकी जिन्दगी पाशविक शोषणता के रास्ते पर बढ़ना आरम्भ कर देती है। इसके दुष्परिणामों को

भगवान् महावीर ने पहचाना था। इसी कारण उन्होंने कहा कि जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मंथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। परिग्रह को घटाने से ही हिंसा, असत्य, अस्तेय एवं कुशील इन चारों पर रोक लगाती है।

परिग्रह के परिमाण के लिए 'संयम' की साधना आवश्यक है। 'संयम' पारलौकिक आनन्द के लिए ही नहीं, इस लोक के जीवन को सुखी बनाने के लिए भी आवश्यक है। आधुनिक युग में पाश्चात्य जगत के विचारकों ने स्वच्छंद यौनाचार एवं निर्बाध इच्छा-तृप्ति की प्रवृत्ति को सहज मान लिया। इस कारण पाश्चात्य जगत के व्यक्ति एवं समाज ने 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अचेतन मन की संतुष्टि' आदि सिद्धान्तों के नाम पर जिस प्रकार का संयमहीन आचरण किया उसका परिणाम क्या निकला है? जीवन की लक्ष्यहीन, सिद्धान्तहीन, मूल्यविहीन स्थिति एवं निर्बाध भोगों में निरत समाज की स्थिति क्या है? उनके पास पैसा है, धन-दौलत है, साधन हैं किन्तु फिर भी जीवन में संत्रास, अविश्वास, अतृप्ति, वितृष्णा एवं कूँठाएँ हैं। हिप्पी सम्प्रदाय क्या इसी प्रकार की सामाजिक स्थितियों का परिणाम नहीं है।

वैचारिक अहिंसा : अनेकान्तवाद—अहिंसक व्यक्ति आग्रही नहीं होता। उसका प्रयत्न होता है कि वह दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुँचावे। वह सत्य की तो खोज करता है, किन्तु उसकी कथन-श्रेणी में अनाग्रह एवं प्रेम होता है। अनेकान्तवाद व्यक्ति के अहंकार को झकझोरता है। उसकी आत्यन्तिक-दृष्टि के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगाता है। अनेकान्तवाद यह स्थापना करता है कि प्रत्येक पदार्थ में विविध गुण एवं धर्म होते हैं। सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार सामान्य व्यक्ति द्वारा एकदम सम्भव नहीं हो पाता। अपनी सीमित दृष्टि से देखने पर हमें वस्तु के एकांगी गुण-धर्म का ज्ञान

होता है। विभिन्न कोणों से देखने पर एक ही वस्तु हमें भिन्न प्रकार की लग सकती है तथा एक स्थान से देखने पर भी विभिन्न दृष्टियों की प्रतीतियाँ भिन्न हो सकती हैं।

१६ फरवरी, १९८० को सूर्यग्रहण के अवसर पर काल के एक ही क्षण भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों पर व्यक्तियों को सूर्यग्रहण के समान दृश्य की प्रतीति नहीं हुई। कारवार, रायचूर एवं पुरी आदि स्थानों में जिस क्षण पूर्ण ग्रहण हुआ जिसके कारण पूर्ण अंधेरा छा गया; वहीं बम्बई में सूर्य का ८५ प्रतिशत भाग, दिल्ली में ५८ प्रतिशत भाग तथा श्रीनगर में ४८ प्रतिशत भाग दिखाई नहीं दिया।

भारतवर्ष में ही सूर्यग्रहण आरम्भ एवं समाप्ति के समय में भी अन्तर रहा। कारवार में सूर्यग्रहण मध्याह्न २:१७:२० बजे आरम्भ हुआ तो भुवनेश्वर में २:४२:१५ पर तथा कारवार में ४:५२:१० पर समाप्त हुआ तो भुवनेश्वर में ४:५६:३५ पर। पूर्ण सूर्यग्रहण की अवधि रायचूर में २ मिनट ४१ सेकंड रही तो भुवनेश्वर में यह अवधि केवल ४६ सेकंड की ही रही।

'स्याद्वाद' अनेकांतवाद का समर्थक उपादान है; तत्वों को व्यक्त कर सकने की प्रणाली है; सत्य कथन की वैज्ञानिक पद्धति है।

मिथ्या ज्ञान के बचनों को दूर करके स्याद्वाद ने ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया, एकांतिक चिन्तन की सीमा बतलाई। आग्रहों के दायरे में सिमटे हुए मानव की अंधेरी कोठरी को अनेकांतवाद के अनन्त लक्षणसम्पन्न सत्य-प्रकाश से आलोकित किया जा सकता है। आग्रह एवं असहिष्णुता के बन्द दरवाजों को स्याद्वाद के द्वारा खोलकर, अहिंसावादी रूप में विविध दृष्टियों एवं सन्दर्भों

से उन्मुक्त विचार करने की प्रेरणा प्रदान की जा सकती है।

यदि हम प्रजातन्त्रात्मक युग में वैज्ञानिक पद्धति से सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो 'अनेकांत' से दृष्टि लेकर 'स्याद्वाद प्रणाली' द्वारा कर सकते हैं। चिन्तन के धरातलों पर उन्मुक्तता तथा अनाग्रह तथा संवेदना के धरातल पर प्रेम एवं सहिष्णुता की भावना का विकास कर सकते हैं।

इस प्रकार विश्व-धर्म के रूप में जैन धर्म एवं दर्शन की आधुनिक युग में प्रासंगिकता को व्याख्यायित करने की महती आवश्यकता है। यह मनुष्य एवं समाज दोनों की समस्याओं का अहिंसात्मक समाधान प्रस्तुत करता है। यह दर्शन आज की प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था एवं वैज्ञानिक सापेक्षवादी चिन्तन के भी अनुरूप है। आदमी के भीतर की अज्ञाति, उद्वेग एवं मानसिक तनावों को यदि दूर करना है तथा अन्ततः मानव के अस्तित्व को बनाये रखना है तो जैन दर्शन एवं धर्म में प्रतिपादित मानव की प्रतिष्ठा, प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्रता तथा प्रत्येक जीव में आत्म-शक्ति का अस्तित्व आदि स्थापनाओं एवं प्रत्ययों को विश्व के सामने रखना होगा। जैन धर्म एवं दर्शन मानव-मात्र के लिए समान मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है। सापेक्षवादी सामाजिक संरचनात्मक व्यवस्था का चिन्तन प्रस्तुत करता है। पूर्वाग्रह रहित उदार दृष्टि से एक दूसरे को समझने और स्वयं को तलाशने—जानने के लिये अनेकांतवादी जीवन-दृष्टि प्रदान करता है। समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए समान अधिकार की घोषणा करता प्रत्येक व्यक्ति को 'स्व-प्रयत्न' से विकास करने का मार्ग दिखाता है।



पुद्गल विवेचन— वैज्ञानिक एवं जैन आगम की दृष्टि में

डॉ० रमेश चन्द्र जैन,
प्रवाचक,
सांख्यिकी विभाग,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

जैन सिद्धान्त विश्व को छह द्रव्यों से निर्मित मानता है जो सत् हो अथवा जिसकी सत्ता हो उसे द्रव्य कहते हैं। पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद (Modification) एवं व्यय (Disappearance) प्रति समय होता रहता हो तथा गुणों की अपेक्षा से ध्रौव्य (Continuity) हो वह सत् है। विज्ञान की दृष्टि में पदार्थ न तो पैदा किया जा सकता है और न ही नष्ट किया जा सकता है किन्तु उसका रूप परिवर्तित हो सकता है। अतएव उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य का जैन सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक है।

जैन आगमों में द्रव्य के छह भेद बताये गये हैं—जीव, अजीव (पुद्गल), धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल। यहाँ हम सिर्फ पुद्गल का जैन आगम एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन करेंगे। 'पुद्गल' = पुद् + गल से बना है। "पुद्" का अर्थ पूरा होना अथवा मिलना और "गल" का अर्थ है गलना अथवा नष्ट होना। अतएव जो द्रव्य प्रतिसमय मिलता एवं गलता रहे वह पुद्गल कहलाता है। यहाँ मिलना एवं गलना पर्याय की अपेक्षा से है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित "नियमसार" गाथा क्रमांक २१-२४ में पुद्गल का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—

- (१) स्थूल-स्थूल—लकड़ी, पत्थर, लोहा जैसे ठोस पदार्थ।
- (२) स्थूल—जल, तेल आदि द्रव्य पदार्थ।
- (३) स्थूल-सूक्ष्म—प्रकाश, छाया एवं चांदनी।
- (४) सूक्ष्म-स्थूल—ध्वनि ऊर्जा एवं ताप ऊर्जा। इन्हें हम चक्षु इन्द्रिय से नहीं देख सकते हैं किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियों से अनुभव कर सकते हैं।
- (५) सूक्ष्म—इसमें कामर्ण वर्गणाएँ आती हैं। हमारे विचारों तथा भावों का प्रभाव इन पर पड़ता है तथा इनका प्रभाव जीव द्रव्य एवं अन्य पुद्गलों पर पड़ता है। इन्हें पंच-इन्द्रियों से अनुभव नहीं कर सकते हैं।
- (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म—परमाणु में निहित धन एवं ऋण विद्युत आवेश। कामर्ण वर्गणाओं से नीचे के स्कन्ध जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इन्हें भी पंचेन्द्रियों से अनुभव नहीं कर सकते हैं।

पुद्गल का भेद नं० ५ जैन आगम की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

आधुनिक विज्ञान इस विषय पर मौन है क्योंकि अभी इस प्रकार के उपकरण निर्मित नहीं हुए हैं जो किसी पुद्गल पदार्थ पर विचारों एवं भावों का प्रभाव लक्षित कर सके। झूठ पकड़ने वाली मशीनों की खोज इस दिशा में एक छोटा-सा कदम हो सकता है।

विज्ञान ने संसार के समस्त पदार्थों को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया है—ठोस, द्रव और गैस। इन तीनों में आपस में परिवर्तन होता रहता है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि पदार्थ ऊर्जा रूप में भी परिवर्तित किया जा सकता है। परमाणु भट्टियों से विद्युत उत्पादन-प्रक्रिया इसका उदाहरण है। जैन सिद्धान्त के अनुसार ठोस, द्रव, गैस एवं ऊर्जा पुद्गल के ही विभिन्न पर्याय हैं और इन पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। सूर्य की प्रकाश ऊर्जा से पृथ्वी के पेड़-पौधों को पोषण मिलता है। यह ऊर्जा का ठोस पर्याय में परिवर्तन का उदाहरण है।

पुद्गल में मूलतः चार गुण होते हैं—स्पर्श, रस, गंध एवं रूप अथवा वर्ण। जैनदर्शन में वर्ण मुख्यतः पाँच प्रकार का होता है—लाल, पीला, नीला, कृष्ण (काला) एवं श्वेत। वर्ण पटल में सात रंग होते हैं जो कि क्रमशः कासनी, नीला, हरा, पीला, नारंगी एवं लाल हैं। इसमें श्वेत एवं श्याम रंग नहीं हैं। किन्तु श्वेत रंग उपर्युक्त सात रंगों के मिश्रण से बनता है तथा कृष्ण रंग श्वेत रंग की अनुपस्थिति दर्शाता है। जैन दर्शन में श्वेत एवं श्याम वर्ण चक्षुइन्द्रिय की अपेक्षा से हैं। जैन दर्शन वर्ण के अनन्त भेद मानता है जो कि वैज्ञानिक दृष्टि से लाल रंग से कासनी रंग तक के विभिन्न तरंग परिणाम भी अनन्त हैं। अतएव वैज्ञानिक-दृष्टि में भी वर्ण के अनन्त भेद हैं।

विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि किसी भी पुद्गल में उपर्युक्त चार में से कम से कम कोई एक गुण भी विद्यमान है तो उसमें अप्रकट रूप से

शेष गुण अवश्य होंगे। यह संभव है कि हमारी इन्द्रियाँ इन्हें लक्षित न कर सकें किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक उपकरण शेष गुणों की उपस्थिति लक्षित कर सकते हैं। पुद्गल में अनन्त शक्ति होती है जो कि विज्ञान द्वारा सिद्ध की जा चुकी है। पुद्गल में संकोच एवं विस्तार होता रहता है। सूक्ष्म परिणमन एवं अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु एवं स्कन्ध सूक्ष्म रूप में परिणत हो जाते हैं।

आचार्य उमास्वाति द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र, द्वितीय अध्याय के सूत्र नं० ३६ के अनुसार शरीर पाँच प्रकार का होता है—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस् एवं कार्मण। कार्मण शरीर सूक्ष्म है तथा इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता है। पुद्गल वर्गणाओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्गणा कार्मण वर्गणा के नाम से जानी जाती है। इसमें जीव द्रव्य का पुद्गल परमाणु के साथ संयोग होता है। इस संयोग की विशेषता यह है कि यह संयुक्त होकर भी पृथक्-पृथक् रहता है। मुक्त जीव को यह संयोग नहीं होता है किन्तु संसारी जीव को यह संयोग अण-प्रतिक्षण होता रहता है। जिस प्रकार एक घुम्बकीय छड़ लोहे के छोटे कणों को अपनी ओर आकर्षित करती है उसी प्रकार जीव द्रव्य (आत्मा) क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर कर्मों से प्रदूषित हो जाती है। जीव द्रव्य एवं पुद्गल द्रव्य में बंध का मुख्य कारण जीव का अपना भावनात्मक परिणमन एवं पुद्गल प्रक्रिया है। आत्मा जब कर्म द्रव्य के सम्पर्क में आती है तो वहाँ संगलन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसके फलस्वरूप नई स्थिति निर्मित होती है। इसे कार्मण वर्गणा कहते हैं। जैन दर्शन में कर्म केवल संस्कार ही नहीं है किन्तु वस्तुभूत पुद्गल पदार्थ है। राग, द्वेष से युक्त जीव की मानसिक, वाचनिक एवं शारीरिक क्रियाओं के साथ कार्मण वर्गणाएँ जीव में आती हैं और जो उसके राग-द्वेष का निमित्त पाकर जीव से बंध जाती हैं और आगे चलकर

अच्छा या बुरा फल देती हैं। इन कामेण वर्गणाओं का फल देने का समय तथा तीव्रता कामेण वर्गणाओं पर ही निर्भर करती है। जब आत्मा में शुद्ध तथा सात्विक विचार, प्रेम और सहानुभूति हो तो अच्छी कामेण वर्गणाएँ उत्पन्न होती हैं तथा उनके फल देने के समय आनन्द की अनुभूति होती है। जब किसी कर्म का फल देने का समय समाप्त हो जाता है तो उस कर्म का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। पूरे संसार में कामेण वर्गणाओं का खेल चल रहा है। जिस प्रकार धान का छिलका उतर जाने से चावल में उगने की क्षमता भी समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा (जीव) पर से समस्त कामेण वर्गणाओं की खोल उतर जाने पर आत्मा जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाती है। यदि कर्मों के क्षय की गति (निर्जरा) तेज हो तो एक मुहूर्त में भी आत्मा कर्म-रहित हो सकती है।

वैदिक दर्शन में ईश्वर को जगत का नियन्ता मानने वाले जीव को कार्य करने में स्वतंत्र तथा उसका फल भोगने में परतन्त्र मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वयं देते हैं। कामेण वर्गणाओं के बशीभूत होकर जीव ऐसे कार्य करता है जो सुखदायक अथवा दुःखदायक होते हैं। वर्तमान में जीव पिछले कर्मों का फल भोगता है तथा वर्तमान में किये जा रहे कर्मों का फल भविष्य में प्राप्त करता है।

कर्मों के आठ भेद होते हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अंतराय। इन आठ कर्मों में मोहनीय कर्म बड़ा प्रबल है तथा सब कर्मों का नेता है। यह कर्म संसार के सब दुखों की जड़ है। इसका प्रभाव

लम्बे समय तक रहता है। तत्त्वार्थसूत्र अष्टम अध्याय के सूत्र १४-२० तक विभिन्न कर्मों का उत्कृष्ट एवं जघन्य (अधिकतम एवं न्यूनतम) समय बताया है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं वेदनीय कर्म का अधिकतम समय तीस कोडाकोडी सागर, मोहनीय कर्म का अधिकतम समय सत्तर कोडाकोडी सागर, नाम एवं गोत्र कर्म का अधिकतम समय बीस कोडाकोडी सागर तथा आयु कर्म का अधिकतम समय तेतीस सागर है। वेदनीय कर्म का न्यूनतम समय बारह मुहूर्त का है। नाम एवं गोत्र का न्यूनतम समय आठ मुहूर्त का है। शेष पाँच कर्मों का न्यूनतम समय एक अन्तर्मुहूर्त का है जो कि मुहूर्त से भी छोटा है।

निष्कर्ष—वर्तमान समय में परमाणु भट्टी में रेडियो धर्म पदार्थों के विच्छेदन से असीम ऊर्जा प्राप्त की जा रही है। इस प्रक्रिया में रेडियोधर्म पदार्थ की पर्याय भी बदल जाती है। यह प्रक्रिया काफी कठिन है। इसी प्रकार यदि मानव शरीर रूपी भट्टी में समस्त कामेण वर्गणाएँ सच्ची श्रद्धा, सच्चे ज्ञान एवं सच्चे आचरण से भस्म कर दी जावें तो आत्मा अपने शुद्धतम रूप में प्रकट हो सकती है। ऐसी शुद्धतामा जन्म, जरा एवं मृत्यु के चक्र से हमेशा के लिए मुक्त होकर सिद्धालय में स्थापित हो जाती है।

पुद्गल के वर्गीकरण में “सूक्ष्म पुद्गल” आचार्य कुन्दकुन्द की महान उपलब्धि है। विज्ञान इसको अभी प्रयोगों द्वारा सिद्ध नहीं कर पाया है किन्तु भविष्य में यदि विज्ञान इसके अस्तित्व को सिद्ध करता है तो इसके अनुसंधान का सारा श्रेय जैन दर्शन को दिया जाना चाहिये।

वैज्ञानिक शक्ति-मूल्य और ज्ञान-मूल्य

जैन-दर्शन में 'द्रव्य' को धारणा और विज्ञान

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विज्ञान एक ऐसी सबल मान-वीय क्रिया या अनुशासन है जिसने ज्ञान के क्षेत्रों को केवल प्रभावित ही नहीं किया है, वरन् विश्व और ब्रह्माण्ड के रहस्यों को उद्घाटित किया है। वैज्ञानिक-ज्ञान के दो पक्ष हैं जो दो प्रकार के मूल्यों की सृष्टि करते हैं—एक शक्ति-मूल्य और दूसरे प्रेम या ज्ञान-मूल्य। जहाँ तक शक्ति-मूल्य का सम्बन्ध है, वह तकनीकी विज्ञान से सम्बन्धित है जो अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर प्रतिस्पर्धा का विषय बनता जा रहा है। इसके द्वारा शक्ति और संघर्ष मूल्यों की इस कदर वृद्धि होती जा रही है कि आधुनिक मानव विज्ञान को केवल शक्ति-संचय का साधन मानता जा रहा है। दूसरी ओर, विज्ञान का वह महत्त्वपूर्ण पक्ष है जो प्रेम या ज्ञान-मूल्य का सृजन करता है जिसकी ओर हमारा ध्यान कम जाता है। सत्य में विज्ञान का यह ज्ञान-मूल्य ही 'प्रतिमानों' की रचना करता है जो मानवीय संदर्भ को अर्थवत्ता प्रदान करता है। इसी से ज्ञान का महत्व मानव तथा विश्व से है और प्रत्येक मानवीय क्रिया मानव और उससे सम्बन्धित विश्व-संदर्भ के लिए ही है। यह ज्ञान प्राप्त करने का मनोभाव विज्ञान का भी सत्य है। रहस्यवादो, प्रेमी, कवि, दार्शनिक, सभी सत्यान्वेषी होते हैं, यह बात दूसरी है कि उनका 'अन्वेषण' उस पद्धति को स्वीकार न करता हो जो वैज्ञानिक अन्वेषण में स्वीकार की जाती है। इस कारण से रहस्यवादी और कलाकार हमारे लिए किसी भी दशा में कम सम्मान के पात्र नहीं हैं, क्योंकि एक वैज्ञानिक के समान ही वे भी ज्ञान और सत्य के अन्वेषी हैं।

—डॉ. वीरेन्द्र सिंह

५—अ-१५, जवाहर नगर

जयपुर—३०२००८

प्रेम के प्रत्येक स्वरूप के द्वारा हम 'प्रिय' के ज्ञान का साक्षात्कार करना चाहते हैं। यह साक्षात्कार शक्ति प्राप्त करने के लिए नहीं होता है, वरन् उसका सम्बन्ध आन्तरिक उल्लास और ज्ञान के साक्षात्कार के लिए होता है।^१ अतः ज्ञान स्वयं में एक मूल्य है जो वैज्ञानिक ज्ञान के लिए भी उतना सत्य है जितना अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के लिए। विज्ञान का आरम्भ इसी प्रेम-ज्ञान का रूप है क्योंकि वैज्ञानिक भी वस्तुओं, दृश्यों, घटनाओं और पिण्डों आदि से एकात्म को अनुभूति कर उनके रहस्य का उद्घाटन करता है।

१. द साइन्टिफिक इन्साइट, बर्ट्रेड रसेल, पृष्ठ २००

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

वैज्ञानिक सापेक्षवाद और स्याद्वाद

ज्ञान के इस व्यापक परिप्रेक्ष्य से एक बात यह स्पष्ट होती है कि विज्ञान और जैदर्शन का सम्बन्ध 'सापेक्षवाद' की आधारभूमि पर माना जा सकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि स्याद्वाद की मान्यताओं का संकेत हमें आइंस्टाइन के सापेक्षवादी सिद्धान्त में प्राप्त होता है। यह समानता इस सत्य की ओर संकेत करती है कि जैन मनीषा में विश्व के यथार्थ के प्रति एक स्वस्थ आग्रह था। विश्व और प्रकृति का रहस्य 'सम्बन्धों' पर आधारित है जिन्हें हम निरपेक्ष (एब्सल्यूट) प्रत्ययों के द्वारा कदाचित् हृदयंगम करने में असमर्थ रहेंगे। द्रव्य या पुद्गल की सारी अवधारणा इसी सापेक्ष तत्व पर आधारित हैं। वर्तमान भौतिकी तथा गणितीय प्रत्ययों के द्वारा 'द्रव्य' (मैटर) का जो भी रूप स्पष्ट होता है, वह कई अर्थों में वैज्ञानिक अनुसंधान में प्राप्त निष्कर्षों से समानता रखता है।

विकासवाद और जीव-अजीव की धारणाएँ

विज्ञान का एक प्रमुख सिद्धान्त विकासवाद है जो हमें विश्व स्वरूप पर एक 'दृष्टि' प्रदान करता है। डार्विन आदि विकासवादियों ने जैव और अजैव (ऑर्गेनिक एण्ड इन-ऑर्गेनिक) के सापेक्ष सम्बन्ध को मानते हुए उन्हें एक क्रमागत रूप में स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैव (चेतन) और अजैव (जड़) के बीच शून्य नहीं है, पर दोनों के बीच एक ऐसा सम्बन्ध है जो दोनों के 'सत्' स्वरूप के प्रति समान महत्व की ओर संकेत करता है। जैन-दर्शन में जीव और अजीव की धारणाएँ विज्ञान में प्राप्त उपर्युक्त जैव और अजैव के समान हैं और ये दोनों धारणाएँ सत्य और यथार्थ हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वेदांत तथा चार्वाक दर्शन के समान यहाँ पर द्रव्य (मैटर) चेतन या जड़ नहीं है, पर द्रव्य (पुद्गल) की भावना में

इन दोनों तत्त्वों का समान समावेश है। इस सारे विवेचन से एक अन्य सत्य यह प्रकट होता है कि सत्, द्रव्य, पुद्गल, यथार्थ—सब समान अर्थ देने वाले शब्द हैं। इसी से जैन आचार्यों ने 'द्रव्य ही सत् है और सत् ही द्रव्य है' जैसी तार्किक प्रस्थापनाओं को निर्देशित किया। उमास्वाति नामक जैन आचार्य ने यहाँ तक माना कि 'काल भी द्रव्य का रूप है'। जो बरबस आधुनिक कण-भौतिकी (पार्टिकल फिजिक्स) की इस महत्वपूर्ण प्रस्थापना की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि काल और दिक् भी पदार्थ के रूपांतरण है और यह रूपांतरण पदार्थ के तात्विक रूप की ओर भी संकेत करता है। पदार्थ या द्रव्य का यह रूप यथार्थवादी अधिक है क्योंकि जैन-दर्शन भेद को उतना ही महत्व देता है, जितना अद्वैतवादी अभेद को। पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले ने भी भेद को एक आवश्यक तत्त्व माना है जिसके द्वारा हम 'सत्' के मही रूप का परिज्ञान कर सकते हैं।^{१२}

द्रव्य की रूपांतरण प्रक्रिया तथा भेद

जैन-दर्शन की एक महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि द्रव्य—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है। यदि विश्लेषण करके देखा जाये तो द्रव्य की अवधारणा में एक नित्यता का भाव है जो न कभी कष्ट होता है और न नया उत्पन्न होता है। उत्पाद और व्यय के बीच एक स्थिरता रहती है (या तुल्यभारिता/बैलेंस) रहती है जिसे एक पारिभाषिक शब्द ध्रौव्य के द्वारा इंगित किया गया है। मेरे विचार से ये सभी दशाएँ द्रव्य की गतिशीलता और सृजनशीलता का परिचय देती हैं। विज्ञान के क्षेत्र में फ्रेड हॉयल ने पदार्थ का विश्लेषण करते हुए "पृष्ठभूमि पदार्थ" की कल्पना की है जिससे पदार्थ उत्पन्न होता है और फिर, उसी में विलीन हो जाता है—यह क्रम निरन्तर चला करता है"^{१३} इस प्रकार

१ जैन-दर्शन डा० मोहनलाल मेहता, पृष्ठ १२४

२ दि नेचर आफ यूनीवर्स, फ्रेड हॉयल, पृष्ठ ४५

३ भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, डा० हजारीलाल जैन, पृष्ठ १८

सृजन और विलय के बीच समरसता स्थापित करने के लिए "द्रव्य" (स्थिरता) की कल्पना की गई। त्रिमूर्ति (ट्रिनिटी) की धारणा में ब्रह्मा, विष्णु और महेश क्रमशः सृजन, स्थिरता या तुल्य-भारिता तथा विलय के देवता हैं जो प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति की तीन शक्तियों (सृजन, सामरस्य और विलय) के प्रतीक हैं। द्रव्य का यह अनित्य रूप विज्ञान के द्वारा भी मान्य है, जहाँ पदार्थ रूपान्तरित होता है न कि विनष्ट। विज्ञान और जैन मत में द्रव्य का यह रूप समान है, पर एक अन्तर भी है। जैन दर्शन में "आत्मा" नामक प्रत्यक्ष को भी द्रव्य माना गया है जिस प्रकार आकाश या स्पेस (आकाशास्तिकाय) काल या टाइम (कालास्तिकाय) आदि को द्रव्य के रूप में ही माना गया है। विज्ञान के क्षेत्र में द्रव्य को व्यापक अर्थ में ग्रहण नहीं किया गया है जितना कि जैन-दर्शन में। आधुनिक विज्ञान और विशेषकर भौतिकी, गणित और रसायन की अनेक नवीन उपपत्तियों में पदार्थ के सूक्ष्मतर तत्वों की ओर संकेत मिलता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक-दार्शनिक बर्ट्रैंड रसेल ने पदार्थ के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा है कि "पदार्थ वह है जिसकी ओर मन सदैव गतिशील रहता है, किन्तु "वह" उस तक कभी पहुँच नहीं पाता है। आधुनिक पदार्थ भौतिक नहीं है।"¹

जैन-दर्शन में पदार्थ के उपर्युक्त स्वरूप से एक बात यह स्पष्ट होती है कि यहाँ द्रव्य एक ऐसा प्रत्यक्ष है जो "सत्ता-सामान्य" का रूप है। सत्ता सामान्य के छह भेद किये गये हैं—धर्मास्तिकाय से लेकर कालास्तिकाय तक जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। जहाँ तक पुद्गल या पदार्थ का सम्बन्ध है, वह द्रव्य का एक विशेष प्रकार है, जिसका विश्लेषणात्मक विवेचन जैन आचार्यों ने

किया है। परमाणुवाद का पूरा प्रासाद पुद्गल के सूक्ष्म विश्लेषण पर आधारित रहा है जो आधुनिक परमाणुवाद के काफी निकट है।

जैन-परमाणुवाद और विज्ञान

पुद्गल की संरचना को लेकर जैन-दर्शन ने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह पदार्थ के सूक्ष्म तत्वों (कणों) की ओर संकेत करता है। विज्ञान ने पदार्थ की सूक्ष्मतर इकाई को परमाणु कहा है जिसके संयोग से "अणु" की संरचना होती है, और इन "अणुओं" के संघात से उत्तक (टीशू) का निर्माण होता है। जैविक संरचना में कोष (सेल) सूक्ष्मतर इकाई है जिसके संयोग से अवयव (ऑर्गन) का निर्माण होता है। इस प्रकार समस्त जैविक और अजैविक संरचना में अणुओं, परमाणुओं कोषों तथा अवयवों का क्रमिक साक्षात्कार होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण सृष्टि का "क्रमिक" विकास हुआ है। जैन आचार्यों की परमाणु और स्कन्ध की धारणाओं में उपर्युक्त तथ्यों का समावेश प्राप्त होता है। जैन मतानुसार परमाणु पदार्थ का अन्तिम रूप है जिसका विभाजन सम्भव नहीं है। यह इकाई रूप ऐसा है जिसकी न लम्बाई-चौड़ाई और न गहराई होती है अर्थात् जो स्वयं ही आदि, मध्य और अन्त है। आधुनिक विज्ञान ने परमाणु को विभाजित किया है और उसकी आन्तरिक संरचना पर प्रकाश डाला है। परमाणु की संरचना में प्राप्त इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, पाजिट्रॉन तथा न्यूट्रॉन आदि सूक्ष्म अंशों की जानकारी आज के विज्ञान ने दी है। दूसरी ओर, सौर मण्डल की संरचना के समान परमाणु की संरचना को स्पष्ट किया है। इस वैज्ञानिक प्रस्थापना के द्वारा यह दार्शनिक तथ्य भी प्रकट होता है जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। अतः मुनि नगराज जी ने भी यह मत रखा कि विज्ञान में

1 Matter is something in which Mind is being led, but which it never reaches. Modern matter is not material.

—उद्धृत, फिलासिफिकल एस्पेक्ट्स आफ माडर्न साइंस, मो. ई. एम. जोड, पृष्ठ ८३

परमाणु का सूक्ष्म रूप नहीं मिलता है जैसा कि जैन-दर्शन में।^१ यह बात उपर्युक्त विवेचन के आधार पर पूर्ण सत्य नहीं है। सच तो यह है कि अधुनातन वैज्ञानिक प्रगति ने परमाणु की मूल्यवान व्याख्या प्रस्तुत की है। स्कन्ध की धारणा विज्ञान की अणु (Molecule) भावना से मिलती है क्योंकि दो से अनन्त परमाणुओं के संघात को स्कन्ध (अणु) की संज्ञा दी गई है जो विज्ञान और जैन-दर्शन के समान प्रत्यय है।

स्कन्ध-निर्माण प्रक्रिया

अब प्रश्न उठता है कि परमाणु स्कन्ध रूप में कैसे परिणत होते हैं? इसका उत्तर विज्ञान तथा जैनदर्शन में अपने-अपने तरीके से दिया है जिसमें अनेक समानताएँ हैं। एक सबसे महत्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों में परमाणुओं के संघात से स्कन्ध (अणु) का निर्माण होता है जिसका हेतु धन और ऋण विद्युत है (+ तथा -) जिसके आपसी आकर्षण से स्कन्ध तथा पदार्थ का सृजन होता है। जैन आचार्यों ने परमाणुओं के स्वभाव को 'स्निग्ध' और रूक्ष (+ और -) माना है जिससे रूक्ष तथा स्निग्ध परमाणु बिना शर्त बंध जाते हैं। इसके अतिरिक्त रूक्ष-परमाणु रूक्ष से, और स्निग्ध परमाणु स्निग्ध से, तीस से लेकर यावत् अपने गुणों का बन्धन प्राप्त करते हैं। परमाणुओं के ये दो विपरीत स्वभाव उनके आपसी बन्ध के कारण हैं। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से पदार्थ में धन विद्युत (Positive Charge) और ऋण विद्युत (Negative Charge) के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से ऐसा लगता है कि जैन विचारकों ने परमाणु तथा पदार्थ के उन तत्वों को प्राप्त कर लिया था जिनकी ओर विज्ञान गतिशील

है। श्री बी. एल. शील का भी यही मत है कि जैन दार्शनिक इस तथ्य को पूरी तरह जानते थे कि धन और ऋण विद्युतकणों के संयोग से विद्युत की उत्पत्ति होती है।^२ आकाश में चमकने वाली विद्युत का कारण भी परमाणुओं का स्निग्ध तथा रूक्षत्व गुण है। वनस्पति तथा प्राणी जगत में भी ऋण तथा धन-विद्युत का रूप यौन आकर्षण में देखा जा सकता है। इस प्रकार धन और ऋण का विस्तार समस्त सृष्टि में व्याप्त है और यहाँ आकर जैन-दर्शन का वैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट होता है।

परमाणु के स्पर्श-गुण और विज्ञान

जैन-दर्शन में परमाणुओं के स्पर्श अनेक माने गए हैं जो प्रत्यक्ष रूप से परमाणुओं के गुण तथा स्वभाव को स्पष्ट करते हैं। इन्हें स्पर्श इसलिए कहा जाता है कि इन्द्रियाँ इन्हें अनुभूत करती हैं। इन स्पर्शों की संख्या आठ है जैसे, ककश, मृदु, लघु, गुरु, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष और शीत। इस प्रकार के विभिन्न गुण वाले परमाणुओं के संश्लेष से उल्का, मेघ तथा इन्द्रधनुष आदि का सृजन होता है। आधुनिक भौतिकी भी इसी तथ्य को स्वीकार करती है कि उल्का, मेघ तथा इन्द्रधनुष परमाणुओं का एक विशेष संघात है। यही नहीं छाया, आतप शब्द और अन्धकार को भी पुद्गल का रूप माना गया है। जैन आचार्यों ने पुद्गल के ध्वनिमय परिणाम को 'शब्द' कहा है। परमाणु अशब्द है, शब्द नाना स्कन्धों के संघर्ष से उत्पन्न होता है।^३ यही कारण है कि ध्वनि का स्वरूप कम्पनयुक्त (Vibrative) होता है और इस दशा में ध्वनि, शब्द का रूप ग्रहण कर लेती है। आधुनिक भौतिकी के अनुसार भी ध्वनि का उद्गम कम्पन की दशा में होता है, उदाहरणस्वरूप

१ जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान, मुनि श्री नगराज, पृ. ८६।

२ पाजिटिव साइन्स आफ एन्जेंट हिन्दूज, बी. एल. शील, पृ. ३६

३ जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान, मुनि श्री नगराज, पृष्ठ ६५

स्वर, यन्त्र, घण्टी, आँरगन पाइप, पियानों के तार ये सब वस्तुएँ कंपन की दशा में रहती हैं जबकि वे ध्वनि पैदा करती हैं।^१ अतः विज्ञान के अनुसार शब्द का स्वरूप तरंगात्मक है। रेडियो, माइक्रोफोन आदि में शब्द-तरंगों, विद्युत प्रवाह में परिणत होकर आगे बढ़ती हैं और लक्ष्य तक पहुँच कर फिर शब्द रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। शब्द को लेकर एक अन्तर विज्ञान से प्राप्त होता है क्योंकि विज्ञान, शब्द या ध्वनि को एक ऊर्जा के रूप में स्वीकार करता है न कि पदार्थ के रूप में जबकि जैन-दर्शन में ध्वनि पौद्गलिक है जो लोकांत तक पहुँचती है। इस सूक्ष्म अन्तर के होते हुए भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि जैन-दर्शन का ध्वनि विषयक चिन्तन आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के काफी निकट है जो भारतीय मनीषा का एक आश्चर्यजनक मानसिक अभियान कहा जा सकता है।

परमाणु-शक्ति और जैन मत

परमाणु के उपयुक्त स्वरूप के प्रकाश में जैन-दर्शन में परमाणु-ऊर्जा (शक्ति) के भी न्यूनाधिक संकेत प्राप्त होते हैं। परमाणु शक्ति के दो रूप एटम तथा हाइड्रोजन बम हैं जो क्रमशः फिशन तथा फ्यूजन प्रक्रियाओं के उदाहरण हैं। फिशन का अर्थ है टूटना (या विखंडन) और एटम बम में यूरेनियम परमाणुओं के विखंडन से शक्ति या ऊर्जा का विस्फोट होता है। दूसरी ओर हाइड्रोजन बम में फ्यूजन होता है जिसका अर्थ है मिलना या संयोग। इस प्रक्रिया में हाइड्रोजन के चार परमाणुओं के संयोग से हिलियम परमाणु की रचना होती है। इस संयोग से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वही हाइड्रोजन या उद्जन बम का रूप है। परमाणु की ये दोनों प्रक्रियाएँ इस सूत्र वाक्य में दर्शनीय हैं—“पूरण गलन धर्मत्वात् पुद्गलः”। हाइड्रोजन बम पूरण या संयोग धर्म का उदाहरण है और एटम

बम गलन या वियोग का उदाहरण है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो पुद्गल की संरचना में परमाणुओं का यह गलन और पूरण रूप एक ऐसा तथ्य है जिसका संकेत हमें आधुनिक भौतिकी में भी प्राप्त होता है जिस पर परमाणु शक्ति का समस्त प्रामाद निर्मित हुआ है। जैन शब्दावली में एक अन्य शब्द प्रयुक्त होता है—‘तेजोलेश्या’ जो पुद्गल की एक तेसी रासायनिक प्रक्रिया है जो सोलह देशों को एक साथ भस्म कर सकती है।^२ यही परमाणु की संहारक शक्ति है। आधुनिक परमाणु शक्ति केवल ऊष्मा के रूप में प्रकट होती है, पर तेजोलेश्या में उष्णता और शीतलता दोनों गुण विद्यमान हैं और शीतल तेजोलेश्या उष्ण तेजोलेश्या के प्रभाव को नष्ट कर देती है। आधुनिक विज्ञान उष्ण तेजोलेश्या को एटम तथा हाइड्रोजन बमों के रूप में प्राप्त कर चुका है, पर इनके प्रति-मारक रूपों तक वह अब भी पहुँच नहीं सका है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जैन दार्शनिकों ने केवल अध्यात्म के क्षेत्र में ही नहीं, बरन् पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे सत्यों का उद्घाटन किया जो आधुनिक विज्ञान के द्वारा न्यूनाधिक रूप में मान्य हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से यह महसूस करता हूँ कि जैन विचारधारा ने सही रूप में दर्शन और विज्ञान के सापेक्ष महत्व को उद्घाटित किया है और विश्व तथा ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म अंश ‘परमाणु’ के रहस्य का साक्षात्कार किया है। द्रव्य या पुद्गल की यह लीला अनन्त है और अन्वेषक चित्तक यही चाहता है कि वह द्रव्य के ‘अन्वेषित प्रदेशों’ तक पहुँच सके—यह जानने या पहुँचने की सतत् आकांक्षा ही “ज्ञान” के गत्यात्मक स्वरूप को स्पष्ट करती है।

१ टैक्सट बुक आफ फिजिक्स, आर. एन. विलोज, पृ. २४६।

२ भगवती शतक १५

जैन दर्शन ने दर्शन और ज्ञान में जो अन्तर किया है वह मुझे पूर्णतया प्रमाणित लगता है। उसने चारित्र्य पर जो बल दिया है वह उसका सर्वश्रेष्ठ पक्ष है। सम्यक्दर्शन, चारित्र्य तथा ज्ञान - ये त्रिविध व्यापार जिस ज्ञानराशि को उत्पन्न करते हैं उसे मैं संदर्शन कहता हूँ, उससे संदर्शनशास्त्र का जन्म होता है। स्पष्ट है कि जैनों के यहाँ दर्शन शब्द द्र्यर्थक है। 'सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र में दर्शन का जो अर्थ है वह उस मोक्षविद्या से भिन्न है जो इसी सूत्र में मोक्षमार्ग से अभिहित की गई है। वस्तुतः समग्र मोक्षमार्ग दर्शन नहीं प्रत्युत संदर्शन है। इस संदर्शन में दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र्य के घटक हैं। ऐसा जैन दार्शनिकों के विश्लेषण से सिद्ध है।

अतः मैं एक नई दृष्टि या दार्शनिकधारा का प्रवर्तन करना चाहता हूँ। उसे मैं संदर्शनशास्त्र कहता हूँ। संदर्शन का मूल अभि-प्राय समस्त दर्शनों में संप्राप्त बोध या प्रातिभ ज्ञान की व्यापकता को प्रकाशित करना है और उसी के आधार पर एक सम्पूर्ण विचारधारा का निर्माण करना है। वास्तव में संदर्शन त्रिवलयात्मक है। दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र्य इसके बलय हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संदर्शन की उत्पत्ति में दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र्य की भूमिका है।

वास्तव में सत्ता की सूचना या उसको बतलाने की शक्ति मात्र ज्ञान में रहती है। दर्शन तथा चारित्र्य याचित्तमण्डन न्याय से ही सत्ता के बोधक या वाचक हैं अर्थात् उनके द्वारा जिस प्रकार सत्ता का परिचय होता है वह ज्ञान से याचित है, ज्ञान से उधार लिया गया है। ज्ञान भी मात्र ज्ञापक होता है, कारक नहीं। वह विषय की ज्ञापना करता है, उसकी सृष्टि नहीं करता। दृष्टि-सृष्टि नहीं है वह जपित है किन्तु दर्शन तथा चारित्र्य में कारकत्व की विशेषता है। वे गुणाधान करते हैं। जिस सत् का परिचय ज्ञान से होता है वे उसमें गुणों की सृष्टि करते हैं अथवा उसको बौद्धिक प्रकारों में बाँटते हैं।

उनके ये व्यापार सत्ता का अन्यथाकरण नहीं कर सकते, उसका विद्रूपण नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञान के किसी प्रकार या सहयोगों में कुर्वद्रूपता नहीं है—उसमें अर्थक्रियाकारित्व भी नहीं है। उसमें केवल अर्थप्रकाशकत्व है। गुण-सृष्टि से इस प्रकाश का ही बोध कराया जाता है वह स्वयं गौण है, मुख्यार्थ नहीं।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र्य में जो सम्यक्त्व है उसके कारण मोक्षविद्या जिसे संदर्शनशास्त्र कहा जा रहा है सम्यक्त्व

प्रमा को नयी परिभाषा

प्रो. संगमलाल पाण्डेय

अध्यक्ष : दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद।

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

२२६

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

से विशेषित है। संदर्शनशास्त्र में सम्प्र उपसर्ग इसी सम्यक्त्व का द्योतक है। वह संदर्शनशास्त्र को सम्यक्दर्शनशास्त्र, सम्यक्ज्ञानशास्त्र तथा सम्यक्-चारित्रशास्त्र बनाता है। इस कारण सम्यक्त्व या प्रमात्व उसका प्रमुख लक्षण है। संदर्शनशास्त्र मूलतः प्रमाशास्त्र है।

अब प्रश्न उठता है कि संदर्शनशास्त्र में प्रमा किसे कहते हैं? प्रमा ज्ञान है। ज्ञान सदैव सत्य होता है उसके विशेषण के रूप में सत्य का प्रयोग करना गलत है। 'सत्यज्ञान' ऐसी पदावली का जो प्रयोग करते हैं वे वस्तुतः ज्ञान शब्द के अर्थ से अनभिज्ञ हैं। प्रमा ज्ञान है और ज्ञान प्रमा है। पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव के कारण उसे हम सत्यता भी कह सकते हैं। सत्यता ज्ञान का गुण नहीं है किन्तु स्वयं ज्ञान है, वह ज्ञान भी आकारता-प्रकारता है।

पुनश्च जैसा कि ऊपर कहा गया है ज्ञान भी वस्तुतः संदर्शन का एक विशेष घटक है। यह ज्ञान बोध-रूप तथा वृत्ति-रूप से द्विविध है। इसको अंग्रेज दार्शनिक जार्ज बर्कले ने बोध (नोशन) द्वारा ज्ञान तथा वृत्ति (आइडिया) द्वारा ज्ञान कहा था किन्तु वह अनुभववाद से इतना प्रभावित था कि वह इन दोनों प्रकारों का एक-दूसरे से मेलापक न कर सका। उसकी सूझ इस कारण फलितार्थ नहीं हुई। बर्कले मात्र वृत्ति-ज्ञान के विश्लेषण तक सीमित रह गये। वे यह नहीं समझ पाये कि वृत्ति-ज्ञान के प्रामाण्यत्व के लिए बोध की नितांत आवश्यकता है। उनसे अधिक गम्भीर विश्लेषणकर्ता अठारहवीं शती के अद्वैत वेदान्ती महादेवानन्द सरस्वती थे जिन्होंने वृत्तिज्ञान की प्रामाणिकता में बोध की अनिवार्यता पर बल दिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ' में जो उनके स्वर्चित तत्त्वानुसन्धान की स्वोपज्ञटीका है—कहते हैं कि प्रमा का लक्षण निम्न दो प्रकारों से किया जा सकता है—

(१) बोधेद्धा वृत्तिः प्रमा

(२) वृत्तीद्धो बोधः प्रमा

सर्वप्रथम इन लक्षणों में 'इद्ध' शब्द की व्याख्या अपेक्षित है। कोशकारों ने इद्ध का अर्थ प्रज्वलित या प्रकाशित किया है यह इन्ध धातु से निष्पन्न हुआ है। इसी से ईधन शब्द बना है जो जलाने की सामग्री या वस्तु के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'इद्ध' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाने पर प्रमा की उपर्युक्त परिभाषाएँ इस प्रकार रखी जा सकती हैं—

(१) बोध से प्रज्वलित वृत्ति प्रमा है।

वृत्ति से प्रज्वलित बोध प्रमा है।

प्रथम लक्षण के अनुसार वृत्ति-ज्ञान तभी प्रमा होता है जब वह बोध से प्रज्वलित हो अर्थात् बोध से व्याप्त वृत्ति प्रमा है। यदि वृत्ति बोध से व्याप्त नहीं है तो वह अप्रमा है। इसी प्रकार दूसरे लक्षण के अनुसार वृत्ति से व्याप्त बोध प्रमा है और जो बोध वृत्ति से व्याप्त नहीं है वह अप्रमा है। इसी प्रकार दूसरे लक्षण के अनुसार वृत्ति से व्याप्त बोध प्रमा है और जो बोध-वृत्ति से व्याप्त नहीं है वह अप्रमा है।

यहाँ व्याप्य-व्यापक भाव की व्याख्या अपेक्षित है। दोनों लक्षणों को एक साथ देखने पर ज्ञात होता है कि वृत्तिव्याप्य बोध अथवा बोध-व्याप्य वृत्ति प्रमा है अर्थात् बोध तथा वृत्ति दोनों में परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव है। जैसे बोध व्यापक है और वृत्तिव्याप्य है, वैसे वृत्ति भी व्यापक है और बोध व्याप्य है। ऐसा होने पर अनन्यता सम्बन्ध की सिद्धि होती है किन्तु बोध और वृत्ति में परस्पर अनन्यता सम्बन्ध नहीं है। कारण दोनों में महान् अन्तर है। बोध-अखण्ड है, वृत्ति खण्डित है। बोध अव्यभिचरित है, वृत्ति व्यभिचरित है। बोध स्वयं-सिद्ध या सदावर्तमानस्वरूप है, वृत्ति आगन्तुक या आगमापायी है। बोध वृत्ति-व्याप्य है, किन्तु फल-व्याप्य नहीं है, परन्तु वृत्ति फल-व्याप्य भी है। वह मात्र बोध-व्याप्य नहीं है। अतः जहाँ तक वृत्ति की फलव्याप्यता के प्रामाण्य का प्रश्न है, वहाँ तक उपर्युक्त लक्षण उस पर लागू नहीं होता। इसका स्पष्टार्थ यह है—जब हमें किसी घट का ज्ञान होता

है तब हमारे मन में घटवृत्ति उत्पन्न होती है यदि इस घटवृत्ति का सन्धान बोध से होता है तो यह वृत्ति प्रमा हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब घटवृत्ति प्रमाणित हो जाती है और उसके विषय घट को हम यथार्थ पदार्थ मान लेते हैं।

घट घटवृत्ति का फलव्याप्य है, वह घट-वृत्ति का फलितार्थ है। यह फलितार्थ वृत्ति से भिन्न एक वस्तु है। घट-वृत्ति की प्रामाणिकता से प्रायः घट की यथार्थता मान ली जाती है, किन्तु यह लोकमत है। प्रमा के लक्षण द्वारा घटवृत्ति का प्रमात्व तो सिद्ध होता है किन्तु घट की यथार्थता नहीं सिद्ध होती, क्योंकि घट में बोध-व्याप्यत्व नहीं है। घट-वृत्ति में बोध-व्याप्यत्व है, अतः वह प्रमा है किन्तु घट में बोध व्याप्यत्व न होने के कारण वह अप्रमा की कोटि में आ जाता है। यही कारण है कि घट के स्वरूप, घट की भूततत्त्व आदि को लेकर वैज्ञानिकों में विवाद उठते रहते हैं। घट मृण्मय है। किन्तु मृत्तिका क्या है? उसके घटक क्या हैं? उन घटकों के घटक क्या हैं? इस अनुसन्धान परम्परा में अनवस्था आ जाती है। इसमें कहीं स्वेच्छा से विराम कर दिया जाता है और एक अभ्युपगम या कल्पना बना ली जाती है। उसी के आधार पर हम कहते हैं कि घट या घट का कोई अन्तर्तत्त्व यथार्थ पदार्थ है। वस्तुतः यह यथार्थ पदार्थ—तथाकथित अभ्युपगम-अधीन या कल्पना-कल्पित है इसीलिए आधुनिक विज्ञान दर्शन में माना जाता है कि सभी तथ्य सिद्धांतधारक हैं। वे किसी सिद्धांत पर अवलम्बित हैं और उसी में ओत-प्रोत हैं। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि जो फलव्याप्य वृत्ति है वह भी अन्त-तोगत्वा फल-व्याप्य नहीं है प्रत्युत धारावाहिक ज्ञान के अन्तर्भूत होने के कारण वृत्तिव्याप्य ही है परन्तु यह अवांतर प्रश्न है। सामान्यतः वृत्ति-व्याप्यत्व और फल-व्याप्यत्व में अन्तर किया जाता है।

इस प्रकार वृत्ति-व्याप्यता को केन्द्र में रखकर प्रमा की परिभाषा की गई है। यद्यपि यह परिभाषा मूलतः अद्वैत वेदान्त के अनुकूल है जिसके अनुसार जागतिक वस्तुएँ केवल साक्षिमात्र हैं तथापि तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

इसका समर्थन आधुनिक विज्ञान-दर्शन तथा तर्कशास्त्र से भी होता है। प्रकाश्य—प्रकाशक सम्बन्ध ही सत् है।

'वोचितरंगन्याय'से वह इसी सत् से अविनाभूत है। सत् ही सार है। उसकी वृत्तियों का सार उनकी धारावाहिकता मात्र है।

पुनश्च बोध वृत्ति-रहित नहीं हो सकता। जो लोग वृत्तिशून्यता या वृत्ति-निरोध को बोध का लक्षण मानते हैं, उनका मत अस्पष्ट तथा असंगत है। बोध सदैव वृत्ति-व्याप्य रहता है। इसके लिए चेतना के केन्द्र जैसे मन, चित्त, अहंकार बुद्धि या पुरुष या ईश्वर की अपेक्षा रहती है। किन्तु बोध इन सब वृत्तियों से भिन्न है। वह प्राचीन तथा नित्यसिद्ध है तथा ये वृत्तियाँ अर्वाचीन और आगन्तुक हैं। बोध ऐसी असंख्य वृत्तियों को आत्मसात् किये रहता है और उसके लिये ये वृत्तियाँ मात्र बिन्दु की भाँति हैं जिनका कोई स्वतः अस्तित्व नहीं है। किन्तु बोध और वृत्ति का योगपक्ष या सहभाव प्रमा है। वही ज्ञान है। वह विषय—विषयिभाव नहीं है, क्योंकि बोध न तो विषयी है और न वृत्ति विषय है। वह अपरोक्ष अनुभव है और निरपेक्ष सत् है इसी अर्थ में प्रमा सत् है और सत् प्रमा है। अंग्रेज दार्शनिक एफ. एच. ब्रडले इसी संदर्शन से अपने दर्शनशास्त्र का पर्यवसान करते हैं। अद्वैत वेदान्त बोध को परब्रह्म तथा सर्वाधिक अव्याभिचरित वृत्ति को ईश्वर या अपरब्रह्म कहता है। बोध और वृत्ति का यह सहभाव परापर ब्रह्म का सहभाव है। इसी आधार पर एकेश्वरवाद और निरपेक्ष सद्वाद को अभिन्न माना जाता है।

वस्तुतः प्रमा की इस नयी परिभाषा से एक प्रकार का नया दर्शनशास्त्र आरम्भ होता है जिसे संदर्शनशास्त्र कहा जा सकता है। उसमें प्राचीन सभी दार्शनिकों को प्रामाणिक अन्तर्दृष्टियों का समावेश है। मुख्यतः यह ज्ञान के बोध-पक्ष और वृत्ति-पक्ष तथा उनके सम्बन्ध को प्रामाणिकता के सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है।

भारतीय योग परम्परा में जैन आचार्यों के योगदान का मूल्यांकन (योग का प्रास्थानिक मूल्य)

—डॉ. ब्रह्मिन्द्र अवस्थी

निदेशक

—स्वामी केशवानन्द योग संस्थान

८/३ रूपनगर, दिल्ली ११०००७

योगविद्या एक व्यावहारिक विद्या है, साधना की विद्या है, जिसके द्वारा अपने में अन्तर्निहित अन्नमय, मनोमय, प्राणमय और आनन्दमय कोशों में अनादि काल से अन्तर्निहित शक्तियों को जागृत करके जीवन की अल्पताओं को और उसके कारण प्राप्त पीड़ाओं को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है और उसके फलस्वरूप आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष को, कैवल्यभाव को, प्राप्त किया जाता है। इस साधना में त्रिविध ताप की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति जहाँ साधना रूपी यात्रा का चरम लक्ष्य है, अन्तिम पड़ाव है, वहीं शारीरिक और मानसिक निर्बलताओं की निवृत्ति, व्याधि एवं जरा की निवृत्ति आदि प्रारम्भिक और मध्यवर्ती पड़ाव है।

जिस प्रकार किसी मन्दिर अथवा भवन के मध्य में बँठे हुए दस-पन्द्रह-बीस या सौ-दो-सौ-चार सौ अथवा हजार व्यक्ति क्रमशः अपने स्थान से उठकर द्वार की लघु यात्रा के लिए अथवा किसी अन्य मन्दिर भवन अथवा तीर्थ नदी पर्वत आदि की दीर्घ यात्रा के लिए प्रस्तुत हों, तो प्रत्येक व्यक्ति के चरण चिन्ह पृथक्-पृथक् ही होंगे, भले ही प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी यात्रा किसी एक नियत स्थल पर खड़े होकर ही क्यों न प्रारम्भ की हो। चरण चिन्हों की यह भिन्नता आकस्मिक नहीं, बल्कि अनिवार्य है। इसके लिए, भिन्नता को दूर करने के लिए चाहे जितना प्रयत्न किया जाए भिन्नता अवश्य ही रहेगी। हां इस भिन्नता को दूर करने हेतु प्रयत्न करने पर स्थलन हो सकता है, गति तो मन्द होगी और चरण चिन्ह की भिन्नता की निवृत्ति के ही लक्ष्य बन जाने से मूल लक्ष्य के भी तिरोहित होने की सम्भावना हो सकती है। ठीक इसी प्रकार विविध तापों से सन्तप्त साधक की साधना यात्रा में भी लक्ष्य एक रहने पर भी साधना की विधि में, प्रक्रिया में कुछ न कुछ अन्तर का होना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। साधक की शारीरिक और मानसिक स्थिति, उसकी तैयारी, बौद्धिक स्तर, पूर्वतन संस्कार, वातावरण आदि ऐसे अनेक हेतु हैं, जिनके कारण साधना की विधि में अन्तर हो सकता है, कई बार उद्देश्य भेद अर्थात् चरम लक्ष्य में अन्तर भी साधना के मार्ग में कुछ या बहुत अन्तर ला सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन की पूर्णता के उद्देश्य से की जाने वाली साधना पद्धतियाँ अनेक हो सकती हैं, व्यक्ति आदि के भेद से अनन्त हो सकती हैं यदि यह कहा जाए तो अनुचित न होगा। और पदक्रम में अन्तर रहने पर भी सभी एक अभीष्ट पर निस्सन्देह पहुँचते हैं।

इसी प्रकार साधना क्रम में अन्तर होते हुए भी यदि उसके लक्ष्य के रूप में चित्त की एकाग्रता केन्द्र में विद्यमान है, आध्यात्मिक लक्ष्य विद्यमान है, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का प्रयोजन विद्यमान है, तो उसे योग साधना कहा जाना चाहिए और योग साधना कहा भी जाता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान में उस साधना को, उस क्रिया विधि को भी 'योग' अथवा 'योगा' कहा जा रहा है जिसका कुछ सम्बन्ध पतञ्जलि के अष्टांग योग से है। आजकल दिल्ली, बम्बई, न्यूयार्क, लन्दन जैसे बड़े शहरों में शरीर को मुन्दर छरहरा बनाए रखने के लिए कुछ केन्द्र (व्यावसायिक केन्द्र) खुले मिलेंगे और उनके नाम आदि देखने को सहज ही मिल जाएंगे। इन केन्द्रों के साथ योग अथवा योगा शब्द जुड़ा हुआ है, और सामान्य जनता वहाँ की साधना विधि (क्रिया विधि) को योग (योगा) कहती भी है, किन्तु उन्हें हम योग की सीमा में रखना नहीं चाहेंगे। क्योंकि वे ऊपर दी गयी योग की मूल परिभाषा के अन्दर नहीं आते।

योग साधना की अनेक विधियाँ योगसूत्रकार पतञ्जलि के समय में भी प्रचलित थीं इसका संकेत हमें पतञ्जलि के योग सूत्र में ही मिलता है। उसके अनुसार वैराग्यपूर्वक चित्तवृत्तिनिरोध हेतु अभ्यास, अर्थ भावना पूर्वक प्रणव मन्त्र जपरूप ईश्वर प्रणिधान, प्राणों की प्रच्छेदन एवं विधारण रूप विशिष्ट क्रिया प्राणायाम, इन्द्रियों के किसी विषय को आधार बनाकर वहाँ चित्त की पूर्ण स्थिरता का प्रयास, पूर्ण वैराग्य, अस्मिता मात्र में चित्त की स्थिरता का प्रयास, स्वप्न निद्रा अथवा ज्ञान को आश्रय बनाकर चित्त की स्थिरता का प्रयास अथवा किसी भी अपने अभिमत देव आदि का ध्यान भिन्न-भिन्न परम्पराओं में चित्तवृत्ति-निरोध के उपाय के रूप में स्वीकृत रहे हैं।¹ उत्तर काल में भी साधना की पद्धतियों में यथावश्यक प्रयोग होते रहे हैं और उसके फलस्वरूप साधना

क्रम में लक्ष्य और साधक की योग्यता के आधार पर कुछ परिवर्तन भी हुए हैं। हठयोग और नाथ सिद्धों की साधना पद्धति की प्रतिष्ठा अथवा प्रचलन इस सहज परिवर्तन के प्रमाण हैं।

इन परिवर्तनों के प्रसंग में यह ध्यान रखने वाला तथ्य है कि देश विशेष की सीमाएँ अथवा धर्म विशेष का इस पर कोई प्रभाव नहीं रहा है। इसीलिए भारतीय साधना पद्धति, नेपाली साधना पद्धति आदि शब्दों को अथवा जैन योग, बौद्ध योग ब्राह्मण या वैदिक योग आदि भेदबोधक शब्दों के प्रयोग को बहुत गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोगों का केवल इतना ही अर्थ है कि किसी क्षेत्र विशेष में अधिक प्रचलित साधना विधि, अथवा जैन और बौद्ध सम्प्रदाय के मध्य प्रतिष्ठित आचार्यों के द्वारा स्वयं स्वीकृत अथवा उनके द्वारा लिखित साहित्य में मुख्यतया वर्णित साधना विधि के कुछ विशिष्ट तत्व।

साधना के प्रसंग में इस तथ्य का उल्लेख मैं निःसंकोच करना चाहूँगा कि साधना से सम्बन्धित दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भ में जैन आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों में भले ही पतञ्जलि और व्यास के समान दार्शनिक गम्भीरता न हो, सिद्ध परम्परा के आचार्यों की तुलना में दृढ़ता और स्पष्टता कुछ कम हो किन्तु कष्टसहिष्णुता रूप तपश्चर्या के सम्बन्ध में जितनी दृढ़ता, नियमों में स्पष्टता जैन सन्तों के साधना क्रम में अथवा जैन आचार्यों द्वारा निर्धारित आचार नियमों में मिलती है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

जैन आचार्यों में मुख्यतः हेमचन्द्र एवं हरिभद्र सूरि इन दो आचार्यों ने योगशास्त्र के सम्बन्ध में अपनी लेखनी चलाई है। इनकी रचनाओं में हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र एवं हरिभद्रसूरिकृत योगदृष्टि-समुच्चय, योगविन्दु, योगशतक और योगविशिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें से अन्तिम दो अर्थात् हरिभद्रसूरिकृत योगशतक और योगविशिका अर्थ

मागधी प्राकृत में है शेष तीन ग्रन्थ अर्थात् हेम-चन्द्रकृत योगशास्त्र एवं हरिभद्रसूरिकृत योगदृष्टि-समुच्चय एवं योगबिन्दु संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं।

इन दोनों ही आचार्यों ने साधना पथ के रूप में महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रवर्तित अष्टांग को ही प्रायः स्वीकार करते हुए उसका विवरण दिया है अथवा उसके प्रभाव की फल की चर्चा करके उस अष्टांग योग साधना की ओर जन सामान्य को प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है। आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में अष्टांग योग की ही अविकल स्वीकार किया गया है, जबकि हरिभद्रसूरि के अर्ध-मागधी प्राकृत में निबद्ध योगशास्त्र और योग-विशिका में साधना एवं तपश्चर्या के प्रसंग में सामान्य श्रावकों गृहस्थों अथवा नवदीक्षित मुनियों के लिए अत्यन्त संक्षेप में साधना सम्बन्धी नियमों का अथवा साधना विधि का निबन्धन हुआ है। योगबिन्दु में भी जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, संस्कृत भाषा में जैन साधकों के लिए अपेक्षित तप-श्चर्या और साधना के पथ का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत हुआ है। हरिभद्र सूरि का योगविषयक प्रधान ग्रन्थ योगदृष्टिसमुच्चय है। यहाँ भी जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही संकेत मिल जाता है, योग साधना के पथ का नहीं बल्कि उसकी पृष्ठभूमि में आधार के रूप में विद्यमान योग दृष्टियों का वर्णन हुआ है। साथ ही योग साधना की चार स्थितियों का भी अत्यन्त प्रशस्त विवरण किया गया है।

साधना की प्रथम अवस्था वह होती है जब साधक शास्त्रों अथवा उससे सम्बद्ध कुछ ग्रन्थों को पढ़कर अथवा विद्वान गुरुजनों अथवा आचार्यों, मुनियों के मुख से योग साधना की महिमा को जानकर उसके लिए (योग साधना के लिए) संकल्प लेता है, उसके अनुसार (आचरण के लिए) व्यवहार के लिए प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्त भी होता है किन्तु मध्य-मध्य में प्रमाद असंलग्नता नहीं रह पाती, कभी-कभी साधना में विघ्न हो जाता है, साधना बाधित हो जाती है। हरिभद्र सूरि ने साधक की इस अवस्था को इच्छा योग के नाम दिया है।¹²

२३४

साधना के प्रसंग में साधक की द्वितीय अवस्था वह होती है, कि वह साधना में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त ही नहीं होता बल्कि रखलन से, विचलन से, सुर-क्षित रहता है, उसका समस्त व्यवहार, उसका समस्त आचार, उसकी समस्त साधना शास्त्रों के अनुकूल, गुरुजनों द्वारा प्रदर्शित मार्ग के अनुकूल चलती रहती है। साधक की इस अवस्था का नाम शास्त्रयोग है। इस अवस्था में प्रमाद का पूर्ण अभाव रहता है।¹³ साधना की तृतीय अवस्था में साधक सभी प्रकार की विघ्न बाधाओं से ही पूर्णतः सुरक्षित नहीं होता, बल्कि वह सिद्धावस्था के निकट पहुँच जाता है। उसे धर्म का, आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो चुका होता है। शास्त्र प्रतिपादित रहस्य उसे आत्मसात् हो चुके होते हैं, प्रातिभ ज्ञान, जिसे पतञ्जलि के योग सूत्र में वियेकख्याति कहा गया है,¹⁴ उसे प्रकट हो चुका होता है, यह प्रातिभज्ञान तत्त्व ज्ञान कहा जा सकता है, जो निश्चय ही श्रुत ज्ञान अर्थात् विविध शास्त्रों में वर्णित विषयों के ज्ञान से और अनुमान आदि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान से कहीं उत्कृष्ट होता है।¹⁵ इस प्रकार वह सर्ववश्यी होता है, साथ ही उसमें अनन्त सामर्थ्य भी होता है, जिसके फलस्वरूप उसमें किसी प्रकार के प्रमाद की सम्भावना नहीं रहती। हरिभद्र सूरि ने इस तृतीय अवस्था का वर्णन करके इसे सामर्थ्य योग संज्ञा प्रदान की है।

योग-साधना की सर्वोच्च अवस्था वह है अब न केवल योगी का ग्रन्थि भेदन हो चुका रहता है बल्कि उससे अहंता ममता आदि समस्त भावों का उपशम हो गया है। उसमें न राग है न द्वेष, न कर्तृत्व की भावना है न फल की कामना, उसकी समस्त आसक्तियाँ पूर्णतया विलीन हो चुकी हैं समस्त संकल्पों का विलय हो चुका है। और उसने सर्व संन्यासमयता की स्थिति प्राप्त कर ली है, इस प्रकार वह जीवन्मुक्त हो चुका है। यह अवस्था साधना की पूर्णावस्था है, मोक्ष की अवस्था है अतः इसे साधना की अवस्था कहने के स्थान पर सिद्धावस्था कहना अधिक उचित है। योग की इस तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

पूर्णावस्था का आचार्य हरिभद्रसूरि ने अयोग नाम दिया है।⁶ अयोग का अर्थ है सर्वतोभावेन निर्लिप्तता की स्थिति, जिसे श्रीमद्भगवद् गीता में स्थित-प्रज्ञता की स्थिति कहा गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभय क्रोधः स्थितधीः मुनिरुच्यते ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।⁷

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग की उपर्युक्त अवस्थाओं का वर्णन साधना की स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए आत्मपरीक्षा के उद्देश्य से किया है जिससे साधना के मार्ग में साधक अपनी स्थिति की पूर्ण जानकारी रखते हुए देश और काल को ध्यान में रखकर अपनी साधना को और सुदृढ़ कर सके, गति दे सके। साथ ही उसके मार्ग-दर्शक गुरु भी उसकी अवस्था का मूल्यांकन करते हुए उसे अपेक्षित संरक्षण और मार्ग दर्शन प्रदान कर सकें। इस दृष्टि से इन अवस्थाओं का वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण तो है ही, पतञ्जलि के सूत्रों में अथवा उनके भाष्य अथवा वृत्तियों में अथवा सिद्ध सम्प्रदाय के आचार्य गोरक्षनाथ आदि के योग बीज, योग शिखा, अमनस्क योग, योग कुण्डलो आदि ग्रंथों में भी इनकी चर्चा न होने से अत्यन्त मौलिक भी है।

साधना के क्रम में साधक की मानसिक अवस्थाएँ भी साधना के मूल्यांकन के लिए, साधक की दृष्टि से साधना मार्ग की अनुकूलता प्रतिकूलता का मूल्यांकन करने की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखती हैं। स्मरणीय है कि साधना के क्रम में साधक की मनःस्थिति का सर्वाधिक महत्व है। मनःस्थिति ही साधक को साधना में प्रवृत्ति देती है और प्रवृत्त रखती है। पूर्ण चित्त-वृत्तिनिरोध रूप समाधि की स्थिति भी मन की ही अवस्था विशेष है। मनःस्थिति के कारण ही लोक की कोई घटना किसी व्यक्ति को सुख प्रदान करती है तो किसी

को वही घटना दुःख और पीड़ा प्रदान करती है। पतञ्जलि के भाष्यकर व्यास द्वारा निर्दिष्ट क्षिप्त, मूढ विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ चित्त की ही अवस्थाएँ हैं जिनका सूक्ष्म विवेचन व्यास ने योग सूत्र भाष्य में किया है।⁸

ज्ञान अथवा तत्त्वबोध की अवस्था भी मन की अवस्था विशेष है। जिसे बौद्ध, जैन, वैशेषिक, न्याय और वेदान्त दर्शनों में मोक्ष का एकमात्र उपाय माना गया है। पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट साधना मार्ग में भी निर्विचारा सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में पहुँचने पर अध्यात्मप्रसाद और ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय की चर्चा की गई है। और स्वीकार किया गया है कि विवेक ह्याति अपर पर्याया ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार अन्य समस्त संस्कारों का प्रतिबन्धन करते हैं जिसके अनन्तर ही साधक निर्बीज समाधि पर पहुँचता है।⁹ इस प्रकार मन की अवस्थाओं का विवरण योगसाधना के क्रम में स्वयं अपनी और अपने शिष्य अथवा सन्नद्धाचारी साधक की साधना पथ पर स्थिति और साधना पथ के प्रभावी या अप्रभावी होने के मूल्यांकन के लिए न केवल अत्यन्त उपयोगी है बल्कि अनिवार्यतः अपेक्षित भी है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने मन की नव अवस्थाओं का वर्णन किया है। इन अवस्थाओं में ओषदृष्टि, जिसे मिथ्यादृष्टि भी कहते हैं, साधना से रहित अज्ञानी पुरुष की मानसिक अवस्था है। शेष मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा और परा आठ साधक की मानसिक अवस्थाएँ हुआ करती हैं। इनमें प्रथम से अन्तिम तक क्रमशः उच्च उच्चतर और उच्चतम स्थिति में पहुँचे हुए साधकों की मन की अवस्थाएँ हैं।¹⁰ इसीलिए इन्हें योगदृष्टियाँ कहा जाता है। साधकों के मन की ये विशिष्ट स्थितियाँ हरिभद्रसूरि के अनुसार यम नियम आदि का अभ्यास करने के फलस्वरूप जेद आदि उद्वेगों की निवृत्ति होने के अनन्तर प्राप्त होती हैं। जब तक चित्त में राग और द्वेष के वेग विद्यमान रहते हैं और जब तक मैत्रो,

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

२३५

करुणा और मुदिता आदि वृत्तियों का उदय नहीं होता और चित्त का प्रसादन नहीं होता, तब तक साधक मन की इन स्थितियों को प्राप्त नहीं कर पाता ।

हरिभद्र सूरि के अनुसार योग साधना में संलग्न साधक जब अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन यमों का निष्ठापूर्वक पालन करने लगता है, तब उसके मन में मैत्री भाव प्रतिष्ठित होता है, उसे मित्रा दृष्टि प्राप्त होती है ।¹¹ सामान्य रूप से मैत्रीभाव अथवा मित्रा दृष्टि शब्द से ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह मनोभाव प्रेम से समन्वित मन की स्थिति है, जो दृष्टि वैरभाव का त्याग करने से प्राप्त होती है । पतञ्जलि के अनुसार वैरभाव की निवृत्ति रूप फल की प्राप्ति अहिंसा नामक यम के सम्पूर्णतया पालन से भी हुआ करती है ।¹² किन्तु यहां वस्तुतः मित्रा दृष्टि में देवों के प्रति श्रद्धा देव कार्यों के सम्पादन में रुचि, उनके हेतु कार्य सम्पादन के प्रसंग में खेद का अभाव अर्थात् देव कार्यों के सम्पादनार्थ अभूतपूर्व बल एवं साधना से सम्पन्न होना उन कार्यों में पूर्ण सफल होने का विश्वास अर्थात् क्रियाफलाश्रयत्व और साथ ही सफलता की स्थिति में उसके प्रति अन्य जनों के हृदय में साथ ही अन्य जनों के प्रति हृदय में निर्वैर भाव की प्रतिष्ठा की स्थिति सभी एक साथ सम्मिलित हैं । मन की इस स्थिति में तत्त्वज्ञान अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में ही रहता है ।¹³ इसके अतिरिक्त मित्रा दृष्टि का उदय हो जाने पर साधक के चित्त में केवल कुशलकर्म करने की भावना रहती है, अकुशल कर्मों की स्वतः निवृत्ति होने लगती है, उसमें कर्मफल के प्रति आसक्ति सामान्यतः नहीं रहती, सांसारिक प्रपंच के प्रति वैराग्य, दान कर्म में प्रवृत्ति, शास्त्र सम्मत चिन्तन एवं लेखन तथा स्वाध्याय आदि में सहज प्रवृत्ति आदि भावनाएँ एवं क्रियाएँ उनके जीवन की अंग बनने लगती हैं ।¹⁴

साधना के क्रम में, हरिभद्र सूरि के अनुसार यमों और साथ-साथ नियमों का भी पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करने से मानसिक स्थिति का कुछ और

उन्नयन होने पर हितकार्यों के सम्पादन में उद्वेग का अभाव, तात्त्विक जिज्ञासा एवं परम तत्त्व विषयक कथा में अविच्छिन्न प्रीति, योगिजनों के प्रति श्रद्धा-तिरेक एवं उनकी कृपा, उनके प्रति पूर्ण विश्वास की भावना, अकर्मों से निवृत्ति, द्वेषभाव का अभाव, भय भय से भी निवृत्ति मोक्ष की प्राप्ति । समस्त दुःखों की निवृत्ति की अवश्यम्भाविता का विश्वास आदि मनोभाव चित्त में स्थिर होने लगते हैं । मन की इस स्थिति को तारादृष्टि कहते हैं । पतञ्जलि के अनुसार नियमों की साधना के फलस्वरूप स्वयं अपने शरीर सहित दूसरों के शारीरिक संसर्ग के प्रति घृणा पूर्ण अरुचि, बुद्धि और मन की पवित्रता, इन्द्रियजय, अतिशय तुष्टि, शरीर और इन्द्रियों में अतिशय सामर्थ्य, इष्टदेवों की कृपा, चित्त की पूर्ण एकाग्रता, एवं आत्मदर्शन की योग्यता आदि परिणाम साधक को परिलक्षित होते हैं । पतञ्जलि निर्दिष्ट इन फलों में शरीर एवं इन्द्रियों में अतिशय सामर्थ्य, इष्ट देवों की कृपा तथा आत्मदर्शन की योग्यता मन की स्थितियां नहीं है । अतः स्वाभाविक है कि दृष्टियों अर्थात् मनःस्थितियों की चर्चा करते हुए हरिभद्रसूरि इनकी चर्चा नहीं करते । अन्यथा पतञ्जलि-निर्दिष्ट नियम साधना के प्रायः सभी फलों की चर्चा यहाँ समान रूप से हुई है । साथ ही योगीजनों के साथ हृदय संवाद और उन पर पूर्ण विश्वास की चर्चा हरिभद्र सूरि के अनुभव वर्णन में नवीन है । जो उनकी सूक्ष्म दृष्टि और अनुभव की ओर इंगित करती है ।

यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है कि हरिभद्र सूरि के अनुसार मित्रा और तारा दृष्टियाँ साधना के मार्ग में चलने वाले योगी के मन की प्राथमिक दो स्थितियाँ हैं जिनकी प्राप्ति उनके अनुसार क्रमशः यम और नियमों के पालन करने से होती है । इससे यह भी लगता है कि हरिभद्र सूरि यम और नियमों को साधना के क्रम में क्रमशः अपनाये जाने वाले दो प्राथमिक सोपान के रूप में स्वीकार करते हैं । जबकि पतञ्जलि इन दोनों का प्रथम निर्देश करते हुए भी इन्हें प्रथम द्वितीय

सोपान के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार यमों की साधना न तो नियमों के पालन के लिए साधक में योग्यता उत्पन्न करती है, और न वे ऐसा ही संकेत करते हैं कि नियमों के पालन के पूर्व यमों के पालन में सिद्धि अनिवार्य है। और इनमें सिद्धि के बाद ही आसन साधना की जा सकेगी। वस्तुतः वे इन्हें (यमों और नियमों को) योग साधना में अन्त तक आवश्यक मानते हैं। इसी कारण वे हिंसा आदि के मूल में लोभ, मोह और क्रोध का संकेत करके अहिंसा आदि के पालन में इन लोभ आदि की निवृत्ति अनिवार्य मानते हैं, और इनकी पूर्णतया निवृत्ति प्रत्याहार सिद्धि के बाद ही हो सकती है उससे पूर्व नहीं। साथ ही वे नियमों में अन्यतम ईश्वर प्रणिधान को समाधि, अर्थात् चित्त की पूर्ण एकाग्रता के प्रति योग साधना के अन्तिम अंग के प्रति कारण मानते हैं। यह भी स्मरणीय है कि पतञ्जलि आसनों को प्राणायाम के लिए योग्यता प्राप्त करने में, प्राणायाम को धारणा की योग्यता प्राप्त करने में कारण मानते हैं और इस तथ्य का स्पष्ट निर्देश भी "तस्मिन्सति श्वास प्रश्वासयोः गति विच्छेदः प्राणायामः।" ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्, धारणासु च योग्यता मनसः¹⁵। सूत्रों द्वारा करते हैं। इनके अतिरिक्त वे यह भी स्वीकार करते हैं कि आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये प्रथम तीन धारणा आदि तीन की दृष्टि से बहिरंग है।¹⁶ एक प्रकार से साधना है। तथा धारणा आदि तीन चित्त की एकाग्रता की तीन स्थितियाँ भी निर्वीज समाधि के प्रति बहिरंग है।¹⁷ अर्थात् उनमें भी साध्य साधन भाव है। किन्तु यम नियमों के सम्बन्धों में वे ऐसा संकेत नहीं करते हैं। तीन, तीन के दो वर्ग बनाते हुए अर्थात् प्रथम वर्ग की साधना की स्थूलता एवं द्वितीय वर्ग की साधना की सूक्ष्मता की ओर संकेत करते समय भी वे इन दोनों को किसी वर्ग में सम्मिलित नहीं करते।

साधना के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

मानसिक अभ्युन्नति का तृतीय स्तर बलादृष्टि है। बलादृष्टि का तात्पर्य है मन में दृढ़ता। हरिभद्र सूरि के अनुसार इसकी प्राप्ति आसन साधना से होती है। तत्त्वदर्शन में दृढ़ता, तत्त्वश्रवण की उत्कट अभिलाषा मानसिक, दृढ़ता के फलस्वरूप विकल्पों का अभाव, लौकिक जीवन के साथ ही पारलौकिक जीवन में भी प्रणिधान, समस्त कर्मफलों का नाश और निर्बाध प्रगति होने से अभ्युदय की प्राप्ति में पूर्ण विश्वास बलादृष्टि की स्थिति में मन में विद्यमान रहते हैं।¹⁸ योगसूत्रकार पतञ्जलि यद्यपि आसन साधना के फलस्वरूप क्षुधा-पिपासा, शीत-ताप आदि द्रव्यों से अनभिघात और उसके फल-स्वरूप प्राणायाम करने की योग्यता की उपलब्धि को ही आसन साधना का फल स्वीकार करते हैं, किन्तु आसन के अंग के रूप में अनन्त समाप्ति की साधना से प्राप्त द्रव्यों से मुक्ति के फलस्वरूप मन में जिस दृढ़ता का उदय होता है। और उसके फलस्वरूप जो प्रणिधान सिद्ध होता है उसके कारण शुभ आध्यात्मिक फलों का सहज भाव से मन में दर्शन मन की एक विशेष स्थिति है जिसका विवरण आचार्य हरिभद्र सूरि के अतिरिक्त किसी आचार्य ने नहीं किया है।

मन की चतुर्थ अभ्युन्नत स्थिति साधना पथ का पूर्वार्ध पार करने पर होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस अवस्था में साधक सामान्य मानव न रहकर असामान्य हो जाता है, अलौकिक भाव को प्राप्त कर लेता है। अतएव वह मानव सामान्य में रहने वाले बोध की अवस्था बुद्धि और ज्ञान के बाद असम्मोह की अवस्था में पहुँच जाता है। असम्मोह को इस अवस्था में ज्ञान के सभी पक्ष ज्ञाता को विदित होते हैं।¹⁹ जैन दर्शन में स्वीकृत सप्तभंगी नय के अनुसार किसी पदार्थ के भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जितने विकल्पात्मक स्वरूप हो सकते हैं, उन सभी स्वरूपों का उसे यथार्थबोध रहता है, फलस्वरूप उसके चित्त में संकल्प की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसी कारण लौकिक जीवन

यात्रा के क्रम में उसके शरीर द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्म संकल्प विकल्प के अभाव में बन्धन के कारण नहीं बनते। और साधक यदि भावातीत अवस्था में विद्यमान है तो वे ही कर्म निर्वाण प्रदान कराने वाले भी हो जाते हैं।

साधक की इस चतुर्थ अवस्था की प्राप्ति प्राणायाम साधना के फलस्वरूप होती है। प्राणायाम साधना के फल के रूप में योगसूत्रकार पतञ्जलि ने यद्यपि प्रकाश के आवरण का क्षय और धारणा की योग्यता का उत्पन्न होना ही स्वीकार किया है, और प्रकाश के आवरण-क्षय होने पर बोध की वह स्थिति स्वीकार की जा सकती है जिसे आचार्य हरिभद्र सूरि ने असम्मोह कहा है। किन्तु इस प्रसंग में दत्तात्रेय योगशास्त्र का वह कथन स्मरणीय है जहाँ प्राणायाम की उत्तर अवस्था केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर योगी के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता यह स्वीकार किया गया है²⁰ साथ ही यह भी माना गया है कि प्राणायाम के सिद्ध होने पर साधक योगी जीवन्मुक्त हो जाता है।²¹

आचार्य हरिभद्र सूरि के अनुसार योगी की पंचम मानसिक अवस्था वह होती है जब तमोग्रन्थि का भेदन हो जाता है, फलस्वरूप उसकी समस्त चर्याएँ शिशु की क्रीड़ा मात्र रहती हैं, और उसके सभी कर्म धर्मविषयक बाधा को दूर करने वाले ही हुआ करते हैं।²² इस प्रसंग में श्रीमद्भगवद्गीता में योगीराज कृष्ण के धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।²³ वचन तुलनीय है। मन की इस स्थिति को स्थिरादृष्टि कहा जाता है। और यह हरिभद्र सूरि के अनुसार प्रत्याहार की साधना से प्राप्त होती है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने योगी के मन की छठी स्थिति वह मानी है जब वह अपनी कमनीयता के कारण सर्वजन प्रिय ही नहीं सर्वजन काम्य हो जाता है। असंख्य स्त्रीरत्न भूता कामिनियाँ उसकी कामना करती हैं किन्तु वह स्थितप्रज्ञ माया प्रपंच

में न फँसता है न उद्विग्न होता है, बल्कि आप्त काम की भाँति सर्वत्र अनासक्त और निष्काम बना रहता है।²⁴ दत्तात्रेय के अनुसार केवल कुम्भक की सिद्धि के प्रारम्भावस्था में ही योगी का शरीर कामदेव की भाँति सुन्दर हो जाता है, और उसके रूप पर मोहित होकर कामिनियाँ उसके साथ संगम की कामना करती है।²⁵ हरिभद्र सूरि ने योगी की इस मनः अवस्था को कान्ता दृष्टि कहा है। उनके अनुसार यह अवस्था धारणा की साधना से प्राप्त होती है।

अष्टांग योग का सानवाँ अंग ध्यान है। इसकी साधना में सफलता मिलने पर हरिभद्रसूरि के अनुसार चित्त में न केवल एकाग्रता आती है बल्कि धर्मध्यान में वह लीन रहने लगता है। तत्त्वबोध के साथ सत्य में प्रवृत्ति एवं काम पर पूर्ण विजय इस अवस्था में योगी में विद्यमान रहती है अर्थात् काम-विषयक भावना और कामनाओं का किञ्चिन्मात्र भी उदय उस अवस्था में योगी के हृदय में नहीं होता। इसके अतिरिक्त ध्यान के फलस्वरूप अन्तर आनन्द की अनुभूति और पूर्ण शान्ति की अनुभूति इस अवस्था में होती है। चित्त की इस अवस्था को हरिभद्रसूरि ने प्रभादृष्टि नाम दिया है। इस अवस्था में दिव्य ज्ञान तादात्म्य भाव से चित्त में निरन्तर विद्यमान रहता है इसलिए इसे प्रभादृष्टि नाम दिया गया है।

योगी के मन की सर्वोच्च अवस्था समस्त आसंग से अलग रहकर समाधिनिष्ठ रहने की है। समाधिनिष्ठ होने के कारण इस अवस्था में पहुँचने पर उसे किन्हीं लौकिक आचार के पालन की अपेक्षा नहीं रहती। पूर्वकृतकृत्यता और धर्म संन्यास इस अवस्था की मुख्य विशेषता है। जीवनकाल में यह योगी ज्ञान केवल्य अवस्था में रहता है अर्थात् अद्वय भाव की अनुभूति उसे सभी काल में बनी रहती है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी का भेद उसके मानस से पूर्णतः मिट जाता है। इसे ही उपनिषदों

की भाषा में 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप महावाक्य द्वारा प्रमट किया गया है। यह योगी की पूर्ण सिद्धावस्था है। इसे हरिभद्रसूरि ने परा दृष्टि नाम दिया है। इस अवस्था में पहुँचने के बाद योगी की भवव्याधि का क्षय हो जाता है। और वह अपनी इच्छानुसार निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है हेमचन्द्र ने पतञ्जलि निर्दिष्ट साधना सम्बन्धी सिद्धांतों को सम्पूर्णतया स्वीकार किया है किन्तु साथ ही उन्होंने स्थान-स्थान पर जो अपना मौलिक चिन्तन निबद्ध किया है वह साधना के पथ के पथिकों के लिए अपूर्व है।

बारह प्रकाशमय हेमचन्द्र के योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में ही सम्पूर्णकाल में साधना में रत रहने वाले मुनियों, अंशकालीन साधकों के लिए भी सामान्य जीवन में व्यवहार्य साधना विधि का विवरण दिया है। प्रथम प्रकाश में वर्णित साधना विधियों का विस्तार सम्पूर्ण ग्रन्थ में हुआ है। इनके द्वारा निर्दिष्ट द्वादश व्रतों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पांच अणुव्रत, दिग्विरति, भोगोपभोगमान, अनर्थ दण्ड विरमण तीन गुणव्रत तथा सामायिक, देशावकाशिक, पौषध और अतिथि संभाग चार शिक्षाव्रत गृहस्थों के लिए ही हैं। गुणव्रतों में इन्होंने मदिरा मांस नवनीत मधु उदम्बर आदि के भक्षण का निषेध करते हुए रात्रि भोजन का भी निषेध किया है। गृहस्थों को भी अपनी आध्यात्मिक साधना से कभी विरत नहीं होना चाहिए यह मानकर इन्होंने ब्राह्ममूर्त में जागरण से लेकर रात्रि तक की दिनचर्या का भी स्पष्ट वर्णन किया है जिससे वे भी मोक्षपथ के पथिक बने रहें। साधना के क्षेत्र में यह निर्देश सर्वप्रथम आचार्य हेमचन्द्र ने ही दिया है।

सामान्य (मुनि) साधकों के लिए भी आचार्य हेमचन्द्रसूरि का योगशास्त्र अपनी मौलिकता से

आज भी सर्वातिशयी बना हुआ है। उनके अनुसार साधक को इन्द्रियजय, कषायजय मनःशुद्धि और रागद्वेषजय के लिए निरंतर प्रयत्न करना चाहिए। एतदर्थ उन्होंने बारह भावनाओं को उद्दीप्त करने की विधियों का विस्तार से वर्णन किया है जो साधना मार्ग की पृष्ठभूमि कही जा सकती है। इस क्रम में उन्होंने समत्वबुद्धि को सर्वाधिक महत्व दिया है। साथ ही आसन, प्राणायाम और ध्यान का विस्तृत वर्णन किया है। यद्यपि उनकी मान्यता है कि साधना के क्रम में प्राणायाम निरर्थक है, कष्टप्रद है, और इसी कारण मुक्ति में बाधक भी है।

आचार्य हेमचन्द्र ने ध्यान पर सर्वाधिक बल दिया है। उनके अनुसार ध्यान की साधना से पूर्व साधक को ध्यान, ध्येय और उसके फल को भली जान लेना चाहिए अन्यथा ध्यान साधना में सिद्धि की सम्भावना कम रहेगी। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार ध्येय पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत भेद से मुख्यतः चार प्रकार का होता है। ध्यान साधना के प्रारम्भ में साधक पिण्डस्थ पदस्थ अथवा रूपस्थ तीनों में से किसी ध्येय का ध्यान कर सकता है। किन्तु ध्यान साधना की पूर्णता रूपातीत ध्येय का ध्यान करने में ही है। रूपातीत ध्यान में आज्ञा विचय आदि चार प्रकार का धर्म-ध्यान तथा पृथक्त्व वितर्क आदि चार प्रकार का शुक्ल-ध्यान होता है। इनका विस्तारपूर्वक विवरण आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में दिया है। इस प्रकार हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में साधना के व्यावहारिक पक्ष का विस्तार से वर्णन करके अन्त में विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट मुलीन इन चित्तभेदों तथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा नाम से आत्म-तत्त्व का दार्शनिक विवेचन भी किया है।

आचार्य हेमचन्द्र के योग विषयक विवेचन की तुलना यदि हम पतञ्जलि से करना चाहें तो हमें विदित होता है कि पतञ्जलि ने योग सूत्रों में साधना पक्ष का संकेत मात्र किया है एवं दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष का अत्यन्त गम्भीरता से

वर्णन किया है, जबकि हेमचंद्रकृत योगशास्त्र में साधना पक्ष का बहुत विस्तार से एवं स्पष्ट विवरण दिया गया है एवं दर्शन पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की गई है। इसी प्रसंग में यदि हम आचार्य हरिभद्रसूरि के योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु योगविशिका और योगशतक के विवेचन की भी सम्मिलित कर लें तो यह निष्कर्ष प्राप्त होगा कि पतञ्जलि की परम्परा में योग साधना शिष्य को गुरु से ही प्राप्त होती रही है, ग्रंथों का अध्ययन

उसके दर्शन पक्ष के अध्ययन के लिए ही सम्भवतः होता रहा है। जबकि जैन आचार्यों ने ग्रंथों में भी उसका निबन्धन करके तथा सामान्य गृहस्थों के लिए एक सीमित मात्रा में उसको अनिवार्य घोषित कर योग साधना को जन सामान्य तक पहुँचाने का महनीय कार्य किया है। और यह उनका योगदान लोक तथा योग विद्या दोनों के लिए एक अविस्मरणीय योगदान मानना चाहिए। ❀

सन्दर्भ

- १ अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः । (१.१२) ईश्वर प्रणिधानाद्वा (१.२३) प्रच्छेदनं विधारणाभ्यां वा प्राणम्य (१.३४) विषयवती वा पंचवृत्ति सत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धिनी (१.३५) विशोका वा ज्योतिष्मती (१.३६) तीतारामविषयं वा चित्तम् (१.३७) । स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा (१.३८) यथाभिमतध्यानाद्वा (१.३९) । योगसूत्र
- २ योगदृष्टि समुच्चय, ३ ३ योगदृष्टि समुच्चय, ४
- ४ ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा, श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् । —योग सूत्र १.४८-४९
- ५ योगदृष्टिसमुच्चय ५-८ ६ योगदृष्टि समुच्चय ११
- ७ गीता २.५६-५७ ८ क्षिप्तं मूर्धं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः । योगभाष्य १.१ वृष्ट १
- ९ निविचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । तज्जः संस्कारोभ्य संस्कार प्रतिबन्धी । तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वीजः समाधिः । —योग सूत्र १.४७-४८-५०-५१
- १० मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कांता प्रभा परा । नामानि योगदृष्टीनां**** । —योगदृष्टिसमुच्चय १३
- ११ यमादि योग युक्तानां खेदादि परिहारतः । अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सताम्रता । —योगदृष्टि समुच्चय १६
- १२ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः । —यो० सू० २.३५.
- १३ मित्रायां दर्शनं मन्दं यम इच्छादिकं तथा । आवेदो देवकार्यादो अद्वेषश्चापरत्र च । —योगदृष्टि समुच्चय २१ ।
- १४ वही० २४-२७. १५ यो. सू. २.४९, ५२-५३ ।
- १६ तदपि बहिरंग निर्वीजस्य । —यो. सू. ३.८ । १७ त्रयमन्तरंग पूर्वभ्यः । —यो. सूत्र. ३.७-१ ।
- १८ योगदृष्टि समुच्चय ४९-५६ ।
- १९ असम्मोहसमुत्थानि त्वेकान्तपरिसिद्धितः । निर्वाण फलान्याशु भावातीतार्थं यायिनाम् ॥ —वही १२६
- २० केवले कुम्भके सिद्धे रेचपुरक वजिते । न तस्य दुर्लभं किंचि लिषु लोकेषु विद्यते ॥ —दत्तात्रेय योगशास्त्र १.४-४०
- २१ वायुं निरुध्य मेघावी जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् । —वही २४९
- २२ योगदृष्टि समुच्चय १५३-१६१ । २३ भगवद्गीता ।
- २४ योगदृष्टि समुच्चय १६२-१६६ ।
- २५ कन्दर्पस्य यथारूपं तथा तस्यापि योगिनः । तद्रूपवशयाः नार्यः क्षन्ते तस्य संगमम् ॥ —दत्ता० यो० शा० १०५—१६७

मनुष्य के पास जितने भी साधन सुख-प्राप्ति के लिए हैं, उन साधनों के रहते हुए भी मनुष्य उतना ही अधिक तनावग्रस्त, दुखी, चिन्तित दिखाई देता है। बौद्धिक एवं वैज्ञानिक यह बात आग्रहपूर्वक कह रहे हैं कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति शारीरिक कष्ट से उतनी दुखी नहीं है, जितनी मानसिक ताप से। इससे मुक्ति पाने के लिए ध्यान एकमात्र परमौषधि है। ध्यान के द्वारा मनुष्यों की मानसिक पीड़ा नष्ट की जा सकती है। इसीलिए जागरूक एवं ध्यान-साधना में परिपक्व महापुरुषों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में ध्यान की ओर मनुष्यों को प्रेरित किया जा रहा है, उन्हें आकृष्ट किया जा रहा है।

आगम साहित्य में

ध्यान का स्वरूप

‘ध्यानं आत्मस्वरूप चिन्तनम्’ अर्थात् आत्मस्वरूप का चिन्तन ही ध्यान है। इसमें ध्याता, ध्यान, ध्येय और संवर-निर्जरा ये चार बातें आती हैं।

ध्यान के महत्व के विषय में भगवान् महावीर का एक महत्वपूर्ण सूत्र है—

‘सोसं जहा सरोरस्स जहा मूलं दुमस्स च ।
सध्वस्स साधु धम्मस्स तहा ध्यानं विधीयते ॥’

—समण सुत्तं ४ (४)

अर्थात् मनुष्य के शरीर में जैसे सिर महत्वपूर्ण है, वृक्षों में जैसे जड़ महत्वपूर्ण है, वैसे ही साधु के समस्त धर्मों का मूल ध्यान है।

ध्यान के अभ्यास से आत्मीय शक्तियाँ विकसित होती हैं। आत्मा की शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है। ध्यान के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का मत है कि उत्तम संहनन वाले जीव का किसी पदार्थ में अन्तर्मुहूर्त के लिए चिन्ता का निरोध होता है, वही ध्यान है।

स्थानांग (ठाणांग) सूत्र में चार प्रकार के ध्यान वर्णित हैं— (१) आर्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान और (४) शुक्ल ध्यान। चारों में प्रथम दो ध्यान आर्त और रौद्र संसार भ्रमण कराते हैं। और अन्तिम दो धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मोक्ष की प्राप्ति करवाने में सहायक होते हैं।

इन चारों प्रकार के ध्यान का अर्थ भी भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है।

(१) आर्त ध्यान—स्त्री, पुत्र, रत्न, अलंकार, आभूषण एवं समस्त भोग सामग्री के वियोग को बचाने के लिए तथा इन्हीं की प्राप्ति के लिए जो चिन्तन-मनन होता है, उसी का नाम आर्तध्यान है।

—गुवाचार्य डॉ० शिवमुनि

धमण संघ के मंत्री

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

२४१

(२) रौद्र ध्यान—हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्रो सेवन एवं अन्य भी सभी प्रकार के कलुषित कर्मों से उत्पन्न परिणाम के कारण जो चिन्तन होता है वही रौद्र-ध्यान है। रौद्र ध्यान में सभी पापाचार सम्मिलित हैं। इस ध्यान के चार उपभेद भी माने गए हैं—
(अ) हिंसानुबंधी, (ब) मुषानुबंधी, (स) स्तेनानुबंधी तथा (द) संरक्षणानुबंधी। इस प्रकार का ध्यान करने वाला जीव कृपा के लाभ से वंचित, नीच कर्मों में लगा रहने वाला तथा पाप को ही आनंद रूप मानता है। यह ध्यान नतुर्थ गुणस्थान तक रहता है।

(३) धर्मध्यान—स्त्री, पुत्र, अलंकार, आभूषण तथा सभी प्रकार की भोग सामग्री के प्रति ममत्व भाव इस ध्यान में कम होता चला जाता है। धीरे धीरे आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती चली जाती जाती है। विद्वान् लोगों ने इसीलिए धर्म-ध्यान को आत्म-विकास का प्रथम चरण माना है। द्वादशांग रूप जिनवाणी, इन्द्रिय, गति, काम, योग, वेद, कषाय, संयम, ज्ञान, दर्शन, लेश्या, भव्याभव्य, सम्यक्त्व, सभी असत्ती, आहारक, अनाहारक इस प्रकार १४ मार्गणा, चौदह गुणस्थान, बारह भावना, १० धर्म का चिन्तन करना धर्म ध्यान है। धर्मध्यान को शुक्लध्यान की भूमिका माना गया है। शुक्ल-ध्यानवर्ती जीव गुणस्थान श्रेणी चढ़ना प्रारम्भ कर देता है। धर्म ध्यान के चार भेद माने गए हैं—

(१) आज्ञा विचय—इस ध्यान में सर्वज्ञ प्रवचन रूप आज्ञा विचारी जाती है, चिन्तन करते समय जिनराज की आज्ञा को ही प्रमाण मानना आज्ञा विचय है।

(२) अपाय विचय—अविद्या और दुःखों से मुक्त होने का उपाय सोचना अपाय विचय है।

(३) संस्थान विचय—लोक के आकार, स्वरूप आदि का विचार करना संस्थान विचय है। संस्थान विचय के भी चार उपभेद हैं, (अ) पिंडस्थ—पिंडस्थ ध्यान में शरीर पर विचार किया जाता है, पिंडस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणि, तत्व-

रूपवती इन पांच धारणाओं का चिन्तन किया जाता है।

(ब) पदस्थ—पदस्थ ध्यान में पद के साथ सिद्ध अवस्था पर भी चिन्तन किया जाता है। पदस्थ ध्यान में बैठा हुआ योगी हँ, अहँ तथा ॐ पद का ध्यान करता है, कभी पंच नमस्कार मन्त्र का ध्यान करता है।

(स) रूपस्थ—रूपस्थ ध्यान में अर्हत की विजेषताओं पर ध्यान किया जाता है। रूपस्थ ध्यान में बैठा हुआ योगी समवसरण में विराजमान अर्हत परमेष्ठी का ध्यान करता है। कभी उनके सिंहासन तथा छत्रत्रय आदि आठ महाप्रातिहार्यों का विचार करता है। कभी चार घातिया कर्मों के नाश से उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य इन चार आत्मगुणों का चिन्तन करता है।

(द) रूपातीत—रूपातीत ध्यान में विमुक्त आत्मा के अमूर्तत्व और विशुद्धत्व पर मन केन्द्रित किया जाता है। आठ कर्मों का क्षय हो जाने से सिद्ध आत्मा के आठ गुण (अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, क्षायिक समकित, अवगाहना, सूक्ष्मत्व, अगुरु-लघुत्व) प्रकट हो जाते हैं और इन गुणों का ही ध्यान किया जाता है। यह ध्यान ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव को होता है, जिसके संपूर्ण कषाय उपशान्त या क्षीण हो गये हैं।

धर्मध्यान के चार लक्षण—

धर्मध्यान के लक्षणों में मुख्य रूप से चार बातें हैं—

(१) आज्ञा रुचि—सूत्र और अर्थ इन दोनों में श्रद्धा रखना।

(२) निसर्ग रुचि—सूत्र और अर्थ में स्वाभाविक रुचि रखना।

(३) सूत्र रुचि—आगम में रुचि रखना।

(४) अगाढ रुचि—साधु के उपदेश में रुचि रखना।

धर्मध्यान में बाह्य साधनों का आधार रहता है।

धर्मध्यान के चार आलम्बन—

(१) वांचना—शिष्य के लिए कर्म निर्णयार्थ सूत्रोपदेश आदि देना।

(२) प्रच्छन्ना—अध्ययन के समय सूत्रों में हुई शंका का गुरु से उसका समाधान प्राप्त करना।

(३) परिवर्तना - सूत्र विस्मृत न हो जाय इस-लिए पूर्व पठित सूत्र का बार-बार स्मरण करना, अभ्यास करना।

(८) अनुप्रेक्षा—सूत्र अर्थ का बार-बार चिन्तन मनन करते रहना। इसके चार भेद हैं।

(अ) एकानुप्रेक्षा—आत्मा एक है।

(ब) अनित्यानुप्रेक्षा—सांसारिक सभी पदार्थ अनित्य हैं, नश्वर हैं—ऐसी भावना करना।

(स) अशरणानुप्रेक्षा—इस विराट विष्व में कोई भी मेरी आत्मा का संरक्षक नहीं है, इस प्रकार का विचार करना।

(द) संसारानुप्रेक्षा—ऐसा कोई भी पर्याय अव-शेष नहीं रहा जहाँ आत्मा का जन्म-मरण नहीं हुआ हो, इस प्रकार का विचार करना। ये भी भेद-उपभेद धर्मध्यान का सुगम बोध कराते हैं।

(४) शुक्लध्यान—जिस ध्यान से आठ प्रकार के कर्मरज से आत्मा की शुद्धि हो जाती है, उसे शुक्लध्यान कहते हैं, इसका उदय सातवें गुणस्थान के बाद ही संभव है। इसके चार उपभेद हैं।

(१) पृथक्त्व वितर्क सविचार—इसमें साधक मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीनों में से किसी एक योग का आलम्बन होता है। फिर उसे छोड़कर अन्य योगों का आलम्बन लेता है, वह पदार्थ के पर्यायों पर चिन्तन करता है। यह सब उसके आत्मज्ञान पर निर्भर करता है।

(२) एकत्व वितर्क अविचार—इस ध्यान में पूर्व-

गत सूत्र के आधार से उत्पाद व्यय आदि किसी एक ही पर्याय का विचार करना है। विचार करते समय द्रव्य, पर्याय, शब्द योग इनमें से किसी एक का आलम्बन रहता है। इस अवस्था में पदार्थ पर संक्रमण नहीं होता। प्रथम ध्यान में एक द्रव्य या पदार्थ को छोड़कर दूसरे द्रव्य और पदार्थ की प्रवृत्ति होती है। परन्तु दूसरे ध्यान में यह प्रवृत्ति रुक जाती है। शुक्लध्यान के ये दोनों प्रकार सातवें एवं बारहवें गुणस्थान तक होते हैं।

(३) सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाती—निर्वाण गमनकाल में उसी केवली जीव को यह ध्यान होता है जिसने मन, वचन एवं योग का निरोध कर लिया हो। इस अवस्था में काया को छोड़कर शेष भाग निष्क्रिय हो जाते हैं। यह ध्यान तेरहवें गुणस्थानवर्ती को ही होता है।

(४) व्युपरतक्रिया निवृत्ति—तीन योग से रहित होने पर यह चतुर्थ ध्यान होता है। इस अवस्था में काया भी निःशेष हो जाती है। साधक सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। चौदहवें गुण-स्थान में यह ध्यान होता है। पूर्ण क्षमा, पूर्ण मार्दव आदि गुणों के कारण यह अवस्था प्रकट होती है।

शुक्लध्यान के चार लक्षण—

(१) अव्ययम—व्यथा का अभाव होना।

(२) असंमोह—भूच्छित्त अवस्था न रहना, प्रमादी न होना।

(३) विवेक—बुद्धि द्वारा आत्मा को देह से पृथक् एवं आत्मा से सर्व संयोगों को अलग करना।

(४) व्युत्सर्ग—शरीर एवं अन्य उपाधियों का छूट जाना।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन—

(१) क्षमा, (२) मुक्ति (निर्लोभता), (३) आर्जव (सरलता) एवं (४) मृदुता (विनम्रता) ये चार शुक्लध्यान के आलम्बन हैं।

तृतीय रूपः धर्म तथा दर्शन

२४३

शुभलध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ—

(१) अनन्तवर्तिता—जीव आदि अनादि है, अनन्त योनियों में भटका है और अभी तक इस संसार से इसकी मुक्ति नहीं हो सकी है। यह जीव चारों गतियों (नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) में चक्कर लगाता रहा है। ऐसा विचार अनन्तवर्तिता में है।

(२) विपरिणामानुप्रेक्षा—अधिकांश परिणाम विपरिणाम हैं। पदार्थों की विभिन्न अवस्थाएँ प्रतिपल विपरिणामों में घटित हो रही हैं।

(३) अशुभानुप्रेक्षा—जो शुभ नहीं वह अशुभ है। जो उत्तम नहीं वह अपवित्र है। अशुद्ध शब्द ही अशुभता का परिचायक या वाचक है।

(४) अपायानुप्रेक्षा—मन-वचन-काया के योग से आस्रव के द्वारा ही इन योगों को अशुभ से शुभ की ओर प्रवृत्त करना अपायानुप्रेक्षा है।

ध्यान के विषय में उपर्युक्त विवरण अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया गया है। ध्यान के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन नियुक्ति, चूर्णि, भाष्य, आगम तथा आगमेतर ग्रंथों में प्राप्त होता है, इसके अतिरिक्त विद्वान् आचार्यों ने भी ध्यान के सम्बन्ध में बहुत लिखा है जिससे ध्यान विषयक सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

भगवान् महावीर की साधना—मौन, ध्यान एवं कायोत्सर्ग—

आत्मसाक्षात्कार के लिए ध्यान ही एकमात्र उपयुक्त साधन है। भगवान् ने ध्यान की निर्वाध साधना के लिए आत्मदर्शन का अवलम्बन लिया। भगवान् महावीर ने सालम्बन और निरावलम्बन दोनों ही प्रकार के ध्यान का प्रयोग किया। वे एक प्रहर तक अनिमेष दृष्टि से ध्यान करते रहे, इससे उनका मन एकाग्र हुआ। ध्यान के लिए भगवान् नितान्त एकान्त स्थान का चयन करते हुए खड़े होकर तथा बैठकर दोनों ही स्थितियों में ध्यान

करते थे। पद्मासन, पर्यकासन, वीरासन, गोदोहिकासन तथा उत्कटिका इन्हीं आसनों पर ध्यान सम्पन्न किया। भगवान् यह बात अच्छी तरह जानते थे कि वाक् और स्पंदन का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए ध्यान से पूर्व मौन रहने का संकल्प कर लेते थे। कायिक, वाचिक, मानसिक जिस ध्यान में भी लीन होते, उसमें रहते थे। द्रव्य या पर्याय में किसी एक पर स्थित हो जाते। उनकी ध्यान मुद्रा बड़ी प्रभावशाली होती थी। एक स्थान पर आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—भगवान् तुम्हारी ध्यान मुद्राएँ कमल के समान शिथिलीकृत शरीर और नासाग्र पर टिकी हुई स्थिर आँखों में साधना का जो रहस्य है वह सबके लिए अनुकरणीय है।

पेढाल ग्राम के पलाश नामक चैत्य में एक रात्रि की प्रतिमा की साधना की। तीन दिन का उपवास प्रारम्भ में किया। तीसरी रात को कायोत्सर्ग करके खड़े हो गये। दोनों पैर सटे हुए थे और उनसे सटे हुए हाथ नीचे की ओर झुके हुए थे। स्थिर दृष्टि थी। किसी एक पुद्गल (बिन्दु) पर स्थिर और स्थिर इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में स्थापित कर ध्यान में लीन हो गये।¹

सानुसट्टिय ग्राम में भद्र प्रतिमा की साधना प्रारम्भ की। उन्होंने कायोत्सर्ग की मुद्रा में पूर्व-उत्तर-पश्चिम-दक्षिण चारों दिशाओं में चार-चार प्रहर तक ध्यान किया। इस प्रतिमा में उन्हें अत्यन्त आनन्द की भी प्रतीति हुई थी और इसी शृंखला में महाभद्र प्रतिमा की साधना की। चारों दिशाओं, चारों विदिशाओं, ऊर्ध्व और अधः दिशाओं में एक-एक दिन-रात तक ध्यान करते रहे। इस प्रकार सोलह दिन रात तक निरन्तर ध्यान प्रतिमा की साधना की।²

ध्यान की परम्परा अक्षुण्ण है। वेदों का प्रसिद्ध गायत्री मंत्र मन्त्र ध्यान की ओर ही सकेत करता है।

श्वेताश्वेतरोपनिषद् (१.११) में आत्मा को

ज्ञानवान् माना गया है। और उसकी मुक्ति क्लेशों के क्षीण होने से होती है। परन्तु कैवल्य की प्राप्ति तो ध्यान करने से ही होती है।

योगिराज अरविन्द के अनुसार हृदय चक्र पर एकाग्रता से ध्यान करने पर हृदय चैत्य (चित्त में स्थित) पुरुष के लिए खुलता है। अरविन्दाश्रम की माँ ने लिखा है, 'हृदय में ध्यान करे, सारी चेतना को वटोरकर ध्यान में डूब जाये इसमें हृदय में स्थित ईश्वर का अंश जाग उठेगा। और हम अपने को भक्ति-प्रेम-शान्ति के अगाध सागर में पायेंगे।'

धूमध्य पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने से मानसिक चक्र उच्चतर चेतना के लिए खुल जाता है। उच्चतर चेतना विकसित होने से अहं का विलय होता है। आत्मा की दिव्य अनुभूति से हमारा तारतम्य (सम्पर्क) हो जाता है।

महर्षि रमण के अनुसार यदि आप ठीक से ध्यान करते हैं तो परिणामस्वरूप एक अलौकिक विचारधारा उत्पन्न होगी और वह धारा आपके मन में निरन्तर प्रवाहित होती रहेगी चाहे आप कोई भी कार्य करें। इसीलिए महर्षि रमण कर्म और ज्ञान में कोई तात्त्विक भेद नहीं मानते।

सन्दर्भ

- १ आवश्यक नियुक्ति गाथा ४८ आवश्यक चूर्ण पूर्व भाग पृष्ठ २०१
- २ आवश्यक चूर्ण पूर्व भाग पृष्ठ ३००

—□—

जह् उज्जइ तणकट्ठं जालामालाउलेण जलणेण ।
तह् जीवस्स वि उज्जइ कम्मरयं ज्ञाण जोएण ॥

—कुवलयमाला १७६

जिस तरह तृण या काष्ठ को अग्नि की ज्वाला जला डालती है वैसे ही ध्यानरूप अग्नि से जीव कर्मरज को भस्म कर देता है।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भन्ते ! किसी एक परमाणु पर मन को सन्निवेश करने से क्या लाभ होता है ? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—गौतम ! उससे चित्त का निरोध होता है ।^१ चित्त का निरोध अर्थात् मन की अस्थिरता का स्थिरोकरण ।

मन एक बहुत बड़ी शक्ति है, वह जितना सूक्ष्म तत्व है उतना ही व्यापक भी, ऐसे तो वह अनिन्द्रिय है, मूर्त होने पर भी आँखें उसे देख नहीं पातीं । कान, नाक, जिह्वा या त्वचा उसे भाँप नहीं पाते, वह अनूठा अपनी माया बिछाकर समग्र जगत् को नचाता है । ऐसे तो मन को एकाग्र करने की अनेक पद्धतियाँ हैं उनमें से एक पद्धति है—ध्यान !

जैन दर्शन में ध्यान

ध्यान : रूप : स्वरूप

उत्तमसंहननस्येकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्—किसी एक विषय में अन्तःकरण की वृत्ति का निरोध—टिकाये रखना ध्यान है ।

—एक चिन्तन

प्राचीन युग में जैन साधना में ध्यान का महत्त्व सर्वोपरि था, आत्मनिष्ठ साधक शुद्ध स्वरूप में ध्यानमग्न रहते थे । जैन दर्शन में ध्यान तप के बारह प्रकार में ग्यारहवाँ प्रकार है । ऐसे तो तप के ब्राह्म और आभ्यन्तर दो प्रकार हैं, उनमें से ध्यान आभ्यन्तर तप का एक प्रकार है । तप-संयम स्वाध्याय के साथ ध्यानमग्न आत्मा अनन्त गुण अधिक कर्म निर्जरा करता है । मुनियों की दिनचर्या में भी दिन और रात्रि के एक-एक प्रहर अर्थात् छः घण्टे का ध्यान सर्वज्ञ कथित नियोजित है ।^२ अतः एक आलम्बन पर मन को टिकाना और मन, वचन और काया की प्रवृत्ति रूप योग का निरोध करना ही ध्यान है ।

डा० साध्वी मुक्तिप्रभा

एम. ए., पी-एच. डी.

(वा. ब. उज्ज्वलकुमारीजी की

सुशिष्या)

मानसिक उत्तेजना

यहाँ हम 'योग निरोधो वा ध्यानम्' अर्थात् योग निरोधात्मक ध्यान की चर्चा नहीं करते हैं क्योंकि इस ध्यान का समग्र रूप केवली भगवन्तों को होता है । हम सर्व सामान्य मनुज की शक्ति इस पंचम युग में अल्प है । हम अधिक से अधिक एकाग्रता रूप ध्यान का अभ्यास करते हैं और आंशिक रूप में योग निरोध रूप ध्यान भी । फलतः हमारा चंचल मन रूपान्तरित होकर कुछ शान्त जरूर होता है ।

१ उत्तराध्ययन २६/२६

२ पहमपोरिसि सज्जायं बीयं ज्ञाणं ज्ञियायई ।

—उत्तराध्ययन २६/१२

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

मन स्वाभाविक रूप में स्थिर ही है। वृत्तियों से ही मन उत्तेजित होता है।

उत्तेजित मन अनेक इच्छाओं, विषयों और अपेक्षाओं को जन्म देता है। अनेक प्रकार के अध्यवसाय को अपने मन में स्थान देता है और फिर वे अध्यवसाय चेतन मन से अचेतन मन तक पहुँच जाते हैं। उच्छृंखल अश्व सारथी को उन्मार्ग में ले जाता है वैसे ही राग-द्वेष प्रयुक्त अध्यवसाय साधक को उत्पथ में ले जाते हैं। यह वृत्तियों का दृष्टप्रणिधान है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में हमारी इन्द्रियों की प्रवृत्तियों से दिशा निर्देश मिलता है। और हमारा मन विकृत बन जाता है। इन विषयों से मन की शक्ति कमजोर हो जाती है। विषय और कषाय से क्या कभी किसी भी जीवात्मा को लाभ हुआ है? मन पर जितने अधिक विषयों के आघात लगते हैं, मन उतनी ही अधिक मात्रा में अपनी शक्ति को खोता है। यह है मन का दृष्टप्रणिधान।

जिस साधक में विषय और कषाय की प्रबलता होती है उसकी साधना निष्फल होती है अतः सर्व-प्रथम हमें विषय और कषाय का निग्रह करना चाहिए—यह है मन का सुप्रणिधान। किन्तु हमें अनुकूल प्रवृत्ति में राग होता है और प्रतिकूल प्रवृत्ति में द्वेष। यह राग और द्वेष ही मन में विक्षेप पैदा करता है। विक्षिप्त मन धुँधले दर्पण जैसा है। धुँधले दर्पण में प्रतिबिम्ब अस्पष्ट-सा उभर आता है। वह जैसे-जैसे स्वच्छ और निर्मल होता रहेगा, प्रतिबिम्ब भी स्पष्ट उभरता जायेगा। मन का सुप्रणिधान हमें शुभ चिन्तन, शुभ मनन और शुभ अध्यवसाय की ओर ले जाता है। अतः हमारा चित्त परिशुद्ध निर्मल और पवित्र बनता है।

विशुद्ध मन संसार से विमुख और मोक्ष के सन्मुख ले जाता है। मन का विशुद्धिकरण ही ध्यान है। ध्यान से ही मन के समस्त विकारों का उपशमन या क्षय होता है। पाप राशि को क्षय करने के

लिए ध्यान एक जाज्वल्यमान अग्नि समान है। अतः जैनागमों में ध्यान का स्वरूप व्यापक रूप में यत्र तत्र उपलब्ध है।

ध्यान के प्रकार—

मन की एकाग्रता शुभ आलम्बन रूप होती है। ठीक उसी प्रकार अशुभ आलम्बन रूप भी होती है। इस प्रकार शुभ और अशुभ के कारण ध्यान के चार भेद पाये जाते हैं।

(१) आर्तध्यान—दुःख का चिन्तन, अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, प्रतिकूल वेदना, चिन्ता, रोग इत्यादि होना आर्तध्यान है।

(२) रौद्रध्यान—क्रूरता, हिंसा की भावना, मृषा की भावना, स्तेय-भावना तथा विषय भावना की अभिवृद्धि ही रौद्रध्यान है।

(३) धर्मध्यान—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय आदि के सतत चिन्तन में मनोवृत्ति को एकाग्र करना धर्मध्यान है।

(४) शुक्लध्यान—शुक्लध्यान में चित्तवृत्ति की पूर्ण एकता और निरोध सम्पन्न होता है। केवल आत्म सन्मुख उपशान्त और क्षयभाव युक्त चित्त शुक्ल कहलाता है। एकाग्रचित्त निरोध से पृथक्त्व-वितर्क सविचार, एकत्व-वितर्क अविचार, सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति रूप सर्वथा निर्मल, शांत, निष्कलंक निरामय, निष्क्रिय और निर्विकल्प स्वरूप में स्थित ध्यान ही शुक्लध्यान कहलाता है।

साधक का दुर्लक्ष्य

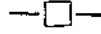
शास्त्रकारों ने आत्म तत्त्व विशुद्धि हेतु ध्यान का निरूपण किया है। परमपद की प्राप्ति के लिए विकल्प भुक्ति, एकाग्रता रूप ध्यान ही साध्य है। किन्तु आज के साधकों का तत्त्व स्पर्शन से, स्वरूप

जागृति से या ध्यान साधना से जितने दुर्लभ्य है उतना शायद ही दूसरे से ।

ध्यान साधना की उपेक्षा का परिणाम प्रत्यक्ष है । साधक साधना करता हुआ जरूर प्रतिलक्षित होता है, अनेक प्रकार के धर्मानुष्ठानों का कार्य यत्र तत्र सर्वत्र होते हुए दिखलाई देते हैं, किन्तु अन्तर्मन टटोलो, वही धर्मानुष्ठानों से पैदा होने वाला द्वन्द्व चारों ओर दृष्टिगोचर होता है । व्यापक साम्राज्य भरा है, तृष्णा और वासना की अनेक फेक्टरियाँ लगी हैं । दम्भ, द्वेष, मत्सर का

ध्यापार चलता है क्या इस प्रकार की प्रवृत्तियों से किसी के भव-ध्रमण टले हैं ? ये राग और द्वेष दूसरे जन्म में भी साथ रहेंगे उसकी शृंखला चलती रहेगी और हमारे जन्म बढ़ते रहेंगे ।

कदम उठाओ, आगे बढ़ो और हमारे बढ़ते हुए संसार को अल्प करो । परित्त संसारी होने का सीधा उपाय है ध्यान, सात्त्विक भावना का अनुचिन्तन तथा अरिहन्त परमात्मा का अभेद । भेद से भय और अभेद से अभय । शीघ्र पाने का सरल उपाय है ध्यान ।



ध्यान का महत्व

सोसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुभस्स य ।
सव्वस्स साधु धम्मस्स, तहा ज्ञाणं विधीयते ॥

—इसि० २२, १४

जो स्थान शरीर में मस्तक का है और वृक्ष के लिए मूल का है वही स्थान समस्त मुनिधर्मों के लिए ध्यान का है ।

ध्यान मित्र के समान रक्षक

ज्ञाणं किलेससावदरक्खा रक्खा व सावद-भयम्मि ।
ज्ञाणं किलेसवसणे मित्तं मित्ते व वसणम्मि ॥

—अग० आ० १८६७

जैसे इवापदों का भय होने पर रक्षक का और संकटों में मित्र का महत्व है, वैसे ही संक्लेश परिणामरूप व्यसनों के समय ध्यान मित्र के समान रक्षक है ।



आत्मा के मौलिक गुणों की विकास प्रक्रिया के निर्णायक : गुणस्थान

○ श्री गणेश मुनि शास्त्री
(सुप्रसिद्ध साहित्यकार)

'संसार' जीवों का वर्गीकरण — 'जीव' अनन्त हैं। इनमें से जो जीव, पुनः-पुनः जन्म-मरणरूप में संसरण करते रहते हैं, उन्हें हम 'संसार' जीव कहते हैं। किन्तु जो जीव सदा के लिए, संसरण से मुक्ति पा चुके हैं, वे 'मुक्त' जीव कहलाते हैं। मुक्त-जीव 'अशरीरी' हैं। इनमें भावात्मक-परिणति की अपेक्षा से कोई भेद/अन्तर नहीं है। ये सभी सर्वात्मना ज्ञान, दर्शन, सुख-आदि अनन्त-स्वात्मगुणों से परिपूर्ण हैं, निजानन्द-रस-स्वीत हैं। लेकिन, संसारी जीवों में अनन्त-प्रकार की विभिन्नताएँ देखी जाती हैं। जितने जीव, उतनी ही विभिन्नताएँ उनमें रहती हैं। इनमें 'शारीरिक'/'ऐन्द्रियिक' विभिन्नताएँ जितनी प्रकार की हैं, उनसे भी अनन्त गुणी अधिक विभिन्नताएँ 'आन्तरिक' होती हैं। फिर भी, जन सामान्य को सुगमता से बोध कराने के लिए, 'संसार' जीवों का वर्गीकरण अध्यात्मविज्ञानियों ने निम्नलिखित आधारों पर किया है :—

१. बाह्य/शारीरिक विभिन्नताएँ,
 २. शारीरिक/आन्तरिक-भावों को मिश्रित अवस्थाएँ,
 ३. मात्र आन्तरिक भावों की शुद्धिजन्य उत्क्रान्ति,
- अथवा

आन्तरिक भावों की अशुद्धिजन्य अपक्रान्ति ।

उक्त आधारों पर किये गये वर्गीकरण को हम शास्त्रीय परिभाषा में, क्रमशः 'जीवस्थान' 'मार्गणास्थान' और 'गुणस्थान' कहते हैं। ये तीनों—वर्ग, उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के बोधक हैं। प्रस्तुत लेख में, हम सिर्फ तृतीय-वर्ग 'गुणस्थान' की दृष्टि से, संसारी-जीवों की स्थिति, उसके मौलिक गुणों की विकास-प्रक्रिया की चर्चा करेंगे।

'संसार' और 'मुक्ति' के कारण—जैनदर्शन की तरह विश्व के सभी चिन्तकों ने, राग-द्वेष को संसार के कारण रूप में माना है। क्योंकि, मानसिक-विकार, या तो 'राग' (आसक्ति) रूप होता है, या फिर 'द्वेष' (ताप) रूप। यह अनुभव-सिद्ध भी है कि साधारण-जनों की प्रकृति, ऊपर से चाहे कौसी भी क्यों न दिखे, वह या तो राग-मूलक होती है, या फिर द्वेषमूलक होती है। यही प्रवृत्ति, विभिन्न वासनाओं का कारण बनती है। प्राणी, जाने या न जाने, किन्तु उसकी वासनात्मक-प्रवृत्ति के मूल में, ये 'राग' और 'द्वेष' ही होते हैं। जैसे, मकड़ी, अपनी प्रवृत्ति से स्व-निर्मित जाले में फँसती है, उसी प्रकार प्राणी भी, अपने ही राग द्वेष से अज्ञान, मिथ्याज्ञान और कदाचरण का ऐसा ताना-बाना रचता है, कि संसार में फँसता चला जाता है। न्याय-वैशेषिक-दर्शन में 'मिथ्याज्ञान' को, योगदर्शन में 'प्रकृति-पुरुष

के अभेद' को, और वेदान्त आदि दर्शनों में 'अविद्या' को, संसार के कारण रूप में बतलाया गया है। ये सभी शाब्दिक-भेद से राग-द्वेष के ही अपर नाम हैं। इन राग-द्वेषों के उन्मूलक साधन ही मोक्ष के कारण हैं।

इसी दृष्टि से, जैन-शास्त्रों में मोक्ष-प्राप्ति के तीन साधन (समुदित) बताये हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य। कहीं-कहीं 'ज्ञान' और 'क्रिया' को मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थानों पर, 'दर्शन' को 'ज्ञान' का विशेषण समझकर उसे ज्ञान में गभित कर लेते हैं। इसी बात को वैदिक-दर्शनों में 'कर्म', 'ज्ञान', 'योग' और 'भक्ति' इन चार रूपों में कहा है। लेकिन, संक्षेप और विस्तार अथवा शब्द-भिन्नता के अतिरिक्त आशय में अन्तर नहीं है। जैनदर्शन में जिसे 'सम्यक्चारित्र्य' कहा है, उसमें 'कर्म' और 'योग' दोनों का समावेश हो जाता है। क्योंकि 'कर्म' और 'योग' के जो कार्य हैं, उन 'मनोनिग्रह', 'इन्द्रिय जय', 'चित्त शुद्धि' एवं 'समभाव' का तथा उनके लिए किये जाने वाले उपायों का भी, 'सम्यक्चारित्र्य' के क्रिया रूप होने से, उसमें समावेश हो जाता है। 'मनोनिग्रह' 'इन्द्रिय जय' आदि 'कर्ममार्ग' है। 'चित्त शुद्धि' और उसके लिए की जाने वाली सत्प्रवृत्ति 'योग-मार्ग' है। सम्यग्दर्शन 'भक्तिमार्ग' है। क्योंकि 'भक्ति' में 'श्रद्धा' का अंश प्रधान है और 'सम्यग्-दर्शन' श्रद्धारूप ही है। सम्यग्ज्ञान 'ज्ञानमार्ग' रूप ही है।

इस प्रकार से, सभी दर्शनों में, मुक्ति-कारणों के प्रति एकरूपता है। इन कारणों का अभ्यास/आचरण करने से जीव 'मुक्त' होता है।

गुणस्थान/भूमिका/अवस्था—जिन आस्तिक दर्शनों में संसार और मुक्ति के कारणों के प्रति मतैक्य है, उन दर्शनों में आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकासशीलता तथा मोक्षयोग्यता के साथ

किसी न किसी रूप में, आत्मा के क्रमिक-विकास का विचार पाया जाना स्वाभाविक है। क्योंकि विकास की प्रक्रिया, उत्तरोत्तर अनुक्रम से वृद्धिगत होती है। सुदीर्घ मार्ग को क्रमिक पादन्यास से ही पार किया जाना शक्य है। इसी दृष्टि से, विश्व के प्राचीनतम, तीन दर्शनों—जैन, वैदिक एवं बौद्ध में, उक्त प्रकार का विचार पाया जाता है। यह विचार, जैनदर्शन में 'गुणस्थान' नाम से, वैदिक दर्शन में 'भूमिका' नाम से, और बौद्ध-दर्शन में 'अवस्था' नाम से प्रसिद्ध है।

यद्यपि, आत्मा के मौलिक गुणों के क्रमिक विकास का दिग्दर्शन कराने के लिए 'गुणस्थान' के नाम से जैसा सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन जैनदर्शन में किया गया है, वैसा, मुनियोजित, क्रमबद्ध एवं स्पष्ट विचार, अन्य दर्शनों में नहीं है। तथापि, वैदिक और बौद्धदर्शनों के कथनों की, जैनदर्शन के साथ आंशिक समानता है। इसीलिए, गुणस्थानों का विचार करने से पूर्व, वैदिक और बौद्धदर्शन के विचारों का अध्ययन-संकेत भर यहाँ करना उचित है।

वैदिक दर्शनों में आत्मा की भूमिकाएँ—वैदिक दर्शन के पातंजल-योगसूत्र में और 'योगवाशिष्ठ' में भी, आध्यात्मिक-भूमिकाओं पर विचार किया गया है। पातंजल योगसूत्र में इन भूमिकाओं के नाम—मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कार-शेषा उल्लिखित हैं। जबकि योगवाशिष्ठ में 'ज्ञान' एवं 'अज्ञान' नाम के दोनों विभागों के अन्तर्गत सात-सात भूमिकाएँ, कुल चौदह भूमिकाएँ उल्लिखित हैं। इनके वर्णन के प्रसंग में, ऐसी बहुत-सी बातों के संकेत हैं, जिनकी समानता, जैनदर्शन-सम्मत अभिप्रायों के साथ पर्याप्त मिलती-जुलती है। उदाहरण के लिए, जैन-शास्त्रों में 'मिथ्या-दृष्टि' या 'बहिरात्मा' के रूप में, अज्ञानी जीव का जो लक्षण^१ बतलाया गया है, वही लक्षण, योग-

१ आत्मधिया समुपात्तकायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा । —योगशास्त्र, प्रकाश-१२

वाशिष्ठ^१ और पातंजल योगसूत्र^२ में भी बतलाया गया है। जैनशास्त्रों में 'मिथ्यात्व' का फल 'संसार बुद्धि' और 'दुःख रूप' में वर्णित^३ है, यही बात, 'योगवाशिष्ठ' में अज्ञान के फलरूप में बतलाई गई है।^४ जैन शास्त्रों में 'मोह' को बंध/संसार का हेतु माना गया है तो, यही बात, प्रकारान्तर से योगवाशिष्ठ में भी कही गई है।^५ जैनशास्त्रों में 'ग्रन्थिभेद' का जैसा वर्णन है, वैसा ही वर्णन, 'योगवाशिष्ठ' में भी है।^६ योगवाशिष्ठ में 'सम्यग्ज्ञान' का जो लक्षण बतलाया गया है, वह जैन शास्त्रों के अनुरूप है। जैन शास्त्रों में 'सम्यग्दर्शन' की प्राप्ति, स्वभाव और बाह्यानिमित्त दो प्रकार से बतलाई गयी है। योगवाशिष्ठ में 'ज्ञान प्राप्ति' का, वैसा ही क्रम सूचित किया गया^७ है।

योगवाशिष्ठ में प्रतिपादित चौदह भूमिकाएँ^८ ये हैं—(१) 'अज्ञान' की भूमिकाएँ—बीज-जागृत, जागृत, महाजागृत, जागृत-स्वप्न, स्वप्न, स्वप्न-जागृत, और सुषुप्तक। (२) 'ज्ञान' की भूमिकाएँ—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, और तूर्यगा। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित प्रकार है—

- १ यस्य ज्ञानात्मनो ज्ञस्य देह एवात्मभावना ।
उदितेति र्ववाधा रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥
—योगवाशिष्ठ-निर्वाणप्रकरण-पूर्वा०-स०-६
- २ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिर-
विद्या । —पातंजलयोगसूत्र-साधनापाद—५
- ३ विकल्पचषकंरात्मा पीतमोहासवो ह्ययम् ।
भवोच्चतालमुत्ताल प्रपञ्चमधिष्ठति ॥
—ज्ञानसार-मोहाष्टक
- ४ अज्ञानात्प्रसूता यस्माज्जगत्पणपरम्पराः ।
यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते विसन्ति विलसन्ति च ॥
—योगवाशिष्ठ-निर्वाण-प्रकरण, स०-६
- ५ अविद्या संसृतिबंधो माया मोहो महत्तमः ।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः ॥
—योगवाशिष्ठ-उत्पत्तिप्रकरण-स०-१/२०

१. बीज-जागृत—इस भूमिका में, 'अहं' बुद्धि की जागृति तो नहीं होती, किन्तु जागृति की योग्यता, बीज रूप में पायी जाती है।

२. जागृत—इस भूमिका में, अहं बुद्धि, अल्पांश में जागृत होती है।

३. महाजागृत—इसमें 'अहं बुद्धि' विशेष रूप से जागृत—'पुष्ट' होती है। यह भूमिका, मनुष्य/देव-समूह में मानी जा सकती है।

४. जागृत-स्वप्न—इस भूमिका में, जागते हुए भी भ्रम का समावेश होता है। जैसे, एक चन्द्र के बदले दो चन्द्र दिखाई देना, सीपी में चाँदी का भ्रम होना।

५. स्वप्न—निद्रावस्था में आये स्वप्न का, जागने के पश्चात् भी भान होना।

६. स्वप्न-जागृत—वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का इसमें समावेश होता है। शरीरपात हो जाने पर भी इसकी परम्परा चलती रहती है।

७. सुषुप्तक—प्रगाढ़-निद्रा जैसी अवस्था। इसमें 'जड़' जैसी स्थिति हो जाती है, और कर्म, मात्र वासना रूप में रहे हुए होते हैं।

८. शुभेच्छा—आत्मावलोकन की वैराग्ययुक्त इच्छा।

- ६ जप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन् सति हि मुक्तता ।
मृगतृष्णाम्बुबुद्धया दिशन्ति मात्रात्मकस्वत्वसौ ॥
—वही, उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग-११८/२३
- ७ अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मह विद्यते ।
इत्येकीनिश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधः ॥
—वही-उपशमप्रकरण, सर्ग—७६/२
- ८ अ. तन्निर्गर्वाधिगमाद्वा—ः त्वार्थसूत्र—अध्याय-१/३
ब. एकस्तावद्गुरुप्रोक्तादनुष्ठानाच्छर्नं शनैः ।
जन्मना जन्मभिर्वापि सिद्धिदः समुदाहृतः ॥
द्वितीयास्त्वात्मनैवाशु किचिद्व्युत्पन्नचेतसा ।
भवति ज्ञानसंप्राप्तिराकाशफलपातवत् ॥
—वही-उपशमप्रकरण, सर्ग—७/२, ४
- ९ वही—उत्पत्तिप्रकरण—सर्ग—११७/२, ११, २४
तथा सर्ग११८/५—१५

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

२५१

६. विचारणा—वैराग्य—अभ्यास के कारण, सदाचार में प्रवृत्ति होना ।

१०. तनुमानसा—‘शुभेच्छा’ और ‘विचारणा’ के कारण इन्द्रिय-विषयों के प्रति विरक्ति में वृद्धि होना ।

११. स्वत्वापत्ति—‘सत्य’ और ‘शुद्ध’ आत्मा में स्थिर होना ।

१२. असंसक्ति—वैराग्य के परिपाक से चित्त में निरतिशय—आनन्द का प्रादुर्भाव होना ।

१३. पदार्थाभावनि—बाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थों पर से इच्छाएँ नष्ट हो जाना ।

१४. तूर्यंगा—भेदभाव का अभाव हो जाने से एकमात्र स्वभावनिष्ठा में स्थिर हो जाना । यह ‘जीवन्मुक्त’ जैसी अवस्था होनी है । इस स्थिति के बाद की स्थिति, ‘तूर्यातीत’ अवस्था—‘विदेहमुक्ति’ अवस्था होती है ।

उक्त चौदह अवस्थाओं में प्रारम्भ की सात भूमिकाएँ, अज्ञान की प्रबलता पर आधारित हैं । इसलिए, इन्हें आत्मा के मौलिक गुणों के अविकास क्रम में गिना जाता है । जबकि, बाद की सातों भूमिकाओं में ‘ज्ञान’ की वृद्धि होती रहती है । इसलिए इन्हें ‘विकास-क्रम’ में गिना जाता है । जैन-परिभाषा के अनुसार इन्हें क्रमशः ‘मिथ्यात्व’ एवं ‘सम्यक्त्व’ अवस्थाओं का सूचक माना गया है ।

बौद्धदर्शनसम्मत अवस्थाएँ—बौद्धदर्शन, यद्यपि क्षणिकवादी है । फिर भी, उसमें आत्मा की ‘संसार’ और ‘मोक्ष’ अवस्थाएँ मानी गई हैं । अतएव उसमें भी आध्यात्मिक-विकास वर्णन का होना स्वाभाविक है । ‘स्वरूपोन्मुख’ होने की स्थिति

से लेकर ‘स्वरूप’ की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने तक की अवस्था का वर्णन, बौद्ध ग्रंथों में, निम्नलिखित पाँच विभागों में विभाजित है—

१—‘धर्मानुसारी’ या ‘श्रद्धानुसारी’ वह कहा जाता है, जो निर्वाण-मार्ग-मोक्षमार्ग का अभिमुख हो, किन्तु, उसे अभी निर्वाण प्राप्त न हुआ हो ।^१

२—सोतापन्न—मोक्षमार्ग को प्राप्त किये हुई आत्माओं के विकास की न्यूनाधिकता के कारण ‘सोतापन्न’ आदि चार विभाग हैं । जो आत्मा, अविनिपात, धर्मानियत और संबोधि-परायण हो, उसे ‘सोतापन्न’ कहते हैं । ‘सोतापन्न’ आत्मा, सातवें भव में अवश्य ही निर्वाण प्राप्त करती है ।

३—सकदागामी—जो आत्मा, एक ही बार में, इस लोक में जन्म ग्रहण करके, मोक्ष जाने वाली आत्मा हो, उसे ‘सकदागामी’ कहते हैं ।

४—अनागामी—जो आत्मा, इस लोक में जन्म ग्रहण करके, ब्रह्मलोक से सीधे मोक्ष जाने वाली आत्मा हो ।

५—अरहा—जो सम्पूर्ण आस्रवों का क्षय करके कृतकृत्य हो जाती है, ऐसी आत्मा को ‘अरहा’ कहते हैं । इसके बाद निर्वाण की स्थिति बनती है ।

उक्त पाँचों प्रकार की आत्माएँ, उत्तरोत्तर, अल्पश्रम से ‘मार’—काम के वेग पर विजय प्राप्त करने वाली होती हैं । ‘सोतापन्न’ आदि उक्त चार अवस्थाओं का विचार, जैनदर्शनसम्मत चौथे गुण-स्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के विचारों मिलता-जुलता है, जो, गुणस्थानों से वर्णन से स्पष्ट हो जायेगा ।

बौद्ध ग्रंथों में दश-संयोजनाएँ-बंधन वर्णित हैं ।^२

१ इसी को जैनशास्त्रों में ‘मार्गानुसारी’ कहा है और उसके पैंतीस गुण बताये गए हैं । दृष्टव्य—हेमचंद्राचार्यकृत ‘योगशास्त्र-प्रकाश—१

२ जैनशास्त्रों में ‘संयोजना’ शब्द का प्रयोग, अनन्त संसार को बांधने वाली ‘अवन्तानुबंधी कषाय’ के लिए किया है । इसी प्रकार बौद्धग्रन्थों में भी संयोजना का अर्थ ‘बंधन’ लिया गया है । उसके दस नाम इस प्रकार हैं—सक्कायदिट्ठि, त्रिचिकच्छा, सोलव्वतपराभास, कामणा, पट्टीघ, रूपराग, अल्पराग, मान, उद्धचव और अविज्जा । —मज्झिमनिकाय (मराठी रूपान्तर) पृष्ठ-१५६, (टिप्पण)

उनमें से पाँच 'ओरंभागीय' और पाँच 'उड्डभागीय' कही जाती है। प्रथम तीन संयोजनाओं का क्षय हो जाने पर सोतापन्न अवस्था प्राप्त होती है। इसके बाद राग-द्वेष-मोह शिथिल होने पर 'सकदागामी' अवस्था, पाँच ओरंभागीय संयोजनाओं का नाश होने पर 'अनागामी' अवस्था तथा दसों संयोजनाओं का नाश हो जाने पर 'अरहा' पद प्राप्त होता है।

'आजीवक' मत में आत्मविकास की क्रमिक स्थितियाँ—आजीवक मत का संस्थापक मंखलिपुत्र गोशालक है। जो, भगवान् महावीर की देखा-देखी करने वाला एक प्रतिद्वन्द्वी था। इसलिए उसने भी आत्मा के मौलिक गुणों के क्रमिक विकास की स्थितियों के निदर्शन हेतु, गुणस्थानों जैसी परिकल्पना अवश्य की होगी। किन्तु, उसके सम्प्रदाय का कोई स्वतन्त्र-साहित्य/ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण, इस सम्बन्ध में, कुछ भी, सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तथापि, बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध, आजीवकसम्मत, आत्म-विकास के निम्नलिखित आठ सोपान माने जा सकते हैं^१—मन्द, खिड्डा, पदवीमंसा, उज्जुगत, सेख, समण, जिन और पन्न। इनका आशय इस प्रकार है—

१. मन्द—जन्म-दिन से लेकर सात दिनों तक, गर्भनिष्क्रमण, जन्म-दुःख के कारण, प्राणी 'मन्द' स्थिति में रहता है।

२. खिड्डा—दुर्गति से लेकर जन्म लेने वाला बालक, पुनः-पुनः रुदन करता है। और, सुगति से आने वाला बालक, सुगति का स्मरण कर हँसता है। यह 'खिड्डा' (क्रीडा) भूमिका है।

३. पदवीमंसा—माता-पिता का, या अन्य किसी का सहारा लेकर, धरती पर बालक का पैर रखना।

४. उज्जुगत—पैरों से, स्वतन्त्र रूप में चलने की सामर्थ्य प्राप्त करना।

१ मज्झिमनिकाय-सुमंगलविलासिनी टीका

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

५. सेख—शिल्प-कला आदि के अध्ययन के समय की शिष्य-भूमिका।

६. समण—गृहत्याग कर संन्यास ग्रहण करना।

७. जिन—आचार्य की उपासना कर ज्ञान प्राप्त करने की भूमिका।

८. पन्न—प्राज्ञ-भिक्षु, जब दूसरों से विरक्त हो जाता है, ऐसे निर्लोभ-श्रमण की भूमिका।

उक्त आठ में से आदि की तीन भूमिकाएँ, अविकास की सूचक और अन्त की पाँच भूमिकाएँ, विकास की सूचक हैं। इनके बाद मोक्ष प्राप्त होता है।

यद्यपि, उक्त योग, बौद्ध और अजीवक-मत-मान्य आत्म-विकास की भूमिकाएँ, जैनदर्शन सम्मत गुणस्थानों जैसी क्रमबद्धता और स्पष्ट स्थिति की नहीं हैं, तथापि, उनका प्रासंगिक-संकेत, इसलिए किया है कि पुनर्जन्म, लोक, परलोक मानने वाले दार्शनिकों ने, आत्मा का संसार से मुक्त होने का चिन्तन किया है। अतएव, उक्त दार्शनिकों के चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में, जैनदर्शन के दृष्टिकोण से, आत्म-गुणों के विकास का क्रम, और विकास-पथ पर क्रम-क्रम से बढ़ती आत्मा की विशुद्धताजन्य स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए, संक्षेप में, गुणस्थान क्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

'गुणस्थान' का लक्षण—एक पारिभाषिक शब्द है—गुणस्थान। इसका अर्थ है—'गुणों के स्थान'। अर्थात्, आत्मा की मौलिक शक्तियों के विकास क्रम की द्योतक वे अवस्थाएँ, जिनमें आत्मशक्तियों के आविर्भाव से लेकर, उनके शुद्ध-कार्यरूप में परिणत होते रहने की तर-तम-भावापन्न अवस्थाओं का द्योतन स्पष्ट होता है। यद्यपि, आत्मा अपने मौलिक रूप में 'शुद्ध चेतन' और 'आनन्दघन' है। फिर भी, जब तक राग-द्वेष एवं तज्जन्य कर्मावरण से आच्छादित है, तब तक उसे अपना यथार्थ

स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता। लेकिन, जैसे-जैसे राग-द्वेष का आवरण शिथिल या नष्ट होता है, वैसे-वैसे उसका असली स्वरूप प्रकट होता जाता है।

इस विकास-मार्ग में जीव को अनेक अवस्थाएँ पार करनी पड़ती हैं। जैसे, थर्मामीटर की नली के अंक, उष्णता के परिणाम को बतलाते हैं, वैसे ही, उक्त अवस्थाएँ, जीव के आध्यात्मिक विकास की मात्रा का संकेत करती हैं। विकास-मार्ग की इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं।

गुणस्थान-क्रम का आधार—आत्मा की प्रारम्भिक अवस्था, अनादिकाल से अज्ञानपूर्ण है। यह अवस्था, सबसे प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। इस अवस्था का कारण है—'मोह'। मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में 'दर्शनमोह' और 'चारित्र्यमोह' कहते हैं। इनमें से प्रथम शक्ति, आत्मा को 'दर्शन'—स्व-पररूप का निश्चयात्मक निर्णय, विवेक और विज्ञान—नहीं होने देती है। जबकि दूसरी शक्ति, विवेक प्राप्त कर लेने पर भी, आत्मा को तदनुसार प्रवृत्ति नहीं करने देती। व्यवहार में देखते हैं कि वस्तु का यथार्थ दर्शन/बोध होने पर भी उसे 'प्राप्त करने' या 'त्यागने' की चेष्टा, व्यक्ति द्वारा की जाती है। आध्यात्मिक विकासोन्मुख आत्मा के लिए भी यही दो कार्य मुख्य होते हैं—(१) स्व-रूप दर्शन, और (२) स्व-रूप स्थिति। 'दर्शनमोह' रूप प्रथम शक्ति जब तक प्रबल रहती है, तब तक 'चारित्र्यमोह' रूप दूसरी शक्ति भी तदनु रूप बनी रहती है। स्वरूप-बोध हो जाने पर स्वरूप-लाभ का मार्ग सुगम होता जाता है। किन्तु, स्वरूप-स्थिति के लिए आवश्यक है कि मोह की दूसरी शक्ति—'चारित्र्यमोह' को शिथिल किया जाये। इसीलिए, आत्मा उसे शिथिल करने का प्रयत्न करती है, और, जब वह इसे अंशतः शिथिल कर लेती है, तब, उसकी

'उत्क्रान्ति' और भी ऊर्ध्वमुखी हो जाती है, जिससे स्वरूप-स्थिरता बढ़ने लगती है। अन्ततः, प्रयत्नोन्मुखी आत्मा, 'दर्शनमोह' व 'चारित्र्यमोह' का सर्वथा-नाश करके, पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर ही विराम लेती है। आत्मा का यही तो परमसाध्य ध्येय है।

आशय यह है कि आत्मा के मौलिक-गुणों के विकास का यह क्रम, 'दर्शन' तथा 'चारित्र्य' मोह-शक्ति की शुद्धता के तर-तम-स्वरूप पर निर्भर होता है। शुद्धता की इसी तर-तमता के कारण, विकासोन्मुख आत्मा, जिन-जिन भूमिकाओं के स्तरों पर पहुँचता है, उन्हीं की संज्ञा है—'गुणस्थान'।

'ग्रन्थि'का स्वरूप और उसके भेदन की प्रक्रिया :
गुणस्थान क्रम का आधार है—मोह की 'सबलता' और 'निर्बलता', यह पूर्व में ही संकेतित है। इस 'मोह' को कैसे निर्बल बनाया जाये, संक्षेप में विचार कर लें।

आत्मा का स्वरूप, अनादिकाल से 'अधःपतित' है। इसका कारण राग-द्वेष रूप मोह का प्रबलतम आचरण है। इस तरह के आचरण का ही नाम, जैन शास्त्रों ने 'ग्रन्थि' रखा^१ है। लोक में भी हम देखते हैं कि लकड़ी में जहाँ-जहाँ 'ग्रन्थि' होती है, वहाँ से उसको काटना-छेदना दुस्साध्य होता है। राग-द्वेषरूप ग्रन्थि-गाँठ की भी यही स्थिति होती है। रेशमी-गाँठ की तरह यह सुदृढ़, सघन और दुर्बोध होती है। इसी के कारण जीव अनादि काल से ससार में परिभ्रमण कर रहा है और विविध प्रकार के दुःख वेदन कर रहा है।

यद्यपि, इस स्थिति में विद्यमान समस्त आत्माओं को हम एक जैसा 'संसारी' 'बद्ध' आत्मा, मानते हैं, तथापि इनके आध्यात्मिक स्वरूप में एक जैसा समान-स्तर नहीं होता। क्योंकि, संसारी-जीवों में, मोह की दोनों शक्तियों का आधिपत्य, इनमें 'समानता' का द्योतन कराता अवश्य है, किन्तु, प्रत्येक

१४ विशेष विस्तार के लिए देखें—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा—११६५ से ११६७ तक।

जीवात्मा में, इस आधिपत्य का कुछ न कुछ तर-तम भाव रहता ही है, जिससे इन सबकी संसार-स्थिति में विभिन्नता आ जाना, सहज हो जाता है। किसी जीवात्मा पर 'मोह' का प्रगाढ़ प्रभाव होता है, तो किसी में उससे कम, किसी में उससे भी कम होता है। जैसे, किसी पहाड़ी नदी में, बड़े-छोटे तमाम पत्थर, ऊपर से नीचे की ओर, जल प्रवाह के साथ लुढ़कते रहते हैं, और वे लुढ़कते, टकराते हुए गोल, चिकनी या अन्य अनेकों प्रकार की आकृतियाँ प्राप्त करते रहते हैं। नदी प्रवाह में लुढ़कना, टकराना, उनकी समान स्थिति का द्योतन करता है, किन्तु उनके लुढ़कने-टकराने से बनी अलग-अलग आकृतियाँ, उनमें विभिन्नता-विषमता की प्रतीक होती हैं।

किन्तु, इन जीवात्माओं पर, जाने-अनजाने में, या अन्य किसी प्रकार से, मोह का प्रभाव जब कम होने लगता है, तब, वह अपने तीव्रतम राग-द्वेष आदि परिणामों को भी 'मंद' कर लेती है। जिससे उसमें शनैः-शनैः, एक ऐसा आत्मबल प्रगट होने लगता है, जो उसके मोह को छिन्न-भिन्न करने का कारण बनता है। जैन दार्शनिक शब्दावली में इस स्थिति को 'यथाप्रवृत्तकरण' कहते हैं। यथा-प्रवृत्तकरण—बाली आत्माएँ, मोह की सघन-ग्रन्थि तक पहुँच तो जाती हैं, किन्तु उसे भेद पाने में समर्थ नहीं बन पाती हैं। इस दृष्टि से इस स्थिति को 'ग्रन्थिदेश-प्राप्ति' भी कहते हैं। ग्रन्थि-देश की प्राप्ति हो जाने से 'ग्रन्थि भेदन' का मार्ग प्रशस्त बन जाता है।

ग्रन्थि भेदने का कार्य बड़ा विषम, दुष्कर है। एक ओर तो राग-द्वेष अपने पूर्ण-बल का प्रयोग करते हैं, दूसरी ओर, विकासोन्मुख आत्मा भी उनकी शक्ति को क्षीण-निर्वल बनाने के लिए, अपनी वीर्य-शक्ति का प्रयोग करती है। इस आध्यात्मिक-युद्ध में, कभी एक तो कभी दूसरा, 'जय' लाभ करता है। अनेकों आत्माएँ ऐसी भी होती हैं, जो प्रायः ग्रन्थि-भेद करने लायक बल प्रकट करके भी, अन्त

में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर 'हार' मानकर अपनी मूल-स्थिति में आ जाती हैं। ऐसी आत्माएँ प्रयत्न करने पर भी राग-द्वेष पर विजय प्राप्त नहीं कर पातीं। अनेकों आत्माएँ ऐसी भी होती हैं, जो न तो हार खाकर पीछे हटती हैं, और, न ही 'जय' लाभ कर पाती हैं, तथापि, इस आध्यात्मिक युद्ध में चिरकाल तक डटी रहती हैं। किन्तु कोई-कोई आत्माएँ, ऐसी भी होती हैं, जो अपनी शक्तियों का यथोचित प्रयोग करके आध्यात्मिक युद्ध में विजय का वरण का लेती हैं। मोह की दुर्भेद्य-ग्रन्थि को भेद कर, उसे लांघ जाती हैं। जिन आत्म-परिणामों से ऐसा सम्भव हो जाता है, उसे 'अपूर्वकरण' कहते हैं।

अपूर्वकरण रूप परिणाम से राग-द्वेष की गांठ टूट जाने पर, जीव के परिणाम अधिक शुद्ध होने लग जाते हैं। ये परिणाम, 'अनिवृत्तिकरण' रूप होते हैं। इनसे राग-द्वेष की अति तीव्रता का उन्मूलन हो जाता है, जिससे दर्शनमोह पर 'जय' लाभ करना सहज बन जाता है। दर्शनमोह पर विजय प्राप्त कर लेने पर, अनादिकाल से चली आ रही परिभ्रमण रूप संसारी अवस्था को नष्ट करने का अवसर प्राप्त हो गया, मान लिया जाता है। इस स्थिति को, जैन-शास्त्रों की भाषा में 'अन्तरात्मभाव' कह सकते हैं। क्योंकि इस स्थिति को प्राप्त करके, विकासोन्मुख आत्मा, अपने अन्तस् में विद्यमान शुद्ध परमात्मभाव को देखने लगता है। इस भूमिका में यथार्थ आध्यात्मिक दृष्टि (आत्म-स्वरूपोन्मुखी दृष्टि) होने के कारण 'विपर्यास'—रहित होती है। जैनदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में इसी को 'सम्यक्त्व' कहा गया है।

गुणस्थानों के नाम और क्रम—संसारी दशा में आत्मा अज्ञान की प्रगाढ़ता के कारण, निकृष्ट अवस्था में रहता है, यह निर्विवाद है। किन्तु, इस अवस्था में भी अपनी स्वाभाविक चेतना 'चारित्र्य' आदि गुणों के विकास के कारण प्रगति की ओर उन्मुख होने के लिये आत्मा लालायित रहती है,

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

२५५

तथा शनैः-शनैः इन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रांति करती हुई विकास की चरम सीमा—पूर्णता प्राप्त करती है। प्रथम निकृष्ट-अवस्था से निकल कर विकास की अन्तिम भूमिका को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का परमसाध्य है, और उसी में उसके पुरुषार्थ की सफलता है।

इस 'परमसाध्य' की सिद्धि होने तक, आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, अनेकों क्रमिक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन अवस्थाओं की श्रेणियों को 'उत्क्रांति मार्ग' 'विकास क्रम' और जैनशास्त्रों की भाषा में 'गुणस्थान क्रम' कहते हैं। इस क्रम की विभिन्न अवस्थाओं को चौदह भागों में संक्षेपतः विभाजित कर दिया गया है। इसलिये, इसे 'चतुर्दश गुणस्थान' भी कहा जाता है। इनके नाम एवं क्रम इस प्रकार हैं :

१. मिथ्यात्व, २. सास्वादन (सासादन), ३. मिश्र (सम्यग्मिथ्यादृष्टि) ४. अद्विरतसम्यग्दृष्टि, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. निवृत्ति (अपूर्वकरण) ९. अनिवृत्तिबादर सम्पराय, १०. सूक्ष्मसम्पराय, ११. उपशांतमोह १२. क्षीणमोह, १३. सयोगिकेवली, १४. अयोगिकेवली।

उक्त चौदह गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, अर्थात् पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थानों में विकास की मात्रा अधिक रहती है। विकास की इस न्यूनाधिकता का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है, और इस स्थिरता की उत्तर-तमता 'दर्शन' एवं 'चारित्र' शक्ति की शुद्धि के तार-तम्य पर आधारित है। दर्शन-शक्ति का जितना विकास होगा उतनी ही अधिक निर्मलता व विकास उसका होगा। दर्शन-शक्ति के विकास के अनन्तर चारित्र शक्ति के विकास का क्रम आता है। जितना अधिक चारित्र शक्ति का विकास होगा उतना ही उतना 'क्षमा' 'इन्द्रिय जय' आदि चारित्र गुणों का विकास होता जाता है। 'दर्शन' और 'चारित्र' शक्ति की विशुद्धि जैसे-जैसे बढ़ती है, वैसे-

वैसे ही 'स्थिरता' की मात्रा भी वृद्धिगत होती जाती है और अन्ततः चरम-स्थिति तक पहुँचती है। इसी दृष्टि से गुणस्थानों का उक्तक्रम निर्धारित किया है।

'दर्शन' और 'चारित्र' शक्ति की विशुद्धि की 'वृद्धि' एवं 'ह्रास', तत्तत शक्तियों के प्रतिबन्धक संस्कारों की न्यूनाधिकता अथवा तीव्रता मन्दता पर पर अवलम्बित है। इन प्रतिबन्धक संस्कारों को चार विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. 'दर्शनमोह' और 'अनन्तानुबन्धी कषाय'—यह दर्शन शक्ति का प्रतिबन्धक है। शेष तीन विभाग, चारित्र शक्ति के प्रतिबन्धक हैं।

२. अप्रत्याख्यानावरण कषाय—यह प्रतिबन्धक, 'एकदेश चारित्र' का भी आंशिक विकास नहीं होने देता।

३. प्रत्याख्यानावरण कषाय—यह प्रतिबन्धक, 'सर्वविरति' रूप चारित्र शक्ति के विकास में बाधक बनता है।

४. संज्वलन कषाय—चारित्रशक्ति का विकास हो जाने पर भी उसकी 'शुद्धता' या 'स्थिरता' में अंतराय उपस्थित करने में यह प्रतिबन्धक निमित्त बनता है।

प्रथम तीन गुणस्थानों में, पहले प्रतिबन्धक की प्रबलता रहती है। जिससे 'दर्शन' और 'चारित्र' शक्ति का विकास नहीं हो पाता। किन्तु, चतुर्थ आदि गुणस्थानों में, इन प्रतिबन्धक संस्कारों की मन्दता हो जाती है, जिससे आत्मशक्तियों के विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

चतुर्थ गुणस्थान में 'दर्शनमोह' और 'अनन्तानुबन्धी' संस्कारों की प्रबलता नहीं रह जाती। किन्तु, चारित्र शक्ति के आवरणभूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। इनमें से 'अप्रत्याख्यानावरण' कषाय के संस्कार का वेग चौथे गुणस्थान से आगे नहीं रहता, जिससे पंचम गुणस्थान में चारित्रिक शक्ति का प्राथमिक विकास होता है।

'प्रत्यास्थानावरण' कषाय नामक संस्कार का वेग, पाँचवें गुणस्थान से आगे नहीं होता जिससे चारित्र-शक्ति का विकास और अधिक बढ़ता है। इस कारण आत्मा, बाह्य इन्द्रिय भोगों से विरत होकर 'श्रमण'—'संन्यासी' हो जाता है। यह स्थिति छठवें गुणस्थान की भूमिका की सजिका बनती है। छठवें गुणस्थान में चारित्र-शक्ति को मलिन करने वाले 'संज्वलन' कषाय रूप संस्कारों के रहने से यद्यपि चारित्र-शक्ति का विकास दबता तो नहीं, किन्तु स्वरूप-लाभ की स्थिरता में व्यवधान आते रहते हैं। आत्मा, जब इन संस्कारों को अधिक-से-अधिक निर्बल कर देती है, तब 'उत्क्रांतिपथ' की सातवीं आदि भूमिकाओं (गुणस्थानों) को उलाँघ कर ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाती है। बारहवें गुणस्थान में 'दर्शन' और 'चारित्र' शक्ति के प्रतिबंधक-संस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। अतः इन दोनों ही शक्तियों का पूर्णरूपेण विकास यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में हो जाता है, तथापि शरीर का सद्भाव, उस आत्मा के साथ बना रहता है। जबकि चौदहवें गुणस्थान में शरीर का भी सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतः चारित्र शक्ति, अपने यथार्थ रूप में विकसित होकर सदा-सर्वदा के लिए एक-सी बन जाती है। इसी अवस्था को 'मोक्ष' कहते हैं।

गुणस्थान चौदह ही क्यों ? :—सामान्यतया आध्यात्मिक दृष्टि से संसारी जीवों के दो प्रकार हैं—१-मिथ्यावादी (मिथ्यादृष्टि)—अर्थात्, गाढ़-अज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले जीव, २-सम्यक्त्व (सम्यग्दृष्टि) अर्थात् ज्ञानी, विवेकशील, प्रयोजनभूत लक्ष्य के मर्मज्ञ।

उक्त दोनों प्रकार के जीवों में से प्रथम प्रकार के जीवों का बोध कराने वाला पहला गुणस्थान 'मिथ्यात्व' यानी 'मिथ्यादृष्टि' गुणस्थान है। सम्यग्-दृष्टि-जीवों के तीन प्रकार होते हैं—१-सम्यक्त्व से गिरते समय के स्वल्प-सम्यक्त्व वाले जीव, २-अर्ध-सम्यक्त्व और अर्ध-मिथ्यात्व वाले जीव, ३-विशुद्ध सम्यक्त्व वाले किन्तु चारित्र-रहित जीव। इन

तीन स्थितियों में से स्वल्प-सम्यक्त्व वाले जीवों के लिए 'दूसरा'—'सासादन'—गुणस्थान; अर्ध-सम्यक्त्व और अर्ध-मिथ्यात्व वाले जीवों के लिए 'तीसरा' 'मिश्र' गुणस्थान; और विशुद्ध-सम्यक्त्व किन्तु चारित्ररहित जीवों के लिये 'चौथा'—'अविरत सम्यग्-दृष्टि' गुणस्थान है। इस गुणस्थान में दर्शन-मोह शक्ति उपशमित हो जाती है, अथवा सर्वथा क्षय हो जाती है। लेकिन, चारित्र-मोह शक्ति बनी रहती है। इसलिये, ये चारित्र-रहित सम्यग्दृष्टि-जीव 'चौथे'—अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले जीव कहलाते हैं।

जो जीव, 'सम्यक्त्व' और 'चारित्र' सहित हैं, उनके भी दो प्रकार हैं—१-एकदेश (आंशिक) चारित्र के पालक; और २-सर्वदेश (सम्पूर्ण) चारित्र का पालन करने वाले। इन दोनों भेदों में से 'एकदेशचारित्र' का पालन करने वाले जीवों का ग्रहण करने के लिए 'पाँचवाँ'—'दिशविरतगुणस्थान' है।

'सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वाले जीव भी दो श्रेणियों के हैं—१-प्रमादवश 'अतिचार' यानी 'दोष'—संपृक्त हो जाने वाले; और २-प्रमाद-रहित 'निर्दोष'—चारित्र का पालन करने वाले। इनमें से प्रमादवश-अतिचार-संपृक्त सर्व-संयमी का ग्रहण कराने वाला 'छठा'—यानी 'प्रमत्त-संयत' गुणस्थान है। जबकि प्रमादरहित, निर्दोष-चारित्र का पालन करने वाले जीवों का बोधक 'सातवाँ'—'अप्रमत्त संयत'—गुणस्थान है।

यद्यपि, इस अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव को अभी पूर्ण—वीतराग दशा प्राप्त नहीं हुई है, और 'छद्मस्थ'—'कर्माधृत' है, किन्तु, वीतरागदशा प्राप्त करने की ओर उन्मुख है, जिससे, इस गुणस्थानवर्ती कितने ही जीव, ध्यवस्थित रीति से कर्मों का क्षय करने के लिये श्रेणी—आरोहण करते हैं। इस तरह के जीवों की आध्यात्मिक—विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। श्रेणी—आरोहण का

यह क्रम, प्रत्येक समय 'अपूर्व' बनता रहता है। फलतः एक श्रेणी-क्रम की दूसरे श्रेणीक्रम से, दूसरे श्रेणीक्रम की तीसरे श्रेणीक्रम से तुलना/समानता नहीं होती है। इसी से, इन श्रेणीक्रमों वाले जीव को 'निवृत्ति' यानी 'अपूर्व'—करण नामक आठवें गुणस्थान वाला कहा जाता है।

श्रेणी-आरोहण से विशुद्धता को प्राप्ति, और उसमें क्रमिक वृद्धि होते रहने से, यद्यपि कषायों में निर्बलता, पर्याप्त आ जाती है, फिर भी, इन कषायों में पुनः उद्रेक होने की योग्यता बनी रहती है। अतः ऐसे कषाय—परिणाम वाले जीवों का बोध कराने वाला 'अनिवृत्तिवादर'—संपराय नामक नौवाँ गुणस्थान है।

इस नौवें गुणस्थान में कषायों को प्रति-समय कृश से कृशतर करने की प्रक्रिया चालू रहती है, जिससे एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जिससे संसार की कारणभूत कषायों की मात्र झलक सी दिखाई देती है। इस स्थिति का ज्ञान कराने वाला दशवाँ—'सूक्ष्मसंपराय' नामक गुणस्थान है।

जिस तरह, झलकमात्र जैसी अतिसूक्ष्म अस्तित्व रखने वाली वस्तु या तो तिरोहित हो जाती है, या नष्ट, उसी तरह, जो कषायवृत्ति अत्यन्त कृश हो गई है, उसके उपशमित अथवा पूर्णरूपेण नष्ट हो जाने से जीव को अपने निर्मल स्वरूप का दर्शन होने लगता है। इस प्रकार की, यानी कषाय-शांत होने की अथवा कषाय नष्ट होने की, स्थितियों के दर्शक गुणस्थानों को क्रमशः 'उपशान्त-मोह' और 'क्षीणमोह' नामक ग्यारहवाँ—बारहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

बारहवें गुणस्थान में दर्शन और चारित्र शक्ति के प्रतिबंधक मोहनीय-कर्म के सर्वथा क्षय होने के साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय होने से जीव को अनन्तज्ञान-दर्शन आदि निज गुण प्राप्त हो जाते हैं। लेकिन, अभी शरीर आदि योगों का संयोग बना रहता है। इससे इस स्थिति में पहुँचे जीव को 'सयोगि केवली' नामक

तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव की संज्ञा दी जाती है। किन्तु, जब शरीर आदि योगों से रहित, शुद्ध-ज्ञान-दर्शनयुक्त स्वरूप में रमण करने वाली आत्मा प्रकट हो जाती है, तब इस स्थिति को अयोगिकेवली नामक चौदहवाँ गुणस्थान कहा जाता है।

इस प्रकार, गाढ़ अज्ञान से प्रारम्भ हुआ आत्म-विकास का चरमस्थान, उत्तरोत्तर क्रम से प्राप्त होता है। इसके 'आदि' और 'अन्त' के अन्तराल में बारह 'पड़ाव'—'स्थान' ही सम्भव बन पाते हैं। इन्हें 'आदि' और 'अन्त' यानी 'चरम' के साथ मिला देने पर कुल संख्या 'चौदह' बन जाती है। इसी कारण से जैन शास्त्रों में चौदह गुणस्थानों की व्यवस्था को स्वीकार किया गया है।

गुणस्थानों का स्वरूप—जीव के विकास की प्रक्रिया की सीढ़ी का प्रारम्भिक स्थान है—'मिथ्यात्व' नाम का पहला गुणस्थान। इस विकास को पूर्णता प्राप्त होती है 'अयोगि केवली' नाम के चौदहवें गुणस्थान में। इन चौदहों गुण-स्थानों का स्वरूप संक्षेप में, निम्नलिखित रूप में जाना/समझा जा सकता है।

१. **मिथ्यात्व गुणस्थान**—'मिथ्यात्व' नाम के मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की 'दृष्टि' यानी श्रद्धा—प्रतिपत्ति, 'मिथ्या' यानी विपरीत-उल्टी होती है, उसे 'मिथ्यादृष्टि' कहते हैं। जैसे—धतूरे के बीज खाने वाला मनुष्य, 'सफेद वस्तु' को भी 'पीला' देखता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप-विशेष को 'मिथ्यात्व'—'मिथ्या-दृष्टि' कहते हैं।

यद्यपि, मिथ्यादृष्टि की दृष्टि विपरीत है। तथापि वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। क्योंकि वह जीव भी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि को इन्हीं रूपों में जानता है, तथा मानता है। इसीलिये, उसकी चेतना के स्वरूप-विशेष को 'गुणस्थान' कहा जाता है। लेकिन, कुछ अंश में यथार्थ होने पर भी, उसे 'सम्यग्दृष्टि' न कहे जाने का कारण

यह होता है कि उसे सर्वज्ञ के वचन पर 'सम्यग्-दृष्टि' की तरह अखण्ड अटूट विश्वास नहीं होता है।

२. सासादन गुणस्थान—जो औपशमिक सम्यक्त्वी जीव, अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से 'सम्यक्त्व' को छोड़कर 'मिथ्यात्व' की ओर झुक रहा है, किन्तु, अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे जीव के स्वरूप-विशेष को 'सासादन-सम्यग्दृष्टि' कहते हैं। अर्थात्, जिस प्रकार पर्वत से गिर कर नीचे की ओर आते व्यक्ति की भूमि पर पहुँचने से पहले, मध्यकालवर्ती जो दशा होती है, वह न तो पर्वत पर ठहरने की स्थिति है, न ही भूमि पर स्थित होने की; बल्कि दोनों—स्थितियों से रहित, 'अनुभय दशा' होती है। इसी प्रकार, अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय होने के कारण, 'सम्यक्त्व-परिणामों से छूटने' और 'मिथ्यात्व-परिणामों के प्राप्त होने' के मध्य की अनुभयकालिक—स्थिति में जो जीव-परिणाम होते हैं, उन्हें वतलाने वाली जीव-दशा का नाम है—'सासादन-गुणस्थान'।

३. मिश्रगुणस्थान— इस गुणस्थान का पूरा नाम है—'सम्यग्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान'। इसी का संक्षिप्त नाम है 'मिश्रगुणस्थान'।

मिथ्यात्व—मोहनीय के 'अशुद्ध'—'अर्धशुद्ध' और 'शुद्ध', इन तीन पुँजों में से अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से, 'शुद्धता' और 'मिथ्यात्व' के अर्धशुद्धपुद्गलों का उदय होने से जब अशुद्धतारूप अर्धशुद्ध पुँज का उदय होता है, तब जीव की दृष्टि कुछ 'सम्यक्' (शुद्ध) और कुछ 'मिथ्या' (अशुद्ध) अर्थात्—'मिश्र' हो जाती है।

इस गुणस्थान दशा के समय, बुद्धि में दुर्बलता सी आ जाती है। जिससे जीव सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वों पर न तो 'एकान्त-रुचि' करता है, और न 'एकान्त-अरुचि'। किन्तु, मध्यस्थ भाव रखता है। इस प्रकार की दृष्टि वाले जीव का स्वरूप-विशेष 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि' (मिश्र) गुणस्थान कहलाता है।

इस गुणस्थान की यह विशेषता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव, न तो परभव की आयु का बन्ध

करता है, और न 'मरण' को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्धात भी नहीं हो सकता है और न ही वह 'संयम' ('सकल संयम' या 'देशसंयम') ग्रहण कर सकता है।

४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—'हिंसा' आदि सावद्य-व्यापारों के त्याग को 'विरति' कहते हैं। अतएव, जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार की 'विरति'—'व्रत' को धारण नहीं कर सकता, वह जीव 'अविरत सम्यग्दृष्टि' होता है। इसी के स्वरूप-विशेष को 'अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान' कहते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती जीव को अविरत सम्यग्दृष्टि कहने का कारण यह है कि सम्यग्दर्शन होने पर भी 'एकदेश संयम' की घातक 'अप्रत्याख्यानावरण' कषाय का उदय उसमें रहता है। इस तरह के जीवों में कोई जीव 'औपशमिक' कोई 'क्षायोपशमिक' और कोई 'क्षायिक' सम्यक्त्वी होते हैं।

५. देशविरतगुणस्थान—'सकल संयम' की घातक कषाय का उदय होने के कारण, जो जीव सर्वसावद्य क्रियाओं से सर्वथा तो नहीं, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने से 'देश (अंश) से, पापजनक-क्रियाओं से 'विरत'—'पृथक्' हो सकते हैं, वे 'देशविरत' हैं। इन जीवों के स्वरूप-विशेष को 'देशविरत'—गुणस्थान कहते हैं। देश-विरत को 'श्रावक' भी कहते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती कोई जीव, एक व्रत लेते हैं, कोई दो व्रत, कोई तीन-चार-पाँच आदि बारह व्रत तक लेते हैं। ये व्रत 'अणुव्रत' 'गुणव्रत' और 'शिक्षा व्रत' इन तीन विभागों में विभाजित हैं। कोई जीव श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करते हैं। इस प्रकार, अधिक से अधिक व्रतों का पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं, जो पापकर्मों में अनुमति के सिवाय, परिवार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते हैं।

६. प्रमत्त-संयत गुणस्थान—जो व्यक्ति, पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते

हैं, वे 'संयत' (मुनि) हैं। लेकिन ये संयत भी जब तक 'प्रमाद' का सेवन करते हैं, तब तक, 'प्रमत्त-संयत' कहलाते रहते हैं। इन्हीं के स्वरूप-विशेष को 'प्रमत्त-संयत' गुणस्थान कहते हैं।

यद्यपि 'सकल संयम' को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने से, इस गुणस्थान में 'पूर्ण संयम' तो हो चुकता है, किंतु 'संज्वलन' आदि कषायों के उदय से संयम में 'मल' उत्पन्न करने वाले प्रमाद के रहने से इसे 'प्रमत्त संयत' कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव, सावद्य कर्मों का यहाँ तक त्याग कर देते हैं, कि पूर्वोक्त 'संवासानुमति' को भी नहीं सेवते हैं।

७. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान—जो संयत (मुनि) 'विकथा' 'कषाय' आदि प्रमादों को नहीं सेवते हैं, वे 'अप्रमत्तसंयत' हैं। इनके स्वरूप-विशेष को 'अप्रमत्तसंयत' गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में संज्वलन-नोकषायों और कषायों का संद-उदय होने से व्यक्त-अध्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुकते हैं। जिससे इस गुणस्थानवर्ती जीव, सदैव ही ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहते हैं।

'प्रमत्तसंयत' और 'अप्रमत्तसंयत' गुणस्थान में इतना अन्तर है कि 'अप्रमत्तसंयत' में थोड़ा सा भी प्रमाद नहीं रहता, जिससे व्रत आदि में 'अतिचार'—आदि सम्भव नहीं हो पाते। जबकि 'प्रमत्त संयत' जीव के 'प्रमाद' होने से व्रतों में 'अतिचार' लगने की सम्भावना रहती है।

८. निवृत्ति वादर गुणस्थान—इस गुणस्थान का दूसरा नाम 'अपूर्वकरण' गुणस्थान भी है। जिस 'अप्रमत्तसंयत' जीव की अनन्तानुबन्धी 'अप्रत्याख्यानावरण' और 'प्रत्याख्यानावरण' रूप कषाय-चतुष्कों की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को 'निवृत्तिवादर' गुणस्थान कहते हैं।

१ प्रमाद के पन्द्रह प्रकार होते हैं—

चार विकथाएँ—स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा, चौरकथा, चार कषाएँ—क्रोध, मान, माया, लोभ, स्पर्शन, रसन, आदि पांच इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति तथा निद्रा और स्नेह

२ 'उपशम' श्रेणि और 'क्षपक' श्रेणि का आशय आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण' इसलिए कहा जाता है कि इसमें निम्नलिखित पाँच बातें विशेष रूप से होती हैं—

स्थितिघात—कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना, अर्थात् आगे उदय में आने वाले कर्मदलिकों को अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना।

रसघात—बद्ध-कर्मों की तीव्र-फलदान-शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द करना।

गुणश्रेणी—उदय के नियत समयों से हटाए गए—'स्थितिघात' किए गए कर्मदलिकों को समय-क्रम से 'अन्तर्मुहूर्त' में स्थानान्तरित कर देना।

गुणसंक्रमण—पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृतियों को 'वध्यमान'—शुभप्रकृतियों में स्थानान्तरित कर देना।

अपूर्व स्थितिबन्ध—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प-स्थिति के कर्मों का बांधना।

इस आठवें गुणस्थान में आत्मा की विशिष्ट-योगीरूप अवस्था आरम्भ होती है। छठे और सातवें गुणस्थान में बारम्बार आने से विशेष प्रकार की विशुद्धि-प्राप्त करके औपशमिक या क्षायिक-भाव रूप विशिष्ट फल प्राप्त करने के लिए 'चारित्र-मोहनीय'—कर्म का उपशमन या क्षय किया जाता है, जिससे 'उपशम' या 'क्षपक'^२ श्रेणी प्राप्त होने वाली होती है।

९. अनिवृत्ति गुणस्थान—इसका पूरा नाम 'अनिवृत्ति वादर सम्पराय' गुणस्थान है। इसमें 'वादर'—स्थूल, 'सम्पराय'—कषाय, उदय में होता है, तथा सम-समयवर्ती-जीवों के परिणामों समानता होने—भिन्नता न होने से, इस गुणस्थान को 'अनिवृत्ति वादर-सम्पराय' गुणस्थान कहते हैं।

इस नीवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं—'उपशमक' और 'क्षपक'।

चारित्र्यमोहनीय का शमन करने वाले 'उपशमक' और 'क्षय' करने वाले 'क्षपक' कहलाते हैं। मोहनीय-कर्म की उपशमना या क्षपणा करते-करते अन्य अनेक कर्मों का भी 'उपशमन' या 'क्षपण' करते हैं।

आठवें और नौवें गुणस्थानों में यद्यपि 'विशुद्धि' होती रहती है; फिर भी प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। जैसे कि आठवें गुणस्थान में सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का, 'समान-शुद्धि' होने के कारण एक ही 'वर्ग' होता है। नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नताएँ आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती है।

१०. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान—इस गुणस्थान में 'सम्पराय' अर्थात्—लोभ-कषाय के सूक्ष्म-खण्डों का ही उदय होने से इसे 'सूक्ष्म-सम्पराय' गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती जीव के भा दो प्रकार—'उपशमक' और 'क्षपक' होते हैं। 'लोभ' के अलावा 'चारित्र्य-मोहनीय' कर्म की, कोई दूसरी ऐसी प्रकृति नहीं होती, जिसका उपशमन या क्षपण न हो चुका हो। अतः 'उपशमक' लोभ का उपशमन, और 'क्षपक' लोभ का क्षपण, इस श्रेणी में करके 'यथाख्यात'—चारित्र्य से कुछ ही न्यून रह जाते हैं। अर्थात् उनमें यथाख्यात-चारित्र्य के प्रकट होने में कुछ ही कमी रह जाती है।

११. उपशान्तमोह गुणस्थान—इस गुणस्थान का पूरा नाम 'उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ' गुणस्थान है। जिनके 'कषाय' उपशान्त हो गये हैं, 'राग' का सर्वथा उदय नहीं है और जिनको 'छद्म'-आवरणभूत घाति-कर्म लगे हैं, वे जीव 'उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ' हैं। इन्हीं के स्वरूप-विशेष को उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में वर्तमान जीव आगे के गुण-

स्थानों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। क्योंकि, आगे के गुणस्थान वही प्राप्त कर सकता है, जो 'क्षपक' श्रेणी को चाहता है। क्षपक श्रेणी के बिना 'मोक्ष' प्राप्त नहीं होता है। यह गुणस्थान उपशम श्रेणी को करने वाला है। उपशमक का पतन अवश्यम्भावी होता है।

इस गुणस्थान का यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समय पूरा न हो, और आयु-क्षय से जीव 'मरण' को प्राप्त होने से गिरता है तो अनुत्तर-विमान में 'देव'-रूप में उत्पन्न होता है। देवों के 'पाँचवें'—आदि गुणस्थान नहीं होते। प्रथम चार गुणस्थान होते हैं। अतः उक्त प्रकार का जीव, चौथे गुणस्थान को प्राप्त करके, उस गुणस्थान में, उन समस्त कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-आदि करना आरम्भ कर देता है, जिन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा की सम्भावना उस गुणस्थान में होती है। यदि आयु-शेष रहते, गुणस्थान का समय पूरा हो जाने पर, कोई जीव, अपने गुणस्थान से गिरता है, तो, आरोहण क्रम के अनुसार, जिन गुणस्थानों को प्राप्त करते हुए जिन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध, उदय आदि का विच्छेद उसने किया था, उनको, पतन के समय से सम्बद्ध गुणस्थान-सम्बन्धी-प्रकृतियों के बन्ध, उदय आदि को, अवरोह-क्रम से, पुनः प्रारम्भ कर देता है। गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरने वाला कोई जीव छठे गुणस्थान में, कोई पाँचवें गुणस्थान में, कोई चौथे गुणस्थान में और कोई दूसरे गुणस्थान में होकर पहले गुणस्थान तक आ जाता है।

१२. क्षीणमोह गुणस्थान—मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने के पश्चात् ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थान का पूरा नाम 'क्षीण-कषाय वीतराग छद्मस्थ' गुणस्थान है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो जीव, मोहनीय-कर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं, किन्तु 'छद्म' (घातिकर्म का आवरण) अभी भी विद्यमान है, उनको 'क्षीण-

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

२६१

कषायवीतराग' कहते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को 'क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ' गुणस्थान कहते हैं ।

मोहनीय-कर्म का सर्वथा-क्षय हो जाने से इस गुणस्थानवर्ती जीव के भाव स्फटिक-मणि के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान विमल होते हैं । इस गुणस्थान से 'पतन' नहीं होता है । क्योंकि, इसमें वर्तमान जीव 'क्षपक' श्रेणी वाले ही होते हैं । 'पतन' का कारण 'मोहनीय' कर्म है । किन्तु यहाँ उसका सर्वथा—निःशेष रूप से क्षय हो चुका है ।

इस गुणस्थान तक, आत्म-गुणों के घातककर्मों का सर्वथा-क्षय हो जाने से 'योग-निमित्तक'—कर्मवरण शेष रह जाता है । इसी की अपेक्षा से 'सयोगि-केवली' नामक तेरहवाँ और 'योग' का सम्बन्ध न रहने पर होने वाला 'अयोगि केवली' नामक चौदहवाँ गुणस्थान सम्भव होता है । इनका स्वरूप निर्दिष्ट करने से पहले, कर्मक्षय की विशेष प्रक्रिया रूप 'उपशम' श्रेणी और 'क्षपक' श्रेणी का निर्देश संक्षेप में यहाँ करना उचित होगा ।

उपशम श्रेणी—इस श्रेणी के प्रारम्भ होने का क्रम, संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार है—

चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव, पहले अनन्तानुबन्धी 'क्रोध' आदि चार कषायों का उपशम करता है । तदनन्तर, अन्तर्मुहूर्त्त में, सम्यक्त्व मोहनीय, सम्यग्मिश्रितत्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय रूप दर्शनमोहनीय-त्रिक का एक साथ उपशमन करता है । इसके बाद वह जीव छठे और सातवें गुणस्थान में अनेक बार आता-जाता रहता है । अनन्तर आठवें गुणस्थान में होता हुआ नौवें गुणस्थान को प्राप्त करके, वहाँ चारित्र-मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशमन करना प्रारम्भ कर देता है ।

यह उपशमन इस क्रम से होता है—सर्वप्रथम 'नपुंसकवेद', पश्चात् क्रमशः 'स्त्रीवेद', 'हास्य-आदि-षट्क'^१, पुरुषवेद, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोधयुगल, संज्वलनक्रोध, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-मानयुगल, संज्वलमान, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण - मायायुगल, संज्वलनमाया, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभयुगल को, तथा दशवें गुणस्थान में संज्वलनलोभ को उपशमित करता है । इस प्रकार से मोहनीय कर्म के सर्वांशतः उपशमित हो जाने से इस श्रेणी को 'उपशमक' श्रेणी कहते हैं ।

क्षपक श्रेणी—इस श्रेणी का आरोहक जीव चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में, सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और दर्शनमोह-त्रिक, इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय करता है । अनन्तर, आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण-क्रोधादि कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषाय चतुष्क, इन आठ कर्म प्रकृतियों के क्षय को प्रारम्भ करता है । जब तक ये आठ प्रकृतियाँ 'क्षय' नहीं हो पातीं कि बीच में ही नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में, स्त्यानद्धि-त्रिक-आदि सोलह अशुभ-प्रकृतियों का क्षय कर डालता है और फिर अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण कषाय अष्टक के शेष रहे अंश का क्षय करता है । नौवें गुणस्थान के अन्त में क्रम से नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य-षट्क, पुरुषवेद, संज्वलन-क्रोध-मान-माया का क्षय करता है । अन्त में, दशवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का भी क्षय कर देता है । इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय तथा साथ में कतिपय-अशुभ प्रकृतियों का क्षय होने से इसे क्षपक श्रेणी कहते हैं ।

'उपशमक' और 'क्षपक' श्रेणी में विशेषता यह है कि उपशमक श्रेणी में सिर्फ मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ उपशमित होती हैं, जो निमित्त मिलने

१ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छः नोकषायों की 'हास्यषट्क' यह संज्ञा है ।

पर पुनः अपना प्रभाव प्रदर्शित करती हैं। जिससे पतन होने पर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान तक की प्राप्ति शक्य है। लेकिन क्षण-श्रुणी में मोहनीय कर्म का तो सर्वथा क्षय होता ही है, उसके साथ उन कुछ प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है जो अशुभ वर्ग की हैं। जिससे चतुर्थ गुणस्थान में देखे गये परमात्मस्वरूप की स्पष्ट प्रतीति—दर्शन होने लगते हैं। शेष रह गये 'छद्म'—घातिकर्म, इतने निःशेष हो जाते हैं कि क्षणमात्र में उनका क्षय होने पर, आत्मा स्वयं परमात्म दशा को प्राप्त कर जीवन्मुक्त-अवस्था में स्थित हो जाती है।

१३. सयोगिकेवली गुणस्थान—मोहनीय कर्म के साथ शेष—'ज्ञानावरण'—'दर्शनावरण' और 'अन्तराय' इन तीन घाति—कर्मों का क्षय करके 'केवलज्ञान', 'केवलदर्शन' प्राप्त कर चुकने से पदार्थों को जानने-देखने में 'इन्द्रिय'—'आलोक' आदि की अपेक्षा जो नहीं रखते, तथा योग—सहित है, उन्हें 'सयोगिकेवली' कहते हैं, और उनके स्वरूप-विशेष को 'सयोगिकेवली' गुणस्थान कहते हैं।

सयोगिकेवली भगवान् 'मनोयोग' का उपयोग मन द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर मन द्वारा देने में करते हैं। उपदेश देने के लिए 'वचन' योग का, तथा हलन-चलन आदि क्रियाओं में 'काय' योग का उपयोग करते हैं।

सयोगिकेवली यदि 'तीर्थङ्कर' हों, तो 'तीर्थ' की 'स्थापना' एवं 'देशना' द्वारा तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

१४. अयोगिकेवली गुणस्थान—जो केवली भगवान् मन, वचन, काय के योगों का निरोध कर, योगरहित हो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, वे 'अयोगिकेवली' कहलाते हैं। इन्हीं के स्वरूप विशेष को 'अयोगिकेवली' गुणस्थान कहते हैं।

योग-निरोध का क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम बादर (स्थूल) काययोग से बादर मनोयोग और

वचनयोग को रोकते हैं। अनन्तर सूक्ष्म काययोग से उक्त बादरयोग को रोकते हैं। इसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग और वचनयोग को रोकते हैं। अन्त में, सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से उस सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं। इस प्रकार से, योगों का निरोध होने से, 'सयोगिकेवली' भगवान् 'अयोगिकेवली' बन जाते हैं। साथ ही उसी सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी खाली भाग—मुख, उदर आदि भाग को, आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। उनके आत्मप्रदेश इतने सघन हो जाते हैं कि वे शरीर के दो तिहाई हिस्से में समा जाते हैं। इसके बाद, समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाती शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और 'पाँच ह्रस्व-अक्षर' (अ-इ-उ-ऋ-लृ) के उच्चारण काल का 'शैलेशीकरण' करके चारों अघाति कर्मों—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्मों—का सर्वथा क्षय करने पर, समय-मात्र की ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन करके 'लोक' के अग्रभाग में स्थित 'सिद्धक्षेत्र' में चले जाते हैं।

लोक के अग्रभाग में विराजमान ये 'सिद्ध' भगवन्त, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों, राग-द्वेष आदि भावकर्मों से रहित होकर, अनन्त शांति सहित ज्ञान, दर्शन, मुख, वीर्य, अव्याबाध-अवसाहस्यत्व, नित्य, कृतकृत्य अवस्था में अनन्तकाल तक रमण करते रहते हैं। सर्वथा कर्मबन्ध का अभाव हो जाने से पुनः संसार-परिभ्रमण के चक्कर में उनका आगमन नहीं होता है।

यदि किसी सयोगिकेवली भगवान् की आयु-कर्म की स्थिति दलिक कम हो, और उसकी अपेक्षा वेदनीय, नाम तथा गोत्र, इन तीन कर्मों की स्थिति एवं पुद्गलपरमाणु अधिक होते हैं, वे आठ समय वाले 'केवली-समुद्घात' के द्वारा आयु-कर्म की स्थिति एवं पुद्गलपरमाणुओं के बराबर वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणुओं को कर लेते हैं। परन्तु, जिन केवलियों के वेदनीय आदि तीनों अघाति-कर्मों की स्थिति और पुद्गल परमाणु

‘आयुकर्म’ के बराबर हैं, वे ‘समुद्घात’ नहीं करते हैं। और, परम-निर्जरा के कारणभूत तथा लेश्या से रहित अत्यन्त स्थिरता रूप ध्यान के लिये पूर्वोक्त रीति से योगों का निरोध कर अयोगि अवस्था प्राप्त करते हैं।

गुणस्थानों की शाश्वतता-अशाश्वतता—उक्त चौदह गुणस्थानों में से प्रथम, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और त्रयोदशम् ये पाँच गुणस्थान लोक में ‘शाश्वत’ हैं। अर्थात् सदा विद्यमान रहते हैं। इन गुणस्थानों वाले जीव, लोक में अवश्य पाये जाते हैं। जबकि शेष नौ गुणस्थास ‘अशाश्वत’ हैं। ‘पर-भव’ में जाते समय जीव को पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान होते हैं। तीसरा, बारहवाँ और तेरहवाँ, ये तीन गुणस्थान ‘अमर’ हैं। अर्थात्, इनमें जीव का मरण नहीं होता है। पहला, दूसरा, तीसरा, पाँचवाँ और ग्यारहवाँ, इन पाँच गुणस्थानों का, तीर्थंकर स्पर्श नहीं करते हैं। चौथे, पाँचवे, छठे, सातवें, आठवें, इन पाँच गुणस्थानों में ही जीव ‘तीर्थंकर’-गोत्र को वाँधता है। बारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ, ये तीन गुणस्थान ‘अप्रतिपाती’ हैं। अर्थात्

इन्हें प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीव का पतन नहीं होता है। पहले, चौथे, सातवें, आठवें, नौवें, दशवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें, इन नौ गुणस्थानों को ‘मोक्ष’ जाने से पूर्व, जीव अवश्य ही स्पर्श करता है। दूसरा गुणस्थान, अधःपतनोन्मुख-आत्मा की स्थिति का द्योतक है। लेकिन, पहले की अपेक्षा इस गुणस्थान में ‘आत्मशुद्धि’ अवश्य कुछ अधिक होती है। इसलिए इसका क्रम, पहले के बाद रखा गया है। परन्तु इस गुणस्थान को ‘उत्क्रांति’ करने वाली कोई आत्मा, प्रथम गुणस्थान से निकल कर सीधे ही, तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकती है। और ‘अवक्रांति’ करने वाली कोई आत्मा, चतुर्थ आदि गुणस्थान से पतित होकर, तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार ‘उत्क्रांति’ और ‘अवक्रांति’ करने वाली दोनों ही प्रकार की आत्माओं का आश्रयस्थान ‘तीसरा’ गुणस्थान है।

संक्षेप में, गुणस्थान-क्रमारोहण का स्वरूप यही समझना चाहिए।

—○—

● आत्मा के तीन प्रकार—

तिप्पयारो सो अप्पो पर-मन्तर बाहिरो दु हेऊणं ।

आत्मा के तीन प्रकार हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ।
बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ना—ऊर्ध्वारोहण है ।

—मोक्ष पाहुड ४

—□—

भारतीय दर्शन : चिन्तन की रूपरेखा

पं० देव कुमार जैन
दर्शनाचार्य, साहित्यरत्न
खजांची मोहल्ला
बीकानेर

दर्शन का अर्थ

दर्शन का सामान्य अर्थ है, देखना और यह अर्थ सर्वजन प्रसिद्ध है। किन्तु प्रत्येक शब्द का व्यंजनात्मक एक विशिष्ट अर्थ और भी हुआ करता है। उसमें अर्थ-गाम्भीर्य भी अधिक होता है। यह लोक में प्रामाणिक भी माना जाता है। दर्शन शब्द को भी यही स्थिति है। वह अपने अन्तस् में विशेष और गम्भीर आशय गभित किये हुए है—सत्य का साक्षात्कार करना। क्योंकि लोक जीवन में प्रत्येक प्रवृत्ति की सत्यता का निर्धारण देखने वाले के कथन से किया जाता है, कानों सुनी बात अप्रामाणिक भी हो सकती है। दृश्य और अदृश्य, भौतिक व आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रों के लिये भी यही जानना चाहिये। अतएव यह सिद्ध हुआ कि सत्य का साक्षात्कार करना दर्शन शब्द का वाच्य व वास्तविक अर्थ है।

सत्य का साक्षात्कार क्या है ?

इसी सन्दर्भ में यह ज्ञानव्य है कि सत्य क्या है और उसके साक्षात्कार का अभिप्राय क्या है ?

प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सत्यवादी मानता है। अपने द्वारा प्रतिपादित अनुभूत के प्रति इतना आग्रहशील हो जाता है कि दूसरे के कथन का अपलाप करने में भी नहीं क्षिप्तकता है। इसको जन्मान्धों के हस्ति परीक्षण के उदाहरण से समझा जा सकता है। वे सभी हाथी के एक-एक अंग को समस्त हाथी मान रहे थे। समग्रता की दृष्टि से उनका कथन सत्य नहीं है। अतएव यह आशय हुआ कि सत्य वह है जो पूर्ण हो और पूर्ण होकर यथार्थ रूप से प्रतीत हो; तथा साक्षात्कार का अभिप्राय होगा कि जिसमें सन्देह, विपर्यय, मतभेद, भ्रम आदि न हों।

सत्य-साक्षात्कार में भ्रान्ति क्यों ?

सत्य को जानने और समझने की वृत्ति मनुष्य मात्र में साहजिक है। साधारण—असाधारण सभी जन सत्य के उपासक हैं, सत्य का साक्षात्कार करने की साधना में तल्लीन रहते हैं। परन्तु सत्यान्वेषण, सत्य-निरूपण और सत्य-प्रकाशन की पद्धति सबकी अपनी-अपनी होने से भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। इसका पहला कारण है उनका एक-पक्षीय विचार, जो सत्यांश तो हो सकता है, किन्तु संपूर्णता को स्पर्श

नहीं करता है। जिससे वे सभी पूर्ण सत्य का भी साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं। आचार्य सिद्धसेन का निम्नोक्त कथन समग्र स्थिति स्पष्ट कर देता है।

“जावइया वयणपहा तावइया चेव हुन्ति नयवाया।”

—सन्मतितर्क ३/३७

अर्थात् जितने भी वस्तु स्वरूप के प्ररूपक कथन हैं, वे एक-एक सत्यांश के बोधक हैं। सत्यांशों का ग्रहण करना उपादेय तो है, लेकिन किसी एक विशिष्ट प्रणाली को ग्रहण करने से समग्र सत्य को प्राप्त नहीं किया जाता है और अपने मान्य सत्य का भी निर्णय नहीं हो पाता है। दोनों के आंशिक व अपूर्ण निर्णय से भ्रम अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

भ्रम उत्पन्न होने का दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्मों की सत्ता है। उन अनन्त धर्मों की सत्ता की स्वीकृति के लिए प्रमाण की जरूरत नहीं है। ये अनन्त धर्म ही वस्तु का स्वरूप है। उनमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती है। वस्तु की इस स्थिति को सभी विचारकों ने स्वीकार किया है—

‘यदीयं स्वयमर्थेषु रोचते तत्र के वयम् ।’

—धर्मकीर्ति: प्रमाणवार्तिक २/२१

ये सभी धर्म स्व-पर के द्वारा विद्यमानता अविद्यमानता का बोध कराते हैं। यथाप्रसंग मुख्य-गौण का भी उपचार करना पड़ता है। इसलिए उन अनन्त धर्मों को जानना कठिन नहीं है। वे सभी चिंतन के विषय बनते हैं। ज्ञान के द्वारा जाने भी जाते हैं। किन्तु शब्दों द्वारा एक साथ एक समय में उनका कथन नहीं किया जा सकता है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भी एक समय में वस्तु के एक धर्म का कथन, वर्णन, प्रतिपादन करते हैं। उस स्थिति में यथार्थता को नहीं समझने वाले अपने-अपने

चिंतन के प्रति कदाग्रही बन जाते हैं। कदाग्रह से वस्तु स्वरूप में तो किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु विचारकों के विचार अवश्य विकृत होते हैं।

कदाग्रह की उत्पत्ति का कारण

विकृति का कारण कदाग्रह है। अतः यहाँ कदाग्रह की उत्पत्ति के कारण का भी विचार कर लें।

वस्तु-विचार की परस्पर भिन्न मुख्य दो दृष्टियाँ हैं—१. सामान्यगामिनी और २. विशेषगामिनी। सामान्यगामिनी द्वारा वस्तुमात्र में समानता ही समानता और विशेषगामिनी असमानता असमानता ही देखती है। इन दोनों धाराओं का अस्तित्व परस्पराश्रित है और वस्तु का स्वभाव दोनों धाराओं का समन्वित पिंड है। ये दोनों धारायें स्वानुभव के अन्तिम निष्कर्ष रूप में वस्तु के शुद्ध स्वरूप पर पहुँचती हैं, लेकिन दोनों कथन शैली की भिन्नता के कारण आपस में विरोधी होकर अपने आप तक सीमित रहती हैं और उसके आधार पर परस्पर विरुद्ध अनेक विचारधारायें उत्पन्न होने से ये विचारधारायें अलग-अलग दर्शन नाम से प्रसिद्ध हो जाती हैं।

सामान्यतः दर्शन कितने ?

यद्यपि विश्व के मानवमात्र के चिंतन का आधार उक्त दो धारायें होने से दर्शन के सामान्यतः दो भेद हैं। किन्तु पश्चिम दृश्यमान विश्व का विचार करने वाला भौतिकवादी है। यदि किसी ने लोक से हटकर विचार किया तो हत्या करने से भी नहीं चूका। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात को इसलिए विष देकर मार दिया था कि उसने भौतिकवादी विचारों का विरोध किया था और दूसरे दार्शनिक अफलातू (प्लेटो) को उसके ही भक्त शिष्य ने गुलाम बनाकर सरे बाजार में बेच दिया था।

परन्तु पूर्व और मुख्य रूप से भारत में तत्त्वों के अन्वेषण की प्रवृत्ति सुदूर अतीतकाल से है। इस प्रवृत्ति के दो रूप हैं—प्रज्ञामूलक और तर्कमूलक। प्रज्ञा द्वारा तत्त्वों का विवेचन और तर्क द्वारा तत्त्वों का समीक्षण किया जाता है। इन दोनों का एक मात्र लक्ष्य है—आत्मानं-विद्धि, आत्मदर्शन, जो परोक्ष न होकर अपरोक्ष—प्रत्यक्ष हो। आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होना ही दर्शन का प्रयोजन है।

अतएव अब भारतीय दर्शन के मुख्य भेदों का संकेत करके उनके चिन्तन का विचार करते हैं।

पूर्व में यह बताया है कि चिन्तन के प्ररूपक जितने कथन हैं, उतने ही दर्शन हो सकते हैं। अतः हमें यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि दर्शन के अनन्त प्रभेद हैं। फिर भी उन अनन्त भेदों में पाई जाने वाली आंशिक समानताओं के आधार पर आगमों में पर-समय के रूप में विस्तार से ३६३ (तीन सौ त्रैसठ) भेद गिनाये हैं। इन भेदों को भी क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी इन चार में समाहित करके ३६३ भेदों में से १८० क्रियावादी के, ८४ अक्रियावादी के, ६७ अज्ञानवादी के और ३२ विनयवादी के भेद बताये गये हैं।

इसी तरह वैदिक ऋषियों द्वारा भी दर्शनों की संख्या व नाम निश्चित किये जाने के प्रयत्न हुए हैं। पुराणों में न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और लोकायत यह दर्शनों के नाम देखने में आते हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा वैदिक दर्शनों के रूप में माने जाने लगे और मीमांसा के कर्म व ज्ञान यह दो भेद हो गए। जो क्रमशः पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के नाम से प्रसिद्ध हुए।

वेदाश्रित यह छह भेद भी स्वयं वैदिकों ने स्वीकार नहीं किये। यही कारण है कि वाचस्पति मिश्र ने वैशेषिक दर्शन को छोड़कर शेष पाँच दर्शन-भेदों की अपनी ग्रन्थों में व्याख्या की तथा वैशेषिक की

पृथक् व्याख्या इसलिये नहीं की कि उसके तत्त्वों का विवेचन न्यायदर्शन में हो जाता है।

माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह ग्रंथ में सोलह दर्शनों के नाम गिनाकर उनकी व्याख्या की है। उनमें वेदाश्रित दर्शन-भेदों के साथ अवैदिक जैन, बौद्ध व चार्वाक दर्शनों का ग्रहण किया है।

माधव सरस्वती के सर्वदर्शन कौमुदी ग्रंथानुसार योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, नैयायिक और वैशेषिक यह छह वेदाश्रित दर्शन हैं तथा अवैदिक दर्शन के बौद्ध, चार्वाक व आर्हत यह तीन भेद हैं।

इसी प्रकार से अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से दर्शन-भेदों व उनके नामों का उल्लेख किया है। उन सबका परिचय स्वतन्त्र लेख का विषय है।

अतः प्रकृत में उन्हीं दर्शन-नामों का संकेत करते हैं, जो वर्तमान में प्रसिद्ध हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

१. जैन २. बौद्ध ३. सांख्य ४. नैयायिक ५. वैशेषिक ६. जैमिनीय (मीमांसा)।

ये दर्शन दृश्य-अदृश्य, लोक-परलोक, जीव आदि का अस्तित्व स्वीकार करने वाले होने से आस्तिकवादी के रूप में प्रख्यात हैं और जीव का अस्तित्व नहीं मानने से चार्वाक नास्तिकवादी कहलाता है। इसीलिए विद्वानों ने उसे दर्शन के रूप में तो स्वीकार नहीं किया किन्तु दृष्टि को समझने के लिये उसकी दलीलों का संग्रह कर दिया।

भारतीय दर्शनों की चिन्तन प्रणालियाँ

भारतीय दर्शन के उक्त छह भेद प्रायः सर्वमान्य हैं। प्रत्येक दर्शन के समर्थ आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उनकी तात्त्विक व चिन्तन दृष्टि का जो विस्तार से वर्णन किया है, उसकी रूपरेखा का यहाँ उल्लेख करते हैं।

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

२६७

जैन दर्शन

यह दर्शन विश्व की संरचना, विकास, विनाश और व्यवस्था का आधार परस्पर विरोधी गुण-धर्मावाले जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन, जड़) इन दो तत्वों को स्वीकार करता है। इन दोनों तत्वों में से न चेतन तत्व निष्क्रिय है और न अचेतन तत्व सक्रिय है। दोनों का आरोपित सत्ता से नहीं किन्तु अपने-अपने गुणधर्म, स्वभाव से अस्तित्व है, इनमें अपनी-अपनी स्थिति रूप से परिवर्तन होते रहने पर भी नित्यत्व हैं। ये न तो सर्वथा नित्य हैं और न सर्वथा अनित्य ही। उनमें वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि अनेक गुण विद्यमान रहते हैं।

जीव और अजीव तत्वों में से अजीव तत्व के १. धर्मास्तिकाय २. अधर्मास्तिकाय ३. आकाशस्तिकाय ४. पुद्गलास्तिकाय और ५. काल यह पाँच भेद हैं। जीव का कोई भेद नहीं है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१. धर्मास्तिकाय—यह जीव और पुद्गलों की गतिक्रिया में सहायक द्रव्य है।

२. अधर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहयोगी कारण रूप द्रव्य।

३. आकाशस्तिकाय—सभी पदार्थों को आश्रय, आधार पर देने रूप गुण वाला द्रव्य।

४. पुद्गलास्तिकाय—जिसमें रूप, रस, गंध, वर्ण पाये जाएँ, वह पुद्गल द्रव्य है।

५. काल—समस्त द्रव्यों के वर्तना, परिणमन आदि के सामान्य कारण को काल कहते हैं।

६. जीवास्तिकाय—जिसमें चेतना शक्ति हो। इन्द्रिय, बल, आयु एवं श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों से जो जीता है, वह जीव है।

इन छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होकर अस्तित्व वाले होने से अस्ति-

काय द्रव्य कहलाते हैं और काल द्रव्य सिर्फ एक प्रदेशी होने से अस्ति द्रव्य है, बहुप्रदेशी न होने से अस्तिकाय द्रव्य नहीं है।

यही छह द्रव्य लोकव्यवस्था के नियामक हैं। इनके सिवाय लोक में अन्य कुछ नहीं है।

द्रव्य का लक्षण सत् है, सत् उसको कहते हैं जिसमें उत्पाद (नवीन पर्याय, अवस्था का उत्पन्न होना) व्यय (पूर्वपर्याय का नाश होना) और ध्रौव्य-रूपता (उत्पाद और व्यय होते रहने पर भी द्रव्य का अपने मूल स्वभाव में स्थिर रहना) हो।

द्रव्य के उक्त लक्षण का तात्पर्य यह है कि सत् प्रतिक्षण परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। उसकी पूर्व व्यय और उत्तर उत्पाद की धारा अनादि अनन्त है, कभी विच्छिन्न नहीं होती है। उत्पाद-व्यय ध्रौव्य द्रव्य का स्वभाव है, मौलिक धर्म है कि उसे प्रतिक्षण परिणमन करते रहना चाहिए और मूल स्वभाव को न छोड़कर परिणत होते रहना चाहिए। मगर ये परिणमन सहश, विसदृश एक-दूसरे के निमित्त से भी और स्वतः भी होते रहते हैं। परिवर्तन कितना भी हो जाये किन्तु द्रव्य की सत्ता कभी नष्ट नहीं होती है। अनन्त प्रयत्न करने पर भी द्रव्य के एक भी अंश को नष्ट नहीं किया जा सकता है।

प्रत्येक द्रव्य में अपनी गुणात्मक स्थिति के कारण ध्रुवता है और पर्यायरूपता के कारण उसमें उत्पत्ति विनाश रूप अवस्थायें हैं। इस नियम का कोई अपवाद नहीं है। गुण त्रिकालवर्ती सहभावी हैं और पर्यायें एक समयवर्ती क्रमभावी हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने अनेक सहभावी गुणों का आधार है।

कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध में जैन दर्शन का मत सत्-असत् कार्यवादी है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ में मूलभूत द्रव्य योग्यता के होने पर भी कुछ तत्पर्याय योग्यतायें भी होती हैं। प्रत्येक द्रव्य की अपनी क्रमिक अवस्थाओं में अमुक उत्तर

पर्याय का उत्पन्न होना केवल द्रव्य योग्यता पर निर्भर नहीं है। किन्तु कारणभूत पर्याय की तत्पर्याय योग्यता पर निर्भर है। प्रत्येक द्रव्य के प्रति समय स्वभावतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से परिणामी होने के कारण सब व्यवस्थायें सदसत् कार्यवाद के आधार से व्यवस्थित होती हैं। क्योंकि विकसित कार्य अपने कारण में कार्य आकार से असत् होकर भी योग्यता या शक्ति रूप से सत् हैं। यदि कारण द्रव्य में यह शक्ति न हो तो उससे वह कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। जैन दर्शन के अनुसार यह लोक-व्यवस्था व द्रव्य-व्यवस्था का रूप है। कोई ईश्वर आदि इसका निर्माता या नियामक नहीं है।

ये जीवादि द्रव्य अनेकान्तात्मक होने से प्रमेय-बनते हैं। इसी पृष्ठभूमि के आधार पर जैन दर्शन ने अपने चिन्तन, मनन व कथन को स्पष्ट करने के लिए स्याद्वाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। प्रमेय-भूत पदार्थ के एक-एक अंश में नयों की प्रवृत्ति होती है तथा समग्र वस्तु का निरूपण प्रमाण द्वारा किया जाता है।

स्याद्वाद का अर्थ है—विभिन्न दृष्टिकोणों का तटस्थ बुद्धि व दृष्टि से समन्वय करना। स्याद्वाद में स्यात् शब्द का अर्थ एक अपेक्षा, अपेक्षाविशेष, कथंचित् अर्थ का द्योतक हैं और वाद का अर्थ है कथन करना अर्थात् अपेक्षाविशेष से पदार्थ में विद्यमान अन्य अपेक्षाओं का निराकरण न करते हुए भिन्न-भिन्न विचारों का एकीकरण करना। इसीलिये स्याद्वाद को पट्टति का आग्रह नहीं होता है, किन्तु सत्य प्राप्ति का आग्रह है, जहाँ भी सत्य है, उसे ग्रहण करना है।

जैनाचार्यों ने पदार्थ निरूपण के प्रसंग में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये किया है। उसके पीछे हेतु यह है कि वस्तु की अनेकान्तात्मकता अनेकान्त शब्द से भी अभिव्यक्त होती है और

स्याद्वाद से भी। स्याद्वाद में स्यात् शब्द की प्रधानता है और अनेकान्तवाद में अनेकान्त की। परन्तु दोनों का आशय समान ही है कि स्याद्वाद जिस वस्तु का कथन करता है, वह अनेकान्तात्मक, अनेक धर्मात्मक है। और स्याद्वाद द्वारा जिस वस्तु का कथन किया जा रहा है, वह वस्तु अनेकान्तात्मक, अनेक धर्मात्मक है, इसका बोध अनेकान्तवाद द्वारा होता है।

दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनेकान्त-वादपूर्वक स्याद्वाद होता है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद उसका वाचक। स्याद्वाद कथन की निर्दोष प्रणाली है और अनेकान्तवाद निश्चित वस्तु स्वरूप का बोधक है। यह जैन दर्शन की चिन्तन प्रणाली की संक्षिप्त रूप-रेखा जानना चाहिये।

बौद्ध दर्शन—इसे सुगतदर्शन भी कहते हैं। १. सौत्रान्तिक, २. वैभाषिक, ३. माध्यमिक ४. योगाचार—ये बौद्धों के चार भेद हैं।

१. सौत्रान्तिक बुद्ध के सूत्रों को अधिक महत्व देते हैं। ये बाह्य जगत् के अस्तित्व को मानते हैं और बाह्य व अन्तः के भेद से सब पदार्थों को दो विभागों में विभक्त करते हैं। बाह्य पदार्थ भौतिक रूप और आन्तर चित्त-चैत्य रूप हैं। इनके मतानुसार पाँच स्कन्धों को छोड़कर आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। पाँचों स्कन्ध (विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार, रूप) ही परलोक जाते हैं। अतीत, अनागत, सहेतुक, विनाश, आकाश और पुद्गल (नित्य, व्यापक आत्मा) ये संज्ञामात्र, प्रतिज्ञामात्र, संवृत्ति-मात्र और व्यवहार मात्र हैं। तदुत्पत्ति तदाकारता से पदार्थों का ज्ञान होता है और वह प्रत्यक्ष से न होकर अन्यथा उपपत्ति रूप अनुमान से होता है। अन्यापोह (अन्य व्यावृत्ति) ही शब्द का अर्थ है। नैरात्म्य भावना से जिस समय ज्ञान संज्ञान का उच्छेद हो जाता है, उस समय निर्वाण होता है।

२. वैभाषिक अभिकर्म की टीका विभाषा

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

२६६

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

को सबसे अधिक महत्व देते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान को अस्तिरूप मानते हैं। ज्ञान-ज्ञेय दोनों वास्तविक हैं। बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। प्रत्येक पदार्थ, उत्पत्ति, स्थिति, जरा और मरण इन चार क्षयों तक अवस्थित रहता है। इसीलिए ये सर्वास्तित्वादी कहलाते हैं।

३. माध्यमिक शून्यवादी अथवा नैरात्मकवादी कहलाते हैं। इनका कथन है कि पदार्थ का निरोध, उत्पाद, उच्छेद नहीं होता है, न गमन व आगमन होता है। अतः संपूर्ण धर्म माया के समान होने से निस्स्वभाव हैं। जो जिसका स्वभाव है, वह उससे कभी अलग नहीं होता है, और अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। दृश्यमान सभी पदार्थ अपनी-अपनी हेतु-प्रत्यय सामग्री से उत्पन्न होते हैं। संपूर्ण पदार्थ परस्पर सापेक्ष हैं। कोई भी पदार्थ सर्वथा निरपेक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता है। जो पदार्थ भाव या अभाव रूप से हमें प्रतीत होते हैं, वे केवल संवृत्ति अथवा लोक सत्य की दृष्टि से प्रतीत होते हैं। परमार्थ सत्य की अपेक्षा से निर्वाण ही सत्य है। यह परमार्थ सत्य बुद्धि के अगोचर, अनभिलाष्य अनक्षर है। अभिधेय-अभिधान से रहित है, फिर भी संसार के प्राणियों को निर्वाण का मार्ग बताने के लिए संवृत्ति सत्य का उपयोग करना पड़ता है।

४. योगाचार को विज्ञानवादी भी कहते हैं। इसके मत से भी सभी पदार्थ निस्स्वभाव हैं। विज्ञान को छोड़कर बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं। अनादि वासना के कारण पदार्थों का एकत्व, अन्त्यत्व उभयत्व और अनुभयत्व रूप ज्ञान होता है। वास्तव में तो समस्त भाव स्वप्नज्ञान, माया और गंधर्व नगर के समान असत् हैं। परमार्थ सत्य से स्वप्रकाशक विज्ञान ही सत्य है। दृश्यमान जगत् विज्ञान का ही परिणाम है और संवृत्तिसत्य से ही दृष्टिगोचर होता है। चित्त वासना का मूल कारण है। चित्त में संपूर्ण धर्म कार्य रूप से उपनिबद्ध होते हैं।

आत्मा के सम्बन्ध में बौद्धदर्शन की चार मान्यताएँ हैं—

१. पाँच स्कन्धों को छोड़कर आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

२. पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा प्रथक् पदार्थ है।

३. आत्मा का अस्तित्व तो है, किन्तु उसे अस्ति और नास्ति दोनों नहीं कह सकते हैं।

४. आत्मा है या नहीं, यह कहना असंभव है।

बौद्धदर्शन में प्रमाण और प्रमाण का फल भिन्न नहीं है। क्योंकि पदार्थों को जानने के सिवाय प्रमाण का कोई दूसरा फल नहीं कहा जा सकता है। इसलिए प्रमाण और उसके फल को सर्वथा अभिन्न मानना चाहिए।

प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। प्रत्येक वस्तु अपने उत्पन्न होने के दूसरे क्षण में ही नष्ट हो जाती है। यदि पदार्थों का स्वभाव नष्ट होना न माना जाए तो घड़े और लाठी का संघर्ष होने पर घड़े का नाश नहीं होना चाहिये। अवयवों को छोड़कर अवयवी कोई भिन्न वस्तु नहीं है। किन्तु भ्रम के कारण अवयव ही अवयवी रूप प्रतीत होते हैं।

विशेष को छोड़कर सामान्य कोई वस्तु नहीं है। क्षणिक पदार्थों का ज्ञान उनके असाधारण रूप से ही होता है। इसलिए सम्पूर्ण पदार्थ स्वलक्षण (विशेष रूप) है।

यह बौद्धदर्शन के चिन्तन की सामान्य रूपरेखा है।

सांख्यदर्शन—शुद्ध आत्मा के तत्त्वज्ञान को अथवा सम्यग्दर्शन का प्रतिपादन करने वाले अथवा प्रकृति पुरुष आदि पच्चीस तत्वों का वर्णन करने वाले शास्त्र को सांख्यदर्शन कहते हैं।

सांख्य वेदों व यज्ञ-यामादि को नहीं मानते हैं। तत्त्वज्ञान और अहिंसा पर अधिक भार देते हैं।

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

आत्मबहुत्ववाद और परिणामवाद को मानते हैं। प्रकृति आदि पञ्चीस तत्वों का ज्ञान होने से मुक्ति हो सकती है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं।

सांख्य और योग ये दोनों प्रायः समानतंत्रीय हैं परन्तु कतिपय भिन्नता भी हैं। सांख्य निरीश्वर सांख्य और योग शेश्वर सांख्य कहलाते हैं। इसका आशय यह है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है, किन्तु एक पुरुष विशेष को ईश्वर माना है। यह पुरुष विशेष सदा क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से अस्पृष्ट रहता है। सांख्य असत् की उत्पत्ति और सत् का नाश नहीं मानते। चेतनत्व आदि की अपेक्षा सम्पूर्ण आत्माएँ समान हैं तथा देह, इन्द्रिय, मन और शब्द में, स्पर्श आदि के विषयों में और देह आदि के कारणों में विशेषता होती है। योग सम्पूर्ण सृष्टि को पुरुष के कर्म आदि द्वारा मानते हैं। दोष और प्रवृत्ति को कर्मों का कारण बताते हैं।

सांख्यदर्शन तत्त्वज्ञान पर अधिक भार देता हुआ तत्वों की खोज करता है और तत्वों के ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार करता है। योगदर्शन यम, नियम आदि योग की अष्टांगी प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन कर योग की सक्रियात्मक प्रक्रियाओं के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध होने से मोक्ष की सिद्धि मानता है।

सामान्य से योग के दो भेद हैं—राजयोग और हठयोग। पतंजलि ऋषि के योग को राजयोग तथा प्राणायाम आदि से परमात्मा के साक्षात्कार करने को हठयोग कहते हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति ये योग के तीन भेद हैं तथा योगतत्व उपनिषद् में मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग यह चार भेद किये हैं।

वैशेषिक दर्शन—इस दर्शन का मूल ग्रन्थ वैशेषिक सूत्र है और आद्य प्रणेता कणाद ऋषि माने

जाते हैं। वैशेषिक, इस नामकरण के सम्बन्ध में मान्यता है कि इसमें आत्मा और अनात्मा के विशेष की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और परमाणुवाद का विशेष रूप से वर्णन किया है।

वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों और प्रत्यक्ष व अनुमान इन दो प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों ने अभाव को सातवाँ पदार्थ स्वीकार किया है। ये अभाव को तुच्छरूप नहीं मानते हैं।

वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का नाम नहीं है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि वैशेषिक दर्शन अनीश्वरवादी नहीं है, किन्तु ईश्वर के विषय में मौन रहने का कारण यह है कि वैशेषिक दर्शन का मुख्य ध्येय आत्मा और अनात्मा की विशेषताओं का प्ररूपण करना रहा है।

वैशेषिक मोक्ष को निश्चय अथवा मोक्ष नाम से कहते हैं और शरीर से सदा के लिए सम्बन्ध छूट जाने पर मोक्ष मानते हैं। तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार और द्वेष इन आत्मा के नौ विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद होना मोक्ष का लक्षण है।

वैशेषिक पीनुपाक के सिद्धान्त को मानते हैं।

न्यायिक दर्शन—इस दर्शन के मूलप्रवर्तक अक्षपाद गौतम कहे जाते हैं। न्याय सूत्र इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है। अतः इसे न्याय दर्शन भी कहा जाता है। न्याय और वैशेषिक ये दोनों दर्शन समान तंत्रीय माने जाते हैं। बहुत से विद्वानों ने इस न्यायदर्शन के सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिये वैशेषिक सिद्धान्तों का उपयोग किया है। फिर भी जो भिन्नतायें हैं, उनका यहाँ उल्लेख करते हैं।

न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का सृष्टिकर्ता और संहारक है, वह व्यापक, नित्य, एक और सर्वज्ञ है और इसकी बुद्धि शाश्वती रहती है।

ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने के सम्बन्ध में मुख्य तीन युक्तियाँ हैं—

१. कार्यकारण भाव मूलक—जितने भी कार्य होते हैं वे किसी बुद्धिमानकर्ता की अपेक्षा रखते हैं, जैसे घट। पृथ्वी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, इसलिये ये भी किसी कर्ता के बनाये हुए हैं। यह कर्ता ईश्वर ही है।

२. सत्तामूलक—यदि ईश्वर की सत्ता नहीं होती तो हमारे हृदय में ईश्वर के अस्तित्व की भावना नहीं उपजती।

३. प्रयोजनमूलक—हमें सृष्टि में एक अद्भुत व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। यह व्यवस्था और इसका सामंजस्य केवल परमाणु आदि के संयोग का फल नहीं, इसलिये अनुमान होता है कि कोई ऐसी शक्तिशाली महान शक्ति अवश्य है, जिसने इस सृष्टि की रचना की है।

नैयायिक प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह तत्वों के ज्ञान से दुःख का नाश होने पर मुक्ति मानते हैं और मोक्ष के लिए अपवर्ग शब्द का प्रयोग करते हैं।

नैयायिक दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम (शब्द) इन चार प्रमाणों को माना है। आगम के रूप में वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार किया है। अर्थापत्ति, संभव और एतिह्य आदि का प्रत्यक्ष, अनुमान आदि उक्त चार प्रमाणों अन्तर्भाव किया है। नैयायिक दर्शन पिठरपाक के सिद्धान्त को मानता है।

मीमांसादर्शन—इसके आद्य प्रस्तावक जैमिनी ऋषि माने जाने से इसे जैमिनीय दर्शन भी कहते हैं। यह दर्शन उपनिषदों के पूर्ववर्ती वेद को प्रमाण मानता है। यह मान्यता प्राचीन है। इसलिये इस मान्यता वाले पूर्वमीमांसक कहलाते हैं। ये धूम-

मार्ग के अनुयायी हैं। यज्ञ आदि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके स्वर्ण प्राप्त को ही अपना मुख्य कार्य समझते हैं। वैदिकी हिंसा को हिंसा नहीं मानते हैं।

किन्तु अर्वाचीन मीमांसक पूर्वोक्त मान्यताओं के विरोधी हैं। ये वेदों के उत्तरवर्ती उपनिषदों के आधार पर से अपने सिद्धान्तों के प्ररूपक होने से उत्तरमीमांसक वेदान्ती या ज्ञानमीमांसक कहलाते हैं। इनके भी प्रमुख दो भेद हैं—भाट्ट (कुमारिल भट्ट) मीमांसक और प्राभाकर (प्रभाकर) मीमांसक। वेदान्ती मात्र अद्वैत ब्रह्म को मानते हैं।

भाट्ट प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को और प्राभाकर अभाव को प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य मान कर अर्थापत्ति पर्यन्त पाँच ही प्रमाण स्वीकार करते हैं।

पूर्वमीमांसकों का मत है कि वेद ही प्रमाण और अपौरुषेय हैं क्योंकि कर्तव्य रूप धर्म अतीन्द्रिय हैं, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता है। धर्म का ज्ञान वेद वाक्यों की प्रेरणा (मोदना) से ही होता है। उपनिषद भी वेद वाक्यों के समर्थक हैं। अतः वेदों को ही प्रमाण मानना चाहिए तथा वेदों का कोई कर्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता है। जिन शास्त्रों का कोई कर्ता देखा जाता है, उनको प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। इसलिए अपौरुषेय होने के कारण वेद ही प्रमाण हैं, वेद नित्य हैं, अबाधित हैं, और धर्म के प्रतिपादक होने से ज्ञान के साधन में तथा अपौरुषेय होने के कारण स्वतः प्रमाण हैं।

वेद शब्दात्मक हैं, इसलिए जैसे वेद नित्य और अपौरुषेय हैं, वैसे ही शब्द भी नित्य व सर्वव्यापक हैं। शब्द को नित्य मानने का कारण यह है कि एक स्थान पर प्रयुक्त गकार आदि वर्णों का उसी रूप में सर्वत्र ज्ञान होता है तथा एक शब्द का एक बार संकेत ग्रहण कर लेने पर कालान्तर में भी उसी संकेत से शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है।

ईश्वर को सृष्टि व संहार कर्ता न मानने के बारे में मीमांसकों का मन्तव्य है कि अपूर्व ही यज्ञ आदि का फल देने वाला है। अतः ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं माना जा सकता है। वेदों को बनाने के लिए भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, वे तो अपौरुषेय होने से स्वतः प्रमाण है।

मीमांसा दर्शन में पहले नहीं जाने हुए पदार्थों के जानने को प्रमाण का लक्षण माना है, तथा स्मृति ज्ञान के अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्ञान स्वतः प्रमाण है। क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति के समय ही हमें पदार्थों का ज्ञान (ज्ञप्ति) होता है। अतएव ज्ञान अपनी उत्पत्ति में और पदार्थों के प्रकाश करने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है।

मीमांसा दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को माना है तथा उसे शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से भिन्न मानकर आत्मबहुत्ववाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। कुमारिल ने आत्मा को कर्ता, भोक्ता, ज्ञान शक्ति वाला, नित्य, विभु, परिणामी और अहंप्रत्यय का विषय माना है। प्रभाकर ने आत्मा को कर्ता, भोक्ता और विभु स्वीकार करके भी आत्मा में परिवर्तन नहीं माना है, इनके मत से आत्मा ज्ञाता है और पदार्थ ज्ञेय हैं। ज्ञाता और ज्ञेय एक नहीं हो सकते हैं, इसलिए आत्मा कभी स्वसंवेदन का विषय नहीं हो सकती है। यदि स्वसंवेदन माना जाये तो गाढ़ निद्रा में भी ज्ञान मानना चाहिए।

मीमांसा दर्शन में मोक्ष पुरुषार्थ की मान्यता अर्वाचीन आचार्यों की देन है। प्राचीन आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों को मानकर धर्म को ही मुख्य पुरुषार्थ स्वीकार किया है। वे धर्म को सम्पूर्ण सुखों का कारण मानकर स्वर्ग की प्राप्ति करना ही अन्तिम ध्येय समझते थे।

प्रभाकर संसार के कारण भूतकालीन धर्म और अधर्म के नाश होने पर हमारे शरीर के आत्य-

तृतीय खण्ड : धर्म तथा दर्शन

न्तिक रूप से नाश होने को मोक्ष कहते हैं। जिस समय शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा आत्मज्ञान होने से देह का अभाव हो जाता है, उस समय मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष की अवस्था आनन्द रूप नहीं है, क्योंकि निर्गुण आत्मा में आनन्द नहीं रह सकता है।

कुमारिल के अनुसार परमात्मा की प्राप्ति की अवस्था ही मोक्ष है। कुमारिल भी मोक्ष को आनन्द रूप नहीं मानते हैं।

यह मीमांसा के चिन्तन की रूपरेखा है।

उपसंहार रूप में यह जानना चाहिए उपर्युक्त समग्र कथन भारतीय दर्शनों के चिन्तन-सिन्धु का बिन्दु और इस बिन्दु का भी शतांश भाग जैसा है। पाठकगण इस अंश को पढ़कर समग्र दर्शन साहित्य का अध्ययन करने की ओर प्रयत्नशील हों यही अपेक्षा है। क्योंकि यहाँ बहुत ही आवश्यक अंश का वर्णन नहीं भी किया जा सका है। किन्तु सुविधानुसार विस्तार से भारतीय दर्शनों के चिन्तन को प्रस्तुत करने की आकांक्षा है।

इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शन के चिन्तन की धारा अपनी-अपनी है। परन्तु देखा जाय तो सत्य एक है, परन्तु प्रत्येक दार्शनिक भिन्न-भिन्न देश और काल की परिस्थिति के अनुसार सत्य के अंश मात्र को ग्रहण करता है। परन्तु ध्येय सबका एक है—पूर्ण सत्य की उपलब्धि। अध्यात्मयोगी आनन्दघन ने इसी मन्तव्य को सरल सुगम शब्दों में स्पष्ट कर दिया है—

षट् दरसन जिन अंग भणोजे,
न्याय षडंग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक,
षट्दर्शन आराधे रे ॥

ॐ

२७३



जीने के दो तरीके हैं—अंगार और राख ।

तुम्हें जीना है तो अन्तरंग की उष्मा को बनाये रखो, अंगार की तरह तेजस्वी और प्रकाशमान बनकर जीओ ! राख की तरह निस्तेज, रूक्ष और मलिन बनकर नहीं !



जीवन एक दर्पण है, दर्पण के सामने जैसा बिम्ब आता है, उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में अवश्य पड़ता है, जब आप दूसरों के दोषों का दर्शन करेंगे, चिन्तन और स्मरण करेंगे तो उनका प्रतिबिम्ब आपके मनोरूप दर्पण पर अवश्य चित्रित होता रहेगा । प्रकारान्तर से वे ही दोष चुपचाप आपके जीवन में अंकुरित हो जायेंगे ।

इसीलिए भगवान महावीर का यह अमरसूत्र हमें सर्वदा स्मरण रखना चाहिए—“संपिच्छए अप्पगमप्पएण” सदा अपने से अपना निरीक्षण करते रहना चाहिए । दृष्टि को भूँदकर अन्तर्दृष्टि से देखना चाहिए । आत्मा का अनन्त सौन्दर्य दिखलाई पड़ेगा ।



जीवन के चार स्तर हैं—

जो विकार व वासनाओं का दास है—वह पशु है ।

जो विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है—वह मनुष्य है ।

जिसने विकारों पर यत्किञ्चित् विजय प्राप्त करली—वह देव है ।

जो सम्पूर्ण विकारों पर विजय प्राप्त कर चुका—वह देवाधि-देव है ।

—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि



॥ ४ ॥

इन शोध निष्कर्षों में धर्म की वैज्ञानिक दृष्टि और जीवन स्पर्शी भूमिका प्रकट होती है तो विज्ञान के साथ धर्म का सुमेल करने वाली अधुनातम प्रज्ञा का चिन्तन भी स्फुरित है।

संस्कृति—हमारी वह विराट अमूल्य निधि है, जो चक्रवर्ती की नव निधियों की भांति समग्र परम्परा, इतिहास, चिन्तन-बोध, चारित्रिक गुण, शिक्षा, संस्कार, व्यवहार नीति आदि सर्वांगीण मानवीय विकास और बौद्धिक प्रगति को अभिव्यंजना देती है।

जैन संस्कृति, अमण संस्कृति के रूप में अहिंसा, अनेकांत, सर्वोदय विचार, अध्यात्म प्रधान, साहित्यिक अभिरुचि, नैतिक उन्नयन, राजनीति पर धर्म नीति का वर्चस्व आदि बहुआयामों को उद्घाटित करने वाली संस्कृति है। अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ विद्वान, विचारक, बोध छात्र आदि द्वारा लिखित ये गवेषणा प्रधान निबन्ध पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक एवं विचारोत्तेजक मननीय सामग्री प्रस्तुत करेंगे।

भारतीय जन जीवन में सांस्कृतिक परम्परा का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। वैसे तो भारतवर्ष में अनेक संस्कृतियाँ प्रचलित हैं किन्तु संस्कृति की विविधता होते हुए उनमें भारतीयत्व की गहरी छाप लगी है, अतः भारतीयता के नाते समस्त संस्कृतियाँ एक हैं और उनका एकरूपत्व निहित है भारतीय संस्कृति में। अभिप्राय यह है कि भारतीय संस्कृति शब्द का उच्चारण करने से भारत में स्थित समस्त संस्कृतियाँ उसमें अन्तर्भूत हो जाती हैं। फिर भी प्रत्येक संस्कृति का अपना-अपना पृथक-पृथक अस्तित्व एवं महत्व है। भारत की सांस्कृतिक परम्परा जो समय के उतार-चढ़ाव में से गुजरती हुई अपने लम्बे मार्ग में भीषण आघातों और कठिनाइयों को झेलती आई है किसी एक जाति, एक सम्प्रदाय, एक विचारधारा की उपज नहीं है, अपितु यह तो अनेक जातियों, अनेक सम्प्रदायों और अनेक विचारधाराओं की उपज है जिनका सम्मेलन भारत की पवित्र धरा पर हुआ है, जिनका इतिहास यहाँ की विविध अनुभूतियों, लोकोक्तियों और पौराणिक कथाओं में छिपा पड़ा है और जिनके अवशेष यहाँ के प्राचीन जनपदों, प्राचीन पुर और प्राचीन नगरों के खण्डहरों में दबे पड़े हैं। मांहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त अवशेष इसके साक्षी हैं।

यह एक आश्चर्यजनक किन्तु निर्विवाद तथ्य है कि विचारधाराओं की विविधता होते हुए भी भारतीय संस्कृति में अद्भुत एकरूपता है। यही कारण है कि विदेशियों के विभिन्न आक्रमणों, आघातों, विनाश-लीलाओं और अत्याचारों के बावजूद आज भी उसमें वही स्थिरता और नूतनता विद्यमान है जो पूर्वकाल में थी। यों तो संसार के प्रायः सभी बड़े देशों ने बड़ी-बड़ी सभ्यताओं और संस्कृतियों को जन्म दिया है। बेबीलोन और फिलस्तीन, मिश्र और चीन, रोम और यूनानी सभी सभ्यताओं ने अपनी कृतियों से मानवीय गौरव को बढ़ाया है, किन्तु इनमें से किसी को भी वह स्थिरता प्राप्त नहीं हुई जो भारतीय संस्कृति को प्राप्त हुई है। ये सभी संस्कृतियाँ संसार में उषा की भाँति आयीं और संध्या की भाँति चली गयीं किन्तु इस धूप और छाया के माहौल में तथा आँधी और तूफान के झंझावातों में भी अडिग भारतीय संस्कृति स्थिर बनी हुई है। यही कारण है कि आज भी विश्व में भारतीय संस्कृति को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसके अनेक कारण हैं जिनमें प्रमुख है भारतीय मनीषियों, महर्षियों और योगियों की चिंतनधारा, प्रबुद्ध विचारकों, आचार्यों, उपाध्यायों और विद्वज्जनों के गम्भीर अनुभवों की आधारशिला तथा समाज के सभी

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

वर्गों की विविधात्मक परम्पराएँ। इन सभी कारणों के मूल में वह उच्च आध्यात्मिक आदर्श, जो मानव को वस्तुतः मानव बनने की प्रेरणा देता है और अपने वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को समुन्नत करने के लिए सतत् रूप से प्रेरित करता है।

विचारों की विविधता, दृष्टिकोण की भिन्नता तथा मान्यता व परम्पराओं की अनेकरूपता के कारण भारत ने समय-समय पर अनेक संस्कृतियों को जन्म दिया है जो एक ही वृक्ष के नीचे अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई हैं। यही कारण है कि संस्कृतियों की विविधता होते हुए भी उनमें आश्चर्यजनक एकरूपता है। यद्यपि सभी संस्कृतियों में लक्ष्य रूप में मानवता का हित सन्निहित है और यह सर्वोपरि है, तथापि सामान्यतः भारतवर्ष में प्रचलित समस्त संस्कृतियों का स्वरूप-विभाजन संक्षेप में दो रूप से किया जा सकता है—सामाजिक और आध्यात्मिक।

भारतीय संस्कृति का सामाजिक स्वरूप वह है जो विविध कलाओं, विज्ञान, अनुसन्धान एवं आविष्कारों से निरन्तर परिपोषित एवं संबृद्ध होता रहता है। संस्कृति का इससे भिन्न अर्थात् आध्यात्मिक स्वरूप वह है जो प्राणिमात्र के कल्याण की महान भावना से परिपूर्ण तथा जीवन की सार्थकता के लिये विविध धार्मिक अनुष्ठानों से युक्त है। संस्कृति के इस आध्यात्मिक पक्ष का साकार रूप है श्रमणसंस्कृति, जिममें इहलौकिक, भौतिक व क्षणिक सुखों के लिये न कोई स्थान है और न कोई मान्यता। श्रमणसंस्कृति का समग्र स्वरूप पूर्णतः अहिंसात्मक, अपरिग्रहात्मक व अनेकान्तात्मक है जिससे जगत में हिंसा का तांडव बन्द होकर सम्पूर्ण पापाचार निर्मूल हो, सामाजिक विषमता व अराजकता दूर हो तथा विश्व में स्थायी सुख, शांति व समता का साम्राज्य स्थापित हो। आसक्ति, परिग्रह, हिंसा और दुराग्रह के लिये इस संस्कृति में कोई स्थान नहीं है।

आरम्भ से ही भारतीय संस्कृति के मूल में समानांतर दो विचारधाराएँ प्रवाहित होती रही हैं— १. वैदिक विचारधारा और २. श्रमण विचारधारा। जहाँ श्रमण विचारधारा ने भारतवासियों को आंतरिक शुद्धि और सुख-शांति का मार्ग बतलाया वहाँ ब्राह्मणों ने बाह्य सुख-शांति और बाह्य शुद्धि को विशेष महत्व दिया। श्रमणों ने जहाँ लोगों को निश्चयस एवं मोक्ष का मार्ग बतलाया, ब्राह्मणों ने वहाँ लौकिक अभ्युदय के लिये विभिन्न उपाय अपनाकर लोगों का मार्गदर्शन किया। श्रमण विचारधारा ने व्यक्तिगत रूप से आत्मकल्याण की भावना से लोक कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। 'जिओ और और जीने दो' के व्यावहारिक रूप में विश्व को अहिंसा का सन्देश देकर प्राणिमात्र के प्रति समता भाव का अपूर्व आदर्श जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया।

दूसरी ओर ब्राह्मण वर्ग ने वर्ण व्यवस्था के द्वारा न केवल समाज में फेली अव्यवस्था अपितु विभिन्न सामाजिक विरोधों को दूर कर धार्मिक मान्यताओं एवं क्रिया-कलापों को दृढमूल किया। श्रमण वर्ग सदा अपनी आत्मा का निरीक्षण करने के कारण अन्तर्दृष्टि बना रहा जबकि ब्राह्मण विचारधारा ने शरीर के संरक्षण को विशेष महत्व दिया। जहाँ श्रमण इसे आदर्श देते रहे वहाँ ब्राह्मण इसे विधान के द्वारा पूर्ण करते रहे। जहाँ श्रमण विचार-प्रवाह वास्तविकता को सिंचित करता रहा वहाँ ब्राह्मण समुदाय व्यावहारिक कार्यकलापों से जीवन को पूर्ण बनाते रहे। इस आत्मा और शरीर, आदर्श और विधान, निश्चय और व्यवहार के अभूतपूर्व सम्मेलन से ही भारत की सर्वलोक कल्याणकारी संस्कृति का निर्माण हुआ है और इसी के परिणाम-स्वरूप इसे चिरंतन स्थिरता प्राप्त हुई है।

संस्कृति और श्रमण शब्द का अर्थ

व्याकरण के अनुसार संस्कृति शब्द का अर्थ है संस्कार-सम्पन्नता। संस्कार से वस्तु उत्कृष्ट बन

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

जाती है अथवा कहना चाहिए कि संस्कार किए जाने पर वस्तु अपने में निहित उत्कर्ष को अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त करती है, संस्कार किए जाने पर ही खनिज सुवर्ण शुद्ध स्वर्ण बनता है। मनुष्य भी संस्कृति के द्वारा अपनी आत्मा और शरीर का संस्कार परिष्कार कर अपने उच्चतम ध्येय और संकल्पों को पूर्ण करने के लिए दिशा प्राप्त करता है। एक कलाकार अनगढ़ पाषाण में छेनी और हथौड़े की सहायता से वीतराग प्रभु की मुद्रा अंकित कर देता है। एक चित्रकार विविध रंगों और तूलिका की सहायता से केनवास पर सुन्दर चित्र बना देता है। इसी प्रकार संस्कृति भी मनुष्य के अंतस्थ सौन्दर्य को प्रकट कर देती है। यही मनुष्य के आचार-विचार को बनाती और संवारती है। ये आचार-विचार और व्यवहार संस्कृति के मूल स्रोत के साथ संबद्ध होकर उसका परिचय देते हैं।

अतः जब हम संस्कृति का सम्बन्ध श्रमण सन्त के साथ करते हैं तो हमारे सामने श्रमण धर्म और उसके आचार-विचार स्पष्ट हो उठते हैं। श्रमण शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करने की दृष्टि से कहा गया है—“श्राम्यति तपः क्लेशं सहते इति श्रमणः।” अर्थात्—जो स्वयं तपश्चरण करते हैं तथा क्लेश को सहते हैं वे श्रमण कहलाते हैं, अतः श्रमण शब्द का सामान्य अर्थ है निर्ग्रन्थ (अपरिग्रही) मुनि और श्रमण संस्कृति का अर्थ हुआ वह संस्कृति जिसका सम्बन्ध निर्ग्रन्थ जैन मुनि से है तथा जिसके प्रस्तोता व प्रवर्तक निर्ग्रन्थ जैन मुनि हैं, और भी अधिक स्पष्ट रूप से इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—जिन आचार-विचार, आदर्शों और व्यवहारों का आचरण व उपदेश निर्ग्रन्थ जैन मुनियों के द्वारा किया गया है, वह श्रमण संस्कृति है। भगवान् ऋषभदेव प्रथम निर्ग्रन्थ मुनि हैं और वे ही प्रथम श्रमण हैं, अतः उनके द्वारा आचरित और उपदिष्ट जिन आचार-विचार, व्यवहार और आदर्शों का प्रचार-प्रसार व प्रचलन हुआ वही

संस्कृति श्रमण संस्कृति कहलाती है, दूसरे रूप में इसे जैन संस्कृति भी कहा जा सकता है।

श्रमण संस्कृति अथवा जैन संस्कृति में मानवता के वे उच्च आदर्श, आध्यात्मिकता के वे गूढतम रहस्यमय तत्त्व तथा व्यावहारिकता के वे अकृत्रिम सिद्धान्त निहित हैं जो मानव मात्र को चिरन्तन सत्य की अनुभूति व साक्षात्कार कराते हैं। मानवता के हित साधन में अग्रणी होने के कारण यह मानव संस्कृति भी कहलाती है।

श्रमण और श्रामण्य

“श्रमणस्य भावः श्रामण्यम्”—अर्थात् श्रमण के भाव को ही श्रामण्य कहते हैं, संसार के प्रति मोह या ममत्वभाव का पूर्णतः त्याग अथवा संसार से पूर्णतः संन्यास ग्रहण करना ही श्रामण्य कहलाता है और इस प्रकार के श्रामण्य से युक्त पुरुष श्रमण कहलाता है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि निर्ग्रन्थ जैन मुनि ही श्रमण होता है। श्रमण पंच महाव्रतों का पालक एवं समस्त सांसारिक वृत्तियों का परित्यक्त होता है। वह निष्कर्मभाव की साधना से पूर्ण एकाग्रचित्तपूर्वक आत्मचिन्तन में लीन रहता है, आडम्बरपूर्ण व्यावहारिकता एवं क्रिया-कलापों के लिए उसके जीवन में कोई स्थान नहीं रहता। सम्पूर्ण बाह्य जगत उसके लिए अन्धकारान्छन्न हो जाता है किन्तु उसका अन्तःकरण आत्मज्योतिपुंज से आलोकित हो जाता है जिससे वह संसार के समस्त भावों को अविच्छिन्न रूप से देख सकता है। विशुद्ध, परिपूर्ण एवं अव्याहृत केवल-ज्ञान उसमें सम्पूर्ण आत्मप्रदेश को आलोकित करता हुआ संसार की समस्त सीमाओं व बाधाओं को लांघकर श्रमण को त्रिकालदर्शी बनाकर परम उत्कृष्ट अर्हत् पद पर आसीन कर देता है। यही उसके श्रामण्य की चरम सीमा है।

श्रमण के जीवन में संयम एवं तपश्चरण के आचरण का विशेष महत्त्व है, उसका संयमपूर्ण जीवन उसे सांसारिक वृत्तियों की ओर अभिमुख

होने से रोकता है और तपश्चरण उसकी कर्मनिर्जरा में सहायक होता है। संयम के बिना वह तपश्चरण की ओर अभिमुख नहीं हो सकता और तपश्चरण के बिना उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में उसका मोक्षप्राप्ति हेतु आत्मसाधन का ध्येय अपूर्ण ही रह जाता है, अतः सुनिश्चित है कि संयम धर्म तपश्चरण का अनुपूरक है। इस विषय में आचार्यों के अनुसार—“इच्छानिरोधो तपः”— अर्थात्—इच्छाओं का निरोध करना तप कहलाता है, तप का यह लक्षण संयम और तप के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। क्योंकि इच्छाओं (इन्द्रियजनित वासनाओं) का निरोध करना ही संयम है और उसके सान्निध्य से विहित क्रियाविशेष ही तपश्चरण है।

संसार में समस्त इच्छाएँ और वासनाएँ इन्द्रियजनित होती हैं, इनकी अभिव्यक्ति सांसारिक व भौतिक क्षणिक सुखों के लिए होती है। इन इच्छाओं एवं वासनाओं को रोककर संसार के प्रति विमुखता इन्द्रियों को अपने अधीन करना तथा चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही संयमबोधक होती है। इस प्रकार के संयम का चरम विकास मनुष्य के मुनित्व जीवन में ही संभावित है, अतः संयमपूर्ण मुनित्व जीवन ही श्रामण्य का चोतक है।

श्रमण परम्परा के अनुसार आपेक्षिक दृष्टि से गृहस्थ को निम्न एवं श्रमण को उच्च स्थान प्राप्त है। किन्तु साधना के क्षेत्र में निम्नोच्च की कल्पना को किञ्चित् मात्र भी प्रश्रय नहीं दिया गया है। वहाँ संयम की ही प्रधानता है। इस विषय में उत्तराध्ययन में भगवान महावीर के निम्न वचन अनुकरणीय एवं दृष्टव्य हैं—“अनेक गृहत्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का संयम प्रधान है और उनकी अपेक्षा साधनाशील संयमी मुनियों का संयम प्रधान है।” इस प्रकार श्रमण संस्कृति में संयमपूर्ण साधना को ही विशेष महत्व दिया गया है। श्रमण परम्परा के अनुसार मोहरहित व्यक्ति गाँव में भी साधना कर सकता है, और अरण्य में भी। कोरे

वेशपरिवर्तन को श्रमण परम्परा कब महत्व देती है? साधना के लिए मात्र बाह्य वेष ही पर्याप्त नहीं है अपितु तदनुकूल विशिष्टाचरण भी अपेक्षित है।

अपने विशिष्टाचरण एवं त्याग भावना के कारण ही श्रमण सदैव गृहस्थ की अपेक्षा उच्च माना गया है, अतिचार रहित व्रतों का पालन करना ही उसका वैशिष्ट्य है, मनसा, वाचा और कर्मणा पांच महाव्रतों सहित सत्ताईस मूलगुणों तथा उत्तर गुणों का पालन व अनुशीलन उसकी आत्मा की शुद्धि व निर्मलता के लिए नितान्त आवश्यक है, इससे उसकी आत्मा निरन्तर सांसारिक कर्म बन्धन से मुक्त होकर मोक्षाभिमुख अग्रसर होता है।

श्रमण और गृहस्थ का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है—“वह पास भी नहीं है और दूर भी नहीं है, भोगी भी नहीं है और त्यागी भी नहीं है। जिसने भोग छोड़ा, किन्तु आसक्ति नहीं छोड़ी, अतः वह न भोगी है और न त्यागी है। भोगी इसलिए नहीं है कि भोग नहीं भोगता और त्यागी इसलिए नहीं है कि वह आसक्ति (भोग) की भावना का त्याग नहीं कर सका।”

“पराधीन होकर भोग का त्याग करने वाला त्यागी या श्रमण नहीं है, त्यागी या श्रमण वह है जो स्वाधीन भावनापूर्वक भोग से दूर रहता है।”

— दशवैकालिक २/२

आत्म-साधना के पथ पर आरूढ़ होकर निरन्तर पांच महाव्रतों का अखंड रूप से पालन करने वाला, दस धर्मों का सतत् अनुचिन्तन, मनन और अनुशीलन करने वाला, बाईस परीषद्भय तथा रत्नत्रय को धारण करने वाला, शुद्ध परिणामी, सरल स्वभावी, अन्तर्मुखी दृष्टि से आत्मसाक्षात्कार हेतु प्रयत्नशील तथा श्रमण धर्म को धारण करने वाला साधु ही श्रमण कहलाता है और निज स्वरूपाचरण में प्रमाद न होना उसका श्रामण्य है। श्रमण सदैव राग-द्वेष आदि विकार भावों से दूर रहता है। ये ही विकार सांसारिक मोह और ममता के मूल कारण हैं। इन

विकार भावों से श्रमण की आत्मसाधना में बाधा उत्पन्न होती है और वह अपने लक्ष्य से विचलित हो जाता है, इसी प्रकार क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार कषाय मनुष्य को सांसारिक बन्धन में बांधने वाले मुख्य मनोविकार हैं। आत्मस्वरूपान्वेषी साधक श्रमण सदैव इन कषायों का परिहार करता है, ताकि वह अपनी साधना से विचलित न हो सके। चंचल मन और विषयाभिमुख इन्द्रियों के पूर्ण नियन्त्रण पर ही श्रमण साधना निर्भर है। आत्मसाधक श्रमण के श्रामण्य की रक्षा के लिए इस प्रकार राग-द्वेष आदि विकार भाव, क्रोध आदि चार कषायों का परिहार करते हुए इन्द्रियों का दमन तथा मन का नियमन नितान्त आवश्यक है। श्रमणसंस्कृति की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता और ऐतिहासिकता के लिए काल गणना के अनुसार यद्यपि कोई काल निश्चित करना सम्भव नहीं है तथापि इसकी सर्वाधिक प्राचीनता निर्विवाद है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि यह संस्कृति अपने अक्षुण्ण स्वरूप के साथ अनादिकाल से सरित प्रवाह की भाँति भारत की वसुन्धरा पर प्रवाहित होती हुई मानव मात्र का कल्याण करती आ रही है, फिर भी ऐतिहासिक रूप से दृष्टिपात करने पर इस संस्कृति के आद्य प्रवर्तक के रूप में भगवान् ऋषभदेव की मान सकते हैं। भगवान् ऋषभदेव जैनधर्म के आदि तीर्थंकर हैं तथा वेदों व पुराणों द्वारा उनकी ऐतिहासिकता सुविदित है। भगवान् ऋषभदेव प्रथम श्रमण हैं। अतः श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक की दृष्टि से उनकी प्राचीनता ही श्रमण संस्कृति की भी प्राचीनता उतनी ही मानी जा सकती है। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि भारत के उत्तर पश्चिम से प्रविष्ट हुए आर्यों के साथ जो संस्कृति आई उसके पूर्व भी यदि यहाँ कोई संस्कृति थी तो वह श्रमण संस्कृति थी, बाहर से आए हुए आर्यों का अधिकार सप्तसिंधु तक ही था, पश्चात् वे आगे बढ़े तो उत्तर भारत में अयोध्या, हस्तिनापुर, मगध, काशी की प्राचीन

संस्कृति के साथ उन्हें संघर्ष करना पड़ा। उस प्राचीन संस्कृति का मूलतत्त्व आत्मा था। इस आत्मतत्त्व को अपनी संस्कृति में स्थान देने के लिए उपनिषदों की रचना की गई व और आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का आविष्कार किया गया, अतः यह निश्चित है कि आत्मा के सम्बन्ध में अन्य संस्कृतियाँ श्रमण संस्कृति से प्रभावित हैं।

श्रमण संस्कृति और श्रमणत्व की प्राचीनता की दृष्टि से कतिपय प्रमाणों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है, अतः कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं—

“नाभेः प्रियचिकीर्षयातद्वरोधायने मरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमण नामृषीणामूर्ध्वमथिना शुक्लया तनुमावततार।”

—भागवत पुराण ५/३/२

अर्थात् महाराज नाभि का प्रिय करने की इच्छा से उनके अन्तःपुर में महारानी मरुदेवी के गर्भ से श्रमण ऊर्ध्वगामियों का धर्म प्रकट करने के लिए वृषभदेव शुद्ध सत्वमय शरीर से प्रकट हुए।

भागवतकार ने आद्य मनु स्वायम्भुव के प्रपौत्र नाभि के पुत्र ऋषभ को निर्ग्रन्थ श्रमणों और ऊर्ध्वगामी मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता माना है, ऋषभदेव ने ही श्रमणधर्म को प्रकट किया था। उनके सौ पुत्रों में से नौ पुत्र श्रमणमुनि बने। भागवत में यही उल्लेख मिलता है—

नवाभवन् महाभाग मुनयो ह्यकेससिनः।

श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदाः॥

अर्थात् ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से नौ पुत्र जो बड़े भाग्यवान्, आत्मज्ञान में निपुण और परमार्थ के अभिलाषी थे, वे श्रमण वातरशना मुनि हुए, वे अनशन आदि तप करते थे।

यहाँ श्रमण शब्द से अभिप्राय है—“श्राम्यति तपः क्लेशं सहते इति श्रमणः।” अर्थात् जो स्वयं तपश्चरण करते हैं वे श्रमण होते हैं।

“वातरशना ह वा ऋषयः श्रमण ऊर्ध्वमथिनो बभूवुः।”

—तैत्तिरीयारण्यक २/७

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

२७६

सायण—“वातरशनाख्याः ऋषयः श्रमणास्तप-
स्विनः ऊर्ध्वमथिनः ऊर्ध्वरेतसः ।”

श्रमण ऋषि तप से सम्पूर्ण कर्म नष्ट करके
ऊर्ध्वगमन करने वाले हुए ।

सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाने पर जीव स्वभावतः
ऊर्ध्वगमन करता है और लोक के अन्त तक चला
जाता है । जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का ही
है और वह सदा इसके लिए प्रयत्नशील रहता है ।
किन्तु कर्मों का भार होने के कारण वह उतना ही
ऊर्ध्वगमन करता है जितना कर्मों का भार कम
रहता है, किन्तु जब कर्मों का भार बिलकुल हट
जाता है और जीव कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता
है तो अपने स्वभाव के अनुसार वह लोक के अन्त
तक ऊर्ध्वगमन करता है । यथा—“तदनन्तरमूर्ध्व
गच्छत्यालोकान्तात् ।” —तत्त्वार्थ सूत्र १०/५

जैन शास्त्रों में जहाँ पर भी मोक्ष का वर्णन
आया है वहाँ पर इसका विस्तार से कथन मिलता
है । सम्भवतः श्रमण वातरशना मुनियों के लिए
ऊर्ध्वमयी, ऊर्ध्वरेता कहने में वैदिक ऋषियों
को जैन शास्त्र सम्मत ऊर्ध्वगमन ही अभीष्ट रहा
हो ।

प्रस्तुत प्रसंग में बृहदारण्यकोपनिषत् का निम्न
उद्धरण भी प्रमाण की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण
है—

“श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽनन्वागतं पुष्येनानन्वा-
गतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान्छोकान् हृदयस्य
भवति ।” —बृहदा. ४/३/२२

श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते
हैं । उस समय यह पुरुष पुष्य से असम्बद्ध तथा
पाप से भी असम्बद्ध होता है और हृदय के सम्पूर्ण
शोकों को पार कर लेता है ।

“श्रमणः परिव्राट् यत्कर्म निमित्तो भवति, स
तेन विनिर्मुक्तत्वादश्रमणः”—शांकरभाष्य ।

श्रमण अर्थात् जिस कर्म के कारण पुरुष परिव्राट्

होता है, उससे मुक्त होने के कारण वह अश्रमण
हो जाता है ।

जैन शास्त्रों में गुणस्थान चर्चा के अन्तर्गत जो
मुनि क्षपक श्रेणी आरोहण करता है उसके सम्बन्ध
में भी लगभग ऐसा ही वर्णन आता है । श्रेणी
आरोहण करने वाला श्रमण मुनि पाप और पुण्य
दोनों से रहित हो जाता है और कषाय तथा घाति-
चतुष्क का नाश करके कैवल्य की प्राप्ति कर
लेता है ।

श्रमण प्रायः सतयुग में होते हैं ऐसी मान्यता
भागवतकार की है, यथा—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पादान् जनैर्धृतः ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृपः ॥
सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता वान्तास्तितिक्षवः ।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥

—भागवत १२/३/१८-१९

श्री शुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कृतयुग में
धर्म के चार चरण होते हैं—सत्य, दया, तप और
दान । इस धर्म को उस समय के लोग निष्ठापूर्वक
धारण करते थे । सतयुग में मनुष्य सन्तुष्ट, करुणा-
शील, मित्रभाव रखने वाले, शान्त, उदार, सहन-
शील, आत्मा में रमण करने वाले और समान
दृष्टि वाले प्रायः श्रमणजन ही होते थे ।

जैनाचार्य श्री जिनसेन ने आदिपुराण में कृत-
युग में ही ऋषभदेव का जन्म माना है । उस युग
का नामकरण ही ऋषभदेव के कारण हुआ और
वह कृतयुग कहलाया ।

युगादि ब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतोयुगः ।
ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥
आषाढमासबहुलप्रतिपादि विवसे कृती ।
कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥

—आदिपुराण १६/१८६-१९०

चूँकि युग के आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने
इस प्रकार कर्मयुग का आरम्भ किया था, इसलिए
पुराण के जानने वाले उन्हें कृतयुग नाम से जानते

हैं। कृतकृत्य भगवान ऋषभदेव आषाढ़ मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग का प्रारम्भ करके प्रजापति कहलाये।

जैन मान्यता के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने कर्म की भाँति धर्म का भी उपदेश दिया और जगत में उसका प्रचलन किया। उस समय कृतयुग था जब लोगों की प्रवृत्ति धर्म की ओर अधिक थी। जैन श्रमणमुनियों का सर्वत्र विहार था। यही बात भागवतकार भी कहते हैं। भागवत के उपर्युक्त श्लोकों में प्रायशः शब्द विशेष उल्लेखनीय है। उसका आशय यही है कि अधिकांश श्रमणों में ये गुण पाये जाते थे। प्रायः सभी श्रमणों का जीवन निष्पाप था और उनके जीवन में अनाचार नहीं था। इस प्रकार ऋषभदेव काल की जनता के आचार-विचारों के सम्बन्ध में दोनों परम्परा एकमत हैं।

ब्रह्मोपनिषद् में भी परब्रह्म का अनुभव करने वाले की दशा का जो वर्णन आया है उससे भी पूर्वोक्त आशय की पुष्टि होती है, यथा—

“श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापसः एकमेव तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम् ।”

—ब्रह्मोपनिषद्, पृ० १५१

श्रमण शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद के दशम मण्डल में उपलब्ध होता है। इस कथा में भी बृहदारण्य-कोपनिषद् की भाँति ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है।

तृदिला अतृदिलासो अद्रयो श्रमण अश्रुधिता अमृत्यवः। अनातुराः अजराः स्थामविष्णावः सुपविसो अतृपिता अतृष्णजः ॥

—ऋग्वेद १०/८/१४/११

सायण—“अश्रमणाः श्रमणवजिताः अश्रुधिताः अन्यैरश्रिथिलीकृताः अमृत्यवः अमारिताः अनातुराः अरोगाः अजराः जरारहिताः स्थमवय। किंच अप-विष्णवः उत्क्षेपणवक्षेपणगत्युपेताः हे आवाणः तृदिलाः अन्येषां भेदकाः अतृदिलासः स्वयमन्येना-भिन्नाः सुपविसः सुबलाः अतृषिताः तृषारहिताः अतृष्णजः निःस्पृहा भवय ।”

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

हे आदरणीय अश्रमण आप श्रमणरहित, दूसरों के द्वारा शिथिल न किये जा सकने वाले, मृत्यु-वजित, रोगरहित, जराररहित और उत्क्षेपण गति-युक्त हो, किंच आप भेदक (भेदविज्ञानी) किन्तु दूसरों से भेदन न किये जा सकने वाले बलवान, तृष्णारहित और निर्मोह हो।

उपर्युक्त सूक्त का अभिप्राय यह है कि जिस चारित्र्य से मनुष्य श्रमण कहलाता है उससे मुक्त अर्थात् आत्मस्थ होने पर वह श्रमण कहलाता है, शिथिलाचार रहित तथा मृत्यु, भय, बुढ़ापा, तृष्णा और लोभ से रहित कोई भी श्रमण, तपस्वी अन्त-मुहूर्त से अधिक काल तक आत्मध्यान के बिना नहीं रह सकता, किंच श्रमविष्णवः (उत्क्षेपणावक्षेप-णगत्युपेता) बार-बार ऊपर नीचे गुणस्थान में चढ़ता उतरता रहता है। इसके अतिरिक्त निर्मोही, निस्पृह, दुखों और संशयों से रहित, इन सब में बलवान होने से वह आदर योग्य और सबसे भिन्न होता है।

वैदिक काल में श्रमण शब्द का अधिक महत्त्व रहा है, वैयाकरण अत्यन्त अनिवार्य स्थिति में ही किसी शब्द विशेष के लिए नियम बनाते थे, अन्यथा नहीं। श्रमण शब्द के सम्बन्ध में व्याकरण ग्रन्थों में विशेष नियम उपलब्ध होता है, इससे श्रमण शब्द का महत्त्व स्वतः सिद्ध होता है। सर्वप्रथम शाकटायन में ऐसा नियम बनाया गया है—

“कुमारः श्रमणादिना” —शाकटायन २/१/७८

श्रमण शब्द के साथ कुमार और कुमारी शब्द की सिद्धि विषयक यह सूत्र है, उस काल में कुमार श्रमण ऐसे पद लोक प्रचलित थे। यह शब्द संज्ञा उस तापसी के प्रचलित थी जो कुमारी अवस्था में श्रमणा (आयिका) बन जाती थी। श्रमणादि गण-पाठ के अन्तर्गत कुमार प्रव्रजिता, कुमार तापसी जैसे विभिन्न शब्दों से यह सिद्ध होता है कि उस समय कुमारियाँ प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं, यह लोक विश्रुत था। भगवान ऋषभदेव की ब्राह्मी और

२८१

सुन्दरी दोनों पुत्रियों ने कुमारी अवस्था में ही श्रमणा पद ग्रहण किया था। विवाह के लिए समुच्चत राजीमती भी नेमिनाथ द्वारा दीक्षा लेने पर श्रमणा (आयिका) बन गई थीं। तीर्थकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ने भी कुमार अवस्था में ही श्रमण दीक्षा ग्रहण की थी। स्वयं शाकटायन भी श्रमण संघ के आचार्य थे। जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

“महाश्रमण संघाधिपतिर्यः शाकटायनः”

—शाकटायन व्याकरण चि० टीका १

प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी का निम्न सूत्र भी दृष्टव्य है—

“कुमारः श्रमणादिभिः”—अष्टाध्यायी २/१/७०

“येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमणब्राह्मणम्” —पातजल महाभाष्य ३/४/६

पाणिनी के इस सूत्र का यह उदाहरण है, जिनका शाश्वत विरोध है यह सूत्र का अर्थ है। यहाँ जो विरोध शाश्वतिक बतलाया है वह किसी हेतु विशेष से उत्पन्न नहीं हुआ। शाश्वतिक विरोध सैद्धान्तिक ही हो सकता है। क्योंकि किसी निमित्त से होने वाला विरोध उस निमित्त के समाप्त होने पर दूर हो जाता है। किन्तु महर्षि के शाश्वतिक पद से यह सिद्ध होता है कि श्रमणों और ब्राह्मणों का कोई विरोध है जो शाश्वतिक है। इस आशय से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि ब्राह्मण वैदिक धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए एकेश्वरवाद तथा ज्ञान से मुक्ति मानते जबकि श्रमण परम्परा अनेकेश्वर तथा अनेकान्त सिद्धांत के आधार पर अनासक्ति, त्याग और कठोर तपश्चरण के द्वारा कर्मों की निर्जरापूर्वक मुक्ति को मानते हैं, उनके अनुसार सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य से ही मोक्ष की उपलब्धि सम्भव है। इसके अतिरिक्त श्रमण विचारधारा के अन्तर्गत ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व स्वीकार नहीं किया गया है। श्रमण और ब्राह्मणों का यही सैद्धान्तिक विरोध शाश्वतिक कहा जा सकता है।

२८२

वस्तुतः ज्ञान और क्रिया का संयुक्त रूप ही मोक्ष का हेतु है, जैसा कि कहा गया है—“ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः इति सर्वज्ञोपदेशः”—सूत्रार्थ मुक्तावलि ४५

ब्राह्मणा भुंजते नित्यं नाथवन्तश्च भुंजते ।

तापसा भुंजते चापि श्रमणाच्चं भुंजते ॥

—वाल्मीकि रामायण वा०

यहाँ नित्यप्रति बहुत से ब्राह्मण, नाथवन्त, तपस्वी और श्रमण भोजन करते हैं।

इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही—श्रमणसंस्कृति की अविच्छिन्न, परम्परा वैदिक काल में पर्याप्त विकसित तथा पूर्णता प्राप्त थी, उस समय इसके अनुयायियों को संख्या भी अपेक्षा दृष्टि से बहुत अधिक थी, वर्तमान में मोहन जोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त सांस्कृतिक अवशेषों में अनेक ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जिससे जैनधर्म और श्रमण संस्कृति की प्राचीनता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है, अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से यह तथ्य सिद्ध है कि वैदिक युग में ब्राह्मणों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म ने किया। धर्म, दर्शन, संस्कृति, नीति, कला और शिल्प की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनधर्म का विशेष योग रहा है।

जैनधर्म और श्रमण संस्कृति के सम्बन्ध का जहाँ तक प्रश्न है वह सर्वथा निर्मूल एवं अव्यावहारिक है, क्योंकि दो वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध केवल वहाँ होता है जहाँ दो वस्तुओं में पृथकता या भिन्नता होती है, यहाँ श्रमण संस्कृति वस्तुतः जैनधर्म से भिन्न या पृथक् नहीं है, दोनों में शाब्दिक भिन्नता अवश्य है। दोनों अभिन्न और एक हैं। जैनधर्म के कारण श्रमण संस्कृति का आध्यात्मिक पक्ष इतना समुज्ज्वल और लोक कल्याणकारी हुआ है, यही कारण है कि यह संस्कृति जैन संस्कृति के नाम से भी व्यवहृत होती व जानी

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

जाती है, जैनधर्म में श्रमण शब्द का व्यापक व्यवहार तथा श्रमणों के आचार-विचार के कारण ही जैनधर्म के सांस्कृतिक स्वरूप ज्ञापन करने की दृष्टि से लोक व्यवहार में उसका व्यवहार श्रमण संस्कृति के नाम से किया जाने लगा। निग्रन्थ जैन साधु का आचरण करने वालों के लिए प्राचीनकाल में श्रमण शब्द इतना अधिक प्रचलित और प्रसिद्धि प्राप्त हुआ कि उसके आधार पर तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक परम्परा एवं विचारधारा को श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाने लगा।

श्रमण संस्कृति का स्वरूप एवं व्यापकता

श्रमण संस्कृति का स्वरूप सदैव व्यापक रहा है, पारस्परिक भेदभाव एवं विरोध की भावना ने इस संस्कृति में कभी प्रथय नहीं पाया। यही कारण है कि प्राणि मात्र में समता भाव का आदर्श प्रस्तुत करने का श्रेय मात्र श्रमण संस्कृति को ही लब्ध हो सका है। समता के आदर्श का मुख्य आधार है सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त (व्यापक दृष्टिकोण) तथा पारस्परिक स्नेह, प्रेम और सौहार्द का भाव। मनुष्य में इन भावों का प्रत्युद्गमन उसकी उस मानसिक निर्मल वृत्ति का परिचायक है जो क्रमशः द्वेष, ईर्ष्या और व क्रोधरहित भाव के जन्म का हेतु है, यही भाव मानव सुलभ वृत्ति के प्रतिपादक होते हैं, जो जीवन की वैषम्यपूर्ण स्थिति में समत्व वृत्ति की प्रेरणा प्रदान करते हैं। यही समत्ववृत्ति मानव-जीवन में आने वाली विपत्तियों और जीवन-यापन की दुरुहता का समूलोच्छेद करने में सहायक होती है।

प्राणियों में पारस्परिक भय से समुत्पन्न मन-स्थिति ही अनेक विषमभावों की जन्मदात्री है, जब तक जीवन में भयपूर्ण स्थिति का पूर्णतः उच्छेद नहीं हो जाता तब तक समत्ववृत्ति का भाव मानव मानस में उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। जीवन में निर्भयता, ऋजुता और समता भाव की प्रेरणा केवल अहिंसा से ही प्राप्त होती है। यह अहिंसा ही श्रमण संस्कृति का मूल है, वर्तमान में प्राणियों ने

अपने समाज में अपने निम्नोच्च एवं कलुषित भावों के आधार पर कुछ इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रथय दे रखा है जिसके कारण उसके आचरण एवं व्यवहार से दूसरों में निर्भयता उत्पन्न नहीं हो पाती। यही कारण है कि सभी प्राणी अपने सजातीय अथवा विजातीय प्राणियों से सदा भयभीत एवं शंकाशील बने रहते हैं। समाज की यह स्थिति हिंसापूर्ण वृत्ति या आचरण की परिचायक है। प्राणियों को इस प्रकार की वृत्ति से मुक्त करना तथा उनमें समत्वभाव उत्पन्न करना ही श्रमण संस्कृति का मूल है। इसका सैद्धान्तिक, वैचारिक एवं व्यवहारिक रूप ही श्रमण संस्कृति का परिचायक तथा उसकी व्यापकता का द्योतक है।

मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष को समुज्ज्वल बनाने वाली श्रमण संस्कृति वस्तुतः भारतीय संस्कृति की वह प्रमुख धारा है जिसे अतीत और वर्तमान में पीड़ित एवं कराहती हुई मानवता को आश्रय प्रदान कर हितहित विवेक द्वारा आत्म-कल्याण करने तथा भूले व भटके हुए प्राणियों को सन्मार्ग में लाकर जीवन का अन्तिम लक्ष्य बतलाने का श्रेय प्राप्त है। श्रम-त्याग-तपस्या-शम-इन्द्रिय विषय-कषायनिग्रह—समताभाव तथा मन-आत्मा की निर्मलता, पवित्रता तथा सांसारिक विषयों के प्रति अनासक्ति भाव का संयुक्त रूप ही श्रमण संस्कृति का वह व्यापक स्वरूप है जो 'सर्वजनहिताय' की पावन भावना से परिपूर्ण है।

आध्यात्मिक अथवा आत्मवादी होने के कारण श्रमण संस्कृति ने भारतीय जन-जीवन को अमूल्य देन दी है। निवृत्तिपरक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तथा इस परिभ्रमणशील संसार से आत्मा की मुक्ति के लिए जितना जोर श्रमण संस्कृति ने दिया है, उतना किसी अन्य संस्कृति ने नहीं दिया। श्रमण स्वभावतः मुमुक्षु होता है और उसके लिए अपनी आत्मा की मुक्ति प्रधान लक्ष्य है। इसीलिए श्रमण संस्कृति में आत्मतत्व व मोक्षतत्व मुख्य विचारणीय (शेषांश पृष्ठ २८६ पर देखें)

आदि तीर्थंकर श्री आदिनाथ के युग में ऋजु और जड़ अधिक थे और अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान महावीर के इस युग में वक्र और जड़ जन अधिक हैं।

पाँच महाव्रतों का विधान

व्याख्या प्रज्ञप्ति के विधानानुसार इन दोनों युगों में श्रमणों के लिए पाँच महाव्रतों की परिपालना अनिवार्य मानी गई है।

पाँच महाव्रत

प्रथम—अहिंसा महाव्रत

द्वितीय—सत्य महाव्रत

तृतीय—अचौर्य महाव्रत

चतुर्थ—ब्रह्मचर्य महाव्रत

पंचम—अपरिग्रह महाव्रत।

अर्हन्त आदिनाथ के युग में सरलता और जड़ता के कारण और श्रमण महावीर के तीर्थ में वक्रता और जड़ता के कारण पाँच महाव्रत पृथक्-पृथक् कहे गए हैं।

जिस युग में सरल और जड़ मानव अधिक होते हैं या जिस युग में वक्र और जड़ मानव अधिक होते हैं उस युग में पाँच महाव्रतों का प्ररूपण किया गया है।

यद्यपि इन दोनों युगों में ऋजु और प्राज्ञ जन भी विद्यमान रहे हैं फिर भी महाव्रतों की आराधना का विधान बहुसंख्यक जनों की अपेक्षा से ही किया जाता है।

अर्हन्त आदिनाथ के शासनकाल में गणधरादि अनेक स्थविर श्रमण ऋजु और प्राज्ञ भी रहे थे किन्तु श्रमण प्रव्रज्या स्वीकार करने वाले श्रमणों में ऋजु और जड़ जन ही अधिक थे।

इसी प्रकार अर्हन्त वर्धमान महावीर के धर्मशासनकाल में अनेक गणधरादि स्थविर ऋजु और प्राज्ञ रहे हैं किन्तु श्रमण संघ में प्रव्रजित होने वालों की अधिक संख्या वक्र और जड़ों की ही थी और है।

निष्कर्ष यह है कि संघ में अधिक संख्या ऋजु जड़ों की होती है या वक्र जड़ों की होती है तो उसी के अनुरूप महाव्रतों की धारणा एवं परिपालना आदि के विधान होते हैं।

अन्तर केवल यह है कि ऋजु-जड़ श्रमणादि जड़ होते हुए भी ऋजुता की विशिष्टता से वे संयम-साधना में सफलता प्राप्त करके शिव पथ के पथिक होकर सिद्ध पद प्राप्त कर लेते थे। किन्तु इस आरक के वक्र जड़ श्रमण वक्रता एवं जड़ता की अशिष्टता के कारण

महाव्रतों का युगानुक्रम परिवर्तन

—श. प्र. मुनि कर्मभालाल 'कमल'

न संयम साधना में सफल होते हैं और न वे शिव पथ के पथिक बनकर मुक्त होते हैं क्योंकि संयम साधना की सफलता में सबसे बड़ी बाधा वक्रता एवं जड़ता की ही है।

चार यामों (महाव्रतों) का विधान

अहंन्त अजितनाथ से लेकर अहंन्त पार्श्वनाथ तक के सभी संघों में अधिक जनसंख्या ऋजु प्राज्ञ जनों की ही रही थी। वे प्राज्ञ (विशेषज्ञ) होते हुए भी ऋजु—सरल (स्वभावी होते) थे। विशेषज्ञ होकर सरल होना अति कठिन है। यह उस काल की शिष्टता ही थी।

उस मध्यकाल में ऋजु-जड़ जन और वक्र-जड़ जन भी होते थे किन्तु अत्यल्प।

ऋजु-प्राज्ञ श्रमण गणों की संयम-साधना अधिक से अधिक सफल होती थी और वे उसी भव में या कुछ भवों की सतत् संयम-साधना के बाद मुक्त हो जाते थे। अतएव ऋजु-प्राज्ञ श्रमणों के लिए चार यामों (महाव्रतों) की परिपालना का विधान था। उस युग में "याम" शब्द महाव्रतों के लिए प्रचलित था।

चार याम

प्रथम याम—अहिंसा महाव्रत

द्वितीय याम—सत्य महाव्रत

तृतीय याम—अस्तेय महाव्रत

चतुर्थ याम—अपरिग्रह महाव्रत

उस मध्य युग में ब्रह्मचर्य महाव्रत, अपरिग्रह महाव्रत के अन्तर्गत समाविष्ट मान लिया गया था—क्योंकि वे प्राज्ञ होने के कारण संक्षिप्त कथन से भी आशय को समझ लेने वाले थे।¹

तीन यामों (महाव्रतों) का विधान

आचारांग में महाश्रमण महावीर प्ररूपित तीन याम का विधान भी है। किन्तु किस काल में तीन यामों का परिपालन प्रचलित रहा यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता।

तीन याम

प्रथम याम—अहिंसा महाव्रत

द्वितीय याम—सत्य महाव्रत

तृतीय याम—अपरिग्रह महाव्रत।

अस्तेय महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत ये दोनों अपरिग्रह महाव्रत के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिए गए थे।²

इस युग के अनुरूप महाव्रतों का विधान

यदि इस युग के श्रमण 'जहावाई तहाकारी' याने जैसा कथन वैसा आचरण करना चाहें तो उनके लिए सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इन तीनों का पालन ही पर्याप्त है।

इस युग के कुछ ऋजु प्राज्ञ श्रमण पाँचों महाव्रतों का परिपूर्ण पालन अवश्य करते हैं। प्रचलित परम्परा के अनुसार ऐसा मान लेना अनुचित भी नहीं है किन्तु नीचे लिखी प्रवृत्तियों का जब तक पूर्ण त्याग न हो तब तक आगमानुसार पाँचों महाव्रतों का या सम्पूर्ण जिनाज्ञा का पालन कैसे सम्भव हो सकता है।

(१) प्रतिबद्ध उपाश्रयों में ठहरना अर्थात् गृहस्थों के घरों की छत से संलग्न उपाश्रयों में ठहरना,

(२) लेखों का, निबन्धों का ग्रन्थों का मुद्रण हेतु संशोधन-सम्पादन करना,

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक २० उद्देशक ८

२. आचारांग धृतस्कन्ध १, अध्यायन ८, उद्देशक १

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

२८५

(३) सजिल्द मुद्रित पुस्तकें रखना एवं उनकी प्रतिदिन उभय काल प्रतिलेखना न करना,

(४) कोई आवे नहीं और कोई देखे नहीं ऐसी स्थण्डिल भूमि के बिना मल-मूत्रादि का परित्याग करना,

(५) बिना किसी अपवाद कारण के दूध आदि विकृतियों का तथा विकृतियुक्त आहारों का सेवन करना इत्यादि संयम को शिथिल करने वाली प्रवृत्तियों का पूर्ण निग्रह करने वाले ही सर्वथा सर्व-विरत माने जा सकते हैं।

व्याख्याप्रप्ति में

परिस्थितिवश मूलगुण में, उत्तरगुण में दोष लगाने वाले पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील को निर्ग्रन्थ कहा गया है।

उसके निर्ग्रन्थ जीवन की स्थिति यावज्जीवन की कही गई है। उनमें तीन शुभ लेश्यायें कही हैं।

इसी प्रकार संघ हित आदि कारणों से न्यूनाधिक दोष लगाने वाले एवं प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले इस युग के श्रमण-श्रमणियाँ भी आराधक हैं।

—व्याख्या० श० २५, उ० ६

(श्रमण संस्कृति : शेषांश पृष्ठ २८३ का)

विषय रहे हैं। अपने व्यापक एवं कल्याणकारी दृष्टिकोण के द्वारा श्रमण संस्कृति ने प्राणिमात्र की आत्म-कल्याणपूर्वक श्रेयोमार्ग पर अग्रसर होने के लिए अपूर्व संदेश दिया है। यही वह मार्ग है जिसका अनुसरण कर प्रत्येक जीवात्मा लोकोत्तर, चरम, यथार्थ, और अक्षय सुख की अनुभूति कर सकता है।

इस रूप से मानवता के लिए सबसे बड़ी देन श्रमण संस्कृति—जैन संस्कृति है जिसे हम मानव संस्कृति भी निःसंकोच भाव से कह सकते हैं, क्योंकि इस संस्कृति का मानवता से सीधा सम्बन्ध है, समस्त मानवीय गुणों के विकास के लिए श्रमण संस्कृति द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त प्राणिमात्र के प्रति समता का अद्भुत आदर्श प्रस्तुत करते हैं। परोपदेश की अपेक्षा स्वयं आचरण के लिए इसमें विशेष जोर दिया गया है, इसके अनुसार प्रत्येक चेतनाधारी जीव को अपनी चेतनता के विकास का पूर्ण अधिकार है। कोई भी प्राणी किसी एक ईश्वर

की शरण में न जाकर स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा नर से नारायण बन सकता है, उसकी आत्मा में स्वयं अपने विकास एवं चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने की अपूर्व क्षमता है। आत्मा की दृष्टि से कोई भी प्राणी किसी अन्य प्राणी की अपेक्षा न तो छोटा है और न बड़ा किन्तु वह अपने राग-द्वेष आदि आदि वैकारिक भावों के कारण विभिन्न योनियों में जन्म लेकर छोटे-बड़े शरीर को प्राप्त करता है तथा अनेकानेक दुःखों को भोगता है, जब इसके राग-द्वेष आदि विकारभाव नष्ट हो जाते हैं उसकी आत्मा निर्मल होकर दिव्यज्ञान के प्रकाश से आलोकित होकर अपने शुद्ध चैतन्यमय स्वरूप को प्राप्त कर इस संसार से सदा के लिए मुक्त हो जाती है।

इस प्रकार यह मानव संस्कृति अपने निर्मल प्रवाह से प्राणिमात्र को कल्याण का मार्ग बतलाते हुए अजस्ररूप से भारत की भूमि को पावन करते हुए प्रवाहित हो रही है। □

—भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्
१ ई/६ स्वामी रामतीर्थ नगर
नई दिल्ली-११००५५

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में एक आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर को छोड़कर सर्वसम्मत मत है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते जबकि दिगम्बर मान्यता में अधिकांश आचार्यों का मत है कि ये दोनों उपयोग युगपत् ही होते हैं। परन्तु श्वेताम्बर आगम व ग्रंथों में अपनी मान्यता का प्रतिपादन करने वाले स्पष्ट सूत्र मेरे देखने में नहीं आये, प्रायः अर्थापत्ति अनुभव से ही यह मान्यता पुष्ट करते हैं। इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा के आगम 'कषाय पाहुड' आदि ग्रन्थों एवं इनकी टीकाओं में दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते इसके अनेक स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं, इन्हीं में से कुछ यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

(क) गुणधराचार्य प्रणीत कषायपाहुड मूल ग्रन्थ की गाथा १५ से लेकर २० गाथा तक जिन मार्गणाओं के अल्प बहुत्व के रूप में जघन्य और उत्कृष्ट काल कक्षा गया है। इसमें उत्कृष्ट काल के अल्पबहुत्व में कहा गया है—

चक्षुदर्शनोपयोग के उत्कृष्ट काल से चक्षु ज्ञानोपयोग का काल दूना है। उससे श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा इन्द्रियों का ज्ञानोपयोग, मनोयोग, वचनयोग, काययोग आदि स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञानोपयोग का उत्कृष्ट काल क्रमशः विशेष अधिक है। स्पर्शनेन्द्रिय के ज्ञानोपयोग से अवायज्ञान का उत्कृष्ट काल दूना है। अवायज्ञानोपयोग के उत्कृष्ट काल से ईहा-ज्ञानोपयोग का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे श्रुतकाल का उत्कृष्ट काल दूना है। श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट काल से श्वासोच्छ्वास का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, कषाय सहित जीव के शुक्ल लेश्या का उत्कृष्ट काल स्वस्थान में समान होते हुए भी प्रत्येक का उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वास से विशेष अधिक है। केवलज्ञान के उत्कृष्ट काल से एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इनसे पृथक्त्व वितर्क सवीचार ध्यान का काल दूना है। इससे प्रतिपाती सूक्ष्म सांपराय, उपशम श्रेणी में चढ़ने वाले का सूक्ष्म सांपराय, क्षपक का सांपराय का उत्कृष्ट काल क्रमशः विशेष अधिक है। सूक्ष्म सांपरायिक जीव के उत्कृष्ट काल से मान कषाय का उत्कृष्ट काल दूना है। इससे क्रोध, माया, लोभ, क्षुद्रभव-ग्रहण, कृष्टिकरण, संक्रामक, अपवर्तना का उत्कृष्ट काल क्रमशः विशेष अधिक है। इससे उपशांत कषाय का काल दूना है। इससे क्षीण कषाय का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे चारित्रमोहनीय के उपशामक का उत्कृष्ट काल दूना है। इससे चारित्र मोहनीय के क्षपक का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

केवलज्ञान और केवलदर्शन, दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते

—कन्हैयालाल जोषा

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि दर्शनोपयोग सभी इन्द्रियों, मन, वचन, काया, अवाय और ईहा व श्रुतज्ञान इनका उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल से कम होता है और केवलज्ञानोपयोग व केवलदर्शनोपयोग का उत्कृष्ट काल एक श्वासोच्छ्वास से अधिक और दो श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल से कम होता है। अर्थात् दो श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल के भीतर में केवलज्ञान व केवलदर्शन का उपयोग बदल जाता है। अतः जहाँ केवलज्ञान व केवलदर्शन के उपयोग का काल अन्तर्मुहूर्त दिया है वहाँ यह अन्तर्मुहूर्त दो श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल से कम ही समझना चाहिए। यह काल सूक्ष्म सांपराय, क्रोध, मान, माया, लोभ क्षुद्रभव ग्रहण काल से भी कम है। यह सूत्र के आगे के भाग से स्पष्ट है। इन्हीं गाथाओं की टीका के प्रसंग में आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने उस समय विद्यमान अन्य प्रमाण केवलज्ञान व केवलदर्शन के युगपत् नहीं होने को पुष्ट करने वाले दिये हैं यथा—

केइं भणति जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणोत्ति ।
सुत्तमवलंवमाणा तित्थयरासायणा मीरू ॥ (३४) ॥

—कषायपाहुड पुस्तक ।

अर्थात् तीर्थंकर की आसादना से डरने वाले आचार्य 'जं समयं जाणत्ति नो तं समयं पासति जं समयं पासति तं नो समयं जाणति'

इस प्रकार के सूत्र का अवलंबन लेकर कहते हैं कि जिन भगवान् जिस समय जानते हैं उस समय देखते नहीं हैं और जिस समय देखते हैं उस समय जानते नहीं हैं ।

—कषायपाहुड पुस्तक, पृष्ठ ३२०

(ख) "केवलगाण केवलदंसणाण मुक्कस्स उवजोम कालो अंतोमुहुत्तमेत्तो त्ति भणित्ते तेण णव्वदे जहा केवलगाण दंसणाणामुक्कमेण उत्तीण होदि त्ति ।"

—कषायपाहुड पुस्तक, पृष्ठ ३१६

अर्थात् चूँकि केवलज्ञान और केवलदर्शन का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कहा है, इससे जाना जाता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती। यदि केवलज्ञान और केवलदर्शन की एक साथ प्रवृत्ति मानी जाती तो तद्भवस्थ^१ केवली के केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नहीं होना चाहिए किन्तु कुछ कम पूर्व कोटि प्रमाण होना चाहिए क्योंकि गर्भ से लेकर आठ वर्ष काल के बीत जाने पर केवलज्ञान सूर्य की उत्पत्ति देखी जाती है ।

उपर्युक्त विवेचन में 'केवलज्ञान व केवलदर्शन के उपयोग का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त होता है।' ये मूल वाक्य जिज्ञासा के रूप में कहे गये हैं। परंतु जिज्ञासा का समाधान करते हुए टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने इन सूत्र वाक्यों को न तो नकारा है और न अप्रामाणिक या मिथ्या कहा है प्रत्युत इन्हें स्वीकृति प्रदान कर आगे भी पुष्ट किया है ।

(ग) असरीरा जीवधणा उवज्जुत्ता दंसणे य णाणे य ।
सायारमगायारं लक्खणमेयं तुंसिदाणं ॥ (१७) ॥
२-६-५६ धवला ७, पृष्ठ ६८.

अशरीर अर्थात् कायरहित शुद्ध जीव प्रदेशों से घनीभूत, दर्शन और ज्ञान में अनाकार और साकार रूप से उपयोग रखने वाले होते हैं, यह सिद्ध जीवों का लक्षण है ।

इस गाथा से यह प्रमाणित होता है कि 'सिद्धों' में भी ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग होते हैं। यदि सिद्धों में ये दोनों उपयोग युगपत् होते तो इनका उत्कृष्ट काल 'अनन्त काल' होना चाहिये था कारण कि सिद्ध जीव का काल अनन्त व शाश्वत होता है। परन्तु कषाय पाहुड की मूल गाथा में केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग का उत्कृष्ट काल दो श्वास से कम अर्थात् अन्तर्मुहूर्त ही

१ ध्यान रहे कि मूल गाथा में तद्भवस्थ शब्द नहीं है ।

बताया गया है जो दोनों उपयोगों के युगपत् न मानने पर ही सम्भव है ।

यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने की है कि जैनागमों में कहीं यह नहीं कहा है कि ज्ञान के समय दर्शन नहीं होता है और दर्शन के समय ज्ञान नहीं होता है प्रत्युत यह कहा है कि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दोनों उपयोग किसी भी जीव को एक साथ नहीं होते । क्योंकि ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण आत्मा के लक्षण हैं । अतः ये दोनों गुण आत्मा में सदैव विद्यमान रहते हैं । इनमें से किसी भी गुण का कभी अभाव नहीं होता है । यदि ज्ञान या दर्शन गुण का अभाव हो जाये तो चेतना का ही अभाव हो जाये; कारण कि गुण के अभाव होने पर गुणी के अभाव हो जाने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है । अतः चेतना में ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण सदैव विद्यमान रहते हैं । परन्तु उपयोग इन दोनों गुणों में से किसी एक ही गुण का होता है ।

उपर्युक्त तथ्य से यह भी फलित होता है कि ज्ञान गुण और ज्ञानोपयोग एक नहीं है तथा दर्शन गुण और दर्शनोपयोग एक नहीं है, दोनों में अन्तर है जैसा कि षट्खंडागम की ध्वला टीका पु० २, पृष्ठ ४११ पर लिखा है:— स्व पर ग्रहण करने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं । यह उपयोग ज्ञान मार्गणा और दर्शनमार्गणा में अन्तर्भूत नहीं होता है । इसी प्रकार पन्नवणा सूत्र में भी ज्ञान और दर्शन द्वार के साथ उपयोग द्वार को अलग से कहा है । तात्पर्य यह है कि गुणों की उपलब्धि का होना और उनका उपयोग करना ये दोनों एक नहीं हैं, दोनों में अन्तर है । जैसा कि कषायपाहुड में कहा है :—

दंसणणाणावरणवखाए समाणम्मि कस्स होइ पुब्बवरं ।
होज्ज समोउप्पाओ दुवे णत्थि उवजोगा ॥१३७॥
—कषायपाहुड पुस्तक (१) पृष्ठ ३२१

अर्थात् दर्शनावरण और ज्ञानावरण का क्षय एक साथ होने पर पहले केवलदर्शन होता है या केवलज्ञान । ऐसा पूछा जाने पर यही कहना होगा कि दोनों की उत्पत्ति एक साथ होती है पर इतना निश्चित है कि केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग ये दो उपयोग एक साथ नहीं होते हैं ।

इस गाथा से यह फलित होता है कि दोनों आवरणीय कर्मों के एक साथ क्षय होने से केवल-ज्ञान और केवलदर्शन इन दोनों गुणों का प्रकटीकरण तो एक साथ होता है और आगे भी दोनों गुण साथ-साथ ही रहते हैं, परन्तु प्रवृत्ति किसी एक गुण में होती है । गुण लब्धि रूप में होते हैं और उस गुण में प्रवृत्त होना उसका उपयोग है ।

आशय यह है कि उपलब्धि और उपयोग ये अलग-अलग हैं । अतः इनके अन्तर को उदाहरण से समझें :—

मानव मात्र में गणित, भूगोल, खगोल, इतिहास, विज्ञान आदि अनेक विषयों के ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है परन्तु किसी ने गणित व भूगोल इन दो विषयों का ज्ञान प्राप्त किया है तो उसे इन दोनों विषयों के ज्ञान की उपलब्धि है यह कहा जायेगा और अन्य विषयों के ज्ञान की उपलब्धि उसे नहीं है यह भी कहा जायेगा । गणित और भूगोल इन दो विषयों में से भी अभी वह गणित का ही चिन्तन या अध्यापन कार्य कर रहा है, भूगोल के ज्ञान के विषय में कुछ नहीं कर रहा है तो यह कहा जायेगा कि यह गणित के ज्ञान का उपयोग कर रहा है, और भूगोल के ज्ञान का उपयोग नहीं कर रहा है ।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे अभी भूगोल के ज्ञान का अभाव है । उसे इस समय भी भूगोल का ज्ञान उपलब्ध है, इतना अवश्य है कि इस समय उसका उपयोग नहीं कर रहा है । एक दूसरा उदाहरण और लें—एक धनाढ्य व्यक्ति में अनेक वस्तुओं के क्रय करने की क्षमता है परन्तु

उसने रेडियो और टेलीविजन ही खरीदा है तथा इस समय यह रेडियो चला रहा है, टेलीविजन नहीं चला रहा है तो यह कहा जायेगा कि उस धनाढ्य व्यक्ति में क्षमता तो अनेक वस्तुओं को प्राप्त करने की है, उपलब्धि उसे रेडियो और टेलीविजन दोनों की है और उपयोग वह रेडियो का कर रहा है। यह क्षमता, उपलब्धि और उपयोग में अन्तर है।

उपलब्धि और उपयोग के हेतु भी अलग-अलग हैं। उपलब्धि या लब्धि, कर्मों के क्षयोपशम या क्षय से होती है और उपयोग लब्धि के अनुगमन करने रूप व्यापार से होता है। जैसा कि उपयोग की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रतिव्यापार्यते जीवो-
ऽनेनेत्युपयोगः—प्रज्ञापना २४ पद। अर्थात् वस्तु के जानने के लिये जीव के द्वारा जो व्यापार किया जाता है, उसे उपयोग कहते हैं।

“उभय निमित्त वशादुत्पद्यमान श्वेतन्यानु-
विधायी परिणामः उपयोगः इन्द्रिय फलमुपयोग”
सर्वार्थसिद्धि अ०२ सूत्र ६ व १८ अर्थात् जो अंतरंग
और बहिरंग दोनों निमित्तों से होता है और चैतन्य
का अनुसरण करता है ऐसा परिणाम उपयोग है।
अथवा इन्द्रिय का फल उपयोग है अथवा “स्व-पर
ग्रहण परिणाम उपयोगः” ध्वलाटीका पु० २ पृ० ४१
अर्थात् स्व-पर जो ग्रहण करने वाला परिणाम
उपयोग है।

वस्तु निमित्तो भावो जादौ जीवस्स होदि उवओगो।

—पंचसंग्रह प्रा. १/१६८

अर्थात् वस्तु ग्रहण करने के लिए जीव के भाव
का प्रवृत्त होना उपयोग है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह फलित होता है कि
ज्ञानावरणोपशम कर्मों के क्षयोपशम से या क्षय से होने
वाले गुणों की प्राप्ति को लब्धि कहते हैं और उस
लब्धि के निमित्त से होने वाले जीव के परिणाम

या भाव का प्रवृत्त होना, उपयोग है परिणाम या
भाव एक समय में एक ही हो सकता है। अतः एक
समय में एक ही उपयोग हो सकता है अर्थात् ज्ञानो-
पयोग के समय दर्शनोपयोग और दर्शनोपयोग के
समय ज्ञानोपयोग नहीं हो सकता। परन्तु लब्धियाँ
ज्ञान-दर्शन गुण ही नहीं, दान, लाभ, भोग आदि
गुणों की भी होती हैं। यही नहीं किसी को भी
अनेक ज्ञानों की उपलब्धि या लब्धि हो सकती है
परन्तु वह एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग कर
सकता है, जैसा कि कहा है—‘मतिज्ञानादिषु चतुर्षु
पययिणोपयोगो भवति न युगपत्’ तत्त्वार्थ भाष्य
अ० १ सूत्र ३१ अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-
ज्ञान और मनपर्यायज्ञान इन चार ज्ञानों का उप-
योग एक साथ नहीं हो सकता। किसी को भी एक
साथ एक से अधिक ज्ञान का उपयोग नहीं हो
सकता। कारण कि ये सब ज्ञान, ज्ञान की पर्यायें हैं
और यह नियम है कि एक साथ एक से अधिक
पर्यायों का उपयोग सम्भव नहीं है। इसीलिए कहा
है कि पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं, सहवर्ती नहीं। अतः
चारों ज्ञानों की उपलब्धि एक साथ हो सकती है
परन्तु उनका उपयोग क्रमवर्ती होता है सहवर्ती नहीं
अर्थात् एक समय एक ही ज्ञान होगा और उस ज्ञान
में भी उसके किसी एक भेद का ही ज्ञान होगा दूसरे
भेदों का नहीं जैसे अवाय मतिज्ञान का उपयोग
होगा तो ईहा, धारणा आदि मतिज्ञान के भेदों का
उपयोग नहीं होगा।

अभिप्राय यह है कि जैनागमों में ज्ञान-दर्शन
आदि गुणों के एक साथ होने का निषेध नहीं किया
गया है। निषेध किया गया है दो उपयोग एक साथ
होने का। यहाँ तक कि वीतराग केवली के भी
दोनों उपयोग युगपत् नहीं माने हैं जैसा कि कहा
है—“सध्वस्स केवलस्स वि युगपदो णत्थि उप-
ओगो।” —विशेषावश्यक भाष्य ३०६६

यहाँ प्रसंगवशात् यह विचार करना अपेक्षित
है कि श्वेताम्बर आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर एवं
दिगम्बर आचार्य श्री वीरसेन आदि ने केवली के

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

दोनों उपयोग युगपत् मानते हैं। यह कहाँ तक युक्तिसंगत है।

इस सम्बन्ध में प्रथम तो मेरा यह निवेदन है कि प्राचीनकाल में सभी जैन सम्प्रदायों केवली में दोनों उपयोगों को युगपत् नहीं मानती थीं जैसा कि कषाय-पाहुड में लिखा है—“केवलगाण केवलदंशणाण मुक्कस्स उवजोगकालो जेण अंतोमुहुत्तमेत्तो त्ति भणिदो तेण णव्वदे जहा केवलणाणदंशणाण-मुक्कमेण उत्तीण होदि स्ति।” कषायपाहुड पु० १ पृ० ३१६, अर्थात् चूँकि केवलज्ञान और केवलदर्शन का उत्कृष्ट उपयोग काल अन्तर्मुहूर्त कहा है इससे जाना जाता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती। कषायपाहुड के इस कथन से ज्ञात होता है कि उस समय केवली के दोनों उपयोग युगपत् नहीं होने की मान्यता सभी जैन सम्प्रदायों में प्रचलित थी। विशेषावश्यक भाष्य की गाथा ३०६६ में इसे स्पष्ट स्वीकार किया ही है।

केवली के दोनों उपयोग युगपत् होने के समर्थन में ध्वला टीका पुस्तक १ व १३ तथा कषायपाहुड पृ० १ आदि ग्रन्थों में यह युक्ति दी गई है कि केवली के दोनों आवरण कर्मों का क्षय युगपत् होने से दोनों उपयोग भी युगपत् होते हैं और यही युक्ति आचार्य श्री सिद्धसेन ने भी दी है।

इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि छद्मस्थ जीवों के भी दोनों कर्मों के आवरण का क्षयोपशम सदैव रहता है जिससे ज्ञान और दर्शन गुणों की लब्धि प्रकट होती है और उस लब्धि में प्रवृत्ति से उपयोग होता है। यदि कर्मों के आवरणों का क्षयोपशम न हो अर्थात् केवल सर्वघातीस्पर्धकों

का ही उदय हो तो न तो ज्ञानदर्शन गुणों की लब्धि होगी और न उपयोग की ही। अतः छद्मस्थ के भी उपयोग दोनों कर्मों के आवरणों के क्षयोपशम से ही होता है। यही तथ्य केवली पर भी घटित होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि दोनों कर्मों के क्षयोपशम से छद्मस्थ के ज्ञान-दर्शन गुण आंशिक रूप में प्रकट होते हैं और इन दोनों कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से केवली के ज्ञानदर्शन गुण (पूर्ण रूप) में प्रकट होते हैं। इस प्रकार केवली और छद्मस्थ के ज्ञान-दर्शन गुणों में अंशों का ही अन्तर है। अतः जो भी युक्तियाँ केवली के युगपत् उपयोग के समर्थन में दी जायेंगी वे सब युक्तियाँ छद्मस्थ पर भी लागू होंगी और छद्मस्थ के भी दोनों उपयोग युगपत् मानने पड़ेंगे जो श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि किसी भी जैन सम्प्रदाय को कदापि मान्य नहीं है। अतः केवली के दोनों उपयोग युगपत् मानने में विरोध आता है। इसी प्रकार छद्मस्थ जीव के दोनों उपयोग युगपत् न मानने के लिए जो भी युक्तियाँ दी जायेंगी वे केवली पर भी लागू होंगी और केवली के दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते हैं यह मानना ही पड़ेगा। छद्मस्थ जीव के दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। अतः केवली के भी दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतः अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से यह सिद्ध होता है कि केवली के युगपत् उपयोग नहीं होते हैं। सिद्धान्त भी इसका साक्षी है। मैं उपर्युक्त विषय पर अपने विचार ऊपर प्रस्तुत कर चुका हूँ फिर भी मेरा इस सम्बन्ध में किंचित् भी आग्रह नहीं है। आशा है कि विद्वत् जन तटस्थ बुद्धि से विचार कर अपना मन्तव्य प्रकट करेंगे।

6

श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान

साधना भवन,

ए-६ महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर,

जयपुर (राज०) ३०२०१७

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

२६१

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में आज भौतिक विज्ञान के विकास के चरण बढ़ते चले जा रहे हैं। उसका कार्य-क्षेत्र और कर्म-क्षेत्र आशातीत व्यापक हो चुका है। नित्य नये-नये आविष्कारों और अनुसन्धानों ने अचमूच मानव जगत् को चमत्कृत कर दिया है। यही कारण है कि आज हर एक गाँव, नगर, प्रान्त, राज्य, देश, समाज उन नये-नये आविष्कारों (भौतिक विज्ञान) के साथ जुड़कर आगे बढ़ने के लिए लालायित है। आज का प्रगतिशील तथा अप्रगतिशील समाज न वैज्ञानिक साधन-प्रसाधनों से अपने को अलग-थलग रखना चाहता है और न अपने को उनसे वंचित ही।

क्योंकि—“प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्” के अनुसार आज भौतिक-विज्ञान को अनेक विशेषताएँ प्रत्यक्ष हो चुकी हैं। कृत कार्यकलापों की अच्छी या बुरी प्रतिक्रिया उपस्थित करने में वह देर नहीं करता। एक सेकण्ड में हजारों-हजार बल्बों में विद्युत् तरंगें तरंगित होने लगती हैं। कुछ ही मिनटों-घंटों में हजारों मील का फासला तय करवा देता है। आँख की पलक झपकते इतने समय में हजारों मील दूर रहते हुए वे गायक, वक्ता, चित्र के रूप में ही नहीं, आँखों के सामने नाचते, धूमते, दिखने लग जाते हैं। गुरुत्तर संख्या वाले गणित के हिसाबों को देखते-देखते कम्प्यूटर सही-सही आँकड़ों में सामने ले आता है। उपग्रह अनन्त आकाश में उड़ानें भर रहा है। उसका नियन्त्रण धरती पर बैठा-बैठा निर्देशन दे रहा है, नियन्त्रण कक्ष (कंट्रोल-रूम) को सम्भाले बैठा है। बीस-पच्चीस कदम दूर बैठा मानव रिमोट कंट्रोल के माध्यम से टी० वी० को चालू कर रहा और बन्द भी, बीच में कोई माध्यम जुड़ा हुआ नहीं है।

वैज्ञानिक साधनों के कारण आज जल, थल और नभ मार्गों की भयावनी यात्रायें सुगम-सुलभ एवं निर्भय सी बन गई हैं। कई वैज्ञानिक उपकरण शरीर के अवयवों के स्थान पर कार्यरत हैं। एकसरे मशीन शरीरस्थ बीमारियों को प्रत्यक्ष बता देती है। आज ऐसे भी संयंत्र उपलब्ध हैं, जो शारीरिक सन्तुलन को ठीक बनाए रखने में सहायता करते एवं हलन, चलन, कम्पन, स्पन्दन, धड़कन गति को वताने में सक्षम है। वैज्ञानिक साधनों के आधार पर यह पता लगा लिया जाता है कि अमुक खनिज भण्डार, धातु-गैस, रसायन या तरल पदार्थ अमुक स्थान पर धरती के गर्भ में समाहित है। हजारों मानव या पशु जगत जिस गुरुत्तर काम को करने में महिनों पूरे कर देते हैं, उसे कुछ समय में ही पूर्ण करने की क्षमता विज्ञान में निहित है।

ऐसे भी साधन उपलब्ध हैं जिनका यथास्थान उपयोग करने पर बहुरा व्यक्ति सुनने में, अन्धा देखने में और लंगड़ा-अपंग मानव चलने-फिरने, घुमने लग जाता है। मारक और हानिकारक उपकरण के बटन को दबाया कि हजारों-लाखों मानवों, पशु-पक्षियों, जानवरों का जीवन खतरे के बिन्दु को छूने की तैयारी में हो जाता है। उनके मस्तक पर मौत मंडराने लगती है।

ऐसे यन्त्रों का भी वैज्ञानिक परीक्षण हो चुका है जिनका यथास्थान समय पर उपयोग करने पर प्राणियों के स्वभाव और आदतों में तत्काल परिवर्तन-परिवर्धन देखा जा सकता है। अब स्वभाव बदलने की बात असम्भव नहीं रही। मानवों पर प्रयोग हो रहे हैं। पशुओं पर अनेक प्रयोग-परीक्षण हो चुके हैं। बन्दरों, मेढकों, चूहों और पेड़-पौधों पर प्रयोग हुए और हो रहे हैं। शरीरस्थ उन केन्द्रों का ठीक-ठीक पता लगाया जा चुका है, जिन्हें उत्तेजित करने पर प्राणी के स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है।

दो बिल्लियाँ हैं—एक के सिर पर इलेक्ट्रोड लगा कर उसके भ्रूख-केन्द्र को शांत कर दिया गया। दोनों के सामने भोजन रखा गया। एक बिल्ली तत्काल उसे खाने लगी और दूसरी शान्त बैठी रही।

बन्दर के हाथ में केला दिया, वह खाने की तैयारी में था कि उसके सिर पर इलेक्ट्रोड लगाकर उसके भ्रूख-केन्द्र को शान्त कर दिया गया। उसने तत्काल केला नीचे डाल दिया। आहार, भय, निद्रा और वासनाजन्य केन्द्रों को विद्युत् झटके देकर शान्त कर दिया जाता है। विज्ञान ने उन सभी केन्द्रों को खोज निकाला है।

चूहे और बिल्ली का पारस्परिक जन्मजात वैर रहा है, परन्तु दोनों के मस्तक पर इलेक्ट्रोड लगा दिये गये। वस, न बिल्ली के मन में वैर, न चूहे के मन में भय पैदा हुआ। चूहा और बिल्ली दोनों सप्रेम आपस में खेलने लग गए। इस तरह स्वभाव परिवर्तन आज सम्भव हो गया है।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

अमेरिका ने एक ऐसे मकान का निर्माण किया है, जिसमें अलग-अलग चार कमरे हैं। चारों में यन्त्र लगाए गए हैं। प्रथम यन्त्र को चालू करने पर उस कक्ष में वायु भर जाती है। दूसरे यन्त्र को चालू करने पर उसमें कृत्रिम वादल छा जाते हैं। तीसरे यन्त्र को प्रारम्भ करने पर बिजली-गर्जना और चौथे यन्त्र के बटन दबाने पर वर्षा होने लगती है।

अमेरिका में प्रातःकाल जो हरी घास थी, वह छः बजे से नौ बजे के बीच में मशीन द्वारा कागज के रूप में और प्रेस में छपकर अखबारों के रूप में दुनिया के सामने आ जाती है। केवल तीन घण्टे के अन्दर घास का अखबार के रूप में आ जाना विज्ञान की कितनी यड़ी करामात है।

इलेक्ट्रॉनिक 'राँबोट' नाम के मानव का निर्माण किया गया है। यद्यपि उसमें आत्मा (Soul) का सद्भाव नहीं है परन्तु कृत्रिम आत्मा रूपी विद्युत् का उसमें संचार है जिसके सहारे वह कई काम करता हुआ मानव की बड़ी सहायता करने में तत्पर है।

यह निर्विवाद सत्य है कि इलेक्ट्रॉनिक जगत् आविष्कार और अनुसन्धान के तौर पर काफी ऊँचाइयों को छूने लगा है। कल्पनातीत करिश्मे-करतब उपस्थित कर रहा है। आज विज्ञान ने भौतिक, रासायनिक व जीवविज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में काफी प्रगति की है तथापि निष्पक्ष दृष्टि से अगर चिंतन करें तो हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक मानव समाज पूर्वापेक्षा अत्यधिक अशांत, उद्विग्न और आकुल-व्याकुल की स्थिति में हैं। विषमता, अनैतिकता से दम घुटता जा रहा है। क्लेष, द्वेष, वैर, विरोध, विश्वासघातमय प्रदूषणात्मक विषैली गैस से आज सभी भयाक्रांत हैं। इस इलेक्ट्रॉनिक युग में आज सभी अपने को विनाश से अरक्षित पा रहे हैं। समता, सहिष्णुता, सद्भावना, धीरता, गम्भीरता की पर्याप्त कमी महसूस कर रहे हैं। स्नेह, शान्ति, समर्पण भावों की तरंगें कम होती जा रही हैं।

२६३

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

घर-घर और गाँव-गाँव में शुभ मंगल स्वराज का मधुमास क्यों नहीं खिला ? जबकि भौतिक सुख-साधनों की सभी क्षेत्रों में प्रचुरता परिलक्षित हो रही है। पग-पग और डग-डग पर साधन उपलब्ध हैं। कुछ भी हो, भौतिक विज्ञान का सर्वोपरि विकास हो जाने पर भी विज्ञान अपने-आप में अपूर्ण और अधूरा ही रहने वाला है। वह इसलिए भी कि भौतिक विज्ञान प्राणी जगत् के शारीरिक, मानसिक, वाचिक, इन्द्रिय, मनविषयक एवं पेट, परिवार, पद, प्रतिष्ठाओं की क्षणिक पूर्ति करने तक ही सफल रहा है। माना कि उसने संसार को कुछ सुख-सुविधा के लिए तीव्रगामी वाहनों का विकास कर, यात्रा की अनुकूलता दी, तरंगों पर कंट्रोल कर एक ज्वलंत समस्या का समाधान खोज निकाला, राकेट—उपग्रह शक्तियों की शोध कर भूगोल, खगोल सम्बन्धी जानकारियाँ दीं और टेलीफोन, टी० वी० का आविष्कार कर हजारों मील दूर रहे समाचारों से अवगत किया, कराया।

दूसरे पहलू से देखा जाय तो भौतिक विज्ञान से प्राणी जगत् की हानियां कम नहीं हुई हैं। विकास और विनाश दोनों पहलू भौतिक के रहे हैं। एक बाजू पर विकास और सुख-सुविधा का सरसब्ज वाग का लेवल लगा है तो दूसरी ओर विनाश और दुविधा का ज्वालामुखी छिपा हुआ है।

भोपाल में घटित गैस काण्ड के घाव अभी तक भरे नहीं हैं। विषाक्त गैस रिसने से हजारों तरनारियों, बालकों की ज्योति को बर्बाद कर दिया, साथ ही पशु-पक्षी जगत् भी उससे बच नहीं पाया।

वस्तुतः वैज्ञानिक सुविधाजन्य प्रवृत्तियों से आज, मानव-समाज सुविधाभोगी, अधिक आरामी अवश्य बना है किन्तु जीवन में निष्क्रियता-निष्कर्मण्यता का विस्तार हुआ है, साथ ही मानव परापेक्षी पंगु बनता हुआ व्यसन और फॅशन की चकाचौंध में अपने को भूलता जा रहा है। यह सब क्या है ? इसे विज्ञान की देन समझना चाहिए। इस

दृष्टिकोण से विज्ञान मानव-समाज के लिए वरदान नहीं अभिशाप बनता जा रहा है।

इस विज्ञान में सुन्दरता है किन्तु मूल तत्व शिव अर्थात् कल्याण का अभाव रहा है। प्रकृति का अन्वेषण-अनुसंधान करना, नाशवान वस्तुओं का परिवर्तन—परिवर्धन एवं नवनिर्माण करने तक ही विज्ञान की अगणित उपलब्धियाँ हस्तगत होने पर भी आज सामाजिक, राष्ट्रीय और पारिवारिक जीवन निराशा के झूले ही झूल रहा है। इन्द्रियजन्य सुख-सुविधा के साधनों की विपुलता ही सब-कुछ नहीं है; चिरस्थायी शांति एवं आत्मानन्द-आत्मधन आत्म-विकास सम्बन्धी समस्या का समाधान भौतिक विज्ञान में खोजने का मतलब होगा—रिक्तता से रिक्तता की ओर लक्ष्यविहीन अंधी दौड़ लगाने जैसी भ्रमिति !

वस्तुतः यथार्थ आत्मशांति के लिये प्रत्येक पिपासु मानव को अध्यात्म विज्ञान के दरवाजे खटखटाने होंगे। अध्यात्म विज्ञान के उद्गमदाता, द्रष्टा व सृष्टा भ० ऋषभदेव से महावीर प्रभृति व राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध आदि महात्माओं ने अध्यात्म-विज्ञानोदधि में अवगाहन किया, शनैः-शनैः साधना-उपासना की गहराइयों में उनकी चेतना पहुँची, चित्तन का मंथन हुआ, अंत में सर्वोपरि सर्वोत्तम आत्म-विकास का साध्य फल मोक्ष प्राप्त किया और कई करेंगे।

अध्यात्म-विज्ञान (Soul-Science) का कार्य-क्षेत्र, कर्म-क्षेत्र उभय जीवन अर्थात् लौकिक और लोकोत्तर जीवन को अन्तर्मुखी और ऊर्ध्वारोहण की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। अध्यात्म विज्ञान विकास के अवरोधक इन्द्रियों और मन के विषयों—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पर नियन्त्रण पाने के लिये ध्यानी-ज्ञानी प्रवृत्तियों और योगासन का विधान करता है। अहिंसा भगवती की अर्चा से सुख-शांति के स्रोतों का प्रस्फुटन, संयमी वृत्ति से अनैतिकता का अन्त, तपाराधना से शुभाशुभ कर्म-द्वर्गणा का आत्मस्वरूप से पृथक्करण होना और

उतने-उतने रूप में आत्म-स्वरूप में निखार आता चला जाता है। इस तरह सुप्त आत्मिक शक्तियों को जागृत होने का, आत्मिक ऊर्जा-ऊर्मा के उद्गम केन्द्रों को सक्रिय होने का अवसर मिलता है।

आत्म-विज्ञान को अनुठी विशेषता भास्कर की भांति तेजस्विता प्रखरता का प्रतीक रही है। जिसमें "सत्यं-शिवं-सुन्दरम्" इन तत्त्वों का समन्वित रूप ही उसकी सार्थकता, सम्पूर्णता और शाश्वतता स्वयंसिद्ध हैं। आत्म-विज्ञान जितना सत्य है, उतना ही सुन्दर और जितना सुन्दर उतना ही शिवदायक रहा है। यह विशेषता भौतिक विज्ञान में कहाँ? अध्यात्म विज्ञान ने बताया, तू आत्मा है। जो तेरा स्वभाव है, वही तेरा धर्म है। जो कभी मिथ्या नहीं होता। तीनों काल में सत्य ही सत्य रहता है। चित्त का अर्थ चैतन्य रूप; ज्ञान का प्रतीक, जो कभी जड़त्व में नहीं बदला, और आनन्दरूप जो कभी दुःख में परिवर्तित नहीं हुआ। आत्मा का अपना धर्म यही है। आत्मा से भिन्न विजातीय कर्म के मेल के कारण ही यह सब दृश्यमान मिथ्या प्रपञ्च है। यही कारण है कि संसारी सभी आत्माओं में पर्याय की दृष्टि से विभिन्नता परिलक्षित होती है। विभिन्नता का अन्त ही अभिन्नता है। वही आत्मा का सर्वोपरि विकास है और उस विकास की बुनियाद रही है—अध्यात्म विज्ञान।

अध्यात्म विज्ञान ने जिस तरह जीव विद्या विज्ञान का विश्लेषण प्रस्तुत किया है उसी तरह जड़ जगत् का भी अति सूक्ष्म रीति से शोधन-अनुसंधान कर हेय-उपादेय का प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं अध्यात्म-विज्ञान की दूसरी विशेषता यह रही है कि वह पुनर्जन्म, परलोक, स्वर्ग-अपवर्ग आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, संसार-मोक्ष, धर्म-कर्म दृष्टि, ध्यान-ज्ञान, योग-अनुष्ठान, जीव-अजीव और जगत् इस तरह अध्यात्म एवं भौतिक विषयों का तलस्पर्शी अनुसंधान-अन्वेषण करता हुआ, वस्तु स्थिति का यथार्थ निर्देशन प्रत्यक्ष रूप से करा देता है। यही नहीं आत्मा के उन अज्ञात सभी गुण शक्तियों के केन्द्रों को उजागर में ले आता है।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

साधक आत्मा नहीं चाहती कि मुझे भौतिक सम्पदा की प्राप्ति हो तथापि घास-फूस न्यायवत् अध्यात्म-साधना की वदौलत अनायास कई लब्धियों के अज्ञात केन्द्र खुल जाते हैं। साधक के चरणों में कई सिद्धियाँ लौटने लगती हैं। जैसे पाँचों इन्द्रियाँ—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन एक-एक विषय को अपना ग्राह्य बनाती रही हैं किन्तु जब आत्मविज्ञ साधक आत्मा को संभिन्न श्रोत नामक लब्धि की प्राप्ति हो जाती है, तब शरीर के वे अज्ञात केन्द्र स्वतः खुल जाते हैं और वह साधक आत्मा सभी इन्द्रियों से सुनने, देखने, सूँघने लगती है या इन लब्धि वाले साधक को रूप, रस, गंध और स्पर्शन का ज्ञान-अनुभव किसी भी इन्द्रिय से हो जाता है, उक्त विशेषता भौतिकविज्ञान में कहाँ?

प्राणघातक बीमारियाँ जैसे—जलोदर, भंगदर, कुष्ठ, दाह, ज्वर, अक्षिशूल, दृष्टि-शूल और उदर-शूल इत्यादि रोग लब्धिधारी साधक के मुँह का थूक (अमृत) लगाने मात्र से मिट जाते हैं। चौदह पूर्व जितना लिखित अगाध साहित्य आगम वाङ्मय को यदि कोई सामान्य जिज्ञानु स्वाध्याय करने में पूरा जीवन क्षपा दे तो भी सम्पूर्ण स्वाध्याय नहीं कर पावेगा किन्तु वे लब्धि प्राप्त साधक केवल ४८ मिनट में सम्पूर्ण १४ (चौदह) पूर्व का अनुशीलन-परिशीलन करने में सफल हो जाते हैं। ऐसी एक नहीं अनेक सिद्धियाँ भ० महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम-सुधर्मा गणधर के अलावा और भी अनेकों महामुनियों को प्राप्त थी।

अध्यात्म-विज्ञान-साधना की पृष्ठभूमि जब उत्तरोत्तर शुद्ध-शुद्धतर बनती चली जाती है, निखार के चरम बिन्दु को छूने लगती है, वहीं आत्म-परिष्कार की सर्वोत्तम कार्य-सिद्धि हो जाती है, तब आत्मा शनैः-शनैः मध्यस्थ राहों का अतिक्रमण करती हुई सम्पूर्ण विकास की सीमा तक पहुँच जाती है। सदा-सदा के लिये कृत-कृत्य हो जाती है। भूत, भविष्य, वर्तमान के समस्त गुण पर्यायों की ज्ञाता-दृष्टा बनकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु रूप हो जाती है।

सर्वोदयी विचारों की अवधारणा के प्रेरक जैन सिद्धान्त

—डा. श्रीमती शारदा स्वरूप

‘जैन आश्रम’, वाँसिगण्डी, मुरादाबाद-२४४००१

‘जैनधर्म ने संसार को अहिंसा का सन्देश दिया। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के हाथों में यह सद्गुण शक्तिशाली शस्त्र बन गया, जिसके द्वारा उन्होंने ऐसी आश्चर्यजनक सफलतायें प्राप्त कीं, जिन्हें आज तक विश्व ने देखा ही न था। क्या यह कहना उचित न होगा कि गाँधीवाद जैनधर्म का ही दूसरा रूप है? जिस हद तक जैनधर्म में अहिंसा और संन्यास का पालन किया गया है वह त्याग की एक महावृत्ति शिक्षा है।^१

‘महात्मा’ बनने से पूर्व, जब गाँधी में ‘महावृत्ति’ के गुणों का क्रमिक विकास हो रहा था, श्री रायचन्द जी से जैनधर्म की शिक्षा-ग्रहण करने का उल्लेख उन्होंने स्वयं ‘हरिजन’ में किया है। ‘अहिंसा’ महात्मा गाँधी का स्पर्श पाकर विश्व में अमर हो गई।

‘सर्वोदय’ की व्यापक, महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली भावना, सिद्धान्त-रूप से, जैनदर्शन की जड़ों में रची-बसी है। वहाँ से ग्रहण कर, स्वतन्त्र भारत के विस्तृत परिप्रेक्ष्य में, व्यावहारिक रूप में उसे प्रस्तुत करने का श्रेय महान सन्त विनोबा भावे को है।

‘युक्त्यनुशासन’ के रचयिता, आचार्य श्री समन्तभद्र का स्थितिकाल आज से १७०० वर्ष से भी अधिक पूर्व माना जाता है। उन्होंने महावीर के उपदेश को ‘सर्वोदय-तोर्थ’ की संज्ञा दी है—

सर्वान्तवत्तद्गुण मुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽन्पेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तोर्थमिदं तद्वत् ॥^२

यहाँ ‘सर्वोदय’ शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की ओर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। ‘सर्वेषां उदयः = सर्वोदयः—सबका उदय। उत् उपसर्गपूर्वक, गत्यर्थक इण् (धातु) में अच् प्रत्यय लगाने से उदय भाववाचक संज्ञा बनती है। ‘सबकी उन्नति’ इसका अभिप्राय हुआ। सबकी उन्नति ही सर्वोदय है।

उपर्युक्त श्लोक में ‘तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित, अनादिकाल से समागत’ जिन-सिद्धान्त सभी आपदाओं का अन्त करने वाला सबके विकास का हेतु है। इसी तत्त्व को रेखांकित किया गया है। सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों, सुख और ज्ञान पर किसी का एकाधिकार न हो, सर्वोच्च पद किसी व्यक्ति, जाति, वर्ग विशेष को सम्पत्ति न हो—यही है सर्वोदयी स्थिति।

१ दृष्टव्य—श्री पी. एस. कुमारस्वामी की कृति—मगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन—पृ. सं. ५३७, प्रकाशक—जैन साहित्य समिति, देहली।

२ दृष्टव्य—युक्त्यनुशासन श्लोक ६१

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

एक प्रकार से विचार किया जाय, तो 'सर्वोदय' इस छोटे-से पद में जैनधर्म के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। कर्तावाद का, यहाँ निषेध है। कोई सर्वशक्तिमान, सृष्टि का कर्ता घर्ता-हर्ता नहीं है और न ही कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-हर्ता है। एक कर्तावाद और बहु-कर्ता-वाद दोनों ही अमान्य हैं। इसी प्रकार जेनागम जगत् को स्वयंसिद्ध मानता है। यह अनादि है अनन्त है। इसका कभी सर्वथा नाश नहीं होता। परिवर्तन का क्रम निरन्तर जारी रहता है। "यह नित्यानित्यात्मक है, इसकी नित्यता स्वतःसिद्ध है और परिवर्तन इसका स्वभावगत धर्म है।"¹

जैनदर्शन में 'धर्म' का शब्द का अर्थ अति व्यापक एवं वैज्ञानिक है।

वह 'धियते लोकोज्जेन' अथवा 'धरति लोकम्'² मात्र न होकर स्वभाव (Nature, disposition, essential quality, attribute) को द्योतित करता है। जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतलता है, अग्नि का दाहकता है, आत्मा का धर्म है 'मोहक्षोभविहीन-समतापरिणाम'। इसकी सर्वग्राह्य परिभाषा रत्न-करण्ड श्रावकाचार के द्वितीय श्लोक में आचार्य समन्तभद्र ने निम्नांकित शब्दों में प्रस्तुत की है—

"संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।"³
अर्थात्—जो प्राणियों को संसार दुःख से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा दे, वही धर्म है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुखोपलब्धि की आकांक्षा रखता है और दुःख से दूर भागता है। यह भी उसका स्वभाव ही है।

अहिंसा जैनदर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय है—प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा और

महत्ता है—उसको पहचानना, उसके प्रति यथा-सम्भव उदारता का व्यवहार करना। "Do unto others as you would like them to do unto you." दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम अपने लिए अपेक्षा करते हैं। लिंग, वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्रीयता आदि के भेद होते हुए भी जीवन का पवित्र अस्तित्व है। भारतवासी भी उतना ही श्रेष्ठ है जितना अफ्रीका अथवा अमरीका देश में रहने वाला।

"शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्ध्यास्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धो ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥"³

जैन आचार-शास्त्र यह मानता है कि 'ऐसा शूद्र भी जिसके उपकरण व आचरण शुद्ध हों, अन्य उच्च वर्णों के समान धर्म-पालन करने योग्य है; क्योंकि जाति से हीन आत्मा भी कालादिक लब्धि को पाकर जैनधर्म का अधिकारी होता है।' अभि-प्राय यही हुआ कि योग्य गुणों के अस्तित्व पर जाति निर्भर करती है। इसी तथ्य को सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध संस्कृत-नाटककार भवभूति ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"शिशुत्वं स्त्रेणं वा भवतु ननु वन्द्यासि अगतम्।

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः ॥"⁴

पूजनीया अरुन्धती तथा पिता जनक के सम्मुख सीता भले ही छोटी बालिका सरीखी हों परन्तु वन्दनीय है। लिंग अथवा आयु किसी की महनीयता के मापदण्ड नहीं होते। गुणियों में गुण ही पूजा के अधिष्ठान होते हैं।

सत्य बोलना और दूसरे की सम्पत्ति के अधि-कार को स्वीकार करना भी सर्वोदय के पोषक

१ दृष्टव्य—सर्वोदय तीर्थ, पृ० ८ लेखक—डा० हुकुम-चन्द भारिल्ल।

२ दृष्टव्य—Practical Sanskrit-English Dic-
tionary, V. S. Apte, p. 522.

३ दृष्टव्य—सागरधर्माभूते, आशाधरः—"भगवान्
महावीर और उनका तत्त्वदर्शन"—पृ० सं० २६०।

४ दृष्टव्य—उत्तररामचरितम्—चतुर्थ अंक, श्लोक
११।

तत्त्वों में है। संसार के समस्त मतभेद, बैर, वैमनस्य, कथनी और करनी के अन्तर के कारण उत्पन्न होते हैं तथा जर, जन और जमीन अर्थात् स्त्री, धन और भूमि को लेकर पनपते हैं। व्यक्तिगत उदारता, पारस्परिक विश्वास एवं सुरक्षा भावना आज मानव-जीवन से लुप्तप्राय हो गई है। इन कल्याणमयी भावनाओं का शुभारम्भ, परिवार, कुटुम्ब और प्रतिवेशी से लेकर विस्तार तो समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक अपेक्षित है।

भौतिक सुख-सुविधाओं और आवश्यकताओं का अन्त नहीं। इच्छा-पूर्ति की अन्धी दौड़ ने मानव-जीवन से सुख-शान्ति को कोसों दूर भगा दिया है। आवश्यक है ऐन्द्रिक सुख की लालसाओं और सम्पत्ति के अधिग्रहण पर संयम रखना। इससे सामाजिक न्याय की बल मिलेगी और उपभोग्य वस्तुओं के वितरण की समस्या सुलझेगी। समाज के अल्प प्रतिशत व्यक्ति अधिकांश सम्पत्ति के ठेकेदार बनकर बैठ जाते हैं जिससे दुर्बल वर्ग प्रतिदिन की जीवनोपयोगी वस्तुएँ भी नहीं जुटा पाता। समाज में असन्तुलन बढ़ता है, अपराधिक प्रवृत्तियाँ भी पनपती हैं। सन्तोषमूलक अपरिग्रह का पालन सरकार कानून बनाकर नहीं करवा सकती।

‘कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।
यथालाभ सन्तोष कबहुँ काहू से कुछ न चहौंगो।’

‘यथालाभ सन्तोष’ पद का प्रयोग कर तुलसी ने अपरिग्रह के महत्त्व को रेखांकित कर दिया है।

पैतृक संस्कार, परिवेश, पालन-पोषण, खानपान जलवायु, भौगोलिक स्थिति, शिक्षा, व्यक्तिगत अनुभवादि अनेक तत्त्वों से प्रभावित होती है मनुष्य की चिन्तन प्रक्रिया। यही कारण है कि एक माता-पिता की अनेक सन्तानों का भी सोचने का ढंग—किसी घटना विशेष के प्रति प्रतिक्रिया पृथक्-पृथक् होती

है। विशाल परिप्रेक्ष्य में, यही वैचारिक वैमत्य, टकराहट को—स्वार्थ और प्रतिस्पर्धा को, विवाद और युद्ध को जन्म देता है। परन्तु जिस प्रकार कोई व्यक्ति पूर्ण नहीं, निर्दोष नहीं, उसी प्रकार कोई भी मत, धर्म, दर्शन सर्वासम्पन्न नहीं। सभी एकांगी हैं, अपूर्ण हैं। परन्तु जैनधर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त सभी टकराहटों को आत्मसात् कर लेता है। सहिष्णुता के शीतल जल से अभिसिंचित करता है जैन विचारधारा से पादप के—

“अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं,

वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।

आकांक्षिणः स्यादिति वं निपातो,

गुणान्तपेक्षे नियमेऽपवादः ॥^१

अर्थात्—जिस प्रकार ‘वृक्षाः’ यद पद अनेक वृक्षों का वाचक होते हुए भी स्वभाव से ही पृथक् एक वृक्ष का भी द्योतन करता है, इसी प्रकार प्रत्येक पद का वाच्य एक तथा अनेक दोनों होते हैं। एक धर्म का कथन करते समय सहवर्ती दूसरे धर्म का लोप होने न पावे इस अभिप्राय से स्याद्वादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात्कार का प्रयोग करता है। यह निपात गोणीभूत धर्म की अपेक्षा न करते हुए भी उसका सर्व लोप होने नहीं देता है।

ईश्वर जगत् का निर्माता नहीं है—किसी को हानि-लाभ पहुँचाने से उसे कोई सम्बन्ध नहीं। वह पूजनीय है उन गुणों के कारण जिन्हें हम अपने जीवन में उतारकर तत्सदृश शुद्धात्म स्वरूप प्राप्त कर सकते हैं।

महावीर स्वामी से पूर्व तेईस तीर्थंकर हुए। सभी सामान्य जन-क्षत्रिय सन्तान—सांसारिक क्षुत्पिपासा, शीतोष्ण, मायामोह की सीमाओं में बँधे हुए थे। उन्होंने अपनी तपस्या के द्वारा केवल-ज्ञान प्राप्त किया—तीर्थंकरत्व प्राप्त किया अपने-अपने युग की अपेक्षाओं के अनुकूल। स्पष्ट है, कि (शेष पृष्ठ ३१० पर देखें)

१ दृष्टव्य जैनधर्मसार श्लोक संख्या ४०४

२६८

चतुर्थं खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

जागे युवा शक्ति !

जागरण का संस्कार ! जीवन-निर्माण के लिए—

तीन अवस्थाएँ

प्रकृति का यह कैसा अटल नियम है, कि प्रत्येक चेतन पदार्थ की तीन अवस्थाएँ होती हैं—बचपन, यौवन और बुढ़ापा। चाहे आप जगत की महानतम शक्ति—सूर्य को देखिए, चाहे एक नन्हें से पुष्प को। सूर्य उदय होता है, उसकी किरणें कोमल और सुहावनी होती हैं, प्रातःकाल की कोमल धूप अच्छी लगती है। मध्याह्न में सूर्य पूरे यौवन पर आता है तो धूप प्रचंड और असह्य हो जाती है। शरीर को सुहावनी लगने वाली किरणें जलाने लग जाती हैं। सायंकाल होते-होते सूर्य बुढ़ापे की गोद में चला जाता है, तब तेज, मन्द पड़ जाता है, किरणें शान्त हो जाती हैं।

पुष्प, अंकुर और प्रत्येक जन्मधारी प्राणी इन्हीं तीन अवस्थाओं से गुजरता है। भगवान महावीर ने इन्हें तीन याम 'जाम' कहे हैं। 'तओ जामा पणत्ता, पढमे जामे मज्झिमे जामे……' दिन के तीन प्रहर की भाँति प्रत्येक जीवन के तीन प्रहर—अर्थात् तीन अवस्थाएँ होती है।

अर्जन का काल : बाल्यकाल

प्रथम याम—अर्थात्—उदयकाल है—बचपन का सुहावना समय है, उदयकाल में प्रत्येक जीवधारी शक्तियों का संचय करता है। प्राण शक्ति और ज्ञान शक्ति, दोनों का ही अर्जन-संचय अथवा संग्रह बाल्यकाल में होता है। बाल्यकाल कोमल अवस्था है। कोमल वस्तु को चाहे जैसा आकार दिया जा सकता है, चाहे जिस आकृति में ढाला जा सकता है। बाल्यकाल में शरीर और मन, बुद्धि और शरीर की नाड़ियाँ, नसें सभी कोमल होती हैं, अतः शरीर को बलवान, पहलवान बनाना हो तो भी बचपन से ही अभ्यास किया जाता है। अच्छे संस्कार, अच्छी आदतें, बोलने, बैठने की सभ्यता और संस्कार, काम करने का सलीका, बचपन से ही सिखाये जाते हैं। मानव शास्त्री कहते हैं—'यत्नवे भाजने लभनः संस्कारो नान्यथा भवेत्' जो संस्कार, आदतें बचपन में लग जाती हैं, वे जीवन भर मिटती नहीं, इसलिए बचपन 'अर्जन' का समय है। बल संचय, विद्या अर्जन और संस्कार निर्माण—यह बचपन की ही मुख्य देन हैं।

यौवन : सर्जन का समय

जीवन की दूसरी अवस्था है—जवानी। कहने को जवानी को दिवानी कहते हैं। शरीर, बुद्धि, संस्कार—सभी का पूर्ण विकास इस अवस्था में हो जाता है। छोटा-सा पौधा धीरे-धीरे जड़ें जमाकर

अपना विकास कर लेता है और फूल तथा फल देने में समर्थ हो जाता है । इस अवस्था में स्वाभाविक ही रक्त में उष्णता, स्फूर्ति और प्रवाहशीलता अधिक होती है, इसलिए मनुष्य का शरीर कष्ट सहने में अधिक सक्षम रहता है, काम करने में फूर्तीला और समर्थ रहता है । बचपन में जो बल-शक्ति घुटनों में थी, वह अब हृदय में संचारित हो जाती है, इसलिए युवक में साहस और शक्ति का प्रवाह बढ़ने लगता है । बाल्यकाल में यदि शिशु अच्छे संस्कार व अच्छी आदतें सीख लेता है, खान-पान आदि के संयम के साथ रहता है तो युवा अवस्था में उसमें अद्भुत शक्ति व स्फूर्ति प्रकट होती है, उसके शरीर में संचित वीर्य, ओज, तेज बनकर उसके तेजस्वी, प्रभावशाली और सुदर्शन व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं, इसलिए माता-पिता, जो अपनी सन्तान को तेजस्वी बनाना चाहते हैं, आकर्षक व्यक्तित्व वाला बनाना चाहते हैं, उन्हें बचपन से ही उनके संस्कारों की तरफ ध्यान देना चाहिए ।

संसार में जितने भी तेजस्वी और प्रभावशाली व्यक्तित्व हुए हैं, उनके जीवन-निर्माण में जागरूक माता का हाथ उसी प्रकार रहा है, जैसे अच्छे फलदार वृक्षों के निर्माण में कुशल माली की देख-रेख रहती है ।

जिन बच्चों की बचपन में देखरेख नहीं रहती जिन्हें अच्छे संस्कार नहीं मिलते, योग्य शिक्षण व संरक्षण नहीं मिलता, वे जवानी आने से पहले ही मुर्जा जाते हैं, दीपक प्रज्वलित होने से पहले ही बुझ जाते हैं । वृक्ष, फलदार बनने से पहले ही सूखने लग जाता है, अतः कहा जा सकता है, यौवन उन्हीं का चमत्कारी और प्रभावशाली होता है, जिनका बचपन संस्कारित रहता है ।

बचपन अर्जन का समय है तो यौवन-सर्जन का समय है । तरुण अवस्था नव-सर्जन की वेला है । बचपन शिशिर ऋतु है, तो जवानी बसन्त ऋतु है ।

बसन्त में सभी वृक्ष, लता, पौधे खिल जाते हैं, विकसित होकर झूमने लगते हैं और नये-नये फूल व फलों से अपना सौन्दर्य प्रकट करते हैं, उसी प्रकार यौवन भी उत्साह व स्फूर्ति की लहरों से तरंगित होकर कुछ न कुछ करने को ललकता है, निर्माण करने को आतुर होता है । यदि जवानी में किसी को निर्माण करने का अवसर नहीं मिलता है, सर्जन करने की सुविधा व मार्गदर्शन नहीं मिलता है, तो उसकी शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं, कुण्ठा व आन्तरिक तनाव से वह भीतर ही भीतर घुटन महसूस करता है ।

मानव-जीवन भी तीन अवस्थाओं में गुजरता है, बचपन अधूरा होता है, बुढ़ापा अक्षम होता है, विकास की अन्तिम सीढ़ी पर खड़ा होता है । यौवन ही वह समय है, जो जीवन को समूचेपन से भरता है, समग्रता देता है, परिपूर्णता देता है । यौवन सोचने की सामर्थ्य भी देता है और करने की क्षमता भी, इसलिए 'यौवन' मनुष्य की अन्तर्बाह्य शक्तियों के पूर्ण विकास का समय है । इस अवस्था में मनुष्य अपने हिताहित का स्वयं निर्णय कर सकता है और स्वयं ही उसको कार्यरूप दे सकता है । बचपन और बुढ़ापा-परापेक्ष हैं, परावलम्बी हैं । यौवन स्व-सापेक्ष है, स्वावलम्बी है । भगवान महावीर ने इसे जीवन का मध्यकाल बताया है, जागरणकाल बताया है और निर्माणकाल भी ।

मज्झिमेण वयसा एगे संबुज्झमाणो समुट्ठिता

यौवन वय में कुछ लोग जाग जाते हैं, स्वयं की पहचान कर लेते हैं, अपने व्यक्तित्व की असोम क्षमताओं का अनुमान कर लेते हैं और पुरुषार्थ की अनन्त-अनन्त शक्ति को उस मार्ग पर लगा देते हैं, जिस पथ पर बढ़ना चाहते हैं, उस पथ को अपनी सफलताओं की वन्दनवार से सजा देते हैं ।

जो युवक होकर भी, यौवन में अपनी क्षमता

का उपयोग नहीं कर सकता, या अपने को पहचान नहीं पाता, वह जीवन की बाजी हार जाता है। इसलिए यौवन का क्षण-क्षण, एक-एक पल कीमती है, इसको व्यर्थ मत जाने दीजिए सिर्फ कल्पना या स्वप्न देखना छोड़कर निर्माण में जुट जाइए।

उत्साह : यौवन की पहचान है

मैं एक युवक सम्मेलन में उपस्थित हुआ था, सैकड़ों युवक बाहर से आये थे, स्थानीय कार्यकर्ता ने युवकों का परिचय कराया, तो एक युवक को सामने लाकर बोले—महाराज साहब, यह हमारे गाँव का उत्साही युवक है।

मैंने उसे गौर से देखा, और सोचा—“उत्साही युवक”, इसका क्या मतलब? उत्साह तो युवक की पहचान है, उत्साह युवक का पर्याय है, जिस पानी में तरलता व चंचलता नहीं, वह पानी ही नहीं, जिस घोड़े में स्फूर्ति नहीं, तेजी नहीं, वह मरियल टट्टू कोई “अश्व” होता है? इसी प्रकार जिस युवक में उत्साह नहीं, वह कोई युवक है?

हाँ, अगर कोई कहता, ये “उत्साही बुजुर्ग है” तो उत्साह उसकी शोभा होता, “उत्साही-युवक” यह युवक का विशेषण नहीं, या युवा की पहचान नहीं, किन्तु यौवन का अपमान है, उसकी शक्तियों की अवगणना है।

यौवन में ही महान कार्य हुए हैं

संसार के महापुरुषों का इतिहास उठाकर देखिए, जितने भी वीर, योद्धा, प्रतिभाशाली, देश-भक्त, धर्मनेता, राष्ट्रनेता, वैज्ञानिक, आविष्कारक, महापुरुष और अपने क्षेत्र की हस्तियाँ हुई हैं, उन सबका अभ्युदय काल यौवन ही है। यौवन की रससिक्त ऋतु ने ही उनके जीवन वृक्ष पर सफलता के फल खिलाये हैं। भगवान् महावीर ३० वर्ष की भरी जवानी में साधना-पथ पर चरण बढ़ाते हैं, और यौवन के १२ वर्ष तपस्या, साधना, ध्यान आदि में बिताकर तीर्थंकर बनते हैं। गौतम बुद्ध

भी २८ वर्ष की अवस्था में गृहत्याग कर यौवन को तपाते हैं और बुद्धत्व प्राप्त करते हैं। सिकन्दर, चन्द्रगुप्त, अशोक, गाँधी, नेहरू, मार्क्स, लेनिन, चर्चिल, रुजवेल्ट, सभी का इतिहास उठा कर देख लीजिए। २५ से ४५ वर्ष का जीवनकाल ही सबके अभ्युदय और सफलता का महान समय रहा है। आयु का यही वह समय है, जब मनुष्य कोई महान कार्य कर सकता है, अथक परिश्रम व कष्ट सहने की क्षमता, आपत्तियों का मुकाबला करने की शक्ति, संघर्ष की अदम्य चेतना यौवन काल में ही दीप्त रहती है। यौवन में न केवल भुजाओं में बल रहता है, किन्तु सभी मानसिक शक्तियाँ भी पूर्ण जागृत और पूर्ण स्फूर्तियुक्त रहती हैं, उनमें ऊर्जा भी भरपूर रहती है और ऊष्मा भी। इसलिए सफलता का यह स्वर्ण काल कहा जा सकता है। नव-सर्जना का यह बसन्त और श्रावण मास माना जा सकता है। भगवान् महावीर ने इसे ही जीवन का मध्यकाल कहा है।

विसर्जन का समय : बुढ़ापा

बचपन का अर्जनकाल, यौवन का सर्जनकाल पूर्ण होने के बाद, बुढ़ापा का विसर्जनकाल आता है। बचपन में जो शक्ति संचित की जाती है, वह यौवन में व्यय होती है, और नव-सर्जन में काम आती है, किन्तु अर्जन और सर्जन परिपूर्ण होने के बाद “विसर्जन” भी होना चाहिए। जगत से, प्रकृति से, समाज से और परिवार से जो कुछ प्राप्त किया है, उसे, उसके लिए देना भी चाहिए। जो ज्ञान, अनुभव, नया चिन्तन और विविध प्रकार की जानकारियाँ आपको दीर्घकालीन श्रम के द्वारा, साधना के द्वारा प्राप्त हुई हैं, उनको समाज के लिए, मानवता के कल्याण हेतु विसर्जन करना भी आपका कर्तव्य है। जो धन-समृद्धि, वैभव आपको, अपनी सूझ-बूझ, परिश्रमशीलता और भाग्य द्वारा उपलब्ध हुआ है, उन उपलब्धियों को चाहे, वे भौतिक हैं, या आध्यात्मिक हैं, मानवता के हित—

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३०१

कल्याण हेतु उनका अर्पण-विसर्जन करना भी अनिवार्य है। सरोवर में या कुँए में जल भरता ही रहे, कोई उस जल का उपयोग न करे, तो वह जल गन्दा हो जाता है, खारा हो जाता है, किन्तु जल प्रवाह बहता रहे, तो जल स्वच्छ और मधुर बना रहता है। इसलिए प्रौढ़ अवस्था के बाद मनुष्य को समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा तथा दान एवं परोपकार की तरफ विशेष रूप से बढ़ना चाहिए। यह सेवा परोपकार एवं दान ही "विसर्जन" का रूप है, जो मुख्य रूप में वृद्ध अवस्था, या परिपक्व अवस्था में किया जाता है, किन्तु यहाँ अधिक इस विषय में अभी नहीं कहना है, यहाँ हमें युवाशक्ति के विषय पर ही चिन्तन करना है।

मैंने कहा था कि समाज में, संसार में चाहे जिस देश का या राष्ट्र का इतिहास पढ़ लीजिए, आपको एक बात स्पष्ट मिलेगी कि धार्मिक या सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक, जिस किसी क्षेत्र में जो क्रान्तियाँ हुई हैं, परिवर्तन हुए हैं, और नवनिर्माण कार्य हुए हैं, उनमें पचहत्तर प्रतिशत युवाशक्ति का योगदान है। इसलिए युवाशक्ति यानी क्रान्ति की जलती मशाल ! युवा शक्ति यानी नवसृजन का स्वर्णिम प्रभात !

रचनात्मक दृष्टिकोण रखिए :

मैंने बताया कि यौवन सर्जन का काल है, यह बसन्त का समय है, जिसमें जीवन के प्रत्येक पहलू पर उमंग और उल्लास महकता है, कुछ करने की ललक उमंगती है इसलिए यौवन एक रचनात्मक काल है। आज के युवावर्ग में रचनात्मक दृष्टि का अभाव है। वे दूसरों की तो आलोचना तो करते हैं, नारेबाजी और शोर-शराबा करके विद्रोह का विगुल भी बजा देते हैं। वे किसी भी निहित स्वार्थ वालों के इशारों पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लग जाते हैं। आजकल के राजनीति छाप समाज नेता, युवाशक्ति को अलसेशियन कुत्ते की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं, जिन्हें किसी भी विरोधी

व विपक्ष पर 'छू' करके छोड़ देते हैं। वे युवकों को नाना प्रलोभन देकर, सरसब्ज बाग दिखाकर दिग्-भ्रांत किये रखते हैं। इस मृगतृष्णा में पड़ा युवक न तो अपना स्वतन्त्र चिन्तन कर कुछ निर्माण कर सकता है और न ही उनके चंगुल से छूटने का साहस ही दिखा सकता है। दूसरों के इशारों पर कला-बाजी दिखाना और विद्रोह-विध्वंस में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते रहना—यह युवा-शक्ति के लिए शर्म की बात है। अब विद्रोह और विध्वंस का नहीं किन्तु निर्माण का रास्ता अपनाना है। यद्यपि विध्वंस करना सरल है, निर्माण करना कठिन है। किसी भी सौ-दो सौ वर्ष पुरानी इमारत को एक धमाके के साथ गिराया जा सकता है, किन्तु फिर से निर्माण करने में बहुत समय और शक्ति लगती है।

मैं युवकों को कहना चाहता हूँ, प्रत्येक वस्तु को रचनात्मक दृष्टि से देखो, विरोध-विद्रोह, विध्वंस की दृष्टि त्यागो, जो परिस्थितियाँ हमारे सामने हैं, जो व्यक्ति और जो साधन हमें उपलब्ध हैं, उनको कोसते रहने से या गालियाँ देते रहने से कुछ नहीं होगा, बल्कि सोचना यह है कि उनका उपयोग कैसे, किस प्रकार से कितना किया जा सकता है ताकि इन्हीं साधनों से हम कुछ बन सकें, कुछ बना सकें।

राम ने जब लंका के विशाल साम्राज्य के साथ युद्ध की दुन्दुभि बजाई तो क्या साधन थे उनके पास ? कहाँ अपार शक्तिशाली राक्षस राज्य और कहाँ दानरवंशी राजाओं की छोटी-सी सेना। सीमित साधन ! अथाह समुद्र को पार कर सेना को उस पार पहुँचाना कितना असंभव जैसा कार्य था, किन्तु उन सीमित साधनों से छोटी-सी सेना को भी राम ने इस प्रकार संगठित और उत्साहित किया जो रावण के अभेद्य दुर्ग में टक्कर ले सकी। राम ने अभावों की कमी पर ध्यान नहीं दिया, समुद्र पर पुल बनाने के लिए और कुछ साधन नहीं मिले तो पत्थरों का ही उपयोग कर अथाह समुद्र की छाती पर सेना खड़ी कर दी।

तो इस प्रकार अल्प साधना नगण्य सहयोग की तर्फ नहीं देखकर जो उपलब्ध है उसे ही सकारात्मक रूप देना है, रचनात्मक दृष्टि से लेना है और छोटे छोटे तिनकों से हाथियों को बांध देना है। युवा वर्ग इस प्रकार जीवन में रचनात्मक दृष्टि से सोचने की आदत डालें।

शक्ति का उपयोग सर्जन में हो

युवाशक्ति—एक ऊर्जा है, एक विद्युत है। विद्युत का उपयोग संसार में निर्माण के लिए भी होता है, और विध्वंस के लिए भी। अणु-शक्ति का उपयोग यदि शान्तिपूर्ण निर्माण कार्यों के लिए होता है, तो संसार में खुशहाली छा जाती है और यदि अणुबम या अणुयुद्ध में उसका उपयोग किया गया तो सर्वत्र विनाश और सर्वनाश की विभीषिका छायेगी। युवाशक्ति भी एक प्रकार की अणुशक्ति है, इस शक्ति को यदि समाज-सेवा, देश-निर्माण, राष्ट्रीय-विकास और मानवता के अभ्युत्थान के कार्यों में लगा दिया जायेगा तो बहुत ही चमत्कारी परिवर्तन आ जायेंगे। संसार की दरिद्रता, बेकारी, पीड़ाएँ, भय, युद्ध, आतंक आदि समाप्त होकर प्रेम, भाईचारा, खुशहाली, सुशिक्षा, आरोग्य, और सभी को विकास के समान अवसर मिल सकेंगे। आप देख सकते हैं, जापान जैसा छोटा-सा राष्ट्र जो परमाणु युद्ध की ज्वाला में बुरी तरह दग्ध हो चुका था, हिरोशिमा और नागासाकी की परमाणु विभीषिकाएँ उसकी समूची समृद्धि को मटियामेट कर चुकी थीं, वही राष्ट्र पुनः जागा, एकताबद्ध हुआ, युवाशक्ति संगठित हुई और राष्ट्रीय भावना के साथ नवनिर्माण में जुटी तो आज कुछ ही समय में संसार का महान धनाढ्य और सबसे ज्यादा प्रगतिशील राष्ट्र बन गया है।

कर्तव्य बोध कीजिए

आज भारत की युवापीढ़ी बिखरी हुई है, दिशाहीन है, और निर्माण के स्थान पर विध्वंस और विघटन में लगी हुई है, इसलिए प्राकृतिक साधनों

की दृष्टि से संसार का सर्वाधिक सम्पन्न और सब ऋतुओं के अनुकूल वातावरण वाला महान देश भारत गरीब राष्ट्रों की गिनती में आता है। और छोटे-छोटे देशों से भी कर्ज लेकर अपने विकास और निर्माण कार्य कर रहा है। भारत के हजारों, लाखों युवा वैज्ञानिक और लाखों कुशल डाक्टर विदेशों में जाकर बस गये, अपनी मातृभूमि की सेवा न करके, अन्य राष्ट्रों की सेवा में लगे हैं, इसका क्या कारण है? मेरी समझ में सबसे मुख्य कारण है—युवाशक्ति में दिशाहीनता और निराशा छाई हुई है, कर्तव्य भावना का अभाव और देश व मानवता के प्रति उदासीनता ही इस विनाश और विपत्ति का कारण है।

इसलिए आज युवाशक्ति को कर्तव्यबोध करना है। जीवन का उद्देश्य, लक्ष्य और दिशा स्पष्ट करनी है।

संस्कृत में एक सूक्ति है—

यौवनं धन-संपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ?

यौवन, धन-संपत्ति, सत्ता, अधिकार और अविवेक (विचारहीनता)—ये प्रत्येक ही एक-एक दानव हैं, यदि ये चारों एक ही स्थान पर एकत्र हो हो जायें, अर्थात् चारों मिल जाएँ, तो फिर क्या अनर्थ होगा? कैसा महाविनाश होगा? कुछ नहीं कहा जा सकता।

युवक, स्वयं एक शक्ति है, फिर वे संगठित हो हो जायें, एकता के सूत्र में बंध जायें, अनुशासन में चलने का संकल्प ले लें, विवेक और विचारशीलता से काम लें, तो वे संसार में ऐसा चमत्कारी परिवर्तन कर सकते हैं कि नरक को स्वर्ग बनाकर दिखा सकते हैं, जंगल में मंगल मना सकते हैं। इसलिए चाहिए, कुछ दिशाबोध, अनुशासन, चारित्रिक नियम, अतः मैं इसी विषय पर युवकों को कुछ संकेत देना चाहता हूँ।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३०३

अनुशासन में रहना सीखो

युवा वर्ग को आज सबसे पहली जरूरत है— अनुशासित रहने की, संगठित रहने की। छोटे-छोटे स्वार्थों के कारण, प्रतिस्पर्धा के कारण, जहाँ युवक परस्पर टकराते हैं, एक-दूसरे की बुराई और एक-दूसरे को नीचा दिखाने का काम करते हैं, वहाँ कभी भी निर्माण नहीं हो सकता, नवसृजन नहीं हो सकता।

अनुशासन, प्रगति का पहला पाठ है। जो स्वयं अनुशासन में रहना जानता है, वह दूसरों को भी अनुशासित रख सकता है। जहाँ सब मिलकर एक-जुट होकर काम करते हैं, वहाँ प्रगति, समृद्धि और सत्ता स्वयं उपस्थित होती है। तथागत बुद्ध ने कहा था—‘जब तक वैशाली गणराज्य के क्षत्रिय परस्पर मिलकर विचार करेंगे, वृद्धजनों का परामर्श मानेंगे, एक-दूसरे का सन्मान करेंगे और संगठित—एकमत होकर कोई कार्य करेंगे, तब तक कोई भी महा-शक्ति इनका विनाश नहीं कर सकती।

भारत जैसे महान राष्ट्र के लिए भी आज यही बात कही जा सकती है, यहाँ का युवावर्ग यदि अपने वृद्धजनों का सन्मान करता रहेगा, उनके अनुभव से लाभ लेता रहेगा, उनका आदर करेगा और स्वार्थ की भावना से दूर रहकर धर्म व राष्ट्रप्रेम की भावना से संगठित रहेगा, एक-दूसरे को सन्मान देगा तो वह निश्चित ही एक दिन संसार की महा-शक्ति बन जाएगा। कोई भी राष्ट्र इसे पराजित तो क्या टेढ़ी आंख से भी देखने की हिम्मत नहीं करेगा अतः सर्वप्रथम युवावर्ग को ‘अनुशासन’ में रहने की आदत डालनी चाहिए। अनुशासित सिपाही की भाँति, संगठित फौज की भाँति उसे अपनी जीवन-शैली बनानी चाहिए।

जो व्यक्ति अनुशासित जीवन जीना सीख लेता है, वह चाहे राजनैतिक क्षेत्र में रहे, धार्मिक क्षेत्र में रहे, प्रशासनिक क्षेत्र में रहे, या व्यापारिक,

औद्योगिक क्षेत्र में, वह हर जगह अपना अलग ही स्थान बनायेगा, उसका व्यक्तित्व अलग चमकेगा, सबको प्रभावित भी करेगा; और सभी क्षेत्रों में प्रगति, उन्नति एवं सफलता भी प्राप्त करेगा।

अनुशासन भी कई प्रकार के हैं—सबसे पहला और सबसे आवश्यक अनुशासन है—‘आत्मानुशासन’ जिसने अपने आप पर अनुशासन करना सीख लिया वह संसार में सब पर अनुशासन कर सकता है और सब जगह सफल हो सकता है।

आत्मानुशासन का मतलब है—अपनी अनावश्यक इच्छाओं पर, आकांक्षाओं पर, गलत आदतों पर, और उन सब भावनाओं पर बुद्धि का नियन्त्रण रखना, जिनसे व्यर्थ की चिंता, भाग-दौड़, परेशानी, हानि और बदनामी हो सकती है। मनुष्य जानता है कि मेरी यह इच्छा कभी पूरी होने वाली नहीं, या मेरी इस आदत से मुझे बहुत नुकसान हो सकता है, बोलने की, खाने की, पीने की, रहन-सहन की, ऐसी अनेक बुरी आदतें होती हैं, जिनसे सभी तरह की हानि उठानी पड़ती है, आर्थिक भी, शारीरिक भी। कभी-कभी इच्छा व आदत पर नियन्त्रण न कर पाने से मनुष्य अच्छी नौकरी से हाथ धो बैठता है, अपना स्वास्थ्य चौपट कर लेता है और धन बर्बाद कर, दर-दर का भिखारी बन जाता है, अतः जीवन में सफल होने के लिए ‘आत्मानुशासन’ सबसे महत्वपूर्ण गुर है।

आत्मानुशासन साध लेने पर, सामाजिक अनुशासन, नैतिक अनुशासन और भावनात्मक अनुशासन, स्वतः सध जाते हैं, अतः युवा वर्ग को सर्वप्रथम भगवान् महावीर का संदेश पद-पद पर स्मरण रखना चाहिए—‘अप्पादन्तो सुही होई’ अपने आप पर संयम करने वाला सदा सुखी रहता है। अपनी भावना पर, अपनी आदतों पर और अपनी हर गतिविधि पर स्वयं का नियन्त्रण रखे।

पाँच आवश्यक गुण

यह माना कि ‘युवा’ आज संसार की महान

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

शक्ति है। 'युवावस्था' जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घड़ी है, किन्तु इस शक्ति को, इस समय की सन्धि को हम तभी उपयोगी बना सकते हैं, जब वह अपनी सकारात्मक शक्तियों को जगायेगी। अपनी सकारात्मक शक्तियों को जगाने के लिए युवा वर्ग को इन पाँच बातों पर ध्यान केन्द्रित करना है—

१. श्रद्धाशील बनें—आज का युवा मानस श्रद्धा, आस्था, विश्वास, फेथ (Faith) नाम से नफरत करता है, वह कहता है—श्रद्धा करना बूढ़ों का काम है, युवक की पहचान है—बात-बात में तर्क, अविश्वास और गहरी जाँच-पड़ताल। मैं समझता हूँ—युवा वर्ग में यही सबसे बड़ी भ्रान्ति या गलतफहमी हो रही है। श्रद्धा या विश्वास एक ऐसा टॉनिक है, रसायन है जिसके बिना काम करने की शक्ति आ ही नहीं सकती। जब तक आप अपने स्वयं के प्रति श्रद्धाशील नहीं होंगे, अपनी क्षमता पर भरोसा नहीं करेंगे, तब तक कुछ भी काम करने की हिम्मत नहीं होगी। श्रद्धाहीन के पाँव डगमगाते रहते हैं, उसकी गति में पकड़ नहीं होती, स्थिरता नहीं होती और न ही प्रेरणा होती है। हम एक व्यक्ति पर, एक नेता पर, एक धर्म सिद्धान्त पर, एक नैतिक सद्गुण पर या भगवान् नाम की किसी परम शक्ति पर जब तक भरोसा नहीं करेंगे, श्रद्धा नहीं करेंगे तब तक न तो हमारे सामने बढ़ने का कोई लक्ष्य होगा, न ही मन में बल होगा, उत्साह होगा और न ही समर्पण भावना होगी। प्रेम जैसे समर्पण चाहता है, राष्ट्र वैसे ही बलिदान चाहता है और भगवान् श्रद्धा चाहता है। नाम भिन्न-भिन्न है, बात एक ही है, अन्तर् का विश्वास जागृत हो जाये तो श्रद्धा भी जगेगी, समर्पण भावना भी बढ़ेगी और बलिदान हो जाने की दृढ़ता भी आयेगी।

इसलिए मैं युवा वर्ग से कहना चाहता हूँ—आप 'श्रद्धा' नाम से घबराइए नहीं। हाँ, श्रद्धा के नाम पर अंधश्रद्धा के कुएँ में न गिर पड़ें, आँख खुली रखें, मन को जागृत रखें, बुद्धि को प्रकाशित, और

फिर श्रद्धा का दीपक जलायें। श्रद्धाशीलता ही मनुष्य को कर्तव्य के प्रति उत्साहित करती है, कर्तव्य से बाँध रखती है। श्रद्धा कर्ण का वह कवच है जिसे भेदने की शक्ति न अर्जुन के बाणों में थी और न ही भीम की गदा में।

श्रद्धा अज्ञानमूलक नहीं, ज्ञानमूलक होनी चाहिए। इसलिए पहले पढ़िये, स्वाध्याय कीजिए, ज्ञान प्राप्त कीजिए। सत्य-असत्य की पहचान का थर्मामीटर अपने पास रखिए और फिर सत्य पर श्रद्धा कीजिए, लक्ष्य पर डट जाइए। यदि आपमें श्रद्धा की दृढ़ता नहीं होगी तो आपका जीवन बिना नींव का महल होगा, आपकी योजनाएँ और कल्पनाएँ, आपके सपने और भावनाएँ शून्य में तैरते गुब्बारों के समान इधर-उधर भटकते रहेंगे। इसलिए युवा वर्ग को मैं कहना चाहता हूँ, सर्वप्रथम श्रद्धा का कवच धारण करें। विश्वास करना सीखें तो सर्वत्र विश्वास प्राप्त होगा। अफवाहों में न उड़ें, भ्रान्तियों के अंधड़ में न बहें, स्वयं में स्थिरता, दृढ़ता और आधारशीलता लायें।

२. आत्मविश्वासी और निर्भय बनें—श्रद्धाशीलता का ही एक दूसरा पक्ष है—आत्मविश्वास। 'विश्वास' जीवन का आधार है। जीवन के हर क्षेत्र में विश्वास से ही काम चलता है। सबसे पहली बात है, दूसरों पर विश्वास करने से पहले, अपने आप पर विश्वास करें। जो अपने पर विश्वास नहीं कर सकता, वह संसार में किसी पर भी विश्वास नहीं कर सकता। विश्वास करने की उसकी सभी बातें झूठी हैं, क्योंकि आपके लिए सबसे जाना-पहचाना और सबसे नजदीक आप स्वयं हैं, इससे नजदीक का मित्र और कौन है? जब आप अपने सबसे अभिन्न अंग आत्मा पर, अपनी शक्ति, अपनी बुद्धि और अपनी कार्यक्षमता पर भी विश्वास नहीं कर सकेंगे तो दुनिया में किस पर विश्वास करेंगे? माता, भाई, पत्नी, पुत्र, मित्र ये सब दूर के एवं भिन्न रिश्ते हैं। आत्मा का रिश्ता अभिन्न है, अतः सबसे पहले अपनी आत्मा पर विश्वास करना चाहिए।

आपकी आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं। धर्मशास्त्र की भाषा में आत्मा अनन्तशक्तिसम्पन्न है। और आज के विज्ञान की भाषा में मानव शरीर, असीम अगणित शक्तियों का पुंज है। कहते हैं, पश्चिम के मानस शास्त्रियों ने प्रयोग करके बताया है कि मनुष्य अपनी मस्तिष्क शक्तियों को केन्द्रित करके उनसे इतनी ऊर्जा पैदा कर देता है, कि एक लम्बी ट्रेन १०० किलोमीटर प्रति घण्टा की रफ्तार से चल जाती है। हजारों, लाखों टन वजन की ट्रेन चलाना, क्रेन उठाना, यह जब आपकी मस्तिष्कीय ऊर्जा से सम्भव हो सकता है, तो कल्पना कीजिए, आपकी मानसिक ऊर्जा में कितनी प्रचण्ड शक्ति (पावर) होगी।

प्राचीन समय में मन को एकाग्र करके मन्त्र-जाप करने से देवताओं का आकर्षण करने की घटनाएँ होती थीं, क्या वे कल्पना मात्र हैं? नहीं। मानव, मन की प्रचण्ड शक्ति से करोड़ों मील दूर बैठे देवताओं का आसन हिला सकता है, तो क्या अपने आस-पास के जगत् को, अपने सामने खड़े व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकता? इसमें किसी प्रकार के मैमेरिज्म या सम्मोहन की जरूरत नहीं है, किन्तु सिर्फ मनःसंयम, एकाग्रता और दृढ़ इच्छा शक्ति की जरूरत है।

आज के युवा वर्ग में देखा जाता है, प्रायः इच्छा शक्ति का अभाव है, न उसमें मानसिक संयम है, न एकाग्रता और न इच्छा शक्ति और यही कारण है कि आज का युवक दीन-हीन बनकर भटक रहा है। जीवन में निराशा और कुण्ठा का शिकार हो रहा है। असफलता की चोट खाकर अनेक युवक आत्महत्या कर लेते हैं, तो अनेक युवक असमय में ही बुढ़े हो जाते हैं, या मौत के मुँह में चले जाते हैं।

मैं अपने युवा बन्धुओं से कहना चाहता हूँ, वे जागे, उठें—उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्राप्य वरान्, निबोधत ! स्वयं उठें, अपनी शक्तियों को जगायें

और दूसरे साधियों को भी उत्साहित करें, जीवन लक्ष्य को प्राप्य करें, मन की शक्तियों को केन्द्रित करें, आत्मा को बलवान बनायें—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यह आत्मा या समझिए, संसार का भौतिक व आध्यात्मिक वैभव बलहीन, दुर्बल व्यक्तियों को प्राप्त नहीं हो सकता, 'वीरभोग्या वसुधरा'—यह रत्नगर्भा पृथ्वी वीरों के लिए ही है।

आत्म-विश्वास जगाने के लिए किसी दवा या टॉनिक की जरूरत नहीं है, किन्तु आपको ध्यान, योग, जप, स्वाध्याय, जैसी विधियों का सहारा लेना पड़ेगा। ध्यान-योग-जप, यही आपका टॉनिक है, यही वह पावर-हाउस है, जहाँ का कनेक्शन जुड़ते ही शक्ति का अक्षय स्रोत उमड़ पड़ेगा।

अतः बन्धुओ ! जीवन में सफलता और महान आदर्शों के शिखर पर चढ़ने के लिए स्वयं को अनुशासित कीजिए, आत्म-विश्वास जगाइये, निर्भय बनिये और स्वयं के प्रति निष्ठावान रहिये.....।

३. चरित्रबल बढ़ाइये—चरित्र मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। एक अंग्रेजी लेखक ने कहा है—

“धन गया तो कुछ भी नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो बहुत कुछ चला गया और चरित्र चला गया तो सब कुछ नष्ट हो गया।” चरित्र या मॉरल एक ही बात है, यही हमारी आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति है, मानसिक बल है, हमें किसी भी स्थिति में किसी के समक्ष बोलने, करने या उट जाने की शक्ति अपने चरित्रबल से मिलती है। चरित्र या नैतिकता मनुष्य को कभी भी पराजित नहीं होने देती, अपमानित नहीं होने देती। सच्चरित्र व्यक्ति, अपनी नैतिकता का पालन करने वाला कभी भी किसी भी समय निर्भय रहता है और वह हमेशा सीना तानकर खड़ा हो सकता है। चरित्रवान् की नाक सदा ऊँची रहती है।

युवा वर्ग को अपनी शक्तियों का उपयोग करने के लिए यह जरूरी है कि वह सर्वप्रथम अपने आचरण पर ध्यान देवे, चरित्रवान बनें ।

आज की परिस्थितियों में चरित्रवान या सदा-चारी बने रहना कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं है और महत्त्व तो उसी का है जो कठिन काम भी कर सकता हो ।

आज खान-पान में, व्यवहार में, लेन-देन में, मनुष्य की आदतें बिगड़ रही हैं । व्यसन एक फँसन बन गया है । बीड़ी-सिगरेट, शराब-जुआ-सिनेमा, गन्दा खाना और फिजूलखर्ची—यह सब युवा शक्ति के वे घुन हैं जो उसे भीतर-भीतर खोखला कर रहे हैं । इन बुरी आदतों से शरीर शक्तियाँ क्षीण होती जाती हैं, यौवन की चमक बुढ़ापे की झुर्रियाँ में बदल जाती हैं, साथ ही मानसिक दृष्टि से भी व्यक्ति अत्यन्त कमजोर, हीन और अविश्वासी बन जाता है । आज का युवा वर्ग इन बुरा-दियों से घिर रहा है और इसलिए वह निस्तेज और निरुत्साह हो गया है । वह इधर-उधर भटक रहा है । परिवार वाले भी परेशान हैं, माता-पिता भी चिन्तित हैं और इन बुरी आदतों से ग्रस्त व्यक्ति स्वयं को भी सुखी महसूस नहीं कर पाता है, किन्तु वह बुरी आदतों से मजबूर है । स्वयं को इनके चंगुल से मुक्त कराने में असमर्थ पा रहा है । यह उसकी सबसे बड़ी चारित्रिक दुर्बलता है ।

पहले व्यक्ति बुराइयों को पकड़ता है फिर फिर बुराइयाँ उसे इस प्रकार जकड़ लेती हैं कि वह आसानी से मुक्त नहीं हो पाता । वे बुराइयाँ, मनुष्य के मानसिक बल को खत्म कर देती हैं । नैतिक भावनाओं को समाप्त कर डालती हैं और शरीर शक्ति को भी क्षीण कर देती हैं इस प्रकार उसका नैतिक एवं शारीरिक पतन होता जाता है ।

युवाशक्ति को शक्तिशाली बनना है और अपने आत्मबल एवं चरित्रबल से समाज तथा

राष्ट्र का उत्थान करना है तो सबसे पहले स्वयं के चरित्र व नैतिक बल को सुदृढ़ व सुरक्षित रखना होगा ।

४. सहनशील बनिए—सहिष्णुता एक ऐसा गुण है जो मनुष्य को देवता बना देता है । कहावत है—सौ-सौ टाँचे खाकर महादेव बने हैं । पत्थर, हथौड़ी और छैनी की मार खा-खाकर ही देवता की मूर्ति बनती है । मनुष्य भी जीवन में कष्ट सहकर सफल होता है । बिना आग में तपे सोना कुन्दन नहीं होता, मिट्टी का घड़ा भी आग में पकने पर ही उपयोगी होता है । उसी प्रकार मनुष्य भी विपत्तियों, असफलताओं और परिस्थितियों से संघर्ष करके, प्रतिकूलताओं से जूझकर, कष्टों को सहन करके अपने चरित्र को निखार सकता है ।

युवा वर्ग में आज सहनशीलता की बहुत कमी है । सहनशीलता के जीवन में दो रूप हो सकते हैं—पहला कष्टों में धैर्य रखना, विपत्तियों में भी स्वयं को सन्तुलित और स्थिर रखना तथा दूसरा रूप है—दूसरों के दुर्वचन सहन करना, किसी अनजाने या विरोधी ने किसी प्रकार का अपमान कर दिया, तिरस्कार कर दिया तब भी अपना आपा न खोना । स्वयं को संभाले रखना और उसके अपमान का उत्तर अपमान से नहीं, किन्तु कर्तव्यपालन से और सहिष्णुता से देवें ।

युवक एक कर्मठ शक्ति का नाम है । जो काम करता है उसे समाज में भला-बुरा भी सुनना पड़ता है । शारीरिक कष्ट भी सहने पड़ते हैं और लोगों की आलोचना भी सुननी पड़ती है क्योंकि लोग आलोचना भी उसी की करते हैं जो कुछ करता है । जो निठल्ला बैठा है कुछ करता ही नहीं उसकी आलोचना भी क्या होगी, अतः कार्यकर्ताओं की समाज में आलोचनाएँ भी होती हैं ।

युवक क्रान्ति की उद्घोषणा करता है, परिवर्तन का बिगुल बजाता है, समाज व राष्ट्र की जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं को सुधारना, अन्धविश्वास

की जगह स्वस्थ उपयोगी कार्यक्रम देना चाहता है और समाज में जागृति लाना चाहता है, इन सुन्दर स्वप्नों को पूरा करने के लिए उसे समाज के साथ संघर्ष भी करना पड़ता है, परन्तु ध्यान रहे, इस संघर्ष में कटुता न आवे, व्यक्तिगत मान-अपमान की क्षुद्र भावनाएँ न जगें, किन्तु उदार व उदात्त दृष्टि रहे। आपका संघर्ष किसी व्यक्ति के साथ नहीं, विचारों के साथ है। भाई-भाई, पति-पत्नी, पिता-पुत्र दिन में भले ही अलग-अलग विचारों के खेमे में बैठे हों, किन्तु सायं जब घर पर मिलते हैं तो उनकी वैचारिक दूरियाँ बाहर रह जाती हैं और घर पर उसी प्रेम, स्नेह और सौहार्द की गंगा बहाते रहें—यह है वैचारिक उदारता और सहिष्णुता। जैनदर्शन यही सिखाता है कि मतभेद भले हो, मनभेद न हो। “मतभेद भले हो मन भर, मनभेद नहीं हो कण भर।” विचारों में भिन्नता हो सकती है, किन्तु मनों में विषमता न आने दो। विचारभेद को विचार सामंजस्य से सुलझाओ, और वैचारिक समन्वय करना सीखो।

युवा पीढ़ी में आज वैचारिक सहिष्णुता की अधिक कमी है और इसी कारण संघर्ष, विवाद एवं विग्रह की चिन्तनारियाँ उछल रही हैं, और युवा-शक्ति निर्माण की जगह विध्वंस के रास्ते पर जा रही है।

मैं युवकों से आग्रह करता हूँ कि वे स्वयं के व्यक्तित्व को गम्भीर बनायें, क्षुद्र विचार व छिछली प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर यौवन को समाज व राष्ट्र का शृंगार बनायें।

धन को नहीं, त्याग को महत्त्व दो

आज का युवा वर्ग लालसा और आकांक्षाओं से बुरी तरह ग्रस्त हो रहा है। मैं मानता हूँ भौतिक सुखों का आकर्षण ऐसा ही विचित्र है, इस आकर्षण की डोर से बंधा मनुष्य कठपुतली की तरह नाचता रहता है। आज का मानव धन को ही ईश्वर मान

बैठा है—‘सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते’ सभी गुण, सभी सुख धन के अधीन हैं, इस धारणा के कारण मनुष्य धन के पीछे पागल है और धन के लिए चाहे जैसा अन्याय, भ्रष्टाचार, अनीति, हिंसा, तोड़फोड़, हत्या, विश्वासघात कर सकता है। संसार में कोई पाप ऐसा नहीं जो धन का लोभी नहीं करता हो।

आज के जीवन में मनुष्य की आवश्यकताएँ, इच्छाएँ, अपेक्षाएँ इतनी ज्यादा बढ़ गई हैं कि उनकी पूर्ति के लिए धन की जरूरत पड़ती है, इसलिए मनुष्य धन के लोभ में सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। कुछ युवक ऐसे भी हैं, जिनमें एक तरफ धन की लालसा है, भौतिक सुख-सुविधाओं की इच्छा है तो दूसरी तरफ कुछ नीति, धर्म और ईश्वरीय विश्वास भी है। उनके मन में कभी-कभी द्वन्द्व छिड़ जाता है, नीति-अनीति का, न्याय-अन्याय का, धर्म-अधर्म का, प्रश्न उनके मन को मथता है, किन्तु आखिर में नीतिनिष्ठा, धर्मभावना दुर्बल हो जाती है। लालसाएँ जीत जाती हैं। वे अनीति व भ्रष्टाचार के शिकार होकर अपने आप से विद्रोह कर बैठते हैं।

युवावर्ग आज इन दोनों प्रकार की मनःस्थिति में है। पहला—जिसे धर्म व नीति का कोई विचार ही नहीं है वह उद्दाम लालसाओं के बश हुआ बड़े से बड़ा पाप करके भी अपने पाप पर पछलाता नहीं।

दूसरा वर्ग—पाप करते समय संकोच करता है कुछ सोचता भी है, किन्तु परिस्थितियों की मजबूरी कहें या उसकी मानसिक कमजोरी कहें—वह अनीति का शिकार हो जाता है।

एक तीसरा वर्ग ऐसा भी है—जिसे हम आटे में नमक के बराबर भी मान सकते हैं जो हर कीमत पर अपनी राष्ट्रभक्ति, देशप्रेम, धर्म एवं नैतिकता की रक्षा करना चाहता है और उसके लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी भी करने को तैयार रहता है। ऐसे युवक बहुत ही कम मिलते हैं; परन्तु अभाव नहीं है।

मैं आप युवा वर्ग से कहना चाहता हूँ शायद आप पहली या तीसरी कोटि में नहीं हैं। आप में से अधिकांश दूसरी स्थिति में हैं, जिनके मन में धर्म और नीति के प्रति एक निष्ठा है, एक सद्भावना है, किन्तु भौतिक प्रलोभनों का धक्का उस निष्ठा की कमजोर दीवार को गिरा सकता है अतः आपसे ही मेरा संदेश है कि आप स्वयं को ममज्ञें, अपने महान लक्ष्य को सामने रखें। महान लक्ष्य के लिए स्वयं बलिदान करने वाला मरकर भी अमर रहता है।

एक उर्वू शायर ने कहा है—

जी उठा मरने से, जिसकी खुदा पर थी नजर,
जिसने दुनियां ही को पाया, था वह सब खोके मरा !

□ □ □

जो जीना हो तो पहले जिन्दगी का मुद्दआ समझे
खुदा तोफीक दे तो आदमी खुद को खुदा समझे !

धन, सुख-सुविधायें, ऊंचा पद, ऐशो-आराम यह मनुष्य जीवन का लक्ष्य नहीं है, ये तो एकमात्र जीने के साधन हैं। साधन को साध्य समझ लेना भूल है। संसार में लाखों, करोड़ों लोगों को अपार सम्पत्ति और सुख साधन प्राप्त हैं, फिर भी वे बेचैन हैं और लूखी-सूखी खाकर भी मस्ती मारने वाले लोग दुनिया में बहुत हैं।

युवकों का दृष्टिकोण—आज धनपरक हो रहा है या सुखवादी होता जा रहा है। धन को ही सब कुछ मान बैठे हैं। उन्हें धन की जगह त्याग और सेवा की भावना जगानी होगी। संसार धन से नहीं, त्याग से चलता है, प्रेम से चलता है। एक माता पुत्र का पालन-पोषण किसी धन या उपकार की भावना से नहीं करती, वह तो प्रेम और स्नेह के कारण ही करती है। क्या कोई नर्स जिसको आप चाहें सौ रुपया रोज देकर रखें, माँ जैसी सेवा परिचर्या कर सकती है? धन कभी भी मनुष्य को, मनुष्य का मित्र नहीं बनने देता। धन के कारण तो

मनुष्य मनुष्य का शत्रु बन जाता है। मित्रता, प्रेम, त्याग और सेवा से ही मिलती है, प्रशंसा और कीर्ति धन से नहीं, कर्तव्य-पालन से मिलती है। मानसिक प्रसन्नता और आत्म-सन्तोष धन से कभी किसी को मिला है? नहीं! इसलिए युवा वर्ग को अपना दृष्टिकोण बदलना होगा। इन आंखों में लक्ष्मी के सपने नहीं किन्तु कर्तव्य-पालन और सेवा एवं सह-योग के संकल्प सँजोओ !

अधिकार बनाम कर्तव्य

आज चारों तर्फ अधिकारों की लड़ाई चल रही है। परिवार में पुत्र कहता है—मेरा यह अधिकार है, पुत्री कहती है—मेरा यह अधिकार है। पत्नी माता-पिता, सभी अपने-अपने अधिकार की लड़ाई में कर्तव्य एवं प्रेम का खून बहा रहे हैं। इसी प्रकार समाज में वर्ग संघर्ष बढ़ रहा है। नौकर अपने अधिकार की माँग करता है, तो मालिक अपने अधिकार की माँग करता है। अधिकार की भावना ने ही वर्ग संघर्ष को जन्म दिया है, परिवारों को तोड़ा है, घर को उजाड़ा है, और समाज—संस्था को भिन्न-भिन्न कर दिया है। अधिकार की लड़ाई में आज कर्तव्य-पालन कोई नहीं पूछता। पुत्र का अधिकार है, पिता की सम्पत्ति में, परन्तु कोई उससे पूछे, उसका कर्तव्य क्या है? माता-पिता की सेवा करना, उनका दुःख-दर्द बांटना, क्या पुत्र का अधिकार नहीं है। अधिकार की माँग करने वाला अपने कर्तव्य को क्यों नहीं समझता? यदि युवक, अपने कर्तव्य को समझ ले, तो अधिकारों का संघर्ष खत्म हो जायेगा, स्वयं ही उसे अधिकार प्राप्त हो जायेंगे।

एक सूक्ति है—‘भाग की चिन्ता मत करो, भाग्य पर भरोसा रखो। भगवान् सब कुछ देगा।’

मुझे एक कहानी याद आती है—एक बड़े धनाढ्य व्यक्ति ने एक नौकर रखा, उसको कहा गया, तुम्हें यह सब काम करने पड़ेंगे, जो हम

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३०६

चाहते हैं। नौकर ने कहा—मुझे आप लिस्ट बनाकर दे दीजिए, जो-जो काम करना है, वह पूरी वफादारी से करूँगा। उस व्यक्ति ने एक लम्बी लिस्ट (सूची) टाइप करवाकर सर्वेंट को दे दी। सुबह से शाम तक, यह तुम्हारी ड्यूटी है। उसने देखा—सुबह, सबसे पहले बाँस टहलने के लिए 'मोरनिंग-बाक' के लिए जाते हैं, तब उनके साथ-साथ जाना है।

एक दिन मालिक नहर के किनारे-किनारे टहल रहा था, टहलते हुए उसका एक पाँव फिसल गया और छपाक से नहर में डूबकियाँ लगाने लगा, चिल्लाया—'बचाओ' ! 'निकालो' ! पीछे-पीछे आता नौकर रुका, बोला, ठहरो—अभी देखता हूँ, अपनी ड्यूटी की लिस्ट में मालिक के नहर में गिरने पर, निकालने की ड्यूटी लिखी है, या नहीं ?

तो इस प्रकार की भावना, मालिक और नौकर के बीच हो, परिवार और समाज में हो, तो वहाँ कौन, किसका सुख-दुःख बाँटेगा ? कोई किसी के काम नहीं आयेगा ? अतः आवश्यक है, आप जीवन में कर्तव्य-पालन की भावना जगाएँ। अधिकार के लिए कुत्तों की तरह छीना-झपटी न करें। संसार में जितने भी व्यक्ति सफलता के

शिखर पर पहुँचे हैं, उनमें कर्तव्य-पालन की भावना अवश्य रही है। युवक जीवन में इन मुख्य गुणों के साथ-साथ कुछ ऐसे गुण भी आवश्यक हैं, जिन्हें हम जीवन-महल की नींव कह सकते हैं, या जीवन पुस्तक की भूमिका कहा जा सकता है। वे सुनने में बहुत ही सामान्य गुण हैं, किन्तु आचरण में असामान्य लाभ देते हैं। सच्चाई, ईमानदारी, सदाचार, विनम्रता और सदा प्रसन्नमुखता—ये गुण ऐसे साधारण लगते हैं, जैसे जीने के लिए पानी या हवा बहुत साधारण तत्व प्रतीत होते हैं, किन्तु जैसे पानी व पवन के बिना जीवन संभव नहीं है, उसी प्रकार इन गुणों के बिना जीवन में सफलता और सुख कभी संभव नहीं है।

आज का युवा वर्ग अपने आप को पहचाने, अपनी शक्तियों को पहचाने, और उन शक्तियों को जगाने के लिए प्रयत्नशील बने, जीवन को सुसंस्कारित करने के लिए दृढ़-संकल्प ले, तो कोई कारण नहीं कि युवा शक्ति का यह उद्घोष—'इस धरती पे लयेंगे स्वर्ग उतार के' सफल नहीं हो। अवश्य सफल हो सकता है। आज के युग में शिक्षा प्रसार काफी हुआ है, मगर संस्कार-प्रसार नहीं हो पाया है, अतः जरूरत है, युवाशक्ति को संस्कारित संगठित और अनुशासित होने की।.....जीवन निर्माण करके राष्ट्र-निर्माण में जुटने की" ○

(शेष पृष्ठ २६८ का)

प्रत्येक आत्मा जिनागम में प्रतिपादित, मुक्तिमार्ग का पालनकर ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। सहिष्णुता, समानता, सर्वजीवसमभावादि की नींव पर ही तो टिका है 'सर्वोदय' का दीप-स्तम्भ, जो आज की भटकी मानवता का मार्ग आलोकित कर सकता है।

आचार्य विनोबा भावे की प्रेरणा से 'जैनधर्म-सार' नामक उपयोगी पुस्तक श्री जिनेन्द्रवर्णीजी ने तैयार की। उसके 'निवेदन' के अन्त में 'विनोबा

का जयजगत्' लिखकर विश्व को अपना आशीर्वाद प्रदान किया है। भूदान-पद के सम्बन्ध में अपनी देश-व्यापी यात्राओं में सन्त विनोबा दिलों को जोड़ने का स्तुत्य प्रयास करते रहे। उनका 'जय-जगत्' का उद्घोष अहिंसा, अनेकान्तादि समन्वयवादी सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने से ही 'सर्वोदय' को अर्थवत्ता प्रदान कर सकता है। सबकी उन्नति से विश्वबन्धुत्व और विश्व-नागरिकता को सही दिशा मिल सकती है।

१ जैनधर्मसार, श्लोक ३-४

३१०

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

प्रायः यह कहा जाता है कि महावीर के सिद्धान्त बड़े कठोर और जटिल हैं। उनको समझना और समझकर उनके अनुरूप अपना जीवन चलाना वर्तमान परिस्थितियों में अत्यन्त कठिन है, पर जरा गहराई से चिन्तन करें तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। यह हमारे समझ की ही कमी है कि हम उनके सिद्धांतों को व्यावहारिक जीवन सन्दर्भों में नहीं देखकर दार्शनिक समस्याओं और मान्यताओं के सन्दर्भ में देखते और उनका मूल्यांकन करते हैं।

भगवान् महावीर ने बारह वर्षों से अधिक समय तक कठोर साधना और तपस्या कर जीवन और प्रकृति के सत्य को अनुभूति के स्तर पर समझा था। उन्होंने यह महसूस किया कि सभी प्राणियों में आत्म-चेतना का तत्व व्याप्त है, सबमें अपनी-अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार सुख-दुःख को अनुभव करने की क्षमता है, सबमें अपनी सुषुप्त शक्तियों को जागृत कर चेतना का चरम विकास करने का सामर्थ्य और स्वाधीन भाव हैं। सभी प्राणियों में मानव श्रेष्ठ है। उसमें संयम और धर्माराधना का विशिष्ट गुण है। राग-द्वेषरूप कर्म बीजों को नष्ट कर वह समता भाव में रमण करने की साधना में प्रवृत्त हो सकता है। उसमें श्रद्धा और साधना में प्रवृत्त होने की अद्भुत शक्ति है। महावीर ने मानव की इस शक्ति को धर्माराधना के केन्द्र में प्रतिष्ठापित किया और विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं के प्रति रही हुई दीन भावना को मिटाया। उन्होंने मनुष्य के अन्तर्मानस में रही हुई कर्म शक्ति और पुरुषार्थ साधना को सर्वोपरि माना।

पर यह बड़ी विचित्र स्थिति है कि महावीर को हुए ढाई हजार वर्षों से अधिक समय हो गया है, फिर भी हम मानवीय शक्ति और उसकी पुरुषार्थ साधना को अपनी गतिविधियों के केन्द्र में प्रतिष्ठापित नहीं कर पाये हैं। विविध अन्धविश्वासों, भाग्य प्रेरित विधि-विधानों जादू-टोनों, मनोतियों आदि में हमारा विश्वास है। अज्ञात लोक के रहस्यों व भीति प्रसंगों से हम आक्रान्त और भयभीत हैं। लगता है महावीर के मन, वचन और कर्म संस्कार से हमारी चेतना के तार नहीं जुड़े हैं। हम जुड़े हैं उन संस्कारों और प्रसंगों से जिनको आत्म-चेतना के साक्षात्कार में बाधक समझकर, महावीर ने ठुकरा दिया था। लगता है हमने अपने जीवन पथ को ही गलत दिशा की ओर मोड़ दिया है। इसलिए निरन्तर चलते रहने पर भी हम अपने गंतव्य को प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं।

महावीर का जीवन समुद्र की अनन्त गहराई और प्रशान्तता का

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का दैनिक जीवन में उपयोग

सी-२३५-ए, रथानन्द मार्ग, तिलकनगर, जयपुर-५

—डॉ० नरेन्द्र भानावर

जीवन था, जिसमें आत्मगुणों के अनेक मोती अवस्थित थे। हमारा जीवन समुद्र की ऊपरी सतह पर उछल कूद मचाने वाली लहरों का जीवन है, जिसमें हलचल, उथल-पुथल और उत्तेजना ही उत्तेजना है। महावीर का जीवन शाश्वत जीवन मूल्यों के लिए समर्पित था, जिसमें त्याग, प्रेम, दया, करुणा, मैत्री और सत्य का आलोक व्याप्त था पर हमारा जीवन सम-सामयिक बाजार मूल्यों का जीवन है, जिसमें सांसारिक विषय-भोगों की प्राप्ति की प्रतिस्पर्धा में मन्डी के भावों की तरह उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। महावीर का जीवन हार्दिकता से संचालित था। हमारा जीवन यांत्रिकता से संचालित है। महावीर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में विचरण किया करते थे। हम इन्द्रिय भोग और मनोरोग में विचरण करते रहते हैं। यही कारण है कि महावीर के सिद्धान्तों को हम बौद्धिक स्तर पर समर्थन देते हैं, वाणी से उनका गुणानुवाद करते हैं, पर कर्म से उसे आचरण में नहीं ला पाते, जीवन में नहीं उतार पाते। सिद्धान्त और आचरण का यह गतिरोध और द्वैत भाव वर्तमान सभ्यता की सबसे बड़ी दुःखान्तिका है।

महावीर ने बौद्धिक स्तर पर सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। अपनी अनुभूति के क्षणों में सदाचरण के आधार पर जो कुछ जीया, वही उन का धर्म सिद्धान्त बन गया। आज हम उनकी अनुभूतियों को आसानी से अपने जीवन के लिए प्रेरणा स्रोत के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, पर इसमें बाधक है—हमारा इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षण, क्रोध, मग्न, माया, लोभादि विकारों के प्रति आसक्ति, दूसरों को हीन समझने की वृत्ति और चित्तवृत्ति की वक्रता। इन बाधाओं को दूर कर महावीर के चरित्र को अपने लिए अनुकरणीय बनाने के लिए जीवन में शुद्धता और मन में सरलता का भाव आवश्यक है। चेतना की शुद्धता और सरलता होने पर ही

धर्म अर्थात् सदाचरण स्थित रह पाता है। आज चारों ओर अशुद्धता ही अशुद्धता है। यह अशुद्धता खाद्य पदार्थों से लेकर जीवन-व्यवहार के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। विडम्बना तो यह है कि प्रकृति ने जिन तत्वों को अशुद्धता-निवारक माना है, वे भूमि, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि तत्व भी अशुद्ध होते जा रहे हैं। इसका कारण है—अत्यन्त भोगलिप्सा और उसकी पूर्ति के लिए प्रकृति का निर्मम शोषण! यदि हम अपनी वृत्तियों पर संयम कर आवश्यकता से अधिक संग्रह न करें, अपने क्षणिक सुख के लिए दूसरों का शोषण न करें तो हमारी चेतना शुद्ध रह सकती है। शुद्धता की स्थिति ही स्वस्थता और स्वाधीनता की स्थिति है। जो शुद्ध नहीं है, वह स्वस्थ नहीं है और जो स्वस्थ नहीं है, वह तनाव-मुक्त नहीं है। वह कुष्ठाग्रस्त है, हताश, निराश, दीन-हीन और शरीर रहते हुए भी मृत-मूर्च्छित और जड़ है। महावीर ने इस जड़ता के खिलाफ क्रांति की और सदा जाग्रत रहने का रास्ता बताया। उठते-बैठते, चलते-फिरते खाते-पीते जो सजग और सावधान है, वह कभी अशुद्ध नहीं होता, अस्वस्थ नहीं होता।

इस जागरण के लिए उन्होंने जो मार्ग का संकेत किया वह मार्ग है—अहिंसा, संयम और तपरूप मार्ग। अहिंसा अर्थात् किसी भी प्राणी को मन-वचन और कर्म से दुःखी नहीं करना; जो दुःखी है, उनके दुःख को दूर करने में सदा सहयोगी बनना, प्रेम, करुणा और मैत्री के भावों से उनके हृदय के तारों के साथ अपने हृदय के तार जोड़ना, संकट के समय उनकी रक्षा करना, उनकी स्वतन्त्रता में बाधक कारणों को दूर करना। संयम का अर्थ है अपने मन वचन और कर्म की पवित्रता, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में न्यायपूर्वक, विवेकपूर्वक सामग्री का उपयोग, अपने अर्जन का समाजहित और लोकहित के लिए विसर्जन, अपनी वृत्तियों का संयमन और आत्मानुशासन। तप का अर्थ है अपने मानसिक विकारों को नष्ट करने के लिए सदाचरण की आग

में तपना, पकना, कठिनाइयों और मुसीबतों में धैर्य धारण करने का अभ्यास अनुकूल, परिस्थितियों में रोगासक्त न होना, कष्टसहिष्णुता और सहनशीलता का भाव विकसित करना, बिना स्वार्थ के लोकहित के लिए अपने को खपाना और शरीर तथा आत्मा के भेद को समझकर समताभाव में रमण करते हुए चिन्मयता से साक्षात्कार करना ।

अहिंसा, संयम और तप रूप इस धर्माराधना में प्रवेश करने के लिए महावीर ने चार द्वारों की ओर संकेत किया है । वे हैं— धर्म, निर्लोभता, सरलता और नम्रता । हम अपने दैनिक जीवन में यदि इन द्वारों में होकर निकलने की कला सीख जायें तो हमारे रागद्वेष, लड़ाई-झगड़े, कलह-क्लेश शान्त हो सकते हैं । जब भी कोई परिस्थिति आये हम उसे अनेकान्त दृष्टि से देखें, विविध कोणों से उस पर विचार करें, विभिन्न अपेक्षाओं से उसे तोलें । फिर धीरे-धीरे आप अनुभव करेंगे कि आपका क्रोध कम होता जा रहा है और क्रोधी व्यक्ति पर आपके मन में दया और क्षमा का भाव प्रकट होता जा रहा है । जब भी टेढ़ेपन अथवा वक्रता की बात आए आप अपने मन को हल्का कर लें, सरल बना लें । मन में निर्लोभता, तटस्थता का भाव ले आयें और यह सोचें कि जो अण वर्तमान में है, वह रहने वाला, टिकने वाला नहीं है । पर्याय नित्य बदलती है ।

शरीर से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी संयोग सम्बन्ध हैं, वे आज जैसे हैं, वैसे सदा रहने वाले नहीं हैं । फिर उन पर क्यों आसक्ति ? उनके लिए क्यों संघर्ष ? उनमें क्यों भोग-बुद्धि ? यों सोचते-सोचते जब आपकी विवेकवती बुद्धि प्रजावती बुद्धि जागृत होगी, तब आप तनाव में नहीं रहेंगे, कषाय क्लुषित नहीं रहेंगे, समतायुक्त बनेंगे, समतादर्शी बनेंगे । आपका दैनिक जीवन दैविक जीवन में बदल जायेगा ।

आज हमारी बुद्धि भोगबुद्धि और वृत्ति उप-भोगवृत्ति बनती जा रही है । यही कारण है कि हम दिन को भी रात बनाकर जीते हैं । हम महावीरता को अपनी चेतना के स्तर पर नहीं उतारकर, जो अपने से परे जीव जगत है, उसे शासित करने में, उन पर अधिकार जमाने में, उनकी स्वाधीनता छीनने में, उसके सुख-दुःख पर अपना नियंत्रण करने में अपनी वीरता-महावीरता का प्रदर्शन करते हैं । पर यह महावीरता, महावीरता नहीं है, यह तो पाशविकता है, बर्बरता है, क्रूरता है, कठोरता है । जब हम अपने मन को आस्थावान, सबल, उज्ज्वल, निर्मल, वीतराग बनायेंगे तब कहीं सच्ची महावीरता प्रकट होगी । महावीर की जीवनसाधना का यही सन्देश है । काश ! हम इस संदेश को चेतना की गहराई में उतारें ।

कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गाइं ।

कामना, नामना तथा कामभोगों की अति लालसा वाले मानवों की वे इच्छाएँ, आकांक्षाएँ तो तृप्त हो नहीं पातीं, अतृप्त होकर भी उनकी दुर्गति होती है ।



श्रमण संस्कृति का व्यापक दृष्टिकोण

□ बाल ब्रह्मचारिणी महाशती उज्ज्वलकुमारी जी की सुशिक्षा
—डॉ० साध्वी दिव्यप्रभा (एम. ए. पी.एच. डी.)

श्रमण एक शाब्दिक अर्थ

श्रमण संस्कृति का मूलाधार स्वयं श्रमण शब्द ही है। प्राकृत में यह शब्द 'समण' के रूप में मिलता है। परम्परा से रूपान्तर होते हुए यह शब्द तीन स्वरूप में उपलब्ध है—१. श्रमण—२. समन—३. शमन।

(१) श्रमण किसे कहते हैं—श्रमण शब्द श्रम धातु से बना है इसका अर्थ है श्रम करना। अर्थात् जो संयम में श्रम करे उसे श्रमण कहते हैं। श्रमण अपना विकास अपने ही परिश्रम से करता है। वह अन्तरंग उपयोग के साथ, विषय-वासना से पर होकर, यश, मान, सम्मान, प्रतिष्ठा की आंतरिक इच्छा से शून्य, मनसा, वाचा, कर्मणा से निश्चल, निष्कंप, एकाग्र बनकर, तप, त्याग, वैराग्य भाव में अनुरक्त होकर, उसी में चितन-मनन, निदिध्यासन करते हुए केवल निजात्मा को कर्ममल से विशुद्ध बनने का सतत श्रम करता है। अतः उस आत्म तत्त्व की प्रवृत्ति रूप श्रम में यदि उन्हें लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा या मान-अपमान जो कुछ भी हों, सर्वत्र वह स्वयं उत्तरदायी है।

आचार्य हरिभद्रसूरि श्रमण की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'नवि मुण्डिएण समणो। समयाए समणो होइ।' साधक केवल मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता किन्तु श्रमण होता है समता की साधना से।

(२) समन किसे कहते हैं—समन का अर्थ है समताभाव।

समन शब्द सम शब्द से व्युत्पन्न है। 'सममणई तेण सो समणो' जो जगत के सर्व जीवों को तुल्य मानता है वह समन है।

सूत्रकतांग सूत्र में भगवन्त ने कहा है कि मुनि गोत्र, कुल आदि का मद न करे, दूसरों से घृणा न करे, किन्तु सम रहे। जो दूसरों का तिरस्कार करता है वह चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है, इसीलिए मुनि मद न करे किन्तु सम रहे।^१

महत् पुरुषों की दृष्टि में राजा हो या रंक, सेठ हो या सेवक, मूर्ख हो या पण्डित, सभी समान होते हैं इसलिए ही चक्रवर्ती भी दीक्षित होने पर पूर्वदीक्षित अपने सेवक के सेवक को भी वन्दन करने में संकोच नहीं करता। किन्तु समत्व का आचरण करता है। समत्वयोगी विषय-कषायादि पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है।

१ सूत्रकतांग १/२/२/१

२ सूत्रकतांग १/२/२/२

दशवैकालिकनिर्युक्तिकार ने कहा है कि जिसका मन सम होता है, वह समन है। जिसके लिये कोई भी जीव न द्वेषी होता है, न रागी, वह अपनी सम मन-स्थिति के कारण समन कहलाता है। वह सोचता है जैसे मुझे दुःख अप्रिय है उसी प्रकार सर्व जीवों को दुःख अप्रिय ही है। ऐसी समत्व दृष्टि से जो साधक किसी भी प्राणी को दुःख नहीं पहुँचाता वह अपनी समगति के कारण समन कहलाता है।¹

इस प्रकार जो साधक अनासक्त होता है, काम-विरक्त होता है, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह की विकृतियों से रहित होता है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष इत्यादि जितने भी कर्मदान और आत्मा के पतन के हेतु हैं सबसे निवृत्त रहता है। इसी प्रकार जो इन्द्रियविजेता है, मोक्षमार्ग का पथिक है मोह ममत्व से पर है वह समन कहलाता है।

(३) शमन किसे कहते हैं—शमन का अर्थ है—अपनी वृत्तियों को शान्त रखना। वृत्तियाँ शुभ भी होती हैं और अशुभ भी। शुभ वृत्तियों से साधक का उत्थान होता है और अशुभ से पतन।

शमन का सम्बन्ध उपशम से भी है। जो छोटे-मोटे पापों का सर्वथा शमन करने वाला है, वह पाप का क्षय होने के कारण शमन कहलाता है।

शान्त पुरुष शम के द्वारा मंगल पुरुषार्थ का आचरण करते हैं। फलतः वे मुनि शम के द्वारा ही स्वर्ग में जाते हैं। इस प्रकार कई ऋषि-मुनियों ने शम को परम मोक्ष-साधन माना है।

श्रमण की दिनचर्या—

(१) श्रमण—सर्व दुःखों से मुक्त होने का प्रयत्न करे।

१ जइ मम न पियं दुखं जाणिय एमेव सव्व जीवाणं । न हणइ न हणवेइ य सममणइ तेण सो समणो ॥

—दशवैकालिकनिर्युक्ति गा. १५४

(२) श्रमण—पंच महाव्रतों को आत्महित के लिए विशुद्ध भाव से स्वीकार करे।

(३) श्रमण—विनय का प्रयोग आचार प्राप्त हेतु या कर्म निर्जरा हेतु करे।

(४) श्रमण—केवल जीवनयापन के लिए भिक्षा ग्रहण करे।

(५) श्रमण—वस्त्र, पात्र या उपकरण का ग्रहण और उपयोग जीवननिर्वाह के लिए करे।

(६) श्रमण—उपसर्ग-परीषह आदि को कर्म निर्जरा हेतु धर्म समझकर सहन करे।

(७) श्रमण—चित्त निरोध के लिए, ज्ञानप्राप्ति के लिए, स्वात्मा में संलग्न रहने के लिये और दूसरों को धर्म में स्थित करने के लिए अध्ययन करे।

(८) श्रमण—तप और त्याग न तो सुख-सुविधा के लिए करे न तो परलोक की समृद्धि हेतु करे न तो अपने मान-सम्मान या प्रतिष्ठा के लिये करे किंतु केवल आत्म-शुद्धि के लिये करे।

(९) श्रमण—अनुत्तर गुणों की संप्राप्ति हेतु गुरु को समर्पित होकर गुरु की आज्ञा में मोक्षमार्ग की आराधना करता रहे।

(१०) श्रमण—हाथी जितना विस्तृत काय वाला हो या कुंभुवे जितना सूक्ष्म हो किन्तु सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता अतः श्रमण प्राणी-वध का वर्जन करे।

(११) श्रमण—असत्य सत्पुरुषों की दृष्टि में गर्हित है जिससे उभयलोक की हानि समझकर श्रमण उसका सर्वथा त्याग करे।

(१२) श्रमण—अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, अनर्थ की खान है, अतः नरक में ले जाने वाले दुराचारों से श्रमण सर्वथा दूर रहे।

श्रमण और अहिंसा—

भगवान् महावीर ने कहा कि मेरी वाणी में

आस्था रखने वाला श्रमण छहों निकायों को अपनी आत्मा के समान माने। त्रस और स्थावर प्रत्येक जीवों की हिंसा से पर होवे। कीट, पतंग आदि जीव शरीर या उपकरणों पर चढ़ भी जाय तो श्रमण सावधानीपूर्वक उन्हें एकान्त में रखे। किन्तु त्रस जीवात्मा की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे, न करावे, न करने वालों की अनुमोदना करे मनसा वाचा कर्मणा।

श्रमण न स्वयं असत्य बोले, न दूसरों को असत्य बोलने की प्रेरणा दे और न असत्य का अनुमोदन करे। क्रोध से या भय से अपने लिए या दूसरों के लिए झूठ न बोले। सत्य हो किन्तु प्रिय न हो तो भी न बोले किन्तु सत्य का प्रतिपक्षी बना रहे।

श्रमण ग्राम नगर या अरण्य आदि कहीं भी अल्प या बहुत, छोटी या बड़ी, सचित्त या अचित्त कोई भी वस्तु बिना दी हुई न ले, न दूसरों को प्रेरित करे और न अदत्त ग्रहण का अनुमोदन करे इतना ही नहीं तप, वय, रूप और आचार भाव की भी चोरी न करे किन्तु अचीर्य भाव में अनुरक्त रहे।

श्रमण देव, मनुष्य या तिर्यच सम्बन्धी मैथुन का सेवन न स्वयं करे, न दूसरों को प्रेरित करे न मैथुन-सेवन का अनुमोदन करे किन्तु नववाड विशुद्ध ब्रह्म-चर्य का पालन करे।

श्रमण किसी भी पदार्थ के प्रति फिर वह बड़ा हो या छोटा, अल्पमात्रा में हो या बहुमात्रा वाला हो, सचित्त हो या अचित्त ममत्व न रखे। न दूसरों को ममत्व रखने के लिए प्रेरित करे, न ममत्व का अनुमोदन करे तथा खाद्य पदार्थ का संग्रह न करे।

वस्त्र, पात्र तो क्या इस शरीर पर भी ममत्व न रखे।

श्रमण ईर्या का संशोधन करता हुआ प्रकाशित मार्ग पर दया भाव से प्राणियों की रक्षा करने के लिए चार हाथ जमीन देखकर चले।

सोलह प्रकार की भाषा का परित्याग कर हित, मित और मधुर भाषा का प्रयोग करे।

वीर चर्या के द्वारा प्राप्त हुए और श्रावकों द्वारा भक्तिभावपूर्वक दिये गये निर्दोष आहार को यथोचित समय और मात्रा में ग्रहण करे।

श्रमण अपने उपकरणों को उपयोग से ले और रखे। तथा किसी प्रकार के जीवों को बाधा पीड़ा उपस्थित न होवे ऐसा स्थान को देखकर श्रमण मल-मूत्रादि त्यागे।

तथा श्रमण तीन गुण्णियों से युक्त होवे—

(१) मनगुण्णित्त—राग-द्वेष की निवृत्ति या मन का संवरण।

(२) वचनगुण्णित्त—असत्य वचन आदि की निवृत्ति या वचन का मीन।

(३) कायगुण्णित्त—हिंसादि की निवृत्ति या कायिक संवरण।

इस प्रकार जैन श्रमण संस्कृति में श्रमण का अत्यन्त महत्व है। आध्यात्मिक विकास क्रम में उसका छठा गुणस्थान है। इसी प्रकार श्रमणोचित प्रक्रिया में यदि श्रमण निरन्तर साधना करता रहे तो क्रमशः ऊर्ध्वमुखी विकास करता हुआ अन्त में चौदहवें गुणस्थान तक पहुँचकर अजर-अमर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।



जैन धर्म साधना तथा आचार का भव्य प्रासाद पंच आयामों की पुष्ट आधारशिला पर टिका हुआ है। कहते हैं कि भगवान महावीर के पूर्व जैन धर्म चतुर्आयामी ही था, उन्होंने इसमें पंचम आयाम 'ब्रह्मचर्य' की जोड़कर जैन धर्म को पंच आयामी धर्म बनाया। पंच आयाम इस प्रकार हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) अपरिग्रह एवं (५) ब्रह्मचर्य। प्रस्तुत निबन्ध में तृतीय आयाम 'अस्तेय' की विवेचना करना अभीष्ट है। 'दशवैकालिक सूत्र' में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्यं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तिं, उग्गहं से अजाइया ॥
तं अप्पणा न गिण्हन्ति, नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि नाण्जाणन्ति संजया ॥

—अध्याय ६ गाथा १४-१५

अर्थात्—पदार्थ सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या बहुत, यहाँ तक कि दाँत कुरेदने वाली सीक जैसी तुच्छ वस्तु ही क्यों न हो, पूर्ण संयमी साधक दूसरों की वस्तु को उनकी अनुमति के बिना न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करते हैं। आशय यह है कि जो व्यक्ति दूसरों की तृणमात्र वस्तु भी यदि स्वयं चुराता है या चोरी करने की इच्छा करता है अथवा दूसरों को चुराने हेतु प्रेरित या उनके चुराने का अनुमोदन करता है वह चोर है और जो व्यक्ति इस प्रकार के कृत्यों का सर्वदा और सर्वथा त्याग करता है वह अस्तेय का पालक है। स्तेय का अर्थ है चोरी करना और चोरी न करना अस्तेय कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही बात दोहराई गयी है (अध्याय १६ गाथा २७)। 'सूत्रकृतांग' की गाथाएँ और भी स्पष्ट उद्घोषणा करती हैं—

तिब्बं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिसति आयसुय पडुच्च ।
जे नूसए होई अबसहारी, ण तिक्कई सेय वियस्स किञ्चि ॥
उड्ढं अहे य तिरियं विसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्वेहिं पाएहिं य संजमिता, अदिन्नमझेसु य नो गहेज्जा ॥

—सू. ५/१/४, १/१०/२

अर्थात् जो मनुष्य अपने सुख के लिए त्रस तथा स्थावर प्राणियों की क्रूरतापूर्वक हिंसा करता है, उन्हें अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाता है एवं दूसरों की चोरी करता है और आदरणीय व्रतों का कुछ भी

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

जैन साधना का तृतीय आयाम—

अदत्तादान-विरमणा की वर्तमान प्रासंगिकता

(प्रकाशक, दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर)
—ब्रजनारायण शर्मा

पालन नहीं करता वह भयंकर क्लेश और विषाद उठाता है। अतः संयमी साधक को ऊँची-नीची तथा तिरछी दिशाओं में जहाँ कहीं भी त्रस और स्थावर प्राणी रहते हों—विचरते हों उन्हें संयम से रहकर अपने हाथों से, पैरों से या किसी भी अंग से पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए। दूसरों की बिना दी हुई वस्तु भी चोरी से ग्रहण नहीं करना चाहिए।

परवस्तुहरण चौर्य कर्म है और इस कुटेव का सर्वथा परित्याग अचौर्य या अस्तेय है। अचौर्य या अस्तेय का अर्थ चोरी न करना तो है ही परन्तु यह पद निषेधपरक ही नहीं है। इसकी विधिपरक व्याख्या भी की जा सकती है। ईमानदारी, अधिकार और कर्तव्य के प्रति जागरूक रहकर उनका सम्यक् उपभोग करना भी अचौर्य वृत्ति में सम्मिलित है।

अधिकारों का अपहरण, शोषण करना, दूसरों को अपना गुलाम (दास) बनाना, लोगों के स्वत्व छीनकर उन्हें अपने आदेश मनवाने हेतु बाध्य करना आदि गृहित कार्य स्तेय वृत्ति के ही उपजीवी हैं। किसी भी अवस्था में जीवनोपयोगी आवश्यक मूल्यों का अपहरण न करना ही अस्तेय है।

श्रमण परम्परा के दूसरे स्तम्भ बौद्ध धर्म में भी पंचशील के अन्तर्गत अस्तेय की गणना की गयी है। अष्टांगिक आर्य मार्ग के पंचम सोपान की चर्चा करते हुए बौद्ध धर्म में भी कहा गया है कि जीवन-यापन तथा जीवन-रक्षण हेतु मानव मात्र को किसी न किसी जीविका को अपना आवश्यक है किन्तु जीविका सम्यक् होनी चाहिए। इससे न तो किसी प्राणी को किसी प्रकार का क्लेश पहुँचाना चाहिए और न उनकी हिंसा। इसीलिए 'लक्खण सुत्त'— ३ में भगवान् बुद्ध ने निम्नांकित जीविकाओं को गृहणीय और हेय बतलाया है—तराजू की ठगी, कंस की ठगी, मान की ठगी, रिश्वत लेना, वंचना, कृतघ्नता, डाका-लूटपाट आदि। इस धर्म में भी अस्तेय को पंचशीलों में तृतीय शील ही बतलाया गया है।

वैदिक परम्परा में भी अस्तेय पर ११र्पाप्त विचार-विमर्श हुआ है। मनुस्मृतिकार यमों की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं—

यमान सेवेत सततं न नियमान केवलान् बुधः ।
यमान पतत्य कुर्वाणो नियमान केवलान् भजन् ॥

अर्थात् बुद्धिमान व्यक्तियों को सतत यमों का सेवन (पालन) करना चाहिए, केवल नियमों का नहीं क्योंकि नियमों का पालन करने वाला यमों के पालन के अभाव में गिर जाता है। महर्षि पतंजलि ने अपने 'योगसूत्र' के साधनपाद के सूत्र ३० में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य को यम कहा है। यहाँ भी अस्तेय के ऊपर दो और नीचे दो यम रखे गये हैं अर्थात् अस्तेय तृतीय स्थान पर ही रखा गया है। यम-नियम के पालन के बिना कोई भी साधनारत अभ्यासी योगी नहीं बन सकता। योगाभ्यासी या अधिकारी ही नहीं वरन् इनका पालन सभी आश्रमत्रासियों के लिए आवश्यक है। यमों का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव समाज से बड़ा घनिष्ठ है। अतः इनके पालन में सभी परतन्त्र हैं। ये मानव के परम कर्तव्य हैं। इसीलिए अगले इकतीसवें सूत्र में महर्षि पतंजलि ने इन यमों को जाति, देश, काल तथा समय (अवस्था विशेष या विशेष नियम) की सीमा से परे बतलाया है। इन्हें सार्वभौम महाव्रतों की संज्ञा दी गयी है। आशय यह, कि यमों का पालन किसी जाति विशेष, देश विशेष, काल विशेष या अवस्था विशेष के मानव समुदाय के लिए नहीं वरन् भू-मण्डल पर रहने वाले समस्त मानव समाज के लिए इनका पालन करना उपादेय और अपरिहार्य है। यम का अर्थ ही शासन और व्यवस्था बनाये रखने वाले नियमों से है। अभाव सर्वदा भाव निरूपण के अधीन रहता है। इसीलिए सूत्र ३० की व्याख्या में भाष्यकार व्यास जी ने लिखा है, "अशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं स्तेयम् । तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति ।" स्तेय को परिभाषित करते हुए उसके प्रतिषेध को अस्तेय कहा है। स्तेय वृत्ति अशास्त्र-

पूर्वक है। किसी की आज्ञा के बिना किसी अन्य व्यक्ति के द्रव्यों का अपहरण करना स्तेय है। उसका प्रतिषेध ही नहीं प्रत्युत मन में अन्य व्यक्ति के द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा का अभाव ही अस्तेय कहा जाता है।

पातंजल योग में विवेचित यम को सार्वभौम महाव्रत कहा गया है। जैन और बौद्ध श्रमण परम्परा में वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था को अमान्य ठहराते हुए सभी वर्णों के लिए धर्म के द्वार खोल दिये गये हैं। ब्राह्मणों और पुरोहितों के सर्वश्रेष्ठ होने की मान्यता को भी धराशायी कर दिया गया है। इसी प्रकार आश्रम व्यवस्था में भी इन्हें दो ही आश्रम गृहस्थ और संन्यास रुचिकर लगे और तदनु रूप इन्हें अपने-अपने संघों के चार दिभाग—साधु और साध्वी (मुनि-आयिका) अथवा भिक्षु और भिक्षुणी तथा श्रावक और श्राविका इष्ट हैं। अधिकारी की दृष्टि से जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में साधु और साध्वियों के लिए इन व्रतों का अपवादरहित कठोरता से पालन करने का उपक्रम रचा गया। इसलिए इनके लिए ये महाव्रत समझे गये। गृहस्थ श्रावक और श्राविकाओं के लिए यथाशक्ति और क्षमता के अनुरूप इनके पालन का विधान किया गया। इसलिए इनके लिए ये व्रत अणुव्रत माने गये। इस तरह जैन और बौद्ध धर्मों में मानव संघ को दो आश्रमों और दो वर्णों में विभाजित किया है।

जहाँ तक मुझे विदित है मेरे अल्प अध्ययन के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि भगवान् महावीर ने व्रतों के पालन में कभी कोई ढील दी हो अथवा किसी व्यक्ति विशेष को समय-काल-परिस्थिति के आधार पर इनके पालन में कोई सुविधा (कंसेशन) दी हो मुझे ज्ञात नहीं है। तप और संयम के प्रसंग में वे सर्वदा असमझौतावादी ही बने रहे हैं। अपने व्रत पर अडिग रहना ही उनकी विशेषता है। 'न दैन्यं, न पलायनम्' अर्थात् शारीरिक कमजोरी या

अशक्तता के कारण दीनता दिखलाना या कठोर संयम का पालन न करने के कारण भाग उठना महावीर शिक्षा नहीं है। क्योंकि महाव्रतों के पालन तथा अन्यत्र भी वे 'णो हीणे, णो अतिरित्ते' (आचारंग सूत्र ७५) किसी को हीन या महान मानने के पक्ष में नहीं जान पड़ते। उनके मत में संयम की भट्टी में उग्र तप किये बिना कोई भी व्यक्ति जिन नहीं बन सकता। क्योंकि जीव दया, इन्द्रिय संयम, संयं, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यक्ज्ञानदर्शन, तप ये सभी शील के ही परिवार हैं। [शीलपाट्ट १६]

महर्षि पातंजलि और भगवान् महावीर की अपवादविहीन महाव्रत पालन करने की क्षमता धीरे-धीरे क्षीण होती गई और कालान्तर में जैन गृहस्थ श्रावक-श्राविका समाज ने भी बड़ी कुशलता तथा प्रावीण्य के साथ अपने लिए कंसेशन-सुविधाओं की ढील जोड़ ली और गलियाँ ढूँढ़ लीं। कठोर संयम, उग्र तप-व्रतों का अपवादरहित पालन मुनि-आयिकाओं के जिम्मे छोड़ वह बरी हो गया। परिग्रह तथा स्तेय के नित नये हथकण्डे अपनाने लगा। जैन समाज ही इसका शिकार नहीं है अपितु सम्पूर्ण भारतीय या विश्व-मानव समाज इन बुराइयों से कहाँ बच पाया है।

जब तक व्यक्ति केवल अपने तक ही सीमित एकाकी रहता है तब तक उसके सामने महत्वाकांक्षा और उसकी पूर्ति हेतु परिग्रह या संग्रह अथवा चोरी, संग्रह के लिए शोषण-अपहरण, इस विधा को सुचारु अग्रसर करने के लिए बौद्धिक कौशल और शारीरिक शक्ति का विकास एवं बौद्धिक-शारीरिक बल के लिए विद्या का दुरुपयोग, दुरभिसंधि, स्पर्धा आदि समस्याएँ उत्पन्न नहीं होतीं। किन्तु अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु व्यक्ति ज्योंही समाज में प्रवेश करता है त्योंही वह अपनी दुर्बलता का प्रतिकार करने के लिए और महत्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु स्पर्धा और शक्ति संचय

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३१६

की अंधी दौड़ में लग जाता है। यह दौड़ उसे शोषण करना सिखाती है। शोषण से अव्यवस्था, अशांति, क्लेश, तनाव उत्पन्न होते हैं। उपद्रव, विद्रोह, विप्लव, युद्ध तथा संघर्ष आरम्भ हो जाते हैं। समाज का ढाँचा चरमराने लग जाता है। तब उसकी पुनर्व्यवस्था हेतु दण्डनीति, अनुशासन एवं न्याय व्यवस्था जन्म लेती है। मर्यादाहीनता को मिटाने के लिए धर्म संहिता तथा दण्ड संहिताओं का निर्माण किया जाता है। समाज की महत्त्वपूर्ण घटक इकाई होने के कारण व्यक्ति अपने आचार-विचार तथा प्रवृत्तियों द्वारा समाज के अन्य घटकों को भी प्रभावित करता रहता है। इसीलिए व्यक्ति की उच्छृंखलता-उद्वृण्डता-स्वार्थ लोलुपता को रूपान्तरित करने के लिए महापुरुष समाज में व्रत विधान की एक ओर व्यवस्था संजोता है और दूसरी ओर भीषण यातनाओं सहित राजकीय दण्ड नीति द्वारा उस पर अंकुश भी लगाता है। यदि हर व्यक्ति नैतिक सदाचरण करे, ईमानदारी के साथ कर्तव्यपरायण हो जाये तो समाज में सुख-शान्ति और समृद्धि लायी जा सकती है। अतः समाज को सुसंगठित सुसंस्कृत, एवं सबल बनाने के लिए धर्माचरण के मूलमंत्र व्रतों को अपनाना अनिवार्य है। वैदिक तथा श्रमण परंपराओं में इसीलिए अपने-अपने ढंग से व्रतों को यम अथवा शील का अनिवार्य अंग बनाया गया है।

केवल छिपकर किसी की वस्तु को अथवा धन को चुराना ही अस्तेय नहीं है परन्तु किसी चोर को स्वयं या दूसरे द्वारा चोरी करने के लिये प्रेरित करना या कराना या अनुमोदन अथवा प्रशंसा करना तथा चोरी करने के लिए उपकरण प्रदान करना, चोरी के माल को बेचना या बिकवाना भी चोरी है।

वर्तमान संदर्भ में अस्तेय पालन की परम आवश्यकता है। कई दिन भूख से तंग आकर कोई भूखा व्यक्ति यदि किसी हलवाई की दुकान से कुछ खाने की वस्तु चुरा लेता है तो वह इतना गुनाहगार नहीं है जितने कि निम्नलिखित श्रेणी वाले लोग। नव

श्रेणियों में इनको मुख्यतया बाँटा जा सकता है। इन श्रेणियों के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की चोरियों में अहर्निश लगे हुए हैं। अधिकांश लोग अस्तेय रोग से ग्रस्त हैं। अपनी ही अधिकार मर्यादा में सन्तुष्ट रहने वाले ईमानदार और कर्तव्यपरायण व्यक्ति आज अंगुली पर गिनने लायक ही होंगे। वस्तुतः चोरी करना गुलाब की सेज नहीं है वरन् यह साहस का कार्य है। प्रायः लोग चोरी करने की सोचते तो हैं पर वे मानसिक रूप से हिम्मत नहीं जुटा पाते। ऐसे लोग मौका लगते ही हाथ साफ करने में नहीं चूकते। अतः ये भी चौर्य कर्म के भागी हैं। मोटे तौर पर इन नव श्वेत हस्तियों के कारनामों का विवरण इस प्रकार अंकित किया जा सकता है—

१. अधिकारजीवी सवर्ण—संकुचित विचार-धारा वाले संकीर्ण हृदय सवर्ण ऊँची जाति के कहलाने वाले समृद्ध तथा असमृद्ध अपने आपको धर्म का ठेकेदार मानने वाले लोग इस श्रेणी में समाविष्ट होंगे। ये तथाकथित ऊँची जाति वाले गरीब दीन-हीन पिछड़ी या नीची जाति के लोगों को अस्पृश्य समझने वाले लोग हैं जो उनके धार्मिक, सामाजिक, नागरिक अधिकारों को हड़पकर इठलाते हैं। ये लोग उनके जीवनोपयोगी अधिकारों का दिन-रात हरण करने में तल्लीन रहते हैं। जैन परम्परा ही नहीं वरन् सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने जीवात्मा को ऊर्ध्वगमनशील मान्य किया है। आत्मोन्नति करना प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। यही नहीं, मानव देह पाकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का प्रयास करना मानव का परम उद्देश्य या पुरुषार्थ भी है। सर्वोदय की रट लगाने वाले ये मदान्ध सवर्ण हरिजनों और निम्न जाति के निरीह-निर्दोष दीन-हीन जनों के झोपड़ों में आग लगाकर, उन्हें धधकती ज्वाला में अपने प्राणों की आहूति देने के लिए बाध्य कर देते हैं। इस प्रकार उनके जीवित रहने के अधिकार को हड़प कर जाते हैं और जब वे लोग त्राण पाने के लिए धर्मान्तरण कर लेते हैं तो उन पर मगरमच्छी अश्रुपात करते हैं।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

२. धनजीवी, उद्योगपति, व्यापारी और साहू-कार—इस वर्ग में वे सब श्रावक-श्राविका तथा अन्य धनाढ्य श्रेणी के लोग समाविष्ट हैं जिनका तीर्थकर, तथागत, भगवान्, अल्लाह या गॉड लाभ है। अनुचित लाभ कमाने की होड़ में ये कम तोलते हैं, चोरी का माल औने-पौने दामों में खरी-दते हैं, चोरी करवाते हैं, वनस्पति में गाय की चर्बी, हल्दी में पीली मिट्टी, धनिये में भूसा आदि मिलाते हैं। यही नहीं नकली दवा निर्माण और उनमें मिलावट कर ये जन-जीवन से खिलवाड़ करते हैं। दूसरों को येन-केन-प्रकारेण ठगना इनका व्यापारिक कौशल बन गया है। व्याज की ऊंची दर ऐंठकर महाराज साहब या मुनि या साधु की शरण में जा शांति खोजने का नाटक रचते हैं। टेक्स चोरी इनका प्रिय खेल है और बेईमानी शगल।

३. रिश्वतजीवी राजकीय अराजकीय कर्मचारी और अधिकारी—आज के समाज में ऐसा कोई विभाग शायद ही बचा हो जो किसी न किसी भ्रष्ट आचरण से अछूता हो। शासकीय और अशासकीय संस्थान भ्रष्टाचार के ज्वलंत अड्डे बनते जा रहे हैं। रिश्वत आज के युग में शिष्टा-चार बन गयी है। जितनी बड़ी सीट उतना बड़ा दाम। बिना पैसे दिये मजाल है कि फाइल एक इंच भी आगे खिसक जाये। समय पर काम नहीं करना इनका जन्मसिद्ध अधिकार है। ठीक भी है, यदि समय पर आसानी से जनता का कार्य निपट जाये तो उन्हें क्या पागल कुत्ते ने काटा है जो इनको रिश्वत चुपड़ी रोटी डालें। कामचोरी देश को रसातल में ढकेल रही है। पर परवाह किसे है? छोटे कर्मचारी से अपना-अपना शेयर वसूल कर बड़े-बड़े अधिकारी सीधे भी व्यापारी और उद्योग-पतियों से बहुत बड़ा अंशदान वसूलने में अहर्निश लगे हुए हैं।

४. अवैध आयजीवी, डाक्टर, वकील, इंजी-नियर, ठेकेदार व जमींदार—मुर्दे को डिस्टिल

वाटर का इंजेक्शन लगा अपनी फोस वसूल करने में डॉक्टर अपने आपको कृतकृत्य समझ रहा है। आज बिना पैसे दिये मजाल है कोई मरीज ऑपरे-शन थियेटर में पहुँच जाये अथवा उचित औषधि अस्पताल से पा जाये। दवायें चोरी से बेचना या मुँह देखकर बड़ों को तिलक लगाने के फलस्वरूप उन्हें महँगी दवायें मुफ्त देकर अपने लिए अन्य सुविधायें जुटाना डॉक्टरों का पवित्र व्यवसाय बन गया है। अस्पताल में जिम्मेदारी ड्यूटी से न कर घर पर क्लीनिक चला, दोनों हाथों से धन बटोरना इनका मुख्य व्यवसाय बन गया है। वकील दोनों पक्षों से मिलकर जजों को यथायोग्य दक्षिणा देकर निर्णय अपने पक्ष में करवाने में माहिर होते जा रहे हैं। न्यायालयों में फैसले कानून के अनुसार नहीं वरन् कितनी रकम कौन दे सकता है और जज को क्य कर सकता है उस पर प्रायः निर्भर होते जा रहे हैं। वाबुओं को भूर-सी बँटवाने में भी वकीलों का हाथ रहता है ताकि वे उनकी जायज-नाजायज इच्छाओं की पूर्ति कर सकें। इंजीनियर और ठेके-दारों की साठ-गाँठ रेत से ढहने वाले बाँधों-पुल्लो-मकानों में कहर ढा रही है। बड़े-बड़े खेतों के स्वामी जमींदार स्वयं तो हल की मूठ नहीं पकड़ते पर खेतिहर मजदूरों को बन्धुआ बनाकर बेगार में जांत गुलछरें उड़ाते हैं। सब चोर हैं। चोरी करने के ढंग अलग-अलग हैं।

५. चन्दाजीवी नेतागण—विभिन्न बहाने लेकर नेताजी चन्दा बटोरने में दिन-रात लगे हुए हैं। मन्त्री, विधायक तथा सांसद भी इस कार्य में पीछे नहीं हैं। अपना सर्वस्व जनता के लिए न्यौछावर कर उसकी सेवा करने के दिन लद गये। आज सेठों और पूँजीपतियों के हाथों कठपुतली-सा नाच नाचने वाले तथा उच्च अधिकारियों के माध्यम से अपनी चौथ वसूलने वाले ये नेतागण रातोंरात लखपति और यदि चुन लिए गए तो अपने कार्यकाल में सात पीढ़ियों तक चलने वाला धन बटोर लेते हैं। चोर दरवाजा इनका साहूकारी का प्रमाण है।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३२१

६. विद्याजीवी, शिक्षाविद्, पत्रकार-सम्पादक-प्रकाशक एवं लेखक—आज शिक्षाविद् अपनी उच्च शिक्षा के बलबूते पर नये-नये हथकण्डे खोजने में रत रहते हैं ताकि उनके पास भी नम्बर दो की आय की वर्षा होने लगे और वे भी लखपति बन कारों-बंगलों-कोठियों में ऐश करें। माँ शारदा का पुजारी भी लक्ष्मी की शरण में जाकर अपना पवित्र व्यवसाय बिसरा-सा रहा है। प्रकाशक-सम्पादकगण लेखकों का शोषण करना अपना फर्ज-सा मान बैठे हैं। लेखकगण भी परिश्रम न कर इधर-उधर की दो-चार किताबों से सामग्री चुराकर अपना नाम रोशन करने में लगे हुए हैं। पीत पत्रकारिता पत्रकारों का दूसरे रास्ते से पैसा ऐंठने का व्यवसाय बनता जा रहा है।

७. श्रमजीवी कृषक और मजदूर—'पैसा पूरा किन्तु काम नहीं' आज के श्रमिक का नारा है। पूरी मजदूरी पाकर भी कृषक, खेतिहर मजदूर तथा अन्य श्रमिकगण काम पूरा करना अपनी जिम्मेदारी नहीं समझता। बीड़ी पीना, सुस्ताना, धीमी गति से कार्य करना इनका शगल बन गया है। श्रम पर पलकर भी ये श्रम का मूल्य नहीं आँकते। उचित मजदूरी न पाने पर उसके प्रति विद्रोही स्वर उठाने का साहस इनमें नहीं होता। इसीलिए श्रमिक नेता इनके कन्धे पर बन्दूक रखकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि की गोली आये दिन दागते रहते हैं। ईमानदार तथा हितैषी मालिक, जो आजकल बिरले ही हैं, उनके विरोध में भी ये हड़ताल का अस्त्र अपना कर उस उद्योग और उद्योगपति को धराशायी करने का प्रयास करते हैं।

८. लूटजीवी, चोर-उच्चवक्के, तस्कर एवं डाकू—इन श्रेणियों के लोग तो घोषित चोर हैं ही। इनमें भी ऊँचे दर्जे के तस्कर और सट्टेबाज दिन के उजाले में भले मानुष तथा रात्रि के अन्धकार में काले कारनामे करते हैं। दिन ठूना और रात चौमुना धन बटोर कर भी उनकी धनलिप्सा और हबस नहीं मिटती।

९. परधनोपजीवी साधु-संन्यासी-मठाधीश-पण्डित एवं धर्म प्रचारक—प्रातः स्मरणीय पूजनीय जैन साधु-मुनिगण वास्तव में स्तुत्य हैं क्योंकि वे अन्य मठाधीशों की भाँति किसी प्रकार का कोई परिग्रह नहीं पालते। अस्तेय का पालन कैसा होता है इनसे सीखा जाना चाहिए। ये जनता को अस्तेय की ओर प्रेरित करते हैं। अन्य मतों में भी नामा परमहंस उच्च कोटि के हैं जो समाज को देते ही देते हैं बदले में तृण की इच्छा भी नहीं रखते। किन्तु इनकी संख्या नगण्य मात्र है। जेप सभी मठाधीश कभी किसी यज्ञ, कभी किसी अनुष्ठान, कभी किसी मन्दिर का निर्माण आयोजित कर धर्म की आड़ में अपनी रोटियाँ सेकते हैं। समाज के पैसे पर इनमें कई सुरा और सुन्दरी की मौज में ऐश कर रहे हैं। न कोई काम, न कोई चिन्ता।

यद्यपि जितने चोर हैं उतने ही उनके चोरी के ढंग हैं। 'चोर अनन्त चोरी अनन्त' फिर भी सुविधा की दृष्टि से समस्त चोर कर्मों को उक्त नवकोटियों में रखा जा सकता है। अस्तेय पालन में किसी प्रकार की कोई छूट नहीं है। चार प्रकार की हिंसाओं में से जीवन संरक्षण हेतु कुछ हिंसा तो करनी ही पड़ेगी। 'जीवो जीवस्य भोजनम्'—जीव ही जीव का भोजन है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार में रहकर मानव ही नहीं प्राणीमात्र पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। जीवन जब दाव पर लगा हो तो वहाँ असत्य भाषण भी क्षम्य बतलाया गया है। जीवन-यापन करने के लिए कुछ न कुछ परिग्रह तो पालना ही होगा तथा संतानोत्पत्ति और संसार चलाने हेतु ब्रह्मचर्य की भी छूट सभी आचार शास्त्रों में दी गयी है। बाल ब्रह्मचारी रह कर इस कमी को संन्यासीगण पूरा करने का प्रयास करते हैं किन्तु चैल या अचैल (वस्त्रधारी या दिगम्बर) साधुगण भी स्तेय को किसी भी अवस्था में नहीं अपना सकते। इसी प्रकार गृहस्थगण भी चौर्य (शेष पृष्ठ ३२७ पर)

जैन आगम साहित्य तथा अन्य जैन साहित्य का अध्ययन अभी तक जैनधर्म-दर्शन के लिए हुआ उतना अन्य विषय के लिए नहीं हुआ। यह माना कि जैन आगम साहित्य धार्मिक ग्रन्थ हैं। उनमें जैनधर्म और दर्शन विषयक विपुल सामग्री है। इसका अर्थ यह तो नहीं कि उन ग्रन्थों में अन्य विषयों से सम्बन्धित सामग्री नहीं है। धर्म-दर्शन-प्रधान ग्रन्थ विषय होते हुए भी इन ग्रन्थों में इतिहास, समाजशास्त्र, विज्ञान, अर्थशास्त्र, गणित, आयुर्वेद, राजनीति विज्ञान, प्रभृति विषयों से सम्बन्धी ज्ञान पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। जैन अध्येता-मुनियों ने धर्मदर्शन के अतिरिक्त कुछ कार्य ज्योतिष पर भी किया है। यदि व्यवस्थित रूप से इन आगम ग्रन्थों और इनसे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों का अध्ययन किया जाये तो उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित नई-नई जानकारीयाँ मिल सकती हैं। इस लघु निबन्ध में जैन साहित्य में वर्णित दण्डनीति पर संक्षेप में विचार करने का प्रयास किया जा रहा है। अभी तक जनमानस के सम्मुख इस प्रकार की सामग्री प्रकाश में नहीं आई है या लाने का प्रयास ही नहीं किया गया है। यदि इस निबन्ध से कहीं आगे कुछ कार्य होता है तो मैं अपना यह प्रयास सार्थक समझूंगा। इस निबन्ध से जैन साहित्य में वर्णित दण्डनीति का विकास और स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी।

इस प्रकार के संकेत हैं कि जैन साहित्य के अनुसार प्रारम्भ में सतयुग जैसी स्थिति थी। किसी प्रकार का कोई झगड़ा-फसाद नहीं था। कुलकरोँ की व्यवस्था के अन्तर्गत सब कार्य सुचारु रूप से चल रहे थे किन्तु जैसे-जैसे कल्पवृक्षों की क्षीणता बढ़ती गई वैसे-वैसे युगलों का उन पर ममत्व बढ़ने लगा। इससे कलह और वैमनस्य की भावना का जन्म हुआ और अपराधों का भी जन्म हुआ। इससे समाज में अव्यवस्था फैलने लगी। जन-जीवन त्रस्त हो उठा और तब अपराधी मनोवृत्ति को दबाने के उपाय खोजे जाने लगे। उसी के परिणामस्वरूप दण्डनीति का प्रादुर्भाव हुआ।¹ यहाँ यह स्पष्ट करना प्रासंगिक ही होगा कि इसके पूर्व किसी प्रकार की कोई दण्डनीति नहीं थी, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। जैन साहित्य के अनुसार सर्वप्रथम 'हाकार', 'माकार' और 'धिव्कार नीति' का प्रचलन हुआ। जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. दण्डः अपराधिनाः मनुशासनस्तत्र तस्य वा स एव वा नीतिः तयो दण्डनीतिः।

—स्थानांगवृत्ति प. ३९९-४०१

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३२३

जैन साहित्य में वर्णित

प्राचीन भारतीय दण्डनीति

११ अक्षयत मार्ग, गन्धी नं० २, काजीबाड़ा उज्जैन (म. प्र.) ४५६००६

—डॉ० तेजसिंह गौड़

हाकार नीति—इस नीति का प्रचलन कुलकर विमलवाहन के समय हुआ। इस नीति के अनुसार अपराधी को खेदपूर्वक प्रताड़ित किया जाता था—‘हा’ अर्थात्—तुमने यह क्या किया? देखने में यह केवल शब्द-प्रताड़ना है किन्तु यह दण्ड भी उस समय का बहुत बड़ा दण्ड था। इस ‘हा’ शब्द से प्रताड़ित होने मात्र से ही अपराधी पानी-पानी हो जाता था। इसका कारण यह था कि उस समय का मनुष्य वर्तमान काल के मनुष्य की भाँति उच्छृंखल एवं मर्यादाहीन नहीं था। वह तो स्वभाव से संकोची और लज्जाशील था। इसलिए इस ‘हा’ वाले दण्ड को भी वह ऐसा समझता था मानो उसे मृत्युदण्ड मिल रहा हो।^१ यह नीति कुलकर चक्षुष्मान के समय तक बराबर चलती रही।

माकार नीति—कोई एक प्रकार की नीति स्थाई नहीं होती है। यही बात प्रथम ‘हाकार’ नीति के लिए भी सत्य प्रमाणित हुई। ‘हाकार’ नीति जब विफल होने लगी तो अपराधों में और वृद्धि होने लगी, तब किसी नवीन नीति की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। तब चक्षुष्मान के तृतीय पुत्र कुलकर यशस्वी ने अपराध भेद कर अर्थात्—छोटे-बड़े अपराध के मान से अलग-अलग नीति का प्रयोग प्रारम्भ किया। छोटे अपराधों के लिए तो ‘हाकार नीति’ का ही प्रयोग रखा तथा बड़े अपराधों के लिए ‘माकार नीति’ का प्रयोग आरम्भ किया।^२ यदि इससे भी अधिक कोई अपराध करता तो ऐसे अपराधी को दोनों प्रकार की नीतियों से दण्डित करना प्रारम्भ किया।^३ ‘माकार’ का अर्थ था—‘मत करो।’ यह एक निषेधात्मक महान दण्ड था। इन दोनों प्रकार की दण्डनीतियों से व्यवस्थापन कार्य यशस्वी के पुत्र ‘अभिचन्द्र’ तक चलता रहा।

धिवकार नीति—समाज में अभाव बढ़ता जा रहा था। उसके साथ ही असन्तोष भी बढ़ रहा था। जिसके परिणामस्वरूप उच्छृंखलता और धृष्टता का भी एक प्रकार से विकास ही हो रहा था। ऐसी स्थिति में हाकार और माकार नीति से कब तक व्यवस्था चल सकती थी। एक दिन माकार नीति भी विफल होती दिखाई देने लगी और अब उसके स्थान पर किसी नई नीति की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। तब ‘माकार नीति’ की असफलता से ‘धिवकार नीति’ का जन्म हुआ।^४ यह नीति कुलकर प्रसेनजित से लेकर अन्तिम कुलकर नाभिराय तक चलती रही। इस ‘धिवकार नीति’ के अनुसार अपराधी को कहा जाता था—‘धिव्’ अर्थात् तुझे धिवकार है, जो ऐसा कार्य किया।

जैन विद्या के सुविख्यात विद्वान् उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी ने अपराधों के मान से इन नीतियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

जघन्य अपराध वालों के लिए ‘खेद’
मध्यम अपराध वालों के लिए ‘निषेध’ और
उत्कृष्ट अपराध वालों के लिए ‘तिरस्कार’
सूचक दण्ड मृत्युदण्ड से भी अधिक प्रभावशाली थे।^५
कुलकर नाभि तक अपराध वृत्ति का कोई विशेष विकास नहीं हुआ था, क्योंकि उस युग का मानव स्वभाव से सरल और हृदय से कोमल था।^६

अन्तिम कुलकर नाभि के समय में ही जब उनके द्वारा अपराध निरोध के लिए निर्धारित की गई धिवकार नीति का उल्लंघन होने लगा और अपराध निवारण में उनकी नीति प्रभावहीन सिद्ध हुई, तब युगलिक लोग घबरा कर ऋषभदेव के पास आए और उन्हें वस्तुस्थिति का परिचय कराते हुए सहयोग की प्रार्थना की।

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार, ७६

२ स्थानांगवृत्ति प. ३६६

३ त्रिषष्टिशलाका १/२/१७६—१७६

४ स्थानांगवृत्ति प. ३६६

५ ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृष्ठ १२३

६ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार—सूत्र १४

ऋषभदेव ने कहा—“जनता में अपराधी मनो-वृत्ति नहीं फैले और मर्यादाओं का यथोचित पालन हो उसके लिए तीन प्रकार की दण्ड व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ था, अब कालानुसार अपराधों में वृद्धि हो गयी है, मर्यादाओं का अतिक्रमण हो रहा है उनके शमन-निमित्त अन्य दण्ड व्यवस्थाओं का विधान आवश्यक हो गया है और यह व्यवस्था राजा ही कर सकता है क्योंकि शक्ति के समस्त स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं।”^१ तत्पश्चात् ऋषभदेव प्रथम राजा बने और उन्होंने सारी व्यवस्था की। ऋषभदेव ने अपने शासनकाल में दण्ड नीति का जो निर्धारण किया उसका विवरण साहित्य मनीषी उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी^२ ने इस प्रकार दिया है—

“शासन की सुव्यवस्था के लिए दण्ड परम आवश्यक है। दण्डनीति सर्वे अनीति रूपी सर्पों को वश में करने के लिए विषविद्यावत् है। अपराधी को उचित दण्ड न दिया जाये तो अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ती जायेगी एवं बुराइयों से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकेगी। अतः ऋषभदेव ने अपने समय में चार प्रकार की दण्ड व्यवस्था निर्मित की।

(१) परिभाष, (२) मण्डल बन्ध, (३) चारक, (४) छविच्छेद।

परिभाष—कुछ समय के लिए अपराधी व्यक्ति को आक्रोशपूर्ण शब्दों में नजरबन्द रहने का दण्ड देना।

मण्डल बन्ध—सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना।

चारक—बन्दोगृह में बन्द रहने का दण्ड देना।

छविच्छेद—करादि अंगोपांगों के छेदन का दण्ड देना।

ये चार नीतियाँ कब चलीं, इनमें विद्वानों में विभिन्न मत हैं। कुछ विज्ञों का मन्तव्य है कि प्रथम दो नीतियाँ ऋषभदेव के समय चलीं और और दो भरत के समय। आचार्य अभयदेव के मन्तव्यानुसार ये चारों नीतियाँ भरत के समय चलीं। (स्थानांग वृत्ति ७/३/५५७, आवश्यक भाष्य गाथा ३)। आचार्य भद्रबाहु और आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार बन्ध (बेड़ी का प्रयोग) और घात (डण्डे का प्रयोग) ऋषभनाथ के समय में आरम्भ हो गये थे। (आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा २१७, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, १६६-२०२)। और मृत्यु दण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ। (आवश्यकनिर्युक्ति २१८, १६६/२)। जिनसेनाचार्य के अनुसार बध-बन्धनादि शारीरिक दण्ड भरत के समय चले। (महापुराण ३/२१६/६५) उस समय तीन प्रकार के दण्ड प्रचलित थे जो अपराध के अनुसार दिये जाते थे—(१) अर्थहरण दण्ड (२) शारीरिक क्लेश रूप दण्ड (३) प्राणहरण रूप दण्ड। (आदि पुराण : ४२/१६४)।”

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री संस्कृत, प्राकृत के प्रकाण्ड विद्वान् तो हैं ही, वे आगम मर्मज्ञ भी हैं। अनेकानेक ग्रन्थों का आलोड़न कर अद्यावधि आपने अनेक अमूल्य ग्रन्थ रत्नों से माँ भारती के भण्डार की अभिवृद्धि की है। ‘भगवान् महावीर : एक अनुशीलन’ नामक शोध प्रधान ग्रंथ में आपने उत्तराध्ययन सुखबोधा, अंगुत्तर निकाय, निशीथ-भाष्य, उत्तराध्ययन चूणि, उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति, ज्ञातृधर्मकथा, दशकुमार चरित, विपाक सूत्र, प्रश्न व्याकरण आदि ग्रन्थों के आधार पर अपराधों और

१ ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृष्ठ १४०

२. वही, पृष्ठ १४३-१४४

दण्ड-विधान पर संक्षेप जो विवरण दिया है, वह अपराध शास्त्र पर ग्रन्थ तैयार करने के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन प्रदान करता है। उसी को यहाँ उद्धृत किया जाता है—

चोर-कर्म—उस समय अपराधों में चौर्य-कर्म प्रमुख था। चोरों के अनेक वर्ग इधर-उधर कार्य-रत रहते थे। लोगों को चोरों का आतंक हमेशा बना रहता था। चोरों के अनेक प्रकार थे—

- (१) आमोष—धन-माल को लूटने वाले।
- (२) लोमहार—धन के साथ ही प्राणों को लूटने वाले।
- (३) ग्रन्थि-भेदक—ग्रन्थि-भेद करने वाले।
- (४) तस्कर—प्रतिदिन चोरी करने वाले।
- (५) कण्णुहर—कन्याओं का अपहरण करने वाले।

लोमहार अत्यन्त क्रूर होते थे। वे अपने आपको बचाने के लिए मानवों की हत्या कर देते थे। ग्रन्थि भेदक के पास विशेष प्रकार की कैंचियाँ होती थी जो गाँठों को काटकर धन का अपहरण करते थे।

निशोथभाष्य में आक्रान्त, प्राकृतिक, ग्रामस्तेन, देशस्तेन, अन्तरस्तेन, अध्वानस्तेन और खेतों को खनकर चोरी करने वाले चोरों का उल्लेख है।

कितने ही चोर धन की तरह स्त्री-पुरुषों को भी चुरा ले जाते थे। कितने ही चोर इतने निष्ठुर होते थे कि वे चुराया हुआ अपना माल छिपाने को अपने कुटुम्बीजनों को मार भी देते थे। एक चोर अपना सम्पूर्ण धन एक कुएँ में रखता था। एक दिन उसकी पत्नी ने उसे देख लिया, भेद खुलने के भय से उसने अपनी पत्नी को ही मार दिया। उसका पुत्र चिल्लाया और लोगों ने उसे पकड़ लिया।

उस समय चोर अनेक तरह से संध लगाया करते थे—१. कपिशोर्षाकार २. कलशाकृति ३. नंदावर्त संस्थान ४. पद्माकृति ५. पुरुषाकृति ६. श्रीवत्स संस्थान।

चोर पानी की मशक और तालोद्घाटिनी विद्या आदि उपकरणों से सज्जित होकर प्रायः रात्रि के समय अपने साथियों के साथ निकला करते थे।

चोर अपने साथियों के साथ चोरपल्लियों में रहा करते थे। चोरपल्लियाँ विषम पर्वत और गहन अटकी में हुआ करती थीं। जहाँ पर किसी का पहुँचना सम्भव नहीं था।

दण्ड-विधान—चोरी करने पर भयंकर दण्ड दिया जाता था। उस समय दण्ड व्यवस्था बड़ी कठोर थी। राजा चोरों को जीते जी लोहे के कुम्भ में बन्द कर देते थे, उनके हाथ कटवा देते थे। शूली पर चढ़ा देते थे। कभी अपराधी की कोड़ों से पूजा करते। चोरों को वस्त्र युगल पहनाकर गले में कनेर के फूलों की माला डालते और उनके शरीर को तेल से सिक्त कर भस्म लगाते और चौराहों पर घुमाते व लातों, घूसों, डण्डों और कोड़ों से पीटते। बाँठ, नाक और कान काट देते, रक्त से मुँह को लिप्त करके फूटा ढोल बजाते हुए अपराधों की उद्घोषणा करते।

तस्करों की तरह परदारगमन करने वालों को भी सिर मुँडाना, तर्जन, ताड़ना, लिगछेदन, निर्वासन और मृत्युदण्ड दिये जाते थे। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी दण्ड की भागी होती थीं, किन्तु गर्भवती स्त्रियों को क्षमा कर दिया जाता था। हत्या करने वाले को अर्धदण्ड और मृत्युदण्ड दोनों दिये जाते थे।^१

कारागृह का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

‘कारागृह की दशा बड़ी दयनीय थी। अपरा-

१. भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृष्ठ ८२-८३

धियों को दारुण कष्ट दिए जाते। उन्हें वहाँ पर क्षुधा, तृषा और शीत-उष्ण आदि अनेक तरह के कष्ट सहन करने पड़ते थे। उनका मुख म्लान हो जाता था। अपने ही मल-मूत्र में पड़े रहने के कारण उनके शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते, उनका प्राणान्त हो जाने के पश्चात् उनके पैर में रस्सी बाँधकर खाई में फेंक देते। भेड़िए, कुत्ते, शृगाल, मार्जार आदि वन्य पशु उनका भक्षण कर जाते।

कैदियों को विविध प्रकार के बन्धनों से बाँधते। बाँस, बेंत व चमड़े के चाबुक से उन्हें मारते थे। लोहे की तीक्ष्ण शलाकाओं से, मूत्रिकाओं से उनके शरीर को बाँध देते थे।¹

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समय के प्रवाह के साथ-साथ अपराधों में भी वृद्धि होती गई और उसके अनुरूप ही दण्ड व्यवस्था में भी परिवर्तन होता गया।

१. भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृष्ठ ८३-८४

कठोर दण्डनीति का विधान इसलिए किया गया प्रतीत होता है ताकि अपराध करने वाला दण्डनीति से डरकर अपराध न करे। कई बार इस प्रकार की कठोर नीति सफल भी रही है। मानस पटल पर एक विचार उद्भूत होता है कि जैसे-जैसे सभ्यता और संस्कृति का विकास होता जा रहा है वैसे-वैसे अनाचार, भ्रष्टाचार, स्वार्थ, राग-द्वेष, मेरा-तेरा, हिंसा, चोरी-डकैती, तस्करी, अपहरण, बेईमानी जैसी भावनाएँ और अपराधों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का ठहराव कहाँ आया? कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ तो इतना ही कहना है कि जैन साहित्य का समुचित अनुशीलन कर इस विषय पर व्यवस्थित रूप से विस्तार में लिखने की आवश्यकता है। हो सकता है कि जो लिखा जाए वह देश और समाज का मार्गदर्शन करे।

□

(शेष पृष्ठ ३२२ का)

कर्म को गहित ही मानते हैं और इससे सदा वचने का प्रयास करते हैं।

वर्तमान युग में जितना भी तनाव, मानसिक कृष्णार्ण और त्रास मनुष्य बरबस भुगत रहा है उसका एकमात्र उपाय अस्तेय का पालन, कठोरता के साथ, करना है। चोरी के नित नये हथ-कण्डों का आयोजन जैसे वह छोड़ देगा वैसे ही उसके समाज में व्यवस्था, शान्ति और समृद्धि भी आती जायेगी और वह अन्य व्रतों का पालन निष्ठा-पूर्वक करने लगेगा।

निष्कर्षतः जब परकीय वस्तु में किसी प्रकार का राग न होगा तो अस्तेय में प्रतिष्ठित होकर साधक की रत्नों में प्रतिष्ठा हो जाती है और लक्ष्मी उसकी चेरी बन जाती है। जैनेतर भारतीय समाज की अपेक्षा आज भी जैन समाज में व्रतों का पालन बड़ी निष्ठा और आस्था से किया जाता है। यही कारण है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर आज तक जैन धर्म अक्षुण्ण है।

□

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३२७

जैन दर्शन के अध्येता की दृष्टि में भगवान् महावीर की मौलिक देन है—अनेकान्तवाद। इसलिए जहाँ कहीं भी प्रसंग आया है, इस विषय पर विनयता से प्रकाश डाला गया है। वैचारिक क्षेत्र में अनेकान्तवाद एक महत्वपूर्ण तत्व है, इसे हम किसी भी स्थिति में नकार नहीं सकते। किन्तु इस सार्वभौम तथ्य के अतिरिक्त भगवान् महावीर ने एक ऐसा भी तत्व दिया था, जो आचार क्षेत्र में गृहस्थ समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी है। सामान्यतः हर दर्शन प्रणेता अपने अनुयायियों के लिए आचार का निरूपण करता है। किन्तु गृहस्थ समाज के लिए अतिरिक्त रूप से नैतिकता का चिन्तन देने वाले भगवान् महावीर ही थे। वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में भगवान् महावीर का वह चिन्तन जन-जन को नया आलोक देने वाला है।

मानवीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव समाज में कुछ ऐसी वृत्तियाँ पनपने लगीं जो मनुष्य के आचार को खतरा पहुँचाने वाली थीं। इन वृत्तियों के मूल में व्यक्ति की स्वार्थ-भावना अधिक काम करती है। इसलिए मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थ का पोषण करने के लिए दूसरों को सताना, झूठे आरोप लगाना, झूठी साक्षी देना, व्यापार में अप्रामाणिक व्यवहार करना, संग्रह करना आदि-आदि प्रवृत्तियों में सक्रिय होने लगा। इस सक्रियता से नैतिक मानदण्ड टूट गये। फलतः वही व्यक्ति पूजा, प्रतिष्ठा पाने लगा जो इन कार्यों के द्वारा अर्थोपार्जन करके अपने समय की समस्त सुविधाओं का भोग करता था।

भगवान् महावीर के युग में भी नैतिक मूल्य स्थिर नहीं थे। नैतिकता के मूल्य ही जब विस्थापित हो गये तब अमानवीय व्यवहारों पर रोक भी कैसे लगाई जा सकती थी? मूल्य की स्थापना की कसम-कस के समय एक ऐसी आचार संहिता की अपेक्षा थी, जो नैतिकता को हिलती हुई नींव को स्थिर कर सके।

भगवान् महावीर इस स्थिति से अनजान नहीं थे। क्योंकि उनके पास अव्याबाध ज्ञान था। उन्होंने मुनि धर्म (पाँच महाव्रतों) की प्ररूपणा करके जीवन-विकास के उत्कृष्ट पथ का संदर्शन किया। किन्तु हर व्यक्ति में उस पर चलने की क्षमता नहीं होती, इसलिए उन्होंने अणुव्रतों की व्यवस्था की है। स्थानांगसूत्र में उन अणुव्रतों का नामोल्लेख करते हुए लिखा गया है—पंचाणुव्रत्ता पन्नत्ता, तं जहा—शूलातो पाणाइवायातो वेरमणं, शूलातो मुसावायातो वेरमणं, शूलातो अदिन्नादानातो वेरमणं, सदार संतोसे, इच्छा परिमाणे।

यह एक मानवीय दुर्बलता है कि मनुष्य व्रत स्वीकार करने के बाद भी स्थूलित हो जाता है, इसलिए भगवान् ने व्रतों के अतिचारों का विश्लेषण करके व्यक्ति को व्रतों के पालन की दिशा में और अधिक जागरूक बना दिया।

प्रथम अणुव्रत स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए उस व्रत के पाँच अतिचार ज्ञातव्य हैं, किंतु आचरणीय नहीं हैं। जैसे—

१. बन्ध—क्रोधवश, त्रस जीवों को गाढ़ बन्धन से बाँधना।

२. वध—निर्दयता से किसी जीव को पीटना।

३. छविच्छेद—कान, नाक आदि अंगोपांगों का छेदन करना।

४. अतिभार लादना—भारवाहक मनुष्य, पशु आदि पर बहुत अधिक भार लादना।

५. भक्त-पान-विच्छेद—अपने आश्रित जीवों के आहार-पानी का विच्छेद करना।

स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के पाँच अतिचार ज्ञातव्य हैं—

१. सहसा अभ्याख्यान—सहसा किसी के अनहोने दोष को प्रकट करना।

२. रहस्य अभ्याख्यान—किसी के मर्म का उद्घाटन करना।

३. स्वदार-मन्त्र-भेद—अपनी स्त्री की गोपनीय बात का प्रकाशन करना।

४. मृषा उपदेश—मोहन, स्तम्भन, उच्चाटन आदि के लिए झूठे मन्त्र सिखाना।

५. कूटलेखकरण—झूठा लेखपत्र लिखना।

स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पाँच अतिचार हैं—

१. स्नेह—चोर की चुराई हुई वस्तु लेना।

२. तस्कर प्रयोग—चोर की सहायता करना।

३. विशुद्ध राज्यातिक्रम—राज्य द्वारा निषिद्ध व्यापार करना।

४. कूट तौल, कूट माप—कम तौल-माप करना।

५. तत्प्रतिरूपक व्यवहार—अच्छी वस्तु दिखाकर खराब वस्तु देना, मिलावट करना।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

स्वदार संतोष व्रत के पाँच अतिचार ज्ञातव्य हैं—

१. इत्वरिक परिगृहीत गमन—अल्प समय के लिए क्रीत स्त्री के साथ भोग भोगना अथवा अपनी अल्पवय वाली स्त्री के साथ भोग करना।

२. अपरिगृहीत गमन—अपनी अविवाहित स्त्री (वाग्दत्ता) के साथ भोग भोगना अथवा वेश्या आदि के साथ भोग भोगना।

३. अनंग क्रीडा—कामविषयक क्रीडा करना।

४. पर-विवाहकरण—दूसरे के बच्चों का विवाह कराना।

५. कामभोग तीव्र अभिलाषा—अपनी स्त्री के साथ तीव्र अभिलाषा से भोग भोगना।

इच्छा परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं—

१. क्षेत्र-वास्तु आदि के प्रमाण का अतिक्रमण करना।

२. हिरण्य—सुवर्ण " " "

३. द्विपद—चतुष्पद " " "

४. धन—धान्य " " "

५. कृष्य " " "

ये पाँचों ही अणुव्रत नैतिक आचार-संहिता के आधार स्तम्भ हैं। इनके आधार पर अपनी जीवन पद्धति का निर्माण करना ही भ्रष्टाचार की बढ़ती हुई समस्या का सही समाधान है। प्रत्येक युग के सत्तारूढ़ व्यक्ति भ्रष्टाचार-उन्मूलन के लिए नए-नए विधानों का निर्माण करते हैं। किन्तु जब वे विधान स्वयं विधायकों द्वारा ही तोड़ दिए जाते हैं तब दूसरे व्यक्ति तो उनका पालन करेंगे ही क्यों ?

एक बात यह भी है कि राज्य की दृष्टि में वही कर्म भ्रष्टाचार की कोटि में आता है, जिससे राजकीय स्थितियों में उलझन पैदा होती है। किंतु सच तो यह है कि भ्रष्टाचार कैसा भी क्यों न हो तथा किसी भी वर्ग और परिस्थिति में हो उसका प्रभाव व्यापक ही होता है। भ्रष्टाचार को जड़ों को उखाड़ने के लिए व्यक्ति में नैतिकता के प्रति निष्ठा के भाव पनपाने होंगे, क्योंकि निष्ठा के अभाव में वृत्तियों का संशोधन नहीं हो सकता और

वृत्तियों की स्वस्थता बिना मानव समाज भी स्वस्थ नहीं हो सकता ।

भगवान् महावीर ने व्रतों की जो व्यवस्था दी, उसमें वैयक्तिक हितों के साथ सामाजिक और राजनैतिक हितों को भी ध्यान में रखा गया है । प्रथम व्रत के अतिचारों में मानवतावाद की स्पष्ट झलक है । एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति निर्दयतापूर्ण व्यवहार करे यह मानवीय आचार संहिता का उल्लंघन है । इसलिए मैत्री भावना का विकास करके समग्र विश्व के साथ आत्मीयता का अनुभव करना प्रथम व्रत का उद्देश्य है ।

दूसरे व्रत के अतिचारों में सामूहिक जीवन की समरसता में बाधक तत्वों का दिग्दर्शन कराया गया है । तीसरे व्रत में राष्ट्रीयता की भावना के साथ व्यावसायिक क्षेत्र में पूर्ण प्रामाणिक रहने का निर्देश दिया गया है । चौथे व्रत में कामुक वृत्तियों को शान्त करने के उपाय हैं और पाँचवें व्रत में इच्छाओं सीमित करने का संकल्प लेने से अर्था-भाव, मँहगाई और भुखभरी को लेकर जनता में जो असन्तोष फैलता है, वह अपने आप शांत हो जाता ।

अपने आपको भगवान् महावीर के अनुयायी मानने वाले जैन लोग भी यदि इस नैतिक आचार संहिता के अनुरूप स्वयं को ढाल सकें तो वर्तमान समस्याओं को एक स्थायी और सुन्दर समाधान मिल सकता है ।

भगवान् महावीर के इस सिद्धान्त का उत्तर-वर्ती आचार्यों ने भी प्रसार किया है । समन्तभद्र, सोमदेव, वसुनन्दि, अमितगति, आशाधर, पूज्यपाद

आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में श्रावक के बारह व्रतों और ग्यारह प्रतिमाओं का विशद विश्लेषण किया है । आचार्य वसुनन्दि ने अपने ग्रन्थ वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है—'लोहे के अस्त्र तलवार, कुदाल आदि तथा दण्ड और पाश आदि की बेचने का त्याग करना, झूठी तराजू और झूठे मापक पदार्थ नहीं रखना तथा क्रूर प्राणी बिल्ली, कुत्ते आदि का पालन नहीं करना अनर्थ दण्ड-त्याग नामक तीसरा अणुव्रत है ।' (वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक २१६)

'शारीरिक श्रृंगार, ताम्बूल, गन्ध और पुष्प आदि का जो परिमाण किया जाता है, उसे परिभोग निवृत्ति नामक द्वितीय शिक्षाव्रत कहा जाता है ।

'पर्व, अष्टमी, चतुर्दशी आदि को स्त्री-संग त्याग तथा सदा के लिए अनंग-क्रीड़ा का त्याग करने वाले को स्थूल ब्रह्मचारी कहा जाता है ।'

इस प्रकार श्रावक धर्म की प्ररूपणा के माध्यम से एक सार्वजनिक आचार-संहिता देकर भगवान् महावीर ने अनैतिकता की धधकती हुई ज्वाला में भस्म होते हुए संसार का बहुत बड़ा उपकार किया है । भगवान् महावीर के इस चिंतन के आधार पर ही वर्तमान में आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन के रूप में एक नई आचार-संहिता का निर्माण किया है । लगता है कि अब और तब की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं था । इसीलिए भगवान् महावीर का वह चिन्तन इस युग के जनमानस के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो रहा है ।

□□ अहिंसा की विशिष्टता □□

यह भगवती अहिंसा प्राणियों के, भयभीतों के लिए शरण के समान है, पक्षियों को आकाशगमन के समान हितकारिणी है, प्यासों को पानी के समान है, भूखों को भोजन के समान है, समुद्र में जहाज के समान है, चौपायों के लिए आश्रम (आश्रय) के समान है, रोगियों के लिए औषधियों के समान है और भयानक जंगल के बीच निश्चिन्त होकर चलने में सार्थवाह के समान सहायक है ।

— भगवान् महावीर (प्रश्नव्याकरण)

अनेकधर्मात्मकः संसारः । नानाभावात्मकं च वस्तु । प्रतिपिण्डम् अनन्तगुणाः । प्रतिखण्डं नैके पर्यायाः । तथापि अखण्डा वस्तुनः अभिव्यक्तिः । अत्र विरोधाऽविरोधयोः विचार अपेक्षिकः । विधिप्रति-
 पेद्यविकल्पतले वचनविन्यासो भंगीप्रियः । किन्तु व्याख्यानच्छलेन मूलतत्त्वं नानायते । तथापि एकान्ततो न विधिः न वा निषेधः । देश-
 कालयोः परिच्छिन्नपरिधिः विवेचनस्वरूपे नियामकः । विवक्षा सापे-
 क्षिकी । विवक्षितपदार्थः न सर्वात्मना गौणः न वा प्रधानः । अतः स्यात्-
 कारः अप्रयुक्तोऽपि व्यवस्थापकः । अनेकान्तो वाच्यरूपेण व्यवस्थाप्यः ।
 दृष्टिरत्र प्रतिपक्षसापेक्षिणी । अविरोधानुरोधेन विमर्शो वस्तुनः स्वरूपं
 स्पृशति । अतः वस्तुविश्लेषणे अहिंसामयी प्रक्रियाऽत्र अभिव्यक्तेः
 सामञ्जस्यं वहति । स्यात्कारश्च न सम्भावितार्थे, न कथंचित्-
 पययि, न मन्देहपरिसरे, न वा अज्ञेयवादस्य अचिन्त्यकोलाहले पर्यव-
 न्यति ।

वस्तुतः मैत्रीभावनातले अहिंसादृष्टिः अनेकान्तवादिनी । दृष्टि-
 सीमां परिवर्धनाति स्यान्निश्चयः । नेतिकारं परिपुष्णाति अविद्वेष-
 विवेकः । नेतिकारे विरोधः शाश्वतिकः । परं दृष्टिभेदे विरोधो
 भिन्नः । अविरोधे अविद्वेषः अवश्यम्भावी । किन्तु हास-विकासयोः
 प्रवाहप्रसरे धरा परिणामिनी । वस्तु परिवर्तते । अर्थोऽपि विवर्तते ।
 अतः प्रथमकल्पे अहिंसा हिंसाया नेतिकारे नियमबद्धाऽभूत् । तदनु-
 भावात्मकः कश्चित् कल्प उदितः । हिंसाभावस्य निषेधः सिद्धान्त-
 रूपेण स्वीकृतः । विचारे तत्त्वं पर्युषितम् । हिंसाया लक्षणनिरूपणे
 कर्मवाद उत्थापितः । कर्मणश्च सीमांकनं स्पष्टीकृतम् । हिंससंज्ञया
 प्रवृत्तिप्रसरो निरूपितः । अहिंसाया भावरूपा अभिव्यक्तिः मैत्रीरूपं
 निजीकृतवती, जीवनयज्ञस्य कर्मयलये इयम् आचारस्तरं समागता ।
 आचारे नियमो लिपिबद्धः । आचारस्य अनुशासनरूपेण अहिंसा
 कल्याणस्य सरणिरभूत् । ततश्च धर्मविधौ एषा भिन्नदिशा विक-
 सिता । सकलकर्मबन्धे अस्याः तत्त्वं समुपस्थापितम् । इयं च सर्व-
 भूतेभ्यो धर्मैभ्यो ज्यायसी मता । तदनु सकलभावकर्मणां मूलबिंदुरूपेण
 अहिंसा परमविद्या संजाता । सैद्धान्तिकस्तरे महाभारतकाले अहिं-
 सायाः पूर्णविकासः परिलक्ष्यते—“अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा
 परं तपः । अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ।” (अनुशासन पर्व,
 ११५/२३) पुराणप्रवृत्तितधर्मेषु उत्तमधर्मरूपेण अहिंसा पुण्यसाधिका
 संजाता । कालेऽस्मिन् हिंसाविरोधभावस्य कश्चित् प्रगुणितकल्पः
 जनसम्मुखे उपस्थापितः । अकलेशकारित्वं च अहिंसाया निर्यासरूपेण

चतुर्थं खण्डः जैन संस्कृति के विविध आयाम

अहिंसाया अन्तर्लिपिः

दशन-प्राध्यापक श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय पुरी—७५२००२

—डॉ० केशवचन्द्र दाशः

स्फुटीकृतम् । समनन्तरकाले परपीडाविवर्जनरूपं
हिंसाविरोधकर्म अहिंसायाः सामूहिकसमुद्घोषः
संजातः । न केवलं मानसिकस्तरे अपितु कर्मस्तरे
अहिंसा पुण्यस्य प्रथमा भित्तिरिति सिद्धान्तितम् ।
वस्तुतः अनेन प्रत्यक्षकर्मणि प्रायोगिकस्तरे वा अहिं-
सायाः प्रतिफलनं स्पष्टतरं नाऽभूत् । सिद्धान्तरूपेण
अस्याः महत्त्वं प्रतिष्ठापितम् । तथापि व्यवहारे
सम्यक् रूपता नोपलब्धा । अतः अभ्यासनिमित्तं
कश्चित् दार्शनिको विधिः परिकल्पितः । योगशास्त्रे
अहिंसा यमरूपेण (अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यं-परि-
ग्रहाः यमाः—योग सूत्र २/३०) परिगणिता ।

अपरन्तु “सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरि-
मितं सुखम्” (अश्वलायन धर्म सूत्र २-१-२२) इति
वचनव्याख्यानपुरःसरं अहिंसातत्त्वविनिश्चये मध्य-
काले काचित् विप्रतिपत्तिः व्यवहारकलापम् अवा-
रुणत् । आत्म-देश-समाज-रक्षादृष्ट्या अहिंसाभुर-
रीकृत्य विचारः प्रवृत्तितः । अहिंसा तत्त्वे रक्षातत्त्वं
सन्निविष्टम् । रक्षातत्त्वस्य ऐकान्तिकशुद्धपक्षः
अहिंसानियमि अन्तर्भावितः । अतएव आचारसंहि-
तायां “मित्रता” अहिंसार्थमलंकृतवती । इयं मित्रता
यथा भावात्मिका तथैव आचारात्मिका । दृष्टिभेदे
विप्रतिपत्तिमाशङ्क्य हितमात्रबुद्धिं पुरस्कृत्य
अहिंसानिवृत्तं विहितम् । आचारसंवलितता इयं
मित्रता कल्याणमित्रता नाम्ना परिचिता । तथापि
कर्मनिरूपणे अहिंसासिद्धान्तस्य दृढता न स्फुटतरा ।
अतः परकाले सिद्धान्तेऽस्मिन् “समता” परिपोषक-
रेखारूपेण मार्गं निरदिशत् । क्रतुधारायां तु अहिंसा
यथा विधेयात्मिका तथैव निषेधात्मिका आसीत् ।

प्रचलितासु धार्मिकपरम्परासु रुचिर्बिचित्र्यात्
अहिंसा प्रीतिप्रधाना दयाभावापन्ना च उपलभ्यते ।
अहिंसाया मूलतत्त्वे प्रीतिप्राणता लनवद्यकलारूपेण
मानविकसद्भावस्य उद्घोषिकाऽभवत् । तत्र च
जीवमात्रं दया आचारस्य मौलिकी अनुक्रमणी
संजाता । अहिंसाया आध्यात्मिक पक्षः धर्मप्रचारस्य
आदर्शोऽभवत् । अयमादर्शः जीवमात्रस्य अधिकार

इत्यपि सन्दर्भसारः संजातः । वस्तुतः विश्वस्य
धार्मिक प्रवर्तनासु ईश्वरनश्वरयोः अन्तरतमचेतना-
तले अहिंसायाः न केवलं वैचारिकपक्षः अपितु
आचारकल्पः प्रमुखविन्दुरूपेण निदानायितः । सर्वत्र
सर्वदा च कालदृष्ट्या परिस्थितिरेव अहिंसाया
नियामिका प्रतीयते ।

जैननये तु अहिंसा विशेषनीतित्वेन अंगीकृता ।
ज्ञानाधिकारे ज्ञेयत्वाधिकारे चारित्र्याधिकारे च
अहिंसा परिणामस्वरूपिणी एका आधारशिला ।
शुद्धिप्रकरणे इयमेव नियन्त्रिका । अतएव हिंसानि-
वृत्तये प्रथमतः ‘प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा’
(उमास्वाति—तत्त्वार्थसूत्रम्—७/८.) इति प्राणव्य-
परोपणस्य प्राधान्यं दत्तम् । प्राणपयायि भावप्राण-
द्रव्यप्राणभेदो विनिश्चितः । हिंसायाः कारणकोटिषु
विषयकषायादीनाम् अन्तर्भावो विहितः । स्वहिंसा-
परहिंसा-प्रकारद्वये हिंसाया विभागः कृतः । हिंसा-
व्यापारे ‘हिंस्य-हिंसक-हिंसा’ इति स्तरत्रयं निर्णी-
तम् । भार्वाहिंसायां द्रव्यहिंसायां वा कषाय एव मूल-
भित्तिरिति निर्धारितम् । अयं च कषायः प्रवृत्तौ
प्रमादः अथवा आविलता इत्यपि विनिश्चितम् ।

अहिंसाया विधेयात्मकपरिसरे प्रधान्येन दया अहिं-
सार्थयामुखीकरोति । दयापदेन द्रव्यदया-भावदया-
स्वदया-परदया-प्रभृतयः प्रतिपाद्यन्ते । तथापि संदा-
न्तिकपक्ष-व्यवहारपक्षयोः समन्वये कश्चित् विच्युतिः
अहिंसातत्त्वे असामञ्जस्यमुपस्थापयति । हिंसाया
निषेधात्मक व्यापारे हि सर्वत्र गुरुत्वं दृश्यते । सर्व-
तोभावेन हिंसाया न्यूनीकरणमेव अहिंसाया प्रायो-
गिकतत्त्वमिति सिद्धान्तितम् ।

आधुनिककालेऽस्मिन् अहिंसा न केवलं
दयापयायि अपितु त्यागधर्मं सन्निविष्टा ।
त्यागोऽत्र न संसारत्यागः । किन्तु स्वार्थत्यागः ।
अहमर्थस्य परिधिपरिसरे यावत् दुष्प्रवृत्तिपरित्यागः ।
विमर्शविशेषे इयमेका मानसिकी स्थितिरूपेण
चित्रिता, पुनश्च सत्यस्य अधिष्ठाने अहिंसाया स्व-
रूपं दिग्गदीकृतम् । धार्मिकक्षेत्रे नैतिक जीवने च

चतुर्थं खण्डः : जैन संस्कृति के विविध आयाम

अहिंसायाः प्रयोगो बहुलतया प्रतिफलितः । किन्तु सामाजिकजीवने न सत्यनिष्ठाया न वा अहिंसायाः तथा प्रभावः परिलक्षितः ।

एवं वैदिकयुगतः सांप्रतिककालपर्यन्तम् अहिंसा धर्म-व्रत-दयाभावेन, पुण्यस्य निदानरूपेण, विधेया-त्मक पुण्य व्यापाररूपेण, श्रेष्ठाचाररूपेण, विशेष-नीतिरूपेण, त्यागस्य आधाररूपेण, हिंसायाः न्यूनी-कृतकल्परूपेण, सत्यस्य पुष्पिततात्पर्यभावेन, शान्तेः आधारशिलात्वेन उपवर्णिता ।

परन्तु युगोऽयम् अर्थकैन्द्रिकः । स्वार्थाय जनानां प्रवृत्तिः । प्रवृत्तेः निषेधस्तु कोलाहलाय भवति । निषेधद्वारा न लाभः । अपरन्तु हानिः । अतः प्रवृत्तेः परिष्करणं संस्कारो वा अपेक्ष्यते । संस्कारो नाम अत्र दोषापनयनं गुणाधानं च । तत् कथं भवेदिति चिन्ताया विषयः । वस्तुतः अत्र काठिन्यं नास्ति । अहिंसातत्त्वे स उपायो निहितः । तस्य उपयोग आवश्यकः ।

अहिंसा नाम न केवल दया न वा केवला अनु-कम्पाभावना, न हिंसाविरोधिता, न वा केवला मैत्रीचेतना । न पुनः काचित् एकचक्षुष्का सत्य-शीला नीतिः । न वा केवलः परित्यागः । सर्वमेतत् अहिंसायाः परिपोषकं तत्त्वम् । निवृत्तिस्वाधिष्ठाने प्रतीकारपरायणता अत्र अहिंसा । इयं च करुणापदेन सामञ्जस्यमावहति । अतः अहिंसायाः अन्तर्लिपः करुणा । करुणाऽत्र करणोयं प्रस्तौति । प्रतिभावं किमपि करणीयमस्ति । करणोयं च विसर्गपरकम् । भावश्च प्रतीकारात्मकः । स च वैपुल्यसिक्तः ।

पारस्परिक व्युत्पत्तया करुणा 'कृ'—धातुतो (कृ + उनच्—कृवृदारभ्य उनच्—उणादिसूत्रम्—३३३) निष्पन्नः । अर्थोऽत्र विक्षिप्तभावः अथवा विकीर्णता । प्राशस्त्यमत्र अन्तः स्वरः ।

अतः निवृत्तिस्वाधिष्ठाने प्रशस्तचेतसा वैपुल्येन प्रतीकारपरायणता एव अहिंसा इति सिद्धयति ।

सन्दर्भ स्थल

सहायक ग्रन्थसूची—

१. अमर मुनि (सम्पादक) : जैन तत्व कलिका आत्मज्ञानपोठ, मनसा मण्डी (पंजाब) १९८२
२. जगदीशचन्द्र जैन : मल्लिषेण सूरिकृत स्याद्वाद मञ्जरी, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, गुजरात, १९७०
३. भागचन्द्र जैन : अनेकान्तवाद वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी १९७७
४. मोहनलाल मेहता : अन्तर्निरीक्षण जैन संस्कृत संशोधन मण्डल बनारस, १९५१
५. लालचन्द्र जैन : जैनदर्शन में आत्मविचार पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी १९८४
६. वशिष्ठनारायण सिन्हा : जैन धर्म में अहिंसा मोहनलाल जैनधर्म प्रचारकसमिति गुरु बाजार, अमृतसर, १९७२
७. सुखलाल संघवी : उमास्वान्तिकृत तत्त्वार्थ सूत्रम् पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९५२
८. Nathmal Tatia : Studies in Jaina Philosophy P. V. Research Institute Jainashram, B. H. U. Varanasi 1951

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३३३

जैन शिक्षा बनाम आधुनिक शिक्षा

—विजयकुमार, शोध छात्र

दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

मानव-जीवन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा का प्रारम्भ कब से हुआ यह निश्चित कर पाना उतना ही कठिन है जितना कि मानव की उत्पत्ति का। हाँ, इतना जरूर कहा जा सकता है कि जबसे मानव है तब से शिक्षा भी है। बच्चा जन्म लेता है और जन्म से मृत्यु पर्यन्त वह हमेशा कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। यह 'सीखना' ही शिक्षा है। शिक्षा शब्द 'शिक्ष' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है—'सीखना और सिखाना।' शिक्षा के लिए ज्ञान, विद्या आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, 'शिक्षा' और 'विद्या' में अन्तर है। शिक्षा एक प्रक्रिया है जिससे समाज का विकास होता है, प्रगति होती है। किन्तु विद्या के अन्तर्गत चौर्य विद्या भी आती है जिससे व्यक्ति या समाज की प्रगति की अपेक्षा उसके विकास में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। यद्यपि मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार विद्या ही है। कहा भी गया है—विद्या ददाति विनयम्।

जैन ग्रन्थ आदिपुराण में विद्या के महत्व को प्रकाशित करते हुए कहा गया है—विद्या ही मनुष्यों को यश प्राप्त कराने वाली है, विद्या ही पुरुषों का कल्याण करने वाली है, विद्या ही सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली है, कामधेनु है, विद्या ही चिन्तामणि है, विद्या ही धर्म, अर्थ और कामरूप फल से सहित सम्पदाओं की परम्परा उत्पन्न करती है। विद्या ही मनुष्यों का बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करने वाली है, विद्या ही साथ-साथ जाने वाला धन है और विद्या ही सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है। अतः कन्या या पुत्र दोनों को समान रूप से विद्योपाजन कराना चाहिए।^१

१ इदं वपुर्व्यश्चेदमिदं श्रीलमनोदशम् ।
विद्यया चेद्विभूष्येत् सफलं जन्मवामिदम् ॥
विद्यावान् पुरुषो लोके नमति यानि कोविदैः ।
नारी च तद्रती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिम पदम् ॥
विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता ।
सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी ॥
विद्या कामदुहा धेनुविद्या चिन्तामणितृणाम् ।
शिवमफलितां सूते विद्या संपत्परम्पराम् ॥
विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम् ।
सह्यापि धनं विद्या, विद्या सर्वार्थसाधनी ॥
तद् विद्याग्रहणं यत्नं पुत्रिके कुर्वन् युवाम् ।
सत्संग्रहणकालोऽयं युवयोर्वत्ततेऽधुना ॥

—१६/६७-१०२, आदिपुराण

जैन शिक्षा के उद्देश्य

प्राचीनकाल में बालकों का पूर्ण शिक्षा-क्रम चरित्र शुद्धि पर आधारित था। काय-मन और वचन शुद्धि पर विशेष बल दिया जाता था। आचार-व्यवहार की शिक्षा के साथ-साथ बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक विकास की भी शिक्षा दी जाती थी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि जानार्जन के मुख्य अंग थे। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का उद्देश्य ही था—चरित्र का संगठन, व्यक्तित्व का निर्माण, संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण।¹

जैन शिक्षा का लक्ष्य बताते हुए डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने कहा है—आन्तरिक देवी शक्तियों की अभिव्यक्ति करना, अन्तर्निहित महनीय गुणों का विकास करना तथा शरीर, मन और आत्मा को सबल बनाना, जगत् और जीवन के सम्बन्धों का ज्ञान, आचार, दर्शन और विज्ञान की उपलब्धि करना, प्रसुप्त शक्तियों का उद्बोधन, अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण से भावात्मक अहिंसा की प्राप्ति, कर्तव्य पालन के प्रति जागरूकता का बोध तथा विवेक दृष्टि की प्राप्ति आदि जैन शिक्षा के उद्देश्य हैं।² अभिप्राय यह है कि जैन शिक्षा शास्त्र के अन्तर्गत आत्मसाक्षात्कार, सत्य की खोज, चरित्र निर्माण, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का निर्माण, सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना आदि शिक्षा के उद्देश्य समझे जाते थे।

आधुनिक शिक्षा के उद्देश्य

आज की शिक्षा का उद्देश्य मात्र धनोपार्जन

ही रह गया है। वह शिक्षा जो मानव को मानव ही नहीं अपितु मुक्त बनाने वाली थी, जो दुःखों से मुक्तकर शाश्वत सुख प्रदान करने वाली थी, आज केवल धन और आजीविका का एकमात्र साधन रह गया है। इस यान्त्रिक युग में शिक्षा भी यान्त्रिक हो गयी है। जिस प्रकार यन्त्र बिना सोचे-समझे अपना कार्य करता रहता है उसी प्रकार वर्तमान युग का विद्यार्थी भी किताबों को उधरशः रटकर डिग्री हासिल कर नौकरी प्राप्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य मान बैठा है। यह भूल न तो विद्यार्थियों की है और न शिक्षकों की ही बल्कि गलती उस समाज की है जिसने शिक्षा से ज्यादा धन को महत्व दे रखा है। आज जो शिक्षा समाज में दी जा रही है वह विद्यार्थी को डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनाने में तो सक्षम है परन्तु मानव को सच्चा इन्सान नहीं बना पा रही है। क्योंकि शिक्षा के साथ सेवा और धर्म का भाव व्यक्ति के मन में उत्पन्न नहीं हो रहा है। चारों ओर स्वार्थता का बोलबाला है। स्वार्थपूर्ति के लिए भयंकर से भयंकर पाप किये जा रहे हैं। परिणामतः मनुष्य की नैतिकता गिरती जा रही है।

ऐसी स्थिति में हमारी केन्द्रीय सरकार ने नई शिक्षा नीति (१०+२+३) निर्धारित किया है जिसका मुख्य उद्देश्य सबको नये रोजगार के अवसर प्रदान करना तथा देश को इक्कीसवीं सदी के मध्य संसार के अन्य देशों के समकक्ष खड़ा करना है। इस नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत त्रिभाषा फार्मूला पारित किया गया है—(क) राष्ट्रभाषा हिन्दी, (ख) विदेशी भाषा, (ग) प्रादेशिक भाषा। इस त्रिभाषा फार्मूला में संस्कृत, प्राकृत और पालि को कोई स्थान नहीं दिया गया है। परिणा-

1. Infusion of spirit of a piety and religiousness, formation of character, development of personality, inculcation of civic and social duties, promotion of social efficiency and preservation and spread of national culture may be described as the chief aim and ideal of ancient Indian education. — Altekar, Education in Ancient India, P. 8—9

2. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २५६।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

मतः संस्कृत, प्राकृत और पालि जिनमें भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप निहित है, नष्ट हो जायेगा ।

जैन शिक्षण प्रणाली—

जैनकालीन शिक्षा मन्दिरों, आश्रमों और मठों में दी जाती थी । शिक्षा देने वाले आचार्य प्रायः समाज से दूर वनों में रहते थे, जो त्यागी, तपस्वी, ब्राह्मण या साधु हुआ करते थे । शिक्षा का माध्यम संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा प्रान्तीय भाषाएँ थीं ।

जैन शिक्षण प्रणाली में जब बालक पाँच वर्ष का हो जाता है तब उसका लिपि संस्कार करने का विधान है ।^१ जिसके अन्तर्गत बालक घर में अ, आ, इ, ई आदि वर्ण का ज्ञान तथा अंक आदि का ज्ञान प्राप्त करता है । तत्पश्चात् जब बालक आठ वर्ष का हो जाता है तब उसकी उपनीति क्रिया^२ होती है जिसके अन्तर्गत केशों का मुण्डन, मूँज की मेखला, सफ़ेद वस्त्र, चोटी सात लर का यज्ञोपवीत धारण करना तथा जिनालय में पूजन करना, भोजन के लिए भिक्षावृत्ति तथा ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करने का विधान है । ये सभी नियम प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य माने गए हैं चाहे वह निर्धन कुल का हो या राजकुल का, सभी को जैन शिक्षणप्रणाली में समान भाव से देखा जाता था । क्रिया के पश्चात् विद्यार्थी गुरुकुल में होता था । उपनीति क्रिया के पश्चात् व्रतचर्या^३ संस्कार का विधान है जिसमें विद्यार्थी का एक ही लक्ष्य रहना है संयमित जीवनयापन करते हुए विद्याध्ययन करना । चौथा और अन्तिम संस्कार है—व्रतावरण क्रिया ।^४ जो समस्त विद्याओं के अध्ययन के पश्चात् होती है । यह संस्कार बारह अथवा सोलह वर्ष बाद गुरु के साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके करने का विधान है ।

अतः यह कहा जा सकता है कि जैन शिक्षण प्रणाली में विद्यार्थी को विघ्न-बाधाओं से लड़ना तथा दुर्गुणों का त्याग कर सद्गुणों को आत्मसात् करना सिखाया जाता था । गुरु-शिष्य के सम्बन्ध प्रेमपूर्ण थे । विद्यार्थी भी अपने गुरुओं के प्रति सम्मान और श्रद्धा के भाव रखते थे । सन्तोष, निष्कपट व्यवहार, जितेन्द्रियता और शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति आदि गुरुकुलवास के मुख्य प्रयोजन थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन शिक्षण प्रणाली में विद्यार्थी को विनयशील, सदाचारी, मृदुभाषी आदि बनाने के साथ ही चरित्र-निर्माण पर विशेष बल दिया गया है । जिसका आज की शिक्षण प्रणाली में सर्वथा अभाव पाया जाता है ।

आधुनिक शिक्षण-प्रणाली—

आधुनिक शिक्षण प्रणाली तत्कालीन भारत-सचिव लार्ड मैकाले द्वारा मानी जाती है । जिसकी नींव मैकाले ने अपने परिपत्र द्वारा सन् १६३५ में डाली थी । जिसका उद्देश्य था भारत के उच्च तथा मध्यम वर्ग के स्तर को ऊँचा उठाना । अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने मदरसे खोले जिसके परिणामस्वरूप भारतीय केवल रंग के भारतीय तथा मन से यूरोपीय सभ्यता के अनुयायी बनकर रह गये । शिक्षा का धर्म और नैतिकता से सम्बन्ध टूट गया तथा शिक्षा का क्षेत्र इहलोक तक ही सीमित होकर रह गया ।

अंग्रेजी शिक्षण-प्रणाली का ही दुष्परिणाम है कि जो शिक्षा और संस्कार बालक को मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पा रहा है । आज की शिक्षा अव्यावहारिक तथा अधूरी है जो समाज को, देश को बेरोजगारी की ओर अग्रसर कर रही है । इस प्रणाली ने छात्र को किताबी कीड़ा तो बना दिया

१ ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नामा लिपि संख्यान् संग्रह । —आदिपुराण ३८/१०२

२ वही—३८/१०४

३ वही—३८/११०-११३

४ वही—३८/१२३-१२४

है लेकिन विषय का मर्मज्ञ नहीं बना सकी। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि ये आधुनिक शिक्षा नैतिकता, सहनशीलता, चरित्र-निर्माण, त्याग, तप, अनुशासन तथा विनम्रता आदि गुण की दृष्टि से सर्वथा असफल रही है। आज न वे अध्यापक हैं, न वह छात्र और न वह शिक्षण केन्द्र ही, जहाँ गुरु और शिष्य दोनों पिता-पुत्र के समान रहते थे। समय के अनुकूल हर चीज में परिवर्तन होता रहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि समय और युग के अनुकूल मानव समस्या, आवश्यकता और उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप शिक्षा का आयाम भी बढ़ता जा रहा है।

आज के इस विज्ञान और तकनीकी युग में हम शिक्षा को तीन श्रेणियों में विभाजित करके देख सकते हैं—(क) उच्चतम, (ख) मध्यम और (ग) निम्न। उच्चतम श्रेणी में चिकित्सा, आभियान्त्रिकी, कम्प्यूटर आदि की शिक्षा मानी जाती है। मध्यम श्रेणी में कला, वाणिज्य आदि की शिक्षा तथा निम्न श्रेणी में संस्कृत, साहित्य, वेद-वेदांग आदि की शिक्षा मानी जाती है।

इस प्रकार हम जैन-शिक्षा और आधुनिक शिक्षा पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि जैन शिक्षा में इहलौकिकता के साथ-साथ पारलौकिकता की भी शिक्षा दी जाती थी वहीं आज की शिक्षा जिसे आधुनिक शिक्षा के नाम से जाता है, में केवल इहलौकिकता का ही समावेश है। यद्यपि वर्तमान परिवेश में अब प्राचीन शिक्षण प्रणाली नहीं अपनायी जा सकती किन्तु शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति के अनुकूल शिक्षा को बनाया जा सकता है। इस क्षेत्र में पहल करने के लिए सर्वप्रथम बालक को समाज के प्रति संवेदनशील बनाना होगा। जिसके लिए परिवार और विद्यालय के बीच सार्थक संवाद होना आवश्यक है। साथ ही प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक समाज हितोपयोगी आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा का होना आवश्यक है। परन्तु आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का भी सामंजस्य होना चाहिए। जैसा कि जैन शिक्षण प्रणाली में है। इतना ही नहीं प्रत्येक शिक्षार्थी को रुचि के अनुकूल जीविकोपार्जन के लिए कुशल बनाया जाए।

पत्राचार का पता—
विजयकुमार जैन, शोध छात्र,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५

अहं पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिनखा न लब्धई ।

थम्मा कोहा पमाएणं रोगेणालस्सएण य ॥

—उत्तरा. ११/३

जिस व्यक्ति में अहंकार अधिक है—गर्व में फूला रहता हो, बात-बात में क्रोध करता हो, शरीर में आलस्य भरा रहता हो, किसी प्रकार को व्याधि अथवा रोग से ग्रस्त हो, जो शिक्षा प्राप्ति में उद्यम अथवा पुष्ट्यार्थ न करे—ऐसे व्यक्ति को शिक्षा की प्राप्ति नहीं होती।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३३७

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा : चारित्रिक संकट से मुक्ति

-- डा० (श्रीमती) हेमलता तलेसरा

विद्याभवन जी० एम० शिक्षक महाविद्यालय, उदयपुर

वर्तमान समय में जहाँ मानव ज्ञान, विज्ञान, तकनीकी तथा प्रौद्योगिकी की दृष्टि से निरन्तर विकास की ओर अग्रसर होता जा रहा है; नैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से पतन की ओर बढ़ रहा है। व्यक्ति के भौतिकवादी बनने के साथ-साथ भ्रष्टाचार, हिंसा, बेईमानी, संकुचितता तथा अनुशासनहीनता ने समाज में अपनी जड़ अत्यधिक गहरी बना ली है। जीवन की समस्याएँ बढ़ रही हैं। नई पीढ़ी धार्मिक और नैतिक बातों को मिथ्या आडम्बर मात्र समझती है। धर्म के तत्त्वज्ञान, ज्ञानशास्त्र और नीतिशास्त्र के प्रति अज्ञानता विकसित हो रही है। आज नैतिकता मात्र चर्चा का विषय बन गयी है। आचरण इस पर सबसे कम किया जा रहा है।

एक प्रसिद्ध दार्शनिक के अनुसार आज मनुष्य समुद्र में मछली की तरह तैर सकता है, आकाश में पक्षियों की तरह उड़ सकता है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि पृथ्वी पर मनुष्य की तरह किस प्रकार चले? आज वह मनुष्य का मूल गुण भूल गया है। इसके पीछे मानसिक तनाव तथा अशान्ति का हाथ है। आज व्यक्ति को सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों से जोड़ने हेतु धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा की आवश्यकता निरन्तर बढ़ रही है।

धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा क्या है ?

धर्म एक प्रकार के कर्तव्य के द्वारा कुछ उपयोगी तथा आत्म-उपयोगी गुणों को धारण करता है। मानव धर्म के अंग के रूप में व्यक्ति का कर्तव्य आत्मा, परमात्मा और संसार के प्रति होता है। प्रसिद्ध दार्शनिक सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार धर्म एक प्रकार की भावनात्मक तथा ऐच्छिक प्रतिक्रिया है। पश्चिमी शिक्षाशास्त्री रॉस के अनुसार धर्म व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में सत्यं शिवं सुन्दरम् की प्राप्ति में सहायक एक शक्ति है। बाइबिल में दीन दुखियों की सेवा को ही धर्म बताया गया है।

नैतिकता आचरण में लक्षित होती है। सद्-असद् विवेक इसके अन्तर्गत आता है। नैतिक जागृति से व्यक्ति का समुचित विकास होकर समाज में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की स्थापना होती है। नैतिक बल, भावनाएँ एवं तर्क-संगति के परिणामस्वरूप व्यक्तित्व का निर्माण होता है और उसी के अनुपात में व्यक्ति का समाज में प्रभाव होता है। उसी के साथ-साथ नैतिक बल का निर्माण भी होता चला जाता है।

धर्म नैतिकता की पूर्ण आवश्यकता है। यदि धर्म कारण है तो

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

नैतिकता परिणाम । यदि विश्व के धर्मों की तुलना करें तो पता चलेगा कि उनमें तत्वज्ञान, ज्ञानशास्त्र और कर्मकाण्ड में भिन्नता हो सकती है पर नीतिशास्त्र सभी में लगभग एक जैसा है । नैतिक आचरण के पीछे धर्म की स्वीकृति की आस्था उठ जाने से समाज लड़खड़ा जायेगा—न कहीं सत्य होगा, न सदाचार, न ईमानदारी और न अहिंसा ही ।

धार्मिक तथा नैतिक सम्प्रत्यय के आधार पर धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का अभिप्राय ऐसी शिक्षा से है, जिसमें विद्यार्थियों को सद तथा असद में अन्तर करके विवेकसम्मत निर्णय लेने और सदाचार का प्रशिक्षण दिया जा सकता है । राष्ट्रीय शिक्षा नीति (१९८६) के अनुसार बच्चों का नैतिक एवं चारित्रिक विकास नैतिक शिक्षा का मुख्य लक्ष्य है । शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों को ज्ञान एवं कुशलता प्रदान करने के साथ-साथ उनमें ऐसे मानवीय गुणों जैसे—प्रेम, सेवा, सहानुभूति, सत्य, सहयोग, संयम, सहिष्णुता, कर्तव्यपरायणता, अहिंसा, देश-भक्ति आदि का विकास करना है, जिससे वे एक आदर्श सदाचारी नागरिक बन सकें । नैतिक शिक्षा के अन्तर्गत शारीरिक शिक्षा, मानसिक स्वस्थ चरित्र, आचरण, उचित व्यवहार, शिष्टाचार, सामाजिक अधिकार, कर्तव्य तथा धर्म आदि सम्मिलित होते हैं । यह वास्तव में उचित मनोभावों, भावनाओं एवं संवेगों को विकसित करने की पद्धति है ।

समाज में शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए नैतिक मूल्यों का विकास किया गया है । वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, बाईबिल, कुरान आदि महान ग्रन्थों में धर्म और दर्शन के साथ-साथ श्रेष्ठ नैतिक मूल्यों का संग्रह है । महावीर, गौतम बुद्ध, ईसामसीह, मुहम्मद, जर्जुस्त, बाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास, कबीर, इकबाल, टैगोर, अशोक, हर्षवर्धन, अकबर, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, बालगंगाधर तिलक, अरविंद घोष और गाँधी आदि ने बालक के जीवन में

नैतिक विकास करने वाली शिक्षा पर अधिक बल दिया था ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतवर्ष में अति प्राचीनकाल से ही धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा को महत्त्व दिया जाता रहा है । वैदिककाल में ईश्वर-भक्ति तथा धार्मिकता की भावना भरना व पवित्र चरित्र-निर्माण शिक्षा के मुख्य लक्ष्य माने जाते थे । जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति था, जिसमें धर्म को सबसे महत्त्वपूर्ण माना गया । प्राचीन विद्यालयों का वातावरण धार्मिक कार्यों जैसे यज्ञ, संध्या, प्रार्थना, संस्कार व धार्मिक उत्सवों से परिपूर्ण रहता था । उस समय के समाज का लक्ष्य उच्च नैतिक जीवन व्यतीत करना था, यही शिक्षा का ध्येय भी था । मध्यकाल में शिक्षा के लिए मन्दिर, मस्जिद तथा धार्मिक स्थानों का प्रयोग किया जाता था । यूरोपीय ईसाई मिशनरी ने धर्म प्रचार हेतु विद्यालयों में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा की व्यवस्था की । १८५४ के वुड घोषणा-पत्र में शिक्षा में धर्मनिरपेक्ष स्वरूप तथा नैतिक विचारधारा की पुष्टि की गई । १८८२ के भारतीय शिक्षा आयोग (हन्टर कमीशन) ने पाठ्यक्रम में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का कोई स्थान नहीं रखा । १९१७-१८ के कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने शिक्षा के धार्मिक एवं नैतिकरूप को अगड़े की वस्तु मानकर कोई विचार नहीं किया । १९३७-३८ की गाँधी जी की बेसिक शिक्षा योजना में 'सत्य' को धार्मिक शिक्षा का अंग बनाया गया । १९४४-४६ में बिशप जी. डी. बार्न समिति ने धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की आवश्यकता तो अनुभव की किन्तु इसका दायित्व घर तथा समुदाय तक ही रखा ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वने पहले शिक्षा आयोग (१९४८-४९) ने विद्यालयों में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा को विभिन्न कार्यक्रमों में सम्मिलित किये जाने पर बल दिया । १९५२-५३ के माध्यमिक

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३३९

शिक्षा आयोग ने चरित्र की शिक्षा पर बल दिया तथा घर, विद्यालय एवं समाज की नैतिकता आचरण के प्रति आस्था को चरित्र-निर्माण के लिए महत्वपूर्ण बताते हुए शिक्षक एवं विद्यालयीन जीवन को समृद्ध किए जाने की सिफारिश की। १९५८-५९ में नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता एवं सम्भावनाओं पर विचार हेतु श्रीप्रकाश समिति का गठन किया गया। इस समिति ने विद्यालयों में नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का शिक्षण वांछनीय माना तथा विद्यालयों का कार्यक्रम मौन प्रार्थना से शुरू करने का सुझाव दिया। १९६२ की भावात्मक एकता समिति ने भी राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में चरित्र-निर्माण को महत्वपूर्ण बताते हुए धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। १९६४-६६ के कोठारी शिक्षा आयोग ने नई पीढ़ी में मूल्यहीनता पर चिन्ता व्यक्त की तथा शिक्षा में नैतिक, आध्यात्मिक एवं सौन्दर्यात्मक मूल्यों के विकास को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना। विभिन्न आयोगों के अतिरिक्त शिक्षा की राष्ट्रीय, राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बनी समितियों ने एकमत से मूल्य संकट तथा चारित्रिक संकट से देश को बचाने हेतु नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा को किसी न किसी रूप में विद्यालयीन कार्यक्रम के साथ जोड़ना अत्यधिक आवश्यक बताया है। लेकिन दुर्भाग्य से शिक्षा जगत् में किये जाने वाले अब तक के अनेक प्रयास तथा योजनाएँ हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा करने में सफल नहीं हो पायी हैं। शिक्षा को इस गम्भीर स्थिति को ध्यान में रखते हुए ही देश में एक नई शिक्षा नीति १९८६ में लागू की गयी है, जो राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता को बनाए रखकर राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और भारतीय संविधान के संकल्पों के अनुसार नई पीढ़ी को प्रति-योगिता के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर आत्मविश्वास के साथ खड़ी करने में समर्थ कर सके। इसके लिए अपने कर्तव्यों के प्रति उन्मुख नागरिकों की आव-

श्यकता है, जो नैतिकोन्मुखी हो। यही कारण है कि नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अन्तर्गत नैतिक मूल्यों के शिक्षण तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था पर बल दिया गया है। जिससे राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने हेतु एक नया प्रकाश प्राप्त हो सके।

राष्ट्रीय समस्याओं के हल हेतु महत्वपूर्ण नैतिक मूल्यों का शिक्षा में समावेश हो—

देशवासियों में एकता की भावना विकसित करने हेतु शिक्षा में सार्वजनीन तथा शाश्वत मूल्यों का विकास करना होगा जिनसे धार्मिक अन्ध-विश्वास, कट्टरता, असहिष्णुता, हिंसा तथा भाग्यवाद का अन्त किया जा सके और विद्यार्थियों में राष्ट्रीय एकता का दृष्टिकोण विकसित किया जा सके। छात्रों को एक-एक क्षण का सदुपयोग करना सिखाने के लिए विद्यालयों में विभिन्न पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं जैसे स्कार्टिंग, एन० एस० एस०, एन० सी० सी०, खेलकूद आदि का आयोजन रखा जाये। विद्यालयों में साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं आने देने के लिए साम्प्रदायिकता की शिक्षा न देकर आध्यात्मिक व धार्मिक मूल्यों की शिक्षा पर बल दिया जाना चाहिए। छात्रों को सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से परिचित कराकर उन्हें इस योग्य बनाया जाय कि वे अपने विचार तथा व्यवहार में उदार बन सकें, भाषा, सम्प्रदाय, जाति, लिंग पर आधारित पूर्वाग्रह से ऊपर उठकर राष्ट्रीय हितों की बात सोच सकें। इसके लिए आवश्यक है कि विद्यालय ही नहीं बल्कि घर का वातावरण ऐसा सरस व सुन्दर बनाया जाए कि नैतिक मूल्यों का विकास हर सदस्य अपना सामूहिक उत्तरदायित्व समझे। विद्यालयी शैक्षिक तथा सहशैक्षिक कार्यक्रमों में सभी धर्मों के त्योहारों को समान रूप से मनाना, महापुरुषों के जीवन से प्रेरणा देने हेतु विचार गोष्ठी रखना, वादविवाद आयोजित करवाना तथा सामाजिक सेवा कार्यक्रमों को आवश्यक रूप से जोड़ा जाना चाहिए।

शिक्षा द्वारा छात्रों में आत्म-सम्मान की भावना का विकास कर उन्हें आध्यात्मिक/धार्मिक दिशा हेतु प्रेरित किया जाना चाहिए। सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता तथा समान आदर भाव रखने हेतु छात्रों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। छात्रों के सामने ऐसी समस्याएँ प्रस्तुत की जाएँ, जिनसे वे सद्-असद् में अन्तर करना सीख सकें। चूँकि अनुकरण का बालकों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, इसलिए अध्यापकों तथा माता-पिता को स्वयं नैतिक नियन्त्रण के अन्तर्गत ही रहने का प्रयास करना चाहिए। यदि अध्यापक तथा पिता खुलेआम धूम्र-पान करता है तो छात्रों को उस कार्य से कैसे रोक सकेगा? और ऐसा करने से छात्रों पर नकारात्मक प्रभाव ही पड़ेगा 'Action speaks louder than tongue.' यह बात निर्विवाद सत्य है।

विद्यालय में तथा माता-पिता की ओर से बालकों में नई शिक्षा नीति द्वारा दिये गये 'राष्ट्रीय पंचशील' के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया जाना अत्यधिक आवश्यक है। इन सिद्धान्तों से सम्बन्धित मूल्य स्वच्छता, सत्यता, परिश्रम, समानता और सहयोग है।

महाभारत में नैतिक शिक्षा के स्वरूप का संकेत स्पष्ट है—'महाजनो येन गतः स पन्था'। बालकों को महापुरुषों के चरित्र का अनुसरण करना सिखाया जाए, न कि चरित्र का। आज तक शिक्षा में विभिन्न पाठ्यक्रमों द्वारा मात्र चरित्र का ही अनुसरण करने का मन्तव्य स्पष्ट होता है, जबकि महापुरुषों के जीवन से मरने तक का इतिहास इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उनके जीवन के प्रेरणास्पर्द, चरित्र-निर्माणकारी और लक्ष्यबोधक पावन प्रसंगों का समावेश। नैतिक शिक्षण में यदि यह कहा जाए 'सत्य बोलो, मिलकर रहो' तो कभी भी सही प्रभाव नहीं दिखाई देगा अतः आवश्यक है कि जो कुछ भी कहा जाये साहित्यिक मन्तव्य "कान्तासम्मित उपदेश युजे" अवश्य हो किन्तु श्रोता अनुभव न कर

सकें कि उन्हें उपदेश देने का प्रयास किया जा रहा है।

भगवान् महावीर ने नैतिक जागरण के लिए बौद्धिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन परिमार्जित करने पर बल दिया था जिससे अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के माध्यम से युद्ध, शोषण तथा तनाव को समाप्त किया जा सके, शान्ति, समानता और सह-अस्तित्व के वातावरण से मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सके। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विद्यार्थियों के लिए एक आचार संहिता को अनिवार्य माना है।

भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था विकसित की जाए

यदि हम अपने अतीत की ओर मुड़कर देखें तो पायेंगे कि जिस भारतीय संस्कृति के गरिमामय रूप पर हम आज भी गौरवान्वित अनुभव करते हैं वह क्या था? और आज इससे हटकर हिंसा, तोड़-फोड़, आन्दोलन, घेराव, भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, अनेतिकता, मूल्यहीनता तथा दिशाहीनता की स्थिति में हम क्यों फँसे जा रहे हैं? प्राचीन भारतीय संस्कृति सदैव धार्मिक—नैतिक चेतना से अनुप्राणित रही है। मनुष्य में सात्त्विक वृत्तियों को जाग्रत करके रजस-प्रभुत्व द्वारा कामनाओं तथा तृष्णाओं को नियन्त्रित कर तमस्—अज्ञानांधकार का उन्मूलन कर उसे ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनाती थी, समन्वय की ओर अग्रसर करती थी, विजातीय संस्कृतियों को आत्मसात करना सिखाती थी।

सैद्धान्तिक दृष्टि से अपनी महान् सांस्कृतिक परम्पराओं को लेकर चलने पर भी हम संस्कृति से निरन्तर पिछड़ते गये और न तो सांस्कृतिक विरासत का विकास ही कर पाए तथा न ही नवीन जीवन मूल्य आयात समाज को दे पाये। इसी कारण जीवन में भटकाव, बिखराव, रखलन ही अधिक हुआ है। आज हम आदर्शप्रधान संस्कृति को भूलकर अर्थप्रधान संस्कृति को अपना चुके हैं।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३४१

इसो कारण भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों, परम्पराओं का विघटन ही हुआ है। अनुकरण के नाम पर गुणों, आदर्शों, मूल्यों के नाम पर कुत्सित, अनैतिक जैसी चीज को अपना रहे हैं। यही कारण है कि मानवीय गुणों के विपरीत आज अपराधों में वृद्धि हुई है। मूल्यों, व्यवहारों आदि को बदलते रहने के कारण व्यक्ति का 'स्त्व' 'अपनापन' खो गया है। वह तय नहीं कर पाता है कि पिता का सेल्स-टेक्स, इन्कम टेक्स बचाने वाला, मिलावट का धन कमाने वाला रूप सही है या घर-समाज में ईमानदारी तथा कर्तव्यपरायणता की डुगडुगी पीटने वाला रूप ?

युवा-शक्ति एवं मूल्य संक्रमण की समस्या आज हमारे समक्ष एक चुनौती बनकर खड़ी है। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक, शिक्षार्थी, अभिभावक, नेता, समाज-सुधारक, अधिकारी आदि सभी लोग अपने दायित्व को समझें, आदर्श प्रस्तुत करें, सुदृढ़ चरित्र रखें, ज्ञान कर्म तथा भावना से नैतिक आचरण करें। शिक्षा संस्थाएँ शिक्षा के

पाठ्यक्रम, पाठ्य-चर्चा, पाठ्य-विषयों एवं पाठ्य-क्रमोत्तर क्रियाओं द्वारा विद्यालय के वातावरण को सहज सौहार्दपूर्ण बनायें। मात्र परीक्षा उत्तीर्ण करना ही अपना उद्देश्य नहीं बनाएँ वरन् छात्रों को मानव तथा निष्ठावान नागरिक बनाने में मदद करें। उन्हें सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राज-नैतिक व्यवस्था का व्यावहारिक ज्ञान देकर समाज के अनुरूप तैयार करें।

विद्यालयों के अतिरिक्त समाज के अन्य अभि-करण, सभी वर्ग भी पूर्ण ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा का उदाहरण प्रस्तुत करें। समाज में अपनी-अपनी भूमिका सही रूप में निभाएँ तभी समाज में नैतिक आध्यात्मिक एवं मानवीय गुणों की महक सुवासित होगी। ऐसा वातावरण निर्मित किए जाने पर बल दिया जाए जिससे मूल्यहीनता, दिशाहीनता, कृप-मण्डूकता से बाहर निकला जा सके। नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के विकास हेतु हर वर्ग यदि सह-योग करेगा तभी आतंकित एवं त्रस्त मानवता को मुक्ति मिल सकेगी।

पियंकरे पियंवाई से सिबखं लहू, गरिहू ।

—उत्तरा. ११/१४

वही शिष्य अथवा शिक्षा प्राप्त के लिए समुत्सुक, उद्योगी अपनी अभीष्ट शिक्षा (विद्या अथवा कला) को सीख सकता है, जो प्रिय वचन बोलता है और अन्य लोगों (विशेष रूप से शिक्षक, सहपाठी, मित्र जन, माता-पिता, बन्धु बान्धवों) को प्रिय लगने वाले कार्य करता है।

आज मानव चिन्तन एक विचित्र वैचारिक ऊहापोह से संव्रस्त और ग्रस्त है। एक विचारधारा है, जो हिंसा, प्रतिशोध और सत्ता को मनुष्य की प्रकृति का जन्मजात और आवश्यक अंग गिनती है तो दूसरी अहिंसा, समता, सहिष्णुता, मैत्री और सहअस्तित्व को। नीट्शे ने कहा था कि दयनीय और दुर्बल राष्ट्रों के लिए युद्ध एक औषधि है। रस्किन ने माना कि युद्ध में ही राष्ट्र अपने विचारों की सत्यता और सक्षमता पहचानता है। अनेक राष्ट्र युद्ध में पनपे और शांति में नष्ट हो गये। मोल्लेक युद्ध-हिंसा को परमात्मा का आन्तरिक अंग गिनता था। उसकी धारणा थी कि स्थायी शान्ति एक स्वप्न है और वह भी सुन्दर। डार्विन का शक्ति सिद्धान्त तो ज्ञात है ही। स्पेंगलर जैसा इतिहासज्ञ भी युद्ध को मानवीय अस्तित्व का शाश्वत रूप गिनता है। आर्थर कीथ ने युद्ध को मानवीय उत्थान की छँटाई गिना। वैज्ञानिक डेसमोन्ड मोरिस, 'नैकड एप' में राबर्ट आडू 'दि टैरीटोरियल इम्पैरेटिव' में, कोनार्ड लारेंज 'आन एग्रेसन' में फ्राइड की मान्यता के पक्षधर हैं कि आक्रामकता और हिंसा मनुष्य की जन्मजात, स्वतंत्र, सहज एवं स्वाभाविक चित्तवृत्ति है।

इन भ्रान्त धारणाओं के विपरीत दूसरा व्यापक और स्वस्थ मत है उन विचारकों का, जो अहिंसा के सिद्धांत और दर्शन को आज चिन्तन के नये धरातल पर प्रतिष्ठित कर उसे केवल धर्म और अध्यात्म का ही नहीं, दर्शन और मुक्ति का साधन ही नहीं, सामाजिक परिवर्तन, अहिंसक समाज, विश्वशांति और सार्वभौम मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में भी स्वीकार कर रहा है। यूनेस्को जैसी संस्था ने भी इस पर गम्भीर विचार-विमर्श के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ आयोजित कीं, सामाजिक सर्वेक्षण और शोध योजनाओं को विविध रूपेण क्रियान्वित किया। आज सभी देशों, वर्गों और समाजों के प्रबुद्ध चिन्तक यह स्वीकारते हैं कि स्थायी विश्वशान्ति के लिए आमूल राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक क्रान्ति की अपरिहार्य आवश्यकता है, वह केवल महावीर, बुद्ध व गाँधी की अहिंसा से सम्भव है। यों कहना अधिक संगत होगा कि मानव सभ्यता का भविष्य अहिंसा व शान्ति पर ही निर्भर करता है। सम्भवतः यही कारण था कि महान वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने अपने कक्ष में महात्मा गाँधी का चित्र लगाया। किसी राजनेता और वैज्ञानिक का नहीं। मानव समाज की मूल प्रक्रिया, मानवीय अभिप्रेरणा व प्रयोजन चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

अहिंसा और सामाजिक परिवर्तन : आधुनिक सन्दर्भ

— प्रो० कल्याण मल लोहा (कलकत्ता)

की संरचना शांति, सुव्यवस्था और समता की ओर उन्मुख रही है।

सामाजिक मनोविज्ञान का मूलाधार जिस व्यवस्था और संस्थावाद को प्रमुखता दे रहा है, उसकी निर्मिति मैत्री, समता और भ्रातृत्व पर ही आधृत है। प्रसिद्ध विद्वान सी० राइट मिल का कथन है कि आज मनुष्य की समस्त चिन्ताधारा तृतीय विश्व युद्ध को यथार्थ मानकर भ्रमवश विश्व शांति की सम्भावना स्वीकार नहीं करती। पी० सोरोकिन का भी यही अभिमत है। उसकी दृष्टि में आज सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक जीवन मृत्युहीन, प्रत्ययहीन, आस्थाहीन हो गए हैं और स्पर्धा एवं संकटग्रस्त होकर चारों ओर विनष्टिवादी कटुता का बोलवाला है।

आइन्स्टीन ने तो स्पष्ट कह दिया था, 'हमें मानवता को याद रखना है जिससे हमारे समक्ष स्वर्ग का द्वार खुल जायेगा अन्यथा सार्वभौम मृत्यु को ही झेलना होगा। कोई अंधी मशीन हमें अपने विकराल वज्र दन्तों में जकड़ लेगी।' एक ओर विश्व संहार का यह भय और आतंक है, तो दूसरी ओर यह मान्यता जोर पकड़ रही है कि रचनात्मक पदार्थवाद और नैतिक क्रान्ति मानवीय मूल्यों के मानदण्ड के रूप में ही अहिंसक समाज व संस्कृति के लिए स्थायी विश्वशान्ति के हेतु बन सकते हैं। सामाजिक व सांस्कृतिक विकास आज द्व्यर्थक हो रहा है। एक ओर तकनीकी व वैज्ञानिक आविष्कारों ने राष्ट्रों के आचार-विचार-व्यवहार में परिवर्तन कर दिया है तो दूसरी ओर सत्ता व शासन की अमित महत्वकांक्षाओं ने चुनौतियाँ उत्पन्न करतनाव और संघर्ष उपस्थित किया है। कोई राष्ट्र अन्य उन्नत राष्ट्रों से पिछड़ना नहीं चाहता, दूसरी ओर सामान्य जनता शान्ति, सुव्यवस्था और सामाजिक परिवर्तनों की मांग कर परस्पर सौमनस्य और सौरस्य का आग्रह कर रही है। युद्ध की भयावहता इससे ही स्पष्ट है कि आज संहार अस्त्रों पर तीस हजार डालर प्रति सैकेण्ड खर्च हो रहे हैं और उधर हर दो

सैकेण्ड पर एक बालक, चिकित्सा के अभाव में विकलांग हो रहा है। अमेरिका नाभिकीय युद्ध के लिए रसायनिक और जैविक तत्त्वों के मिश्रण से ऐसे अस्त्र बना रहा है, जो विशेष जातियों और नस्लों को पहचानकर समाप्त कर देंगे एवं मानवीय इच्छाओं का दमन कर जनता की मानसिकता और आचरण-क्षमता को स्वचालित यन्त्र में बदल देंगे। इसके विपरीत प्रेमचन्द के शब्दों में 'विश्व समर का एकमात्र निदान है विम्ब-प्रेम।' इस सन्दर्भ में आज विश्व साहित्य में तकनीकी संस्कृति का घोर विरोध हो रहा है। ब्रूस मेजलिस ने १९८० में लिखा कि आविष्कारों की महानता और उनके परिणामों के हीनता की घोर विषमता से मैं हैरान हूँ। नारमन कंजिल्स ने कहा कि 'अंतरिक्ष की मानवयात्रा का महत्व यह नहीं है कि मनुष्य ने चन्द्रमा पर पैर रखे पर यह है कि उसकी दृष्टि वहाँ भी अपनी पृथ्वी पर ही लगी रही।' यही सोचना है कि मनुष्य की इस सर्वव्यापी चारित्रिक आन्तरिक बाह्य अस्मिता के संकट से मुक्ति का उपाय अहिंसक क्रान्ति देकर क्या स्थायी शांति और सुव्यवस्था का प्रमाण बन सकती है? इसी दृष्टि से आज गम्भीर विचारक और चिन्तक अहिंसा के दार्शनिक और धार्मिक पक्ष के साथ-साथ उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उपयोगिता और इयत्ता पर उन्मुक्त भाव से विचार कर रहे हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

टी. के. उन्नीथन एवं योगेन्द्रसिंह के सर्वेक्षण के अनुसार आज नेपाल, श्रीलंका और भारत का ७० प्रतिशत कुलीन वर्ग और ६३८ सामान्य वर्ग अहिंसा को प्रधानतः राजनीतिक और सामाजिक स्वरूप में स्वीकार करता है। ये वर्ग सभी धर्मों के हैं। इन वर्गों की दृढ़ मान्यता है कि अहिंसा की उपलब्धि से मानव जाति का नैतिक और आध्यात्मिक विकास होगा। उन्नीथन ने अहिंसा की संगति और स्वीकृति का समाजशास्त्रीय पद्धति से विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि "हमारे

समक्ष दो ही विकल्प हैं—या तो परम्परा से प्राप्त नैतिक व्यवस्था स्वीकार करें या फिर समाज से निःसृत उसकी प्रायोगिक मान्यता को। परन्तु यहीं प्रश्न उठता है कि, वर्तमान अनैतिक समाज से हम किस प्रकार नैतिक व्यवस्था प्राप्त कर सकते हैं? सत्ता और व्यवस्था की संकल्पना लोकोत्तर होनी चाहिए, जो विद्यमान परिस्थितियों से उत्पन्न प्रत्ययात्मक और पारम्परिक हो।" डा० राधा-कृष्णन के शब्दों में 'अहिंसा कोई शारीरिक दशा नहीं है, अपितु यह तो मन की प्रेममयी वृत्ति है।' मानसिक स्थिति के रूप में अहिंसा केवल अप्रति-रोध से भी भिन्न है। वह जीवन का एक समर्थ रचनात्मक पक्ष है। मानव कल्याण की भावना ही सच्चा नल और सर्वश्रेष्ठ गुण है। वाल्मीकि कहते हैं—“योद्धा का बल वृणित है, ऋषि का बल ही सच्ची शक्ति है—धिम्बलम् क्षत्रिय बलम्, ब्रह्म तेजो-बलं बलम्।” अहिंसक मुनि, ऋषि या संन्यासी प्रत्यक्षतः सामाजिक संघर्ष में भाग नहीं लेते पर उनका योगदान निर्विवाद है।

पुनः डा० राधाकृष्णन के अनुसार वे “सामा-जिक आन्दोलन के सच्चे निदेशक हैं। उन्हें देख-कर हमें अरस्तू की ‘गतिहीन प्रेरक शक्ति’ का स्मरण हो जाता है।” ताल्सताय ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास ‘युद्ध और शान्ति’ में लिखा है—“युद्ध एक सामूहिक हत्या है, जिसके उपकरण हैं, देश द्रोह को प्रोत्साहन, मिथ्याभाषण, निवासियों का विनाश आदि।”

पहले हम अहिंसा द्वारा सामाजिक परिवर्तन की सम्भावनाओं पर विचार करें। एरिक फ्रोम के अनुसार आज साधन को ही साध्य समझना सामा-जिक व्यवस्था की सबसे बड़ी विसंगति है। भौतिक समृद्धि के लिए उत्पादन और उपभोग के साधन हमारे साध्य बन गए हैं इसी से आज सम्पूर्ण समाज अपने आदर्श और उद्देश्य से च्युत हो गया है। मनुष्य मनुष्य से भयभीत है। उसकी वैयक्तिक अन्त-

हीन अधिग्रहण और अवाप्ति की लालसा ने उसकी स्वस्थ मानसिकता नष्ट कर दी है। हिगेल के शब्दों में ‘मनुष्य सबसे सौभाग्यपूर्ण प्राणी है क्योंकि वह अकेला (रोविनसन क्रूसो की भाँति) नहीं रह सकता, पर वह सबसे अभागा भी है क्योंकि अन्य मनुष्यों के साथ सौमनस्य और प्रेम से भी नहीं रहता’—अर्थात् सामाजिकता की प्रकृत आकांक्षा के साथ ही उसमें विकृत असामाजिकता है। वह प्रकृति के सनातन नियमों को भूल गया है। आर्थिक व राजनैतिक जीवन की केन्द्रस्थ यान्त्रिकता में, वह व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता खी बैठा। उसके दिल और दिमाग पर शासन तन्त्र की क्रूरता और निरंकुशता हावी है। समाज-शास्त्रियों ने व्यक्ति की इस विकृत मानसिकता का विशद विवेचन किया है। सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से एक ओर वह अतीव परिग्रहवादी है, दूसरी ओर वह वर्तमान संस्कृति की जड़ता से विच्छिन्न। इसी को समाजशास्त्र में ‘एनोमी’ और ‘ऐलिनेशन’ कहा गया है। मार्क्स ने अपने सिद्धांतों में भिन्न दृष्टि से व्यक्ति के ऐलिनेशन पर विचार किया। ऐलिनेशन की विवेचना करते हुए गर्सन का मत है कि तकनीकी—औद्योगिक क्रान्ति, नौकरशाही, विलास वैभवपूर्ण जीवन प्रक्रिया, आदर्शों का लोप, नैतिक मूल्यों का ह्रास, विकृत मनोविज्ञान (फ्राइड आदि का) इस मानसिक विच्छति के कारण हैं। इसका अर्थ है कि आज व्यक्ति एकाकीपन, अनैक्य, असन्तोष का शिकार होकर वह अपने वृहत् सामाजिक सम्बन्धों को विस्मृत कर रहा है। उसे न तो अपने से सन्तोष है और न अपनी उपार्जन क्षमता से। वह असंयत है। सांस्कृतिक संकट उसे हतप्रम कर रहा है। उसकी आकांक्षाओं और उपलब्धियों में प्रचुर व्यवधान है। उसकी एषणाओं का अन्त नहीं। वह अर्थरहित, मूल्यविहीन, एकाकी, आत्म-निर्वासित और शक्तिहीन है। यही उसका सांस्कृ-तिक विघटन है। आज यह आत्मविमुखता और

सांस्कृतिक अलगवाव चारों ओर व्याप्त है। एनोमी वह मानसिक दशा है, जिसमें नैतिक जड़ें नष्ट हो जाती हैं—मनुष्य विशृंखलित होकर अपना नैरन्तर्य खो बैठता है—आध्यात्मिक स्तर पर वह अनुब्रंर और निर्जीव है। उसका दायित्व बोध किसी के प्रति नहीं है। उसका जीवन पूर्णतः निषेधात्मक है। उसके जीवन में न तो अतीत है, न वर्तमान और न भविष्य—केवल इनकी एक क्षीण संवेदना ही विद्यमान है। (मेकलवर) उसकी यह विक्षिप्त मानसिकता सामाजिक परिवेश का परिणाम है। एलीनेशन जहाँ मनोवैज्ञानिक है, एनोमी वहाँ सामाजिक-सांस्कृतिक। एनोमी समाज की नियामक संरचना के ह्रास का फल है, क्योंकि व्यक्ति को आकांक्षा और उसकी पूर्ति में भारी व्यवधान और सकट है। इस दुरवस्था के निवारण के लिए हृदय और मस्तिष्क का परिष्करण या दर्शन और ज्ञान का उदात्तीकरण आवश्यक है और यह व्रत साधन से ही संभव है। व्रत साधन का व्यष्टि से प्रारम्भ होकर समष्टि की ओर अभिनिविष्ट होना ही सही उप-चार है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि समष्टि चेतना और सामूहिक संश्लिष्ट ऐक्य मानवेतर सृष्टि में भी जब सहज, स्वसंभूत और सुलभ है, तब मनुष्य में ही क्यों आज इसका अभाव है? विख्यात मनोवैज्ञानिक इरिक इरिकसन इसे ही 'किकर्तव्यविमूढता' कहते हैं। उनके अनुसार मनुष्य यह नहीं जानता कि वह क्या है, उसकी संलग्नता कहाँ और किससे है? यह एक भीषण मानसिक रोग है।

इसके विपरीत मानवेतर सृष्टि को देखें। एडवर्ड विल्सन ने अपने आविष्कारों से यह प्रमाणित कर दिया कि प्रवाल, चींटी, सर्प आदि जीव-जन्तु भी पूर्णतः सामाजिक और संवेदनशील हैं, उनकी सामाजिक संरचना अत्यन्त सुव्यवस्थित है। आज तो विज्ञान ने पेड़-पौधों में भी संवेदनशीलता, आत्मसुरक्षा और ज्ञप्ति को प्रमाणित कर दिया

है। इसी संवेदना का अनुभव कर परमहंस श्री रामकृष्ण ने पत्ते, फूल और पौधों को छूना तक नहीं चाहा।

हमें यह मानना चाहिए कि अहिंसा आज के विघटित, संश्रस्त और किकर्तव्यविमूढ मनुष्य को निश्चित सुव्यवस्था देकर अहिंसक समाज की रचना करने में समर्थ है।

सिकन्दर, चंगेजखां, नादिरशाह महमूद गजनवी, आदि आतंकवादी और आततायी इतिहास में केवल नाम और घटना बनकर रह गए। मानव जाति ने उन्हें इससे अधिक महत्त्व नहीं दिया।

पर अमर हैं बुद्ध, महावीर, गांधी, ईसा, मुहम्मद और नानक, कनफ्यूसियस आदि क्योंकि उन्होंने मनुष्यजीवन को उच्चतम नैतिक भूमि पर ले जाकर उसे मानवीय गुणों से समन्वित किया। जिन्होंने मानव जाति के विनाश का स्वप्न देखा, वे विस्मृत हो गए और जिन्होंने उसके उत्थान का सत्संकल्प किया, उसमें योगदान दिया, वे अजर-अमर। संस्कृति के विकास में उनकी देन अक्षय्य है। यह इस सत्य का प्रमाण है कि मनुष्य की आन्तरिकता मूलतः सर्वतोभावेन अहिंसक, शान्ति-प्रिय, प्रेममय, करुणाश्रित और नैतिक है। जीवन के सभी आदर्शों के मूल में अहिंसा है। अहिंसक समाज के लिए व्यक्ति का अहिंसक होना आवश्यक है। कौशेयवली ने अहिंसक व्यक्ति और अहिंसक समाज के पारस्परिक और अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि मन, वचन और कर्म से अहिंसक व्यक्ति समाज में सर्वत्र मैत्री, प्रेम और सद्भाव का नियमन करता है। वह समूचे समाज में परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है। इसी से विश्व के समस्त धर्मों ने अहिंसा को सर्वोच्च धर्म कहा। हिन्दू हो या इस्लाम, ईसाई हो या यहूदी, सिख हो या पारसी, सूफी या शिन्तो, सभी ने इसे स्वीकारा। भारतीय वाङ्मय तो इसी का उद्घोष है। वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, स्मृति, पुराण,

महाभारत, धर्मशास्त्र आदि सब अहिंसा को किसी न किसी प्रकार मनुष्यजीवन का प्राण तत्व गिनते हैं, 'मा हिंस्यात् सर्वं भूतानि'। अहिंसा का नैतिक राज्य ही सर्वोत्तम है। छांदोग्य उपनिषद कहता है कि यज्ञों में बलि नैतिक गुणों की ही देनी चाहिए 'अथयत् तपोदानं आर्जवं, अहिंसा, सत्यवचनं इतित्ता अस्य दक्षिणाः' — (३-१७) — आरुणिकोपनिषद शाण्डिल्योपनिषद ने भी यही माना।

ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे रक्षतो हे, रक्षतो हे, रक्षत इति (आरुणिकोपनिषद—३)

मनु जैसे आचार्यों ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर भी यह कहा 'अहिंसयेव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्' (३-१५६) महाभारत की तो स्पष्ट घोषणा रही—अहिंसा सकलोधर्मो हिंसा धर्मस्तथाहितः' (शान्ति पर्व -७२--२०) अनुशासन और शान्ति पर्व इसी अहिंसक समाज की संकल्पना करते हैं—'अहिंसा परमोधर्मः अहिंसा परमं तपः, अहिंसा परमं सत्यं, ततो धर्मं प्रवर्तते'—आदि। महाभारत के अन्त में महर्षि व्यास तक को कहना पड़ा कि 'परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्।' पद्मपुराण कहता है—

'अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पं इन्द्रिय निग्रहः। सर्वं भूत दया पुष्पं, क्षमा पुष्पं विशेषतः।' महाभारत में राजविचक्षणु, बृहद् धर्म पुराण में परशुगम और शिव का संवाद इसके प्रमाण हैं।

वायु पुराण का यह कथन पर्याप्त है—'अहिंसा सर्वभूतानां कर्मणा भनसा गिरा।' विष्णु पुराण में हिंसा के पारिवारिक रूप की चर्चा की गई है। अनृत, निकृति, भय, नरक, सन्तान, माया, वेदना, व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा, क्रोध उसकी परम्परा है। इसके विपरीत अहिंसा के लिए ब्रह्म पुराण स्पष्ट कहता है 'सर्वं भूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु'। पुराण ही क्यों, समस्त भारतीय वाङ्-

मय, इसी की साक्षी देता है। भारतीय संस्कृति की नैतिकता धर्म पर सर्वाश्रित है। महावीर का तो जीवन ही इसका दिव्य संदेश है। इतिहास में महावीर (और बुद्ध) शाश्वत ज्योतिष्पुंज हैं, जो मानवजीवन के अन्तर्बाह्य अन्धकार को अहिंसा व करुणा से, अपरिग्रह व मैत्री-भावना से दूर कर सदा-सदा आलोक विकीर्ण करते रहेंगे। महावीर का जीवन, व्यक्तित्व और कर्तृत्व ही इसका उदाहरण है। कितने परीषह और उपसर्ग आये, कितनी चुनौतियाँ उन्होंने झेलीं, कितनी उपेक्षाएँ सहीं, पर वह—'आलोक पुरुष मंगल-चेतन' शान्त, स्थिर और दृढ़ निश्चय से अहिंसा द्वारा मनोगत अन्धकार को विनष्ट कर हमें ज्योतिर्मय कर गया। आभ्यन्तर व बाह्य दासत्व से उसने हमें मुक्ति दी। 'सत्वापि सामर्थ्ये अपकार सहनं क्षमा' की वे मूर्ति थे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार 'यदि तौर डाक भुनै कोई न आशे, तबै एकला चलो रे'—वे अकेले ही यात्रा करते रहे—निर्भय और निःशंक होकर। अपरिचितों से न भय था और न परिचितों में आसक्ति। उनका जीवन पराक्रम, पुरुषार्थ और परमार्थ से सम्पूर्ण था। संकीर्ण मनोवृत्ति का उन्होंने त्याग किया। चंडकौशिक हो या संगम, यक्ष या कद्रूपतना, गौशालक हो या इन्द्रभूति गौतम सबके प्रति वही समभाव, वही सद्भाव। क्रोध, मान, लोभ, मोह कहाँ गये थे कषाय। समाप्त हो गये। महावीर का जीवन ही उनकी साधना का रहस्य है, अहिंसा की मंजूषा है। उन्होंने बताया कि अहिंसा का दर्शन सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है।

आज जब पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है, प्राकृतिक संतुलन बिगड़ रहा है, पशु-पक्षी, जन्तु मनुष्य की हिंसक वृत्ति से समाप्त हो रहे हैं, महावीर ने आचार-विचार और व्यवहार के साथ-साथ आहार का शाकाहार का भी प्रमाण दिया—वे केवली थे—त्रिकालज्ञ, दिव्य। हिंसा पाप है, रौद्र है, भय है,

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३४७

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

मोह है : एसो सो पाणवहो पावो, चण्डो, रुदो...
मोह महब्भयत्तवहओ ।

और अहिंसा, समस्त जीवों के प्रति संयमपूर्ण आचरण-व्यवहार है—‘अहिंसा निरुणा दिट्ठा, सब्ब भूएसु संजमो ।’ वे सदा यही सिखाते रहे कि मनुष्य का चरित्रात्मक आन्तरिक रूपान्तरण मुख्य है, और इसके साधन है अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और समता। यही मानवतावाद या समष्टिवाद की आधारशिला है। एक जैनाचार्य का कथन है अहिंसा ही प्रमुख धर्म है, अन्य तो उसकी सुरक्षा के लिए है—‘अवसेसा तस्स रक्खणट्ठा ।’

आध्यात्मिक चेतना की ऊर्ध्व गति से ही सम्भव है—सनातन मूल्यबोध। वीर प्रभु ने इसी से शान्ति मार्ग पर चलने को कहा—

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे
गाम गए नगरे व संजए ।
सन्ति मग्गं च बूहए
समयं गोयम ! मा पमायए ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १०/३६

अहिंसा की साधना ही शान्ति का मार्ग है। वे कहते हैं ‘बुद्ध, तत्त्वज्ञ और उपशान्त होकर पूर्ण संयतभाव से गौतम ! गाँव एवं नगर में विचरण कर। शान्तिपथ पर चल। अहिंसा का प्रचार कर। क्षण भर भी प्रमाद न कर।’ उन्होंने बताया कि धर्महीन नीति समाज के लिए अभिशाप है और नीतिहीन धर्माचरण केवल वैयक्तिक। धर्म व्यवहार से उत्पन्न है, ज्ञानी पुरुषों ने जिसका सदा आचरण किया वे व्यवहार और आचरण ही अपेक्षित हैं। इस प्रकार महावीर ने अहिंसा को वृहत् और व्यापक सामाजिक धरातल दिया। उनका विधान था ‘चारित्तं धम्मो’ सदाचार ही चारित्र्य धर्म है। व्यक्ति की हो, चाहे समाज या शासनतन्त्र की, हिंसा का कारण भय और क्रोध है। जैनधर्म कषाय को कालुष्य का कारण मानता है—आवेश, लालसा,

अधिकारलिप्ता और वित्तेषणा ही हिंसा और परिग्रह के हेतु है, ‘गथेहिं तह कसाओ, वड्ढइ विज्जाइं तेहिं विणा ।’ आधुनिक समाजशास्त्र व मनोविज्ञान में भी क्रोध, मान, माया और लोभ का वैज्ञानिक पद्धति से निरूपण मिलता है। क्रोध को ही लें। क्रोध प्रतिशोध माँगता है, वह मानसिक और शारीरिक संतुलन नष्ट कर देता है। भगवती सूत्र में इसकी विभिन्न अवस्थाओं का विवरण प्राप्त होता है। भगवान महावीर कहते हैं क्रोध—उचित अनुचित का विवेक नष्ट करने वाला है, वह प्रज्वलन रूप आत्मा का दुष्परिणाम है।

आज मनोविज्ञान ने भी इस तथ्य को भली-भाँति उजागर कर दिया है। चरक ने तो यही बताया कि क्रोध आदि विकार से व्यक्ति ही नहीं, उसके आसपास का वातावरण भी विकृत हो जाता है। व्यक्ति और समाज में सार्वदेशिक शान्ति तभी सम्भव है जब हम अपनी जीवन प्रक्रिया में आमूल परिवर्तन करें। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक इरिक बर्न का कथन है—

‘मनुष्य की रचनात्मक जिजीविषा और संहारात्मक विजीविषा वह कच्चा माल है, जिसका आज मनुष्य और संस्कृति को उपयोग करना है—समाज और मानवजाति की संरक्षा के लिए उसे संहारात्मक विजीविषा समाप्त कर रचनात्मक जिजीविषा को आध्यात्मिक व जागतिक समृद्धि में लगाना होगा।’

व्यक्ति का मानसिक विकास और सामाजिक शान्ति इस पर निर्भर करती है कि वह इन जन्मजात शक्तियों का किस उद्देश्य से प्रयोग करे। व्यक्ति का मानसिक संतुलन ही सामाजिक संतुलन का प्रथम चरण है। महावीर ने अपनी सारी शक्ति इसी में लगाई। उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त को मनुष्य या पशु हिंसा तक ही सीमित न रखकर समस्त सच्चराचर जगत पर, षट्काय जीवों पर, जीवन के प्रत्येक पहलू और पक्ष पर अनिवार्य

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

समझा। अहिंसा के निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों रूपों पर गहन विचार किया। भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा का सर्वांगीण विवेचन कर हिंसा के पाँच समादान बताए। उन्होंने कहा—‘अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएमु संजमो (दशवैकालिक ६-६) क्योंकि सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है—सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल। ‘अप्यि वहा, पिय जीवणो, जीविउ कामा, सव्वेसि जीवियं पिय’ (आचारांग १-६२-७) महावीर की इस अहिंसा संस्कृति को ही आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने अपनाया, विनोबा भावे ने सर्वोदय सिद्धान्त में प्रमुख माना।

नीग्रो नेता मार्टिन किंग लूथर का उद्धरण भी यहाँ समीचीन होगा ‘अहिंसक व्यक्ति की यह मान्यता है कि अपने विरोधी की हिंसा के समक्ष भी वह आक्रामक भाव न रखे अपितु यह सत्प्रयास करे कि उसकी हिंसात्मक या आक्रामक शक्ति का निरसन अहिंसा से संभव हो सकेगा।’ लूथर कहता है ‘धिक्कार के बदले धिक्कार वापस लौटाने से धिक्कार का गुणन होता है, अन्धकार कभी अन्धकार दूर नहीं करता—हिंसा से हिंसा की वृद्धि होती है।’ महात्मा गाँधी ने इसको ही सार्वभौम प्रेम और सर्वाधिक दम कहा था। अहिंसा व्यक्ति को अभय करती है और दूसरों को भी। अभय वै ब्रह्म मा मेधी—यही उसका मंत्र है। विनोबाजी के शब्दों में इससे मनुष्य सत्यग्राही होता है।

बेलजियन समाजवादी चिन्तक बार्ट डे लाइट ने लिखा—‘हिंसा का प्राचुर्य जितना अधिक होगा, त्रांति उतनी ही कम। ऐसीमोव का वाक्य है ‘हिंसा असमर्थ आदमी का अन्तिम आश्रय है।’ हिंसा और कटुता के मध्य सामाजिक परिवर्तन अपनी शक्ति और अर्थवत्ता समाप्त कर देता है। आज की जनतांत्रिक पद्धति की मूलभूत आवश्यकता हिंसाविहीन शासन तन्त्र से ही संभव है। महात्मा गाँधी के अनुसार अहिंसा का विज्ञान ही

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

यथार्थ प्रजातन्त्र की स्थापना का समर्थ साधन है (यंग इंडिया—मार्च १६, १९२५) हिंसा सामाजिक दुराग्रह है, अहिंसा सत्याग्रह। वर्तमान समय में जनता का विरोध व्यक्ति और सम्पत्ति के विरुद्ध हिंसापरक बन जाता है, ऐसा विरोध सामाजिक परिवर्तन का उपकरण कभी नहीं बन सकता, वह तो अव्यवस्था, तनाव और निराशा को पनपाकर और अधिक हिंसात्मक कार्रवाई का निमित्त बनता है।

आधुनिक चिन्ताधारा के अन्य सिद्धान्तों का तथ्यानुशीलन भी करें।

स्वीडन अर्थशास्त्री एडलर कार्लसन ने इस दृष्टि से ‘विपर्यस्त उपयोमितावाद’ की व्याख्या करते हुए लिखा है—‘हमें अपनी सामाजिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण मनुष्य के कष्टों को कम करने के लिए करना चाहिए। जो आज धनी और समृद्ध हैं उनका आर्थिक स्तर बढ़ाना एक खोखला व सारहीन विचार है। जब तक प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो जाए, कोई भी अधिक समृद्ध न हो—इसके लिए आवश्यक है—नैतिक साधन न कि भौतिक उपाय।’ ये नैतिक साधन ही व्यक्ति और समाज को शांति लाभ दे सकते हैं। इसी से मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा अब (जूलियस सेगल के शब्दों में)—मानसिक रोग और पीड़ा से मुक्ति के लिए आत्मपरितोष पर अधिक बल देती है—आत्मोपलब्धि पर, क्योंकि इसी से व्यक्तित्व का स्वस्थ और समीकृत विकास संभव है। मनुष्य के प्रकृत मूल्य बोध से अव्यवस्था को भी सुव्यवस्था में परिणत किया जा सकता है। ल्योन आइजनबर्ग ने इस पर जोर दिया है कि ‘हमें मनुष्य की प्रकृति का ही मानवीकरण करना है क्योंकि मानवीय हिंसा सामाजिक दमन का हेतु नहीं उसकी प्रतिक्रिया का परिणाम है।’

वर्तमान विसंगति यह है कि आज बालक या किशोर वर्ग जब युवावर्ग को संघर्ष और हिंसारत देखता है, जब जातीय नेता स्वार्थ व सत्ता

३५६

के लिए यही मार्ग अपनाते हैं, तो वह भी इस दुष्प्रभाव में आकर उसी पथ पर चलता है—उनका अनुकरण करता है। इसी से ल्योन आइजनबर्ग कहता है कि हिंसा दुष्परिणाम है अन्तरवर्ग संघर्ष का, जिसे हमारे नेता बढ़ावा दे रहे हैं। हमें समस्त मानव समाज को अविभक्त इकाई के रूप में ग्रहण कर मानवीय मूल्यों का विकास करना होगा। भ्रातृत्व और मैत्री का सिद्धान्त प्राचीन है, पर आज मानव अस्तित्व की रक्षा की वह प्रथम अनिवार्यता है।

हमें यह निःसंकोच स्वीकार करना होगा कि मनुष्य ही अपना भाग्यविधाता है व पुरुषार्थ ही उसका नियामक है। प्रसिद्ध विचारक बर्ट्रैंड रसल ने सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों में जीवन की इस आंतरिक प्रक्रिया को—अहिंसा, सत्य, समता, अपरिग्रह और सात्विक आचरण को ही प्रमुख गिना है।

ये विद्वान विचारक आज जिस तथ्य की ओर संकेत कर रहे हैं, शताब्दियों पूर्व भगवान महावीर ने यही बताया था। उन्होंने 'आयओ बहिया पास तम्हा न हन्ता न विघाइए।' अहिंसा के द्वारा विश्व मैत्री का संदेश दिया, मनुष्य मनुष्य को समान बताया—

“चरणं हवइ सधम्मो सो हवइ अप्पसमा वो”
सो राग रोस रहिओ जीवस्स अण्ण परिणामो ।”

न कोई जाति उच्च है और न कोई हीन—नो हीणो णो-अइरित्ते णो पीहए’ उन्होंने सत्य की सापेक्षता के साथ-साथ सहअस्तित्व पर जोर दिया, पुरुषार्थ के लिए कहा—‘पुरिसा ! तुममेव तुममिच्च’, कि बहिया मित्तमिच्छसि । कषाय व दुष्प्रवृत्तियों से मुक्ति का मार्ग बताया, आध्यात्मिक विकास के साथ मानवीय उच्चता और चारित्र्य पर दृष्टि रखी। उनका उद्घोष था—‘सच्चं मिधिति कुव्वहू।’ जहाँ सत्य है वहाँ भय नहीं। ‘न भाइयव्वं।’ वे

समझाते रहे ‘विसंकटकओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि।’

सबके साथ मैत्री भाव रखो, किसी से वैर-विरोध न हो। यदि युद्ध ही करना है तो अपने से करो। आन्तरिक शुद्धि ही सर्वश्रेष्ठ है, बाह्य शुद्धि सुमार्ग नहीं। धन और संग्रह प्रमाद का कारण है—‘वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्था।’ ‘लाभस्सेसो अणुं फासो मन्ने अन्नय-राभावे’ उन्होंने सदैव जाग्रत रहने को कहा—विनय और विवेक को आत्मज्ञान की पीठिका बताया। शोषण और परिग्रह का खुलकर विरोध किया—क्योंकि ‘जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो-पवइडइ’ परिग्रही को शान्ति, सुख और सन्तोष कहा—वह तो ‘सव्वतो पिच्छतो परिमसदि पलादि मुज्झदिय।’ यही तो अहिंसा का राजपथ है—शान्त, स्थिर, सौम्य और श्रेष्ठ।

आज की भयभीत संवस्त और अभिशप्त मानव जाति के लिए यही तो परमौषधि संजीवनी है, लोकहित और सर्वभूतहित की, सर्वोदय की, सामाजिक परिवर्तन की। महावीर की परम्परा में ही महात्मा गाँधी ने भी यही मार्ग अपनाया और कहा—सामाजिक और आर्थिक अहिंसा ही स्थायी शान्ति की जननी है। अहिंसा से ही मानवसमाज वर्तमान विभीषिका, विजीगिषा और विसंगति से मुक्त हो सकता है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि एक सच्चा अहिंसक व्यक्ति समस्त समाज का रूपान्तरण कर सकता है। महावीर ने यही किया और यही कहा। श्रीगुणवन्त शाह ने ठीक ही कहा है कि आज जैन (और अहिंसा) दर्शन की सार्थकता अहिंसक समाज की रचना की स्थापना में है।

ऐसे समाज में शाकाहार का बोलवाला होगा, प्रदूषण न्यूनतम होगा, शोषण नहीं के बराबर और आर्थिक असमानता एकदम कम होगी और युद्ध सदा के लिए नहीं होगा। आज हमें अहिंसा को

जीवन के साथ जोड़ना है। अहिंसक समाज का अर्थ है प्रेम, कृपा और मित्रता का समाज। इसी से आज के संघर्ष में अहिंसा के धार्मिक मूल्य के साथ सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और मानवीय मूल्य एवं अर्थवत्ता भी नितान्त आवश्यक है, यदि यह नहीं होता है तो पृथ्वी पर जीवन के नाश के चिह्न स्पष्ट हैं। महावीर को विचार क्रांति ही हमारे आचार का आश्रय है, सम्बल है। सामा-

जिक परिवर्तन के लिए सूक्ष्म और महत् अहिंसा व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अनिवार्य है— वही केवल मात्र साधन है। आणविक युद्ध के न होने पर भी, पृथ्वी मीन भाव से हमारी जीवन कृत प्रक्रिया के कारण नष्ट हो रही है, उसे यदि बचाना है तो उसमें आमूल परिवर्तन करना अति आवश्यक और अनिवार्य और यह अहिंसा की अपरिमेय व्यक्ति से ही सम्भव है।



सन्दर्भ स्थल



- १ Carles Ronmolo : Truth and Non-Voience (UNESCO-SYMPIOSIUM)
- २ C. Wright Mill : The Causes of World-War Three, 1950
- ३ P. Sorokin : The Reconstruction of Humanity.
- ४ Eihustin : Interview, July, 1955
- ५ T. Unnithan Yogendra Singh : Sociology of Non-Voience.
- ६ J. S. Mathur P. C. Sharma : Non-Voience and S.ocial Change
- ७ Unto Tahzinen : Ahinsa
- ८ Kausleya Walli : Ahinsa in Indian Thought.
- ९ S. Radhakrishnan : Religion and Society
- १० P. Sorokin : Social and Cultural Dynamics
- ११ Eric Berne : A Layman's Guide to Psychiatry and Psychoanalysis
- १२ वी. एन. सिन्हा गुणवन्तशाह : जैन धर्म में अहिंसा । महामानव महावीर
- १३ युवाचार्य महाप्रज्ञ : महावीर की साधना का रहस्य
- १४ मुनि नथमल : अहिंसा तत्व दर्शन
- १५ वेचरदास शास्त्री : महावीर वाणी
- १६ E. Hytton : Non-Voience and Developmental Work
- १७ Alduous Muxley : Ends and Means
- १८ Edward Wilson : Sociobiology
- १९ M. Francis Abraham : Sociob ology : Modern Social Theory
- २० सर्व सेवाश्रम प्रकाशन : समता सूत्र
- २१ श्रीचन्द रामपुरिया : महावीर वाणी
- २२ निर्मल कुमार : भगवान महावीर
- २३ डा. भागचन्द शास्त्री : जैनदर्शन व संस्कृति का इतिहास
- २४ मुनि अमोलक ऋषि : जैन धर्म व दर्शन
- २५ गुणवन्त शाह : महामानव महावीर

विभिन्न जैनागम, यंग इण्डिया, अमेरिकन रिव्यू आदि पत्रिकाएँ ।

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

३५१

संस्कृत साहित्य और मुस्लिम शासक

— श्री भंवरलाल नाहटा

४: जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता-७००००७

भारत में राज्यतन्त्र के माध्यम से इस्लाम का विस्तार हुआ और अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी की भाँति राज्यभाषा होने के कारण अरबी, फारसी और उर्दू का प्रचार हुआ किन्तु जन-जीवन में सभी प्रान्तों में अपनी मातृ-भाषा ही विशेषतया प्रचलित थी। साहित्यिक भाषाओं में संस्कृत का प्रचार सर्वव्यापी था। लोक भाषाओं का विकास प्राकृत से अपभ्रंश के माध्यम से प्रान्तीय भाषाओं के रूप में होकर निर्माण हुआ था अतः मुसलमानों को भी अपनी मातृभाषा का गौरव था। किवामखानी नियामतखाँ आदि के ग्रन्थों में अपनी भाषा और चौहान वंश का गौरव पद-पद पर परिलक्षित है। अबदुर्हमान का सन्देश रासक अपने पूर्वजों की भाषा का ज्वलन्त उदाहरण है। उस पर लक्ष्मी निवास ने संस्कृत टीका का निर्माण किया था। यह इस्लाम का साहित्यिक योगदान ही कहा जाएगा। संस्कृत भाषा की भाँति प्राकृत भाषा सजीव थी, उसका पर्याप्त प्रचार था। आज प्राकृत दुरूह लगती है पर मध्यकाल में वह बोलचाल की भाषा के निकट होने से संस्कृत से भी सरल पड़ती थी। यही कारण है कि मुलतान अलाउद्दीन खिलजी के राज्याधिकारी ठक्कुर फेरू ने अपने सभी वैज्ञानिक ग्रन्थों का निर्माण प्राकृत भाषा में किया। यद्यपि उसमें बोलचाल की भाषा के शब्दों को देश्य प्राकृत रूप में प्रयोग करने में कठिनाई नहीं थी पर जब प्राकृत लोक भाषा के विकास और परिवर्तन के कारण दूर पड़ने लगी तो उन्हें समझने के लिए व अर्थ विस्तार के लिए संस्कृत टीकाओं का निर्माण अपरिहार्य हो गया। अतः पर्याप्त मात्रा में उसका अस्तित्व सामने आया। ब्राह्मण वर्ग में वैदिक संस्कृत जो एक तरह की प्राकृत ही थी, जनता से बिल्कुल अलग हो चुकी थी तो गत दो सहस्राब्दियों से संस्कृत ही बहुजनसंमत और जीवन्त समृद्ध भाषा हो गई। राजसभा में विद्वद् गोष्ठियाँ और शास्त्रार्थ आदि संस्कार सम्पन्न लोगों के लिए उच्चस्तरीय माध्यम था। सम्राट विक्रमादित्य, भोज, पृथ्वीराज, दुर्लभराज, सिद्धराज जयसिंह आदि की परम्परा सभी शासकों में चलती आई थी, भले ही वह किसी भी वर्ग के रहे हों। सोमसुन्दर-सूरि को खम्भात में दैफरखान ने वादि गोकुल संकट विरुद दिया था। मुस्लिम शासकों के दरबार में गोष्ठियाँ, शास्त्रार्थ आदि की गौरवपूर्ण परम्परा थी। और इससे साहित्य की अनेक विधाओं को प्रोत्साहन मिलता था। यहाँ हमें इस्लाम धर्म के अनुयायी शासकों के संस्कृत साहित्य के योगदान के सम्बन्ध में किंचित् विवेचन अपेक्षित है।

सम्राट अलाउद्दीन खिलजी

दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के मन्त्र मंडल में ठकुर फेरू चिरकाल रहा था। वह परम जैन ठकुर चन्द्र का पुत्र और धाँधिया गोत्रीय श्रीमाल था। उसने अपने ग्रंथों में सुलतान को कलिकाल चक्रवर्ती लिखा है। वह कन्नाणा (महेन्द्रगढ़) निवासी था। उसने सं. १३७२ में सम्राट के रत्नागार के अनुभव से रयणपरीक्षा (रत्न परीक्षा) ग्रन्थ की रचना की जिसका अनुवाद मैंने कई वर्ष पूर्व करके प्रकाशित किया था। उसी वर्ष ठकुर फेरू ने वास्तुसार ग्रंथ का निर्माण किया, जिसमें देवालय प्रतिमाओं की अनेक विधाओं के सम्बन्ध में विशद वर्णन है। पं० भगवानदास जैन ने इसे सानुवाद प्रकाशित किया। इसी वर्ष ठकुर फेरू ने ४७४ श्लोकों में ज्योतिषसार की रचना की। गणितसार भी ३११ गाथाओं में रचित है जिसमें क्षेत्रों के माप, मुकाता, राजकीय कर आदि सभी विषय के गणित का विषय प्रतिपादित है। सं. १३७५ में फेरू दिल्ली टकसाल के गवर्नर पद पर नियुक्त था। वहाँ भी इस प्रतिभाशाली विद्वान ने गहरा अनुभव प्राप्त किया और उसके आधार से १४६ श्लोकों में द्रव्य परीक्षा ग्रन्थ का निर्माण किया। इस ग्रन्थ में उस समय प्राप्य चंदेरी, देवगिरि, दिल्ली, मालव, मुलतान टकशालों के बने सिक्कों के अतिरिक्त खुरासान आदि के विदेशी सिक्कों का भी वर्णन है। तत्कालीन प्राप्त सिक्कों में विक्रम, तोमर राजाओं, कांगड़ा के तथा अनेक सिक्कों में कितना प्रतिशत सोना, चाँदी, ताँबा है और तत्कालीन सिक्के के विनिमय का मोल-तोल आदि वर्णित है। धातु शोधक आदि के प्रकार भी लिखे हैं। कहना न होगा कि मुस्लिम शासन के उस समय तक के सभी सिक्कों का वर्णन है। यह ग्रन्थ विश्व साहित्य में अजोड़ है जिसका मेरे अनुवाद का प्रकाशन वैशाली के प्राकृत जैन शास्त्र अहिंसा शोध संस्थान से हुआ है। अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर एस. आर.

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

शर्मा इसका अंग्रेजी अनुवाद सम्पादन कर रहे हैं तथा रत्न परीक्षा का अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने प्रकाशित भी करवा दिया है। द्रव्य परीक्षा के साथ ही ठकुर फेरू का धातुत्पत्ति ग्रन्थ (गा० १७) वैशाली से प्रकाशित है।

ठकुर फेरू के अन्य ग्रंथों में युगप्रधान चतुष्पदिका (सं. १३४७) प्रकाशित है परन्तु भू-गर्भशास्त्र अभी तक अप्राप्त है। सं. १४०४ की प्रति का १ पत्र लुप्त है, संभवतः उसी में वह था।

मालवा-मांडवगढ़ के सुलतान

मुस्लिम शासकों के विशिष्ट मंत्रियों में मांडवगढ़ के श्रीमाल सोनगरा वंश के मंडन और धनदराज का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। ये वहाँ के सुलतान के मंत्री थे। समकालीन पं० महेश्वर कृत काव्य मनोहर में इनका परिचय दिया है। मं. झाँझण के छः पुत्र थे जो वहाँ के सुलतान के मंत्री थे। द्वितीय पुत्र बाहड़ का पुत्र मंडन मांडवगढ़ के सुलतान का मंत्री था। अलपखान—आलमखान होशंग शाह गुरो ने ३ वर्ष राज्य किया था। सं. १४६० में मुहम्मद खिलजी होशंग शाह की खिताब धारण कर गद्दी पर बैठा जिसने सं. १५०५ तक राज्य किया। उसके पुत्र गयासुद्दीन ने सं. १५५६ तक राज्य किया था। मंत्री मंडन और धनदराज एवं उनके ग्रन्थों का परिचय दिया जाता है।

मंत्री मंडन व्याकरण, अलंकार, संगीत तथा अन्य शास्त्रों का महान् पण्डित था। उसने १ सारस्वत मंडन, २ काव्य मंडन, ३ चम्पू मंडन, ४ कादम्बरी मंडन, ५ अलंकार मंडन, ६ चन्द्र विजय, ७ शृंगार मंडन, ८ संगीत मंडन, ९ उपसर्ग मंडन, १० कवि कल्पद्रुम नामक ग्रन्थों का निर्माण किया। इसकी प्रति सं. १५०४ में विनायक दास कायस्थ के हाथ से लिखी हुई पाटण के ज्ञान भण्डार में विद्यमान है।

मंत्री मंडन पर बादशाह का बहुत प्रेम था। उसके सत्संग से वह भी संस्कृत साहित्य का बड़ा अनुरागी और रसिक हो गया था। एक दिन सायंकाल त्रिद्वदगोष्ठी में बादशाह ने मंडन से कहा— मैंने कादम्बरी की बड़ी प्रशंसा सुनी है, इसकी कथा सुनने की इच्छा है किन्तु बड़े ग्रन्थ को सुनने का समय नहीं मिलता। तुम बड़े विद्वान हो, उसे संक्षिप्त रचना कर सुनाओ। तब सुलतान की आज्ञा से मंडन ने चार परिच्छेदों में 'कादम्बरी मंडन' बनाकर सुनाया।

एक बार पूर्णिमा के दिन सायंकाल मंडन पहाड़ के आंगन में बैठा था। साहित्य चर्चा में चन्द्रोदय हो गया। मंडन ने चन्द्र के उदय से लेकर अस्त तक की अलग-अलग दशाओं का वर्णन ललित पद्य में किया। अस्त के समय खिल होकर कहा— सूर्य की भाँति भ्रमण करते चन्द्र का भी अधःपात हुआ, सूर्य किरणों से प्रताड़ित होकर चन्द्रमा भाग रहा था, सूर्य ने उसे कान्तिहीन करके समुद्र में गिरा दिया। इससे सूर्य पर क्रुद्ध होकर १४१ पद्यों में 'चन्द्रविजय' की रचना की जिसमें चन्द्रमा के साथ युद्ध कराके हराया। फिर उदयाचल पर उदय होने का वर्णन कर चन्द्र की उत्पत्ति, सूर्य के साथ वैर, चन्द्रमा की विजय और तारों के साथ विहार बतलाया है।

काव्य मंडन में १२ सर्ग और १२५० श्लोकों में कौरव-पांडव की कथा का वर्णन है। चम्पू मंडन में ७ पटल हैं जिनमें भगवान् नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है।

मंडन का चचेरा भाई—चाचा देहड़ का पुत्र धनदराज या धनराज भी नामाङ्कित विद्वान था। उसने मंडप दुर्ग (मांडवगढ़) में सं. १४९० में भर्तृहरि शतक की भाँति ही शृंगार धनद, नीति धनद और वैराग्य धनद संज्ञक धनद त्रिशती की रचना की। उसकी प्रशस्ति में मांडव ने बादशाह गौरी

आलमशाह को गुजरात के बादशाह का गर्व तोड़ने वाला लिखा है। अपने पिता के लिए उसने—वे सत्पुरुषों में दिनमणि विरुद्धारक एवं खरतर मुनियों से तत्त्वोपदेश सुनने वाले—लिखा है और अपनी माता का नाम गंगादेवी लिखा है।

मालव का सुलतान गयासुद्दीन बड़ा उदार और साहित्यप्रेमी था। उसने अपने मित्र श्रीमाली मेघ को माफर मलिक का विरुद् दिया था। उसके भाई जीवन के पुत्र पुंजराज ने सारस्वत व्याकरण पर टीका लिखी।

मांडवगढ़ के सुलतान मुहम्मद खिलजी के विश्वासपात्र भंडारी ओसवाल संग्रामसिंह ने बुद्धि-सागर नामक सर्वमान्य अत्युपयोगी ग्रन्थ की रचना की।

साहित्य प्रेम, धर्म प्रेम और सत्संग के प्रताप से मालव सुलतान गयासुद्दीन उदार हो गया था। उसने राणकपुर जिनालय के निर्माता धरणाशाह के भ्राता रत्नसिंह के पुत्र चालिग के पुत्र महुसा को अपना मित्र बनाया था। तथा मांडवगढ़ के संघपति बेला ने भी तीर्थयात्रा के लिए संघ निकालने का फरमान प्राप्त किया था। देवास के माफर मलिक के मंत्री सं. देवसी ने २४ देवालय व चतुर्विंशति पित्तलमय जिनपट आदि बनवा के प्रतिष्ठित किये थे। संघ यात्रा, सत्र शाला, प्रतिष्ठा आदि के अनेक उदाहरण हैं पर यहाँ लिखना अप्रासंगिक है फिर भी यह साहित्य प्रेम-सत्संग का ही प्रताप था जिससे जीवदया के अनेक फरमान निकले व प्रजा के साथ सहिष्णु वृत्ति प्रोत्साहित रही।

दिल्ली के सुलतान मुहम्मद तुगलक

दिल्ली के तत्कालीन सुलतानों में ये सर्वाधिक उदार सम्राट हुए हैं। खरतरगच्छाचार्य महान प्रभावक श्री जिनप्रभसूरिजी के सम्पर्क में आने पर सुलतान जैन धर्म के प्रति बड़ा श्रद्धालु हो गया

था। श्री जिनप्रभसूरिजी एक सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न बहुत बड़े प्रभावक और साहित्यकार थे। सम्राट द्वारा उपाश्रय, मंदिर का निर्माण हुआ, शत्रुञ्जय यात्रा, फरमान पत्रादि से जीवदया के कार्य हुए। इनके सम्बन्ध में महोपाध्याय विनय-मागर जी कृत "शासन प्रभावक आचार्य जिनप्रभ और उनका साहित्य" देखना चाहिए।

मुगल सम्राट अकबर

मुगलवंश का सम्राट अकबर एक महान दयालु शासक था। उसके दरबार में प्रारम्भ से ही धर्म समन्वय और महिष्णतापूर्वक शोध की भावना होने से विविध धर्मानुयायी विद्वानों का जमघट रहता था। नागपुरीय तपागच्छ (पायचन्द गच्छ) के वाचक पद्मसुन्दर शाही दरबार में चिरकाल रहे थे। ये बड़े विद्वान थे और इनके द्वारा रचित संस्कृत व भाषा के अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। बोकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी में इनकी रचनाओं में अकबरशाही शृंगार दर्पण उपलब्ध हुआ जो प्रसिद्ध है। इन्होंने शाही सभा में वाराणसी के विद्वान को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। इनके ज्ञान भण्डार के महत्वपूर्ण ग्रन्थ सम्राट के पास संरक्षित थे।

सं. १६२५ में खरतरगच्छ के विद्वान वाचक दयाकलश जी के प्रशिष्य वाचक साधुकीर्ति जी आगरा पधारे और षट्पर्वी पौषध के सम्बन्ध में शाही दरबार में तपागच्छीय बुद्धिसागरजी के साथ शास्त्रार्थ हुआ। उसमें अनिरुद्ध, महादेव मिश्र आदि सहस्रों विद्वानों की उपस्थिति में साधुकीर्ति जी ने विजय प्राप्त की। इसका विशद वर्णन कवि कनमसोमकृत जइत पद वेलि में है जो हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित है। उसमें 'साधुकीर्ति संस्कृत भाखड़, बुद्धिसागर स्यु-स्यु दाखड़ तथा साधुकीर्ति संस्कृत बोलड़ शब्दों से सम्राट का संस्कृत प्रेम स्पष्ट है।

सं. १६३६ में तपागच्छ नायक श्री हीर विजय सूरि से सम्राट अकबर को उपदेश मिला। अकबर ने दीन-ग-इलाही धर्म स्थापित किया—जिसमें हीर विजय सूरि और भानुचन्द्र गणि को सदस्य बनाया था। यहाँ विविध धर्म वालों के साथ धार्मिक विचारगोष्ठी होती थी। उपर्युक्त पद्मसुन्दर जी के ग्रन्थ संग्रह को सम्राट ने सूरिजी को भेंट किया। उनके निस्पृह रहने से आगरा में ज्ञान भण्डार स्थापित किया गया। आचार्यश्री के उपदेश से सम्राट ने अनेक सर्वजन हितैषी कार्य जैसे गोहत्या बन्दी, जजिया टैक्स हटाना, तीर्थों के फरमान व अमारि फरमान आदि जारी किये।

श्री हीर विजय सूरि जी के गुजरात पधारने पर सं. १६४५ में उनकी आज्ञा से सम्राट के कृपा पात्र शान्तिचन्द्र उपाध्याय रहे। सम्राट उनके पास रस काश प्रशस्ति प्रतिदिन श्रवण करता, वे शतावधानी थे, सम्राट व अनेक नृपतियों का सद्भाव प्राप्त किया था। उनके जाने के बाद भानुचन्द्र गणि और उनके शिष्य सिद्धिचन्द्र गुरु शिष्य अकबर के पास रहे। भानुचन्द्र जी से सम्राट प्रत्येक रविवार को सूर्य सहस्र नाम संस्कृत में सुनता था। सिद्धिचन्द्र के शतावधान देखने से प्रभावित होकर सम्राट ने उन्हें 'खुशफहम' का खिताब दिया था। इन्होंने कादम्बरी टीका आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया था। वदाउनी २, ३३२ में लिखता है कि सम्राट द्वाहाणों की भाँति पूर्व दिशा की ओर मुँह करके खड़ा होता और आराधना करता था एवं सूर्य सहस्र नामों का भी संस्कृत में उच्चारण करता था।

सं. १६४८ में खरतरगच्छ नायक श्री जिनचन्द्र सूरिजी को सम्राट ने लाहौर बुलाया और उनसे प्रतिदिन ड्योढी महल में धर्मगोष्ठी किया करता था। सूरिजी के साथ ३१ साधु थे जिनमें ७ तो पहले ही वा० महिमराज (जिनसिंह सूरि) के साथ लाहौर आ गये थे। इनमें सूरिजी के प्रशिष्य समय

सुन्दर जी भी थे। एक बार सम्राट की विद्वद् सभा में किसी दार्शनिक विद्वान ने जैनागमों के 'एगस्स मुत्तस्स अनन्तो अत्थो' अर्थात् एक सूत्र के अनन्त अर्थ होते हैं वाक्य पर व्यंग्य कसा। उससे मर्महित होकर कवि समयसुन्दरजी ने जैन शासनसु की रक्षा, प्रभावना और आगम वाक्यों की अक्षुण्णता रखने के लिए सम्राट से कुछ समय मांगकर जैनागमों के कथन को सत्य प्रमाणित करने का प्रस्ताव रखा। कविवर ने 'रा जा नो द दत्ते सौ ह्यं' इन आठ अक्षरों पर आठ लाख अर्थों की संरचना की। इस ग्रन्थ का नाम अर्थ रत्नावली रखा। वस्तुतः इन्होंने दस लाख से भी ऊपर अर्थ किए थे पर छद्मस्थ दोष से पुनर्क्ति आदि परिमार्जनार्थ पूत्यर्थ केवल आठ लाख मुरक्षित अर्थों वाली अष्ट लक्षी प्रसिद्ध किया।

सं. १६४६ श्रावण सुदि १३ को साय को लाहौर नगर के बाहर कश्मीर विजय के हेतु प्रस्थान करके राजश्री रामदाम की वाटिका में प्रथम प्रवास किया और वहाँ समस्त राजाओं, सामन्तों और विद्वानों की परिषद में पूज्य आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरिजी को शिष्यों सहित आशीर्वाद प्राप्त्यर्थ बुलाया। इस अवसर पर कविवर ने सबके सामने वह ग्रन्थ सुना कर जिनागम की सत्यता प्रमाणित करते हुए कहा कि मेरे जैसा माधारण व्यक्ति भी एक अक्षर का आठ लाख अर्थ कर सकता है तो सर्वज्ञ की वाणी में अनन्त अर्थ क्यों न होंगे? इस बात से चमत्कृत होकर सभी विद्वानों के सन्मुख सम्राट ने इस ग्रन्थ को प्रमाणित ठहराते हुए अपने हाथ में लेकर कविवर को समर्पित किया और कहा कि इसकी नकलें कराके सर्वत्र प्रचारित किया जाय।

सम्राट के समक्ष खरतरगच्छीय उ० शिव-निधान के गुरु हर्षसार के मिलन और शास्त्रार्थ से कीर्ति प्राप्त करने के तथा जयसोम उपाध्याय के शाही सभा में विद्वान से शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने का उत्प्रेक्ष पाया जाता है।

सम्राट के साथ महिमराज वाचक हर्षविशाल

३५६

साधु और पंचानन महात्मा को लेकर धर्म प्रचार हेतु कठिन पदयात्रा करके गए। मन्त्रीश्वर कर्मचन्द्रादि भी साथ थे। काश्मीर में जीव रक्षा, तालाब के मत्स्यों को अभयदान के फरमान मिले। वापस आने पर सम्राट ने सूरि जी को युगप्रधान पद, महिमराज जी को आचार्य पद, जयसोम व रत्ननिधान को उपाध्याय पद एवं समयसुन्दर व गुण विनय को वाचक पद से अलंकृत कराया। मन्त्रीश्वर ने बड़ा भारी उत्सव किया। तीर्थरक्षा खंभात की खाड़ी के जलचर जीवों के रक्षार्थ तथा आषाढी अष्टाह्निका के फरमान निकलवाए।

शाह सलीम के मूल नक्षत्र प्रथम पाद में पुत्री होने पर अष्टोत्तरी स्नात्र कराने में तपागच्छ खरतरगच्छ के साधुओं का निर्देश व मन्त्री कर्मचन्द्र की प्रधानता थी। और भी एक बार अष्टोत्तरी स्नात्र कराया जिसका कर्मचन्द्र मन्त्री वंश प्रबन्ध में वर्णन है। आरती में उपस्थित होकर दस हजार भेंट करने व भगवान् का स्नात्र-जल शाही अन्तःपुर में ले जाकर शान्ति विधि का वर्णन बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। जयसोम उपाध्याय ने इस विधि के ग्रन्थ की रचना की थी।

जिनप्रभ सूरि आदि विद्वानों की अनेक रचनाएँ फारसी भाषा में भी उपलब्ध हैं। समयसुन्दर जी के प्रशिष्य राजसोम का भी फारसी भाषा में स्तोत्र पाया जाता है। इन सब कामों से पारस्परिक प्रेम सौहार्द की वृद्धि हुई।

प्रस्तावित विषय पर यह केवल जैन साहित्य-परक अभिव्यक्ति है। शाही दरबार में हिन्दू समाज के भिन्न-भिन्न समुदायों से सम्बन्धित अनेक विद्वान, ब्राह्मण पण्डितादि भी धार्मिक, साहित्यिक चर्चा में पर्याप्त भाग लेते थे। उनकी मध्यस्थता से शास्त्रार्थादि होते थे अतः संस्कृत साहित्य और मुस्लिम शासकों के विषय में शोधपूर्ण तथ्य प्रकाश में आना आवश्यक है। देश की ऐक्यता में यह भी महत्वपूर्ण कदम होगा।

४, जगमोहन मल्लिक लेन
कलकत्ता—७००००७

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

५



जैन साहित्य

शिक्षा और

इतिहास

साहित्य वह दर्पण है, जिसमें संस्कृति, शिक्षा, इतिहास और परम्परा की गति, प्रगति, चिन्तन-मनन, वर्तन-व्यवहार का समग्र प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। समाज विकास का इतिहास लिखने वाला साहित्य की धरोहर का पर्यालोचन करके ही स्पष्ट दिशा-दर्शन पाता है।

पुरातत्व के आलेख, स्तोत्र एवं भक्ति साहित्य, काव्य, आगमों की टीका एवं व्याख्या ग्रन्थों में विकीर्ण गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान के सूचक सारपूर्ण सन्दर्भ, नीति एवं अध्यात्म की मान्यताएँ, भाषा, योग एवं विज्ञान मूलाधारित अवधारणाएँ।

इन सभी का एक तथ्यपरक अध्ययन, अनुशीलन और निष्कर्ष परायण चिन्तन-प्रस्तुत खण्ड में संग्रहीत है। अपने-अपने विषय के ख्याति प्राप्त विशिष्ट विद्वानों के मौलिक लेखों में।

□ डाक्टर जगदीशचंद्र जैन

(अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान्)

भारतीय पुरातत्व की अवहेलना

१९७३ में पेरिस में भरने वाली अन्तर्राष्ट्रीय ओरिंटियल कान्फरेन्स में भाग लेने के लिए जब पेरिस की यात्रा करनी पड़ी तो यहाँ के सांस्कृतिक केन्द्रों की चहल-पहल देखकर आश्चर्यमुग्ध हुए बिना न रहा गया। कितने ही तो यहाँ संग्रहालय हैं जिनमें दर्शकों की भीड़ लगी रहती है। लोग पहले से टिकट खरीदकर संग्रहालयों में प्रवेश करते हैं और वहाँ रखी हुई वस्तुओं को बड़े गौर से देखते हैं। एक सड़क तो कलागृहों की ही सड़क है जहाँ छोटे-छोटे कक्षों में नवयुवक कलाकारों की कृतियाँ बड़े करीने से सजाकर रखी गई हैं। कला-रसिकों का तांता लगा हुआ है, उदीयमान कला-कार दीवाल पर लगी हुई कलाकृतियों का अध्ययन करने में व्यस्त हैं, कुछ अपनी डायरी में नोट्स भी लिख रहे हैं।

एक संग्रहालय में इतने अधिक कक्ष हैं कि थोड़े समय के अन्दर सबको देख पाना सम्भव नहीं। इनके देखने में कई दिन लग जाते हैं, फिर भी कला के प्रेमी इनका पूरा-पूरा लाभ उठाये बिना नहीं छोड़ते। कुछ लोग तो वहीं आसन जमाकर बैठ जाते हैं किसी कलाकृति का सांगोपांग अध्ययन करने के लिए।

इन कक्षों में से एक कक्ष में चीनी पुरातत्व से सम्बन्ध रखने वाली खास-खास वस्तुओं का संग्रह सुरक्षित है। पेकिंग (आजकल बेजिंग) और उसके आसपास के प्रदेशों की खुदाई में प्राप्त कितनी ही प्राक् ऐतिहासिक कालीन वस्तुओं का प्रदर्शन किया गया है। इनमें सबसे अधिक आकर्षक और महत्व-

पूर्ण है ५ लाख साल पुराने पेकिंग-मानव के अवशेष और तत्सम्बन्धी खोपड़ी, दाँत, जबड़े, पत्थर के औजार तथा अब से साढ़े तीन हजार साल पहले भविष्य जानने के लिए उपयोग में ली जाने वाली भविष्य-सूचक हड्डियाँ।

संग्रहालय देखने के लिए मेरे साथ आने वाले दो और प्रोफेसर थे—एक कनाडा के विश्वविद्यालय में और दूसरे अमरोका के विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या के अध्यापक थे। संग्रहालय का चीनी कक्ष देखकर हम लोग बड़े प्रभावित हुए थे। लेकिन साथ ही एक दूसरा प्रश्न हमारे मस्तिष्क को झकझोरने लगा, वह था इस विश्वप्रसिद्ध संग्रहालय में भारतीय कक्ष का अभाव! हम सब की यही राय थी कि भारतीय पुरातत्व इतना विपुल, समृद्ध, मूल्यवान एवं उपयोगी है, फिर भी उसकी चर्चा यहाँ क्यों नहीं सुनाई पड़ती? क्या इसे भारत सरकार का दुर्लक्ष्य कहा जाये या और कुछ?

अभी हाल में भारत सरकार ने भारत की प्राचीन संस्कृति का प्रचार व प्रसार करने के लिए विदेशों में उत्सवों का आयोजन किया था। फल-स्वरूप सोवियत रूस, संयुक्त राष्ट्र अमरोका और फ्रांस आदि देशों में भारतीय कलावेत्ताओं के साथ-साथ शिल्पकला की दृष्टि से अभूतपूर्व, बहुमूल्यवान एवं दुर्लभ मूर्तियाँ भी भेजी गई थीं। निश्चय ही विदेशी प्रजा भारतीय कला-कौशल, नृत्य-संगीत, खेल-तमाशे, स्थापत्य एवं शिल्पकला आदि से प्रभावित हुए बिना नहीं रही होगी। खूब वाहवाह रही, खूब जशन मनाये गये, मेलों का आयोजन किया

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

३५७

गया, व्याख्यानों की भरमार रही और प्रशंसा-पत्र पढ़े गये। लेकिन अत्यन्त खिन्न मन से लिखना पड़ता है कि हमारी कितनी ही दुष्प्राप्य कलाकृतियाँ खण्डित पाई गईं और कुछ तो लापता ही हो गईं। बहुमूल्यवान हमारी ये कलाकृतियाँ हमसे सदा के लिए दूर चली गईं। पटना संग्रहालय की अभूतपूर्व यक्षिणी की कलापूर्ण कृति इनमें से एक है। जहाज द्वारा विदेशों में भेजे जाने के पूर्व इन कलाकृतियों का लाखों रुपये का बीमा कराया गया था। ऐसी हालत में किसी मूर्ति के खण्डित हो जाने पर हम चाहें तो उसकी एवज में रुपया वसूल कर सकते हैं लेकिन वह दुर्लभ मूर्ति तो हमें कभी प्राप्त होने वाली नहीं, जिस मूर्ति के रूप सौन्दर्य को गढ़ने और संवारने में हमारे शिल्पियों ने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था।

आइये, अब जरा अपने गरेबान में झाँक कर भी देखा जाये। हम अपने पुरातत्व के ज्ञान से कितने परिचित हैं! हमारे कॉलेजों और विश्व-विद्यालयों में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पढ़ाने वाले कितने अध्यापक ऐसे मिलेंगे जिन्हें संस्कृत, पालि और प्राकृत का ज्ञान हो—जिन भाषाओं में लिखा हुआ साहित्य पुरातत्व विद्या की आधारशिला है। केवल अंग्रेजी में लिखे हुए ग्रन्थों को पढ़कर प्राचीन भारतीय इतिहास एवं कला में प्रवीणता प्राप्त नहीं की जा सकती। जबकि विदेशी विश्वविद्यालयों में यह बात नहीं है। भारतीय विद्या का अध्ययन करने के लिए संस्कृत आदि भारत की प्राचीन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना परम आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स, चार्ल्स विलकिन्स, हेनरी कोलब्रुक, एच. एच. विल्सन, फ्रान्ज बाँप, जेम्स प्रिसेप, जॉन मार्शल, व्हीलर, कोथ, श्री एवं श्रीमती राइस डैविड्स, हरमान याकोबी, रिजार्ड पिश्ल आदि कतिपय विदेशी विद्वानों का नामोल्लेख करना पर्याप्त होगा जिन्होंने भारत की प्राचीन भाषाओं

और साहित्य का गहन अध्ययन कर अपने-अपने क्षेत्र में वैशिष्ट्य प्राप्त किया।

इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पढ़ने वाले कितने ही छात्र और छात्राएँ भारत की प्राचीन संस्कृति, उसकी कला और इतिहास के ज्ञान से सर्वथा ही वंचित रहते हैं। उन्हें बम्बई के पास स्थित एली-फैन्टा टापू की त्रिमूर्ति, उड़ीसा के कोणार्क, राजस्थान के रणकपुर मन्दिर एवं दक्षिण भारत के एक से एक कलापूर्ण मन्दिरों के सम्बन्ध में अत्यन्त अल्प, नहीं के बराबर जानकारी है।

भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के तत्वावधान में जो कभी-कभार उत्खनन का कार्य चलता है उसकी जानकारी भी साधारण जन को प्रायः कम ही मिलती है। इसके सम्बन्ध में प्रायः भारो-भरकम अँग्रेजी की पत्रिकाओं आदि में ही लेख प्रकाशित किये जाते हैं जो सामान्य जन की पहुँच के बाहर हैं। इसके अलावा, हमारी कितनी ही कलाकृतियाँ तो चोरी चला जाती हैं जो देश-विदेश में बहुत ऊँची कीमत पर बिकती हैं।

सुप्रसिद्ध सम्राट् अशोक (२७४-२३७ ई. पू.) ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जगह-जगह शिला लेख उत्कीर्ण कराये और बड़े-बड़े स्तूप स्थापित किये। लेकिन आगे चलकर हम इन ऐतिहासिक महत्वपूर्ण स्तूपों का मूल्य आकलन करने में असमर्थ होकर इन्हें पराक्रमी भीम की लाठ कहकर पुकारने लगे, या फिर शिवजी का लिंग मानकर इनकी पूजा-उपासना करने लगे। बिहार राज्य में परम्परागत कितने ही मठ-मन्दिर आज भी मौजूद हैं जहाँ भक्त गणों द्वारा मूर्ति के ऊपर सतत जल प्रक्षेपण किये जाने के कारण मूर्ति का वास्तविक रूप ही भ्रष्ट हो गया है तथा चन्दन और सिन्दूर पोते जाने के कारण वह ओझल हो गया है।

दिल्ली-तोपरा अशोक-स्तंभ

यह स्तंभ अंबाला और सरसावा (जिला सहरनपुर) के बीच अवस्थित है जिसे लोग भीम-स्तंभ, मुवर्ण-स्तंभ, फीरोजशाह-स्तंभ आदि नामों से पुकारते हैं। सुलतान फीरोजशाह (१३५१-१३८८ ई.) इस स्तंभ की गरिमा देखकर अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने सोचा कि अवश्य ही यह स्तंभ उसके इस महल की शोभा में चार चांद लगा सकेगा। उसने इस विशाल स्तंभ को पहले दिल्ली मँगाया, वहाँ से ४२ पहियों वाली बड़ी ट्रक से जमना नदी के किनारे लाया गया। फिर बड़े-बड़े वज्रों पर लादकर नदी के बीचों बीच प्रवाहित कर दिया गया। और इसके फीरोजाबाद पहुँचने पर, पहले से तैनात मल्लाहों ने इसे नदी में से निकालकर ग्राही कर्मचारियों के सुपुर्द कर दिया। लॉजिये, सुलतान का शाही महल इस स्तंभ के लगने से जगमगा उठा।

बिहार का चंपारण जिला महात्मा गांधी के सत्याग्रह के कारण सुप्रसिद्ध है। यहाँ के लौडिया (लकुट का अपभ्रंश) अरेराज और लौडिया नंदनगढ़ नामक अशोक-स्तंभ सर्वविदित है। यहाँ के निवासी इन स्तंभों को विशाल शिवालिंग समझकर इनकी पूजा-उपासना करने लगे और दोनों को लौड़ कहने लगे—दोनों गाँव ही लौडिया कहे जाने लगे। आगे चलकर जब सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता मेजर-जनरल एलैक्जेंडर कनिंघम का यहाँ आगमन हुआ तो उन्होंने दोनों को जुदा करने के लिए पहले को लौडिया अरेराज (गाँव के पडोस के शिवमंदिर के नाम पर) और दूसरे को लौडिया नंदनगढ़ नाम से कहना शुरू किया। दोनों ही सुन्दर स्तंभ पालिश किये हुए बलुआ पत्थर के एक ही खण्ड से निर्मित किये गये हैं, जो भारत की उत्कृष्ट कला का अनुपम नमूना है। लेकिन हमें भूलना न चाहिये कि इस उत्कृष्ट कला-सौन्दर्य से अनभिज्ञ हमारी सामान्य अनपढ़ जनता इन्हें शिवजी-महाराज का

विशाल लिंग समझकर उसकी मनोती करती है और इसके निर्माण का श्रेय दिया जाता है गदाधारी भीमराज को !

वैशाली की खुदाई

प्राचीनकाल में वैशाली वज्जि गणतंत्र की राजधानी रही है, जिस गणतंत्र को भगवान महावीर ने अपने जन्म से पवित्र किया था। विशाल गुणयुक्त होने के कारण इसको वैशाली कहा जाना स्वाभाविक है। मुअसिद्ध उज्जैनी नगरी को भी विशाला कहा गया है। संभवतः नाम सादृश्य के कारण वैशाली को भगवान महावीर का जन्मस्थल न मानकर, उज्जैनी को उनकी जन्मभूमि कहा जाने लगा। कुछ लोग कुण्डलपुर (कुण्डगाम अथवा कुण्डपुर—वैशाली का एक भाग—के नाम सादृश्य के कारण) को महावीर की जन्मभूमि कहने लगे। इससे यही पता चलता है कि प्राचीनकाल में भी हम इतिहास और भूगोल के सही ज्ञान से वंचित थे। आचार्य अभयदेव जैसे विद्वान से भी इस तरह की भूलें हुई हैं। अस्तु, अब तो यह निश्चय हो गया है कि महावीर का जन्म वैशाली में ही हुआ था और इसीलिये उन्हें वैशालीय कहा गया है।

वैशाली नगरी की खोज के लिए हम मेजर जनरल एलैक्जेंडर कनिंघम के सदा ऋणी रहेंगे जिन्होंने अपनी सूझ-बूझ से यह पता लगाने का साहस किया कि वसाढ़ नामक गाँव ही प्राचीन वैशाली के रूप में मौजूद है। उनकी प्रेरणा से ही भारत की ब्रिटिश सरकार ने भारत के पुरातत्व के उद्धार के लिये आर्कियोलोजिकल सर्वे नामक विभाग की स्थापना की, और इसके सर्वप्रथम डायरेक्टर बनने का सौभाग्य डा. कनिंघम को प्राप्त हुआ। सन् १८६२ से १८८४ के बीच कनिंघम ने यहाँ आकर कई बार डेरा लगाया तथा आजकल के राजा विशाल का गढ़ और अशोक स्तंभ के आसपास खुदाई का काम शुरू कर दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस खुदाई में उन्हें बहूत सी महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई, यद्यपि फिर भी

निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन था कि जिस वैशाली की वे तलाश करने में लगे हैं, वह यही है। लेकिन उन्होंने हिम्मत न हारी। आगे चलकर उनके उद्योग से १९०३-४ में डाक्टर टी. ब्लाख को और १९१३-१४ में डाक्टर डी. वी. स्पूनर को यहाँ भेजा गया। इस खुदाई में मिट्टी की मुहरों पर उत्कीर्ण लेखों की प्राप्ति हुई जिससे कनिंथम साहब का सपना सार्थक सिद्ध होता हुआ दिखाई दिया। अब यह सिद्ध हो गया कि यह वसाढ़ ही प्राचीन वैशाली है।

लेकिन यह काफी नहीं था, अभी बहुत कुछ करना बाकी था। भारत सरकार आर्थिक कठिनाई के कारण खुदाई के काम को आगे बढ़ाने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर रही थी। इस समय हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार श्री जगदीश चन्द्र माथुर, आई. सी. एस. जो हाजीपुर के एस. डी. ओ. बनकर यहाँ आये थे, वैशाली के गौरव से सुपरिचित थे। उनके प्रयत्न से १९४५ में वैशाली संघ की स्थापना की गई। इस संघ की ओर से ७ हजार रुपये की रकम प्राप्त कर भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के वरिष्ठ अधिकारी श्री कृष्णदेव के अधीक्षण में १९५० में खुदाई का कार्य फिर से शुरू किया गया। इस बार राजा विशाल का गढ़ और चक्रम दास स्थानों पर ही खुदाई केन्द्रित की गई। पांचवीं बार बिहार सरकार के काशीप्रसाद जायसवाल अनुसंधान प्रतिष्ठान ने डाइरेक्टर सुप्रसिद्ध इतिहास तत्ववेत्ता प्रोफेसर ए. एस. आल्लेकर ने चीनी यात्री श्वेन च्वांग के अभिलेखों के आधार पर खुदाई का काम हाथ में लिया। इस समय अभिषेक पृष्करिणी के पास मिट्टी के बने एक स्तूप में से भगवान बुद्ध के शरीरावशेष की एक मंजूषा मिली। आगे चलकर १९७६-७८ में भारत सरकार के पुरातत्व विभाग की ओर से फिर से खुदाई की गई। यह खुदाई कोल्हूआ गांव में निर्मित अशोक स्तम्भ के आस पास की गई और इस खुदाई में जो बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई उससे वैशाली का समस्त इतिहास प्रकट हो गया। और अब यह पूर्ण रूप से

सिद्ध हो गया है कि यह बज्जियों लिच्छवियों की वही रमणीय नगरी है जिसका सरस वर्णन जैन एवं बौद्धों के आगम ग्रन्थों में उपलब्ध है।

पुनश्च : लेख समाप्त करने के पहले, यहाँ एक और बात लिख देना आवश्यक है। श्वेतांबरीय आवश्यक चूर्णी (ईसा की ७वीं शताब्दी) के आधार से इन पंक्तियों के लेखक ने भगवान महावीर की विस्तृत विहार-चर्या का विवरण मानचित्र के साथ अपनी रचनाओं "भारत के प्राचीन जैन तीर्थ" जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी, १९५२; "लाइफ इन ऐन्गियेण्ट इण्डिया ऐज डिपिकटेड इन जैन कैमन एण्ड कमेण्टरीज," मुंशीराम मनोहर लाल, नई दिल्ली, (संशोधित संस्करण, १९८४) में प्रस्तुत किया है। वैशाली प्राकृत संस्थान (मुजफ्फरपुर) में १९५८-५९ प्रोफेसर पद पर आसीन रहकर, पद-यात्रा द्वारा भगवान महावीर की विहार-चर्या सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के सम्बन्ध में एक विस्तृत योजना संस्थान के डाइरेक्टर के समक्ष प्रस्तुत की गई थी। दुर्भाग्य से वह योजना कार्यान्वित न की जा सकी। अभी हाल में उक्त संस्थान की कार्यकारिणी का सदस्य होने के नाते, फिर से संस्थान के डाइरेक्टर का ध्यान आकर्षित किया गया, और अनुरोध किया गया कि संस्थान के किसी शोध विद्यार्थी को शोध के लिए उक्त विषय दिया जाये जिससे कि वह छात्र वैशाली के आस-पास के प्रदेशों में पदयात्रा द्वारा भगवान महावीर की विहार चर्या सम्बन्धी जानकारी प्रस्तुत कर सके। इस सम्बन्ध में आरा के सुप्रसिद्ध उद्योगपति दिवंगत सेठ निर्मल कुमार चक्रेश्वर कुमार जैन के उत्तराधिकारी परम उत्साही श्री सुबोध कुमार जैन को यथाशक्ति आर्थिक सहायता देने के लिये भी राजी किया जा सकता है। यदि यह योजना आज भी सम्भव हो सके तो निश्चय ही भारतीय पुरातत्व के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हो सकती है। वर्तमान में वैशाली स्थित वैशाली प्राकृत शोध संस्थान का यह महान् योगदान कहा जायेगा। □

□ डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

एम० ए०, पी-एच० डी० डी० लिट्०

उज्जैन (म० प्र०)

जैन-स्तोत्र-साहित्य के सन्दर्भ में

आकार—चित्ररूप स्तोत्रों का संक्षिप्त निदर्शन

स्तोत्र-रचना का प्रमुख उद्देश्य

विश्व-साहित्य की सृष्टि का मूल स्तुति-स्तोत्रों में निहित है। यह रचना मानव के जन्म से मरण-पर्यन्त ही नहीं, अपितु मरणोत्तर की कामनाओं को भी अपने में समेटे हुई है। इस दृष्टि से मम्मट के काव्य-लक्षण^१ में प्रयुक्त 'शिवेतर-शक्ति' पद स्तोत्र-रचना के प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति करता है। संसार की विचित्र गतिविधि के समक्ष मानव अपनी विह्वलताओं से छुटकारा पाने के लिए अपने इष्ट के प्रति जो काव्यमयी वाणी में कथन करता है, वही 'स्तुति' अथवा 'स्तोत्र' कहलाता है। इनमें 'सुख की आकांक्षा, कृपा की कामना, अपेक्षित की प्रार्थना, उपेक्षणीय की निवृत्ति' आदि भावनाओं का प्रकटन होता है और सबके मूल में रहती है "इष्ट की प्रशंसा।"—कृतज्ञता-ज्ञापन तथा आत्मनिवेदनरूपी दो तटों के मध्य बहती हुई स्तोत्र-सरिता में स्तोतव्य के प्रशंसनीय गुणों का आख्यान ही स्तोत्र

बनता है।^२ इष्टदेव का नाम-स्मरण और उसके गुणों का कथन किसी भी रूप में किया जाये, वह 'स्तोत्र' ही है।^३

स्तोत्र की काव्यात्मकता

काव्य-स्वरूप निर्धारण में रचना की 'बन्ध-सापेक्षता और बन्ध-निरपेक्षता' दोनों ही महत्वपूर्ण रीढ़ हैं। इसके साथ ही उक्ति-वैशिष्ट्य जब इसमें प्रविष्ट होता है तो वह काव्यात्मक स्वरूप को प्राप्त हो जाती है। स्तोत्र में रमविशेष का समावेश सहज होता है। कथा की अथवा कथन की परस्पर-सापेक्षता अपेक्षित नहीं होती। अतः स्तोत्र को 'मुक्तकों का समूह' भी कहा जाता है। बन्ध की सापेक्षता स्तोत्र के क्षेत्र में उतनी महत्वपूर्ण नहीं मानी गई है और वह सम्भव भी नहीं होती। क्योंकि स्तोत्र में आने वाले पद्यों में से एक पद्य भी अपने आप में परिपूर्ण भावों को व्यक्त कर देता है। इतना होने पर भी स्तोत्र की काव्यात्म-

१ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरशक्तये । सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

—काव्यप्रकाश, १-१

२ गुणकथनं हि स्तुतित्वं, गुणानामसद्भावे स्तुतित्वमेव हीयते ।

—शास्त्रमुक्तावली, पू. नी. १-२-७ ।

३ प्रतिगीत-मन्त्रसाध्यं स्तोत्रम् । छन्दोबद्धस्वरूपं गुणकीर्तनं वा ।

—सलिता सहस्रनाम, सोभाग्यभास्करभाष्य, पृ. १८८ ।

कता में सभी काव्योचित गुणों की स्थिति तो अवश्य ही समाविष्ट रहती है, जो काव्य की आत्मा को उल्लसित करते हैं, उसमें शिवत्व की प्रतिष्ठा करते हैं और अशिवत्व की निवृत्ति के लिए उत्प्रेरित करते हैं। इसके साथ ही काव्य शरीर को औज्वल्य प्रदान करने वाले वे तत्व भी स्तोत्रों में पूर्णतः विकसित होते हैं जिन में साहित्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए अलंकारों का साहचर्य प्राप्त किया जाता है। अलंकार 'शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थगत' ऐसे तीन प्रकारों में व्याप्त हैं। इनमें 'शब्दगत अलंकार' शब्द-स्वरूप की सौन्दर्योपयोगी प्रयोगगत व्यवस्था से 'भाषा की परिष्कृत सृष्टि, नाद संसार की परिध्याप्ति, चमत्कार-प्रवणता, भाव-तीव्रता और विशिष्ट अन्त-दृष्टि का सहज आनन्द' प्राप्त करते हैं।

वस्तु जगत् के प्रच्छन्न भावों को गति प्रदान करने वाले इस शब्दालंकार के अनेक भेद-प्रभेद हैं, उनमें 'चित्रालंकार' भी एक है। इसमें 'चित्र' शब्द 'आश्चर्य और आकृति' के अर्थ में प्रयुक्त है। वर्णों की संयोजना के द्वारा श्रोता और पाठक दोनों को विस्मित कर देना और रचनागत वैशिष्ट्य से आनन्दित कर देना इसका सहज गुण है। इसका ही एक प्रभेद—'आकृतिमूलक चित्रालंकार' है।¹ यह विभिन्न आकृतियों में पद्य अथवा पद्यों को लिखने से प्रकट होता है। इस विशिष्ट विधा को स्तोत्रकार आचार्यों ने बहुत ही स्वाभाविक रूप से अपनाया है। यहाँ जैन स्तोत्रकारों द्वारा स्वीकृत चित्रालंकार-मूलक स्तोत्रों में 'आकार-चित्ररूप स्तोत्रों का संक्षिप्त निदर्शन' प्रस्तुत है।

आकार चित्रकाव्यरूप जैन-स्तोत्र

'आकार-चित्र-काव्य' में किसी एक प्रकार-विशेष को ध्यान में रखकर स्तोत्र की अथवा स्तो-

त्रगत पद्य की रचना की जाती है, तब उसे हम 'एक चित्रालंकार युत स्तोत्र' की संज्ञा देंगे और यदि एक ही स्तोत्र में अनेक प्रकार के चित्रालंकारों का प्रयोग किया जाता हो तो उसे 'अनेक चित्रालंकार-युत स्तोत्र' की संज्ञा देंगे। जैनाचार्यों ने इन दोनों प्रकारों को अपने स्तोत्रों में अपनाया है। इस दृष्टि से प्रथम 'एक चित्रालंकार-युत स्तोत्र' की परम्परा का परिचय प्रस्तुत है—

१—स्तुति विद्या : आचार्य समन्तभद्र

दिगम्बर जैन स्तुतिकारों में आद्य स्तुतिकार आचार्य श्री समन्तभद्र ने ईसा की द्वितीय शताब्दी में 'स्तुति विद्या' नामक इस 'जिन-शतक' में चतुर्विंशति जिनों की भावप्रवण स्तुति की है। यह पूरी स्तुति 'पुरज बन्धों' के अनेक रूप प्रस्तुत करती है। रचना 'गति-चित्रों' की भूमिका पर निर्मित होने के कारण चक्र-बन्धों की सृष्टि में भी पूर्णतः समर्थ है। यहाँ तक कि कुछ पद्य तो 'अनुलोम-विलोमरूप' में भी पढ़े जाने पर एक पद्य से ही द्वितीय पद्य की सृष्टि करते हैं। प्रायः सभी पद्य अनुष्टुप् छन्द में हैं एक पद्य द्रष्टव्य है—

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुचानुतः ।

भो विभोनशनाजोरुनन्नन विजरामय ॥८६॥

यही पद्य चौथे पद के अन्तिमाक्षर से विपरीत पढ़ने पर अन्य पद्य बनता है और श्री अरनाथ की स्तुति प्रस्तुत करता है।

२—शान्तिनाथ स्तोत्र : आचार्य गुणभद्र

दिगम्बर सम्प्रदाय के ही आचार्य गुणभद्र ने आठवीं शताब्दी में एक 'शान्तिनाथ-स्तोत्र' की रचना की जिसमें 'अष्टदल कमलबन्ध' की रचना की है जिसमें पंखड़ियों में ३-३ अक्षर और मध्यकर्णिका में एक अक्षर 'न' श्लिष्ट है। यथा—

१ वस्तुतः 'चित्रालंकार' के परिवेष में—१—स्वर, २—स्थान, ३—वर्ण, ४—गति, ५—प्रहेलिका, ६—च्युत, ७—गूढ, ८—प्रश्नोत्तर, ९—समस्या-पूर्ति, १०—भाषा और ११—आकार आदि मुख्य भेद एवं इन प्रत्येक के विविध उपभेद हैं। द्रष्टव्य—'शब्दालंकार-साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण, पृ० १२६ से १३४।

पद्मामेन धृतो येन समयो नयवावनः ।
स्वर्लोकेन कृतामानः पूयज्जिनः स नो मनः ॥७॥
इत्यादि ।

२—सर्वजिन-स्तव : श्री धर्मघोष सूरि

प्रस्तुत स्तोत्र द्वारा कवि ने चौबीस दलवाले 'कमल-बन्ध' की योजना की है। इसमें कुल ८ पद्य हैं जिनमें अन्तिम पद्य पुष्पिका-रूप है। पहला पद्य परिधि में लिखा जाता है अन्य छह पद्यों के प्रत्येक चरण के तीन-तीन खण्ड एक-एक पत्र में रहते हैं। चरण में ५-५ और ६ अक्षरों के बाद के अक्षर तीन बार आवृत्त होते हैं जो २४ लघुकर्णिकाओं में निवृष्ट हैं। प्रथम पद्य इस प्रकार है—

नम्राखण्डल मौलिमण्डलमिलन्मन्दारमालोच्छलत्—
सान्द्रामन्द मरन्दपूर सुरभीभूतक्रमाम्भोरुहान् ।
श्रीनाभिप्रभवप्रभुप्रभृतिर्कान्तोर्थकरान् शंकरान्
स्तोष्ये साम्प्रत काललब्ध जननान् भक्त्या चतुर्विंशतिम्
॥१॥

श्री धर्मघोष सूरि श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आचार्य थे तथा इनका समय सन् १२२८ ई० माना जाता है।

४—सर्वजिन साधारण स्तवन : श्री धर्मशेखर पंडित

पण्डित प्रवर श्री धर्मशेखर का यह स्तोत्र २१ पद्यों में निर्मित है। इसमें कवि ने '६४ दलवाले कमलबन्ध' की योजना की है। अन्तिम पद्य परिधि-रूप है। इनका समय सन् १४४३ ई० (?) माना गया है, किन्तु कुछ विद्वान इन्हें १३वीं शती का मानते हैं। रचना में गाम्भीर्य और कौशल दोनों ही स्पृहणीय हैं। यथा—

जीयास्त्वं देव भद्र प्रवर कुट जगच्चन्द्र देवेन्द्रबन्धः ।
श्री विद्यानन्द दान-प्रवर-गुणनिधे धर्मघोष प्रवीणः ॥
मुक्तासौम प्रभाली-धवल गुरुशोनाथ निःशेषविश्वं,
स्फारस्फूर्जत् प्रभावः शमदमपरमानन्दयाशु प्रकामम् ॥७॥

१ इस स्तव का मूलपाठ हमने 'महावीर परिनिर्वाण स्मृति ग्रन्थ' (लालबहादुर शास्त्री) केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, से प्रकाशित में 'महावीरस्य चित्रकाव्यार्चना' में दिया है।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

५—पञ्चजिन हार-स्तव : श्री कुलमण्डन सूरि

कुलमण्डन सूरि १३वीं शती ई० के अन्तिम चरण में हुए थे। आपने अनेक स्तोत्रों की रचना की थी। उनमें उपर्युक्त स्तोत्र २३ पद्यों में निर्मित है। इसमें ४ पद्य ऋषभ, ४ शान्ति, ५ नेमि, ४ पापर्व और ४ महावीर से सम्बद्ध हैं। 'हार-बन्ध' की योजना पुष्पमाला के समान है तथा उसमें कहीं छोटे और कहीं बड़े पुष्प हैं, इसके कारण उनके दलों की संख्या भी विषम है। मध्य में एक स्वस्तिक के आकार वाला चन्द्रक (लॉकेट) भी है। इस दृष्टि से यह बन्ध अति श्रम साध्य तो है ही। इसका प्रारम्भ-पद्य इस प्रकार है—

गरीयो गुणश्रेण्यरेण प्रवीणं,
परार्थे जगन्नाथ धर्म धुरीणम् ।
धराधारमादिप्रभो रंजरम्यं,
स्तुवे त्वां बुधध्येय धोतारिवारम् ॥१॥

६—श्री वीर हरि-स्तव : श्री कुलमण्डन सूरि

इस स्तव में कवि ने विविध छन्दों का प्रयोग करते हुए १७ पद्यों में 'हार-बन्ध' की रचना की है। हार में २० मणियाँ हैं। बीच में २-२ चतुर्दलात्मक पुष्प, मध्य में 'नायक दल' और उस पर सप्तदल-पुष्प तथा मध्य में दोरक ग्रन्थि है।^१

७—श्री वीरजिन स्तुति : श्री कुलमण्डन सूरि

इस स्तुति में पहला और इक्कीसवाँ पद्य शार्दूलविक्रीडित में है तथा अन्य पद्य २ से १६ तक अनुष्टुप् में छन्द हैं। अन्तिम पद्य में विशेष रूप से १६ बन्धों द्वारा श्रीवीर की स्तुति करने का परिचय भी दिया है। किन्तु यह 'अष्टावशार चक्रबन्धमय स्तुति' है। इसमें कर्णिकाक्षर 'त' है और उसी से सभी पद्यों का आरम्भ होता है। इस प्रकार यह स्तुति अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें 'एक चित्र बन्धरूप' और 'अनेक चित्रबन्धरूप' दोनों प्रक्रियाओं का प्रयोग हुआ है। इसका और भी एक महत्व स्मरणीय है कि

इसके चित्रण ने जो चक्र बनता है, उसके स्वरों में लिखित अर्धालियों में क्रमशः ४, ८, १२ और १६ संख्या के अक्षर चक्रावर्तित क्रम से एकत्र करने पर उनसे एक शाद्वलविक्रीडित पद्य भी पृथक् बनता है जिसका पहला अक्षर श्लिष्ट होकर १६वें अक्षर के रूप में प्रयुक्त होता है। इसका द्वितीय पद्य इस प्रकार है—

तनुते यन्नुति जम्भजिद्राजी मुद्रिता द्रुतम् ।
तं स्तुवे वीततन्द्राजी-भयं भावेन भास्वता ॥१॥

इस पद्य से 'मुशल बन्ध' भी बनता है। रुद्रट कवि ने इस प्रकार के 'अष्टार चक्रबन्ध' का उदाहरण दिया है और उसी से प्रेरित होकर यह स्तुति १८ अक्षर तक पहुँचाई है। इसमें जो अन्य बन्ध बनते हैं, उन का सूचन निम्नलिखित पद्य में द्रष्टव्य है—

१ २ ३ ४ ५ ६—७
चक्रोऽयोमुख-शूल-शङ्ख-सहिते सुश्रीकरी-चामरे,
७ ८ ९ १० ११ १२ १३
सीरं भल्ल-शरासने असिलता शक्त्यातपत्रे रथः ।

१४ १५ १६ १७ १८ १९
कुम्भार्धं चम-पङ्कजानि च शरस्तस्मात् त्रिशूलाशनी,
चित्रैरेभिरभिष्टुतः शुभधियां वीर ! त्वमेधिभियो ॥२०॥

वस्तुतः इस स्तुति में १८ अन्य चित्र बन्ध हैं और १ यह महाचक्र बन्ध बनता है। अतएव इसे 'अष्टादश-चित्र-चक्र-विमल' कहा गया है।

८—वर्धमानजिन-स्तवः : श्रीधर्मसुन्दर (सिद्ध)सूरि

इसी शती के कनकसूरि के शिष्य धर्मसुन्दर द्वारा रचित वर्धमानजिन स्तव 'आतपत्र-बन्धमय' है। यह साधारण छत्र-बन्धों की अपेक्षा अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसमें १५ पद्य हैं और इसका चित्रण सिंहासन सहित उस पर लगे हुए छत्र के समान है। इसका प्रथम पद्य इस प्रकार है—

१-२ इनके भी मूल शुद्ध पाठ वही द्रष्टव्य है।

३६४

श्री वर्धमानं ह्यभिनोम्यमानमानदेवंः परिण्यमानम् ।
अहं महं तं सुगुणैरनन्तं पवित्रछत्राकृति-काव्यबन्धात् ॥१॥

९—कमल-बन्ध-स्तवः श्री उदयधर्मगणि

इस कृति का पूरा नाम 'महावीर जिन स्तवन' है। १३वीं शताब्दी के बृहत् तपागच्छीय रत्नसिंह सूरि के शिष्य श्री उदयधर्म गणि द्वारा निमित्त यह स्तवन १८ पद्यों का है। १६ पद्यों से २२ वलों का कमलबन्ध बनता है और सत्रहवां पद्य परिधि में लिखा जाता है, जिसके कुछ अक्षर पत्राक्षरों से श्लिष्ट होते हैं। इस पद्य से कविनाम, काव्यनाम और गुरुनाम भी प्राप्त होते हैं। यथा—

सन्नमत् त्रिदशबन्धपदं श्रीवर्धमानममलं विजितारम् ।
संस्तवीमि भवसागरपारं प्राप्सुरिच्छुक्लुह सद्गुणरत्नम् ॥२॥

अन्तिम पद्य पुष्पिकारूप है, जो 'श्री सिद्धार्थ-नरेन्द्र नन्दन' इत्यादि पद से प्रारम्भ होता है।

१०—श्री वीरजिन-स्तव—श्री जिनप्रभ सूरि

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्री जिनप्रभ के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे 'प्रति-दिन एक स्तुति की रचना करके ही आहार ग्रहण करते थे।' इनकी सात सौ स्तुतियाँ थीं, जिनमें से अब कुछ ही प्राप्त हैं। उनमें भी आकार चित्रकाव्य रूप स्तुतियों में उपयुक्त स्तोत्र अनेक चित्र-काव्यों से संश्लिष्ट है। इसकी रचना में—'कमल (८ दल और २४), खड्ग, चक्र (षडर), चामर, त्रिशूल, धनुष, पद, बीजपूर, मुरज, मुशल, शक्ति, शर, हल, हार आदि बन्ध तथा लोम-विलोम पद्य, निर्मिल हैं। विशेषतः यहाँ स्तुत्यनामगर्भ बीजपूर और कविनाम गुप्त षडरचक्र—तथा चामर बन्धों की योजना महत्वपूर्ण है। स्तोत्र के प्रारम्भ में चित्र स्तवन की प्रतिज्ञा श्री जिनप्रभ सूरि ने इस प्रकार की है—

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

चित्रैः स्तोष्ये जिनं वीरं, चित्रकृच्चरितं मुदा ।
प्रतिलोमानुलोमाद्यैः, स्वङ्गाद्यैश्चारुभिः ॥

'चामर-बन्ध' का पद्य इस प्रकार है—
श्रीमद्दामसमप्रविग्रह ! मया चित्रस्तवेनामुना,
नूनस्त्वं पुरुहूतपूजित विभो सद्यः प्रसद्यंघि माम् ।
ख्यात-ज्ञातकुलावतंस सकलत्रंलोक्य-कल्पान्तर-
स्फार-कूरतरज्वरस्मरतरत्सरंध्यरक्षारत ! ॥२७॥

इस प्रकार अपूर्व प्रतिभा के धनी आचार्य जिन प्रभसूरि के स्तोत्र अत्यन्त महनीय गुणों से मण्डित हैं । इनका स्थिति-काल १३०८ ई. का है ।

११—वीरजिन-स्तोत्र—श्रीसोमतिलक सूरि

कविवर सोमप्रभसूरि के पट्टधर, १३वीं शती के समर्थ आचार्य श्री सोमतिलक सूरि ने अन्यान्य अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वीरजिनस्तोत्र' के नाम से चित्रकाव्यात्मक स्तोत्र बनाया है । इसमें विविध दल वाले विभिन्न कमल-बन्धात्मक पद्य हैं । कवि ने स्वयं कहा है—

चतुरष्ट-षोडश-द्वात्रिंशच्चतुरधिकषष्टिदलं कलितम् ।
श्रीवीरस्तुति-कक्षलं मवयतु सहृदयजनालि-कुलम् ॥१०॥

इस स्तोत्र के प्रत्येक चरण के प्रथम अक्षरों का चयन करने पर एक पद्य बनता है जिसमें गुरुनाम, कविनाम और स्तोत्र-प्रकार का निर्देश किया गया है—

श्रीसोमप्रभ-सुरीश-पादाम्भोज-प्रसादतः ।
श्रीसोमतिलकसूरिरकृत स्तुति-पङ्कजम् ॥

इनके अन्य स्तोत्र भी रचना-वैशिष्ट्य के कारण स्पृहणीय हैं ।

१२—जिनस्तोत्ररत्नकोश—मुनि सुन्दरसूरि

मुनि सुन्दरसूरि सहस्रावधानी थे । आपने 'जिन स्तोत्ररत्नकोश', जिनस्तोत्र महाहृद, सूरिमन्त्रस्तोत्र, तपागच्छपट्टावली और 'त्रिदशतरङ्गिणी' आदि ग्रन्थों की रचना की थी । चौदहवीं शती के प्रथम चरण में आपने जो विज्ञप्ति-काव्य पत्र के रूप में

लिखकर अपने गुरु देवसुन्दर सूरि के पास भेजा था, उसके सम्बन्ध में हर्षभूषणमुनि ने 'श्राद्ध-विधि-विनि-श्चय' में लिखा है कि वह १०८ हाथ लम्बा था और उसमें अनेक चित्रकाव्य अङ्कित थे । उपर्युक्त स्तोत्र भी उसी में था । सम्पूर्ण त्रिदशतरङ्गिणी में लिखित ऐसे स्तोत्रों में ३०० चित्र बन्धों की योजना थी, जिनमें—प्रासाद, पद्म, चक्र, चित्राक्षर, अर्धभ्रम सर्वतोभद्र, मुरज, सिंहासन, अशोक, भेरी, समव-सरण, सरोवर, अष्टमहाप्रातिहार्य आदि विशिष्ट हैं ।

१३—विज्ञप्ति-त्रिवेणी—उपाध्याय श्री जयसागर
सन् १४२७ के निकट वर्तमान उपा० श्री जयसागर ने इस त्रिवेणी सरस्वती, गङ्गा और यमुना-नामक तीन वेणियों में विज्ञप्ति प्रेषित की है । इसमें मुक्तक-प्रासङ्गिक स्तोत्रों के रूप में छत्र, कमल, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, बीजपूर, आसन, चामर, अष्टारचक्र, स्वस्तिक आदि चित्रालङ्कारों को योजना की है । यह पूरा रचना १०१२ श्लोकप्रमाण है ।

१४—चतुहारावली-चित्रस्तव—श्रीजयशेखर सूरि
प्रस्तुत रचना १५वीं शती के आरम्भ की है । यह चार हारावलियों में विभक्त है तथा प्रत्येक में १४-१४ पद्य हैं । इनमें क्रमशः वर्तमान, अतीत-अनागत और विहरमाण तीर्थङ्करों की चौबीसियों की स्तुतियाँ हैं । अन्तिम पद्य चारों हारावलियों के समान हैं । इसकी विशेषता यह है कि पूर्व और पश्चिम के एक-एक तीर्थङ्कर नाम के अक्षररूप हार से यह ग्रथित है । चार-चार चरणों के आद्य-क्षरों से 'श्रीऋषभ', अन्त्याक्षरों से 'महावीर' आदि नाम निकलते हैं । इसके अतिरिक्त प्रत्येक हारावली का १३ वाँ पद्य अन्य चित्रबन्धों की भी सृष्टि करता है, जिनसे २४ दल कमल, स्वस्तिक, वज्र और बन्धूक-स्वस्तिक बन्ध बनते हैं ।

१५—अष्टमङ्गल चित्र (बन्ध) स्तव—श्री उदय
माणिक्य गणि
दस पद्यों से निमित्त यह स्तव जैन धर्म में

प्रसिद्ध १—दर्पण, २—भद्रासन, ३—शराव-सम्पुट
४—मत्स्ययुगल, ५—कलश, ६—स्वस्तिक ७—श्री
वत्स और ८—चामरयुगल' की अष्टमङ्गलों की
आकृतियों में बनाये गये स्तुति-पद्यों से अलंकृत है।
इस प्रकार के आकार-चित्र-पद्य कवि के द्वारा स्व-
प्रतिभा से प्रथम ही निर्मित हुए हैं। इन पद्यों के
पठन का क्रम कवि ने नहीं दिखलाया है। अतः
हमने अपने ग्रन्थ "चित्रालंकार-चन्द्रिका" में इनके
लक्षण-पद्य बना दिये हैं। रचना अत्युत्तम है। एक
उदाहरण द्रष्टव्य है—

चन्द्रातपप्राय सुकीतिरामं, चन्द्रानन सारगुणभिरामम् ।
यः स्तौति चन्द्रप्रभमस्तसारं, यमी स आप्नोति भवाधि
पारम् ॥३॥

इसका निवेश 'शराव-सम्पुट' में किया गया है।
रचनाकार का समय १५ वीं शती माना गया है।

१६—शतदल कमल बन्धमय-पार्श्वजिनेश्वर—स्तुति
श्रीसहजकीर्ति गणि

यह स्तुति २६ पद्यों में रचित है जिनमें २५
पद्यों से १०० दल वाले कमल की आकृति में बन्ध-
पूति की गई है तथा अन्तिम पद्य पुष्पिका रूप है।
यह स्तोत्र लोधपुर (गुजरात) में एक प्रस्तर खण्ड
पर उत्कीर्ण है। कुछ अंश खण्डित भी हो गया है,
जिसकी पूति हमने अपने शोध-प्रबन्ध में कर आकृति-
सहित मुद्रित किया है और लक्षण भी बना दिया
है। इसका आद्यपद्य इस प्रकार है—

श्रीनिवासं सुरश्रेण्यसेव्यक्रमं,

वामकामानि-सन्ताप तीरोपमम् ।

माधवेशादि-देव्याधिकोपक्रमं,

तत्त्वसंज्ञानविज्ञानमव्याश्रमम् ॥३॥

यहाँ कर्णिका में 'म' अक्षर के साथ अनुस्वार,
विसर्ग अथवा केवलाक्षर सम्बुद्धयन्त आदि के रूप
में पढ़ा जाता है जो चित्रकाव्य के लिये दोष नहीं
माना जाता है। इसकी रचना १५४९ ई० में हुई
है। छन्द प्रयोगों में वैविध्य है। प्रत्येक चरण को
एक-एक दल में लिख कर अन्तिम अक्षर को श्लिष्ट

३६६

बनाया है जो १०० बार पढ़ा जाता है। कवि ने
पुष्पिका में लिखा है—

इत्थं पार्श्वजिनेश्वरो भुवनदिककुम्भ्यङ्गचन्द्रात्मके,

वर्षे वाचकरत्नसारकृपया राका दिने कतिके ।

मासे लोद्वपुरंस्थितः शतदलोपेतेन पद्ममन सन्—,

नूतोऽयं सहजादि कीर्तिगणिना कल्याणमालाप्रदः ॥२६॥

१७—१८—शृङ्खला और हारबन्धमय पार्श्वनाथ
स्तोत्र—श्रीसमयसुन्दरगणि

सन् १५६४ से १६४३ ई० में विराजमान श्री
समयसुन्दर गणि ने अनेक स्तोत्रों की रचना की
है। उनमें उपर्युक्त दो स्तोत्र चित्र बन्धमय हैं। ये
'समय-सुन्दर-कृति-कुसुमाञ्जलि' में नाहटा-बन्धु
द्वारा प्रकाशित हैं।

१९—सहस्रदल-कमल-बन्धरूप-अरनाथ स्तव—
श्रीवल्लभ गणि

वनवैभवात्मक चित्रबन्ध काव्यों की परम्परा
में आश्चर्यकारी कीर्तिमान स्थापित करने वाला
यह स्तोत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। खरतरगच्छ के
ज्ञानविमल गणि के शिष्य, वाचक श्रीवल्लभ गणि
ने इस स्तोत्र में अरनाथ स्वामी की स्तुति की है।
१००० दल के कमल में ५५ पद्य समाविष्ट है।
प्रत्येक पद्य की वर्ण योजना इस प्रकार की गई है कि
दो-दो अक्षरों के बाद तीसरा अक्षर 'र' ही आता
है जो कर्णिका में श्लिष्ट होकर एक हजार बार
पढ़ा जाता है। इस महान् प्रयास की सिद्धि के
लिये कवि ने 'एकाक्षरी कोश' का भी आश्रय लिया
है। लेखक ने इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी बनाई है।
हमने इसके खण्डितांशों को पूर्ण करके आकृति के
अभाव की भी पूति की है तथा पठन-प्रक्रिया ज्ञान
के लिये लक्षण भी बनाया है। दृष्टव्य—'संस्कृत
साहित्य में शब्दालंकार' शोधक शोध-प्रबन्ध। इसका
प्रथम पद्य इस प्रकार है—

असुर-निर्जर-बन्धुर-शेखर-प्रचुरभव्यरजोभिरयं जिरम् ।
क्रमरजं शिरसा सरसं वरं,

जित-रमेश्वर-मेदुर-शङ्करम् ॥१॥

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

२०—शान्ति-जिन-स्तुति—(महास्वस्तिक बन्धमयी)
—अज्ञात कवि

किसी अज्ञात रचनाकार ने इस स्तुति का निर्माण किया है। इसके पद्यों से “महास्वस्तिक-बन्ध” की रचना होती है। आकृति में स्वस्तिक, कोणयष्टि, परिधि और विदिक चतुष्कोणों का समावेश है। सन्धि स्थल और कणिका में निहित अक्षर प्रिलष्ट हैं। उदाहरण के लिये एक पद्य दर्शनीय है—

कल्याणकेलिकदलीमृहसंनिवासं,
संसारपारकरणैककला विलासम् ।
सवेगरङ्ग गणसंनिहितप्रियासं,
संसारिणां सुखकरं निखिलं जिनेनम् ॥

इस स्तुति का चित्राकार ही प्राप्त हुआ है और उसके कोने कट गये हैं, तथापि हमने इसकी पूर्ति करके लक्षण-सहित “सङ्गमनी” पत्रिका में—“चित्रबन्ध साहित्ये स्वस्तिक बन्धाः” नामक लेख में प्रकाशित किया है।

२१—पाश्वर्नाथ-स्तव—जिनभद्र सूरि

सन् १६३३ ई० के निकट १८ पद्यों में इस स्तव की रचना हुई है। इसमें जिन चित्रबन्धों की रचना हुई है, उसका निर्देश कवि ने प्रथम पद्य में ही इस प्रकार कर दिया है—

चक्रेण ध्वजचामरे सुर्वाचरे छत्रोत्पले दीपिका—
मुहामासनदर्पणौ च दधता श्रीवत्सशङ्खावपि ।
घण्टाहारलतां विमानमनघं सत्तोरणं स्वस्तिकं,
प्रेङ्खन्तं कलशं सुरेन्द्रसहितं श्रीपाश्वर्नाथं स्तुवे ॥१॥
शेष १८ पद्यों से १८ बन्ध बनते हैं। ‘दीपिका-बन्ध’ का पद्य इस प्रकार है—

सदासमसमापाय-हरामाय-वचस्तव ।
वरानराणां धीराणां स्तुत्यराव श्रेये धनम् ॥७॥

२२—नागपाशबन्धमय - महावीर - स्तव—इन्द्र-सौभाग्यगणि

सत्रहवीं शती में ६ पद्यों में इन्द्रसौभाग्यगणि ने

इसकी रचना की है। अजितसेन ने ‘अलङ्कार-चिन्तामणि’ में जो ‘नागपाश चित्रबन्ध’ दिया है, उसकी अपेक्षा इसकी रचना-पद्धति विशिष्ट है। इसका प्रथम पद्य इस प्रकार है।

श्रीमद्वीरजिनाधीशं शङ्करं जगदोश्वरम् ।
रम्यच्छवि-कनकामं भजध्वं सुरपूजितम् ॥

२३—साधारण-जिनस्तव—अज्ञात कर्तृक

यह स्तुति किसी प्राचीन आचार्य द्वारा अनेक विध चित्रबन्धों से निर्मित है। इसमें छत्र, सिंहासन, चामर आदि के चित्रबन्ध पद्य बनाये हैं। ऐसे ही कुछ अन्य नवीन बन्धों की सृष्टि में भी कवि ने मौलिकता प्रदर्शित की है और इसके अनुकरण की प्रेरणा भी दी है। यह स्तुति अप्रकाशित है और हमें भी पुण्यविजय जी महाराज द्वारा प्राप्त हुई थी। एक-दो पद्य उदाहरण के लिए दर्शनीय हैं—

तपोवीर रमाधीश शर्म-कानन-वारिद ।
दक्ष कक्ष क्षमाक्षन्तः शमिर्लक्षविभो जय ॥१॥

(छत्रबन्ध)

देवदेव स्फुरञ्जान मनोरम-महोदय ।

यशसा सारयत्वायं जय संनय गीश्वरम् ॥७॥

(पूर्णकलश बन्ध)

२४—चतुर्विंशति-जिनस्तुति-विविध चित्रबन्धमय—
अज्ञातकर्तृक

यह स्तुति भी किन्हीं प्राचीन आचार्य द्वारा निर्मित है। इसमें—‘ओङ्कार, ह्रीङ्कार, नमः, शङ्ख, सुदर्शनचक्रबन्ध, हार, गोमूत्रिका, दर्पण, सुसक, रवि, चन्द्र, वज्र, बीजपूर, खड्ग, शर, धनुष, छुरिका, हल, कमल, गदा, नागपाश, तूणीर, स्वस्तिक और त्रिशूल’ आदि चित्र-बन्धों के पद्य दिये हैं।

यह स्तुति अपने विविध नये-नये बन्धों की निमित्त से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह भी अब तक अप्रकाशित है और हमने इसका सम्पादन किया है। इसके एक-दो पद्य इस प्रकार हैं—

मुक्तेः पदं विपदमानवदानधर्म,
 मायाभिमानदजनप्रिय लब्धशातम् ।
 त्वं देह विश्वततकान्तिविराजमानं,
 कासारजन्ममुख्यतनकरोदयाय ॥२॥ (ही-बन्ध)
 कलुषपङ्कखरांशनिभं जिनं,
 नमत पारगतं नलिनद्युतिम्
 जनिमहीरूह-मत्स्यजोपनं,
 कजमुखं विमलं सदयं सदा ॥३॥

अन्य अप्रकाशित चित्र-बन्धमय स्तुति-स्तोत्र

भारतीय वाङ्मय की इस अभिनव-शैली को उर्वरित रखने के अनेकानेक जैन आचार्यों और कवियों ने पर्याप्त प्रयास किया है। खेद का विषय यह है कि इस दिशा में विद्वानों का विशेष ध्यान और प्रयास न होने से शताधिक स्तुतिकार्य आज भी अप्रकाशित और अपरिचित पड़े हुए हैं। हमने इस दिशा में जब प्रयास किया तो कुछ स्तोत्र हमें और भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

१. जिनस्तुति—अनेकचित्रबन्धमयी-उदयवत्लभ-गणि, २. श्रीपार्श्वनाथस्तव—कल्पवृक्षबन्धमय, ३. पार्श्वनाथस्तव—३२ दलकमलबन्धमय, ४. चित्र-बन्ध स्तोत्र—गुणभद्र ५. साधारण जिनस्तव—अनेक बन्धमय, ६. श्री हीरविजय-सूरिस्वाध्याय—अनेक चित्रबन्धमय, ७. वर्धमानजिनस्तव ३२ दलकमल-बन्धमय, ८. पार्श्वनाथस्तोत्र-चलच्छृङ्खलागर्भ, ९. आदिनाथस्तव-कामषटबन्धमय, १०. सीमन्धर-स्वामिस्तवन-चक्रबन्धमय, ११. अजित-शान्तिस्तव-अनेक चित्तबन्धमय (अर्धमागधी) नन्दिषेणकृत तथा आधुनिक विभिन्न जैन पन्थानुयायी दिगम्बर, श्वेताम्बर (स्थानक एवं मन्दिरमार्गी) साधु, उपाध्याय और आचार्यों द्वारा निर्मित जैन स्तोत्र।

साम्प्रतिक स्थिति

वर्तमान वर्षों में भी वैसे तो यह धारा सूखी नहीं है, किन्तु क्षीण अवश्य होती दिखाई देती है।

आचार्य श्री नथमल मुनि और आचार्य श्री तुलसी जी के मार्गानुयायी साधु-साध्वीजी द्वारा भी कुछ ऐसी स्तुतियों और प्रकीर्ण बन्धों की रचनाएँ हुई हैं जिन्हें उनके हस्तलिखित पत्रिकाओं में देखा जा सकता है।

श्वेताम्बर स्थानकवासी विद्वान साधुवर्ग की भी इसी प्रकार की रचनाएँ यत्र-तत्र प्राप्त हैं। मूर्तिपूजक साधुवर्ग में भी ऐसी रचनाएँ बनी हैं। इनमें मैं मुनि धुरन्धरविजय जी (श्री प्रेमसूरि जी के संघ के) का नाम देना चाहूँगा। इन मुनिजी में चित्र-बन्ध काव्य रचना का गुण सहज प्राप्त है। बहुत छोटी आयु में ही अपने आचार्यश्री प्रेमसूरिजी के प्रति दो 'विज्ञप्ति-पत्र' लिखे हैं जिसमें प्रथम में ५ चित्रबन्ध और द्वितीय में ३५० चित्र-बन्धों की योजना है। भटेवा-पार्श्वनाथ-चित्र-स्तोत्र (अष्टप्राति-हार्य-स्तव) इनका महत्त्वपूर्ण है। 'अजित शान्ति-स्तव' के चित्रबन्धों का उन्मीलन भी आपने ही किया है, जिसका संशोधन सम्मान्य श्री पुण्यविजय जी महाराज के आग्रह से हमने किया था। इसी प्रकार स्व० मुनिराज श्री अभयसागरजी महाराज की प्रेरणा से कुछ जैन-स्तोत्रों की रचनाएँ की हैं, जिनमें 'भटेवा-पार्श्व जिन-चित्रस्तव' की सं. २०२४ में की है जिसमें—१२ दलकमल, दर्पण, श्रीवत्स, स्वस्तिक, सिंहासन, शरावसम्पुट, मत्स्ययुगल, कलश और छत्र-बन्ध हैं। इसमें ११ पद्य हैं।

चित्र-बन्धात्मक स्तोत्रों के परिसर में यह केवल 'आकार-चित्ररूप संक्षिप्त आकलन' है। चूँकि चित्रालङ्कार की परिधि में—स्वर, स्थान, वर्ण, गति, प्रहेलिका, च्युत, गूढ, प्रश्नोत्तर, समस्या, भाषा और आकार-चित्र एवं इनके अनेक भेद-प्रभेद भी आते हैं, अतः इन सभी प्रकारों को स्तुतियों का भी समावेश किया जाए तो यह जैन-सम्प्रदाय के एक महान् दाय को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर संस्कृत-स्तुति-साहित्य की परम्परा में अभूतपूर्व कोटिमान स्थापित करने का गौरव प्राप्त कर सकेगा।

(शेष पृष्ठ ३७४ पर)

□ डा० परमेश्वर झा.

यूनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, गणित विभाग,
बी. एस. एस. कालेज, सुपौल, सहरसा (बिहार)

भारतीय गणित के अंध युग में

जैनाचार्यों की उपलब्धियाँ

भारतीय संस्कृति अति प्राचीन है, इसको समृद्ध परम्परा है। यहाँ के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ हैं वेद (३००० ई० पू०)। तत्पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, पुराण, वाल्मीकि रामायण एवं महा-भारत जैसे अनेकानेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई। इन ग्रन्थों में आध्यात्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ वैज्ञानिक तथ्य भी बीज रूप में पाए जाते हैं। ज्योतिर्विज्ञान एवं गणित की नींव भी धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिए ही पड़ी। ऋग्वेद, शत-पथ ब्राह्मण, यजुर्वेद, मंत्रायणी एवं तैत्तिरीय संहिताओं में ग्रहण, व्यतीपात, मुहूर्त, नक्षत्र-गणना, अंक-संज्ञाओं की सूची, विभिन्न प्रकार के भिन्न, द्विघातीय समीकरण के साधन आदि विषयों का भी समावेश है।^१ पुनः ज्योतिर्विज्ञान सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थ वेदांग ज्योतिष (१२०० ई० पू०) की रचना हुई। तत्पश्चात् ८००-५०० ई० पू० के काल में बौधायन, आपस्तम्ब, कात्यायन, मंत्रायण आदि शुल्ब-सूत्रों का निर्माण हुआ जहाँ वेदियों की संरचना के क्रम में अनेक ज्यामितीय रचनाओं, द्विघातीय एवं युगपद अनिणिति समीकरणों के हल की

विधियों का विवेचन किया गया है।^२ एक लम्बी अवधि के बाद वक्षाली हस्तलिपि (२०० ई० लग-भग) की रचना हुई, जिससे प्राचीन भारत के अंक-गणित एवं बीजगणित के विकास पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश मिलता है। फिर ४वीं शताब्दी के लग-भग सौर, पौलिश, रोमक, वाशिष्ठ एवं पैतामह-इन पाँच प्रमुख सिद्धान्तों का निर्माण हुआ। ५वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी का काल भारतीय गणित का स्वर्ण युग है जिस अवधि में आर्यभट (४०६ ई०), ब्रह्मगुप्त, भास्कर प्रथम, लल्ल, श्रीधरा-चार्य, महावीराचार्य, श्रीपति, भास्कराचार्य (१११४ ई०) जैसे अनेकानेक प्रतिभासम्पन्न गणितज्ञों एवं ज्योतिर्विदों का प्रादुर्भाव हुआ। इन विद्वानों ने ज्योतिष एवं गणित में अनेक ऐसे मौलिक एवं वैज्ञानिक सिद्धान्तों—सूत्रों की स्थापना की जिनका आविष्कार अन्य देशों में संकड़ों वर्षों बाद हुआ।

५वीं शताब्दी ईसा पूर्व से ५वीं शताब्दी ईस्वी की अवधि में क्या यहाँ गणित में कोई मौलिक कार्य नहीं किया जा सका? क्या किसी गणितीय ग्रन्थ की रचना नहीं की जा सकी? भारतीय गणित का

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य शंकर बालकृष्ण दीक्षित, भारतीय ज्योतिष, लखनऊ, १९६३, पृ० १-६३ एवं बी. बी. दत्ता एण्ड ए. एन. सिंह, हिस्टरी आफ हिन्दू मैथमैटिक्स, भाग १, बम्बई, १९६२, पृ. ६ एवं १८१
२. द्रष्टव्य बी. बी. दत्ता, दि साइन्स आफ दी शुल्ब, कलकत्ता, १९३२ एवं सत्यप्रकाश तथा उषा ज्योतिष्मती, दि शुल्ब सूत्राज, इलाहाबाद, १९७६

स्वर्ण युग क्या एकबारगी आ गया ? आदि प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं। ऐसे प्रश्नों के समीचीन उत्तर के लिए हमें इस काल की रचनाओं का अवलोकन करना होगा। इस अवधि में रचित पिंगल के छन्द सूत्र (२०० ई० पू०), बौद्ध साहित्य-ललित विस्तर (प्रथम शताब्दी ई० पू०) आदि रचनाओं में बीजगणितीय सिद्धान्तों का समावेश है तथा बड़ी-बड़ी संख्याओं (यथा लल्लक्षण = १०^{३३} की चर्चा है,^१ पर जिन ग्रन्थों में गणितीय सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है वे हैं जैन आगम ग्रन्थ। ये ग्रन्थ भारतीय गणित की शृंखला की टूटी हुई कड़ी को जोड़ने का कार्य करते हैं। अतः इन ग्रन्थों में उपलब्ध गणितीय सिद्धान्तों का अध्ययन एवं संकलन अति आवश्यक है। इस बीच कुछ विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। एम० रंगाचार्य, बी० बी० दत्ता, हीरालाल जैन, नेमिचन्द्र शास्त्री, ए० एन० सिंह, टी० ए० सरस्वती, मुकुट बिहारी अग्रवाल, लक्ष्मीचन्द्र जैन, अनुपम जैन जैसे विद्वानों ने इस दिशा में श्लाघनीय प्रयास किये हैं जिससे बहुत सारे तथ्यों का रहस्योद्घाटन हो सका है।

गणित अनवरत रूप से जैन मुनियों के चिन्तन एवं मनन का विषय रहा है। संख्यात (अंक और ज्योतिष) उनकी ज्ञान-साधना का अभिन्न अंग है। शिक्षा के चौदह आवश्यक अंगों में इसे प्रमुख स्थान दिया गया है तथा बहत्तर विज्ञानों एवं कलाओं में अंकगणित को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है।^२ उतना ही नहीं, सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को चार अनु-

योगों (समूहों) में विभाजित किया गया है जिनमें एक करणानुयोग है, जिसे गणितानुयोग भी कहा जाता है। गणितीय साधनों द्वारा सृष्टि-संरचना को स्पष्ट करना तथा कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या करना जैनाचार्यों का प्रमुख दृष्टिकोण है। इसलिए मात्र करणानुयोग का ही नहीं अपितु द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों का भी अध्ययन गणित के परिपक्व ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ने गणित की महत्ता बतलाते हुए कहा है—

लौकिक वैदिके वापि तथा सामायिकेऽपि यः ।
व्यापारस्तत्र सर्वत्र संख्यानमुपयुज्यते ॥^३

अर्थात्—सांसारिक, वैदिक तथा धार्मिक आदि सभी कार्यों में गणित उपयोगी है। यही कारण है, कि जैन आगम ग्रन्थों में गणितीय तत्त्व प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। साथ ही जैनाचार्यों एवं विद्वानों ने शिष्यों की सुविधा हेतु अनेक गणितीय एवं ज्योतिष सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की जिनमें कुछ तो उपलब्ध हैं और कुछ कालक्रम से नष्ट हो चुके हैं।

सूर्य-प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति प्राचीन जैन ज्योतिष के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं, जिनकी रचना का समय लगभग ५०० ई० पू० समझा जाता है। प्राकृत भाषा में रचित इन ग्रन्थों के अतिरिक्त ज्योतिषकरंडक एवं मर्ग-संहिता के नाम भी इस सूची में जोड़े जाते हैं।^४ इन ग्रन्थों में ज्योतिष गणितीय विचारधारा दृष्टिगोचर होती है। सूर्य-प्रज्ञप्ति में तो पाई (π) के दो मान—३ एवं

- १ बी. बी. दत्ता एण्ड ए. एन. सिंह, संदर्भ-१, पृ० ११ तथा ए. के. बाग, बाईनोमियल थ्योरम इन एंसिंट इंडिया, इंडियन जनरल आफ हिस्टरी आफ साइन्स, अंक १, १९६६, पृ. ६८-७३
- २ दृष्टव्य जे. सी. जैन, लार्डफ इन एंसिंट इंडिया एज डेपिकटेड इन दी जैन केनन्स, बम्बई, १९४७ पृ. १७८ एवं बी. बी. दत्ता एण्ड ए. एन. सिंह, संदर्भ-१, पृ. ६
- ३ लक्ष्मीचन्द्र जैन (सं.), गणित-सार-संग्रह, सोलापुर, १९६३, संज्ञाधिकारः श्लोक ६, पृ. २
- ४ दृष्टव्य परमेश्वर ज्ञा, जैनाचार्यों की गणितीय एवं ज्योतिष सम्बन्धी कृतियाँ एक सर्वेक्षण, तुलसी प्रज्ञा, खण्ड-१२, अंक-३, १९८६, लाइन्, पृ. ३१

१० की भी चर्चा है। पुनः जैनधर्म के प्रसिद्ध एवं अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु (३१८ ई० पू०) के दो ज्योतिष ग्रन्थों—सूर्य-प्रज्ञप्ति पर टीका एवं भद्रबाहु-संहिता का उल्लेख मिलता है।^१ ठाणांग, प्रश्न-व्याकरणांग, समवायांग, सूर्यगडांग आदि द्वादशांग साहित्य (४००-१००० ई० पू०) में नौ ग्रह, नक्षत्र, राशि, दक्षिणायन एवं उत्तरायण, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदि तथ्यों का विवेचन है।^२ जैन धर्म के महत्वपूर्ण ग्रन्थ स्थानांग सूत्र (३२५ ई० पू०) के निम्नलिखित श्लोक में गणित के दश विषयों की चर्चा है—

परिकर्म बबहारो रज्जु रासी कला सवण्ण्ये ।
जावन्तावति वग्गे घणो ततः वग्गावग्गे विकण्णो व ॥^३

अर्थात् परिकर्म (मूलभूत प्रक्रियाएँ), व्यवहार (विभिन्न विषय), रज्जु (विश्व माप की इकाई, ज्यामिति), राशि (समुच्चय, त्रैराशिक), कलासवर्ण (भिन्न सम्बन्धी कलन), यावत तावत (सरल समीकरण), वर्ग (वर्ग समीकरण), घन (घन समीकरण) वर्ग-वर्ग (द्विवर्ग समीकरण) एवं विकल्प (क्रम चय-संचय)—गणित के ये दश विषय हैं जिनका प्रयोग विशेष रूप से कर्म-सिद्धान्त की स्थापना के लिए किया जाता है। इससे इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि तत्कालीन जैनाचार्यों को गणित के इन विषयों का समुचित ज्ञान हो गया था। इन विषयों का विशद विवेचन-विश्लेषण महावीराचार्य (८५० ई०) ने अपने ग्रन्थ गणित-सार-संग्रह में किया है।

उत्तराध्ययन एवं भगवती सूत्र (३०० ई० पू०) में वर्ग, घन, संचय आदि अनेक महत्त्वपूर्ण गणितीय

विषयों की चर्चा है। भगवती सूत्र (सूत्र ३१४) में एक संयोग, द्विक संयोग, (त्रिक संयोग आदि शब्दों का प्रयोग पाया जाता है जिससे संचय-सिद्धान्त की जानकारी मिलती है। साथ ही सूत्र ७२६-२७ में विभिन्न ज्यामितीय आकृतियों—रेखा, वर्ग, घन, आयत, त्रिभुज, वृत्त एवं गोल की बनावट के लिए कम से कम कितने बिन्दुओं की आवश्यकता होती है—इसकी व्याख्या की गयी है।^४ जैन धार्मिक ग्रन्थ के एक प्रमुख ग्रन्थकार उमास्वाति (अथवा उमास्वामी) ने (१५० ई० पू०) में तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र-भाष्य नामक एक विशाल ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें सम्पूर्ण जैन बाह्य को सार रूप में संकलित किया गया है। इसमें स्थानमान-सूची, भिन्नों का अपवर्तन, गुणा-भाग की विधियाँ, वृत्त के क्षेत्रफल, परिधि, जीवा, चाप की ऊँचाई एवं व्यास सम्बन्धी सूत्र आदि अनेक गणितीय सिद्धान्त निहित हैं।^५ वे स्वयं गणितज्ञ थे अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता, पर इतनी बात निश्चित है कि उनके समय में कोई गणितीय ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध रहा होगा जिससे उन्होंने अपनी रचना में कुछ गणितीय सूत्र उद्धृत किए। इसके अतिरिक्त ने जम्बूद्वीप समास नामक एक ज्योतिष-ग्रन्थ के भी रचयिता माने जाते हैं।

जैन आगमिक साहित्य अनुयोगद्वार सूत्र (प्रथम शताब्दी ई० पू०) में भी प्रथम वर्ग, द्वितीय वर्ग आदि का प्रयोग पाया जाता है जिससे यह ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में जैनाचार्यों को घातांकों के नियमों का ज्ञान हो गया था। साथ

- १ अमरचन्द नाहटा, आचार्य भद्रबाहु और हरिभद्र की अज्ञात रचनाएँ, जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान, चुरु, १९७६, पृ. १०७-८
- २ नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्योतिष, दिल्ली, १९७०, पृ. ५४-७७
- ३ स्थानांग सूत्र ७४३
- ४ विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य उत्तराध्ययन, अहमदाबाद, १९३२ एवं भगवती सूत्र (अभयदेव सूरी की टीका सहित) सुरत, १९१९
- ५ बी. बी. दत्ता, दि जैन स्कूल आफ मैथमेटिक्स, बुलेटिन, कलकत्ता मैथमेटिकल सोसाइटी, कलकत्ता, खंड २१, अंक २, १९२६, पृ. १२६

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

३७१

ही इस ग्रन्थ में स्थानों के नाम में 'कोटि-कोटि' तक की चर्चा है जिससे यह प्रमाणित होता है कि उस समय तक संख्याओं की दशमलव पद्धति की जानकारी हो गयी थी।^१ जैनाचार्यों की परम्परा में स्थान पाने वाले आचार्य कुन्दकुन्द (५२ ई० पू० से ४४ ई० तक) ने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें समय-सार, प्रवचन-सार, नियम-सार, पंचास्तिकाय सार एवं अष्ट पाहुड आदि प्रमुख हैं। पंचास्तिकाय सार में समय एवं निमिष की परिभाषा दी गयी है, एक संख्य, असंख्य, अनन्त आदि का प्रयोग किया गया है। प्रवचन-सार में तो प्रायिकता का मूल सिद्धान्त भी निहित है जिसके आविष्कार एवं विकास का श्रेय गैलिलियो, फरमेटे, पास्कल, बरनौली आदि पाश्चात्य गणितज्ञों को दिया जाता है।^२

कर्म-सिद्धान्त की दो प्रमुख रचनाओं आ० आर्य मुख एवं आ० नागहस्ति द्वारा रचित कषायप्राभृत (कसाय पाहुड) एवं आ० पुष्पदंत एवं भूतवली द्वारा रचित षट् खंडागम (प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी) में भी गणितीय सामग्री की बहुलता है। षट् खंडागम पर वीरसेनाचार्य (९ वीं शताब्दी) द्वारा लिखी गयी धवला नाम की एक महत्वपूर्ण टीका में प्राकृत में रचित अनेक ग्रन्थों के गणितीय उद्धरण पाए जाते हैं। आठों परिकर्मों—संकलन व्यकलन, गुणन, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन एवं घन-मूल, भिन्नो, वितत भिन्नो, घातांक एवं लघुगणक के नियमों, विभिन्न प्रकार के समुच्चयों पर संक्रियाओं आदि गणितीय विषयों का विस्तृत रूप में विवेचन किया गया है। दीर्घ संख्याओं को व्यक्त करने की प्रक्रिया में संख्या पर स्वसंख्या का वर्ग

आरोपित करने की एक अनोखी रीति का विश्लेषण है जिसे वर्गित संवर्गित की संज्ञा दी गयी है। अनंत शब्द को परिभाषित कर उसके भेदों-प्रभेदों का निर्धारण किया गया है तथा ११ प्रकार के अनन्तों का उल्लेख किया गया है। विभिन्न प्रकार के परिमित, अपरिमित एवं एकल समुच्चयों के उदाहरण भी उपलब्ध हैं। साथ ही पाई (π) का मान ३५५/११३ स्वीकार किया गया है जिसे चीनी मान कहा जाता है, पर ऐसा अनुमान है कि चीन में प्रयोग होने से पूर्व ही जैनाचार्यों ने इसका प्रयोग किया है।^३

आध्यात्मिक संत एवं जैन दार्शनिक विद्वान यतिवृषभ ने प्राकृत भाषा में लोकानुयोग का सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण उपलब्ध ग्रन्थ तिलोय-पण्णत्ती (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति) की रचना की। साथ ही उन्होंने कसायपाहुड पर चूर्णि सूत्रों की टीका भी लिखी। कुछ विद्वानों के मतानुसार वे आर्यभट (४०६ ई०) के समकालीन अथवा समीपवर्ती थे, पर नेमिचन्द्र शास्त्री ने पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर उनका समय १७६ ई० के आस-पास निर्धारित किया है। जो भी हो, इतना निश्चित है, कि जैन साहित्य के अन्तर्गत तिलोयपण्णत्ती का विशिष्ट स्थान है। नौ महाधिकारों में विभक्त यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेख एवं उद्धरण प्राप्त होते हैं। इसमें विश्व रचना के कर्म-सिद्धान्त एवं अध्यात्म-सिद्धान्त का विशेष विवेचन तो है ही, साथ ही अनेक गणितीय सिद्धान्तों का भी विश्लेषण है। काल-माप एवं लोक माप बताने हेतु विशाल संख्याओं एवं इकाइयों को परिभाषित किया गया है जहाँ काल की सूक्ष्मतम इकाई समय है तथा सबसे बड़ी संख्यात इकाई अचलात्म है

१ एच. आर. कपाडिया (सं.). गणित तिलक, बरौदा, १९३७, इट्रो., पृ. २२

२ अनुपम जैन, आ. कुन्दकुन्द के साहित्य में विद्यमान गणितीय तत्व, अर्हत् वचन इन्दौर, अंक १, १९८८, पृ. ४७-५२

३ लक्ष्मीचन्द्र जैन, बेसिक मैथमैटिक्स, भाग-१, जयपुर, १९८२, पृ. २८-३४ तथा ए. एन. सिंह, हिस्टरी आफ मैथमैटिक्स इन इण्डिया फ्रॉम जैन सोसैज, जैन एंटीक्वरी, आरा, खंड १५, १९४९, पृ. ४६-५३ एवं अनुपम जैन, दार्शनिक गणितज्ञ आ० वीरसेन, अर्हत् वचन, अंक २, इन्दौर, १९८८, पृ. २५-३७

जिसका मान $(८४)^{31} \times (१०)^{90}$ वर्ष है ! संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त के विभिन्न प्रकारों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों को स्थापित किया गया है। अनेक प्रकार की आकृतियों के क्षेत्रफल, वृत्ताकार आकृति की परिधि, वृत्त खण्ड का क्षेत्रफल, वाण, जीवा एवं चापकर्ण के मान तथा विविध आकारों के सांद्रों के घनफल निकालने की छेद विधि का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। समान्तर एवं गुणोत्तर श्रेणियों से सम्बन्धित सूत्रों के साथ-साथ तत्सम्बन्धी उदाहरण भी दिए गए हैं। साथ ही पाई (π) का जैन परम्परानुसार स्थूल मान ३ और सूक्ष्म मान $\sqrt{१०}$ स्वीकार किया गया है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विविध गणितीय प्रक्रियाओं को संकेतों के माध्यम से व्यक्त किया गया है।^१

इन आगम ग्रंथों में गणितीय सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ प्राचीन ग्रंथों की ऐसी गाथाओं को भी उद्धृत किया गया है जो गणित की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित हैं। धवला टीका में तो कुछ ऐसे ग्रन्थों का नामोल्लेख भी है—अग्यणिय, दिट्ठिवाद, परिकम्म, लोयविणिच्छय, लोकविभाग, लोमाइणि आदि।^२ धवला में ही 'परियम्म-सुत'—प्राकृत गद्यमय ग्रन्थ की चर्चा है जिससे कई गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ गणित एवं करणानुयोग से सम्बन्धित है।^३ आचार्य यतिवृषभ ने एक करण-सूत्र नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इसी तरह 'करण भावना' नामक एक और जैन ग्रंथ की चर्चा है। वीरसेनाचार्य (६वीं शती) की सिद्धभूपद्धति पर लिखी टीका से ज्ञात होता है कि उनके समय तक क्षेत्रगणितविषयक कोई

जटिल ग्रन्थ विद्यमान था।^४ आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (१०वीं शती) कृत त्रिलोकसार में भी 'बृहत्तधारा' नामक धाराओं से सम्बन्धित एक प्राचीन जैन ग्रन्थ की चर्चा है जो उस समय तक उपलब्ध था, पर अब अनुपलब्ध है।^५ इतना ही नहीं, भास्कर प्रथम (७वीं शताब्दी) कृत आर्य-भटीय-भाष्य में भी पाँच प्राकृत गाथाएँ मिलती हैं जो अंकगणित सम्बन्धी किसी प्राचीन प्राकृत ग्रंथ से उद्धृत हैं। सम्भवतः वह किसी जैनाचार्य की ही कृति होंगी।^६ भास्कर प्रथम की रचना से यह भी ज्ञात होता है कि मस्करि, पूरण, मुद्गल, पूतन आदि गणितज्ञों ने आठ व्यवहारों में से प्रत्येक पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की थी।^७ सम्भावना है, कि इनमें से कुछ प्राचीन जैनाचार्य ही हों। इस तरह गणित सम्बन्धी अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थों के सम्बन्ध में यत्र-तत्र सूचना मिलती है, पर दुःख है कि वे सभी अभी उपलब्ध नहीं हैं।

उपरोक्त सूचनाओं से स्पष्ट है कि ५वीं शताब्दी ई. पू. से ५वीं शताब्दी इस्वी तक की अवधि में रचित प्रमुख जैन आगम ग्रन्थों में गणित की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं अनेकों सूत्रों का उपयोग किया गया है। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि इन गणितीय सिद्धान्तों का ज्ञान यहाँ के लोगों को बहुत पूर्व में ही हो गया था। साथ ही इन ग्रन्थों से इसका भी आभास मिलता है कि आलोच्य अवधि में गणित के स्वतन्त्र ग्रन्थ भी भारत में लिखे जा चुके थे जो प्रायः वर्तमान समय में अनुपलब्ध हैं। इस तरह भारतीय गणित के अंध गयु में

१ लक्ष्मीचन्द्र जैन, वही, पृ. २१-२७ एवं अनुपम जैन, दार्शनिक गणितज्ञ आ० यतिवृषभ, वही, पृ० १७-२४

२ लक्ष्मीचन्द्र जैन, संदर्भ-५, पृ. ६

३ अनुपम जैन एवं सुरेशचन्द्र अग्रवाल, जैन गणितीय साहित्य, अर्हत् वचन, इन्दौर, अंक १, १९८८, पृ. ३१

४ वही, पृ. २४-२५

५ वही, पृ. २४

६ वही, पृ. २८-२९ एवं कृ. शं. शुक्ला (सं.) आर्यभटीय-भाष्य, दिल्ली, १९७६, पृ. ५६ (इंट्रोडक्शन)

७ कृ. शं. शुक्ला, वही, पृ. ७ एवं ६७ एवं टी० ए० सरस्वती, ज्योमेट्री इन एंसिएंट एण्ड मेडियेवल इण्डिया, दिल्ली, १९७६, पृ० ६६

भी यहाँ गणित का विकास होता रहा जिसमें जैनाचार्यों का अमूल्य योगदान रहा। आवश्यकता इस बात की है कि शोधकर्त्ताओं एवं अध्येताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो, विभिन्न ग्रंथागारों में उपलब्ध पांडुलिपियों का अन्वेषण हो एवं बचे हुए

ग्रंथों का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन-मनन हो। तभी हम जैनाचार्यों की गणितीय उपलब्धियों का सही-सही मूल्यांकन कर सकेंगे तथा विश्व के समक्ष गणित के विकास में भारतीय अवदान का सही चित्र प्रस्तुत करने में सक्षम हो सकेंगे।

□□

(शेष पृष्ठ ३६८ का)

उपसंहार तथा कर्तव्य-निर्देश

वस्तुतः ऐसे स्तोत्रों की परम्परा अतिविस्तृत है। जिस प्रकार संस्कृत अलङ्कार शास्त्रों में चित्रालङ्कारों की क्रमशः उपेक्षा की गई उसी प्रकार जैनाचार्यों द्वारा निमित्त 'चित्रकाव्यात्मक स्तोत्रों' की भी पर्याप्त उपेक्षा हुई है। एक काल ऐसा अवश्य रहा होगा, जिस समय प्रत्येक स्तोत्रकार, भक्ति, दर्शन और विनय के साथ ही स्तोत्रों में शब्द-विन्यास की इस महनीय शैली का अनुसरण किए बिना अपनी कृति को पूर्ण नहीं मानने का आदी हो गया होगा! अब न तो वैसे विद्वान साधु-गण ही दिखाई देते हैं और न वैसे रचनाकार। सारस्य के मोह में पड़कर वैसे प्रौढ़ रचना करना हेय माना जा रहा है, यह दुर्भाग्य की बात है।

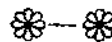
जैन-भाण्डागारों में ऐसे अनेक ग्रन्थ और प्रकीर्ण पत्र पड़े हुए हैं, जिनमें ऐसी विशिष्ट स्तुतियाँ लिखी हुई सुरक्षित हैं। कवित्व का प्रथम उन्मीलन स्तुति से ही होता है। सांसारिक प्राणी

तो स्तोत्र के अतिरिक्त रचना करके भी अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं किन्तु साधुजीवन को स्वीकार किए हुए मुनिगणों की तो एकमात्र वृत्ति होती है 'प्रभु कृपा-प्राप्ति'। अतः वे यदि कवि होते हैं तो अपनी वाणी को स्तुति-रचना द्वारा ही सार्थक करते हैं। रमणीयता के रूप को साकार बनाने के लिए नए-नए आयामों को अपनाते हैं तथा प्रौढ़-पाण्डित्य के निकषभूत चित्रालङ्कार-पूर्ण स्तुतियों की अभिनव सृष्टि करते हैं।

अतः विद्वज्जनों से हमारा यही निवेदन है कि—
सर्वाङ्गे मृदुलाऽपि यात्र यमक श्लेषादिभिः सन्धिषु,
प्रौढत्वेन बधाति यत् समुचितं काठिन्यमापाततः।
तद्दोषाय न मन्यतां बुधजनां! आस्ते तदावश्यकं,
लावण्येन सहैव सङ्घटनमप्यङ्गेषु काव्यश्रियः॥
गंवांप्पाश्चिररक्षणाय मनसा बद्धादरा धीयना—
स्तवत्वा मोहमवाप्तपुस्तकघनं संरक्ष्यतां यत्नतः।
तस्मिन् माऽस्तु मतिः कदासि विरसा विलण्टत्वदृष्टया वृथा,
क्लिष्ट-प्रावहृदो न किं सृतिमिता गङ्गा जगत्पावनी॥

□□

ब्रजमोहन बिड़ला शोध केन्द्र,
उज्जैन (म. प्र.)



□ डा. पुष्पलता जैन
प्राध्यापिका

एस. एफ. एस. कालेज, नागपुर

जैन भूगोल का व्यावहारिक पक्ष

समग्र भारतीय वाङ्मय की ओर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष निकालना अनैतिहासिक नहीं होगा कि उसका प्रारम्भिक रूप श्रुति परम्परा के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी गुजरता हुआ उस समय संकलित होकर सामने आया जबकि उसके आधार पर काफी साहित्य निर्मित हो चुका था। यह तथ्य वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों संस्कृतियों के प्राचीन पत्रों के उलटने से उद्घाटित होता है। ऐसी स्थिति में प्राचीन सूत्रों में अपनी आवश्यकता, परिस्थिति और सुविधा के अनुसार परिवर्तन और परिवर्धन होता ही रहा है। वेद, प्राकृत और जैन आगम तथा पालि त्रिपिटक साहित्य का विकास इस तथ्य का निदर्शन है।

इसी प्रकार यह तथ्य भी हमसे छिपा नहीं है कि तीनों संस्कृतियों ने अपने साहित्य में तत्कालीन प्रचलित लोककथाओं और लोकगाथाओं का अपने-अपने ढंग से उपयोग किया है। यही कारण है कि लोककथा साहित्य की शताधिक कथाएँ कुछ हेर-फेर के साथ तीनों संस्कृतियों के साहित्य में प्रयुक्त हुई हैं।

इन कथा सूत्रों के मूल उत्स को खोजना सरल नहीं है। किस सूत्र को किसने कहाँ से लेकर आत्मसात् किया है इसे निर्विवाद रूप से हल नहीं किया जा सकता। इसलिये यह मानकर चलना अधिक उचित होगा कि इस प्रकार के कथासूत्र लोककथाओं के अंग रहे होंगे जिनका उपयोग सभी धर्माचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की पृष्ठभूमि में किया है।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

जहाँ तक भौगोलिक मान्यता का प्रश्न है, यह विषय भी कम विवादास्पद नहीं। तीनों संस्कृतियों के भौगोलिक सिद्धान्तों का उत्स एक ही रहा होगा जिसे लगता है, कुछ परिवर्तन के साथ सभी ने अपने ढंग से विकसित कर लिया। इस संदर्भ में जब हम भारतीय भौगोलिक ज्ञान के ऊपर दृष्टिपात करते हैं तब हम उसके विकासात्मक स्वरूप को आठ प्रमुख युगों में विभाजित कर सकते हैं—

१. सिन्धु-सभ्यता काल (आदिकाल से लेकर १५०० ई० पू० तक)

२. वैदिक काल (१००० ई० पू० तक)

३. संहिता काल (१५०० ई० पू० तक)

४. उपनिषद् काल (१५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक)

५. रामायण-महाभारत काल (१६०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक)

६. बौद्ध काल (६०० ई० पू० से २०० ई० तक)

७. नया पौराणिक काल (२०० से ६०० ई० तक)

८. मध्यकाल (६०० ई० से लगभग १७वीं शताब्दी तक)

भारतीय भौगोलिक ज्ञान का यह काल विभाजन एक सामान्य दृष्टि से किया गया है। इन कालों में मूल भौगोलिक परम्परा का विकास सुनिश्चित रूप से हुआ है।

३७५

भूगोल (Geography) यूनानी भाषा के दो पदों Ge तथा grapho से मिलकर मिला है। ge का अर्थ पृथ्वी और Grapho का अर्थ वर्णन करना है। इस प्रकार Geography की परिधि में पृथ्वी का वर्णन किया जाता है।

भूगोल जिसे हम साधारणतः पौराणिकता के साथ जोड़ते चले आये हैं, आज हमारे सामने एक प्रगतिशील विज्ञान के रूप में खड़ा हो गया है। उसका उद्देश्य और अध्ययन काफी विस्तृत होता चला जा रहा है। उद्देश्य के रूप में उसने मानव की उन्नति और कल्याण के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है इसलिये आज वह अन्तर्वैज्ञानिक (Interdisciplinary) विषय बन गया है।

जैसे-जैसे भूगोल के अध्ययन का विकास होता गया विद्वानों ने उसे परिभाषाओं में बाँधने का प्रयत्न किया है। ऐसे विद्वानों में एकरमेन, ल्यूकरमेन, यीट्स, रिट्टर, हेटलर आदि विद्वान प्रमुख हैं जिनकी परिभाषाओं के आधार पर भूगोल की निम्नलिखित परिभाषा प्रस्तुत की जाती है—'भूगोल वह विज्ञान है जो पृथ्वी का अध्ययन तथा वर्णन मानवीय संसार या मानवीय निवासके रूप में (१) क्षेत्रों या स्थानों की विशेषताओं (२) क्षेत्रीय विविधताओं तथा (३) स्थानीय सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में करता है। इस प्रकार भूगोल पृथ्वी पर वितरणों का विज्ञान (Science of distribution on Earth) है।

इस परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है, भूगोल की अध्ययन सीमा में पृथ्वीतल का अध्ययन प्रमुख है। इस कथ्य में चार तथ्य सम्मिलित है—

- (१) पृथ्वीतल पर समस्त थल खण्डों और महासागरों के तल।
- (२) पृथ्वीतल से थोड़ी गहराई तक का सीधा प्रभावकारी पर्त।
- (३) वायुमण्डल, विशेषतः वायुमण्डल का

निचला पर्त, जिसमें ऋतु, जलवायु की विभिन्नताएँ होती हैं।

(४) पृथ्वी के सौर सम्बन्ध।

पृथ्वी को केन्द्र में रखकर जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका, सोवियत संघ आदि देशों में काफी शोध हुए हैं और हो रहे हैं। वहाँ के विद्वानों की भौगोलिक विचारधाराओं को हम एक-दूसरे की परिपूरकता के सन्दर्भ में समझ सकते हैं। उनके अध्ययन में दो पक्ष उभरकर सामने आते हैं—

१. वातावरण और परिस्थिति विज्ञान

२. प्रादेशिक विभिन्नताएँ और मानवीय प्रगति तथा कल्याण में असमानताएँ और असन्तुलन।

इस सन्दर्भ में जब हम प्राचीन भूगोल और अर्वाचीन भूगोल की समीक्षा करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भूगोल कतिपय लोकाख्यानों पर आधारित रहा है और आधुनिक भूगोल वैज्ञानिक तथ्यों पर अवलम्बित है जहाँ मानवीय साधनों की क्षमता और योग्यता पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन भूगोल आर्थिक प्रगति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखता, जबकि आधुनिक भूगोल का तो यह केन्द्रीय तत्व ही है इसलिये आधुनिक भूगोल को व्यावहारिक भूगोल (Applied Geography) कहा जाने लगा है। इसमें मुख्य रूप से—१. समूह व्यवहार—(Group behaviour) तथा व्यावहारिक क्षेत्र में मानसिक समायोजन जैसे तत्वों पर विशेष विचार किया जाता है।

प्रारम्भ से ही भूगोल का उद्देश्य और उपयोग व्यक्ति और समाज का हित-साधन रहा है। चाहे वह आध्यात्मिक रहा हो या लौकिक। आधुनिक व्यावहारिक भूगोल में आध्यात्मिक दृष्टि का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसलिए व्यावहारिक भूगोल की परिभाषा साधारण तौर पर इस प्रकार की जाती है—“समाज की आवश्यकताओं की पूर्तियों के लिए भौगोलिक वातावरण के समस्त संसाधनों को विवेकपूर्वक करने के लिए भौगोलिक आचार

विचार ज्ञान पद्धतियों एवं तकनीकों का व्यावहारिक उपयोग ही व्यावहारिक भूगोल है ।”

इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक भूगोल का उपयोग समाज के हित के लिए किया जाता है और इसीलिए इसके अध्ययन की परिधि में मानव, स्थान तथा संसाधन का अध्ययन आता है । इसे हम निम्नलिखित वर्गीकरण के माध्यम से समझ सकते हैं—

१. भौतिक अध्ययन—भू-आकृति, जलवायु, समुद्री विज्ञान आदि इसके अन्तर्गत आता है ।

२. आर्थिक अध्ययन—इसमें कृषि, औद्योगिक, व्यापार, यातायात, पर्यटन आता है ।

३. सामाजिक, सांस्कृतिक अध्ययन—इसमें जनसंख्या, अधिवास, बस्ती, नगरीय, राजनीतिक, प्रादेशिक, सैनिक आदि का अध्ययन होता है ।

४. अन्य शाखाएँ—जीव (वनस्पति), चिकित्सा, मोन चित्रकला आदि का अध्ययन होता है ।

जैन भूगोल यद्यपि पौराणिकता को लिए हुए है, फिर भी उसका यदि हम वर्गीकरण करें तो हम व्यावहारिक भूगोल के उपर्युक्त अध्ययन प्रकरणों से सम्बद्ध सामग्री को आसानी से खोज सकते हैं । इस दृष्टि से यह एक स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध का विषय है ।

जैसा हमने पहले कहा है जैन भूगोल प्रश्न-चिन्हों से दब गया है । आधुनिक भूगोल से वह निश्चित ही समग्र रूप से मेल नहीं खाता, इसका तात्पर्य यह नहीं कि जैन भूगोल का समूचा विषय अध्ययन और उपयोगिता के बाहर है । इस परिस्थिति में हमारा अध्ययन वस्तुपरकता की मांग करता है । आगमिक श्रद्धा को वैज्ञानिक अन्वेषणों के साथ यदि हम पूरी तरह से न जोड़ें और तब तक रुक जाएँ, जब तक उन्हें वैज्ञानिक स्वीकार न कर लें तो हम उन्मुक्त मन से दोनों पहलुओं को और उनके आयामों को अपने परिधि के भीतर रख सकते हैं ।

पंचम खण्ड : जन साहित्य और इतिहास

जम्बूद्वीप तीनों संस्कृतियों में स्वीकार किया गया है । भले ही उसकी सीमा के विषय में विवाद रहा है । जैन संस्कृति में तो इसका वर्णन कितने अधिक विस्तार से मिलता है जितना जैनेतर साहित्य में नहीं मिलता । पर्वत, गुफा, नदी, वृक्ष, अरण्य, देश, नगर आदि का वर्णन पाठक को हैरान कर देता है । इसका प्रथम वर्णन ठाणांग और सम-वायांग में मिलता है । इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति और चन्द्र प्रज्ञप्ति की रचना हुई है । इन सभी ग्रन्थों को हम लगभग ५वीं शताब्दी की रचना कह सकते हैं । आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति भी इसी समय के आसपास की रचना होनी चाहिए । श्री पं० फूल-चन्द सिद्धान्तशास्त्री इस रचना को वि. सं. ८७३ के बाद की रचना मानते हैं । जबकि श्री पं० जुगल-किशोर मुस्तार उसे ईसवी सन् के आसपास रखने का प्रयत्न करते हैं ।

जम्बूद्वीप जैन संस्कृति में समस्त पृथ्वी अर्थात् मध्यलोक का नामांतरण है जिसे सात क्षेत्रों में विभक्त किया गया है । इसके सारे सन्दर्भों को रखने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, पर इतना अवश्य है कि पर्वत, नदी, नगर, आदि की जो स्थितियाँ करणानुयोग में वर्णित हैं उन्हें आधुनिक भूगोल के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न किया जाए । उदाहरण के तौर पर जम्बूद्वीप को यूरेशिया खण्ड से यदि पहचाना जाए तो शायद उसकी अवस्थिति किसी सीमा तक स्वीकार की जा सकती है । इसी तरह सुमेरु को पामेर की पर्वत श्रेणियों के साथ किसी सीमा तक रखा जा सकता है । हिमवान को हिमालय, निषध को हिन्दुकुश, नील को अलाई नाम, शिखरी को सायान से मिलाया जा सकता है । रम्यक की मध्य एशिया या दक्षिणी पश्चिमी की सीक्यांग से, हैरष्यवत् की उत्तरी सीक्यांग से, उत्तरकुरु की रूस तथा साइबेरिया से

(शेष पृष्ठ ३८२ पर)

३७७

□ श्री सौभाग्य मुनिजी 'कुमुद'
(श्रमण संघीय महामन्त्री)

भगवती सूत्र में परामनोविज्ञान एवं पराशक्तियों के तत्त्व

मानव मन ज्ञात, अज्ञात, असंख्य अनन्त संवेदनाओं का समूह-सा है, प्रतिक्षण उसमें संवेदना तरंग तरंगित होती रहती है। हम प्रत्यक्ष में जो अनुभव करते हैं वह मानसिक संवेदनाओं का ही प्राकट्य है। किन्तु यह तो उसकी अनुभवित संवेदनाओं का न्यूनातिन्यून भाग है। जो अप्रकट तथा असंवि-त है, वह तो अपार है।

विश्व में अनेक प्राकृत रचनाएँ बड़ी जटिल हैं जिन्हें समझना मानव के लिए बड़ा कठिन है। उन सभी दुरूह जटिल रचनाओं में मानव का मन जटिलतम पदार्थ है इसका अध्ययन कठिन ही नहीं कठिनतम है।

मनोविज्ञान, मानसविज्ञान, लेश्या अंकन, मन-संवि-त, संज्ञासंज्ञान ये सारे शब्द व्याख्या की कुछ-कुछ भिन्नता के साथ एक ही विषय को अभिव्यक्त करते हैं।

मानव मन की जटिलतम गुत्थी को ज्यों-ज्यों सुलझाया गया, प्रायः देखा गया है कि उसके आर-पार अनेकानेक नवीन विशेषताएँ उद्घाटित होती रहीं। अपरा-परा अनेक शक्तियों का उसमें खजाना खुलता गया।

मानस की परा-अपरा शक्तियों को समझने-परखने और उन्हें उद्घाटित करने का प्रयत्न वैज्ञानिक युग में ही सम्भव हो सका, ऐसा सोचना कूप-मंडूकता होगी। भारत ही नहीं विश्व-भर में जहाँ-जहाँ मानवीय सभ्यता का तनिक भी उत्थान हुआ

मानस अध्ययन का क्रम भी वहाँ प्रचलित हुआ और मानवीय सभ्यता के चरम विकास में यह भी अपनी चरम योग्यता के साथ उपस्थित रहा।

शास्त्र, ग्रन्थ, शिलालेख एवं पुरातत्त्व से सम्बन्धित वस्तुओं से हमें अपनी प्राचीन सभ्यताओं के प्रमाण मिलते हैं। श्रीमद् भगवती सूत्र श्रमण संस्कृति का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ-राज है। भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित तत्त्व जो सुधर्म स्वामी के द्वारा सूचित किये गये हैं। इसमें बड़ी संख्या में उपलब्ध है। जीव और जगत सम्बन्धी हजारों विषयों पर कहीं संक्षिप्त, कहीं विस्तृत प्रकाश डाला गया है यही कारण है कि जैन वाङ्मय में इस ग्रन्थ-राज का अप्रतिम स्थान है।

प्रश्न और उत्तर के रूप में हजारों प्रज्ञप्तियाँ इसमें संकलित हैं। इस सूत्र-राज में परामनोविज्ञान से सम्बन्धित अनेक ऐसे संकेत सूत्र और व्याख्या सूत्र हैं, जिनका आधुनिक शैली से विश्लेषण करने से परामनोविज्ञान के अनेक तथ्य उद्घाटित हो सकते हैं। इस क्षेत्र के विद्वानों का इस तरफ ध्यान आकर्षित करने के लिए यहाँ हम उन संकेत सूत्रों में से कतिपय सूत्र उपस्थित करते हैं।

परभविक ज्ञान

१—गौतम स्वामी भगवान् महावीर से एक बार प्रश्न करते हैं कि प्रभु! ज्ञान इहभविक है, परभविक है, या तदृभयभविक है ?

उत्तर में भगवान् महावीर कहते हैं कि

गौतम ! ज्ञान इहभविक भी है परभविक भा है और तदुभयभविक भी है ?^१

इस सूत्र से परभविक ज्ञान के अस्तित्व की स्पष्ट स्वीकृति है। परभविक ज्ञान उसे कहते हैं जो मृत्यु के बाद नये जीवन में भी साथ रहे। इससे एक जन्म में पूर्वजन्मों की स्मृति होना सिद्ध होता है।

भविष्य की बात जान लेना

२—भगवान महावीर गौतम को कहते हैं गौतम ! आज तुम अपने पूर्वभव के साथी से मिलोगे ?

भगवान ! मैं आज किस साथी से मिलूंगा ?

भगवान ने कहा—तू स्कंद परिव्राजक से मिलेगा।

फिर गौतम पूछते हैं कि क्या वह आपके पास दीक्षित होगा ?

भगवान महावीर ने इसका उत्तर स्वीकृति में दिया।^२

परोक्ष को प्रत्यक्ष जानना-देखना

निर्ग्रन्थ मुनि के एकाग्रतापूर्वक ज्ञान करने के एक प्रश्न के उत्तर में भ. महावीर ने कहा कि कभी वह वृक्ष के बाह्य को ज्ञात कर लेता है, देखता है किन्तु अन्तर् को न ज्ञात कर पाता है और न देख पाता है। कभी बाह्य को ज्ञात नहीं कर पाता किन्तु अन्तर् को ज्ञात भी कर लेता है और देख भी लेता है।

कभी ऐसा होता है कि न बाह्य और न अन्तर् को ज्ञात कर पाता है, न देख ही पाता है किन्तु कभी दोनों को देख भी लेता है और जान भी लेता है।^३

तप आदि विशिष्ट साधना करने वाले मुनि को कुछ ऐसी परामानस शक्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं कि वे मुनि उनसे परोक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष जान व

देख सकते हैं। ऐसा संसूचन उपर्युक्त सूत्र से उपलब्ध है।

पराशक्तियाँ

एक प्रश्न के उत्तर में यह भी स्पष्ट हुआ कि तप संयम के साधक मुनि अपूर्व बलशाली और शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं, वे बाह्य अणु परमाणुओं को ग्रहण कर न केवल अपने अनेक रूप बना सकते हैं अपितु वे दुर्लभ्य पदार्थों को भी लांघ जाते हैं ऐसा वे वैक्रिय नामक पराशक्ति से करते हैं।^४

वैक्रिय नामक पराशक्ति से सम्पन्न मुनि के द्वारा ऐसे और भी अनेक विलक्षण कार्य सम्पन्न हो सकने के उल्लेख इसी क्रम में उपलब्ध होते हैं।

मानस प्रश्न और समाधान

दो देवों ने मन में ही भ. महावीर को प्रश्न किया कि आपके कितने मुनि सिद्ध होंगे। भ. महावीर ने उस मानस प्रश्न का मानस उत्तर देते हुये कहा—मेरे ७०० शिष्य सिद्ध होंगे।^५

ये मानसिक प्रश्नोत्तर मन की अद्भुत विशेषताओं का परिचय देते हैं।

पुनर्जन्म का स्मरण

श्रावक सुदर्शन को भ. महावीर ने धर्मोपदेश दिया उसे श्रवण कर वह अत्यन्त हर्षित हुआ तथा पवित्र अध्यवसाययुक्त हुआ तभी उसे "सण्णी पुव्व जाईसरणो समुप्पन्ने" अर्थात् अपने पूर्व संज्ञी जन्म को स्मृत करने वाला ज्ञान उत्पन्न हुआ।

सुदर्शन गृहस्थ मानव था फिर भी उसको अपने अध्यवसाय के निरन्तर विकास से पूर्व-जन्म की स्मृति हो गई यह एक महत्वपूर्ण बात है।

पूर्व-जन्म के अनेक उदाहरण गत कुछ वर्षों में प्राप्त हुए उनका वैज्ञानिक प्रविधियों से अंकन भी हुआ किन्तु इस प्रश्न की चुनौती अभी तक ज्यों की

१. भगवती सूत्र शतक १ उद्देशक सूत्र क्रम ५४

२. भगवती सूत्र शतक ३ उद्देशक ४

३. भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशक ४

२. भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक १

४. भगवती सूत्र शतक ३ उद्देशक ५

त्यों बनी हुई है। इतना ही नहीं इस क्षेत्र में वैज्ञानिकों ने जितना अध्ययन किया उससे अनेक ऐसे नये प्रश्न खड़े हो गये कि जिनका समाधान मिलना और दुश्वार हो गया है।

अब तक प्राप्त पुनर्जन्म के प्रकरणों में अधिकांश ऐसे ही प्रकरण हैं जिनके पात्र बालक या बालिका हैं। जो बड़ी उम्र के नहीं हो गये हैं ऐसे बच्चों में पूर्व-जन्म की स्मृति जन्म से ही सतत बनो रही, अभिव्यक्ति का सामर्थ्य आने पर उसने प्रकट की। अभी ऐसा उदाहरण एक भी नहीं मिल पाया कि कोई बड़ी उम्र का व्यक्ति अपने मानस क्रम को विकसित कर पूर्व-जन्म स्मृति का पात्र बना हो।

यहाँ सुदर्शन का जो प्रसंग उपस्थित किया गया है इसकी यह विशेषता है कि यह एक बड़ो उम्र का गृहस्थ था। साथ ही पहले पूर्व-जन्म स्मृति से शून्य था किन्तु किसी विशेष अवसर पर वह अपना मानस क्रम इतना विकसित कर पाया कि वह उस उम्र में भी पूर्व-जन्म की स्मृति का पात्र बन गया।

यद्यपि इस घटना का शास्त्रोक्त उल्लेख के अलावा कोई चिन्ह उपस्थित नहीं है फिर भी इस घटना से इतना तो संसूचन हो ही जाता है कि मानव का मानस क्रम यदि विकसित हो सके तो उसमें अनेकानेक आश्चर्यजनक संज्ञप्तियों की अपार सम्भावनाएँ उपलब्ध हैं।

परभाव ज्ञप्ति

बहुत दूर रहते हुए व्यक्ति के विचारों को जान लेना मानस की एक ऐसी प्रतिभा है जिस पर आम व्यक्ति प्रायः विश्वास नहीं किया करते किन्तु यह एक ऐसा सत्य है जो युगों-युगों से प्रकट होता रहा है। वीतिभय नगर का राजा उदायन अपनी पीषध आराधना में स्थित है और अपने भाव बनाता है कि भगवान् महावीर प्रभु यहाँ पधारें तो मैं उनकी उपासना करूँ।

भगवान् महावीर उस समय चम्पा नगर के बाहर पूर्णभद्र उद्यान में विराजित थे। उन्होंने वहीं उदायन के विचारों को जान लिया और वहाँ से लम्बे भूखण्ड को पार कर वीतिभय पत्रारे। उदायन ने भगवान् महावीर का बड़ा सम्मान किया, उनका उपदेश सुना और उनके पास दीक्षित हो गया, मुनि बन गया।^१

प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्ति के विचारों को जानने-समझने का प्रयत्न प्रायः करता ही है। कुछ ऐसे संकेत भी मानव पकड़ लेता है जिससे सामने वाले या दूरस्थ व्यक्ति के विचारों का वह जान सके और कई बार उसका जाना हुआ सच भी सिद्ध होता देखा गया है तो इससे यह तो सिद्ध है कि व्यक्ति का मन परभाव ज्ञप्ति की एक शक्ति अपने आप में रखता अवश्य है। यह एक अलग बात है कि कुछ व्यक्तियों में यह शक्ति प्रसुप्त रहती है तो कुछ व्यक्ति इसे जाग्रत कर लेते हैं। मानस शक्ति जागरण के भी अनेक स्तर हैं। कुछ अमुक स्तर तक ही अपने में जागृति पा सकते हैं, तो कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें पूर्ण जागृति विकसित हो चुकी हो। परभाव ज्ञप्ति के हजारों उदाहरण प्रायः सभी धर्मग्रन्थों में पाये जाते हैं, उनकी सम्यक् समीक्षा होनी चाहिए।

यह निश्चित तथ्य है कि मानव मन में निश्चय ही ऐसी पराशक्तियाँ विद्यमान हैं जो सामान्यतया कल्पनातीत हैं। ग्रन्थों आख्यानों से इस विषय की जितनी भी सामग्री उपलब्ध है उस सभी का व्यवस्थित संकलन होकर उनकी गम्भीर समीक्षा हो तो इस विषय में अनेक अनुद्घाटित तथ्य प्रकाशित हो सकते हैं।

ज्वलनशील पराशक्ति—

श्रीमद् भगवती सूत्र के गोपालक आख्यान में तेजोलेश्या का एक ऐसा अद्भुत प्रसंग है जिसे पढ़कर चेतना की एक ऐसी पराशक्ति का परिचय

१ भगवती सूत्र शतक १३ उद्देशक ६

मिलता है जो सचमुच आश्चर्यजनक है। गोशालक एक तपस्वी वेश्यायन को देखकर उसे तिरस्कृत करता है, यह तपस्वी गोशालक पर कुपित होता है और उस पर एक ऐसा तेज फेंकता है जो ज्वलनशील है। गोशालक जल ही जाता उस तेज से किन्तु भगवान् महावीर उस पर करुणा कर तत्काल शीतल तेज प्रकट करते हैं और वह शीतल तेज उस उष्ण तेज को नष्ट कर देता है। गोशालक बच जाता है। शास्त्रीय भाषा में 'उष्ण तेज को तेजोलेष्या कहा है तथा शीतल तेज को 'शीतल तेजोलेष्या' कहा है।¹

प्रस्तुत प्रसंग में 'तेजोलेष्या' जिसे कहा गया वह तपस्वी के शरीर से बाहर प्रकट हुई है, इसी तरह 'शीत तेजोलेष्या' भी भगवान् महावीर के देह से बाहर आई है।

चेतना की यह तेजोमय पराशक्ति नितान्त अद्भुत और आश्चर्यजनक है। इसी आख्यान में तेजस्वी पराशक्ति 'तेजोलेष्या' को अपने में उपलब्ध करने का उपाय भी प्राप्त होता है। उपाय स्वरूप जो बताया गया वह एक उग्र किन्तु कठोर तप है और उसके साथ सूर्य ताप को निरन्तर सहते हुए छह माह साधना करने का विधान है। सूत्रगत यह आख्यान इतना तो स्पष्ट करता ही है कि चेतना एक ऐसा शक्ति का केन्द्र है जिसमें शक्ति का अपार कोष निहित है उन शक्तियों को विशिष्ट प्रयोगों से प्रकट भी किया जा सकता है।

एक में अनेक रूप पराशक्ति

भ० महावीर के सामने एक प्रश्न आया कि क्या चौदह पूर्वधर मुनि एक षडे में से हजार षडे दिखा सकते हैं? समाधान देते हुए भ० महावीर ने कहा कि हाँ ऐसा वे कर सकते हैं। जब प्रतिप्रश्न हुआ कि ऐसा कैसे हो सकता है, तो समाधान था कि चौदह पूर्वधर "उत्कारिका भेद" द्वारा भिन्न अनन्त द्रव्यों को प्राप्त करते हैं। और उनसे ही वे ऐसा कर सकते हैं।²

इस प्रकरण में "उत्कारिका" रूप विशिष्ट पराशक्ति विचारणीय विषय है।

तीव्रगति गमन पराशक्ति

भगवती सूत्र के बीसवें शतक के २६वें उद्देशक में चारण मुनियों की तीव्रगति का विषय व्याख्यायित हुआ है। विद्या चारण एवं जंघा चारण दो तरह के चारण मुनि होते हैं और उनकी गगनगामिनी शक्ति आश्चर्यजनक होती है वे एक चुटकी लगाने जितने थोड़े से समय में जम्बूद्वीप के चारों तरफ चक्कर लगा आते हैं। यह अद्भुत पराशक्ति भी मुनि को विशेष तप साधना से ही प्राप्त होती है। ऐसा विधान है।

इस तरह भगवती सूत्र में परामनोविज्ञान और पराशक्तियों के अनेक उल्लेख उपस्थित हैं। यद्यपि ऐसे उल्लेख प्रथम दृष्टया आश्चर्यजनक तथा अतिरंजित प्रतीत होते हैं किन्तु यह अपनी स्थूलग्राही दृष्टि का ही परिणाम है। जीवन में निहित अनन्त सम्भावनाओं के सन्दर्भ में यदि ये तथ्य देखे जाएँ तो ये कदापि असम्भव नहीं होंगे। आज जीवन की पराशक्तियों को तर्कप्रधान विज्ञान ने न केवल स्वीकार किया इस क्षेत्र को शोध का विषय भी बनाया है।

अभी अमेरिका आदि अनेक यूरोपियन देशों ने और भारत में पराशक्तियों पर अनुसन्धान चल रहे हैं। श्री अम्बागुरु शोध संस्थान ने भी अपना एक उपक्रम इस दिशा में स्थापित किया है। परा-क्षेत्र में ज्यों-ज्यों वैज्ञानिकों की पैठ हो रही है, त्यों-त्यों अनेक अज्ञात रहस्य हस्तामलकवत् निःसंशय और प्रत्यक्ष होते जा रहे हैं।

यहाँ हमने मात्र भगवती सूत्र से प्राप्त कतिपय परा-प्रसंग उपस्थित किये हैं, इसी ग्रन्थ में और भी अनेक परा-संसूचक वृत्त उपस्थित हैं, ऐसे ही जैन वाङ्मय के सूत्रों ग्रन्थों जीवन वृत्तों में और भी अनेक घटनाएँ उल्लिखित हैं। आयों की आत्मा सम्बन्धी विचार पद्धति में आत्मा को अनन्त शक्ति-

१ भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशक ४

२ भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशक ४

मान द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है जीवन आत्मा का परिणमन ही है इसमें पुरुषार्थ एवं क्षयो-पशम की विचित्रता से अनेकानेक आश्चर्यजनक परिणाम भी होते रहते हैं। वे परिणमन आत्म-शक्ति के उद्भव-पराभव के परिणामस्वरूप हैं। जीवन का व्यक्त अंश अत्यन्त अल्प है अव्यक्त तो

अपार है। परा-मनोविज्ञान और पराशोध उन्हीं विषयों को खोलने का प्रयत्न कर रहा है।

आशा है वैज्ञानिकों का यह प्रयास भविष्य में जीवन के ऐसे अद्भुत किन्तु परम सत्य तथ्य प्रकाश में ला सकेगा जो प्रत्येक जीवन में शाश्वत स्वधर्म रूप निर्बाध रूप से स्थित हैं।



(शेष पृष्ठ ३७७ का)

तुलना की जाए तो संभव है हम इन स्थलों की पहचान कर सकते हैं। इसी प्रकार और स्थलों की भी तुलना करना उपयोगी होगा।

इस प्रकार जैन भूगोल को आधुनिक भूगोल के व्यावहारिक पक्ष के साथ रखकर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जैन भूगोल का समूचा पक्ष कोरा बकवास नहीं है। उसके पारिभाषिक शब्दों को आधुनिक सन्दर्भों के साथ यदि मिलाकर समझने की कोशिश की जाए तो संभव है कि हम काफी भीमा तक जैन भौगोलिक परम्परा को आत्मसात् कर सकेंगे।

इस सन्दर्भ में यह दृष्टव्य है कि जैनाचार्यों ने भूगोल को इतना प्रमुख विषय नहीं बनाया। परन्तु देश, नगर, पर्वत आदि का वर्णन करते हुए समय, जलवायु, आकृति आदि का वर्णन अवश्य किया है। उन्होंने कृषि, उद्योग, व्यापार आदि का भी सुन्दर

चित्रण किया है, साथ ही सांस्कृतिक परम्पराओं का भी मूल्यांकन किया है। इन सारे सन्दर्भों को यदि वैज्ञानिक रीति से संकलित किया जाए तो निश्चित ही व्यावहारिक भूगोल की सुन्दर रूपरेखा हमारे समक्ष प्रस्तुत हो सकती है। यहाँ शोधकों को भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। कवियों ने राजाओं, नदियों, पर्वतों और नगरों आदि के अभिलेखों का भी अनुवाद कर दिया है, जिससे उनके यथार्थ नामों का पता करना दुष्कर हो गया है। इसी तरह संख्या आदि के समय अतिशयोक्ति का उपयोग किया जाता है जिससे साधारण पाठकों का विश्वास डगमगाने लगता है। इन सारे सन्दर्भों का समाधान खोजते हुए व्यावहारिक भूगोल की संरचना की जाना आवश्यक है।

—न्यू एक्सटेंशन एरिया, सबर, नागपुर



डॉ. हरीन्द्र भूषण जैन
अनेकान्त शोध पीठ
(बाडवली-उज्जैन)

जम्बूद्वीप और आधुनिक भौगोलिक-

मान्यताओं का तुलनात्मक विवेचन

(१) जम्बूद्वीप-वैदिक मान्यता

वैदिक लोगों को जम्बूद्वीप का ज्ञान नहीं था। उस समय की भौगोलिक सीमाएँ निम्न प्रकार थीं—पूर्व की ओर ब्रह्मपुत्र नदी तक गंगा का मैदान, उत्तर-पश्चिम की ओर हिन्दुकुश पर्वत, पश्चिम की ओर सिन्धु नदी, उत्तर की ओर हिमालय तथा दक्षिण की ओर विन्ध्यगिरि।

वेद में पर्वत विशेष के नामों में “हिमवन्त” (हिमालय) का नाम आता है। तैत्तिरीय आरण्यक (१।७) में “महामेरु” का स्पष्ट उल्लेख है जिसे कश्यप नामक अष्टम सूर्य कभी नहीं छोड़ता, प्रत्युत सदा उसकी परिक्रमा करता रहता है। इस उल्लेख से प्रो० बलदेव उपाध्याय^१ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि महामेरु से अभिप्राय “उत्तरी ध्रुव” है।

वेदों में समुद्र शब्द का उल्लेख है, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के मत में वैदिक लोग समुद्र से परिचित नहीं थे। भारतीय विद्वानों की दृष्टि में आर्य लोग न केवल समुद्र से ही अच्छी तरह परिचित थे अपितु समुद्र से उत्पन्न मुक्ता आदि पदार्थों का भी वे उपयोग करते थे। वे समुद्र में लम्बी-लम्बी

यात्राएँ भी करते थे तथा सौ दाहों वाली लम्बी जहाज बना लेने की विद्या से भी परिचित थे।^२

ऐतरेय ब्राह्मण (८/३) में आर्य मण्डल को पांच भागों में विभक्त किया गया है जिसमें उत्तर हिमालय के उस पार उत्तर कुरु और उत्तरमद्र नामक जनपदों की स्थिति थी। ऐतरेय ब्राह्मण (८/१४) के अनुसार कुछ कुरु लोग हिमालय के उत्तर की ओर भी रहते थे जिसे ‘उत्तर कुरु’ कहा गया है।^३

(२) जम्बूद्वीप—रामायण एवं महाभारतकालीन मान्यता

रामायणीय भूगोल—वाल्मीकि रामायण के बाल, अयोध्या एवं उत्तर काण्डों में पर्याप्त भौगोलिक वर्णन उपलब्ध है, किन्तु किष्किन्धाकाण्ड के ४०वें सर्ग से ४३वें सर्ग तक सुग्रीव द्वारा सीता की खोज में समस्त वानर-नेताओं को वानर-सेना के साथ सम्पूर्ण दिशाओं में भेजने के प्रसंग में तत्कालीन समस्त पृथ्वी का वर्णन उपलब्ध है।

वाल्मीकि ऋषि जम्बूद्वीप, मेरु तथा हिमवान् पर्वत एवं उत्तरकुरु से सुपरिचित थे—

१. प्रो० बलदेव उपाध्याय, ‘वैदिक साहित्य और संस्कृति’, शारदा मन्दिर काशी, १९२५, दशम परिच्छेद, “वैदिक भूगोल तथा आर्य निवास”, पृष्ठ ३५५।

२. वही, पृष्ठ ३६२।

३. वही, पृष्ठ ३६४।

‘उत्तरेण परिक्रम्य जम्बूद्वीपं दिवाकरः ।
देश्यो भवति भूमिष्ठं शिखरं तन्महोच्छ्रमम् ।

—(रामा. ४/४०/५८/५९)

‘तेषां मध्ये स्थितौ राजा मेरुस्तमपर्वतः ।’

—(रामा. ४/४२/३८)

‘अन्वीक्ष्य परदाश्चैव हिमवन्तं विचिन्वय’

—(रामा. ४-४३-१२)

‘उत्तराः कुरुवस्तत्र कृतपुण्यपरिश्रमाः ।’

—(रामा. ४-४३-२८)

जैन परम्परा में उत्तरकुरु को भोगभूमि कहा गया है। रामायण के तिलक टीकाकार भी उत्तरकुरु को भोगभूमि कहते हैं—

‘तत आरम्य उत्तरकुरुदेशस्य भोगभूमित्वकथनम्’

—(रामा० ४-४३-३८ पर तिलक टीका)

जैन साहित्य में भोगभूमि का जैसा वर्णन प्राप्त होता है वैसा ही वर्णन उत्तरकुरु का रामायण के बाईस श्लोकों (४-४३-३८ से ६०) में उपलब्ध है। उनमें से कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

‘नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्रस्याकुलाः ।

विन्यमन्धरसस्पर्शाः सर्वकामान् स्रवन्ति च ॥

नानाकराणि वासांसि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।

सर्वे सुकृतमार्गाः सर्वे रतिपररयणाः ।

सर्वे कामार्थसहिता वसन्ति सहयोषितः ॥

तत्र नामुदितः कश्चिन्मात्र कश्चिदातिप्रियः ।

अहन्यहविवर्धन्ते गुणास्तत्र मनोरमाः ॥

—(रामा. ४-४३, ४३-५२)

प्रो० ए० एम० अली, भूतपूर्व अध्यक्ष, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, रामायणीय—जम्बूद्वीप की स्थिति पृथ्वी के बीच में मानते हैं जो कि भूगोल की जैन परम्परा से पर्याप्त मेल खाती है।^१

रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में जम्बूद्वीप का जो वर्णन उपलब्ध होता है वह इस प्रकार है—

१ श्री ए० एम० अली एफ० एन० आद्य० ‘दि ज्यायफी आफ दि पुरान्स,’ पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७३, पृष्ठ २१—२३। (संक्षिप्त रूप—‘जियो० आफ पुराणास’)।

जम्बूद्वीप की पूर्व दिशा में क्रमशः भागीरथी, सरयू आदि नदियाँ, ब्रह्ममाल, विदेह, मगध आदि देश तत्पश्चात् लवणसमुद्र, यवद्वीप (जावा), सुवर्णरूप्यक द्वीप (बोर्नियो), शिशिर पर्वत, शोणनद, लोहित समुद्र, कूटशाल्मली, क्षीरोदसागर, ऋषभपर्वत, सुदर्शन तडाग, जलीद-सागर, कनकप्रभ पर्वत, उदय पर्वत तथा सोमनस पर्वत। इसके पश्चात् पूर्व दिशा अगम्य है। अन्त में देवलोक है।

जम्बूद्वीप के दक्षिण दिशा में क्रमशः विन्ध्यपर्वत नर्मदा, गोदावरी आदि नदियाँ, मेखल, उत्पल, दशार्ण, अवन्ती, विदर्भ, आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य, केरल आदि देश, मलय पर्वत, ताम्रपर्णी नदी, महानदी, महेन्द्र, पुष्पितक, सूर्यवान्, वैद्युत एवं कुमार नामक पर्वत, भोगवती नगरी, ऋषभ पर्वत, तत्पश्चात् यम की राजधानी पितृलोक।

जम्बूद्वीप के पश्चिम में क्रमशः सौराष्ट्र, बाह्लीक, चन्द्रचित्र (जनपद), पश्चिम समुद्र, सोमगिरि, पारिमाल, वज्रमहागिरि, चक्रवात तथा वराह (पर्वत) प्राग्ज्योतिषपुर, सर्व सौवर्ण, मेरु एवं अस्ताचल (पर्वत) और अन्त में वरुण लोक।

इसी प्रकार जम्बूद्वीप के उत्तर में क्रमशः हिमवात् (पर्वत) भरत, कुरु, भद्र, कम्बोज, यवन, शक (देश), काल, सुदर्शन, देवसखा, कैलास, क्रौंच, मैनाक (पर्वत), उत्तरकुरु देश तथा सोमगिरि और अस्त में ब्रह्मलोक।

महाभारतीय भूगोल—महाभारत के भीष्म आदि, सभा, वन, अश्वमेध एवं उद्योग पर्वों में भारत का भौगोलिक वर्णन उपलब्ध है। तदनुसार जम्बूद्वीप और क्रौंच द्वीप मेरु के पूर्व में तथा शक द्वीप मेरु के उत्तर में है।

महाभारतीय भूगोल में पृथ्वी के मध्य में मेरु पर्वत है। इसकी उत्तर दिशा में पूर्व से पश्चिम तक

फँले क्रमशः भद्रवर्ष, इलावर्ष तथा उत्तरकुरु हैं। तत्पश्चात् पुनः उत्तर की ओर क्रमशः नील पर्वत, श्वेत वर्ष, श्वेत पर्वत, हिरण्यक वर्ष, शृंगवान् पर्वत है। पश्चात् ऐरावत वर्ष और श्रीर समुद्र है। इसी प्रकार मेरु के दक्षिण में पश्चिम से पूर्व तक फँले हुए केतुमाल वर्ष एवं जम्बूद्वीप हैं। पश्चात् पुनः दक्षिण की ओर क्रमशः निषध पर्वत, हरिवर्ष, हेमकूट या कैलाश, हिमवतवर्ष, हिमालय पर्वत, भारतवर्ष तथा लवण समुद्र है।^१ यह वर्णन जैन भौगोलिक परम्परा के बहुत निकट है।

(३) जम्बूद्वीप—पौराणिक मान्यता

प्रायः समस्त हिन्दू पुराणों में पृथ्वी और उससे सम्बन्धित द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, क्षेत्र आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। पुराणों में पृथ्वी को सात द्वीप-समुद्रों वाला माना गया है। ये द्वीप और समुद्र क्रमशः एक-दूसरे को घेरते चले गये हैं।

इस बात से प्रायः सभी पुराण सहमत हैं कि जम्बूद्वीप पृथ्वी के मध्य में स्थित है और लवण समुद्र उसे मेरे हुए है। अन्य द्वीप समुद्रों के नाम और स्थिति के बारे में सभी पुराण एकमत नहीं हैं। भागवत, गरुड़, वामन, ब्रह्म, मार्कण्डेय, लिंग, कूर्म, ब्रह्माण्ड, अग्नि, वायु, देवी तथा विष्णु पुराणों के अनुसार सात द्वीप और समुद्र क्रमशः इस प्रकार हैं—

- १—जम्बूद्वीप तथा लवण समुद्र,
- २—प्लक्ष द्वीप तथा इक्षु सागर,
- ३—शाल्मली द्वीप तथा सुरा सागर,
- ४—कुशद्वीप तथा सर्पिषु सागर,
- ५—कौच द्वीप तथा दधिसागर,
- ६—शक द्वीप तथा क्षीर सागर और
- ७—पुष्कर द्वीप तथा स्वादु^२ सागर

१ श्री एस० एम० अली, 'दि ज्याग्राफी आफ द पुरान्स' पृ० ३२ तथा पृ० ३२-३३ के मध्य में स्थित, चित्र सं० २ 'दि वर्ल्ड आफ महाभारत—डायनामेटिक'।

२ "जियो ऑफ पुरान्स" पृष्ठ—३८, अध्याय-द्वितीय—“पुराणिक कान्टीनेन्ट्स एण्ड औशनस”।

जिन सात क्षेत्रों को विभाजित करते हैं उनके नाम हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इन सातों क्षेत्रों में बहने वाली बौद्ध नदियों के क्रमशः सात युगल हैं, जो इस प्रकार हैं—

गंगा, सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हृति-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूलारुप्यकूला तथा रक्ता-रक्तोदा। इन नदी युगलों में से प्रत्येक युगल की पहली-पहली नदी पूर्व समुद्र को जाती है और दूसरी-दूसरी नदी पश्चिम समुद्र को।

भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन है। विदेह पर्यन्त पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार भरतक्षेत्र के विस्तार से दूना-दूना है। उत्तर के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार दक्षिण के क्षेत्र और पर्वतों के समान है।

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत देवकुरु और उत्तरकुरु नामक दो भोगभूमियाँ हैं। उत्तरकुरु की स्थिति सीतोदा नदी के तट पर है। यहाँ निवासियों की इच्छाओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती है। इनके अतिरिक्त हैमवत, हरि, रम्यक तथा हैरण्यवत क्षेत्र भी भोगभूमियाँ हैं। शेष भरत, ऐरावत और विदेह (देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर) कर्म-भूमियाँ हैं।

भरतक्षेत्र हिमवान् कुलाचल के दक्षिण में पूर्व-पश्चिमी समुद्रों के बीच स्थित है। इस क्षेत्र में सुकौशल, अवन्ती, पुण्ड्र, अश्मक, कुरु, काशी, कलिग, बंग, अंग, काश्मीर, वत्स, पांचाल, मालव, कच्छ, मगध, विदर्भ, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, कोंकण, आन्ध्र, कर्नाटक, कौशल, चोल, केरल, शूरसेन, विदेह, गान्धार, काम्बोज, बाल्हीक, तुरुष्क, शक, कैकय आदि देशों की रचना मानी गई है।^१

(५) जम्बूद्वीप—प्राचीन एवं आधुनिक भौगोलिक मान्यताओं का तुलनात्मक विवेचन

(क) सप्तद्वीप—विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण वायुपुराण और ब्रह्माण्ड पुराण प्रभृति पुराणों में सप्तद्वीप और सप्तसागर वसुन्धरा का वर्णन आया है। वह वर्णन जैन हरिवंश पुराण और आदिपुराण की अपेक्षा बहुत भिन्न है। महाभारत में तेरह द्वीपों का उल्लेख है। जैन मान्यतानुसार प्रतिपादित असंख्य द्वीप-समुद्रों में जम्बू, कौंच और पुष्कर द्वीप के नाम वैदिक पुराणों में सर्वत्र आए हैं।

समुद्रों के वर्णन के विष्णु पुराण में जल के स्वाद के आधार पर सात समुद्र बतलाए हैं। जैन परम्परा में भी असंख्यात समुद्रों को जल के स्वाद के आधार पर सात ही वर्गों में विभक्त किया गया है। लवण, सुरा, घृत, दुग्ध, शुभोदक, इक्षु और मधुर जल। इन सात वर्गों में समस्त समुद्र विभक्त हैं। विष्णु पुराण में 'दधि' का निर्देश है, जैन परम्परा में इसे 'शुभोदक' कहते हैं। अतः जल के स्वाद की दृष्टि में सात प्रकार का वर्गीकरण दोनों ही परम्पराओं में पाया जाता है।

जिस प्रकार वैदिक पौराणिक मान्यता में अन्तिम द्वीप पुष्करवर है, उसी प्रकार जैन मान्यता में भी मनुष्य लोक का सोपान वही पुष्करार्ध है। तुलना करने से प्रतीत होता है कि मनुष्य लोक की सीमा मानकर ही वैदिक मान्यताओं में द्वीपों का कथन किया गया है। इस प्रकार जैन परम्परा में मान्य जम्बू, धातकी और पुष्करार्ध, इन ढाई द्वीपों में वैदिक परम्परा में मान्य सप्तद्वीप समाविष्ट हो जाते हैं। यद्यपि कौंच द्वीप का नाम दोनों मान्यताओं में समान रूप से आया है, पर स्थान निर्देश की दृष्टि से दोनों में भिन्नता है।^२

१ डा० नेमिचन्द्र शास्त्री—“आदिपुराण में प्रतिपादित भारत”, गणेशप्रसाद वर्मा ग्रन्थमाला वाराणसी, १९६८, पृष्ठ ३६-६४; आदिपुराण में; प्रतिपादित भूगोल प्रथम परिच्छेद तथा तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका, सम्पादक पं० फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६५, तृतीय अध्याय, पृष्ठ २११-२२२।

२ डा० नेमिचन्द्र शास्त्री 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत', पृष्ठ ३६-४०।

बौद्ध परम्परा में केवल चार द्वीप माने गए हैं। समुद्र में एक गोलाकार सोने की थाली पर स्वर्णमय सुमेरुगिरि स्थित है। सुमेरु के चारों ओर सात पर्वत और सात समुद्र हैं। इन सात स्वर्णमय पर्वतों के बाहर क्षीरसागर है और क्षीरसागर में चार द्वीप अवस्थित हैं—कुरु, गोदान, विदेह और जम्बू। इन द्वीपों के अतिरिक्त छोटे-छोटे और भी दो हजार द्वीप हैं।^१

आधुनिक भौगोलिक मान्यता

पौराणिक सप्तद्वीपों की आधुनिक भौगोलिक पहचान (Identification) तथा स्थिति के विषय में दो प्रकार के मत पाए जाते हैं। प्रथम मत के अनुसार सप्तद्वीप (जम्बू, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, कौंच, शक तथा पुष्कर) क्रमशः आधुनिक वह महाद्वीप—एशिया, योरोप, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, उत्तरी अमेरिका तथा दक्षिणी अमेरिका एवं एण्टार्क्टिका (दक्षिणी ध्रुव प्रदेश) का प्रतिनिधित्व करते हैं।

द्वितीय मत के अनुसार ये सप्तद्वीप पृथ्वी के आधुनिक विभिन्न प्रदेशों के पूर्वरूप हैं। इसमें भी तीन मत प्रधान हैं।

(क) जम्बू (इण्डिया), प्लक्ष (अराकान तथा वमा), कुश (सुन्द आर्चीपिलागो), शाल्मली (मलाया प्रायद्वीप), कौंच (दक्षिणी इण्डिया), शक (कम्बोज) तथा पुष्कर (उत्तरी चीन तथा मंगोलिया)।^२

(ख) जम्बू (इण्डिया), कुरु (ईरान), प्लक्ष (एशिया माइनर), शाल्मली (मध्य योरोप), कौंच (पश्चिम योरोप), शक (ब्रिटिश द्वीप समूह) तथा पुष्कर (आईसलैण्ड)।^३

(ग) जम्बू (इण्डिया), कौंच (एशिया माइनर), गोमेद (कोम डी टारटरी—Kome die Tartary), पुष्कर (तुर्किस्तान), शक (सीथिया), कुश (ईरान, अरेबिया तथा इथियोपिया), प्लक्ष (ग्रीस) तथा शाल्मली (सरमेटिया Sarmatia)^४

किन्तु प्रसिद्ध भारतीय भूगोलशास्त्री डा० एस० एम० अली उपर्युक्त चारों मतों से सहमत नहीं हैं। पुराणों में प्राप्त तत्त्वप्रदेश की आवहना (climate) तथा वनस्पतियों (Vegetation) के विशेष अध्ययन से सप्त द्वीपों की आधुनिक पहचान के विषय में वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे वह इस प्रकार है—

जम्बूद्वीप (भारत), शक द्वीप (मलाया, श्याम, इण्डो-चीन, तथा चीन का दक्षिण प्रदेश), कुश द्वीप (ईरान, ईराक), प्लक्ष द्वीप (भूमध्यसागर का पठार), पुष्करद्वीप (स्कैण्डिनेवियन प्रदेश, फिनलैंड, यूरोपियन रूस का उत्तरी प्रदेश तथा साइबेरिया) शाल्मली द्वीप (अफ्रीका, ईस्ट-इंडीज, मेडागास्कर) तथा कौञ्च द्वीप (कृष्ण सागर का कछार)।^५

(ख) मेरु पर्वत—जैन परम्परा में मेरु को जम्बूद्वीप की नाभि कहा है—‘तन्मध्ये मेरुर्नाभिवृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः’ (तत्त्वार्थ सूत्र ३/६) अर्थात् मेरु, जम्बूद्वीप के बिल्कुल मध्य में है। इसकी ऊँचाई १ लाख ४० योजन है। इसमें से एक हजार योजन जमीन में है, चालीस योजन की अन्त में चोटी है और शेष निःश्यानवे हजार योजन समतल से नूलिका तक है। प्रारम्भ में जमीन पर मेरु पर्वत का व्यास दस हजार योजन है जो ऊपर

१ एच० सी० रायचौधरी—‘स्टडीज इन इण्डियन एण्टीक्वीटीज, ६६, पृष्ठ ५।

२ कोल० गिरिनी—‘रिसर्चेंज आन पेटोलेमीज’ ज्याग्राफी आफ ईस्टर्न एशिया (१९०६), पृष्ठ ७२१।

३ एफ० विल्फोर्ड—‘एशियाटिक रिसर्चेंज’ वाल्यू० ८, पृष्ठ २६७-३४६।

४ वी० वी० अय्यर—‘द सेवन द्विपाज आफ द पुरान्स’—द क्वाटरली जनरल आफ दि मिथीकल सोसायटी (लन्दन), वाल्यूम—१५, नं० १, पृ० ६२, नं० २, पृ० ११६-१२७, नं० ३, पृ० २३८-४५, वा० १ नं० ४, पृ० २७३-८२।

५ डा० एस० एम० अली, ‘जिओ आफ पुरान्स’, पृ० ३६-४६ (अध्याय २ पुरानिक कान्टीनेन्ट्स एण्ड ओशन)।

क्रम से घटता गया है। मेरु पर्वत के तीन काण्ड हैं। प्रत्येक काण्ड के अन्त में एक-एक कटनी है। यह चार वनों से सुशोभित है—एक जमीन पर और तीन इन तीन कटनियों पर। इनके क्रम से नाम हैं—भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक। इन चारों वनों में, चारों दिशाओं में एक-एक वन में चार-चार इस हिसाब से सोलह चैत्यालय हैं। पाण्डुकवन में चारों दिशाओं में चार पाण्डुक शिलाएँ हैं, जिन पर उस दिशा के क्षेत्रों में उत्पन्न हुए तीर्थकरों का अभिषेक होता है। इसका रंग पीला है।^१

वेदों में मेरु नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक (१-७-१-३) में 'महामेरु' है किन्तु इसकी पहचान के बारे में कुछ भी उल्लेख नहीं है। रामायण, महाभारत, बौद्ध एवं जैन आगम साहित्य में इसके परिमाण तथा स्थान के बारे में प्रायः एक जैसे ही कथन उपलब्ध हैं।

परशियन, ग्रीक, चायनीज, ज्यूज तथा अरबी लोग भी अपने-अपने धर्मग्रन्थों में मेरु का वर्णन करते हैं। नाम एवं स्थान आदि के विषय में भेद होते हुए भी केन्द्रीय विचारधारा वही है जैसा हिन्दू-पुराणों में इसका वर्णन है। जोरोस्ट्रियन धर्मग्रन्थ के अनुसार अल-बुर्ज (Al-Burj) नामक पर्वत ने ही पृथ्वी के समस्त पर्वतों को जन्म दिया और इसी से विश्व को जल से आप्लावित करने वाली नदियाँ निकलीं। यही अल-बुर्ज मेरु है। चाइनीज लोगों का विश्वास है कि 'त्सिंग लिंग' (Tsing-Ling) ही मेरु पर्वत है। इसी से विश्व के समस्त पर्वत और नदियाँ निकलीं।

मेरु के परिमाण और आकार के विषय में विष्णुपुराण में उल्लेख है कि सभी द्वीपों के मध्य में जम्बूद्वीप है और जम्बूद्वीप के मध्य में स्वर्ण गिरि मेरु है। इसकी समस्त ऊँचाई एक लाख

योजन है, जिसमें से १६ हजार योजन पृथ्वी के नीचे और चौरासी हजार योजन पृथ्वी के ऊपर है। चोटी पर उसका घेरा बतीस हजार योजन तथा मूल में सोलह हजार योजन है, अतः इसका आकार ऐसा प्रतीत होता है मानो यह पृथ्वी रूपी कमल का 'कमलगट्टा' (Seedcup) हो। पद्म-पुराण के अनुसार इसका आकार घटूरे के पुष्प जैसा घण्टे के आकार (Bell shape) का है। वायु-पुराण के अनुसार चारों दिशाओं में फैली इसकी शाखाओं के वर्ण पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में क्रमशः श्वेत, पीत, कृष्ण और रक्त है। सीलोन के बुद्धिष्ट लोगों के अनुसार मेरु का घेरा सर्वत्र एक जैसा है। नेपाली परम्परा के अनुसार मेरु का आकार ढोल जैसा है।^२

आधुनिक भौगोलिक मान्यता

मेरु की उपर्युक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए अब हमें उसके वर्तमान स्वरूप और स्थान के विषय में विचार करना चाहिए।

हिमालय तथा उसके पार के क्षेत्र (Himalayan and Trans-Himalayan Zone) में पांच उन्नत प्रदेश हैं। पुराणों में प्राप्त मेरु के विवरण के आधार पर, इन उन्नत प्रदेशों की तुलना मेरु से की जा सकती है। ये प्रदेश हैं :

१. कराकोरम (Kara-Koram) पर्वत शृंखलाओं से घिरा क्षेत्र,
२. धौलगिरि (Dhaulgiri) पर्वत शृंखलाओं से घिरा क्षेत्र,
३. एवरेस्ट (Everest) पर्वत शृंखलाओं से घिरा क्षेत्र,
४. हिमालय आर्क्स (Himalayan Arcs) तथा कुन-लुन (Kun-lun) पर्वत से घिरा हुआ तिब्बत का पठार, तथा
५. हिन्दूकुश (Hindukush) कराकोरम, टीन

१ 'सर्वार्थसिद्धि' भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय अध्याय, पृष्ठ २११-२२२

२ डा० एम० एम० अली—जिओ आफ पुरान्स अध्याय—३ (दि माउन्टेन सिस्टम आफ वि पुरान्स पृष्ठ—४७-४८।

शान (Tien shan) तथा एलाइपार पर्वत शृंखला (Trans Ali system) की बर्फ से ढकी चोटियों से घिरा पामीर का उन्नत पठार ।

इन पांचों उन्नत प्रदेशों में से 'पामीर के पठार' से मेरु की तुलना करना और भी अधिक सही और युक्तयुक्त प्रतीत होता है । पामीर और मेरु में नाम का भी सादृश्य है । पा = मीर = मेरु ।

यदि पामीर के पठार से मेरु की तुलना सही है तो पुराणों में प्रतिपादित जम्बूद्वीप के पार्श्ववर्ती प्रधान पर्वतों की भी पहिचान की जा सकती है ।

पुराणों के अनुसार मेरु के उत्तर में तीन पर्वत हैं—नील, श्वेत (जैन परम्परा के अनुसार "रुक्मी") और शृंगवान् (जै० प० शिखरी) ये तीनों पर्वत, रम्यक, हिरण्य (जै० प० हैरण्यवत्) तथा कुरु (जै० प० ऐरावत्) क्षेत्रों के सीमान्त पर्वत हैं । इसी प्रकार मेरु के दक्षिण में भी तीन पर्वत हैं—निषध, हेमकूट (जै० प० महाहिमवान्) तथा हिमवान् (ये तीनों पर्वत) हिमवर्ष (जै. म. हरि) किम्पुरुष (जै० प० हेमवत) और भारतवर्ष (जै० प० भरत) क्षेत्रों के सीमान्त पर्वत हैं । ये छहों पर्वत पूर्व और पश्चिम में लवण समुद्र तक फैले हैं ।

इन सभी पर्वतों की तुलना वर्तमान भूगोल से इस प्रकार की जा सकती है :

१. शृंगवान् (शिखरी) की कराताउ—किरगीज वर्तमान पर्वत शृंखला (Kara Tau Kirghis Ketman Chain) है ।

२. श्वेत (रुक्मी) की नूरा ताउ—तुर्किस्तान-अतबासी पर्वत शृंखला (Nura Tau-Turkistan Atbasi Chain) से,

३. नील का जरफशान-ट्रान्स-आलाइ-टीनशान पर्वत शृंखला से, (Zarafshan-Trans Alci Tien-shan Chain) ।

४. निषध की हिन्दुकुश तथा कुनलुन पर्वत शृंखला से ।

५. हेमकूट (महाहिमवान्) की लद्दाख-कैलाश-ट्रान्स हिमालयन पर्वत शृंखला (Laddakh-Kailash-Trans-Himalayan chain) से, तथा

६. हिमवान् की हिमालय पर्वत शृंखला (Great Himalayan Range) से ।^१

(ग) जम्बूद्वीप—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, पुराणों में मेरु (पामीर) के उत्तर में क्रमशः तीन पर्वतमालाएँ हैं जो पूर्व-पश्चिम लम्बी है—नील, जो कि मेरु के सबसे निकट और सबसे लम्बी पर्वत माला है, श्वेत, जो कि नील से कुछ छोटी और उससे उत्तर की ओर आगे है, तथा अन्तिम शृंगवान्, जो कि सबसे छोटी तथा श्वेत से उत्तर की ओर आगे है ।

जैन परम्परा के अनुसार भी मेरु के उत्तर में तीन वर्षधर पर्वत है—नील, रुक्मी और शिखरी । दोनों (जैन-वैदिक) परम्पराओं में केवल नील पर्वतमाला का ही नाम सादृश्य नहीं है, अपितु रुक्मी (श्वेत) और शिखरी (शृंगवान्) पर्वतमाला का भी नाम सादृश्य है । इन पर्वतों की आधुनिक भौगोलिक तुलना हम विभिन्न पर्वतमालाओं से कर चुके हैं ।

इन पर्वतमालाओं तथा उत्तरी समुद्र (आर्कटिक ओशन) अर्थात् लवण समुद्र के बीच क्रमशः नील और श्वेत (रुक्मी) के बीच रम्यक या रमणक (जैन परम्परा में रम्यक) वर्ष, श्वेत और शृंगवान् (जै० प० में शिखरी) के बीच हिरण्यक या हिरण्यक (जै० प० में हैरण्यमान्) तथा शृंगवान् (जैन पर० में ऐरावत) नाम के वर्ष क्षेत्र है ।^२

जम्बूद्वीप का उत्तरी क्षेत्र

सबसे पहले हम रम्यक क्षेत्र को लेते हैं । जैन परम्परा में भी इसका नाम रम्यक-वर्ष-क्षेत्र है । इसके दक्षिण में नील तथा उत्तर में श्वेत पर्वत है । हमारी पहिचान के अनुसार नील, नूरा ताउ—तुर्किस्तान पर्वत मालाएँ है और श्वेत, जरफसान—हिसार पर्वत मालाएँ हैं ।

१ डा० एस० एम० अली 'जिओ० आफ पुरान्स' पृ० ५० से ५८ तक ।

२ डा० एस० एम० अली—'जिओ० आफ पुरान्स' अध्याय-५, 'रीजन्स आफ जम्बूद्वीप—नार्दन रीजन्स पृष्ठ ७३ ।

यह प्रसिद्ध है कि एशिया के भू-भाग में अति प्राचीनकाल में दो राज्यों की स्थापना हुई थी—आक्सस नदी (Oxus River) के कछार में बैक्ट्रिया (Bactria) तथा जरफशान नदी और कशका दरिया (River Jarafshan and Kaska Daria) के कछार में सोगदियाना (Sogdiana) राज्य आज से २५०० या २००० वर्ष पूर्व ये दोनों राज्य अत्यन्त धने रूप से वसे थे। यहाँ के निवासी उत्कृष्ट खेती करते थे। यहाँ नहरें थीं। व्यापार और हस्तकला कौशल में भी ये राज्य प्रवीण थे।

ऐसा कहा जाता है कि “समरकन्द” की स्थापना ३००० ई० पू० हुई थी। अतः “सोगदियाना” को हम मानव संस्थिति का सबसे प्राचीन संस्थान कह सकते हैं। “सोगदियाना” का नील और श्वेत पर्वतमालाओं से तथा पड़ोसी राज्य, बैक्ट्रिया (केतुमाल) जिसका आगे वर्णन करेंगे, से विशेष सम्बन्धों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पौराणिक “रम्यक” वर्ष प्राचीनकाल का “सोगदियाना” राज्य है। बुखारा का एक जिला प्रदेश, जिसका एक नाम “रोमेटन” (Rometan) है, सम्भवतः “रम्यक” का ही अपभ्रंश है।

दूसरा क्षेत्र जो कि श्वेत और श्रृंगवान् पर्वतमालाओं के मध्य स्थित है, हिरण्यवत् है। हिरण्यवत् का अर्थ है सुवर्णमाला प्रदेश। जैन परम्परा में इसे “हैरण्यवत्” कहा गया है। इस क्षेत्र में बहने वाली नदी का पौराणिक नाम है “हिरण्यवती”। आधुनिक जरफशान नदी इसी प्रदेश में बहती है। जैन परम्परा के अनुसार इस नदी का नाम सुवर्णकूला है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि हिरण्यवती, सुवर्णकूला और जरफशान तीनों के लगभग एक ही

अर्थ है—हिरण्यवती का अर्थ है—जहाँ सुवर्ण प्राप्त हो, सुवर्णकूला अर्थ है—जिसके तट पर सुवर्ण हो और जरफशान का अर्थ है—सुवर्ण को फैलाने वाली (Scatterer of Gold)।

तृतीय क्षेत्र, जो कि श्रृंगवान् पर्वत के उत्तर में है, उत्तरकुरु है। जैन परम्परा में इसे ऐरावत पर्वत कहा गया है। यह प्रदेश आधुनिक इर्तिश (Irtish) दी औब (The Ob) इशीम (Ishim) तथा टोबोल (Tobol) नदियों का कछार प्रदेश है। दूसरे शब्दों में आधुनिक भौगोलिक वर्गीकरण के अनुसार यह क्षेत्र साइबेरिया का पश्चिमी प्रदेश है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप का यह उत्तरी क्षेत्र एक बहुत लम्बे प्रदेश को घेरता है जो कि उराल पर्वत और कैस्पियन सागर से लेकर येनीसाइ नदी (Yenisai River U.S.S.R.) तक तथा तुर्किस्तान टीन शान पर्वतमाला से लेकर आर्कटिक समुद्रतट तक जाता है।^१

जम्बूद्वीप का पश्चिमी क्षेत्र—केतुमाल

मेरु (पामीर्स) का पश्चिम प्रदेश केतुमाल है। जैन भूगोल के अनुसार यह विदेह का पश्चिम भाग है। इसके दक्षिण में निषध और उत्तर में नील पर्वत है। निषध पर्वत को आधुनिक भूगोल के अनुसार हिन्दूकुश तथा कुनलुन पर्वतमाला (Hindu-Kush Kunlun) माना गया है। यह केतुमाल प्रदेश चक्षुनदी (Oxus River) तथा आमू दरिया का कछार है। इसके पश्चिम में कैस्पियन सागर (Caspian Sea) है जिसमें आल्पस नदी अकार मिलती है। उसके उत्तर-पश्चिम में तुरान का रेगिस्तान है। इस प्रदेश को हिन्दू पुराण में इलावर्त कहा गया है। इस प्रदेश में सीतोदा नदी बहती है। इसी प्रदेश में बैक्ट्रिया राज्य था जिसे हम पहले कह चुके हैं।^२

१. डा० एस० एम० अली—जिओ० आफ पुरान्स पृष्ठ ८३-८७ (अध्याय पंचम रीजन्स आफ जम्बूद्वीप, नार्दन रीजन्स—रमणक, हिरण्यमय एण्ड उत्तरकुरु)
२. वही पृष्ठ ८८-९८ (अध्याय ६, रीजन्स आफ जम्बूद्वीप केतुमाल)

जम्बूद्वीप का पूर्वी क्षेत्र—भद्रवर्ष

मेरु के पूर्व का यह प्रदेश भद्रवर्ष के नाम से हिन्दू पुराणों में कहा गया है। जैन भूगोल के अनुसार यह विदेह का पूर्वी भाग है। इसके उत्तर में नील (Tien Shan Range) तथा दक्षिण में निषध (Hindu Kush-Kunlun) पर्वतमाला है। इसके पश्चिम में देवकूट और पूर्व में पूर्व समुद्र है।

आधुनिक भूगोल के अनुसार यह प्रदेश तरीम तथा ह्वांगहो (Tarim and Hwang-Ho) नदियों कछार है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण सिक्वियांग (Sikiang) तथा उत्तर-चीन प्रदेश इसमें समाविष्ट है। यहाँ सीता नदी बहती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस भद्रवर्ष (पूर्वविदेह) प्रदेश के अन्तर्गत उत्तरी चीन, दक्षिणी चीन तथा त्सिंग लिंग (Tsing Ling) पर्वत का दक्षिणी भाग आता है। यहाँ के निवासी पीत वर्ण के हैं।

आधुनिक भूगोल के अनुसार इस नदी का नाम किजिल सू (Kizil-Su) है।^१

जम्बूद्वीप का दक्षिणी क्षेत्र

जम्बूद्वीप के दक्षिण प्रदेश का वर्णन मेरु के प्रसंग में दिया जा चुका है। तदनुसार मेरु (पामीर) के दक्षिण में निषध, हेमकूट (जैन परम्परा में महाहिमवान्) तथा हिमवान् पर्वत है और इन पर्वतों से विभाजित क्षेत्र के नाम हैं, क्रमशः हिमवर्ष (जैन परम्परा में हरि) किम्पुरुष (जैन परम्परा में हैमवत) और भारतवर्ष (जैन परम्परा में भरत)।

यह सभी प्रदेश मेरु (पामीर) से लेकर हिन्द महासागर तक का समझना चाहिए। भारत के दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम में जो क्रमशः हिन्द महासागर एवं प्रशान्त तथा अरब सागर हैं वहीं लवण समुद्र है।

१. डा. एस. एम. अली, "जिओ० आफ पुरान्स" भाद्रवर्ष।

(घ) जम्बूद्वीप और भारतवर्ष : पौराणिक इतिहास—विष्णुपुराण (२-१) के अनुसार स्वयंभू मनु के दो पुत्र थे प्रियव्रत और उत्तानपाद। प्रियव्रत ने समस्त पृथ्वी के सात भाग (सप्तद्वीप) करके उन्हें अपने सात पुत्रों में बाँट दिया—

अग्नीध्र को जम्बूद्वीप, मौघान्तिथि को प्लक्ष, अमुष्यत् को शाल्मली, ज्योतिष्मत् को कुश, पुलिमत् को क्रीच, मध्व को शक और शवल को पुष्कर द्वीप।

जम्बूद्वीप के राजा अग्नीध्र के नौ पुत्र थे। उन्होंने जम्बू देश के नौ भाग करके उन्हें अपने नौ पुत्रों में बाँट दिया—हिमवन् का दक्षिण भाग हिम (भारतवर्ष) नाभि को दिया। इसी प्रकार हेमकूट सिम्पुरुष को, निषध हरिवर्ष को, मेरु के मध्य वाला भाग इलावृष को, इस प्रदेश और नील पर्वत के मध्य वाला भाग राय को, इसके उत्तर वाला श्वेत प्रदेश हिरण्यवत को, शृंगवान् पर्वत से घिरा श्वेत का उत्तर प्रदेश कुरु को, मेरु के पूर्व का प्रदेश भद्र को तथा गन्धमादव एवं मेरु के पश्चिम का प्रदेश केतुमाल को दिया।

नाभि के सौ पुत्र थे उनमें ज्येष्ठ भरत थे। नाभि ने अपने प्रदेश "हिम" अर्थात् भारतवर्ष को नौ भागों में विभक्त करके अपने को पुत्रों बाँट दिया। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार भारतवर्ष के ये नौ भाग इस प्रकार हैं—इन्द्रद्वीप, ताम्रपर्ण, मतिमान्, नाव द्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण तथा कुमारिका या ब्यारी।

जैन परम्परा के अनुसार नाभि और मरुदेवी के पुत्र, ऋषभ, प्रथम युगपुरुष थे। उन्होंने विश्व को असि, मसि, कृषि, कला, वाणिज्य और शिल्प रूप संस्कृति प्रदान की। उनके एक सौ एक पुत्र थे। इनमें भरत और बाहुबली प्रधान थे। संसार

से विरत होकर दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व ऋषभ ने सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य अपने समस्त पुत्रों को बांट दिया। बाहुबली को पोतनपुर का राज्य मिला। भरत चक्रवर्ती सम्राट हुए जिनके नाम से यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।

इस पौराणिक आख्यान से तीन बातें स्पष्टतः प्रतीत होती हैं—

(अ) किसी एक मूल स्रोत से विश्व की मानव जाति का प्रारम्भ हुआ। यह बात आधुनिक विज्ञान की उस मोनोजेनिस्ट थ्योरी (Monogenist theory) के अनुसार सही है जो मानती है कि मनुष्य जाति के विभिन्न प्रकार प्राणिशास्त्र की दृष्टि से एक ही वर्ग के हैं।

(ब) किसी एक ही केन्द्रीय मूल स्रोत से निकलकर सात मानव समूहों ने सात विभिन्न भागों को व्याप्त कर स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् मानव सभ्यता का विकास किया। यह सिद्धान्त भी आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संभव है जिसमें कहा गया है कि विश्व की प्राथमिक जातियों ने पृथ्वी के विभिन्न वातावरणों वाले सात प्रदेशों को व्याप्त कर तत्प्रदेशों के वातावरण के प्रभाव में अपनी शारीरिक विशिष्ट-आकृतियों का विकास किया।

(स) पश्चात् पृथ्वी के इन सात भागों में से एक भाग में (पुराणों के अनुसार जम्बूद्वीप में) नौ मानव समूहों में जो नौ प्रदेशों को व्याप्त किया उनमें भारतवर्ष भी एक है।¹

(द) भारतवर्ष—भारतवर्ष से प्रायः इण्डिया उपमहाद्वीप जाना जाता है। किन्तु प्राचीन विदेशी साहित्य में इस इण्डिया उपमहाद्वीप के लिए कोई एक नाम नहीं है।

वैदिक आर्यों ने पंजाब प्रदेश को 'सप्तसिंधव' नाम दिया। बोधायन और मनु के समय में आर्यों ने इस क्षेत्र को 'आर्यावर्त' नाम दिया। डेरियस (Darius) तथा हेरोडोटस (Herodotus) ने सिन्धु घाटी तथा गंगा के ऊपरी प्रदेश को 'इण्ड' या 'इण्डू' (हिन्दू) नाम दिया। कात्यायन और मेगास्थनीज ने सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य राज्य तक फैले सम्पूर्ण देश का वर्णन किया है। रामायण तथा महाभारत भी पाण्ड्य राज तथा बंगाल की खाड़ी तक फैले भारतवर्ष का वर्णन करते हैं।

अशोक के समय में भारत की सीमा उत्तर-पश्चिम में हिन्दकुश तक और दक्षिण-पूर्व में सुमात्रा-जावा तक पहुँच गई थी। कनिष्क ने उस समस्त प्रदेश को विशाल भारत (Greater India) नाम दिया और भारतवर्ष के नवद्वीपों से उसकी समानता स्थापित की।²

इस प्रकार आधुनिक भौगोलिक मान्यताओं के अनुसार जम्बूद्वीप का विस्तार उत्तर में साइबेरिया प्रदेश (आर्कटिक ओशन) दक्षिण में हिन्द महासागर और उसके द्वीपसमूह, पूर्व में चीन-जापान (प्रशान्त महासागर) तथा पश्चिम में कैस्पियन सागर तक समझना चाहिये।

अन्त में हम प्रसिद्ध भूगोलशास्त्रवेत्ता, सागर विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो० एस० एम० अली के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना, कर्तव्य समझते हैं जिनके खोजपूर्ण ग्रन्थ, 'दि ज्याग्राफी आफ द पुरान्स' से हमें इस निबन्ध के लेखन में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई।

१. डा० एस. एम. अली, 'जिओ० आफ पुरान्स' पृष्ठ—६-१० (प्रस्तावना)

२. डा० एस. एम. अली, 'जिओ आफ पुरान्स' पृष्ठ—१२६ अध्याय अष्टम, 'भारतवर्ष-फिजिकल'।

□ डा० गदाधर सिंह

विश्वविद्यालय प्रोफेसर

स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग

ह० या० जैन कालेज, आरा (बिहार)

जैन-स्तोत्र-साहित्य : एक विहंगम दृष्टि

ज्ञान, कर्म और उपासना—ये तीनों भारतीय साधना के सनातन मार्ग रहे हैं। ज्ञान हमें कर्म-अकर्म से परिचित करा शाश्वत लक्ष्य का बोध कराता है, कर्म उस लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करता है और उपासना के द्वारा हम उस लक्ष्य के पास बैठने तथा उससे तादात्म्य-भाव स्थापित करने में समर्थ होते हैं। इन तीनों के सम्मिलित रूप को ही भक्ति कहते हैं। स्तोत्र या स्तवन उसी भक्ति का एक अंग है।

स्तुतिर्नामि गुण कथनम् ॥ —महिम्न-स्तोत्र की टीका (मधुसूदन सरस्वती)।

गुणों के कथन का नाम स्तुति है।

गुण कथन तो चारण या भाट भी करते हैं किन्तु वह स्तुति नहीं है। प्राकृत जन या नाशवान तत्त्वों की प्रशंसा स्तुति नहीं है, वरन् सत्य स्वरूप परमात्मा की प्रशंसा ही स्तुति के अन्तर्गत आयेगी।

सत्यमिद्धा उतं वयमिन्द्रं स्तवाम् नानृतम् ॥

—ऋग्वेद ८/५१/१२

हम उस भगवान् की स्तुति करें, असत्य पदार्थों की नहीं।

तमुष्टवाम् य इमा जनान् ॥ —ऋग्वेद ८/८५/६

हम उस भगवान् की स्तुति करें जिसने यह सारी सृष्टि उत्पन्न की है।

इस स्तुति या प्रशंसा के पीछे हृदय की उदात्त वृत्ति श्रद्धा मिली रहती है—श्रद्धया सत्यमाप्यते (यजु० १६।३०)।

श्रद्धा से ही सत्य स्वरूप परमात्मा प्राप्त होता है।
स्तुति का महत्व

‘भक्ति रसायन’ में लिखा गया है—

काम क्रोध भय स्नेह हर्ष शोक दयावयः ।

ताप कारिचत्तजनुनस्तच्छान्ती कठिनं तु तत् ॥

चित्त को लाख के समान कहा जाता है। वह काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक आदि के संसर्ग में आते ही पिघल जाता है। जिस प्रकार पिघली हुई लाक्षा में रंग धोल देने पर, वह रंग लाक्षा के कठोर होने पर भी यथावत् रहता है, उसी प्रकार द्रवित चित्त में जिन संस्कारों का समावेश हो जाता है, वे संस्कार चित्त के भीतर अपना अक्षुण्ण स्थान बना लेते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में इन्हें ही ‘वासना’ कहते हैं। भगवान् के दिव्य मंगल-विग्रह के दर्शन से, उनकी लीलाओं के श्रवण से तथा उनके स्वरूप का ध्यान करने से चित्त भी एक विशेष रूप में द्रवीभूत हो जाता है और इस प्रकार का द्रवीभाव व्यक्ति को लोकोत्तर आनन्द की दिशा में अभिप्रेरित करता है। स्तोत्र का महत्व इसी रूप में है।

स्तोत्र के माध्यम से भक्त आराध्य के गुणों का स्मरण करता है और उनके स्मरण से उसमें उन्हीं गुणों को अपनाने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि प्रार्थना से भक्त भगवान् के गुणों को पा लेता है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अर्थात् मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करने वाले वीतरागी, विश्व के तत्त्वों को जानने वाले सर्वज्ञ, आप्त (अर्हन्त) की भक्ति उन्हीं के गुणों को पाने के लिए करता है ।

जैनधर्म में भक्ति का स्वरूप

जैनधर्म आचार और ज्ञान-प्रधान धर्म है । इसमें जीव अपने कर्मों का कर्ता-भोक्ता स्वयं ही है । जैन-दर्शन में आत्मा को स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत की गई है । आत्म-स्वरूप की उपलब्धि की उच्चतम अवस्था ही मोक्ष है । जीव अपने बंधाबंध के लिए स्वयं उत्तरदायी है । इसी आधार पर कुछ लोगों का तर्क है कि यदि आत्म-पुरुषार्थ से ही जीव अपने कर्मों का क्षय कर सकता है तो उसे भगवत्-अनुग्रह की क्या आवश्यकता ?

एक तथ्य और है जिससे जैनधर्म को भक्ति-विरोधी प्रमाणित किया जाता है । भक्ति के मूल में राग है । ज्ञाता के हृदय में ज्ञेय के प्रति जब तक राग की भावना नहीं आती तब तक भक्ति का उद्भव नहीं हो सकता । भक्ति का अर्थ परात्म-विषयक अनुराग ही है—सा परानुरक्तिरीश्वरे (शांडिल्य सूत्र १/१/२) । जैन-दर्शन में किसी भी प्रकार के राग को आस्रव का कारण माना गया है । अतः इस तर्क के आधार पर भक्ति भी बन्धन का ही कारण सिद्ध होती है ।

तोसरी बात यह है कि जब तक भक्ति का आलम्बन सगुण और साकार नहीं होता तब तक भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती । यद्यपि जैनधर्म में भक्ति के आलम्बन अर्हन्त, सिद्ध आदि सगुण और साकार हैं किन्तु वीतरागी होने के कारण इन्हें भक्तों के योग-क्षेम से कोई प्रयोजन नहीं होता ।

अतः उपर्युक्त परिस्थितियों में भक्ति की अनिवार्य भाव-भूमि के लिए जैन धर्म अनुर्वर है, ऐसा कहा जाता है ।

३६४

यह सत्य है कि जैन-दर्शन के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति के लिए जीव को अपने पुरुषार्थ के अतिरिक्त किसी बाहरी महायता की अनिवायता नहीं है किन्तु यह भी सत्य है कि जैसे दर्पण में मूँह देखने से मनुष्य अपने चेहरे की विकृति को जथावत् देख सकता है और देख लेने के उपरान्त उसे दूर करने का प्रयत्न कर सकता है, उसी प्रकार जैनधर्म मानता है कि परमात्मा के दर्शन से हम अपने मन-वचन की विकृति को दूर करके अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकते हैं । यद्यपि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु परमात्मा की स्तुति उसे शुभ कर्म करने की प्रेरणा देती है । प्रार्थना से वह मल नष्ट हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध एवं स्वच्छ हो चमकने लगता है । कल्याण मन्दिर स्तोत्र (८) में कहा गया है—

हृदतिनि त्वयि विभो ! शिथिली भवन्ति

जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः ।

सद्यो भुजङ्गममया इव मध्यभाग,

मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्थ ॥

हे कर्म बन्ध विमुक्तः जिनेश ! जैसे जंगली मयूरों के आते ही चन्दनगिरि के सुगन्धित चन्दन वृक्षों में लिपटे हुए भयंकर भुजंगों की दृढ़ कुण्डलियाँ तत्काल ढीली पड़ जाती हैं, वैसे ही जीव के मन-मन्दिर के उच्च सिंहासन पर आपके अधिष्ठित होते ही अष्ट कर्मों के बन्धन अनायास ही ढीले पड़ जाते हैं ।

आचार्य समन्तभद्र जिन्हें 'आद्य स्तुतकार' होने का गौरव प्राप्त है लिखते हैं—

त्वदेष शान्त्या विहितात्म शान्ति

शान्तेविधाता शरणं गतानाम् ।

भूयोद् भवक्लेश भवोपशान्त्यं,

शान्तिजिनो मे भगवान् शरण्यः ॥

—स्वयम्भू स्तोत्र ११

हे शान्तिजिन ! आपने अपने दोषों को शान्त करके आत्मशान्ति प्राप्त की है तथा जो आपकी

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

शरण में आये हैं, उन्हें भी आपने शान्ति प्रदान की है। अतः आप मेरे लिए भी संसार के दुःखों-भयों को शान्त करने में शरण है।

जहाँ तक दूसरे तर्क का प्रश्न है वहाँ यही कहना पर्याप्त है कि जो राग लौकिक अभ्युदय या प्रयोजन के लिए किया जाता है वही बन्धन का कारण होता है किन्तु इसके विपरीत जो राग वीतराग से किया जाता है, वह तो मुक्तिदायक होता है। गीता में इसी को व्यापक अर्थ में सकाम-निष्काम कर्म से समझाया गया है। सकाम कर्म बन्ध का कारण होता है और निष्काम कर्म मोक्ष का। जैन-भक्त अर्हन्त भगवान से कुछ पाने की कामना नहीं करता वरन् उसका भाव निष्काम होता है। कल्याण मन्दिर (४२) में कहा गया है—

यद्यस्ति नाथ भवदङ्घ्रि सरोरुहणां,
मन्त्रैः फलं किमपि सन्तत सञ्चितायाः ।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य ! भूयाः,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥

हे नाथ ! आपकी स्तुति कर मैं आपसे अन्य किसी फल की चाह नहीं करता, केवल यही चाहता हूँ कि भव-भवान्तरों में सदा आप ही मेरे स्वामी रहें। जिससे आपको अपना आदर्श बनाकर अपने को आपके समान बना सकूँ।

दूसरी बात यह है कि 'पर' के प्रति राग-बन्धन का कारण होता है किन्तु 'आत्म' का अनुसन्धान तो मुक्ति का कारण है। परमात्मा 'पर' नहीं, 'स्व' है—एहु जु अप्पा सो परमप्पा (परमात्म प्रकाश, १४७)। अतः जिनेन्द्र का कीर्त्तन करने वाले अपनी आत्मा का ही कीर्त्तन करते हैं, आत्मा का ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हैं। उपनिषद् (वृहदा० ४/५—याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद) का भी यही मत है।

तीसरी आलोचना भगवान के वीतराग-भाव से सम्बन्धित है। क्या वीतराग की भक्ति या उपासना से दुःख या दुःख के कारणों का अभाव सम्भव है ?

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

जब वे स्वयं वीतरागी हैं तब किसी के सुख-दुःख से उनका क्या प्रयोजन ? इसका उत्तर 'दशभक्त्यादि संग्रह' में दिया है कि यद्यपि भगवान फल देने में निस्पृह हैं किन्तु भक्त कल्पवृक्ष के समान उनके निमित्त से भक्ति का फल पा जाता है।

यथा निश्चेतनाश्चिन्ता मणिकल्प महीरुहाः ।
कृत पुण्यानुसारेण तदभीष्टफलप्रदाः ॥
तथाहृदादयश्चास्त रागद्वेष प्रवृत्तयः ।
भक्त भक्त्यनुसारेण स्वर्ग मोक्षफलप्रदाः ॥

—दशभक्त्यादि संग्रह ३/४

जिस प्रकार चिन्तामणि तथा कल्पवृक्ष यद्यपि अचेतन हैं फिर भी वे पुण्यवान पुरुष को उसके अभीष्ट के अनुकूल फल देते हैं उसी प्रकार अर्हन्त या सिद्ध राग, द्वेष रहित होने पर भी भक्तों को उनकी भक्ति के अनुसार फल देते हैं। इस तथ्य की पुष्टि आचार्य समन्तभद्र के वचनों से भी होती है—

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ ! विद्वान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

यद्यपि वीतराग देव को किसी की स्तुति, प्रशंसा या निन्दा से कोई प्रयोजन नहीं फिर भी उनके गुणों के स्मरण से भक्त का मन पवित्र हो जाता है।

अन्तिम शंका जो जैनधर्म को भक्ति-विरोधिनी सिद्ध करने के लिए की जाती है वह यह है कि जैन धर्म वस्तुतः ज्ञानप्रधान धर्म है। इसमें भक्ति के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। वस्तुतः भारतीय धर्म-साधना में ज्ञान और भक्ति को एक दूसरे से पृथक् करके नहीं देखा गया है क्योंकि दोनों के मूल में श्रद्धा है। श्रद्धावां लभते ज्ञानम्—यह गीता का मत है। भक्ति की जड़ में तो श्रद्धा है ही। आचार्य कुन्दकुन्द ने भक्ति से ज्ञान-प्राप्ति की प्रार्थना भगवान से की है—

इमघायकम्म मुक्को अठारह दोस वज्जियो सयलो
तिहुवण भवण पदीवो देउ मम उत्तमं बोहिं ॥

—भावपाहुड १५२वीं गाथा

३६५

यद्यपि ज्ञान बुद्धि का विषय है फिर भी हृदय का भाव-बोध देकर ही सन्तों ने उसे स्वीकार किया है। निर्गुणियां सन्तों ने भक्ति की आधार-शिला पर ही अपनी साधना का प्रासाद निर्मित किया है।

ज्ञान को भक्ति का आलम्बन स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा यह बताई जाती है कि भक्ति द्वैत बुद्धि पर आधारित होती है किन्तु आत्म-साक्षात्कार के उपरान्त सभी प्रकार की द्वैतबुद्धि या सभी प्रकार के भेद नष्ट हो जाते हैं। फिर वहाँ भक्ति की कामना ही कैसे हो सकती है ?

आद्य शंकराचार्य ने 'त्रिपुर सुन्दरी रहस्य (ज्ञान खण्ड) में इस पर विचार किया है। उनका कहना है कि यह सत्य है कि उस समय अभेदज्ञान हो जाता है किन्तु भक्त आहार्य ज्ञान द्वारा भेद की कल्पना कर लेता है। इस प्रकार की भेद-बुद्धि बन्धन का कारण नहीं होती बल्कि सैकड़ों मुक्तियों से भी बढ़कर आनन्दप्रद होती है। दूसरी बात यह है कि आत्मस्वरूप का ज्ञान होने के पूर्व द्वैतभाव बन्धन का कारण होता है किन्तु विज्ञान के बाद भेद-मोह के निवृत्त होने पर भक्ति के लिए भावित द्वैत अद्वैत से भी उत्तम है।

यही कारण है कि यद्यपि जैनधर्म ज्ञान-प्रधान है किन्तु भक्तिशून्य नहीं है। जैन भक्तों, कवियों एवं दार्शनिकों ने विपुल परिमाण में स्तोत्र-ग्रन्थों की रचना की है। ये स्तोत्र अर्हन्त, गुरु, सिद्ध, पंच परमेष्ठि आदि से सम्बन्धित हैं।

इन स्तोत्रों में निम्न तथ्यों की सर्वांगपूर्ण विवेचना हुई है—

१. आराध्य के स्वरूप की सौंदर्यपूर्ण व्यंजना
२. आराध्य की लीलाओं का गान

३. आराध्य के समक्ष आत्म-निवेदन तथा लौकिक-पारलौकिक फल-प्राप्ति की कामना

४. दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण

५. काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन

जैनस्तोत्र-परम्परा

जैन स्तोत्र-परम्परा प्रारम्भ में स्तोत्र और स्तव के बीच भेद करती थी। शान्तिसूरि ने 'स्तव' को संस्कृत में तथा 'स्तोत्र' को प्राकृत में निर्मित माना है।

आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्मटसार कर्मकाण्ड प्रकरण में कहा गया है कि 'स्तव' में वस्तु के सर्वांग का और स्तुति में एक अंग का विवेचन विस्तार या संक्षेप से रहता है। वस्तुतः ये भेद प्रारम्भिक अवस्था में कुछ दिनों तक भले रहे हों किन्तु बाद में यह अन्तर समाप्त हो गया और दोनों एकार्थवाची हो गए।

प्राकृत-स्तोत्र-साहित्य

जैन-साहित्य में स्तोत्र-परम्परा मूल आगमों से ही प्रारम्भ होती है। आगमों में तीर्थंकरों की स्तुति सुन्दर एवं आलंकारिक शैली में की गयी है और देवों द्वारा १०८ पद्यों में स्तुति करने का निर्देश दिया गया है। प्राकृत स्तोत्रों में गौतम गणधर का 'जयतिहुषण स्तोत्र'^१ सबसे अधिक प्राचीन है। भगवान महावीर के समवर्षण में प्रविष्ट होते समय गौतम ने इसी स्तोत्र से उनकी अभ्यर्थना की थी।

आचार्य कुन्दकुन्द ने चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति में 'तित्थयर सुदि' की रचना की थी जिसे श्वेताम्बर समाज में 'लोगस्स मुत्त' कहते हैं।

भयहर स्तोत्र^२ मानतुंग सूरि विरचित है। इसके २१ पद्यों में भगवान पार्श्वनाथ की भक्ति

१ प्रकाशक—जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

२ जैन स्तोत्र संदीर्घ (द्वितीय भाग), चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद

निवेदित की गई है। मानतुंग का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी है।

उवसग्गहर स्तोत्र^१ भद्रबाहु की रचना है। ये भद्रबाहु श्रुत केवली भद्रबाहु से भिन्न हैं। इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है। इसमें कुल २० गाथाएँ हैं। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति है। यह स्तोत्र इतना लोकप्रिय है कि अनेक भौतिक रोगों के उपचार में इसका प्रयोग किया जाता है।

ऋषभ पञ्चाशिका^२ के रचयिता धनपाल (१० वीं शती) हैं। इसमें कुल ५० पद्य हैं जिसके प्रारम्भ के २० पद्यों में भगवान् ऋषभ के जीवन की गाथाएँ हैं और शेष ३० में उनकी प्रशंसा की गयी है।

महावीर स्तोत्र^३—इसके रचयिता अभयदेव सूरि हैं। इसमें २२ पद्य हैं।

पंचकल्याणक स्तोत्र—जिनवल्लभ सूरि (१२ वीं शती) ने इसकी की है। इसमें कुल २६ पद्य हैं। इस पर कई टीकाएँ लिखी गयी हैं।

चतुर्विंशति जिनकल्याणकल्प और अम्बिकादेवी कल्प^४—यह जिनप्रभ सूरि (१४ वीं शताब्दी) रचित है। सूरिजी का स्थान जैन स्तोत्रकारों में बहुत ऊँचा है। आपने ७०० स्तोत्रों की रचना की थी किन्तु अभी आपके ७० स्तोत्र ही उपलब्ध हैं। इन स्तोत्रों में यमक, श्लेष, चित्र तथा विविध छन्दों का चमत्कार देखा जा सकता है।

अजित संतिथय^५—यह नंदिषेण रचित है (९ वीं शताब्दी)। इसमें भगवान् अजितनाथ एवं शान्ति-

नाथ की सम्मिलित प्रार्थना है। इस स्तोत्र के अनुकरण पर १२ वीं शती में जयवल्लभ ने 'अजित शान्ति स्तोत्र' और वीरनन्दि ने 'अजिय संतिथय' स्तोत्र की रचना की।

शाश्वत चैत्यस्तव^६—इसकी रचना देवेन्द्रसूरि ने की है। इनका समय १३ वीं शताब्दी है। इसकी २४ गाथाओं में श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या और उनकी भक्ति प्रदर्शित है।

निर्वाणकाण्ड—यह प्राकृत का प्राचीन स्तोत्र है। इसमें कुल २१ गाथाएँ हैं। जैनों के दिगम्बर सम्प्रदाय में इसकी बहुत मान्यता है। जिन-जिन स्थानों पर जैन तीर्थकरों ने निर्वाण प्राप्त किया उनकी प्रार्थना इसमें है। एक तरह से इसे जैन तीर्थ स्थानों का इतिहास करना चाहिए।

लब्धजित शान्तिस्तवन^७—इसकी रचना अभय-देवसूरि के शिष्य जिनवल्लभ सूरि द्वारा विक्रम की बारहवीं शती में हुई। इस स्तोत्र पर धर्मतिलक मुनि ने सं. १३२२ वि. में बृत्ति लिखी है। इसमें कुल १७ पद्य हैं। कविता बड़ी मनोरम एवं लालित्यपूर्ण है।

निजात्माष्टकम्^८—इसके रचयिता 'परमात्म-प्रकाश' के प्रसिद्ध रचयिता योगेन्द्रदेव हैं। इसमें कुल आठ पद्य हैं। यह स्तोत्र दार्शनिक भावधारा से ओतप्रोत है।

१ साराभाई मणिलाल नबाव द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन साहित्य और ग्रन्थावलि' में संग्रहीत सन् १९३२ ई.

२ काव्यमाला सप्तम गुच्छक—पं. दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण सम्पादित सन् १९२६ ई०

३ जैन स्तोत्र संदीह (प्रथम भाग), पृ. १९७-९९

४ मुनि जिनविजय सम्पादित विविध तीर्थकल्प, सिंधी जैन ज्ञानपीठ, शान्ति निकेतन सं. १९६० वि.

५-६ प्राचीन साहित्य और ग्रन्थावलि में संग्रहीत, सन् १९३२ ई.

७ वैराग्य शतकादि ग्रन्थ पञ्चकम् में पृ. ५० पर; देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड द्वारा सूरत से सन् १९४१ में प्रकाशित।

८ 'सिद्धान्तसारादि संग्रह' में संकलित, प्रकाशक—दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई वि. सं. १९०६

अरहंत स्तवनम्^१—इसके रचयिता समन्तभद्र हैं जो सम्भवतः प्रसिद्ध समन्तभद्र से भिन्न हैं। इसका कलेवर छोटा है किन्तु काव्यगुण दृष्टि से इसका विशिष्ट महत्व है।

इन स्तोत्रों के अतिरिक्त प्राकृत में और भी अनेक स्तोत्र लिखे गए हैं जिनमें मानतुंग का भय-हर स्तोत्र, जिनप्रभसूरि का पासनाह लघुधव, धर्म-बोधकृत इसिमंडल थोत्त, देवेन्द्रसूरि कृत चत्वारि-अट्टदसथव आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत स्तोत्र—जैन भक्तों ने प्राकृत के अति-रिक्त संस्कृत, अपभ्रंश एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं में विपुल परिमाण में स्तोत्र-ग्रंथों की रचना की है। साधारणतः संस्कृत पद्यों का निर्माण छन्दशास्त्र में उल्लिखित छन्दों में ही किया जाता है किन्तु जैन कवियों की यह विशेषता है कि उन्होंने लोकरुचि को ध्यान में रखकर विविध राग-रागि-नियों एवं देशियों का उपयोग अपने स्तोत्रों में किया है। गुजरात एवं राजस्थान के सैकड़ों लोक-गीत जो अब विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुके हैं वे पूरे-के-पूरे जैन कवियों द्वारा रचित रासों, ग्रन्थों एवं स्तोत्रों में सुरक्षित हैं। इस दृष्टि से इनके उप-कार को साहित्य-संसार भूल नहीं सकता।

१. स्वयम्भू स्तोत्र—संस्कृत में आचार्य समन्तभद्र एवं सिद्धसेन दिवाकर आद्य स्तुतिकार माने जाते हैं। आचार्य समन्तभद्र का स्वयम्भू स्तोत्र प्रसिद्ध है जिसका अनुवाद हिन्दी के अनेक जैन कवियों ने किया है। इसके अतिरिक्त इनके कुछ अन्य स्तोत्र भी प्रसिद्ध हैं। जैसे देवागम स्तोत्र, जिनशतक आदि।

२. कल्याण मन्दिर स्तोत्र—यह आचार्य सिद्ध सेन दिवाकर द्वारा रचित है। इसमें कुल ४४ पद्य हैं। इस स्तोत्र की मान्यता जैनों के सभी सम्प्रदायों में है। हिन्दी के जैन कवियों ने इसका भी अनुवाद

किया है। इनके द्वारा रचित एक और स्तोत्र है— द्वात्रिंशिका स्तोत्र। इसमें भगवान महावीर की स्तुति है।

३. आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद रचित स्तोत्र— इन्होंने सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, तीर्थकरभक्ति आदि से सम्बन्धित बारह स्तोत्रों की रचना की है जो 'दसभक्ति' नामक प्रकाशित ग्रन्थ में संकलित है।

४. पात्रकेशरी स्तोत्र—इसके रचयिता विद्या-नन्दि हैं। इसके ५० पद्यों में भगवान महावीर की स्तुति की गई है।

५. भक्तामर स्तोत्र—इस स्तोत्र का सम्मान जैनधर्म में बहुत अधिक है। इसके रचयिता आचार्य मानतुंग हैं। इसमें कुल ४८ श्लोक हैं। इसका अनु-वाद हिन्दी और अंग्रेजी में भी हुआ है।

६. चतुर्विंशति जिन स्तोत्र—यह बप्पभट्टि (सन् ७४८-८३८ ई०) का लिखा हुआ है। इसमें ६६ पद्य हैं। किंवदन्ती है कि रचयिता ने कन्नौज के राजा यशोवर्मा के पुत्र अमरराज को जैनधर्म में दीक्षित किया था। इनके द्वारा रचित एक 'सरस्वती स्तोत्र' भी मिलता है।

७. शोभन स्तोत्र—शोभन कवि लिखित होने के कारण इसे 'शोभन स्तोत्र' कहते हैं। इनका समय विक्रम की दसवीं शती है। इसका शब्द-चमत्कार दर्शनीय है। कवि के भाई घनपाल ने इसकी टीका लिखी है।

८. स्तुति चतुर्विंशतिका—इसके रचयिता सुन्दर-गणि हैं जो अकबर के प्रबोधक खरतरगच्छाचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि के शिष्य हर्षविमल के शिष्य थे। इसमें १३ प्रकार के छन्द हैं। इसमें यमक की छटा दर्शनीय है। इसकी प्रत्येक स्तुति के चार पदों में प्रथम में किसी एक तीर्थंकर की स्तुति, दूसरे में सर्व जिनों की, तृतीय में जिन प्रवचन और चौथे में शासन-सेवक देवों का स्मरण किया गया है।

१ अनेकान्त वर्ष १८, किरण ३ में प्रकाशित।

इसकी प्रेरणा से रचित कुछ अन्य रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। जैसे मेरुविजय की जिनानन्द स्तुति, चतुर्विंशतिका, यशोविजय उपाध्याय की ऐन्द्रस्तुति, चतुर्विंशतिका, हेमविजय रचित चतुर्विंशतिका आदि।

६. विषापहार स्तोत्र—इसके रचयिता धनंजय (८-९वीं शती) हैं। ऐसी मान्यता है कि इसके पाठ से सर्प का विष दूर हो जाता है।

१०. बाविराजसूरि के स्तोत्र—‘एकीभावस्तोत्र’, ‘ज्ञानलोचन स्तोत्र’ और ‘अध्यात्माष्टक’—ये तीन स्तोत्र प्रसिद्ध हैं। ‘एकीभाव स्तोत्र’ का अनुवाद हिन्दी के अनेक जैन कवियों ने किया है।

११. आचार्यहेमचन्द्र के स्तोत्र—आचार्यहेमचन्द्र ने कुमारपाल की प्रार्थना पर ‘वीतरामस्तोत्र’ की रचना की। इसके बीस भाग हैं और प्रत्येक भाग में आठ या नव स्तोत्र हैं। भाषा बड़ी कवित्वमयी है। इनके रचे दो और स्तोत्र हैं—महावीर स्तोत्र और महादेव स्तोत्र।

इनके अतिरिक्त और भी स्तोत्रकार हुए हैं जिन्होंने बड़ी ललित पदावली में अपने आराध्यों की भक्ति में स्तोत्र ग्रन्थों का प्रणयन किया है। १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिनरत्नसूरि, अभयतिलक, देवमूर्ति, जिनचन्द्रसूरि एवं उत्तरार्द्ध में जिनकुशल सूरि, जिनप्रभसूरि, तरुणप्रभसूरि, लब्धिनिधान, जिनपद्मसूरि, राजेशखराचार्य आदि स्तोत्रकर्ता हुए हैं।

१५ वीं सदी में जिनलब्धसूरि, लोकहिताचार्य, भुवनहिताचार्य, विनयप्रभ, मेरुनन्दन, जिनराजसूरि, जयसागर, कीर्ति रत्नसूरि आदि स्तोत्रकर्ता हुए।

१६ वीं शती में क्षेमराज, शिवसुन्दर, साधुसोम आदि; १७ वीं शती में जिनचन्द्रसूरि, समयराज, सूरचन्द्र, पद्मराज, समयसुन्दर, उपाध्याय गुणविजय, सहजकीर्ति, जीववल्लभ आदि। १८ वीं शती में धर्मवर्द्धन, ज्ञानतिलक, लक्ष्मीवल्लभ

आदि; १९वीं शती में रामविजय, क्षमाकल्याण आदि स्तोत्रकार हुए हैं।

अगरचन्द्र नाहटा ने पुण्यशील रचित ‘चतुर्विंशति जिनेन्द्र स्तवनानि’ की भूमिका में अनेक स्तोत्र ग्रन्थों की सूचना दी है।

‘Ancient Jain names’ नामक एक पुस्तक का सम्पादन Charlottle Krause नामक एक जर्मन विद्वान द्वारा हुआ है जो ‘उज्जैन सिन्धिया ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट’ द्वारा सन् १९५२ ई० में प्रकाशित हो चुका है। इसमें आठ स्तोत्र संग्रहीत हैं जो भाषा और भाव, दोनों दृष्टियों से उत्तम हैं।

अपभ्रंश स्तोत्र

अपभ्रंश भाषा में भी जैन भक्तों ने कुछ स्तोत्रों की रचना की है किन्तु इनकी संख्या संस्कृत एवं प्राकृत की तुलना में अत्यल्प है। काव्य के प्रसंग के भीतर लिखे गए कुछ स्तोत्र भाषा और भाव की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं किन्तु स्वतन्त्र रूप में लिखे गए स्तोत्र काव्य गुण की दृष्टि से बहुत महत्व नहीं रखते।

स्वयम्भू के ‘पद्मचरित’ एवं पुष्पदन्त के महापुराण में जिनदेवता की स्तुति बड़े भावपूर्ण शब्दों में की गयी है।

धनपाल (११ वीं शती) ने भगवान महावीर की प्रशंसा में ‘सत्पुरीय महावीर उत्साह’ स्तोत्र की रचना काव्यमयी भाषा में की है। १३ वीं शती के जिनप्रभसूरि ने कुछ स्तोत्र ग्रन्थों की रचना की है जिनमें प्रसिद्ध है—जिनजन्ममहः स्तोत्रम्; जिनजन्माभिषेक, जिनमहिमा, मुनिसुव्रत स्तोत्रम् आदि। इनका काल विक्रम की १३ वीं शताब्दी है। श्री धर्मघोषसूरि (सं. १३०२-१७ वि.) ने २७ पद्यों में ‘महावीर कलश’ की रचना की है। महाकवि रङ्गू न आत्मसम्बोधन, दशलक्षण जयमाल और संबोध पंचाशिका स्तोत्र की रचना अपभ्रंश में की है। गणि महिमासागर ने ‘अरहंत चौपई’ नामक स्तोत्र का प्रणयन किया है।

डा० कस्तूरचन्द कासलोवाल द्वारा संपादित राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची में भी बहुत से स्तोत्र-ग्रन्थों की नामावलि मिल सकती है। 'स्तवन' ग्रन्थों की विस्तृत सूची डा० प्रेमसागर जैन रचित 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि' में उपलब्ध है।

हिन्दी जैन-स्तोत्र-साहित्य

हिन्दी में स्तोत्र-साहित्य का ग्रन्थन मौलिक रूप में नहीं हुआ है। अपनी लोकप्रियता एवं काव्य-सम्पदा के कारण पंचस्तोत्रों—'भक्तामर', 'कल्याण मन्दिर', 'विषापहार', 'एकीभाव' और चतुर्विंशति स्तवन' ने हिन्दो जैन कवियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है और फलस्वरूप इनके बीसियों पद्यानुवाद प्रस्तुत किये हैं। इन अनुवादों में यद्यपि कवियों ने अपनी मौलिक प्रतिभा का उपयोग कर इन्हें रस-संवेद्य बनाने की चेष्टा की है, किन्तु इतना होते हुए भी एक भी अनुवाद ऐसा नहीं हुआ है जो मूल ग्रन्थ की समकक्षता प्राप्त कर सके। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ही कृति के अनेक अनुवाद भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। इन अनूदित स्तोत्रों के अतिरिक्त कुछ मौलिक स्तोत्र भी हिन्दी के जैन कवियों द्वारा प्रणीत हुए हैं। इन स्तोत्रों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) विनती (ख) स्तुति (ग) प्रार्थना । इन स्तोत्रों की रचना करने वालों में कुछ प्रमुख हैं—

१. विनयप्रभ—इनकी पाँच स्तुतियाँ प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक स्तुति में २०-३० के लगभग पद्य हैं। 'सीमन्धर स्वामि स्तवन' को भी इन्हीं की रचना माना गया है।

२. मेहनन्दन उपाध्याय (सं. १४१५)—इनके दो स्तवन 'अजित शान्ति स्तवन' और 'सीमन्धर जिन स्तवनम्' प्राप्त हैं।

३. उपाध्याय जयसागर (सं. १४०८-६५)—ये संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान थे।

प्राकृत में उनका 'उवसग्गहर स्तोत्र वृत्ति' प्रसिद्ध है।

प्राचीन हिन्दी में इन्होंने 'चतुर्विंशति जिन-स्तुति', 'स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवन', 'विरहमान जिन स्तवन' आदि की रचना की है। इनके अतिरिक्त 'जिनकलशसूरिचतुष्पदी' में सूरिजिनकुशल की महिमा का इन्होंने गान किया है।

४. श्री पद्ममति लक (१५वीं शती का उत्तरार्द्ध)—इनके द्वारा रचित 'गर्भ विचार स्तोत्र' प्रसिद्ध है। इस स्तोत्र ग्रन्थ में गर्भवास के दुःखों के वर्णन की पृष्ठभूमि में इससे छुटकारा दिलाने की प्रार्थना भगवान ऋषभनाथ से की गयी है।

५. विनयप्रभ उपाध्याय (सं० १५१२)—इन्होंने अनेक स्तुतियाँ लिखी हैं जिनमें 'सीमन्धर स्वामि स्तवन' प्रसिद्ध है।

६. अभयदेव (सं० १६२६)—इनके 'शंभन पार्श्वनाथ स्तवन' में स्तम्भनपुर में विद्यमान भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रार्थना है।

७. गणिकक्षतिरंग—इनका 'खैराबाद पार्श्व जिन स्तवन' खैराबाद स्थित भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा को लक्ष्य कर लिखा गया है।

८. ब्रह्मजिनदास—ये संस्कृत, प्राकृत एवं देश-भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान थे। संस्कृत में आपने अनेक पूजाएँ लिखी हैं। हिन्दी में इन्होंने 'कथा कोष संग्रह' लिखा जिसमें 'पंचपरमेष्ठी गुण वर्णन' संगृहीत है। इसमें पंचपरमेष्ठियों की प्रार्थना की गयी है।

९. ठकुरसी—सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवियों में इनकी गणना की जाती है। अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त स्तोत्र से सम्बन्धित इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—चिन्तामणि जयमाल और सीमन्धर स्तवन।

१०. पद्मनन्द—इनके दो स्तोत्र ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं—देवतास्तुति तथा परमात्मराज-स्तवन।

११. भट्टारक शुभचन्द्र (सं० १५७३ वि०)—
इनकी लिखी हुई ४० से अधिक रचनाएँ प्राप्त हुई
हैं जिनमें निम्नलिखित स्तोत्र प्रसिद्ध हैं—(१) चतु-
विंशति स्तुति, (२) अष्टाल्लिका गीत, (३) महावीर
छन्द, (४) विजयकीर्ति छन्द, (५) गुरु छन्द, (६)
नेमिनाथ छन्द ।

१२. आनन्दधन—इनका स्थान जैन कवियों में
अप्रतिम है । इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—चौबीसी
और बहत्तरी । चौबीसी गुजराती में है जिसमें
चौबीस तीर्थकरों की स्तुति है ।

१३. उदयरज जती (सं० १६६७)—रचनाएँ—
भजन छतीसी, चौबीस जिन सर्वैया ।

१४. कल्याण कीर्ति—जीराबली पार्श्वनाथ
स्तवन, नवग्रह स्तवन, तीर्थकर विनती, आदीश्वर
ब्रह्मावा ।

१५. कनककीर्ति—मेघकुमार गीत, जिनराज-
स्तुति, श्रीपाल स्तुति, पार्श्वनाथ की आरती,
विनती ।

१६. कुमुदचन्द्र—मुनिसुव्रत विनती, आदीश्वर
विनती, पार्श्वनाथ विनती, त्रेपनप्रिया विनती, जन्म-
कल्याणक गीत, शील गीत आदि ।

१७. कुशल लाभ—पूज्यवाहणगीतम् ।

१८. गुणसागर—शान्तिनाथ स्तवन, पार्श्वजिन्म-
स्तवन ।

१९. जयकीर्ति—महिम्न स्तवन ।

२०. पाण्डे जिनदास—जिन चैत्यालय पूजा
(संस्कृत) एवं मुनीश्वरों की जयमाल ।

२१. नरेन्द्र कीर्ति—बीस तीर्थकर पूजा (संस्कृत),
पद्मावती पूजा (संस्कृत), ढाल-मंगल की
(हिन्दी) ।

२२. ब्रह्मगुलाल—समवसरण स्तोत्र ।

२३. बनारसीदास—'बनारसी विलास' में इनके
६ स्तोत्र संगृहीत हैं ।

२४. भगवतीदास—ये भैया भगवतीदास से
भिन्न हैं । इनकी २३ रचनाएँ प्राप्त हैं जिनमें स्तोत्र

सम्बन्धी निम्नलिखित रचनाएँ हैं—बीर जिमेन्द्र
गीत, आदिमाथ स्तवन, शान्तिमाथ स्तवन ।

२५. रामचन्द्र—इनके द्वारा रचित तीन स्तवन
ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—बीकानेर आदिमाथ स्तवन, सम्मेद
शिखर स्तवन और दशपंचकखण ।

२६. महारक शुभचन्द्र—संस्कृत ग्रन्थों के अति-
रिक्त हिन्दी में लिखे इनके स्तोत्र ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं ।
जैसे—चतुर्विंशति स्तुति, अष्टाल्लिकागीत, क्षेत्रपाल-
गीत, महावीर छन्द, आरती, गुरु छन्द आदि ।

२७. मुनि सकलकीर्ति—पार्श्वनाथाष्टक ।

२८. पाण्डे रूपचन्द्र—इनके भी कई स्तोत्र
प्रसिद्ध हैं ।

२९. सहजकीर्ति—प्राती, जिनराजसूरि गीत,
साधु कीर्ति, जैसलमेर चैत्य प्रवाडी ।

३०. सुमतिकीर्ति—जिनवरस्वामी विनती, जिन
विनती, क्षेत्रपाल पूजा ।

३१. हर्षकीर्ति—जिनभक्ति, बीस तीर्थकर
जकड़ी, पार्श्वनाथ पूजा, बीस विहरमाण पूजा ।

३२. पं० हीरानन्द—समवसरण स्तोत्र, एकी-
भाव स्तोत्र ।

३३. मुनि हेमसिद्ध—आदिनाथ गीत ।

३४. छानतराय—स्वयम्भू स्तोत्र तथा 'धर्म
विलास' में निबद्ध दस पूजा ग्रन्थ ।

३५. हेमराज—भक्तामर स्तोत्र ।

पाण्डेय हेमराज, अखयराज और धनदास ने
'भक्तामर स्तोत्र' का पद्यानुवाद किया है । हेम-
राज का यह अनुवाद सरल और स्पष्ट तो है ही
इसके मूलभाव को भी स्पष्ट करता है । कुमुदचन्द्र
कृत 'कल्याण मन्दिर स्तोत्र' बहुत ही लोकप्रिय स्तोत्र
रहा है और इसी कारण हिन्दी के अनेक कवि
इसकी ओर आकृष्ट हुए हैं । इसके अनुवादकर्त्ताओं
में महाकवि बनारसीदास, अखयराज, भेलीराम
आदि अग्रगण्य हैं । महाकवि बनारसीदास का
अनुवाद सोलह भाग के चौपाई छन्द में है । भक्त
संस्कृत मूल स्तोत्र से जो आनन्द प्राप्त करता है

वही आनन्द बनारसीदास के अनुवाद से एक हिन्दी-भाषी को उपलब्ध होता है। जैसे—

सुमन वृष्टि जो सुरकरहि, हेठ बीट मुख सोहि ।
ज्यों तुम सेवत सुमनजन, बन्ध अधोमुख होहि ॥
कहहि सार तिहुँ लोक को, ये सुर चामर दोय ।
भाव सहित जो जिन नमें, तसुगति ऊरध होय ॥

—कम संख्या २१, २२

‘एकीभाव स्तोत्र’ हिन्दी-कवियों को बहुत प्रिय रहा है। इसका अनुवाद पं० हीरानन्द, अखयराज, भूधरदास, जगजीवन और दानतराय ने प्रस्तुत किया है। ‘एकीभाव’ के चौदहवें श्लोक का अनुवाद करते हुए दानतराय लिखते हैं—

मुक्ति पन्थ अद्य तम बहुभर्यो,
गढे कलेस विसम विसतर्यो ॥
सुख सौं सिवपह पहुंचे कोय,
जो तुम बच मन दीप न होय ॥

ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ ढादिराज ने ‘रत्नदीप’ लिखा है वहाँ दानतराय ने मात्र ‘दीप’ ही रहने दिया है। अवश्य ‘मन’ शब्द अधिक है। घोर तमिल्ला के बीच ‘दीप’ की तुलना में ‘रत्नदीप’ अधिक सटीक एवं सार्थक है।

इसी पद्य को भूधरदास ने अधिक कुशलता से ग्रहण किया है। उन्होंने ‘मणिदीप’ को ज्यों का त्यों रहने दिया है।

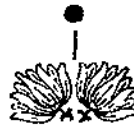
सिखपुर केरो पन्थ पाप तम सों अति छायो ।
दुःख सरूप बहु कूप खण्ड सों विकट बतायो ॥
स्वामी सुख सों तहाँ कौन जन मारग लागे ।
प्रभु प्रवचन मणि दीप जोन के आगे आगे ॥

‘विषापहार स्तोत्र’ का अनुवाद विद्यासागर ने किया है। कवि का यह अनुवाद बड़ा सटीक एवं सार्थक हुआ है। इसी प्रकार भूपाल कवि कृत ‘चतुर्विंशति स्तोत्र’ का अनुवाद भी सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है। दोहा-चौपाई शैली में कवि ने मूल भावों की पूर्णतः रक्षा की है।

इन अनूदित स्तोत्रों के अतिरिक्त मौलिक स्तोत्रों की रचना भी प्रचुर परिमाण में ही है। इस प्रकार जैन-स्तोत्र-साहित्य गुण एवं परिमाण, दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है और एक स्वतन्त्र शोध की अपेक्षा रखता है।

नोट—लेख में वर्णित अनेक धारणाएँ लेखक की अपनी स्वतन्त्र हैं। श्वेताम्बर परम्परा की धारणाओं से भिन्नता भी है, अतः लेखक एवं पाठक से निवेदन है, वे इस विषय पर सन्तुलित चिन्तन करें।

—सम्पादक



भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुक्लवस्त्रं विवाहं च न कुर्यात् केनचित् सह ॥

—मनुस्मृति ४/१३६

मानव के लिए उचित है कि सदा ही भद्र-मधुर शब्दों का प्रयोग करे। अच्छा है, उचित है—सामान्य रूप से ऐसा ही कहना उचित है। किसी के भी साथ व्यर्थ की शत्रुता अथवा विवाद करना उचित नहीं है।

□ डॉ० गंगाराम गर्ग

प्राध्यापक महारानी श्री जया कालिज,
भरतपुर

नीतिकाव्य के विकास में हिन्दी-

जैन मुक्तक काव्य की भूमिका

संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश साहित्य की तरह हिन्दी में भी नीतिकाव्य की समृद्ध परम्परा रही है। 'कान्तासम्मिततथोपदेशयुजे' की धारणा के अनुसार नीति-सिद्धान्तों की प्रेरणाप्रद चर्चा साहित्य का चरम लक्ष्य भी है।

उत्तर मध्यकाल में शासक का लक्ष्य स्वार्थ-लिप्सावश प्रजा का शोषण, रह गया तथा अधिकांश समाज नीतिभ्रष्ट होकर सुरा-सुन्दरी में लिप्त होना अपना आदर्श मानने लगा। हिन्दी के अधिकांश कवि भी अर्थलोलुप होकर घोर श्रृंगारिक तथा पतनोन्मुखी प्रेम प्रसंगों व झूठे प्रशस्तिगान को अपना कर्तव्य मानकर शब्दों का इन्द्रजाल दिखाने लगे। तब अनेक जैन कवियों ने समसामयिक वातावरण से प्रभावित न होकर ब्रजभाषा और उसमें प्रयुक्त दोहा, कवित्त, सवैया आदि छन्दों में ही ऐसा काव्य प्रस्तुत किया, जो व्यक्ति, समाज और शासन को आदर्श पथ प्रशस्त कर सके।

श्रीमाल परिवार में जन्मे श्वेताम्बर जैन बनारसीदास ने विभिन्न मत-मतान्तरों का रसपान कर एक नया भक्ति-रसायन तैयार किया, जिसमें आत्म-चिन्तन और सदाचार का पुट था। अब निर्गुण सन्त कवियों के समान जैन संतों की भक्ति और उपासना-पद्धति में सदाचार ने पहले से ज्यादा स्थान पा लिया। यही कारण है कि बनारसीदास के परवर्ती दिल्ली के दानतराय, बुन्देलखंड के

देवीदास, जयपुर के बुधजन और पार्श्वदास जैसे महाकवियों ने 'बनारसी विलास' के अनुकरण पर क्रमशः 'धर्मविलास', 'परमानन्द विलास', 'बुधजन विलास', 'पारस विलास' जैसे विशाल काव्यग्रन्थों का प्रणयन किया। इनमें अनेक गेय पदों के अतिरिक्त लघु रचनाओं के रूप में पर्याप्त अगेय मुक्तक भी हैं। जिनका प्रधान विषय नीति प्रतिपादन है।

जैन नीतिकाव्य की इसी परम्परा में अध्यात्म मत के अनुयायी कोसल देश के विनोदीलाल, दादरी देश के धामपुर निवासी मनोहरदास तथा लक्ष्मीचंद ने कवित्त-सवैयों की रचना की। पं. रूपचंद की 'दोहा परमार्थी' हेमराज के 'दोहा शतक' और 'बुधजन सतसई' के दोहे का प्रमुख प्रतिपाद्य भी नीति ही रहा। गुजरात और राजस्थान में विहार करने वाले महान् सन्त योगिराज ज्ञानसार की स्तवनपरक और भक्तिपरक रचनाएँ राजस्थानी में होते हुए भी दो नीति प्रधान रचनाएँ सम्बोध अष्टोत्तरी और प्रस्ताविक अष्टोत्तरी पश्चिम हिन्दी की रचनाएँ हैं। सद्यप्राप्त सोनीजी की नशियाँ अजमेर में विद्यमान क्षत्रशेष कवि द्वारा विरचित ५०० कवित्तों का ग्रन्थ 'मनमोहन पंचशती' नीतिकाव्य का अनुपम ग्रन्थ है। उक्त सभी ग्रन्थों में विद्यमान जैन नीति परम्परा का समन्वित रूप भारतीय संस्कृति की अनुपम धरोहर है। नीति परम्परा के चतुर्मुखी रूप—आचारनीति, अर्थनीति

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

४०३

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

सामाजिक नीति एवं राजनीति मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में उपलब्ध हैं।

आचार नीति—प्रत्येक मनुष्य के आचरण करने योग्य नैतिक सिद्धान्त आचार नीति के अन्तर्गत आते हैं। इन नीति-सिद्धान्तों की अपेक्षा समाज और शासन की तुलना में व्यक्ति के निजी व्यवहार के लिए अधिक होती है। मनुष्य के निजी आचरण के लिए उपयोगी मानी गई नीतियुक्त मान्यताएँ दो रूपों में प्रस्तुत की गई हैं—विधेयात्मक और निषेधात्मक। हिन्दी के जैन मुक्तक काव्य में उपलब्ध आचारगत मूल्य इस प्रकार है—

विधेयात्मक आचार नीति

अहिंसा—अहिंसा का सिद्धान्त जैनाचार का मूल है। जैनाचार में अहिंसा की सीमा किसी जीव की हत्या न करने तक ही सीमित नहीं। महाकवि बुधजन ने चोरी, चुषली, व्यभिचार, क्रोध, कपट, मद, लोभ, असत्य-भाषण तक को हिंसा का अंग मानकर उनके त्याग की प्रेरणा दी है। किसी भी व्यवहार से अन्य प्राणी का चित्त दुःखाना अहिंसा का उच्चतम आदर्श है। बुधजन के शब्दों में—

ये हिंसा के भेद हैं, चोर चुगल विभिचार
क्रोध कपट मद लोभ फुनि, आरम्भ असत विचार।

६६८

अपरिग्रह :

अध्वात्मी बनारसीदास चित्त की स्थिरता और शान्ति के लाभ के लिए अपरिग्रह वृत्ति को ग्राह्य बतलाते हैं—

जहाँ पवन नहीं संचरै, तहाँ न जल कहलोल।
त्यहाँ सब परिग्रह त्याग तें, मनसा होय अडोल।१।

—ज्ञान पच्चीसी

क्षमा—दश लक्षण धर्मों में प्रमुखतम, क्षमा-भाव एक अज्ञात कवि की बारहखड़ी रचना 'कको' में संघर्ष को दूर करने वाला कहा गया है—

षष्ठा षुटक निकारि कै, बिमा भाव चित्त त्याव।
षुले कपाट अभ्यास के, बिरे कर्म दुखदाय।

४०४

इन्द्रिय-निग्रह—स्पर्श, दर्शन, श्रवण, स्वाद व सूँघना पाँचों कर्मों के व्यवहार से प्राणी की पहचान होती है, किन्तु नीतिकारों ने इन इन्द्रियजन्य कर्मों का सेवन मर्यादानुकूल और सीमित ही माना है। अधिकांश जैन नीतिकारों ने हाथी, पतंग, मृग, मीन और अलि का उदाहरण देते हुए उक्त पाँचों कर्मों के अत्यधिक सेवन का निषेध किया है। बुधजन कहते हैं—

गज पतंग मृग मीन अलि, भये अद्य बसि नास।
जाके पाँची बसि नहीं, ताकी कैसी आस।।१६।।

पं० रूपचन्द ने दोहा परमार्थी में इनको दुःख-दायी और वृष्णा बढ़ाने वाला कहा है। उनकी धारणा है कि अस्थि का चर्वण करने वाले कुत्ते के समान विषयों के सेवन से विषयो मनुष्य की अतृप्ति बनी रहती है, फिर भी अज्ञानता के कारण वह अपनी ही हानि करता रहता है—

विषयन सेवत हो भले, तिस्ना तै न बुझाइ।
ज्यों जल खारी पीव तै, बाढै तिस अधिकाय।४।
विषयन सेवत दुख मले, सुष विति हारे जाँन।
अस्थि चवत निज रुधिर तै, ज्यों सुख मानत
स्वान।६।

इन्द्रिय-निग्रह का आधार है मन पर नियंत्रण। मनुष्य इन्द्रिय-लोलुप तभी रहता है, जब उसका मन मतवाले हाथी के समान अंकुश की अवहेलना कर देता है। बनारसीदास का कथन है—

ज्यों अंकुस मानें नहीं, महा मत्त गजराज।
ज्यों मन तिसना में फिरै, गिणै न काज अकाज।१०।
—ज्ञान पच्चीसी

कवि अगवतीदास ने मन के स्वतन्त्र स्वभाव का चित्रण 'मन बत्तीसी' में करते हुए उस पर विवेक का अंकुश लगाये रखने का संकेत दिया है—
मन सौं बली न दूसरी, देख्यौ यहि संसारि।
तीन लोक में फिरत हौ, जाइ न लागै बार।१५।
मन दासन कौ दास है, मन भूषन कौ भूष।
मन सब बातन जोग है, मन की कथा अनुप।१६।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

सत्संग—मध्यकाल में अध्यात्म-उपासना के प्रारम्भकर्ता साम्प्रदायिक वर्ग भेद से दूर महान् सन्त बभारसीदास ने सत्संग के सामर्थ्य को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जिस प्रकार मलयचल की सुमन्दिता पवन नीम के वृक्ष को चन्दन के समान सुगन्धित बना देती है, उसी प्रकार साधु का साथ कुर्जन को भी सञ्जन बना देता है—

निर्बादिक चन्दन करै मलयचल की वास ।
दुर्जन ते सञ्जन भयो, रहस साधु के पास । २०।

—ज्ञान पञ्चीसी

मनोहरदास ने 'पारस' के संस्कार से 'कंचन' में परिवर्तित होने वाले लोहे और 'रसायन' का सहयोग पा सुस्वादु बनने वाले 'कत्था' का भी उद्धरण देकर सत्संग का माहात्म्य पुष्ट किया है—

चन्दन संग कीये अनि काठि

जु चन्दन गंध समान जुहो है ।

'पारस' सों परसे जिम लोह,

जु कंचन मुद्ध सरूप जु सोहै ।

पाय रसायन होत कथोर

जु रूप सरूप मनोहर जो है ।

त्यो नर कोविद संग कीयै

सठ पंडित होय सबै मन मोहै ।

दान—दान अपरिग्रह का प्रकट रूप है। अतः दान की महिमा सभी जैन मुक्तककारों ने थोड़ी बहुत अवश्य कही है। महाकवि दानतराय की ५२ छन्द को रचना दान बावनी के अनुसार निर्धन, सेवक, भाट, साधु को दिया गया दान ही लाभकारी नहीं होता, अपितु शत्रु को दिया गया दान घैरभाव को समाप्त कर देने का महत्वपूर्ण काम करती है—

दोन को दीजिये होय दया मन,

मीत को दीजिये प्रीति बढ़ावै ।

सेवक को दीजिए काम करै बहु,

साहब दीजिए आदर पावै ।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

शत्रु को दीजिए घैर रहै नहीं,

भाट को दीजिए कीरति गावै ।

साध को दीजिए मोख के कारन,

हाथ दियो न अकारथ जावै । १४।

जैन परम्परा में दान के चार प्रकार— औषधिदान, अन्नदान, अभयदान और ज्ञानदान महत्वपूर्ण माने गए हैं। बत्तीसडाला के रचयिता टेकचन्द ने चारों दानों का प्रतिफल इस प्रकार कहा है—

जो दे भोजन दान, सो मनवाँछित पावै ।

औषदि दे सो दान, ताहिन रोग सतावै ।

सूत्र तणां दे दान, ज्ञान सु अधिकौ पावै ।

अभैदान फल जीव, सिद्ध होइ सो अमर कहावै । ३२।

हेमराज गोदीका के मत से सम्पत्ति दान देने से शोभा और वृद्धि को प्राप्त करती है—

संपत्ति खरचत डरत सठ, मत संपत्ति घटि जाय ।

इह संपत्ति शुभ दान दी, विलसत बढ़त सवाइ । १६।

योगिराज ज्ञानसार जी ने अपना-पराया तथा पात्र-अपात्र का विचार किये बिना बड़ी उदारता से दान देने का निर्देश दिया है—

अनुकंपा दाने दियत, कहा पात्र परखंत ।

सम विसभी निरखै नहीं, जलधर धर बरसंत । १५।

—प्रस्तावित अष्टोत्तरी

वचन—सृष्टि के अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को वाणी की सुविधा परमात्मा की एक अद्भुत कृपा है। महाकवि बभारसीदास और ज्ञानसार दोनों ने ही कर्कश वचन त्यागकर मृदु वचन कहना प्रियता और टूटे दिलों को जोड़ने का साधन बतलाया है—

जो कहै सहज करकश वचन, सो जग अप्रियता लहे

—वच. रत्न कविस्त-४

मन फाटे कूँ मृदु वचन, कहाँ करन उपचार ।

टूक टूक कर जुड़न कूँ, टाँका देत सुनार । ४४।

—संबोध अष्टोत्तरी

टेकचन्द्र के विचार से बिना समझकर बोलने से अपयश का भागी बनना होता है—
वचन बोलिये समझि कै द्रव्य क्षेत्र जोइ ।
बिन समझै बोलति ह्वै, अपजस लेह सोइ ।२७।

महाकवि बुधजन ने जिह्वा पर नियंत्रण रखकर अधिक खाने के अतिरिक्त अधिक बोलने की मनाही भी की है—

रसना राखि मरजादि तू, भोजन वचन प्रमान ।
अति भोगति अति बोलतें, निहचै हो है हान ।२१७।

अवसरोचित व्यवहार—मनुष्य एक सामाजिक एवं बुद्धिसम्पन्न प्राणी है। अतः उसमें अवसरानुकूल व्यवहार की चतुराई जैन नीतिकारों ने भी आवश्यक मानी है। प्रकृति के सभी कार्य यथावसर सम्पन्न होते हैं इसलिए कवि 'गद' मनुष्य को अवसर न चूकने का उपदेश देते हैं—

अवसरि घनहर गुडै, फूल पणि अवसरि फूलै ।
अवसरि बालित बल गहर, निसाण गहीलै ।
अवसरि बरसै मेह, गीत पणि अवसर गावै ।
अवसर चूकै मूढ तकै, पाछै पिछतावै ।
अवसरि सिंगार कामणि करै,

अवसर भ्रात परखिये ।
कवि 'गद' कहै सुण राय हो,
सो अवसर कबहु न चूकिये ।

बुधजन बोलने और मौन रहने के लिए भी अवसर का ध्यान रखना अपेक्षित समझते हैं—

औसर लखि के बोलिये, जथा जोगता बैन ।
सावन भादों बरस तैं, सबही पावै चैन । ११६।
बोल उठै औसर बिना, ताका रहै न मान ।
जैसे कातिक बरस तैं, निन्दै सकल जहान । ११७।

समता—निन्दा अथवा स्तुति, द्वेष और राग को बढ़ाती है, अतः नीतिकारों ने समता भाव धारण करने पर बल दिया है। समता भाव से व्यक्ति की वाणी सहज ही मधुर हो जाती है—
निदान करै काहू, औगुन परिगुन जाइ ।
संवर मन करि कै, समता रस धारि जू ।२१।

गुन हीये करै जू धाय, औगुन नहि चितलाय ।
मधुर बैन बोलै, सुमारिग की लेत जू ।२२।
समतावान व्यक्ति क्रोधी व्यक्ति को भी शान्त कर देता है—

अति शीतल मृदु वचन तैं, क्रोधानस बुझ जाय ।
ज्यू उफणतैं दूध कू, पानी देत समाय ।१८।
—ज्ञानसार कृत प्रस्तावित अष्टोत्तरी ।

महाकवि व्यानतराय समतावान् से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह शत्रु का भी सम्मान करे—

थावर जंगम मित्र रिपु, देखे आप समान ।
राग विरोध करै नहीं, सोई समतावान ।

—तत्त्वसार भाषा, छंद ३८
निज शत्रु जो घर मांहि आवै, मान ताकी कीजिए ।
अति ऊँच आसन मधुर वानी, बोलिकै जस लीजिए ।

—दान बावनी छंद २७

दया—कविवर विनोदीलाल ने अपनी रचना 'नवकार मंत्र महिमा' में सभी उपासना पद्धतियों में श्रेष्ठ व उत्तम साधना कहकर 'दया' को सर्वाधिक महत्व दिया है—

द्वारिका के न्हाये कहा, अंग के दगाये कहा,
संख के बजाये कहा राम पाइतु है ।
जटा के बढ़ाये कहा, भसम के चढ़ाये कहा,
धूनी के लगाये कहा सिव ध्यायतु है ।
कान के फराये कहा, गोरष के ध्याये कहा,
सींगी के सुनाये कहा सिद्ध ल्याइतु है ।
दया धर्म जाने आपा पहिचाने बिनु,
कहै 'विनोदी' कहूँ मोष पाइतु है ।३३।

मर्यादा-रक्षण—अपने कर्तव्य अथवा लक्ष्य की पूर्ति में जुटे रहने व उसमें सर्वस्व होम देने का संकेत सभी नीतिकारों ने दिया है। सतसईकार बुधजन का कहना है—

लाज काज खरचे दरव, लाज काज संग्राम ।
लाज गये सरबस गयी, लाज पुरुष की मांम ।११८।
शील—'कको' नाम की बारहखड़ी रचना में

शील को तप और 'वैराग्य' के समकक्ष महत्त्व दिया है—

स सा शील सरोक्षो तप नहीं शील बड़ो वैराग ।
शील सरपन बाबड़े, सीला सीतल आग ।

क्षत्रशेष शील को विघ्नविनाशक, दुःखहर्ता तथा पूर्व कर्मबंधों को विघटित करने वाला मानते हैं । शील ही यश और सुख का दाता है । अन्य गुणों का समूह तो शील के पालन होने पर स्वतः ही हृदय में बस जाता है—

शील तैं सकल गुन आप हिय वास करैं,
शील तैं सुजस तिहु जग प्रघटत है ।
शील तैं विघन ओघ रोग सोग दूर होय,
शील तैं प्रबल दोस दुष विघटत है ।
शील तैं सुहाग भाग दिन दिन उदै होय,
पूरब करम बंध दिननि घटत है ।
शील तैं सुहित सुचि दीसत न आनि जग,
शील सब सुष मूल वेद यों रटत है ।

निषेधात्मक आचार नीति

मनुष्य को जिन मनोवृत्तियों और दुर्गुणों से दूर रहने को कहा जाता है, उन्हें निषेधात्मक मूल्य कहा जा सकता है । जैन मुक्तकों में ये मूल्य इस प्रकार हैं—

सप्त व्यसन—अधिकांश जैन नीतिकारों ने रीतिकाल के प्रमुख दुर्गुण छूतक्रीड़ा, मद्यपान, मांस-भक्षण, पर-नारीगमन, शिकार, स्तेय और वेश्या-गमन आदि दुर्गुणों की कई स्थानों पर तीव्र भर्त्सना की है । बारहखड़ी के रचयिता जैन कवि सूरति सप्तव्यसन के त्याग को ही सुख पाने का आधार बतलाते हैं—

बबा विसन कुविसन है, विसन सात तू त्यागि ।
बसि करि पाँचों इंद्रिनि कौं सुभ कारिज कौं लागि
शुभ कारज कौं लाग करि विसन सात ये भारी ।
जूवां आमिस, सुरापान, मधु षेटक नाम विसारी ।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

परधन चोरी अर वेश्या को त्याग करी परनारी ।
'सूरति' इस भव में सुख पावे, परभव सुख अधि-
कारी ॥२६॥

विनोदीलाल ने सप्त व्यसनों में रत व्यक्ति को नरक में जाने का भय दिखाया है—

हिंसा के करैया, मुख झूठ के बुलैया,
परधन के हरैया, करुणा न जाकै हीये हैं ।
सहत के खवईया, मदपान के करइया,
कन्द मूल के षवइया, अरु कठोर अति हीये हैं ।
शील के गमइया, झूठी साखि के करइया,
महा नरक के जवइया जिन और पाप कीए हैं ।

नीतिकार लक्ष्मीचन्द ने सातों व्यसनों को त्यागने की शिक्षा उपदेशात्मक शैली में श्रावक को इस प्रकार दी है—

जुवा मति षेलौ जानि, मांस अति षोटो मानि,
मद सब तजि अर वेश्यां तजि नर तू
आखेट न कीज्यो मुक्ति चोरी न करी
भूल पर बनिता तजि हित निज नारी करिजू ।
ऐहि सात विसन जानि, त्यागि भव उर आनि ।
कहै जिनवानी में षोटे चित धरिजू ॥२४॥

सामन्तों की विलासप्रियता को बढ़ाने वाले अर्थलोलुप दरबारी कवियों को परकीया-प्रेम के अमर्यादित आकर्षक चित्र खींचने में कोई संकोच नहीं रहा था, उनका आचरण भारतीय आचार-विचार के बड़ा प्रतिकूल था । जैन कवियों को इससे बड़ी खीझ रही । अतः उन्होंने उग्र स्वरो में परकीया-प्रेम की भर्त्सना की । लक्ष्मीचन्द परनारी को विष की झाल और अग्निदाह की संज्ञा देकर उसकी भयानकता इस प्रकार प्रकट करते हैं—

परनारी परतषि जानि अति विष की झाला ।
परनारी परतषि मान, तुव अगनि विसाला ।

परनारी परतपि, सील गुन भांजे छिन में ।
 परनारी परतपि, जानि षोटी बति मन में ।
 एह जानि भवि पर नारि कौ,
 तजौ सील गुन धारि कै ।
 'लषमी' कहत रावन गये,
 नरक भूमि मिहारि कै ।

कषाय—जैन आचार परम्परा में काम, क्रोध, मोह और मान चार कषाय माने गये हैं, जिनका त्याग श्रावक को आवश्यक माना है। नीतिकारों ने कषाय का विवेचन इस प्रकार किया है।

द्यानतराय ने बृद्धावस्था की दुर्दशा का चित्रण करते हुए लोभ द्वारा निबन्धित रहने की भर्त्सना प्रेरणाप्रद स्वरों में की है—

भूख गई घटि, कूख गई लटि,
 सूख गई कटि खाट पर्यो है ।
 बैन चलाचल नैन टलावल
 चैन नहीं पल व्याधि भर्यो है ।
 अंग उपांग थके सरवंग प्रसंग किए

जन नाक सूर्यो है ।

'द्यानत' मोह चरित्र विचित्र, गई सब सोभ
 न लोभ हट्यो है ।३६
 —धर्मरहस्य बावनी

बृद्धावस्था में भी काम-वासना की निरस्तरता बने रहने की स्थिति बुधजन को पीड़ित करती है। तभी वे कामासक्त मनुष्य को प्रतारणा देते हुए कहते हैं—

तो जीवन में भामिनि के संग,
 निसदिन भोग रचावै ।
 अंधा हूँ धन्ये दिन सोवै,
 बूड़ा नाड़ि हलावै ।
 जम पकरै तब जोर न चालै,
 सैन बतावै ।
 मंद कषाय हूवै तो भाई,
 भुवन त्रिक पब पावै ॥

—षड पाठ

देवीदास ने कामाग्नि को शीलरूपी वृक्ष को भस्म करने वाली बतलाकर व कामान्ध व्यक्ति को नीच, महादुःख का भोगी, अपने लक्ष्य में सर्वथा असफल होने वाला व्यक्ति प्रतिपादित कर उसकी कट्टु शब्दों में भर्त्सना की है—

काम अंध सो पुरिष, सत्य करि सकै न कारज ।
 काम अंध सो पुरिष, तामु परिणाम न आरज ।
 काम अंध तह क्रिया मिलै, इक रंष न कोई ।
 काम अंध तैं अधम नहीं, जग में जन सोई ।
 गति नीच महा दुष भोगवत,
 सो सब काम कलंक फल ।
 सो कामानल करि कै दहत,
 परम सील तरवर सबल ॥

क्रोध होने की स्थिति में व्यक्ति को नीति-अनीति का ज्ञान तो रहता ही नहीं, वह आत्म-पीड़ित भी होता है। बुधजन का मत है—

नीति अनीति लखै नहीं, लखै न आप बिगार ।
 पर जारै आपन जरै, क्रोध अगनि कौ झार ।६७२।

काम, क्रोध, लोभ या मोह के अतिरिक्त चौथे कषाय अभिमान की निन्दा उसकी निरर्थकता के तर्क से प्रतिपादित की है। संसार में सहज गति से होने वाले निर्माण एवं विनाश के कार्यों में व्यक्ति स्वयं को कर्ता मान लेता है; यह एक भ्रम मात्र है। हेमराज गोदीका का कथन है—

होत सहज उत्पात जग, बिनसत सहज सुभाइ ।
 मूढ अहंमति धारि कै, जनमि जनमि भरमाइ ।३६।

तृष्णा—किसी वस्तु को हर स्थिति में प्राप्त करने की सामान्य इच्छा लोभ और तीव्रतम इच्छा तृष्णा कही जा सकती है। अग्न्य प्राणियों की अपेक्षा प्रकृति की अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त करने के बाद भी मनुष्य किसी अप्राप्य वस्तु के लिए चिंतित रहता है तथा उसको प्राप्त करने की अमर्यादित चेष्टा करता है। एक अज्ञात कवि ने अपने ३२ दोहों में से एक दोहे में आकाश वा तृष्णा की स्थिति को पराधीनता-मूलक कहा है—

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

जे आसा के दास ते पुरुष जगत दास के दास ।
आसा दासी तास की, जगत दास है तास ॥
महाकवि पार्श्वदास ने हितोपदेश पाठ में मनुष्य
की बढ़ती हुई तृष्णा को उसके लक्ष्य में बाधक माना
है—

विषय कषाय चाय तृष्णावति होवै ।
हित कारिज की बात कबूँ नहिं जोवै ।
धन उपाजन करूँ विदेसां जावूँ ।
वा राजा महाराजा कूँ रिश्रवावूँ ।
व्याह करूँ तिय कूँ, गहणां घडवावूँ ।
लाणि बांति जाति में, नाम करवावूँ ।
गेह चुनावूँ और सपूत कहलावूँ ।
विषय कषाय बढ़ाय, बढ़ा हो जावूँ ।
यूँ तृष्णा वसि भिनष जन्म करि पूरो ।
हित कारिज करने में रह्यो अधूरो ॥२०॥

ज्ञानतराय ने अपनी 'धर्म रहस्य बावनी' में
तृष्णा को हृदयपीडक कहा है । तृष्णाहीन व्यक्ति
बेपरवाह होकर अत्यन्त सुख पाता है—

चाह की दाह जलै जिय भूरख,
बेपरवाह महासुषकारी ॥२५॥

चिन्ता—अप्राप्य जानकर भी किसी वस्तु को
प्राप्त करने के लिए मानसिक पीड़ा पाना चिन्ता
का भाव है । चिन्ता को चिंता के समान बतलाकर
ज्ञानतराय ने पुरानी परम्परा का ही निर्वाह
किया है ।

चिंता चिंता दूह विषै, बिदी अधिक सदीव ।
चिंता चेतनि को दहै, चिंता दहै निरजीव ॥१८॥

भाग्यवश जो प्राप्त हो जाय, वह यथेष्ट है ।
इस परम्परागत संस्कार के कारण ज्ञानतराय
चिन्ता की स्थिति में कोई तर्क संगति भी नहीं
देखते—

रैनि दिना चिन्ता, चिंता मांहि जलै मति जीव ।
जो दीया सो पाया है, और न देय सदैव ॥४४॥
—सुबोध पंचाशिका

बाह्याचार-आसक्ति—अध्यात्मचिन्तन में
पर्याप्त-स्वतन्त्रता होने के कारण भारत में
उपासना पद्धतियाँ विभिन्न रूपों में बढ़ती
रही हैं । स्वार्थ की प्रबलता के कारण इन
उपासना-पद्धतियों का लक्ष्य उपास्य के प्रति निष्ठा
को अनदेखा कर प्रदर्शन और रूढ़ाचार की ओर
मुड़ता गया है । इसके विरोध में निर्गुण सत्तों ने
तो अपने उद्गार प्रकट किये ही, जैन नीतिकार भी
इसकी उपेक्षा नहीं कर सके । मिथ्यात्व से छुटकारा
पाये बिना शास्त्र पठन, कायाकष्ट, योगासन आदि
बाह्याचार के प्रति जैन कवि विनोदीलाल ने कबीर
जैसे तेवर ही दिखलाए हैं—

ग्रन्थन के पढ़े कहा, पर्वत के चढ़े कहा
कोटि लक्षि बढ़े कहा रंकपन में ।
संयम के आचरे कहा, मौन व्रत धरे कहा,
तपस्या के करे कहा, कहा फिर वन में ।
दाहन के दये कहा, छंद करैत कहा,
जोगासन भये कहा, बैठे साधजन में ।
जौ लों ममता न छूटे, मिथ्या डोर हू न टूटे,
ब्रह्म ज्ञान बिना लीन लोभ की लगन में ।

मुक्तककार हेमराज ने शास्त्रपठन, तीर्थस्नान
तथा विरक्ति भाव को सदाचार के अभाव में
निरर्थक माना है—

पढत ग्रन्थ अति तप तपति, अब लौं सुनी न मोष ।
दरसन ज्ञान चरित्त सों, पावत सिव निरदोष ॥२७॥
कोटि बरस लौं धोइये, अढसठि तीरथनीर ।
सदा अपावन ही रहै, मदिरा कुंभ सरीर ॥३०॥
निकस्यो मंदिर छांड़ि कै, करि कुटम्ब कौ त्याग ।
कुटी मांहि भोगत विषै, पर त्रिय स्यो अनुराग ॥२८॥

बनारसीदास के गुरु पं० रूपचन्द अपनी रचना
'दोहा परमार्थी' में तत्त्व चिन्तन के बिना बाह्याचार
का कोई मूल्य नहीं मानते—

ग्रन्थ पढ़े अरु तप तपी, सही परीसह साहु ।
केवल तत्व पिठानि विनु नहीं कहै निरबाहु ॥६४॥

शोक—पश्चात्ताप अथवा 'शोक' की स्थिति भी जैन नीतिकारों ने अच्छी नहीं मानी। लक्ष्मीचन्द कहते हैं कि शोक करने से व्यक्ति का सुख नष्ट हो जाता है। 'शोक' या 'पश्चात्ताप' करने से बिगड़े काम में कोई सुधार भी नहीं हो सकता—

सोच कबहूँ न कोजै, मन परतीत लीज्यो,
तेरौ सोच कीये, कलू कारिज न सरिहै,
सोच कीये दुष भासै, सुष सब ही जन नासै

॥२५॥

दुष्कर्म—दुष्कर्म के उदय मात्र से धार्मिक और सदाचार की बातें कतई नहीं सुहाती, इसी भय से दुष्कर्म से बचते रहने की सीख कविवर बनारसीदास ने अपनी 'ज्ञान पच्चीसी' में दी है—

ज्यों ज्वर के जोर से, भोजन की रुचि जाय।
तैसें कुकरम के उदय, धर्म वचन न सुहाय ॥२॥

दुष्कर्म का एक छोटा अंश भी समस्त अच्छाइयों को उसी प्रकार खत्म कर देता है जिस प्रकार मीठे दूध को छाछ की एक बूद खट्टा बना देती है—

टटा टपको छाछि कौ, मटकी दूध में डार।
मीठा सौ घाटौ करै, यहै कर्म विचारि। ११।कको.

अज्ञात कवि की रचना 'क को' में किसी काम की सम्पन्नता के लिए दूसरे की बाट जोहना या उसके आधीन रहना दुःखदायी कहा है—

हाहा हू व्योहार है कै परवश दुखदाय।
क्यों न आप बसि हूजिये, होय परम सुखदाय। ३६।

कृपणता—कविवर विनोदी लाल ने अपनी सम्वादात्मक रचना कृपण पच्चीसी में पति-पत्नी के संवाद के माध्यम से कृपण पति के स्वभाव पर फट्टियाँ कसी हैं? संत ज्ञानसार तो धन का सदुपयोग न करने वाले कृपण को 'मृत' के समान तिरस्कृत मानते हैं—

४१०

खात न खरचत, विलसयत, दान दियन को बात।
दुरजय लोभ अचित गति, सचित धन मर जात। ८३।

सामाजिक नीति—निश्चित भूभाग पर निश्चित सामाजिक मर्यादाओं के साथ जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति समाज का निर्माण करते हैं। भारतीय नीतिकारों ने गुरु, नारी, तथा सामाजिक व्यवहार आदि विषयों पर नीतिपरक उक्तियों अभिव्यक्त की है।

गुरु—निर्गुण एवं सगुण भक्ति काव्य की तरह जैन नीतिकारों ने गुरु का सर्वाधिक महत्व माना है। गुरु ही मनुष्य को समाज में उत्तम जीवन जीने योग्य बनाता है। परम्परागत नीतिकारों की तरह बनारसीदास के गुरु पण्डित रूपचन्द गुरु का महत्व इस प्रकार प्रकट करते हैं—

गुरु बिन भेद न पाइये, को पर को निज वस्तु।
गुरु बिन भव सागर विषै, परत गहै को हस्तु। १७।
गुरु माता अर गुरु पिता अरु बंधव गुरु मित्त।
हित उपदेश कवल ज्यों विगसावै जिन चित्त। १६।

दुर्जन-सज्जन—समाज में भले-बुरे दोनों ही प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। तुलसीदास आदि सभी प्रमुख कवियों ने प्रवृत्तियों के आधार पर दुर्जन और सज्जन दोनों वर्गों की विशेषताएँ अंकित की हैं। जैन नीतिकारों ने दुर्जन को सर्प और सज्जन को कल्पवृक्ष के रूप में प्रस्तुत कर क्रमशः उनकी कुटिलता और उदारताशयता की ओर इंगित किया है। लक्ष्मीचन्द और अज्ञात कवि के दो छन्द इस प्रकार हैं—

दुरजन सरप समान बिई छल ताकत डोलै।
दुरजन सरप समान, सति वचन कबहु न वोलै।
दुरजन सरप समान, दूध किम पावो भाई।
दुरजन सरप समान, अंति विष प्रान हराई।
दुरजन सम नहीं जाँन तुव तीन लोक में दुष्टजन।
ऐह जाँनि भवि तुम धीजमति,
लिषमी कहैत भवि लेहु सुन। १०॥

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

सज्जन परितुछ गुन करै, मानै गिर गुन भाय ।
तातै सज्जन पुरुष सब, कल्प ब्रष सम थाय ।

सामाजिक व्यवहार—पारस्परिक मेलजोल से रहने व एक-दूसरे का सम्मान करने से ही अच्छे समाज का निर्माण होता है । नीतिकार बुधजन ने पारस्परिक व्यवहार में उत्तम शिष्टाचार की अपेक्षा की है—

आवत उठि आदर करै, बोले मीठे बैन ।
जातै हिलमिल बैठना जिय पावे अति चैन ।१४८।
भला बुरा लखिये नहीं, आये अपने द्वार ।
मधुर बोल जस लीजिए, नातर अजस तैयार ।१४९।

समाज में व्यवहार करते समय अधिक सरलता की अपेक्षा थोड़ी चतुराई का भाव रखना चाहिए—
अधिक सरलता सुखद नहीं, देखो विपिन निहार ।
सीधे विरवा कटि गये, बांके खरे हजार ।।१६५।।

—बुधजन सतसई

नारी—काम की प्रबलता के विरोध के कारण मध्यकालीन काल में नारी के प्रति कटूक्तियाँ अधिक कह दी गई हैं, जिससे नारी की गरिमा को हानि हुई है । 'राजमती' और 'चन्दनबाला' के आदर्श चरित्र प्रस्तुत करने वाले जैन काव्य में कटूक्तियाँ अपेक्षाकृत कम हैं । नारी का एक सुखद चित्र जैन कवि साधुराम ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

नारी बिना घर में नर भूत सो,
नारी सब घर की रखवारी ।
नारि चषावत है षट् भोजन,
नारि दिखावत है सुख भारी ।
नारी सिव रमणी सुष कारण,
पुत्र उपावन कू परवारी ।
और कहाय कहा लूँ कहूँ तब,
साष बड़ी मन रंजनहारी ।

आर्थिक नीति—भूख, रोजगार, निर्धनता, धन के उपयोग सम्बन्धी उक्तियाँ आर्थिक नीति का अंग हैं ।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

भूख—अध्यात्मसाधना, सदाचार, कुलमर्यादा का पालन भूख की स्थिति में नहीं हो सकता, अतः अच्छे समाज के निर्माण की भावना रखने वाले राष्ट्र-निर्माताओं को सबको 'रोटी' की व्यवस्था करनी चाहिए । 'मनमोहन पंच शती' के रचनाकार छत्रशेष का कथन है—

तन लौनि रूप हरे, शूल तन कृश करै,
मन उत्साह हरे, बल छीन करता ।
छिमा कौ मरोरै गही, दिढ़ मरजाद तोरै,
सुअज सहेन भेद करै लाज हरता ।
धरम प्रवृत्ति जप तप ध्यान नास करै,
धीरज विवेक हरे करति अधिरता ।
कहा कुलकानि कहा राज पावे गुरु,
आन क्षुधा बस होय जीव बहुदोष करता ।

रोजगार—बेरोजगारी का कष्ट आज ही नहीं, मध्यकाल से ही व्यक्ति अनुभव करता रहा है । रोजगार से ही व्यक्ति को समाज और परिवार में प्रतिष्ठा मिलती है ।

रोजगार बिना यार, यार सों न करै बात,
रोजगार बिन नारि नाहर ज्यों धूरि है ।
रोजगार बिना सब गुन तौ बिलाय जाय,
एक रोजगार सब, औगुन की चूर है ।
रोजगार बिना कछू बात बनि आवै नहीं,
बिना दाम आठौ जाम, बैठा धाम झूर है ।
रोजगार बिना नांहि रोजगार पांहि,
अंसो रोजगार येक धर्म कीये पूर है ॥१७॥

निर्धनता का एक भयावह चित्र मनोहरदास ने भी प्रस्तुत किया है—

भूष बुरी संसार, भूष सबही गुन मोत्रै ।
भूष बुरी संसार, भूष सबको मुष जोवै ।
भूष बुरी संसार, भूष आदर नहीं पावै ।
भूष बुरी संसार, भूष कुल कान घटावै ।
भूष गंवावै लाज, भूष न राषै कारमें ।
मन रहसि मनोहर हम कहें,

भूष बुरी संसार में ॥११॥

४११

महाकवि बनारसीदास ने कु-कलाओं के अभ्यास की निन्दा करते हुए दरिद्रता को प्रतिष्ठा का घातक बतलाया है—

कुकला अभ्यास नासहि सुपथ,
दारिद्र सौ आदर टलै ।

निर्धन हो जाने पर लोगों के सम्पर्क तोड़ देने की निर्दयता पर ज्ञानसार ने व्यंग्य किया है—

धन घर निर्धन होत ही, को आदर न दियंत ।
ज्यों सूखे सर की पथिक, पंखी तीर तजंत ।

‘अपरिग्रह’ दान के रूप में धन की सीमितता और सदुपयोग तथा ‘लोभ’ व कृपणता की निन्दा के रूप में धन की समुचित उपयोगिता की उक्तियाँ आर्थिक नीति के अन्तर्गत भी समाहित की जा सकती है ।

राजनीति—शासक एवं शासित की प्रवृत्तियाँ, शासन के अंग और उनके कर्तव्य तथा शासन-व्यवस्था सम्बन्धी उक्तियाँ राजनीति के अन्तर्गत आती हैं । अधिकांश जैन नीतिकारों के मुक्तकों में राजनीति नहीं है । दीवान के रूप में जयपुर राज्य में काम करने वाले कवि बुधजन ने राजनीति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं ।

बुधजन के अनुसार शासक अथवा राजा ढीले चित्त का नहीं होना चाहिए, नहीं तो दृढ़तापूर्वक अपने आदेश नहीं मनवा सकेगा—

गनिका नष्ट संतोष तें, भूप नष्ट चित्त ढील ।
॥१७७॥

राजा अपने कार्य की पूर्ति के लिए किसी की पीड़ा को सहृदयतापूर्वक नहीं विचारता—

भूपति विसनी पाहुना, जाचक जड़ जमराज ।
ये परदुःख जोवै नहीं, कीयै चाहै काज ॥२६३॥

राजा से परिचय थोड़ा-बहुत अवश्य लाभदायक होता है—

महाराज महावृक्ष की, सुखदा शीतल छाया ।
सेवत फल लाभै न तो, छाया ती रह जाय ॥२६५॥

प्रजा को राजा के आदेशों व नीति का अनुसरण करना चाहिए ।

नृप चालै ताही चलन, प्रजा चलै वा चाल ।
जा पथ जा गजराज तहै, जातजू गज बाल ।

॥१३८॥

राजा और प्रजा के मधुर सम्बन्ध बनाये रखने में मन्त्री की बड़ी भूमिका रहती है—

नृप हित जो पिरजा अहित, पिरजा हित नृप रोस ।
दोउ सम साधन करै, सो अमात्य निरदोष ॥२१०॥

अच्छे मन्त्रियों के अभाव में राजा अपने आदर्शों से च्युत हो जाता है—

नदी तीर को रूखरा, करि बिनु अंकुश नार ।
राजा मंत्री ते रहित, बिगरत लगै न बार ॥१२४॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी जैन मुक्तक काव्य में वैयक्तिक व्यवहार, समाज, राज्य एवं अर्थ से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया गया है । भारतीय नीति साहित्य के विकास में शिगिलाचार के युग में लिखी गई इन रचनाओं का सामयिक योगदान तो है ही, उक्त रचनाएँ भारतीय चिन्तन की संवाहक होने के कारण आज भी मूल्यवान् हैं ।

भारतीय चिन्तन और काव्य के विकास में इनका उल्लेख अतीव आवश्यक है ।



—हजारोमल बांठिया.

कानपुर

जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरि और श्री हेमचन्द्रसूरि

जैन साहित्यकाश में कलियुग-केवली आचार्य श्री हरिभद्रसूरि एवं कालिकाल-सर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि दोनों ही ऐसे महान् दिग्गज विद्वान आचार्य हुए हैं—किसको 'सूर' कहा जाए या किसको 'शशि'—यह निर्णय करना दुष्कर कार्य है। वीर-प्रसूता भूमि चित्तौड़गढ़ में उच्च ब्राह्मण कुल में जन्मे श्री हरिभद्र चतुर्दश ब्राह्मण विद्याओं में पारंगत उद्भट विद्वान थे। इनके पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गंगण या गंगा था। हरिभद्र पण्डितों में अपने आपको अजेय मानते थे। इसलिए चित्रकूट नरेश जितारि ने उनको अपना राजगुरु मानकर राजपुरोहित जैसे सम्मानित पद पर नियुक्त कर दिया था। कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य भी चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज एवं सम्राट कुमारपाल के राजगुरु थे। श्री हरिभद्रसूरि प्राकृत भाषा के पण्डित थे तो हेमचन्द्राचार्य संस्कृत भाषा के। पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजय जी ने श्री हरिभद्रसूरि का समय वि. स. ७५७ से ८२७ तक निर्णय किया है और सभी आधुनिक शोध विद्वानों ने भी इस समय को ही निर्विवाद रूप से मान्य किया है। इस तरह श्री हरिभद्रसूरि विक्रम की आठवीं शताब्दी के ज्योतिर्धर आचार्य थे तो हेमचन्द्राचार्य विक्रम की बारहवीं शताब्दी के। इनका जन्म वणिक-कुल में धंधूका (गुजरात) में हुआ।

इनका समय वि. सं. ११४५ से १२२६ तक माना गया है। इनकी माता का नाम पाहिनी एवं पिता का नाम चाव था। हरिभद्र राजस्थान के सूर्य थे तो हेमचन्द्र गुजरात के। इन्हीं दोनों आचार्यों के प्रभाव के कारण ही आज तक गुजरात और राजस्थान जैन धर्म के केन्द्र बने हुए हैं। हरिभद्र के गुरु का नाम जिनदत्तसूरि था और हेमचन्द्र के गुरु का नाम देवचन्द्रसूरि था।

दोनों ही आचार्य उदारमना थे। उनके दिल में हठाग्र रंचित मात्र नहीं था। हजारों वर्षों के बीत जाने पर भी हरिभद्रसूरि का जीवन प्रकाशमान सूर्य की तरह आभा-किरणों बिखेर रहा है। उनमें जैसे उदारमानस का विकास हुआ वैसा बिरले पुरुषों में दृष्टिगोचर होता है। उनका उदात्त-घोष आज भी सुविश्रुत है।

‘पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्ति मद् वचनं यस्य तस्य कार्यं परिग्रहः ।३८।
अर्थात्—वीर वचन में मेरा पक्षपात नहीं ।
कपिल मुनियों से मेरा द्वेष नहीं, जिनका वचन तर्कयुक्त है—वही ग्राह्य है।

इसी प्रकार जब हेमचन्द्राचार्य ने सोमनाथ मन्दिर में सम्राट कुमारपाल के साथ शिव मन्दिर में प्रवेश किया तो संस्कृत के श्लोकों द्वारा शिव की स्तुति की।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

४१३

‘भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।’

अर्थात्—भव बीज को अंकुरित करने वाले राग-द्वेष पर जिन्होंने विजय प्राप्त करली है, भले वे ब्रह्मा, विष्णु, हरि और जिन किसी भी नाम से सम्बोधित होते हों उन्हें मेरा नमस्कार है ।

‘महारागो महाद्वेषो, महामोहस्तथैव च ।

कषायश्च हतो येन, महादेवः स उच्यते ॥

अर्थात्—जिसने महाराग, महाद्वेष, महामोह और कषाय को नष्ट किया है वही महादेव है ।

इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य द्वारा शिव की उदार-मना स्तुति करने पर सम्राट कुमारपाल तो प्रभावित हुआ ही किन्तु उनसे द्वेष भाव रखने वाले शैव-पण्डित भी दाँतों तले अंगुली दबा गये ।

आचार्य हरिभद्र वैदिक दर्शन के परगामी विद्वान तो थे ही फिर भी उन्होंने प्रतिज्ञा कर रखी थी यदि किसी दूसरे धर्मदर्शन को मैं समझ न सका तो मैं उसी का शिष्य बन जाऊँगा । एक बार रात्रि को राजसभा से लौटते समय राजपुरोहित हरिभद्र जैन उपाश्रय के निकट से गुजरे। उपाश्रय में साध्वी संघ की प्रमुखा ‘महत्तरा याकिनी’ निम्न श्लोक के स्वर लहरी में जाप कर रही थी—

‘चक्कि दुगं हरिपणगं,

पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।

केसव चक्की केसव,

दुचक्की केसीय चक्किथा ।

राजपुरोहित हरिभद्र ने यह श्लोक सुना तो उनके कुछ भी समय में नहीं आया तो अर्थ-बोध पाने की लालसा से उपाश्रय में प्रवेश कर याकिनी महत्तरा से इसका अर्थ पूछा तो उन्होंने कहा— इसका अर्थ तो मेरे गुरु श्री जिनदत्त सूरि ही बता सकते हैं ।

जब गुरु के पास प्रातःकाल हरिभद्र गये तो श्री जिनदत्तसूरि ने कहा—जैन मुनि बनने पर ही इसका अर्थ समझ में आयेगा—तब तत्काल राजपुरोहित हरिभद्र ने जैन-मुनि बनना

स्वीकार कर राजपुरोहित से धर्म पुरोहित बन गये । जब इसका अर्थ गुरु से समझ लिया तो जैन शास्त्र ज्ञान की तरफ उनका झुकाव हो गया और अल्प समय में ही आगम, योग, ज्योतिष, न्याय, व्याकरण, प्रमाण शास्त्र आदि विषयों के महान ज्ञाता और आगमवेत्ता बन गये और कई ग्रन्थों की टीकायें लिखीं ।

हंस और परम हंस हरिभद्रसूरि के भानजे थे वे भी जैन साधु बन गये । आचार्य श्री के मना करने पर भी वे बौद्ध दर्शन अध्ययन करने बौद्ध-मठ में गये ।

जैन-छात्र हैं, यह सन्देह होने पर बौद्ध प्राध्यापकों ने हंस को वहीं मार दिया और परम-हंस किसी तरह भाग निकले किन्तु वह भी चित्तौड़ आकर मारे गये ।

अपने दोनों प्रिय शिष्यों के मर जाने से हरिभद्रसूरि को बहुत दुःख हुआ और बौद्धों से बदला लेने के लिए उन्होंने १४४४ बौद्ध-साधुओं को विद्या के बल से मारने का संकल्प लिया— किन्तु गुरु का प्रतिबोध पाकर हिंसा का मार्ग छोड़कर १४४४ ग्रन्थों को रचना का संकल्प लिया और माँ भारती का भण्डार भरने लगे । दुर्भाग्य से इस वक्त ६० करीब ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं । जिसमें से आधे तक अब ही प्रकाशित हुए हैं ।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने उच्चकोटि का, विपुल परिमाण में विविध विषयों पर साहित्य की रचना की है । उनके ग्रन्थ जैन शासन की अनुपम सम्पदा है । आगमिक क्षेत्र में सर्वप्रथम टीकाकार थे । योग विषयों पर भी उन्होंने नई दिशा व जानकारी दी । आचार्य हरिभद्रसूरि ने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार—इन आगमों पर टीका रचना का कार्य किया ।

‘समराइच्चकहा’ आचार्य हरिभद्रसूरि को अत्यन्त प्रसिद्ध प्राकृत रचना है । शब्दों का लालित्य, शैली का सौष्ठव, सिद्धान्त सुधापान कराने वाली कांत-कोमल पदावली एवं भावभिव्यक्ति का अजस्र

बहुता ज्ञान निर्झर कथा वस्तु की रोचकता एवं सौन्दर्य प्रसाद तथा माधुर्य इसका समवेत रूप— इन सभी गुणों का एक साथ दर्शन इस कृति से होता है। इस ग्रन्थ का सम्पादन जर्मन के डा० हरमन जैकोबी ने सन् १९२६ में किया था जो रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ते से छपा है। लिखने का सारांश यह है कि लाखों श्लोक परिमाण-साहित्य की रचना आचार्य हरिभद्रसूरि ने की है।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी इतना ही विपुल साहित्य संस्कृत में रचा है, उसका भी परिमाण लाखों श्लोकों का है। आचार्य हेमचन्द्र का भी पूरा साहित्य उपलब्ध नहीं है। इनकी भी प्रतिभा हेम-सी निर्मल थी।

वे ज्ञान के विपुल भण्डार थे। पाश्चात्य विद्वानों ने तो आचार्य हेमचन्द्र को 'ज्ञान-समुद्र' कह कर सम्बोधित किया है। हेम शब्दानुशासन व्याकरण और त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित आचार्य श्री की अद्भुत रचनाएँ हैं। जर्मनी के डा० जार्ज बूलहर ने हेमचन्द्राचार्य के ग्रन्थों से प्रभावित होकर जर्मनी भाषा में आचार्य हेमचन्द्रसूरि का सर्व-प्रथम जीवन चरित्र लिखा जिसका अनुवाद हिन्दी में स्व० श्री कस्तूरमल जी बाँठिया ने किया है। हेमचन्द्र की पारगामी प्रज्ञा पर दिग्गज विद्वानों के मस्तिष्क झुक गये। उन्होंने कहा—

किं स्तुमः शब्द पयोधे हेमचन्द्र ते मंतिम् ।

एकेनासीह येनेहक् कृतं शब्दानुशासनम् ।

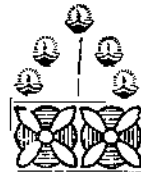
अर्थात्—शब्द समुद्र हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा की क्या स्तुति करें जिन्होंने इतने विशाल शब्दानु-शासन की रचना की है।

इस प्रकार हम देखते हैं दोनों आचार्यों के रचित ग्रन्थ जैन ही नहीं अपितु विश्व साहित्यकाश के बेजोड़ नक्षत्र हैं। सुधी पाठक स्वयं ही निर्णय करे कलिकाल केवली आचार्य श्री हरिभद्रसूरि या कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि कौन 'सूर' है या कौन 'शशि' है।

पुरातत्वाचार्य स्व० मुनि जिनविजयजी आचार्य श्री हरिभद्रसूरि से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने हरिभद्रसूरि की मूर्ति स्वयं अपने अर्थ से निर्मित कराई और हरिभद्रसूरि के चरणों में अपनी मूर्ति भी खुदवा दी और चित्तौड़गढ़ के प्रवेश मार्ग पर ही श्री हरिभद्रसूरि ज्ञान मन्दिर बनवा दिया जिसका संचालन आजकल श्री जिनदत्तसूरि सेवा संघ कलकत्ता कर रहा है।

मुनिजी को इस बात का गहरा दुःख था कि वर्तमान में जैन समाज ने हरिभद्र-सूरि को भुला दिया है, उनको यथोचित सम्मान नहीं मिला।

जनियों को हरिभद्रसूरि के नाम से विश्व विद्यालय खोलना चाहिए था—गुजरात में हेमचन्द्राचार्य को तो बहुत आदर से याद किया जाता है, जगह-जगह उनकी प्रतिमाएँ व चरण हैं भारत सरकार का कर्तव्य है ऐसे दो महान ज्ञान-पुंज भारतीय जैन आचार्यों का यथोचित सम्मान कर उनकी स्मृति में ज्ञान मन्दिर—विद्या मन्दिर बनवाये।



□ कन्हैयालाल गौड़
एम. ए. साहित्यरत्न,
(उज्जैन)

जैन परम्परा के व्रत/उपवासों का आयुर्वैज्ञानिक वैशिष्ट्य

जीवन का नीतियुक्त आचरण ही मनुष्य का चारित्र्य कहलाता है। चारित्र्य का संगठन सदाचार से ही होता है। पर सदाचार के लिये यह ज्ञान होना चाहिए कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है तथा इस ज्ञान से अच्छे आचरणों को ग्रहण करके बुरे आचरणों को त्याग देना चाहिए। इस विधि को जैनधर्म में सम्यक्-चारित्र्य का ग्रहण कहा गया है। इस सदाचरण अथवा सम्यक्-चारित्र्य के लिए ग्रहण करने और त्यागने योग्य क्या है? याज्ञवल्क्य स्मृति के आचार नामक अध्याय में कहा गया है कि—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः ।

दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्म-साधनम् ।

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, (चोरी न करना) पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, परोपकार, दया, मन का दमन और क्षमा। यह नौ बातें सबके लिए धर्म का साधन है। इसी प्रकार जैन परम्परा में बारह व्रत बताये गये हैं और इन बारह व्रतों को धारण करने से मनुष्य सदाचारी बन सकता है। इन व्रतों को धारण करने वाले के हृदय में व्रत धारण करते समय जो उच्चाभिलाषाएँ होती हैं, उनके पालन की उसमें सामर्थ्य होनी चाहिए और जब अपने धारण किये हुये व्रत को वह यथोचित प्रकार से पाल सकता है, तभी सच्चारित्र्य में उत्तरोत्तर आगे

बढ़ सकता है और धीरे-धीरे सच्ची मानवता उसमें आने लगती है। सच्चारित्र्य से स्वास्थ्य में भी वृद्धि होती है।

वैदिक परम्परा में धर्म के नौ साधन बताये गए हैं और जैन परम्परा में बारह व्रत। इन व्रतों को धारण किये बिना सुचरितवान अथवा सुचारित्र्यवान आयुष्मान/स्वस्थ नहीं बन सकता, रह सकता। जैन परम्परा में कहे हुए बारह व्रतों में प्रारम्भिक पाँच अणुव्रत, लघुव्रत कहलाते हैं। वे सच्चारित्र्य-वान, आयुष्मान होने वाले जिज्ञासुओं के लिए ही हैं। बारह व्रतों में प्रथम अहिंसा व्रत के विषय में कहा—

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,

उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः ।

प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता,

स्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥

अर्थात्—पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया यह तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—यह दस प्राण कहलाते हैं और इन प्राणों का वियोग करना ही हिंसा कही जाती है। हिंसा जनित पदार्थ जीवों के इन दस प्राणों का वियोग करने से ही उत्पन्न होते हैं और इसलिए इन वस्तुओं का त्याग अणुव्रत रूप से अहिंसा की प्रतिज्ञा ग्रहण करने वाले को भी करना योग्य है।^१

१ कर्तव्यकौमुदी द्वितीय ग्रन्थ (खण्ड १-२) रचयिता भारतभूषण शतावधानी पं. मुनि श्री रत्नचन्द्रजी महाराज पृ. ३०-३१

अहिंसा का मार्ग प्रदर्शित करते हुए भगवान महावीर ने कहा है—सर्व प्राणों, सर्वभूतों, सर्व-जीवों और सर्व सत्त्वों को नहीं मारना चाहिये, न पीड़ित करना चाहिए और न उनको मारने की बुद्धि से स्पर्श ही करना चाहिए।

प्रत्येक जीव स्वतन्त्र होना चाहता है, बन्धन से मुक्ति चाहता है, स्वस्थ एवं प्रसन्न रहना चाहता है। अहिंसा उसकी इस इच्छा की पूर्ति का अचूक साधन है। सत्यशील व्रत आदि की माता मानी गई है—अहिंसा। जितने भी यम, नियम, व्रत, आराधना, उपासना आदि के विधान धर्म-शास्त्रों में मिलते हैं, उन सबके मूल में अहिंसा है।

अहिंसा जहाँ मानव को विश्वमैत्री एवं विश्व-बन्धुत्व का पाठ पढ़ाती है वहाँ आत्मा पर आच्छा-दित कर्म समूह को भी नष्ट करती चलती है और मोक्ष द्वार को निकट लाती है।^१

उत्तराध्ययन में अहिंसा की परिभाषा की है। मन, वचन, काय तथा कृत-कारित और अनुमोदन से किसी भी परिस्थिति में त्रस, स्थावर जीवों को दुःखित न करना अहिंसा महाव्रत है।

व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में अहिंसा का प्रयोग एवं उपयोग अव्यवहार्य नहीं है।

अहिंसा समस्त प्राणियों का विश्राम-स्थल है, क्रीड़ा भूमि है और मानवता का शृंगार है। अहिंसा का सामर्थ्य असोम है।^२

(२) सत्य व्रत—मन, वचन और काया इन तीनों करणों से असत्य का सेवन न करना ही सत्य व्रत कहलाता है। सत्य व्रत ग्रहण करने वाले व्यक्ति को असत्य का त्याग करना चाहिए। शुक्र

नीति में भी वाचिक पाप के रूप में केवल असत्य-वाद झूठ बोलने को ही नहीं माना; चुगली, कठोर भाषण आदि को भी वाचिक पाप कहा गया है।

हिंसा स्तेयामन्यथाकामै,
पैशुन्यं परुषानृते ।
संभिलालापाव्यापा-
दमभिधया - दृग्विपर्ययम् ॥

अर्थात् हिंसा, चोरी तथा अगम्यागमन—यह तीन कथित पाप हैं और पर द्रोह का चिन्तन पर-धन की इच्छा और धर्म में दृष्टि का विपर्यय—यह मानसिक पाप है। सत्य शब्द का शास्त्रीय अर्थ 'सद्भ्यो हितं सत्यम्' अर्थात् जो सज्जनों के लिए हितकारक है वह सत्य है, इसके लिए 'न सत्यमपि भाषेत पर पीडाकरं वचः' अर्थात् जिस बात से दूसरों को दुःख हो, आत्मा का क्षय हो, सत्य होने पर भी ऐसी बात न बोलनी चाहिए।

(३) अस्तेय व्रत—किसी की कोई भी वस्तु घर में पड़ी हो या मार्ग में या वन में गिर गई हो तो उसके मालिक की आज्ञा के बिना चोरी के विचार से मन, वचन और काया इन तीनों करणों से उसे उठाना न चाहिए और न किसी के द्वारा उठवाना चाहिए और न चोरी के काम में किसी प्रकार सहायता न करनी चाहिए—इसका नाम दत्त व्रत—अस्तेय व्रत है। यह व्रत बुद्धिमान मानव को पूर्ण आयु प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को अवश्य मानना चाहिए।

जैन-धर्म में इसे अदत्तादान कहते हैं। अदत्त यानी किसी का न दिया हुआ और आदान यानी ग्रहण करना—किसी का न दिया हुआ ग्रहण करना, यही व्रत की दृष्टि से चोरी है। और चोरी का

१ दैनिक त्रिगेडियर १२ नवम्बर ८५ लेख भगवान महावीर की शिक्षा में विश्व कल्याण के सूत्र—ले. महासती श्री उमरावकुंवरजी अचना।

२ मुनि द्वय अभिनन्दन ग्रन्थ १९७३ लेख जैन धर्म का प्राण तत्व अहिंसा पृ० ११८-१२० ले. साध्वी श्री पुष्पलता जी।

माल अथवा वस्तु का उपभोग करने से आयु घटती है। स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है। अस्तेय व्रत की व्याख्या करते हुए कहा है—

आहृतं स्थापितं नष्टं विस्मृतं पतितं स्थितम् ।
नाददीताऽस्वकीयं स्वमित्यस्तेयमणुव्रतम् ॥

अर्थात् हरण करके लाया हुआ, रखा हुआ, खोया हुआ, भूला हुआ, गिरा हुआ या रहा हुआ किसी दूसरे का धन ग्रहण न करना—यह अस्तेय नाम का अणुव्रत है। जैन परम्परा में पांच अतिचार कह गये हैं, इन अतिचारों को त्याग कर अस्तेय व्रत ग्रहण करने का निर्देश शास्त्रकार देते हैं। वे अतिचार इस प्रकार हैं—

स्तेनानुज्ञा तदानीतादानं वैरुद्धमामुकम् ।
प्रतिरूपं क्रियमानान्यत्वं वा स्तेयं संश्रिता ॥

अर्थात् चोर को आज्ञा देना, चोरी का द्रव्य लेना, राजा की ओर से निषेध किए हुए कामों को करना, किसी एक वस्तु में, दूसरी वस्तु मिलाकर बेचना और झूठे बाँट रखना—यह सब अस्तेय व्रत के दोष हैं।^१

(४) ब्रह्मचर्यं व्रत—यदि मन भली-भाँति दृढ़ हो तो सर्वथा ब्रह्मचर्यं व्रत ग्रहण करना चाहिए। और यदि दृढ़ वृत्ति न हो तो स्वदार संतोष वृत्ति रखनी चाहिए।

विषयाभिलाषा जब तक जिस काल तक उत्पन्न होती है, तभी तक उसका दमन करना हितावह है—सच्चा व्रत है। व्रत ग्रहण करने से मन और वाणी का यह मार्ग भी बन्द हो जाता है और जब यह दोनों मार्ग बन्द हो जाते हैं तभी ब्रह्मचर्यं व्रत का आध्यात्मिक लाभ—इन्द्रिय दमन का परम लाभ प्राप्त होता है।

पर-नारी के सेवन से जैसी शारीरिक और आत्मिक हानियाँ होती हैं, वैसी ही हानियाँ अति

स्त्री सेवन और विषय-क्रोड़ा से होती है। आयुर्वेद के 'भाव-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में कहा गया है।

शूल कास ज्वर श्वास कादर्यं पाड्वा मय क्षयाः ।
अति व्यवाया ज्जायन्ते रोगाच्चा शेष कादवः ॥

अर्थात्—अधिक स्त्री सेवन करने से शूल, कास, ज्वर, श्वास, कृशता, पांडुरोग, क्षय और हिचकी आदि रोग होते हैं। इसी प्रकार आसनादि के द्वारा की जाने वाली अनन्त क्रीड़ाएँ भी विषय वृत्ति को बढ़ाने वाली और शरीर तथा आत्मा का अहित करने वाली हैं।

ब्रह्मचर्यं बन्द द्वार की अर्गला की आवश्यकता तो पूरी करता है। पर इस व्रत के बिना अनेक चतुर मनुष्य भी विषय की अन्धकारमयी खाई में पड़े और स्वारो खराब हो गये हैं। कहा भी है—

विषयार्तं मनुष्याणां दुःखावस्था दश स्मृताः ।
पापान्यपि बहून्वत्र सारं किं मूढ पश्यसि ॥^२

अर्थात्—विषय पीड़ित मानव की दस दुःखद अवस्थाएँ होती हैं और उनमें अनन्त पाप समाविष्ट है। इन दस अवस्थाओं में दूसरी चिन्ता (८) रोगोत्पत्ति (९) जड़ता (१०) मृत्यु-मुख्य हैं। ये सभी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं। शरीर में रोगोत्पत्ति हो जाने पर अन्त में वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अथर्ववेद में इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते - ॥
११५।१६

अर्थात्—ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है। आचार्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही शिष्य को अपने शिक्षण एवं निरीक्षण में लेने की योग्यता सम्पादन करता है।

प्रो. एल्फ्रेड फोर्नियर ब्रूसेल्स नगर में १९०२

१ कर्तव्य-कौमुदी [खण्ड १-२] पृ. ३८-३९

२ कर्तव्य-कौमुदी खण्ड १-२ पृ. ४६

ई० में हुई संसार भर के बड़े-बड़े डाक्टरों की सभा में स्वीकृत हुए इस प्रस्ताव को उद्धृत करते हैं कि—“नवयुवकों को यह शिक्षा देनी चाहिए कि ब्रह्मचर्य के पालन से उनके स्वास्थ्य को कोई हानि नहीं पहुँच सकती वरन् वैद्यक और शरीर शास्त्र की दृष्टि से तो ब्रह्मचर्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका बड़ी प्रवृत्तता से समर्थन किया जाना चाहिये।”¹

नूतन जीव शास्त्र के प्रसिद्ध लेखक डॉन काउ-एन एम. डी. कहते हैं—“ब्रह्मचारी को कभी ज्ञात ही नहीं होता कि व्याधिग्रस्त दिवस कैसा होता है। उसकी पाचन शक्ति सदैव नियमित होती है। उसकी वृद्धावस्था बाल्यावस्था जैसी ही आनन्दमयी होती है।”

डा० जटाशंकर स्वानुभव के आधार पर कहते हैं—“जिन रोगियों ने चिकित्सा के दौरान ब्रह्मचर्य पालन किया था, वे शीघ्र ही रोग मुक्त हो गये थे, और उनके रोग जनित कष्ट दायक चिन्ह अल्प कष्ट दायक हो गए थे।”

ब्रह्मचर्य पथ को अपनाये बिना कोई भी व्यक्ति अपने उत्कर्ष, जीवन की महत्ता एवं सुख शांति को प्राप्त नहीं कर सकता।²

५. परिग्रह मर्यादा व्रत—धन, धान्य, भूमि, घर, पशु, नौकर चाकर आदि अनेक वस्तुएँ जगत में विद्यमान हैं। उनकी मर्यादा सीमा बाँधना परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है। तृष्णा को जीतने के लिए यह व्रत अति ही उपयोगी है। तृष्णा छिन्धि भज क्षमा जहि मदम् इत्यादि—तृष्णा को काट डाल, क्षमा धारण कर, मद त्याग। तृष्णा को काट डालने के लिये परिग्रह की मर्यादा का व्रत उपयोगी है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते अन्त तक वह संसार के काम-क्रोध, लोभ, मद, मोह तथा

मत्सर रूपी बर्बरियों से घिरा रहता है और घिरे हुये ही मीत के मुख में चला जाता है। आयुर्विज्ञान कहता है यदि मानव को स्वस्थ रह कर आत्मिक शांति प्राप्त करनी है तो तृष्णा को त्याग कर परिग्रह-मर्यादा व्रत का पालन करना चाहिये।

तृष्णा का निरोध भी सन्तोष प्राप्ति का द्वार है। और संतोष प्राप्ति के मन्दिर में प्रवेश करने पर ही परार्थ साधना करने की तत्परता मनुष्य में आती है। पाश्चात्य वैज्ञानिक श्री कूपर का कथन है कि—

It is content of heart

gives nature power to please

The mind that feels no smart

En-livens all it—secs.

अर्थात्—जो हृदय संतुष्ट है, वह प्रकृति में आनन्द देखता है और जो मन चंचलता असंतुष्टता से रहित है। उसे सर्वत्र आनन्द का ही प्रकाश दृष्टि गोचर होता है।³

परोपकार करने की इच्छा वाले और अपना जीवन सुख सन्तोष से व्यतीत करने तथा चित्त की निवृत्ति का आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने की कामना वाले मनुष्य को अपने सब संयोगों पर विचार करके अनेक प्रकार के परिग्रहों की मर्यादा निर्धारित करना उचित है।

(६-७) दिशाओं और भोग्य वस्तुओं की मर्यादा निर्धारित करने के व्रत—पूर्व और पश्चिम आदि दिशाओं का मान करने से सुख देने वाला छठा व्रत निष्पन्न होता है और भोग के साधन वस्त्रा-भूषण, खान-पान, औषधि आदि की मर्यादा निर्धारित करने से सातवाँ व्रत सिद्ध होता है। लकड़ियाँ जलाकर कोयले बनाना, वनों को कटवाना आदि प्रत्येक पापजनक कर्मादान रूपी कहे जाने वाले पंद्रह

१ ब्रह्मचर्य विज्ञान—ले. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी. पृ. २२-२३ से उद्धृत

२ वही पृ. ४३

३ कर्तव्य कौमुदी खण्ड १-२ पृ. ६१.

प्रकार के कामों का त्याग भी सातवें व्रत में किया गया है ।

इन दोनों व्रतों को धारण करने वाला एक प्रकार की तपश्चर्या में ही प्रवेश करता है—ऐसा कहा जा सकता है । इससे गमन की वृत्ति का और भोग वस्तुओं के उपभोग की लालसा का अवश्य निरोध होता है । कहा है—

जगदा क्रम प्रमाणस्य प्रसरत्लोभ वारिधेः ।
स्खलनं विद्धे तेन येन दिग्विरतिः कृता ॥

अर्थात्—जो मनुष्य इस दिग्विरति व्रत को ग्रहण करता है, वह इस जगत के आक्रमण करने वाले लोभ रूपी महासमुद्र का स्खलन कर देता है—यह सत्य है ।

परिश्रम की मर्यादा निर्धारित करने से तृष्णा का निरोध होता है, शरीर स्वस्थ रहता है, पर जब तक भोगोपभोग के पदार्थों की मर्यादा निर्धारित न की जाय, तब तक मन तथा इन्द्रियों का पूरा निरोध नहीं होता ।¹

(८) निष्प्रयोजन पाप निवृत्ति रूप व्रत—अप-ध्यान, प्रमाद, हिंसक-शस्त्र संचय और पापोपदेण यह चार अनर्थ दण्ड कहे जाते हैं । इनसे निवृत्त होना अर्थात्—चाहे सम्पत्ति की हानि हो, चाहे पुत्रादि की मृत्यु हो जाय, फिर भी मन में तनिक भी सोच न करना, जीवन रक्षणदि के काम में तनिक भी आलस्य न करना, प्राण नाशक शस्त्र और आयुधों का संग्रह न करना तथा किसी भी पापानुष्ठान के विषय में किसी को प्रेरित न करना-कर्म के समूह को रोकने वाले इस व्रत का परि-लक्षण है । इस व्रतको ग्रहण करने से मानव निरर्थक पापों से दूर रहने की वृत्ति को प्राप्त करने में समर्थ होता है, चित्त प्रसन्न तथा शरीर निरोग रहता है ।

(९) सामायिक व्रत—बाह्य प्रवृत्ति में राग-

१-२-३ वही पृ. ६४, ६६, ६६, ७१

द्वेष अथवा कषाय के कारण अपने आत्मा की जो परिणति हुई हो, उसे दूर करने के लिये समभाव उत्पन्न करने वाले सामायिक व्रत का ग्रहण करना चाहिये । दो घड़ी शुभ ध्यान पूर्वक एक स्थान पर बैठकर शुभचिंतन, धर्म विचार और वृत्ति को उच्च-तर बनाने वाले मनन में समय व्यतीत करने को सामायिक कहते हैं ।

यदि मानव विचित्र-विचित्र वृत्तियों में जीवन भर भटकता रहे तो फिर उसके मन की अधोगति ही होती जाती है । ऐसे व्यवहार रूपी खारे समुद्र में तो सम+आय+इक=समत्व का लाभ कराने वाली सामायिक की आवश्यकता जैन परम्परा में ही नहीं वरन् अन्य धर्म परम्परा के धर्माचार्यों ने भी चित्त को समता का परिचय कराने के लिए इस की आवश्यकता बतलाई है । गीता में श्री कृष्ण ने कहा है—'मन ही बंध और मोक्ष का कारण है ।' अतः मन की अधोगति न हो, इसके लिए उसे समता में लीन करने का यत्न करना आवश्यक है । कहा है—

तप्येद्वर्षं शतैर्यश्च, एक पाद स्थितो नरः ।
एकेन ध्यान योगेन, कलामार्हति-षोडशीम् ॥

अर्थात्—ध्यान योग रूपी सामायिक का मूल्य देह दमन से अधिक आँका गया है । आगे कहा है कि—

दिवसे दिवसे लखं देई सुवर्णस्स खंडियं एगो ।
इयरो पुण मामाइयं करेइ न पहुँए तस्स ॥

अर्थात्—एक पुरुष दिनों दिन लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करे और दूसरा सामायिक करे, स्वर्ण का दान सामायिक की बराबरी नहीं कर सकता । चित्त वृत्ति को स्थिर—सम करना, यह एक मानसिक योग का प्रकार है ।²

वृत्ति को पतित होने से रोक कर, अभ्यास से उसे स्थिर भी किया जा सकता है । गीता में श्री कृष्ण ने कहा है—

अथ-चित्तं समाधातुं न शक्नोपि भवि स्थिरम् ।
अभ्यास-योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ! ॥

सामायिक का चित्त को स्थिर रखने का लाभ भी अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ।

चित्त की शुद्धि के लिए सामायिक उपयोगी है । पर प्रातःकाल मन की समता के लिए जितना लाभदायक है उतना दूसरा समय नहीं, इसीलिए प्रातःकाल में सामायिक को तो 'अवश्यं विदद्यात्' ऐसा कहा है । उपासना के द्वारा मन और तन के दोषों को मिटाने की चिकित्सा करने वाले डा० एण्टन सिक लेयर और डा० मेकफेडन ने भी क्षुधित अवस्था में मन को आध्यात्मिक लाभ पहुँचाने वाली घटना का विशद वर्णन किया है ।^१

(१०) देशावकाश-व्रत—छठे व्रत में दिशाओं का जो परिमाण बाँधा गया हो, उसे संकुचित करके द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से यदि आदरपूर्वक उसकी पुनः सीमा बाँधी जाय और इस प्रकार आश्रय का निरोध किया जाय तो उसे मुनिगण देशावकाश नाम का व्रत कहते हैं । वह व्रत चार घड़ी, एक रात या एक दिन तक इच्छानुसार ग्रहण करना चाहिए और उसे छः कोटि से ठीक-ठीक पालन करना चाहिए ।

इस व्रत से पाप की प्रवृत्ति में मानव संयम रखना सीखना है और ज्यों-ज्यों वह अपने गमना-गमन आवश्यकताओं की दिशाओं को कम-से-कम करता जाता है, त्यों-त्यों उसकी अन्तर्मुखता को विकसित होने का अवसर मिलता है ।

(११) पौषध-व्रत—एक प्रातः से लेकर दूसरे प्रातः तक चौबीस घण्टे का उपवास करके सांसारिक वस्त्र, आभूषण, माल्य आदि को त्यागकर, पाप के सभी कर्मों को छोड़कर नियमपूर्वक धर्म-स्थान में एक अहोरात्रि पर्यन्त धर्म ध्यान-परायण

होकर सद्विचार में लीन रहना पौषध व्रत कहलाता है । 'पौष धर्मस्य धत्ते यत्तद् भवेत्पौषधं व्रतम्' अर्थात् जिसमें धर्म की पुष्टि हो, वह पौषध-व्रत कहलाता है । मुमुक्षु-गृहस्थ को पर्वदिनेषु अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या आदि पर्व-तिथियों में इस व्रत को ग्रहण करना चाहिए और निर्दोष-रीति से आत्मा की विशुद्धि के साथ पालन करना चाहिए ।

(१२) अतिथि दान व्रत—जिस महात्मा ने तिथि, पर्व, उत्सव आदि सबका त्याग कर दिया हो, वह अतिथि कहलाता है । ऐसे अतिथि हमारे आँगन में आ पहुँचें, तो उन्हें आदर के साथ अन्न-वस्त्रादि का दान करना । इस व्रत को अतिथि सविभाग व्रत कहते हैं ।

अतिथि ऐसा सन्त होना चाहिए कि जिसे धन संग्रह करने की इच्छा न हो, केवल शरीर की रक्षा के लिए जीवन की आवश्यकताएँ एक दिन में एक दिन के योग्य ही हों ।

अतिथि सत्कार में मुख्यतः अन्नदान का ही महत्व समझा जाता है । चूँकि अन्न को प्राण माना गया है—'अन्नं वैः प्राणः' एवं जल को जीवन कहा है, इसीलिए किसी अतिथि का अन्न-जल से सत्कार करने का अर्थ होता है उसे प्राण एवं जीवन का दान किया जा रहा है ।^२

जो भी ज्ञान, चिन्तन की दशा में उन्मुक्त होता है, विचारों की गहराई में, उतरता है वह विज्ञान कहलाता है । विज्ञान का अर्थ है—विशेष जानकारी ।^३ इस दृष्टि से, जैन परम्परा के बारह व्रतों का आयुर्वैज्ञानिक वैशिष्ट्य स्वतः सिद्ध ही जाता है । फिर भी शरीर ही धर्म का मुख्य साधन है—इसलिए शरीर को संभालकर रखना आवश्यक है । शरीर को स्वस्थ रखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है ।

१ वही पृष्ठ ७३

२ साधना के सूत्र : प्रवचनकार युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी पृ. २३६ अतिथि सेवा

३ वही पृ० २०६

जो सन्त-महात्मा-गृहस्थ-साधु इन बारह व्रतों को धारण कर नियमपूर्वक उनका पालन करते हैं—वे स्वस्थ एवं चिरायु होते हैं, उनके शरीर का संस्थान सुन्दर एवं सुडौल हो जाता है, उनके शारीरिक अवयव सुदृढ हो जाते हैं, वे तेजस्वी और अति शक्तिशाली होते हैं। भोजन के अपच होने की शिकायत नहीं होती और न ही खट्टी डकारें आती हैं। रक्त-चाप कम-ज्यादा नहीं होता। नाड़ी-संस्थान, आमाशय और हृदय की गति सुचारु रूप से अपना-अपना काम करती हैं। शरीर में रक्त-संचालन (Blood Circulation) बिना किसी रुकावट होता है जिससे चेहरा प्रसन्नता से खिला रहता है। यही कारण है कि हमारे प्राचीन ऋषि मुनि दीर्घायु होते थे, उन्हें किसी प्रकार की औषधि एवं उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। व्रत-ग्रहण करने से आहार में कमी आती है। आयुर्वेद विज्ञान की सूक्ति है—स्वल्पाहारी स जीवति—स्वल्प आहार करने वाला दीर्घ-जीवी होता है।

जो मनुष्य हिताहारी हैं, मिताहारी एवं अल्पाहारी हैं उन्हें किसी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता नहीं, वे स्वयं ही अपने वैद्य हैं, स्वयं ही स्वयं के चिकित्सक हैं।¹ दस प्रकार के सुखों में—आरोग्य पहला सुख माना गया है। आरोग्य ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है, सबसे बड़ा लाभ है। महर्षि धन्वन्तरि ने स्वास्थ्य की परिभाषा करते हुए लिखा है जिसके देह में वात-पित्त-कफ तीनों दोष, अग्नि, रस, रक्त आदि सातों धातुओं की मल क्रिया ये सब सम हैं, तथा जिसकी आत्मा, मन एवं इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, वह स्वस्थ कहलाता है।² व्रत से समस्त प्रकार के विकार दूर होते हैं।

शारीरिक वर्चस्व/बौद्धिक प्रतिभा/स्मरण शक्ति (ज्ञान तन्तु) का विकास होकर जीवन में उत्कृष्ट सफलता मिलती है।

उपवास—तप के इच्छुक को पहले कभी-कभी

१-२. वही पृष्ठ २२६-२२७।

४२२

उपवास करके सतत् तपस्या आरम्भ करनी चाहिए, पश्चात् एक-एक दिन के अन्तर से उपवास करना चाहिए और ज्यों-ज्यों शक्ति बढ़ती जाय, त्यों-त्यों तपस्या में वृद्धि करते जाना चाहिए और अन्त में संस्तारक तक पहुँचना चाहिए। यदि नित्य या एक-एक दिन के अन्तर से भी उपवास की शक्ति न हो तो प्रतिदिन ऊनोदरी तप करना चाहिए। यानी जितना भोजन नित्य किया जाता है, उसको कम कर देना चाहिए। वस्त्रादि उपकरणों को भी घटा देना तथा क्रोधादि कषायों में भी कमी करनी चाहिए।

इन्द्रियों—वृत्तियों पर कठोर प्रहार करके उन्हें ग्लान बना देना तप का हेतु नहीं है और न इससे तप सिद्ध होता है।

रस रुधिर मांस-भेदोऽस्थिमज्जा

शुक्राण्यनेन तप्यन्ते।

कर्माणि चाशुभानीत्य तस्तपो

नाम नैरुक्तम् ॥

अर्थात्—रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तथा अशुभ कर्म इससे तपित हो जाते हैं, इसलिए इसका नाम तप रखा गया है। शक्ति से बाहर, दबते हुए या जबदंस्ती सहन करते हुए उपवासादि तपस्या करना बिल्कुल अनिष्टकारक है, इसीलिए कहा है—

सो अ तवो कायव्वो जेण मनोमंगलं न चित्तेइ।

जेण न इंदिय हाणो जेण जोगा न हार्यति ॥

अर्थात्—जिस तप के करने से मन दुष्ट न हो, इन्द्रियों की हानि न हो, और योग भी नष्ट हो, वही तप करना चाहिए। इस प्रकार शान्ति समाधि पूर्वक तप करना और उसमें आगे बढ़ने के लिए धीरे-धीरे कदम बढ़ाना चाहिए। पहले कई दिनों में उपवास करना चाहिए। फिर एक-एक दिन के अन्तर से करना चाहिए और बाद में एक साथ दो,

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

फिर तीन, फिर चार इस प्रकार धीरे-धीरे आगे बढ़कर, ज्यों-ज्यों तप करने की शक्ति बढ़ती जाये, त्यों-त्यों छहों प्रकार के बाह्य तप सिद्ध करना चाहिए, अन्तिम संस्तारक तक पहुँचना चाहिए। इस विधान में सतत् शब्द का हेतु पूर्वक व्यवहार किया है। अनेक वैज्ञानिकों ने प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किया है। इसमें प्रमुख डॉ० एडवर्ड हुकर ने अनेक प्रयोगों के पश्चात् अपना अभिमत प्रकट किया है कि—उपवास से मानसिक बल बिल्कुल नष्ट नहीं होता। कारण कि मस्तिष्क का पोषण करने वाला तत्व मस्तिष्क में ही उत्पन्न होता है। उसका पोषण करने के लिए शरीर के और किसी भाग की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसके लिए अन्न की भी आवश्यकता नहीं है, कारण कि वह स्वतः अपना पोषण करता है और अपना काम नियमित रूप में किये जाता है।

जीवन की समस्त शक्तियों का उद्भव मस्तिष्क में ही होता है। जब मस्तिष्क काम करने से थक जाता है, तब उसकी थकान भोजन से दूर नहीं होती, विश्राम से होती है। निद्रा का विश्राम, मस्तिष्क का उत्तमता से पोषण करता है और दिन में किये हुए परिश्रम से विगलित हुए शरीर में—रात्रि के विश्राम के कारण प्रातःकाल ताजगी और प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है।

जब मनुष्य मानसिक चिन्ता या राग-द्वेषादि विकारों से घिरा रहता है तब उसकी भूख सबसे पहले नष्ट हो जाती है। और शरीर में जब कोई रोग-विकार उत्पन्न हो जाता है, तब भी भूख मर जाती है। भूख का मर जाना, रोग या विकार का चिह्न है, मानव की प्रकृति का संघटन कुछ ऐसा है कि रोग या विकार को मिटाने के लिए ही भूख का नाश या उपवास, उपचार के लिए निर्मित हुए हैं। इसी कारण आयुर्वेद विज्ञान ग्रन्थों में भी स्पष्ट कहा गया है कि शरीर मन और आत्मा की शुद्धि करने वाला उपवास रूपी तप एक बड़े दिव्योषधि है,

आयु को बढ़ाने वाला है। जैन परम्परा में उपवास अनशन तप के दो मुख्य प्रकार बतलाये गये हैं— एक स्वल्प समय के अनशन का और दूसरा जीवन भर के अनशन का। इन दोनों के अनेक उपभेद हैं। सामान्य उपवास चाहे कितनी संख्या के हों, वे स्वल्प समय वाले कहे जाते हैं और जीवन भर का अनशन संस्तारक कहा जाता है। मन को बिना ग्लान किये, सद्बुद्धि से, कर्मबन्धन तोड़ने के उत्साह से जीवन भर का अनशन ग्रहण करना, उल्लास-पूर्वक मृत्यु को आलिगन करने का कार्य है। यह मन की परम उच्च दशा है और इससे इस तप का अन्तिम प्रकार माना जाता है।

आगे कहा गया है यदि पहले समग्र पूर्ण उपवास कठिन प्रतीत हों और इसके कारण चाहे कोई ऊनोदरी तप करे, परन्तु जिन्होंने उपवास करने की शक्ति को विकसित किया है, उन्हें ऊनोदरी तप, साधारण उपवास से कठिन प्रतीत होता है और ऊनोदरी तप को जिसे विद्वानों ने उपवास के बाद स्थान दिया है वह उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कठिनता का विचार करके ही दिया जाता है। उपवास में भूख मर जाती है और इसमें ऊनोदरी के समान परीषह नहीं सहन करना पड़ता। एष्टन सिक लेयर नामक वैज्ञानिक ने प्रतिदिन एक छोटा फल खाकर कई दिनों तक ऊनोदरी करने का निश्चय किया था, परन्तु इससे उपवास से भी अधिक कष्ट मालूम होने लगा और इसमें उन्होंने फल खाना छोड़कर पूर्ण उपवास करना ही पसन्द किया। कहा है—

कषाय विषयाहार त्यागो यत्र विधोयते ।

उपवासः स विज्ञेयः शेषः लङ्घनकं विदुः ॥

अर्थात् जिस उपवासादि में कषाय, विषय और आहार का त्याग किया जाय, उसे उपवास समझना चाहिए, शेष लंघन है।

व्रत उपवासों से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का विकास सम्भव है। इनसे किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना नहीं है।¹

१ कर्तव्य कौमुदी [खण्ड १-२] पृष्ठ ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१ ।

□ डॉ० छगनलाल शास्त्री
एम. ए. (त्रिधा), पी-एच. डी.
प्रोफेसर—मद्रास विश्वविद्यालय

आचार्य हरिभद्र के प्राकृत योग ग्रन्थों का मूल्यांकन

भारतीय वाङ्मय में प्राकृत का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न प्राकृतों का यत्किञ्चित् प्रादेशिक भेद के साथ भारोपीय भाषा-परिवार या आर्यभाषा-परिवार के क्षेत्र में भारत के पश्चिमी, पूर्वी, उत्तरी एवं मध्य भाग में जन-जन में लोक भाषा के रूप में व्यापक प्रचलन रहा है।

भाषाशास्त्रियों ने भाषा-परिवारों का विश्लेषण करते हुए प्राकृतों की मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं (Middle Indo Aryan Languages) में परिगणना की है। उनके अनुसार भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास-क्रम के अन्तर्गत प्राकृत का काल ई. पू. ५०० से माना जाता है, पर यदि हम गहराई में जाएँ तो यह विकासक्रम का स्थूल निर्धारण प्रतीत होता है। प्राचीन आर्य भाषाएँ (Early Indo Aryan Languages) जिनका काल ई० पू० १५०० से ई. पू. ५०० माना जाता है, का प्रारम्भ छन्दस् या वैदिक संस्कृत से होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवेचन छन्दस् के साहित्यिक रूप को दृष्टिगत रखकर किया गया है। वैदिक संस्कृत जन-साधारण की बोलचाल की भाषा रही हो, ऐसा संभावित नहीं लगता। तब वैदिक संस्कृत के समकक्ष लोगों में दैनन्दिन

प्रयोग की दृष्टि से अवश्य ही कतिपय प्रादेशिक बोलियाँ रही होंगी।

महाभाष्यकार पतंजलि ने महाभाष्य के प्रारंभ में व्याकरण या शब्दानुशासन का लक्ष्य निरूपित करते हुए लिखा है—

“जो शब्दों के प्रयोग में कुशल है, जो शब्दों का समुचित रूप में उपयोग करना जानता है, वह व्यवहार-काल में उनका यथावत् सही-सही उपयोग करता है।”

भाषा के शुद्ध प्रयोग की फलनिष्पत्ति का जिक्र करते हुए वे कहते हैं—“ऐसा करना न केवल इस लोक में उसके लिए श्रेयस्कर होता है, वरन् परलोक में भी यह उसके उत्कर्ष का हेतु है। जो अशुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है, वह दोषभाक् है।”^१

आगे उन्होंने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—“एक एक शब्द के अनेक अपभ्रंश-रूप प्रचलित हैं।” अपभ्रष्ट रूपों में उन्होंने गो के अर्थ में प्रचलित गावी, गोणी, गोपतलिका का उल्लेख किया है।^२

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि महाभाष्यकार का संकेत उन बोलियों की ओर है, जो छन्दस्काल में लोक प्रचलित थीं। बोलचाल की भाषाओं में रूप-वैविध्य का होना सर्वथा स्वाभाविक है।

१. महाभाष्य प्रथम आह्निक पृ. ७।

२. महाभाष्य प्रथम आह्निक पृ. ८।

ऐसा प्रतीत होता है, विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित वे बोलियाँ प्राचीन प्राकृतें रही हों, जिनका लोग व्यवहार करते थे। उन्हीं के आधार पर परिष्कार-पूर्वक छन्दस् या वैदिक संस्कृत का स्वरूप निमित्त हुआ हो।

यद्यपि यह अब तक विवाद का विषय रहा है कि संस्कृत तथा प्राकृत में किसे प्राचीन माना जाये पर प्राकृत की प्रकृति देखते ऐसा कहा जाना असंगत नहीं होगा कि छन्दस् के काल में भी जन-व्यवहार्य भाषा के रूप में उसका अस्तित्व रहा है। अतः उसकी प्राचीनता छन्दस् से परवर्ती कैसे हो सकती है ?

भगवान् महावीर एवं बुद्ध के समय में, और आगे भी प्रायः समग्र उत्तर भारत में मागधी, अर्द्ध मागधी, शौरसेनी एवं पेशाची आदि का जन-भाषाओं के रूप में अव्याबाध प्रचलन रहा है। महावीर द्वारा अपने उपदेशों के माध्यम के रूप में अर्द्ध मागधी का स्वीकार तथा बुद्ध द्वारा मागधी (पालि) का स्वीकार यह सिद्ध करता है।

समवायांग सूत्र, आचारांग चूर्णि, दशवैकालिक वृत्ति आदि में इस आशय के उल्लेख हैं कि तीर्थंकर अर्द्ध मागधी में धर्म का आख्यान करते हैं।¹

फलतः प्राचीनतम श्वेताम्बर जैन वाङ्मय जो द्वादशांगी के रूप में विश्रुत है, उसमें से ग्यारह अंग हमें अर्द्ध मागधी में प्राप्त हैं। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद विच्छिन्न माना जाता है। अंगों के आधार पर उपांग, छेद, मूल, आवश्यक, प्रकीर्णक आदि के रूप में विपुल साहित्य अर्द्ध मागधी में ही सजित हुआ।

विनय पिटक, सुत्त पिटक, अभिघम्म पिटक तथा तत्परवर्ती बौद्ध साहित्य पालि में रचित हुआ।

अर्द्ध मागधी आगम एवं बौद्ध पिटक भारत का

वह प्राचीनतम साहित्य है, जिसका न केवल जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के निरूपण की दृष्टि से ही महत्व है, वरन् तत्कालीन भारत के लोक-जीवन, समाज, रीति-नीति, व्यापार, कृषि, प्रशासन, न्याय, व्यवस्था, भोजन, वस्त्र आदि जीवन के सभी अपरिहार्य पक्षों पर भी वह बड़ा विशद प्रकाश डालता है।

दिगम्बर परम्परा का प्राचीन साहित्य शौरसेनी में है। शौरसेनी का भारत के पश्चिमी भाग में प्रचलन था। षट्खण्डागम के रूप में शौरसेनी में जो साहित्य हमें उपलब्ध है, वह निश्चय ही कर्म-सिद्धान्त पर विश्व के दर्शनों में अपना अप्रतिम स्थान लिये है।

धर्म-सिद्धान्तों के निरूपण से संपृक्त होने के कारण जैन परम्परा का प्राकृत के साथ जो तादात्म्य जुड़ा, वह आगे भी अनवरत गतिशील रहा।

यह भी ज्ञातव्य है, अपने प्रचलन-काल में प्राकृत की व्यापकता केवल जैनों तक ही सीमित नहीं रही। प्राकृत जन-जन की भाषा थी। संस्कृत नाटकों में जहाँ शिष्ट-विशिष्ट पात्रों के लिए संस्कृत का प्रयोग हुआ है, वहाँ लोकजनीन पात्रों के लिए, जिनमें व्यापारी, किसान, मजदूर, भृत्य, स्त्रियाँ, बालक आदि का समावेश है, विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। उससे प्राकृत की सर्व-जन भोग्यता सहज ही सिद्ध होती है।

आगे चलकर साहित्यिक भाषा के रूप में महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ, जिसमें साहित्य की विभिन्न विधाओं में रचना हुई।

इस सन्दर्भ में आगे बढ़ते हुए हम आ० हरिभद्र सूरि के काल में प्रविष्ट होते हैं। यद्यपि वह साहित्य के क्षेत्र में लौकिक संस्कृत (Classical Sanskrit) का उत्कर्षकाल था, दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य आदि पर संस्कृत में लिखने को लेखक

१. (क) समवायांग सूत्र ३४. २२, २३

(ख) दशवैकालिक वृत्ति पृ. २२३।

अधिक उत्साहित थे, पर जैन लेखकों ने प्राकृत में भी लिखना चालू रखा। आ० हरिभद्रसूरि इसके उदाहरण हैं।

आ० हरिभद्र के काल के सम्बन्ध में विद्वानों ने काफी ऊहापोह किया है। अन्ततः पुरातत्त्व के प्रख्यात विद्वान तथा अन्वेषक मुनि जिनविजय ने उस पर सूक्ष्म गवेषणा की। उन्होंने आचार्य हरिभद्रसूरि का समय ई. सन् ७००-७७० निर्धारित किया, जिसे अधिकांश विद्वान् प्रामाणिक मानते हैं।

प्राचीन लेखकों तथा आधुनिक समीक्षकों द्वारा किये गए उल्लेखों के अनुसार हरिभद्र ब्राह्मण-परम्परा से श्रमण-परम्परा में आए थे। वे चित्रकूट > चित्तऊड > चित्तौड़ या चित्तौड़ के राजपुरोहित वंश से सम्बद्ध थे। अपने समय के उद्भट विद्वान थे। याकिनी महत्तरा नामक जैन साध्वी के सम्पर्क में आने से जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुए। जैन धर्म में श्रमण के रूप में प्रव्रजित हुए। वैदिक परम्परा के तो वे महान् पण्डित थे ही साथ ही साथ बौद्ध दर्शन के भी मर्मज्ञ थे। जैन शास्त्रों का उन्होंने गहन अध्ययन किया। फलतः उनके वैदुष्य में एक ऐसा निखार आया, जो निःसंदेह अद्वितीय था।

आ० हरिभद्र की भारतीय वाङ्मय को बहुत बड़ी देन है। उन्होंने अनेक विषयों पर विपुल साहित्य रचा, आगमों पर व्याख्याएँ लिखीं, धर्म व दर्शन पर रचनाएँ कीं, कथा-कृतियाँ भी रचीं। परम्परा से उन्हें १४००, १४४० या १४४४ प्रकरणों का रचनाकार माना जाता है। यह स्पष्ट नहीं है कि प्रकरण का तात्पर्य एक पुस्तक है अथवा पुस्तक के अध्याय या भाग। सारांशतः छंटाई करने पर

प्राप्य-अप्राप्य लगभग पचास ग्रन्थ ऐसे हैं। जिन्हें आचार्य हरिभद्र-रचित माना जाना सन्देहास्पद नहीं है।

प्रस्तुत निबन्ध में आचार्य हरिभद्र द्वारा जैन-योग पर प्राकृत में रचित कृतियों पर विचार करेंगे।

वह एक ऐसा समय था, जब भारतवर्ष में विभिन्न धर्म-परम्पराओं में योग के नाम से आध्यात्मिक साधना के अनेक उपक्रम गतिशील थे। योग शब्द का पतंजलि ने चित्तवृत्ति-निरोध^१ के रूप में जो उपयोग किया है, जैन परम्परा में वैसा लगभग नहीं रहा है। वहाँ योग^२ आखर है, जो मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों से जुड़ा है। चैतसिक श्रुद्धि, अन्तःपरिष्कार या कर्म-निर्जरण के लिए जैन परम्परा में तप^३ का स्वीकार हुआ है। औपपातिक सूत्र^४ आदि आगम-ग्रन्थों में तप के सम्बन्ध में विस्तृत विश्लेषण है।

तपश्चरण का क्रम भारतवर्ष में बहुत प्राचीन-काल से प्रायः सभी धार्मिक परम्पराओं में रहा है। महान् प्रज्ञा पुरुष पं० सुखलालजी^५ संघवी के अनुसार कभी इस देश में ऐसे साधकों की परम्परा रही है, जो सांसारिक भोग, सुख-सुविधाएँ, मान-अपमान आदि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से सर्वथा अलिप्त, असस्पृष्ट रहते हुए धोर तपोमय, पशु-पक्षी जैसा सर्वथा निष्परिग्रह जीवन जीते थे। उन्हें अवधूत शब्द से अभिहित किया जाता रहा है। भागवत^६ में ऋषभ का एक अवधूत योगी के रूप में वर्णन आया है। वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ का जैन साहित्य में जो वर्णन आता है, उससे भागवत का वर्णन तितिक्ष दृष्टि से बहुत कुछ मिलता-जुलता सा है। भागवत

१. योगसूत्र १.२।

२. तत्त्वार्थ सूत्र ६.३, १६-२०।

३. समदर्शी आ. हरिभद्र पृ. ६३-६५।

२. तत्त्वार्थसूत्र ६.१-२।

४. औपपातिक सूत्र ३०।

६. भागवत ५.५, २८-३५, ५.६, ५.१६।

के ११वें स्कन्ध में अवधूत दत्त या दत्तात्रेय की चर्चा है, जिन्होंने अपने द्वारा विविध रूप में गृहीत शिक्षाओं के कारण अपने चौबीस गुरु माने थे ।

आचारांग का धूताध्यायन (प्रथम श्रुतस्कन्ध षष्ठ अध्यायन) तथा विशुद्धिमग्न का धूतांग-निर्देश अवधूत परम्परा की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं । भाषा-विज्ञान में निर्देशित प्रयत्नलाघव या संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'अव' उपसर्ग हटाकर केवल धूत रख लिया गया हो । धूत 'धू' कम्पने का कृदन्त रूप है । अवधूत के सन्दर्भ में इसका आशय उस साधक से है, जिसने कर्म-शत्रुओं को कंपा डाला हो, झकझोर दिया हो, हिला दिया हो ।

साथ ही साथ तापसों की भी विशेष परम्पराएँ इस देश में रही हैं, जिनकी तपःसाधना ब्राह्मण और श्रमण परम्परा का मिला-जुला रूप लिए थीं । औपपातिक सूत्र^१ आदि में जो विभिन्न परिव्राजकों, तापसों का वर्णन आया है, वह इस पर प्रकाश डालता है । आ० हरिभद्रसूरि ने समराइच्चकहा में कुलपति आर्जव कौण्डिन्य, सुपरितोष नामक तपोवन तापस-आश्रम और वहाँ दीक्षित अग्निशर्मा के तप का जो उल्लेख किया है, उससे तापस-परम्परा की प्राचीनता अनुमित होती है ।^२

आगे जाकर साधकों की पुराकालवर्ती अवधूत एवं तापस परम्परा के परिष्करण तथा नवीकरण में पतंजलि का योगसूत्र बहुत प्रेरक बना, ऐसा सम्भावित लगता है । क्योंकि उत्तरवर्ती काल में साधना के सन्दर्भ में जो विकास हुआ, उसमें दैहिक अभ्यास का स्थान अपेक्षाकृत गौण होता गया और धारणा, ध्यान एवं समाधिपरक आन्तरिक शुद्धि की ओर साधकों का आकर्षण बढ़ता गया ।

१. औपपातिक सूत्र ७४-६६ ।

२. योगदृष्टिसमुच्चय २-११ ।

५. योगदृष्टिसमुच्चय १४-१६ ।

आ० हरिभद्रसूरि इन सब परम्पराओं का गहराई से अध्ययन कर चुके थे । जिन तपःक्रमों, साधना पद्धतियों, यौगिक क्रिया-प्रक्रियाओं के परिपार्श्व में विकास पाती योग-साधना उनके समय तक जिस रूप में पतप चुकी थी, उससे वे भलीभाँति परिचित थे । समय की माँग को देखते उन्हें यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि जैन चिन्तनधारा को केन्द्र में रखते हुए योग का एक ऐसा रूप उपस्थित किया जाए, जो तत्सम्बन्धी सभी विचारधाराओं का समन्वय लिए हुए हो, जिसे अपनाने में किसी को कोई आपत्ति न लगे ।

योग के क्षेत्र में इस प्रकार का चिन्तन करने वाले आ० हरिभद्र सम्भवतः पहले व्यक्ति थे । क्योंकि तत्पूर्ववर्ती लगभग सभी योगाचार्यों ने अपनी अपनी परम्पराओं को ही उद्दिष्ट कर साहित्य-रचना की ।

आ० हरिभद्र ने योग पर चार ग्रन्थ लिखे—१. योगदृष्टिसमुच्चय, २. योगबिन्दु, ३. योगशतक तथा ४. योगविशिका ।

योगदृष्टिसमुच्चय और योगबिन्दु संस्कृत में हैं । ये अपेक्षाकृत विस्तृत हैं । योगदृष्टिसमुच्चय में २२८ तथा योगबिन्दु में ५२७ श्लोक हैं । सभी अनुष्टुप् छन्द में हैं । इन ग्रन्थों में लेखक ने अन्यान्य योग-परम्पराओं में स्वीकृत विचारों के साथ तुलनात्मक समन्वयात्मक दृष्टि से जैन साधनाक्रम को योग की शैली में उपस्थित करने का स्तुत्य प्रयास किया है ।

योगदृष्टि समुच्चय में इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग^३ मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा—आठ योगदृष्टियों^४, ओषदृष्टि योगदृष्टि^५ तथा कुलयोगी, गोत्रयोगी, प्रवृत्तचक्र-योगी, निष्पन्नयोगी^६ के रूप में योगियों के भेदों का

२. समराइच्चकहा प्रथम भव ।

४. योगदृष्टिसमुच्चय १३, १४ ।

६. योगदृष्टिसमुच्चय २०७-१२ ।

जो विवेचन किया है, वह सर्वथा मौलिक है, अन्यत्र प्राप्त नहीं होता ।

इसी प्रकार योगबिन्दु में पूर्वसेवा आदि प्रकरण हैं, जो योग के क्षेत्र में नवीनता जोड़ते हैं ।

एक और बड़े महत्व की बात है, जिसका उल्लेख करना अपरिहार्य है । आ० हरिभद्र ने योगबिन्दु में गोपेन्द्र^१ तथा कालातीत^२ नामक योगाचार्यों का उल्लेख किया है, जिनकी सूचना अन्यत्र कहीं नहीं मिलती । उन्होंने समाधिराज^३ तक की चर्चा की है, जो योग पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसे उत्तम समाधि के अर्थ में समझने की भूल होती रही । यह संस्कृत प्राकृत के मिले-जुले रूप में रचित ग्रन्थ है, जिनके चीनी भाषा में, भोटभाषा में भी अनुवाद हुए ।

आ० हरिभद्र का दृष्टिकोण बड़ा अनैकान्तिक, उदार, समन्वयवादी और सर्वथा गुणनिष्ठापरक था । यही कारण है, वे निःसंकोच कह सके—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ।

—लोकतत्व निर्णय ३८

शास्त्रवातसिमुच्चय^४ एवं योगबिन्दु^५ में इस आशय के और भी प्रसंग आये हैं, जो आ० हरिभद्र की असंकीर्ण चिन्तनधारा के द्योतक हैं ।

योगशतक एवं योगविशिका आ० हरिभद्र की प्राकृत-रचनाएँ हैं, जिनमें व्यापक चिन्तनधारा के परिपार्श्व में जैनसिद्धान्तों के केन्द्र से योग का निखार हुआ है । ग्रन्थकार ने जैन तत्त्वदर्शन और तद्गर्भित साधनामूलक आचारविधा को योग की नई शैली में अपनी इन कृतियों में उद्भासित किया है, जिससे जैन-दर्शन की गरिमा का प्राशस्त्य बढ़ा है ।

१. योगबिन्दु १०० ।
२. योगबिन्दु ४५६ ।
५. योगबिन्दु ५२५ ।

योगशतक :—

भारत में शतपद्यात्मक कलेवरमय रचनाएँ शतकों के नाम से होती रही हैं । जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण कृत ध्यानशतक तथा आ० पूज्यपाद रचित समाधिगतक ऐसी ही रचनाएँ हैं । आगे भी यह क्रम गतिशील रहा, जिसमें आ० हरिभद्र का योगशतक आता है । इसमें एक सौ एक पद्य हैं । वे आर्या छन्द में हैं, जो प्राकृत में गाथा के नाम से प्रसिद्ध है ।

ग्रन्थकार ने योगशतक में मंगलाचरण के पश्चात् योग की परिभाषा तथा उसके भेद बतलाते हुए लिखा है—

निच्छयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह संबंधो ।
मोक्खेण जोयणाओ निहिट्ठो जोगिनाहेहि ॥२॥

निश्चयदृष्टि से सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र—इन तीनों का आत्मा के साथ संबंध होना योग है । वह आत्मा का मोक्ष के साथ योजन या योग करता है, इस कारण योगवेत्ताओं ने उसे योग की संज्ञा दी है । वह निश्चय-योग है । अब तक पातंजल योग स्वीकृत चित्तवृत्ति-निरोध तथा जैन-दर्शन स्वीकृत मनोवाक्काय-कर्म के अर्थ में संप्रयुक्त योग शब्द का यह तीसरा अर्थ आ० हरिभद्र ने उद्घाटित किया, जिसका युग्म योजने धातु के 'जोड़ना' अर्थ से सीधा सम्बन्ध है ।

ग्रन्थकार ने योगविशिका की पहली गाथा में योग की इसी रूप में परिभाषा की है । लिखा है—
मोक्खेण (मुक्खेण) जोयणाओ जोगो
संबवो वि धम्मवावारो ।
परिसुद्धो विन्नो ओ ठाणाइगओ विसेसेण ॥

जो आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है, वह सभी

२. योगबिन्दु ३०० ।

४. शास्त्रवातसिमुच्चय २०८, २०९, २३७ ।

प्रकार का धर्म-व्यापार—धर्मोपासना के वे सभी उपक्रम योग हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में योग का आशय आसन, ध्यान आदि से है।

योगदृष्टि समुच्चय में सामर्थ्ययोग के योगसंन्यास नामक भेद का स्वरूप समझाते हुए लिखा है—

अतस्त्वयोगो योगानां, योगः पर उदाहृतः।
मोक्षयोजनभावेन, सर्वसंन्यासलक्षणः ॥

यहाँ योग को मोक्षयोजनभाव के रूप में व्याख्यात किया है। अर्थात् वह आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है, वह आत्मभाव का परमात्मभाव के साथ योजक है। यह योजकत्व ही योग की वास्तविकता है।

इस श्लोक में एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहाँ योग द्वारा अयोग प्राप्ति—योगराहित्य स्वायत्त करने का संकेत किया गया है। अर्थात् यहाँ योग द्वारा ध्यान आदि आत्म-साधना के उपक्रमों, उपायों द्वारा योग-मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध कर अयोग-योगरहित बन जाने का भाव उजागर हुआ है। आत्मा की वह सर्वोत्तम उन्नतावस्था है, जहाँ वह (आत्मा) सर्वथा अपने स्वरूप में, स्वभाव में सम्प्रतिष्ठ हो जाती है। स्वरूप-सम्प्रतिष्ठान के पश्चात् कुछ करणीय बच नहीं जाता। वहाँ कर्ता, कर्म और क्रिया की त्रिपदी ऐक्य प्राप्त कर लेती है। वह आत्मा की देहातीता-वस्था है, सहजावस्था है, परम आनन्दमय दशा है, योगसाधना की सम्पूर्ण सिद्धि है। सभी प्रवृत्तियाँ, जिनका देह, इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध है, वहाँ स्वयं अपगत हो जाती है। यह योग द्वारा योगनिरोध-पूर्वक अयोग की उपलब्धि है। अयोग ही योगी का परम लक्ष्य है। यह तब सधता है, जब नैश्चयिक दृष्टि से आत्मा में ज्ञान की अविचल ज्योति उद्दीप्त हो जाती है, निष्ठा का सुस्थिर सम्बल स्वायत्त हो जाता है। तदनु रूप साधना सहज रूप में अधिगत हो जाती है।

१. योगबिन्दु १७६-७८।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

योग का अधिकारी कौन हो सकता है, इस सम्बन्ध में हरिभद्र ने जो तात्त्विक समाधान दिया है, वह उनकी गहरी सूझ का एवं जैन दर्शन की मर्मज्ञता का सूचक है।

उन्होंने लिखा है—

अहिगारी पुण एत्थ विन्नेओ अपुणबंधगाइत्ति।
तह तह नियत्तपयई अहिगारोऽणंगभेओ त्ति ॥६॥

अपुनर्बन्धक—चरम पुद्गलावर्त में अवस्थित पुरुष योग का अधिकारी है, ऐसा जानना चाहिये। कर्म-प्रवृत्ति की निवृत्ति—कर्म-पुद्गलों के निर्जरण की तरतमता से प्रसूत स्थितियों के अनुसार गुण-निष्पन्नता की दृष्टि से उसके अनेक भेद हो सकते हैं।

अध्यात्म-जागरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत योग-बिन्दु^१ में भी यह प्रसंग विशद रूप में चर्चित हुआ है।

अपुनर्बन्धक तथा चरम पुद्गलावर्त के सन्दर्भ में जैन दर्शन की ऐसी मान्यता है कि जीव अनादिकाल से शरीर, मन, वचन द्वारा संसारस्थ पुद्गलों का किसी न किसी रूप में ग्रहण तथा विसर्जन करता आ रहा है। कोई जीव विश्व के समस्त पुद्गलों का एक बार किसी न किसी रूप में ग्रहण तथा विसर्जन कर चुकता है—सबका भोग कर लेता है, वह एक पुद्गल-परावर्त कहा जाता है।

यह पुद्गलों के ग्रहण-त्याग का क्रम जीव के अनादिकाल से चला आ रहा है। यों सामान्यतः जीव इस प्रकार के अनन्त पुद्गल-परावर्तों में से गुजरता रहा है। यही संसार की दीर्घ-खूबला या चक्र है। इस चक्र में भटकते हुए जीवों में कई भव्य या मोक्षाधिकारी जीव भी होते हैं, जिनका कषाय-मान्य बढ़ता जाता है, मोहात्मक कर्म-प्रकृति की शक्ति घटती जाती है। जीव का शुद्ध स्वभाव कुछ-कुछ उद्भासित होने लगता है। ऐसी स्थिति आ जाने पर जीव की संसार में भटकने की स्थिति

४२६

परिमित, सीमित हो जाती है। संसार के पुद्गलों को केवल एक बार किसी न किसी रूप में भोग सके, मात्र इतनी अवधि बाकी रह जाती है, उसे चरम पुद्गल परावर्त या चरमावर्त कहा जाता है।

जैन-दर्शन में प्रत्येक कर्म की जघन्य कम से कम तथा उत्कृष्ट अधिक से अधिक दो प्रकार की आवधिक स्थितियाँ मानी गयी हैं। आठ प्रकार के कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम है, जिसका मुख्य कारण जीव का तीव्र कषाययुक्त होना है।

जब जीव चरम-पुद्गल-परावर्त-स्थिति में होता है, उस समय कषाय बहुत ही मन्द रहते हैं। फलतः वह फिर सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम स्थिति के मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं करता। उसे अपुन-बन्धक कहा जाता है। अपुनबन्धकता की स्थिति पा लेने के पश्चात् जीवन सन्मार्गाभिमुख हो जाता है। उसकी मोहरागमयी कर्म-ग्रन्थी टूट जाती है। सम्यक्दर्शन प्राप्त हो जाता है।

साधक की यह वह स्थिति है, जब वह योग-साधना के योग्य हो जाता है, किन्तु योग-मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए, उस पर अनवरत गतिशील रहने हेतु कुछ और चाहिए। वह है ऐसे सात्विक, सौम्य, विनीत, सेवासम्पूक्त, करुणाशील जीवन की उर्वर पृष्ठभूमि, जिसमें योग के बीज अंकुरित, उद्गत, अभिवर्द्धित, पुष्पित एवं फलित हो सकें। इसके लिए आ० हरिभद्र ने योगबिन्दु में पूर्वसेवा के रूप में वैसे सद्गुणों का विवेचन किया। योग-शतक में ग्रन्थकार ने "पूर्वसेवा" पद का प्रयोग तो नहीं किया है, किन्तु व्यवहार योग, योगाधिकारी की पहचान, मार्ग दर्शन, कर्तव्य बोध आदि के रूप में वही सब कहा है, जो पूर्व सेवा में प्रतिपादित है। लिखा है—

गुरु-विणओ मुस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु ।
तह चेवाणुट्ठाणं विहि-पडिसेहेसु जहसत्ती ॥५॥

४३०

धर्मशास्त्रों में निरूपित विधि के अनुरूप गुरुजन का विनय, शुश्रूषा-सेवा, परिचर्या करे, उनसे तत्त्व ज्ञान सुनने की उत्कण्ठा रखे तथा अपनी क्षमता के अनुरूप शास्त्रोक्त विधि-निषेध का पालन करे अर्थात् शास्त्र-विहित का आचरण करे, शास्त्र-निषिद्ध का आचरण न करे।

पावं न तिव्वभावा कुणइ न बहु मन्नई भवं घोरं ।
उच्चियदिठइं च सेवइ सव्वथ वि अपुणबन्धो त्ति ॥३॥

अपुनबन्धक तीव्र भाव-उत्कट कलुषित भावना-पूर्वक पाप-कर्म नहीं करता, घोर-भीषण, भयावह संसारको बहुत नहीं मानता। उसमें आसक्त-रचा-पचा नहीं रहता। लौकिक, सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक, धार्मिक—सभी कार्यों में उचित स्थिति—न्यायपूर्ण मर्यादा का पालन करता है।

पढमस्स लोकधम्मो परपीडावज्जणाइ ओहेणं ।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च ॥२५॥

प्रथम भूमिका का साधक दूसरों को पीड़ा न दे। गुरु, देव तथा अतिथि का सत्कार करे, दीन जनों को दान दे, सहयोग करे।

आ० हरिभद्र के अनुसार ये लोक-धर्म हैं, जो प्रथम भूमिका के साधक के लिए अनुसरणीय है। आगे उन्होंने कहा है—

सदधम्माणुवरोहा वित्ती दाणं च तेण सुविसुद्धं ।
जिणपूय-भोयणविही संज्ञा-नियमो य जोगं तु ॥
चियवंदण-जइविस्सामणा य सवणं

च धम्मविसयंति ।
मिहिणो इमो वि जोगो कि पुण जो
भावणा-मग्गो ॥३०,३१॥

सद्धर्म के अनुपरोधपूर्वक—सद्धर्म की आराधना में बाधा न आए, यह ध्यान में रखते हुए गृही साधक अपनी आजीविका चलाए, विशुद्ध-निर्दोष दान दे, जिनेश्वरदेव—वीतराय प्रभु की पूजा करे, यथाविधि—यथानियम भोजन करे, सार्वकालीन उपासना के नियमों का पालन करे।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

चैत्य-वन्दन, यति-संयमी साधु को स्थान, पात्र आदि का सहयोग, उनसे धर्म-श्रवण इत्यादि सत्कार्य करे, भावना-मार्ग का—बारह भावनाओं का एवं मैत्री, मुदिता, करुणा तथा माध्यस्थ्य भावना का अभ्यास करे।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भावनाएँ चैतसिक परिष्कार का अनन्य हेतु हो सकती हैं, यदि उनका यथाविधि योग की पद्धति से अभ्यास किया जाए। ऐसा प्रतीत होता है, जैन परम्परा में कभी भावनाओं के अभ्यास का कोई वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक क्रम रहा हो, जो हमें आज उपलब्ध नहीं है।

योगबिन्दु और योगशतक में शील, सदाचार आदि लोकधर्मों के परिपालन की जो विस्तार से चर्चा की गयी है, उसका एक ही अभिप्राय है, साधक जीवन में मानवोचित शालीनता सहज रूप में स्वायत्त कर सके, जिससे आगे वह योग-साधना की लम्बी यात्रा में अविश्रान्त रूप में बढ़ता जा सके।

इसी आशय को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

एवं चिय अवयारो जायइ मग्गम्मि हंदि एयस्स ।
रण्णे पह्पब्भट्ठो वट्टाए वट्टमोयरइ ॥२६॥

जैसे वन में मार्ग भूले हुए पक्षिक को पगडंडी बतला दी जाए तो उससे वह अपने सही पथ पर पहुँच जाता है, वैसे ही वह साधक लोक-धर्म के माध्यम से अध्यात्म में पहुँच जाता है।

लोक धर्म और अध्यात्म का समन्वय जीवन की समग्रता है। जहाँ यह नहीं होती, वह जीवन का खण्डित रूप है, जिससे साध्य नहीं सधता। इसी तथ्य को आत्मसात् कराने हेतु हरिभद्र ने अनेक रूपों में इसकी चर्चा की है।

उन्होंने योगशतक में आगे द्वितीय और तृतीय

१. योगशतक २७-२६।

पंचम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

श्रेणी के साधकों की चर्चा की है, जहाँ उत्तरोत्तर लोकोत्तर धर्म—संयम, व्रत तथा सामायिक साधना से साधक को जोड़ने का उनका अभिप्रेत है।^१

जैन साधना में सामायिक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह चारित्र्य का मुख्य अंग है।

आ० हरिभद्र ने सामायिक को योग की भूमिका में परिगृहीत कर उसे जो सम्भारित, संस्कारित रूप प्रदान किया, वह उनकी गहरी सूझ का परिचायक है। उन्होंने सामायिक को अशुद्धि से बचाने पर बड़ा जोर दिया है। कहा है—

पडिसिद्धेसु य देसे विहिएसु य ईसिरागभावे वि ।
सामाइयं असुद्धं सुद्धं सभयाए दोसुं पि ॥१७॥

शास्त्रों में जिनका प्रतिषेध निषेध किया गया है, ऐसे विषयों-कार्यों में द्वेष तथा शास्त्रों में जिनका विधान किया गया है, उनमें थोड़ा भी राग सामायिक को अशुद्ध बना देते हैं, जो इन दोनों में—निषिद्ध तथा विहित में समभाव रखता है, उससे सामायिक शुद्ध होती है।

आ० हरिभद्र ने इस गाथा द्वारा साधक को चिन्तन की उस पवित्रतम भूमिका से जोड़ने का प्रयत्न किया है, जहाँ मन समता-रस में इतना आप्तुत हो जाए कि वह पाप से अप्रीति या घृणा तथा पुण्य से प्रीति या आसक्ति से ऊँचा उठ सके।

जैन-दर्शन कर्म सिद्धान्त पर टिका है। अतः ग्रन्थकार ने ५३ से ५८ गाथा तक छह गाथाओं में कर्मवाद का संक्षिप्त किन्तु बड़ा बोधप्रद विश्लेषण किया है।

राग, द्वेष, मोह आदि दोषों के परिहार हेतु साधक अपने चिन्तन को कैसा मोड़ दे, इस पर सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए ग्रन्थकार ने बतलाया है कि राग अभिसंग—आसक्तता—प्रीतिमत्ता से जुड़ा

४३१

है तथा द्वेष अप्रीति से। ये दोनों ही मोह-प्रसूत अवस्थाएँ हैं। साधक यह दृष्टि में रखते हुए गहराई से विचार करे कि इनमें मुझे दृढ़ता से डटकर, अत्यधिक रूप में कौन पीड़ित कर रहा है? यह समझता हुआ उन दोषों के स्वरूप, परिणाम, विपाक आदि पर एकान्त में एकाग्र मन से भली-भाँति चिन्तन करें।¹

यह चिन्तन की अन्तःस्पर्शी सूक्ष्म प्रक्रिया है, जो साधक को शक्ति, अन्तःस्फूर्ति प्रदान करती है।

आगे उन्होंने प्रत्येक दोष के प्रतिपक्षी भावों पर गहराई से सोचते हुए दोष-मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त किया है।²

समग्र चिन्तन, चर्चा एवं अभ्यास—ये सब शाश्वत जैन सिद्धान्तों की धुरी पर टिके रहें, अतएव उन्होंने प्रसंगोपात्त रूप में उत्पाद-व्यय-धौव्य का संक्षेप में तात्त्विक शैली में निरूपण किया है, ताकि साधक की मनोभूमि सत्योन्मुख दृढ़ता से परिपोषित रहें।³

आहार-शुद्धि पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थकार ने गृह-त्यागी साधकों को, जिनका जीवन भिक्षा-चर्चा पर आधृत है, जो समझाया है, वह बड़ा बोध-प्रद है। उन्होंने भिक्षा को ज्ञान-लेप से उपमित किया है। फोड़े पर, उसे मिटाने हेतु जैसे किसी दवा का लेप किया जाता है, उसी प्रकार भुधा, घृषा आदि मिटाने हेतु भिक्षा ग्रहण की जाती है, दवा कितनी ही कीमती हो, फोड़े पर उतनी ही लगायी जाती है, जितनी आवश्यक हो। उसी प्रकार भिक्षा में प्राप्त हो रहे खाद्य, पेय आदि पदार्थ कितने ही सुस्वादु एवं सरस क्यों न हों, वे अनासक्त भाव से उतने ही स्वीकार किये जाएँ, जितनी आवश्यकता हो। ऐसा न करने पर भिक्षा सदोष हो जाती है।

ज्यों-ज्यों योगांगों की सिद्धि होती जाती है, योगी को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती जाती हैं, जिन्हें पतंजलि ने विभूतियाँ कहा है, बौद्ध परम्परा में जो अभिज्ञाएँ कही गयी हैं, जैन परम्परा में वे लब्धियों के नाम से अभिहित हुई हैं। ग्रन्थकार ने ८३, ८४, ८५ गाथाओं में संक्षेप में रत्न आदि, अणिमा आदि आमोसहि (आमोषधि) आदि लब्धियों की ओर संकेत किया है।

ऐसा माना जाता है, जिस योगी को आमोसहि सिद्ध हो जाती है, उसके स्पर्श मात्र से रोग दूर हो जाते हैं।

योग-साधना के सार रूप में ग्रन्थकार ने मनो-भाव के वैशिष्ट्य की विशेष रूप से चर्चा की है। उन्होंने बताया है कि कायिक क्रिया द्वारा—मात्र देहाश्रित बाह्य तप द्वारा नष्ट हुए दोष मण्डूक चूर्ण के समान हैं। वे ही दोष यदि भावना द्वारा, शुद्ध अन्तर्वृत्ति या मानसिक परिशुद्धि द्वारा क्षीण किये गये हों तो मण्डूक-भस्म के समान हैं।

मण्डूक-चूर्ण तथा मण्डूक-भस्म का उदाहरण कायिक क्रिया एवं भावनानुगत क्रिया का भेद स्पष्ट करने के लिए प्राचीन दार्शनिक साहित्य में प्रयोग में आता रहा है। ऐसा माना जाता है कि मेंढक के शरीर के टुकड़े-२ हो जाएँ तो भी नई वर्षा का जल गिरते ही उसके शरीर के वे अंग परस्पर मिलकर सजीव मेंढक के रूप में परिणत हो जाते हैं। यदि मेंढक का शरीर जलकर राख हो जाए तो फिर चाहे कितनी ही वर्षा हो, वह पुनः सजीव नहीं होता।

योगसूत्र के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका (तत्त्ववंशारदी) में इस उदाहरण का उल्लेख किया है।

ग्रन्थकार ने मनःशुद्धि या मनोजय पर बड़ा जोर

१. योगशतक ५६-६०।

३. योगशतक ७२-७३।

२. योगशतक ६७-७०।

दिया है। उन्होंने बोधिसत्त्व का उदाहरण देते हुए बताया है कि वे कामपाती होते हैं, चित्तपाती नहीं होते। क्योंकि उत्तम आशय—भाव या अभिप्राय के कारण उनकी भावना—चित्त—स्थिति शुद्ध होती है।

यहाँ कहने का आशय यह है कि जब तक देह है, कर्म का सर्वथा निरोध नहीं हो सकता, किन्तु मन या भावना का परिष्कार हो सकता है, जिसके लिये साधक सतत् प्रयत्न, सचेष्ट रहे, वहाँ विकार न आने पाये।

इस प्रकार आ० हरिभद्रसूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ के केवल १०१ श्लोकमय छोटे से कलेवर में योग के सन्दर्भ में बोधात्मक, तुलनात्मक दृष्टि से इतना कुछ कह दिया है, जो साधना की यात्रा हेतु समुद्यत योगी के लिए एक दिव्य पाथेय सिद्ध हो सकता है।

योगविशिका—

आचार्य हरिभद्रसूरि की प्राकृत में योग पर दूसरी कृति योगविशिका है।

भारतीय वाङ्मय में बीस-बीस, तीस-तीस आदि पद्यों की पुस्तकात्मक रचनाओं का एक विशेष क्रम रहा है। बौद्ध जगत् के सुप्रसिद्ध लेखक वसु-बन्धु ने विशिका—त्रिशिका के रूप में पुस्तक-रचना की, जिनमें उन्होंने विज्ञानवाद का विवेचन किया।

किसी विषय को समग्रतया बहुत ही संक्षेप में व्याख्यान करने की दृष्टि से विशिकाओं की पद्धति को उपयोगी माना गया। आ० हरिभद्र ने इसी प्राचीन शैली के अनुरूप बीस विशिकाओं की रचना की। वे सब प्राकृत भाषा में हैं। उनमें १७वाँ विशिका योगविशिका है। इसमें आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है। रचनाकार ने केवल बीस गाथाओं में योग के सारभूत तत्त्वों को उपस्थित करने का प्रस्तुत पुस्तक में जो खिद्वत्तापूर्ण प्रयत्न किया है, वह गगन में सागर संजोने जैसा है। इस पर उपाध्याय यशो-

१. योगसूत्र १.२८।

पञ्चम खण्ड : जैन साहित्य और इतिहास

विजय ने टीका की रचना की, जो प्रस्तुत कृति में अति संक्षेप में प्रतिपादित विषयों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

योगविशिका की प्रथम गाथा में लेखक ने आत्मा का मोक्ष से योजन रूप योग का लक्षण बतलाकर उसके भेदों की ओर इंगित किया है।

दूसरी गाथा में उन्होंने योग के भेदों का विश्लेषण करते हुए कहा है—

ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ तन्तम्मि पंचहा एसो।

दुगमित्थकम्मजोगो तहा तियं नाणजोगो उ ॥२॥

तन्त्र में—योगप्रधान शास्त्र में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनावलम्बन—योग के पाँच भेद बताये हैं। इनमें पहले दो—स्थान और ऊर्ण को कर्मयोग तथा उनके पश्चाद्वर्ती तीन—अर्थ, आलम्बन तथा अनावलम्बन को ज्ञानयोग कहा गया है। स्थान—स्थान का अर्थ स्थित होना है। योग में आसन शब्द जिस अर्थ में प्रचलित है, यहाँ स्थान शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

वास्तव में आसन के लिए स्थान शब्द का प्रयोग विशेष संगत तथा युक्तिपूर्ण है। आसन का अर्थ बैठना है। सब आसन बैठकर नहीं किये जाते। कुछ आसन बैठकर, कुछ सोकर तथा कुछ खड़े होकर किए जाते हैं। देह की विभिन्न स्थितियों में अवस्थित होना स्थान शब्द से अधिक स्पष्ट होता है।

ऊर्ण—योगाभ्यास के सन्दर्भ में प्रत्येक क्रिया के साथ जो सूत्र—संक्षिप्त शब्द—समवाय का उच्चारण किया जाता है, उसे ऊर्ण कहा जाता है।

ऊर्ण को एक अपेक्षा से पातंजल योग-सम्मत जप-स्थानीय^१ माना जा सकता है।

अर्थ—शब्द—समवाय—गभित अर्थ के अवबोध का व्यवसाय—प्रयत्न यहाँ अर्थ शब्द से अभिहित हुआ है।

आलम्बन—ध्यान में बाह्य प्रतीक आदि का आधार आलम्बन है।

हेमचन्द्र के योगशास्त्र,^१ शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव^२ तथा भास्करनन्दी के ध्यानस्तव^३ आदि में वर्णित पिण्डस्थ, पदस्थ एवं रूपस्थ ध्यान से यह तुलनीय है।

अनालम्बन—ध्यान में रूपात्मक पदार्थों का सहारा न लेना अनावलम्बन कहा गया है। योगशास्त्र^४, ज्ञानार्णव^५ तथा ध्यानस्तव^६ में वर्णित रूपातीत ध्यान से इसकी तुलना की जा सकती है।

आ० हरिभद्र ने योग के इन पाँच भेदों में से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि के रूप में चार-चार भेद और किये हैं। यों योग के बीस भेद हो जाते हैं।

इनकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि योगाराधक सत्पुरुषों—योगियों की चर्चा में प्रीति, स्पृहा, उत्कण्ठा का होना इच्छायोग है।

नवाभ्यासी के मन में ऐसी स्पृहा का उदित होना उसके उज्ज्वल भविष्य का सूचन है।

प्रवृत्ति—

उपशम भावपूर्वक योग का यथार्थ रूप में पालन प्रवृत्ति-योग है।

स्थिरता—

आत्मबल द्वारा, बाधा-जनक स्थितियों की चिन्ता से अतीत होकर सुस्थिर रूप से योग का प्रतिपालन स्थिरतायोग है।

सिद्धि—

साधक जब उपर्युक्त पंचविध योग साध चुकता है, तब वह न केवल स्वयं ही आत्म-शान्ति का अनुभव करता है, वरन् जो भी उस योगी के सम्पर्क में आते हैं, सहज रूप में उससे उत्प्रेरित होते हैं। योगी की उस स्थिति को सिद्धियोग कहा जाता है।

आ० हरिभद्र के अनुसार जो पुरुष पूर्वोक्त रूप में योगाभिरत है, उसका अनुष्ठान सदनुष्ठान कहा जाता है।

सदनुष्ठान को उन्होंने चार प्रकार का बतलाया है—१. प्रीति-अनुष्ठान, २. भक्ति-अनुष्ठान, ३. आगमानुष्ठान तथा ४. असंगानुष्ठान।

योग के पूर्वोक्त बीस भेदों में से प्रत्येक के ये चार-चार भेद और होते हैं। इस प्रकार उसके अस्सी भेद हो जाते हैं।

योगाभ्यास के सन्दर्भ में आ० हरिभद्र द्वारा किये गये योग के ये भेद साधक को योगसाधना की सूक्ष्मता में जाने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इनका सूक्ष्मता से संस्पर्श कर साधक अपने में आत्म-स्फूर्ति का अनुभव करता है। फलतः वह योग के मार्ग पर उत्तरोत्तर, अधिकाधिक प्रगति करता जाता है।

योगविशिका में गाथा १० से १४ तक आ० हरिभद्र ने योग के परिप्रेक्ष्य में चैत्य-वन्दन के सम्बन्ध में चर्चा की है, जिसका योग से कोई सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

वे चैत्यवन्दन सूत्र की सार्थकता अर्थयोग और आलम्बन योग को साध लेने से ही मानते हैं। अर्थ-योग सम्यक् अर्थ के अवबोध की दिशा में विन्तन-परक उपक्रम है और आलम्बन योग प्रतीक-विशेष के सहारे ध्यान-प्रक्रिया।

अर्थ और आलम्बन योग जहाँ सिद्ध हो जाते हैं, वहाँ चैत्यवन्दन साक्षात् मोक्ष-हेतु से जुड़ जाता है।

जहाँ स्थान एवं ऊर्ण योग ही सिद्ध होते हैं, अर्थ एवं आलम्बन नहीं, वहाँ चैत्य-वन्दन मोक्ष का साक्षात् हेतु तो नहीं बनता, परम्परा से वह मोक्ष हेतु होता है। आगे उन्होंने लिखा है—

१. योगशास्त्र, प्रकाश ७-६।

३. ध्यानस्तव २४-३१।

५. ज्ञानार्णव सर्ग ४०।

२. ज्ञानार्णव सर्ग ३७-३६।

४. योगशास्त्र १०.५।

६. ध्यानस्तव ३२-३६।

जो व्यक्ति अर्थयोग एवं आलम्बन योग से रहित है, जिसने स्थान-योग और ऊर्ण-योग भी नहीं साधा है, उसका चैत्यवन्दनमूलक अनुष्ठान केवल कायिक चेष्टा है अथवा महामृषावाद है—निरी मिथ्या प्रवचना है, इसलिए अधिकारी-सुयोग्य व्यक्तियों को ही चैत्यवन्दन सूत्र का शिक्षण देना चाहिये।^१ जो देशविरतियुक्त हैं—आंशिक रूप में व्रतयुक्त हैं, वे ही इसके सच्चे अधिकारी हैं। क्योंकि चैत्यवन्दन सूत्र में “कायं वोसरामि” देह का व्युत्सर्ग करता हूँ, इन शब्दों से कायोत्सर्ग की जो प्रतिज्ञा प्रकट होती है, वह सुव्रती के विरतिभाव या व्रत के कारण ही घटित होती है—इस सत्य को भलीभाँति समझ लेना चाहिये।^२

साथ ही साथ इस सन्दर्भ में इतना और ज्ञातव्य है कि देशविरत से उच्च सर्वविरत साधक तत्त्वतः इसके अधिकारी हैं तथा देशविरत से निम्न स्थान-वर्ती अपुनबन्धक या सम्यक्दृष्टि व्यवहारतः इसके अधिकारी माने गये हैं।

आ० हरिभद्र को योग जैसे विषय के अन्तर्गत चैत्यवन्दन जैसे विषय को इतन विशद रूप से व्याख्यात करना, प्रस्तुत विषय से सम्पृक्त करना, क्यों आवश्यक प्रतीत हुआ, इसका एक कारण है। वह युग चैत्यवासियों का युग था, जिनमें आचार-शून्यता व्याप्त हो रही थी, जो केवल साधुत्व का वेष धारण किये हुए थे, साधुत्व के नियमों का बिलकुल पालन नहीं करते थे, चैत्यों में निवास करते थे और उनका धर्म लगभग चैत्यवन्दन तक ही सीमित हो गया था। साधु समाज की इस अधःपतित दशा से आ० हरिभद्र बड़े चिन्तित थे। उन्होंने उनको जगाने के लिए संबोध-प्रकरण नामक ग्रन्थ की रचना की। वहाँ उनके आचार आदि के बारे में लिखा है—

वे साधु भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे, सुन्दर, धूपवासित वस्त्र धारण करते हैं। जिस श्रमण संघ

में ऐसा होता है, उसके साधुओं में साधुत्व का मूल गुण ही नहीं रहता।

वे स्त्रियों के समक्ष गाते हैं, अंटसंट बोलते हैं, मानो वे अनियन्त्रित बेल हों। वे अशुद्ध आहार लेते हैं। जल, फल, पुष्प आदि सचित्त पदार्थ, स्निग्ध व मधुर पदार्थ तथा लौंग, ताम्बूल आदि का सेवन करते हैं। नित्य दो-तीन बार भोजन करते हैं।

वे चैत्य, मठ आदि में निवास करते हैं। पूजा में आरम्भ समारंभ—हिंसा आदि सावध कार्य करते हैं, देव-द्रव्यों का भोग करते हैं। जिन-गृह और शाला आदि का निर्माण करते हैं।

वे ज्योतिष बसलाते हैं, भविष्य कथन करते हैं, चिकित्सा करते हैं। मंत्र-टौना-टोटका करते हैं— जो कार्य पापजनक हैं, नरक के हेतु हैं।^३

संबोध-प्रकरण के इस वर्णन से साधु-संस्था की हीयमान चारित्रिक स्थिति का पता चलता है। वे, जैसा पहले संकेत किया गया है, चैत्यों में आसक्त थे। चैत्यवन्दन के नाम पर अपने आपको धार्मिक सिद्ध करने के सिवाय उनके पास चारित्र्य नाम की कोई वस्तु बच नहीं पायी थी। उनको सन्मार्ग पर लाने के लिए हरिभद्र ने चैत्यवन्दन के साथ योग को जोड़ा है। जहाँ योग नहीं, वहाँ चैत्यवन्दन की प्रक्रिया नितान्त स्थूल है, बाह्य है। उससे धर्म की आराधना कभी सद्य नहीं सकती।

आ० हरिभद्र केवल एक महान् ग्रन्थकार ही नहीं थे, वे एक क्रान्तिकारी धर्मनायक भी थे।

अस्तु—निष्चय ही योग के क्षेत्र में आ० हरिभद्र की वह महान् देन है, जो सदा स्मरणीय रहेगी। प्रस्तुत निबन्ध में योगशतक और योगविशिका—उनकी दो प्राकृत कृतियों के आधार पर जो कहा गया है, वह तो एक संकेत मात्र है। आशा है, प्रस्तुत विषय विद्वज्जन को गहन अनुशीलन और अनुसंधान की दिशा में प्रेरित करेगा।

१. योगविशिका १७।

२. संबोध प्रकरण ४६, ४६, ५७, ६१, ६३।

२. योगविशिका १८।

चिन्तन सूत्र

पुण्य और पाप

कालि कलूटे कोयले ने अश्रु बहाते हुए हीरे से कहा— हम दोनों एक ही खदान से पैदा हुए हैं पर दोनों के रंग और रूप में कितना अन्तर है। तुम्हारी ज्योतिर्मय किरणें जन जन के मन को मुग्ध करती हैं। सभी तुम्हारे को स्नेह और सदभावना से अपनाते हैं। विविध आभूषणों में तुम्हें सजाते हैं और मखमल बिछी हुई तिजोरी में तुम्हें सुरक्षित रखते हैं पर मेरा कोई भी स्पर्श करना पसन्द नहीं करता। यदि भूल से स्पर्श हो भी जाए तो साबुन से वस्त्र और हाथ साफ करते हैं। प्रज्वलित आग में डालकर सदा-सदा के लिए मेरा अन्त कर देते हैं। बताओ भैया ! मेरा ऐसा कौन-सा गुनाह हुआ जिसके कारण लोग मेरे से घृणा करते हैं।

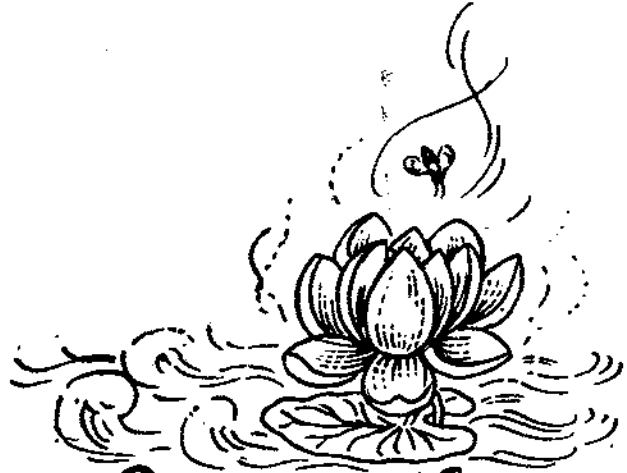
हीरे ने मुस्कराते हुए कहा—भैया ! इसका मूल कारण है मैंने उज्ज्वल परमाणु ग्रहण किये थे और तुमने काले परमाणु किये जिससे मेरा सन्मान है और तुम्हारा अपमान है।

हीरे और कोयले के संवाद को सुनकर मैं चिन्तन के सागर में डुबकी लगाने लगी। विश्व के सभी प्राणियों की यही स्थिति है। पाप अशुभ परमाणु है और पुण्य शुभ परमाणु है। अशुभ परमाणुओं को ग्रहण करने वाला आत्मा सदा अनादर को प्राप्त होता है और शुभ परमाणुओं को ग्रहण करने वाला आत्मा सर्वत्र आदर प्राप्त करता है।

—महासती श्री कुसुमवतीजी

□□

(४३६)



विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में
जैन परम्परा की

परिलब्धियाँ

॥ ६ ॥

परम्परा-ब्रह्म मध्य कड़ी है, जिससे अतीत इतिहास का एक छोर बंधा है, तो वर्तमान और भविष्य का दूसरा छोर भी बंधा रहता है। परम्परा की परिभाषा ही है—जो चलती आई है, चलती रहेगी।

जैन परम्परा अपने आप में अत्यन्त गौरव मंडित रही है।

समाज, राष्ट्र के नवजागरण संदेश के साथ मानवता का कल्याणोन्मुखी प्रवाह-निरंतर-निरंतर बहता रहता है, अनेक स्रोतों में।

प्रस्तुत खण्ड में विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन परम्परा की परिलब्धियों पर एक सार्थक परिचर्चा है, पर्यवेक्षण है और प्रतिपत्ति है, विद्वान विचारकों की अपनी-अपनी दृष्टि से.....

भारतीय स्वातन्त्र्यान्दोलन की अहिंसात्मकता में महावीर के जीवन-दर्शन की भूमिका

—प्रह्लाद नारायण वाजपेयी
(साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यालय, उदयपुर)

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम ब्रिटिश साम्राज्य की निरंकुश एवं नृशंस सत्ता के विरुद्ध देश के कोटि-कोटि जन की अन्तरात्मा का संघर्ष था। असत् के विरुद्ध जैसे सत् का संघर्ष था। यह भौतिकता के चरमोत्कर्ष का सामना करने के लिए आध्यात्मिक शक्ति का शंखनाद था। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध गूँजने वाला जनता जनार्दन का शाश्वत निनाद था। सच तो यह है कि अन्धकार के विरुद्ध यह प्रकाश का संघर्ष था, आलोक का जागरण था। हिंसा और आतंक के विरुद्ध अहिंसा का संघर्ष था। यही कारण है कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम ने मानवता के परम्परागत इतिहास में आत्मशुद्धि के माध्यम से अहिंसा के शस्त्र द्वारा किसी युद्ध को जीत कर एक नये अध्याय की रचना की है जिससे विश्व-शान्ति की रचना का स्वप्न साकार किया जा सकता है।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में शस्त्र की भांति प्रयोग की गई अहिंसा तीर्थंकर महावीर के जीवन दर्शन से प्रभावित है जो मानव मंगल के किसी भी अभियान के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। तीर्थंकर महावीर ने आत्मा की विकास यात्रा में आत्म-दमन के चरम बिन्दु पर अहिंसा के जिस आलोक का निर्माण किया। उसी को आदर्श मानकर स्वतन्त्रता संग्राम में अहिंसात्मक आन्दोलन को तेजस्विता ने सामाजिक मर्यादाओं में सार्वजनिक चैतन्य के माध्यम से बहुजनहिताय एवं बहुजनमुखाय की जिजीविषा का निर्माण कर लक्ष्य सिद्ध कर दिखाया। अहिंसा व्यक्ति के लिए परम धर्म है किन्तु समष्टि के लिए अहिंसा का समाजीकरण स्वतन्त्रता आन्दोलन में हिंसा की सम्भावना मात्र से आन्दोलनों को स्थगित किये जाने की परम्परा के निर्वाह द्वारा सम्पन्न किया गया है।

मर्यादाहीन एवं उच्छृंखल जीवन में समरसता एवं शान्ति लाने के लिए अहिंसा ही वह आधार-शिला है जिस पर परमानन्द का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। अहिंसा के परिपार्श्व में तीर्थंकर महावीर ने बताया कि प्राणी मात्र जीना चाहता है, कोई मरना नहीं चाहता। सुख सभी के लिए अनुकूल हैं एवं दुःख सभी के लिए प्रतिकूल है।¹

स्वतन्त्रता आन्दोलन में इसी के आधार पर यह स्वर प्रखर होकर नारा बना था—हम मारेंगे नहीं किन्तु हम मानेंगे भी नहीं। साथ ही यह धारणा भी विकसित हुई थी—पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। संघर्ष के लिए यह दृष्टिकोण अपनाया गया—हमें ब्रिटिश साम्राज्य की सत्ता के विरुद्ध संघर्ष

१ आचा० १/२/३।

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा को परिलब्धियाँ

४३७

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

करना है। ब्रिटिश जनता के, ब्रिटिश लोगों के विरुद्ध संघर्ष का या घृणा का भाव मन में पनपने देना नहीं चाहिए।

तीर्थकर महावीर ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था—आत्मा एक है (एगे आथा) अर्थात् सबकी आत्मा एक रूप है, एक समान है। खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे। तीर्थकर महावीर ने अहिंसा को तप और संयम की श्रेणी में रखा है। अहिंसा को मंगलकारी मानते हुए तीर्थकर महावीर ने बताया कि अहिंसा को देवता भी नमस्कार करते हैं।¹

स्वतन्त्रता आन्दोलन में जहाँ यह मर्म वाक्य मन्त्र के समान घोषित हुआ, गूँजा—स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। वहीं समता के सिद्धान्त को सबसे अधिक प्रतिष्ठा दी गयी। समता मूलक अहिंसावादी समाज की स्थापना के लिए राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने वर्धा में एक ऐसे आश्रम को रूपायित किया था जहाँ क्रम क्रम से प्रत्येक आश्रमवासी स्वेच्छा से हर काम अपने हाथ से करने का अभ्यासी था। झाड़ू देना, सूत कातना, कुएँ से पानी भरकर लाना, चर्खा चलाना, रसोई में काम करना एवं मैला उठाना आदि सभी काम स्वयं करने का अभ्यास हर आश्रमवासी करता था। अर्थात् तीर्थकर महावीर के समतावादी सिद्धान्त को मूर्त रूप देने के लिए आत्मवत् सर्वभूतेषु के चैतन्य को चरितार्थ करने का प्रयास किया गया था ताकि मानव जीवन में समता का सिद्धान्त आत्मसात् कर आचरण में उतारा जा सके।

अहिंसा पर अगाध विश्वास जहाँ समता का वातावरण बनाता है वहीं अहिंसा पर अनास्था, जातिगत अहं को सृष्टि करती है और हीन भावना का विस्तार करने में प्रमुख कारण बनती है। अनास्था के कारण ही जाति के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण उदात्त नहीं बन पाता। इसीलिये ऊँच-नीच, छुआछूत आदि के बन्धन प्रभावशाली हो जाते हैं।

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्वो हवइ कम्मुणा ॥²

महात्मा गांधी अहिंसात्मक आन्दोलन के सूत्रधार थे। उन्होंने तीर्थकर महावीर के समतावादी सिद्धान्त का मर्म समझा था। इस सिद्धान्त को हृदयगम करके ही उन्होंने वर्धा में ऐसे आश्रम की स्थापना की थी जहाँ कर्म के माध्यम से अन्ततः सभी जन सभी आश्रमवासी एकाकार हो जाते थे। स्वतन्त्रता आन्दोलन में महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता निवारण को सबसे अधिक महत्व देते हुए जीवन-मरण का प्रश्न बना दिया था। वह तो यहाँ तक कहते थे कि अस्पृश्यता निवारण और स्वतन्त्रता दोनों में से किसी एक का चयन करने के लिये मुझसे कहा जाय तो मैं अस्पृश्यता निवारण की प्राथमिकता दूँगा। उनकी स्पष्ट घोषणा थी अस्पृश्यता यदि कायम रहे तो इसके कायम रहते मुझे स्वतन्त्रता भी स्वीकार नहीं है। यही कारण था महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो आन्दोलन चला उसमें एकता का भाव था। आन्दोलनकारियों में न कोई ऊँच था न नीच। न कोई अछूत था न कोई छूत। सारे भेद-भाव भुलाकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये संघर्ष करने वाले एकजुट होकर प्राण पण से संघर्ष करते रहे थे।

अहिंसा नित्य, शाश्वत व ध्रुव सत्य है। जो हिंसा करता है, करवाता है अथवा कर्ता का अनु-

मोदन करता है। वह अपने साथ अर्थात् अपनी आत्मा के साथ वैर भाव की वृद्धि करता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक शरीर में एक आत्मा है और आत्मा हर शरीर की समान है। अतः हिंसा करने का अर्थ आत्मा के साथ वैर भाव की वृद्धि करना तो है ही। तीर्थंकर महावीर ने ज्ञान और विज्ञान का सार बताते हुए कहा कि किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाय।

एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसइ किचणं ।

अहिंसा समयं चैव, एनावंत वियाणिया ॥^१

महात्मा गांधी ने अहिंसामूलक धर्म को स्वीकार करते हुए ऐसे समाज की संरचना करने का संकल्प लिया था जहाँ हिंसा न हो। उन्होंने उस मदन लाल धींगरा को भी क्षमा दान दिया था जिसने उन्हें मार डालने के लिये उन पर बम फेंका था क्योंकि वह नहीं चाहते थे किसी भी प्राणी की हिंसा की जाय। यदि गोलियाँ लगने के बाद बोलने की क्षमता उनमें शेष रहती तो वह निश्चय ही हत्यारे नाथू राम गोडसे को भी क्षमा दान दे ही जाते क्योंकि वह तो एक अहिंसक समाज की रचना करने की साधना में रत थे।

व्यक्ति के लिये अहिंसा परम धर्म तो है ही परम तप भी है किन्तु जब एक सम्पूर्ण समाज को अहिंसा के आचरण में दीक्षित करना हो तो आत्मसंयम का तप निश्चय ही बहुत कठिन हो जाता है। तीर्थंकर महावीर इस सत्य से परिचित थे क्योंकि वह सर्वज्ञ थे। उन्होंने कहा भी है—दुर्दम आत्मा का दमन करने वाला व्यक्ति ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है। आत्मदमन आत्मपीड़न का पर्याय है। आत्मा के अनुकूल वेदनीयता सुख है और प्रतिकूल वेदनीयता दुःख है।

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो ।^२

अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य ।

तीर्थंकर पुरुष चूँकि सर्वभूतहित के आकांक्षी होते हैं, इसलिए वे प्रतिकूल वेदनीयता पर विजय पाने के निमित्त आत्मदमन या आत्मपीड़न करते हैं। सम्पूर्ण श्रमण संस्कृति पर दुःख के विनाश मूलक उदारता की उदात्त भावना से ओतप्रोत है।

स्वतन्त्रता संग्राम की अवधि में महात्मा गांधी ने इस आत्मदमन का परिचय कई बार दिया है। उन्होंने जब भी स्वतन्त्रता आन्दोलन को अहिंसा के मार्ग से विचलित होते देखा, आन्दोलन स्थगित कर दिया और उपवास के माध्यम से आत्म-शुद्धि के तप का निर्वाह किया। यह उपवास यदा-कदा आमरण अनशन की पराकाष्ठा तक जा पहुँचा है।

इसमें सन्देह नहीं तीर्थंकर महावीर ने अपने जीवन काल में आत्म पीड़न की चरम परिणति के माध्यम से अहिंसा के सिद्धान्त को उन बुलन्दियों तक पहुँचा दिया था जिसका अनुकरण कर मानव महानता के आलोक का निर्माण कर सकता है। किन्तु यह भी सत्य है कि महात्मा गांधी ने आत्म-शुद्धि के यज्ञ को अपनी बलिदान भावना से अप्रतिम प्रतिष्ठा प्रदान की। स्वतन्त्रता आन्दोलन अपनी इसी तेजस्विता के वरदानस्वरूप अपने लक्ष्य तक पहुँच पाया।

अपनी धारणा को ही पूर्ण सत्य मानना एक हठधर्मी है जिसे उदात्त व्यक्ति स्वीकार नहीं कर

१. सूत्रकृतांग श्रु १, अ. १, गा. ६

२. उत्तर. १/१५

सकता। महात्मा सुकरात ने इसीलिए कहा था जो हम सत्य समझते हैं, वह वास्तव में सत्य का एक अंश है। हमें दूसरों की भी धारणा सुननी और माननी चाहिये क्योंकि सबकी धारणाओं के मिला देने से ही एक पूर्ण सत्य का उदय होता है।

तीर्थंकर महावीर ने कहा था—यदि तुम अपने को सही मानते हो तो ठीक है परन्तु दूसरे को गलत मत समझो क्योंकि एक अंश की जानकारी तुम्हें है तो दूसरे अंश की जानकारी अन्य को हो सकती है। इसी आधार पर उन्होंने स्यादवाद के सिद्धान्त को स्थापित किया था।

- (१) कथञ्चिद् है। (२) कथञ्चिद् नहीं है।
 (३) कथञ्चिद् है और नहीं है। (४) कथञ्चिद् अवक्तव्य है।
 (५) कथञ्चिद् है किन्तु कहा नहीं जा सकता।
 (६) कथञ्चिद् नहीं है तथापि अवक्तव्य है।
 (७) कथञ्चिद् है, नहीं है पर अवक्तव्य है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने अपने महान सिद्धान्त सापेक्षवाद को इसी भूमिका पर प्रतिष्ठित किया था। यह उदार दृष्टिकोण विश्व के दर्शनों, धर्मों, सम्प्रदायों एवं पंथों का समन्वय करता है।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के काल में संघर्ष के क्षणों में भी वार्ता के द्वार हमेशा खुले रखे गये क्योंकि हर समय दूसरों के विचारों का आदर करने का क्रम निभाया गया। दूसरों की धारणाओं को भी प्रतिष्ठा दी गई। यही कारण है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन में सभी विचारधाराओं के लोगों ने एकजुट होकर भाग लिया और त्याग व बलिदान की परम्परा को विकसित कर विजयश्री को वरण किया।

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की अहिंसात्मकता ने विश्व में एक आदर्श तो प्रतिष्ठित किया ही है कि अहिंसा के द्वारा एक साम्राज्यवादी शक्ति को पराजित किया जा सकता है। इसे अनुकरणीय आदर्श मानकर विश्व में अन्यत्र भी इसका उपयोग किया गया। दक्षिण अफ्रीका में तो आज भी इस तरह का प्रयोग चल रहा है। इस अहिंसात्मकता के आदर्श की पृष्ठभूमि में तीर्थंकर महावीर के जीवन दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।



अथि सत्यं परेण परं,
 नथि असत्यं परेण परं।

—शस्त्र, अर्थात् हिंसा के साधन एक से बढ़कर एक हैं, अनेक प्रकार के हैं, जिनकी मारक क्षमता एक दूसरे से बढ़कर है। लेकिन अशस्त्र, अहिंसा सबसे बढ़कर है, इसकी शक्ति अपरिमित है, इसकी साधना से सभी का कल्याण होता है, सभी निर्भय बनते हैं।

७

पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में जैन नैतिक अवधारणा

—प्रोफेसर एल० के० ओड

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में जीव सृष्टि के बारे में जैन अवधारणा को एक लघु सूत्र में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

“परस्परोपग्रहः जीवानाम्”

अर्थात् प्रत्येक जीव एक दूसरे से जुड़ा हुआ है, एक दूसरे पर आश्रित है। सृष्टि का चक्र इसी अन्योन्याश्रय की ऊर्जा से संचालित होता है। प्रत्येक जीव अन्य जीवों से जीवन शक्ति (ऊर्जा) ग्रहण करता है और अपने आश्रित जीवों को जीवन शक्ति देता है। इसका एक स्थूल उदाहरण है—हमारे द्वारा छोड़ा गया कार्बनडाई ऑक्साइड वनस्पति के जीवों को जीवन शक्ति देता है और वनस्पति द्वारा उत्सर्जित ऑक्सीजन हमारे लिए प्राणवायु बनाता है। ऐसे स्थूल रूप से दृष्ट-अदृष्ट तथा बुद्धि द्वारा ज्ञात-अज्ञात असंख्य उदाहरण मिल सकते हैं, जो उक्त अवधारणा को पुष्ट करते हैं। यह व्याख्या पूर्ण-तया वैज्ञानिक है, जिसमें परिकल्पना अथवा तर्क के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

जैन दर्शन में जीवन सम्बन्धी सम्प्रत्यय भी बहुत व्यापक है, जिसमें स्थावर श्रेणी के अन्तर्गत अनेक ऐसे तत्वों का भी समावेश कर लिया गया है, जिन्हें अन्य दर्शनों ने तथा विज्ञान ने भौतिक तत्व के अन्तर्गत रखा है। इसी कारण आचार्य को “जीवानाम्” के साथ “अजीवानाम्” जोड़कर अवधारणा को और अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। यदि उक्त सूत्र को ‘परस्परोपग्रहः जीवा-जीवानाम्’ कर दिया जाए, तब भी व्याख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं आता।

जैन दर्शन के अनुसार हमारी यह सृष्टि जीव तथा अजीव इन दो तत्वों से निर्मित है और इसका कोई अपवाद भी नहीं है। ऐसा कोई परमात्मा या ब्रह्म या सृष्टि निर्माता नहीं है, जो इन दो तत्वों में न समाविष्ट होता हो। अणुरीरी मुक्त आत्माएँ अर्थात् सिद्ध भी जीव को श्रेणी में ही आते हैं। हमारी इस सृष्टि में एक सन्तुलन है और ग्रह-तारा-नक्षत्र, जीव, अजीव सब एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि यह सन्तुलन सतत् बना रहता है। यह सृष्टि अनादि तथा अनन्त है और इसका रहस्य है “परस्परोपग्रहः”। जब कभी इनमें से कोई घटक सृष्टि के इस अन्योन्याश्रय में कोई विज्ञेय डालता है, तब सृष्टि में थोड़ा असन्तुलन आता है परन्तु अन्य जीवाजीवों की पूरक क्रिया-प्रतिक्रिया उसमें पुनः संतुलन कायम कर देती है। कभी-कभी संतुलन बिगाड़ने वाले तत्व इतने जबदस्त भी होते हैं कि पूरा का पूरा ग्रह या तारा अपना अस्तित्व खो देता है परन्तु इतना बड़ा परिवर्तन भी इस अपार सृष्टि को अनन्त ही बनाए रखता है। सन्तुलन बनाए रखना सृष्टि का अनन्त नियम है।

जीवों की चार श्रेणियों में देव तथा नारक तो कृतकर्मों का उपभोग मात्र करते हैं, स्वयं कर्म करते नहीं हैं, जो सहज कर्मों का बन्धन होता है उस पर उनका वश नहीं है। तिर्यच श्रेणी के जीवों के संज्ञा अथवा मन नहीं होता। उनका व्यवहार मूल प्रवृत्तियों (Instincts) से संचालित होता है। अतः

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन परम्परा की परिलब्धियाँ

४४१

वे भी सुचिन्त्य रूप से कर्म करने की शक्ति से रहित होते हैं। सृष्टि में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसे स्थूल ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त सूक्ष्म 'मन' जैसी इन्द्रिय भी प्राप्त हुई है। विकासवादियों के अनुसार यह इन्द्रिय सृष्टि के विकास क्रम से मनुष्य ने अर्जित की है। स्थिति जो भी हो, वर्तमान में यह मनुष्य जीव का अभिन्न अंग है। 'मन' की इस वृत्ति का विकास उच्च से उच्चतर होता गया और मानवीय संस्कृति निरन्तर समृद्ध होती गई। आज तो यह मानने में कोई संकोच नहीं करता कि शरीरजन्य सहज क्रियाओं (Reflex actions) के अलावा मानव का सभी दृष्ट-अदृष्ट व्यवहार संस्कार-प्रेरित होता है। मानवीय व्यवहार का समाजीकरण होता है।

भौतिक सृष्टि का सन्तुलन कुछ तो परमाणु पुद्गल के अनवरत घात-संघात के फलस्वरूप बना रहता है, परन्तु जब जीव और अजीव सृष्टि के बीच तथा विभिन्न श्रेणियों के जीवों बीच अन्तःक्रिया चलती है, तब सन्तुलन को कायम रखने के लिए सचेष्ट रहना पड़ता है। जहाँ तक स्थावर जीवों का प्रश्न है, वे पूरी तरह प्रकृति के सन्तुलन नियम से संचालित होते हैं और सृष्टि सन्तुलन में वे लगभग उसी प्रकार आचरण करते हैं, जिस प्रकार कि भौतिक पदार्थ। असंजी अर्थात् मनरहित तिर्यच प्राणी जब परस्पर अन्तःक्रिया करते हैं, तब थोड़ा सन्तुलन बिगड़ने का भय रहता है, परन्तु सामान्यतया असंजी प्राणि-जगत का व्यवहार भी प्राकृतिक नियमों से संचालित होता है। स्थावर जीवों तथा असंजी वस जीवों की अन्तःक्रिया का नैसर्गिक चक्र बना हुआ है। इस नैसर्गिक चक्र में परस्परोपग्रह की स्थिति देखी जा सकती है। इस चक्र में हिंसा-प्रतिहिंसा का चक्र भी चलता है, परन्तु यह हिंसा-प्रतिहिंसा भी आत्म-रक्षा, जीवन-संचालन, संतति-पालन, प्रजनन आदि मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होती है। कुल मिलाकर यह सब उपक्रम प्राकृतिक सन्तुलन को कायम रखने में मदद करते हैं। असंजी प्राणी स्मरण, तर्क, कल्पना, चिन्तन, निर्णय, संकल्प आदि मानसिक क्रियाओं से रहित होते हैं अतः उनके लिए परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित रहने वाली सामाजिक नैतिकता कायम नहीं की जा सकती। उनकी नैतिकता केवल मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित है। उदाहरण के लिए हिंसक पशु क्षुधा लगने पर या आत्मरक्षा के लिए ही दूसरे प्राणी पर आक्रमण करता है, अन्यथा नहीं। प्रजनन के लिए प्रकृति से प्रेरित होकर ही पशु काम-क्रीड़ा में संलग्न होता है, केवल काम तृष्णा की तृप्ति के लिए नहीं। इसी कारण असंजी प्राणी जगत के लिए ब्रह्मचर्य या परिवार नियोजन या अपरिग्रह जैसे नैतिक नियम बनाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वे मर्यादाएँ तो उनके जीवन में सहज ही विद्यमान रहती हैं।

मनुष्य संजी (मनयुक्त) प्राणी है, जिसने प्राकृतिक नियमों से अपने आपको ऊपर उठा लिया है। क्षुधा लगने पर ही वह भोजन-प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करता, अपितु वह खाद्यवस्तुएँ भविष्य के लिए संग्रहीत करके रख सकता है, और इसी कारण वह अपनी आवश्यकता की सीमा का अतिक्रमण करके भोजन करता है, जबकि कुछ अन्य प्राणियों को भूखा ही रह जाना पड़ता है। आवश्यकता से अधिक खाने वाला भी रोग-ग्रस्त होता है और भूख से कम खाने वाला भी अशक्त बनता है। दूसरी ओर भूमि पर दबाव बढ़ता जाता है और इस प्रकार सन्तुलन बिगड़ने लगता है।

मनुष्य का व्यवहार मन से संचालित होने के कारण बिना प्रजनन-प्रेरणा के भी वह निरन्तर कामेष्टि में लीन रहता है। कामविकारों को बढ़ाने वाले साधनों की वृद्धि करता है और इस प्रकार ऐन्द्रिक सुखों की लिप्साएँ बढ़ती जाती हैं, मनुष्य उन्हें तृप्त करने के लिए जूझता जाता है और तृष्णाएँ कभी समाप्त नहीं होतीं, जैसा कि कहा भी गया है—

न जानु कामः कामानामुपभोगेन श्याम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मव पुनरेवाभिवर्धते ।

अर्थात् कामनाओं की तुष्टि से कामनाएँ शान्त नहीं हो जातीं परन्तु और भी बढ़ती हैं, जैसे कि अग्नि में हवि (घृत आदि) डालने से अग्नि शान्त नहीं होती और भी बढ़ती है ।
मानव प्रकृति के सम्बन्ध में यही बात उत्तराध्ययन सूत्र में कही गई है—

कसिणं वि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इवकरस ।
तेणा वि न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥
जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्डई ।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं ॥

—अध्याय ८ गाथा १६-१७

अर्थात् मानव की तृष्णा बड़ी दुष्पूर है । धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि एक व्यक्ति को दे दिया जाए, तब भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता । ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता है । इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता ही जाता है । दो माशा सोने की अभिलाषा करने वाला करोड़ों से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता । किसी की अनन्त तृष्णाएँ दूसरे व्यक्ति की मूल आवश्यकताओं का भी हनन करती हैं । उत्पीडित व्यक्ति भी आत्मरक्षा के लिए संघर्ष करने के लिए कभी न कभी जाग ही उठता है और इस प्रकार द्वन्द्व की शुरुआत होती है, वर्ग-संघर्ष पनपता है, प्रकृति का शोषण क्रिया जाता है, निरीह प्राणि-जगत को हटाकर मनुष्यों के लिए अधिक सुविधाएँ जुटाई जाती हैं, जंगल काट कर खेती के लिए जमीन उपलब्ध की जाती है और फरनीचर, वाहन, ईंधन तथा अन्य इसी प्रकार के मनुष्यों के उपभोगार्थ लकड़ी उपलब्ध की जाती है । दूसरी ओर जंगल के स्थान पर बने खेत तथा उद्यान भी अतिशीघ्र आवासीय, वाणिज्यीय तथा औद्योगिक प्रयोजन हेतु अधिग्रहीत कर लिए जाते हैं । मनुष्य की अनन्त तृष्णा ने खनिज सम्पदा का दोहन करने के लिए पर्वतों को पोला कर दिया है, आर्द्र हवाओं को शुष्कता में परिणत करने के लिए पर्वतीय अर्गलाओं को खोल दिया है, जिससे कि मनुष्य अपने वाहनों के साथ प्रकृति को रौंद सके । मनुष्य की सौन्दर्य भावना नष्ट हो रही है । वह प्रकृति को अपने अनच्छुए व अक्षत रूप में देखना ही नहीं चाहता । उसकी आदत तो सूर्य के प्रकाश को बिजली के बल्बों में, स्वच्छन्द हवा को छत में लगे पंखों में, प्रकृति के अनहद नाद को टेप किए हुए रेकार्डों में तथा झरने के स्वच्छ जल को नल की टोंटी में से निकलती हुई क्षीण धारा में देखने का आदी हो गया है ।

मनुष्य को चिन्तन की शक्ति मिली है । इसी कारण वह प्राचीन अनुभवों को संचित रख सकता है, उनमें समय-समय पर परिवर्तन तथा संशोधन कर सकता है, अन्य अवसरों पर उनका लाभकारी उपयोग कर सकता है, नई कल्पनाएँ कर सकता है, प्राकल्प निर्माण, प्राकल्प परीक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण तथा सामान्यीकरण की मानसिक क्रियाओं द्वारा नई खोजें कर सकता है तथा प्रकृति को समृद्ध करने या विनष्ट करने के उपाय ईजाद कर सकता है । मन की शक्ति ने मनुष्य को अतुल शक्ति प्रदान कर दी है ।

जब जब मनुष्य अपनी बौद्धिक शक्ति का उपयोग, उपभोगों को बढ़ाने में लगाता है, तब तब भोगवादी संस्कृति पनपती है, प्रकृति का विध्वंस होता है, सृष्टि का सन्तुलन बिगड़ता है और इस

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलिखियाँ

४४३

सन्तुलन को पुनः कायम करने के लिए मानवीय संस्कृति में एक भूचाल आता है। इतिहास में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। दूसरी ओर जब मनुष्य प्रकृति, स्थावर जीव, संजी जीव, असंजी जीव, अजीव सबके साथ “परस्परोपग्रह” भावना से संस्कारयुक्त जीवन जीता है, तब प्रकृति फलती फूलती है, मनुष्य तथा अन्य सभी जीव सुखपूर्वक जीते हैं और सृष्टि सन्तुलित रूप से संचालित होती है। आज पुनः मानवीय संस्कृति का झुकाव भोगवाद की तरफ है।

मनुष्य यदि अपनी भोग वृत्ति को थोड़ा संयत कर दे, तो प्रकृति का चक्रस्वतः ही अपनी सहज गति में आ जायेगा। यदि वन रहेंगे तो स्वेच्छाचारी शाकाहारी पशु भी रहेंगे और उनकी संख्या को सीमित करने वाले हिंसक वन्य पशु भी रहेंगे और ये पशु रहेंगे तो परिस्थितिक (Ecological) सन्तुलन भी बना रहेगा परन्तु इनको कायम रखने के लिए मनुष्य को अपनी शिकार वृत्ति पर नियन्त्रण रखना होगा, छोटे प्राणियों को भी बचाना होगा, वनस्पति की भी रक्षा करनी होगी और इनके नव-प्रजनन तथा वृद्धि के लिए आवश्यक जलाशय, आर्द्रता, हरीतिमा, पहाड़ों की गुफाएँ इन सबको अक्षत रूप में जिन्दा रखना होगा। अनाज की रक्षा हेतु चूहों को मारने की झुंझलाहट में हम यह भूल जाते हैं कि चूहों के न रहने से कीड़े भी तो परेशान करेंगे और साँपों का तथा बिल्लियों का भोजन आपने छीन लिया, तो यह अन्य प्रकार के उत्पात मचायेंगे। यदि ये भी मर गये, तो जीवन चक्र की गति में और झटके आने लगेंगे। एक ओर मत्स्य उत्पादन तथा वृद्धि के लिए जलाशयों में मत्स्य बीज डाले जाते हैं, और दूसरी ओर मछली पकड़ने वाले ठेकेदारों ने ऐसी युक्तियाँ निकाल ली हैं कि अल्प समय में ही सभी मछलियाँ पकड़ ली जायें और जलाशय की प्राकृतिक स्वच्छता-प्रक्रिया को समाप्त कर दिया जाये। अब आगामी ऋतु में वर्षा हो तो पुनः मछलियाँ आयें और जल की स्वच्छता प्रक्रिया पुनः आरम्भ हो। तब तक जल के अन्य जन्तु भी मरें, पशु-पक्षी भी विवशतापूर्वक इस निर्जीव पानी से ज्यों-त्यों जीवन गुजारें।

मनुष्य की भोगवादी संस्कृति ने बड़ी-बड़ी फेक्ट्रियों को जन्म दिया, जो प्राकृतिक सम्पदा का इतनी तेज गति से दोहन करती हैं कि प्राकृतिक विधि से उनका पुनः संस्थापन नहीं हो पाता। यह बात केवल खनिज सम्पदा तक ही सीमित नहीं है अपितु भूमि से उत्पादित अन्न तथा भूमिगत जल के बारे में भी उतनी ही सही है। हमारी नगरीय संस्कृति में रहन-सहन के तरीकों में जिस प्रकार का परिवर्तन आया है, उससे हमारा जल-उपभोग पहले की तुलना में आज दस गुना बढ़ गया है। दूसरी ओर बड़ी फेक्ट्रियों में भी शुद्ध पेय जल प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होता है। स्थान-स्थान पर बांध बंध जाने से नदियाँ सूखी पड़ी हैं। अब लोगों की कुदृष्टि भूमिगत जल पर पड़ी है। उसे भी विद्युत शक्ति द्वारा इतनी तेजी से बाहर निकाला जा रहा है कि प्राकृतिक आपूरण शक्ति उसकी क्षतिपूर्ति नहीं कर पाती। वनों के कटने से तथा पारिस्थितिकी-समन्वय के विषम हो जाने से वर्षा ने भी अपना रुख बदल लिया है। कहीं अकाल वर्षा है, कहीं बाढ़ें आ रही हैं और कहीं सूखा पड़ रहा है। वर्षा की कमी अधिकांश भागों में अनुभव की जा रही है।

जल और भूमि का शोषण करने के बाद हमारी भोगवादी संस्कृति अन्तरिक्ष की ओर बढ़ी है। आये दिन भूमि से अन्तरिक्ष में छोड़े जाने वाले रॉकेट, उपग्रह तथा खोजी यानों के द्वारा अन्तरिक्ष में दूषित गैसों भर गई हैं और उनकी प्रतिक्रिया अन्य ग्रहों पर होना आरम्भ हो गई है। हमारे युद्धोन्माद तथा एक-दूसरे की भूमि-सम्पदा हड़प कर अन्य मनुष्यों को पराधीन बनाने की दूषित मनोवृत्ति ने अनेक आणविक, आग्नेय तथा रासायनिक अस्त्र-शस्त्रों को जन्म दिया है जो स्वचालित होने के साथ आका-

शीय मार्ग में यात्रा करते समय पर्याप्त प्रदूषण बिखेर देते हैं। बड़े-बड़े कारखानों से निकलने वाली गैसीय दूषित हवाओं ने तो पृथ्वी के निकटस्थ आकाश को ही दूषित किया है परन्तु इन आग्नेयास्त्रों तथा रासायनिक मारकों ने पृथ्वी से बहुत ऊपर व्यापक क्षेत्र में प्रदूषण फैलाया है, जिनका प्रभाव सदियों तक रह सकता है।

आज हमारी मानसिक शान्ति नष्ट हो गई है। सड़कों पर वाहनों की कर्कश आवाज, कारखानों में थका देने वाली यांत्रिक ध्वनि, उद्यानों, मंदिरों तथा खुले स्थानों पर ध्वनि प्रसारक यन्त्रों से निकलने वाले विविध प्रकार की गीतमय, अगीतमय, तथा कर्कश स्वर और घर पर आइये तो रेडियो, टेलीविजन अथवा टेपरिकार्डर आदि से प्रसारित होने वाले गाने। इन सब पागल कर देने वाली आवाजों में बच्चों की तुतलाती वाणी, पत्नी की मनुहार भरी शिकायत और भाई-बहनों या भाभी ननदों आदि के निश्छल हास-परिहास की आवाजें दब गई हैं। प्रार्थना, स्तवन तथा भजन तो अब टेप किये जा चुके हैं। उनमें भावों का तादात्म्य नहीं है, यांत्रिक एकरसता है। आज ध्यान, मीन, शान्ति सब शब्द अपना अर्थ खो चुके हैं। यह ध्वनि प्रदूषण हमारे स्नायु संस्थान पर दबाव डाल रहा है। अनेक प्रकार की मानसिक व्याधियों से हम ग्रस्त होते जा रहे हैं। आज हम बौद्धिक दृष्टि से चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुके हैं, भौतिक सम्पदा के हम धनी हैं, उपभोग वस्तुएँ हमारे घरों में अटी पड़ी हैं परन्तु फिर भी हम अपने आपको अकिंचन पाते हैं। हमारी आत्मिक शान्ति नष्ट हो गई है। भविष्यशास्त्रियों का अनुमान है कि यदि इसी गति से हम प्राकृतिक स्रोतों का दोहन करते रहे तथा वातावरण में प्रदूषण फैलता रहा, तो यह पृथ्वी इक्कीसवीं शताब्दी भी शायद ही सुखपूर्वक पूरी कर सके। पर्यावरण को और अधिक न बिगड़ने देने तथा जो कुछ अब तक बिगड़ चुका है, उसकी क्षतिपूर्ति के लिए अब विश्व समाज सोचने लगा है। भारत सरकार भी इस ओर सचेष्ट हुई है तथा केन्द्र सरकार में पर्यावरण संरक्षण का एक पृथक मंत्रालयी विभाग बना है। यह चेतना तो ठीक है परन्तु जब तक पर्यावरण संरक्षण प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सहज आचरण नहीं बन जाता तब तक इस दिशा में प्रगति संभव नहीं है। गृहस्थों के लिए निर्धारित जैनाचार संहिता पर्यावरण संरक्षण में बहुत बड़ा योगदान कर सकती है। जैनाचार संहिता इतनी व्यापक है, तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक है कि उसका सर्वव्यापी प्रचार तथा अंगीकार करना अशान्त मानवता के लिए बरदान साबित हो सकता है। आइये, उनमें से कुछ पर विचार करें।

जैन आचार संहिता का मूलाधार 'अहिंसा' है। सभी नांतक आचरण अहिंसा से उद्भूत होते हैं और अहिंसा के मूल्य के अनुपूरक हैं। जैन अहिंसा मनुष्य जगत् तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसका प्रसार सभी चराचर जीवों तक व्याप्त है। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु भी जीवों की परिधि में आते हैं। वनस्पति को तो जीवन माना ही जाता है। गृहस्थ मनुष्य के सन्दर्भ में अहिंसा के आचरण का अभिप्राय यही है कि मनुष्य अपने जीवनयापन की प्रक्रिया में जब अन्य जीवों के साथ अन्तर्क्रिया करता है, तो वह ऐसी होनी चाहिए कि अकारण किसी जीव को कष्ट न हो। जीवों की आवश्यक हिंसा उतनी ही की जाए, जितनी कि जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य हो। प्राकृतिक जीवों से जितना लिया जाए उतना प्रतिदान के रूप में उन्हें लौटाया भी जाए तथा जीवनचर्या को ऐसी बनाया जाए कि यदि अपने जीव-निर्वाह के लिए हम अन्य जीवों पर आश्रित हैं, तो कुछ जीव हम पर भी निर्भर हैं। हम स्वयं भी जिँएँ तथा दूसरों को भी जोने दें क्योंकि—

सन्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं ।

तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥

—दसवेआलिय ६/११

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४४५

अर्थात् सब जीव जीने की इच्छा करते हैं, कोई मरना नहीं चाहता । इसीलिये घोर प्राणिवध का निर्ग्रन्थ परिहार करते हैं ।

जल संरक्षण

शुद्ध पेय जल की कमी सारे विश्व में अनुभव की जा रही है । जल को बचाना आज हमारे लिए परम आवश्यक हो गया है । जब हमें जल प्रचुरता के साथ मिलता है, तब हम उसका अपव्यय करते हैं और तभी त्यागवृत्ति विवशतापूर्वक धारण करते हैं, जब जल सीमित रूप में उपलब्ध होने लगता है । हमें यह अभिवृत्ति बनानी होगी कि जल सीमित है और यदि हम आवश्यकता से अधिक उसका उपभोग करते हैं, तो कुछ अन्य प्राणियों को उससे वंचित रखते हैं । उपयोग किए हुए दूषित जल के पुनः शुद्धीकरण का प्रयास भी साथ-साथ चलना चाहिये । नहाने, कपड़े धोने तथा बर्तन धोने से अवशिष्ट पानी का उपयोग वृक्षों को जीवन दान देने के लिए होना चाहिए ।

ऊर्जा संरक्षण

वृक्षों के नष्ट होने तथा वन उजड़ने का एक मुख्य कारण लकड़ी का ईंधन के रूप में प्रयुक्त होना है । ऊर्जा चाहे लकड़ी से प्राप्त हो, या कोयले से या गैस से या विद्युत से, उसकी कमी सदा रहती है और रहने वाली है । हमारी भोगवादी संस्कृति द्वारा विद्युत ऊर्जा का अपव्यय बहुत होता है । ऊर्जा को बचाना भी हिंसा को रोकना है । ऊर्जा के कुछ प्राकृतिक साधन ऐसे भी हैं, जिनसे वातावरण दूषित नहीं होता और परम्परागत ऊर्जा की बचत भी होती है । सूर्य ऊर्जा का अनन्त स्रोत है । भोजन बनाने में तथा अन्य कामों में सूर्य ऊर्जा का प्रयोग किया जाए तो हिंसा भी कम होती है, स्वास्थ्य-रक्षा भी होती है और ऊर्जा की बचत भी होती है ।

वनस्पति संरक्षण

वनस्पति में जीवों का अस्तित्व सभी स्वीकार करते हैं । भारतीय संस्कृति में वृक्षों की देवता के समान पूजा की जाती है । उसके पीछे दृष्टि यही है कि यदि वृक्ष हमें जीवन, वायु, फल, फूल, पत्ते और छाया प्रदान करके हम पर उपकार करते हैं, तो हमें प्रतिदान में अन्य उपयोग से बचे हुए पानी तथा निरर्थक वस्तुओं का खाद देकर उनका प्रतिदान करना चाहिये तथा उन्हें नष्ट नहीं करना चाहिये । हम आवश्यकतानुसार वृक्षों से ग्रहण करें, उनको बढ़ने के लिए प्रतिदान करें तथा उन्हें न स्वयं नष्ट करें, न दूसरों को नष्ट करने दें ।

वायु संरक्षण

वायु प्रदूषण के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार कारखाने हैं । इस प्रदूषण से न केवल हमारा वायुमंडल दूषित हो रहा है बल्कि अनेक गगनचारी, जलचर तथा स्थलीय जीवों का प्राण-घात हो रहा है । प्रत्येक कारखाने के लिए यह कानूनी अनिवार्यता होनी चाहिए कि वह दूषित गैसों के लिए उपचार यन्त्र का प्रावधान करे ताकि वायु प्रदूषण से होने वाली हिंसा को रोका जा सके ।

भू संरक्षण

कृषि कर्म कभी जेनों का व्यावसायिक कर्म माना जाता था । आज अधिक उत्पादन तथा अनाज संरक्षण के पागलपन ने कीटनाशक दवाइयाँ पृथ्वी की ऊपजाऊ शक्ति को एक साथ ऊपर लाकर कालान्तर में समाप्त कर देने वाले रासायनिक खाद, पृथ्वी की अत्यधिक गहरी जुताई आदि ऐसे दूषित

उपक्रम आरम्भ किए हैं, जिनसे भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाने का खतरा है। कीटनाशक दवाएँ उपकारी कीटों को भी नष्ट कर रही हैं और उत्पादित खाद्य वस्तुएँ मनुष्यों के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर डाल रही हैं। कृषि कर्म में जीवाजीव संगम तथा जीवों की अन्योन्याश्रितता को कायम रखना आवश्यक है।

आज खनिजों का दोहन अत्यन्त तीव्र गति से हो रहा है, उनका पुनर्स्थापन नहीं हो पा रहा है। इस गति को संतुलित करना आवश्यक है अन्यथा मनुष्य दरिद्र हो जाएगा।

यस जीवों का संरक्षण

सृष्टि में प्रत्येक जीव सृष्टि संचालन में अपनी महती भूमिका निभाता है। कीट-पतंगे, चूहे, साँप, छिपकली, सिंह, व्याघ्र, शाकाहारी, मांसाहारी, गगन-चारी, जल-विहारी तथा भूतलगामी सब जीव सृष्टि को संतुलित बनाये हुए हैं। यह दलील बिल्कुल बेतुकी है कि कुछ जीवों की उत्पत्ति इतनी तेजी से होती है कि यदि वे सब जीवित रहने दिए जाएँ तो मनुष्य का जीना मुश्किल हो जायेगा। प्रकृति का कुछ विधान ही ऐसा है कि उनकी उत्पत्ति और ह्रास की परिस्थितियाँ जीव लोक में ही विद्यमान रहती हैं। असंजी जीव जगत में होने वाली हिंसा प्रकृति-प्रदत्त है, मनुष्य उससे असम्पृक्त है। असंजी प्राणि जगत की कोई संस्कृति नहीं होती, उनका कोई समाज नहीं होता और इसी कारण उनकी कोई नैतिकता नहीं होती। मनुष्य का समाज होता है, उसकी संस्कृति होती है और उसमें मनुष्यों के अलावा अन्य आश्रित जीव भी होते हैं अतः उसकी नैतिकता होती है। मानवीय नैतिकता का आधार है अनावश्यक हिंसा का त्याग। हमारे संविधान की धारा ५१ का संशोधन करके मूल अधिकारों के साथ मूल कर्तव्यों को जोड़ा गया है, जिन्हें धारा ५१ ए का भाग माना गया है। मूल कर्तव्यों में दो कर्तव्य विचारणीय हैं—

१. सभी जीवधारियों के प्रति दयाभाव रखना, तथा

२. नैसर्गिक पर्यावरण में समरसता कायम रखना।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में यदि देखा जाए तो जैनों की आचार संहिता अब प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। जैन न्याय संहिता में तो हिंसा से कर्मबन्धन होता है, जिसका दुःखद उपभोग अनिवार्यतः करना पड़ता है परन्तु भारतीय संविधान की न्यायिक व्यवस्था में इन कर्तव्यों का उल्लेख करने पर व्यक्ति के लिए दण्ड की व्यवस्था है।

पुरस्कार तथा दण्ड भी समाज व्यवस्था को कायम रखने में सहायक होते हैं परन्तु उनका प्रभाव अल्पकालिक होता है। आज हमें स्वयं इस बात का अहसास होना चाहिए कि मानवीय सृष्टि को वचाने के लिए सभी जीवों को जीने देने का उसी प्रकार अधिकार देना होगा, जिस प्रकार हम स्वयं अपने लिए इस अधिकार को चाहते हैं। हमारे अन्दर किसी को प्राण देने की शक्ति नहीं है तो प्राण हरण करने का अधिकार हम कैसे ले सकते हैं? आवश्यक सूत्र के इस जीवन मूल्य “मिक्ती मे सब्ब भूणसु, वेरं मज्झ ण केणइ” (अर्थात् मेरी सभी जीवों के साथ मैत्री है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है) को हमारी संस्कृति का मूल मन्त्र बनाना होगा। तभी सृष्टि का सन्तुलन कायम रखने में मनुष्य की सही भूमिका मानी जाएगी।



विवाद-परिवाद के समाधान हेतु अनेकान्तवाद

—प्रो० डॉ० संजीव प्रचंडिया 'सोमेन्द्र'

३६४ सर्वोदय नगर, अलीगढ़

नासमझी में न जाने कितनी लड़ाइयाँ लड़ी गयीं । अनेक विवाद और परिवाद हुए । मन-मुटाव हुए और वे खण्ड-खण्ड हो गये । आज चारों तरफ जो हिंसा का तांडव नृत्य हो रहा है चाहे वह पंजाब क्षेत्र हो या आसाम या श्रीलंका या इराक-ईरान हो । कोई भी भूमण्डल हो सकता है इसका आबजेक्ट । पर सबसे महत्वपूर्ण बात है, वह यह, कि यह सब घटनाएँ/दुर्घटनाएँ हो क्यों रही है ? क्या दुर्घटनाएँ/घटनाएँ विकासशील होने का प्रतीक हैं या हमारी मानसिक स्थिति इतनी संकुचित हो गयी है कि हम सोच-विचार की स्थिति से पलायन कर गये हैं ? या हम निरे मूढ़ बन गये हैं । बुद्धि की प्रयोगशाला में क्या जंग लग गयी है या विचार मंथन का व्याकरण हमसे छूट-सा गया है । आखिर इस खण्ड-खण्ड होने का, लड़ाई और हिंसा का कोई तो आधार होगा ही । है, आधार है । लेकिन वह बिल्कुल ही अस्थायी और अस्पष्ट । उसका स्थायीपन तब तक ही है जब तक कि हम, हमारा बौद्धिक पहलू निष्क्रिय है । वैचारिक क्रान्ति होते ही हममें सोच की पहल प्रारम्भ हो जायेगी । फिर जो हम करेंगे उसमें सकारात्मक रूप होगा तब फिर निम्न पंक्तियाँ अपने आप ही उभरने लगती हैं—

“बिना विचारै जो करे, सो पाछे पछिताय ।

काम विचारै आपनो, जग में हात हँसाय ॥”

इसलिए सोच का सकारात्मक रूप ही अनेकान्त का पर्याय माना जा सकता है । और अनेकान्त-वाद ही एक ऐसा टॉनिक है जो विवाद-परिवाद के समाधान हेतु आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है । आँख खोलकर जब हम किसी वस्तु की जानकारी लेते हैं तो वह जानकारी अपेक्षाकृत सही के ज्यादा निकट होगी और आँख बन्दकर जब हम जानकारी लेते हैं तो हो सकता है कि वह मिथ्या जानकारी हो । हाथी का दृष्टान्त इस अर्थ की समीचीनता को सपाट उद्घाटित करता है । यहाँ 'ही' की दृढ़ता नहीं रहती । यहाँ तो केवल 'भी' की उपयोगिता उजागर होती है । तब समस्या चाहे घर की हो या समाज की या देश की, उसके लिए समाधान का पैमाना कोई छोटा-बड़ा नहीं होता । हाँ, समाधान हेतु 'विकल्प' एक से अनेक हो सकते हैं ।

हम जब एकपक्षीय होकर निष्कर्ष ले लेते हैं तो उसमें झगड़े की सम्भावना बनी रहती है और यदि हम किसी समस्या को अनेक पहलू से सोचते हैं, खोजते हैं तो हम झंझट की सीमा समेट देते हैं । तब फिर झगड़े-टंटे का द्वार खुलने की बात ही नहीं उभरती । उदाहरण के लिए भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी को ही लीजिए—वे देश की इन तमाम समस्याओं को हल करने के लिए जो समझौता करते हैं वह समझौता ही तो उभय मार्ग है और यही पथ तो अनेकान्त का पथ है । इसीलिए अनेकान्त एक से

(शेष पृष्ठ ४५८ पर)

जैन विचारधारा में शिक्षा (शिक्षक-शिक्षार्थी स्वरूप एवं सम्बन्ध)

— चांदमल कर्णावट,
उदयपुर

व्यक्ति और समाज के निर्माण एवं विकास में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। शिक्षा राष्ट्र का दर्पण है, जिसमें वहाँ की संस्कृति की झलक देखी जा सकती है और शिक्षित व्यक्तियों के आचार-विचार से किसी राष्ट्र के स्वरूप का मूल्यांकन किया जा सकता है।

विज्ञान की चहुँमुखी प्रगति के साथ शिक्षा-जगत में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। इस शैक्षिक प्रगति के फलस्वरूप मानव ने भौतिक विकास की ऊँचाइयों को हस्तगत किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इन ऊँचाइयों को हस्तगत करके भी वह आज अशान्त है, द्वन्द्व और संघर्ष से ग्रस्त है। इसका एक बड़ा कारण है शिक्षा में भौतिकता के साथ अध्यात्म और धर्म का सामंजस्य नहीं रहा। अध्यात्म और धर्म शिक्षा में क्या मूलभूत परिवर्तन ला सकता है, इस दृष्टि से विचार करने हेतु इस निबन्ध में जैन विचारधारा में शिक्षक और शिक्षार्थी के स्वरूप तथा उनके संबंधों पर विवेचन किया गया है। जैन विचारधारा में चर्चित एतद्विषयक योगदान के आधार पर शिक्षा में आवश्यक परिवर्तन करके उसके मंगलकारी स्वरूप को पुनः स्थापित किया जा सकता है।

शिक्षक और शिक्षार्थी—शिक्षा के पावन पुनीत कार्य में शिक्षक और शिक्षार्थी दो प्रमुख ध्रुव हैं। समुचित शिक्षा व्यवस्था की दृष्टि से इन दोनों के स्वरूप एवं इनके पारस्परिक संबंधों को समझना परम आवश्यक है। शिक्षार्थी के लिए शिक्षक आदर्श होता है और शिक्षक भी अपने शिक्षार्थी को समझकर उसकी योग्यता रुचि, विकास और पात्रता को पहचानकर ही उसे शिक्षा प्रदान करने का मफल उपक्रम कर सकता है। शिक्षक कैसा हो और शिक्षार्थी कैसा हो? यह जानने के लिए जैन विचारधारा में प्रदर्शित शिक्षक और शिक्षार्थी के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

शिक्षक का स्वरूप—जैन विचारधारा में शिक्षक के लिए 'गुरु', 'आचार्य' एवं 'उपाध्याय' के नाम उपलब्ध होते हैं। उपाध्याय के लिए आचार्य श्रीलोक ने 'अध्यापक' शब्द का भी प्रयोग किया है।

जैन विचारधारा में मुक्ति या मोक्ष मार्ग के साधन रूप तीन तत्त्वों को प्रमुख माना गया है। वे हैं—देव, गुरु और धर्म। सम्यग्दर्शन या दर्शनसम्यक्त्व के पाठ में इन तीनों का उल्लेख हुआ है—

अरिहन्तो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो,
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ।¹

१. आवश्यक सूत्र—दर्शन सम्यक्त्व का पाठ

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४६६

मुक्तिमार्ग के तीन तत्त्वों में देव और धर्म के साथ गुरु को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गुरु ही देव और धर्म का बोध कराते हैं। जिससे सुदेव और जिनप्ररूपित धर्म की आराधना करके साधक मुक्ति मार्ग पर सफलता से अग्रसर होता है।

जैनधर्म के नमस्कार मंत्र में सिद्ध भगवान से पहले 'णमो अरिहन्ताण' पद में अरिहन्तों को वन्दन किया गया है क्योंकि मुक्ति प्राप्त सिद्धों की अनुपस्थिति में संसार को कल्याण का मार्ग बताने वाले अरिहन्त ही हैं। वे ही विश्व के गुरु हैं। सूत्र दशवैकालिक में गुरु की महिमा और गरिमा को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि संभव है अग्नि न जलाए अथवा कुपित जहरीला साँप न खाए। संभव है समुद्रमन्थन से प्राप्त घातक विष न मारे, किन्तु आध्यात्मिक गुरु की अवशा से परम शान्ति संभव ही नहीं है।¹

जैन विचारधारा में आचार्य और उपाध्याय दोनों को गुरु/शिक्षक माना गया है। वे साधु-साध्वियों को शास्त्रों की वाचना या शिक्षा देते हैं। वे स्वयं शास्त्र का अध्ययन करते और अन्यो को भी अध्ययन कराते हैं। यद्यपि शिक्षण का कार्य मुख्यतया उपाध्याय के द्वारा ही संपन्न होता है, तथापि आचार्य भी अपने पास अध्ययन करने वाले साधु-साध्वी वर्ग को अध्ययन करते हुए शिक्षण का कार्य करते हैं।

उपाध्याय—ये शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता एवं पारंगत होते हैं। ज्ञान और क्रिया से युक्त इनका संयम या चारित्र शिष्य वर्ग को गहन प्रेरणा प्रदान करता है। ये २५ गुणों के धारक होते हैं। ११ अंग १२ उपांग सूत्रों के ज्ञाता होने के साथ चरणसत्तरी एवं करणसत्तरी रूप चारित्रिक गुणों के धारक होते हैं।² ये स्वमत एवं परमत अर्थात् अन्य दर्शनों धर्मों के भी ज्ञाता होते हैं। अपने शिष्यों को उनकी योग्यता एवं पात्रता के अनुरूप शिक्षण देते हुए वे हेतु, दृष्टांत, तर्क एवं उदाहरणों से तत्त्वों की व्याख्या करते हैं जो शिक्षण को सरस, रुचिप्रद, बोधगम्य एवं हृदयग्राही बनाता है। उपाध्याय में ८ प्रभावक गुण होते हैं जो उनके जीवन की महनीयता को प्रकट करते हैं³—

१. प्रवचनी—जैन व जैनेतर आगमों के मर्मज्ञ विद्वान।
२. धर्मकथी—धर्मकथा (धर्मोपदेश) करने में कुशल।
३. वादी—स्वपक्ष के मण्डन और परपक्ष के खंडन में सिद्धहस्त।
४. नैमित्तिक—भूत, भविष्य और वर्तमान में होने वाले हानि-लाभ के ज्ञाता।
५. तपस्वी—विविध प्रकार के तप करने में निपुण।
६. विद्यावान—रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि १४ विद्याओं में निष्णात।
७. सिद्ध—अंजन आदि विविध प्रकार की सिद्धियों के ज्ञाता।
८. कवि—गद्य, पद्य, कथ्य, गेय चार प्रकार के काव्यों की रचना करने वाले।

जितना उनका ज्ञान पक्ष प्रबल है, उतना ही उनका चारित्र या क्रियापक्ष भी सुदृढ़ होता है। संघ में जो सम्मान आचार्य को दिया जाता है, वही सम्मान उपाध्याय को भी प्राप्त होता है। उपाध्याय

१. दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ६ गाथा ७
२. आवश्यक सूत्र
३. संकलित—जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

भावश्रमण को, अर्थात् जो साधु धर्म का भावपूर्वक शुद्ध पालन करते हैं, ही वाचना देते हैं या अध्ययन कराते हैं, केवल वेशधारी साधु को नहीं। यदि वे ऐसा नहीं करते तो प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।^१ इसका अभिप्राय है कि अध्यापक शिष्य की पात्रता को देखकर परखकर ही उसे अध्ययन करावें। तभी अध्ययन-अध्यापन फलीभूत होता है। शिक्षण-प्रक्रिया में उपाध्याय अपनी विद्वत्ता एवं बुद्धि का सम्यक् प्रयोग करते हुए आचरण का आदर्श शिष्यों के समक्ष रखते हैं। इससे शिष्यवर्ग में गुरु के प्रति श्रद्धा-भाव दृढ़ बनता है।

व्यवहार सूत्र^२ में दीक्षा पर्याय अर्थात् कौन श्रमण कितने वर्षों से साधु जीवन का पालन कर रहा है, इसे लक्ष्य करके विविध शास्त्रों को वाचना लेने या शिक्षा प्राप्त करने हेतु साधुओं को अधिकृत किया गया है। जैसे तीन वर्ष का साधु जीवन जो श्रमण-श्रमणी पूर्ण कर चुका, उसे आचारकल्प, आचारांग, निशीथादि सूत्रों का अध्ययन कराया जा सकता है, आदि।

इस प्रकार श्रमण शिष्यों की पात्रता के अनुसार उन्हें वाचना या शिक्षण प्रदान करते हुए उपाध्याय स्वयं जैसी वाचना देते हैं वैसा ही वे स्वयं आचार का भी परिपालन करते हैं।

आचार्य—ये साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका (त्रतधारी सद्गृहस्थवर्ग) रूप संघ के नायक होते हैं। इस चतुर्विध संघ में धर्म का उद्योत हो और संघ के सदस्य धर्माराधना में अग्रसर हों, इस हेतु आचार्य उन्हें नेतृत्व प्रदान करते हैं। संघ में आचार्य भी अपने शिष्यों तथा अन्य श्रमणों को अध्ययन कराते हैं। वे शास्त्रों के पाठी होते हैं और शास्त्रों के मर्मज्ञ होते हैं। शास्त्र में आचार्य के ३६ गुणों का उल्लेख उपलब्ध होता है।^३ वे आजीवन अहिंसा, सत्य, अचीर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का पूर्णरूपेण मन, वचन, कर्म से पालन करते हैं। ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों का पालन करते, पाँच इन्द्रिय जीतते, क्रोधादि चार कषाय जीतते, ९ बाइसहित ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पाँच समिति तीन गुप्ति का शुद्ध पालन करते हैं। वे स्वयं आचार का पालन करने से आचार्य कहलाते और अन्यो को भी आचार पालने की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

सूत्र दशाश्रुतस्कन्ध^४ में आचार्य की आठ सम्पदाओं का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, आचार-सम्पदा आदि। आचार सम्पदा के अनुसार आचारनिष्ठा आचार्य का प्रमुख गुण है। वे आचार में दृढ़ और ध्रुव होते हैं। आचार सम्पन्न होने पर भी उन्हें किञ्चित् भी अभिमान नहीं होता। वे सदा संयम में जागृत रहते और अन्यो को भी जागृत रखते हैं। श्रुतसम्पदा में उनके ज्ञान की समृद्धि दर्शाते हुए शास्त्रकार ने बताया है कि वे आचार्य परिचितश्रुत अर्थात् आगमों के सूत्र—अर्थ के मर्मज्ञ, बहुश्रुत अर्थात् बहुत आगमों के ज्ञाता, विचित्रश्रुत अर्थात् स्वमत तथा अन्यमत के गहन अध्येता तथा घोषविशुद्धिकारकता में शब्द प्रयोग में अलंकृतत्व, सत्यत्व, प्रियत्व, हितत्व तथा प्रासंगिकता आदि में कुशल होते हैं।

'शरीर सम्पदा' में आचार्य के शरीर के बलवान, कान्तिमान, सुरुपवान एवं पूर्णन्द्रिय, सन्तुलित आकार-प्रकार आदि का वर्णन किया गया है। आचार्य को केवल आचारवान, श्रुतवान एवं मतिमान ही नहीं बताया गया है, अपितु उनके शरीर के उत्तम रूप, आकार, बल को भी उनकी विशेषताओं में स्थान दिया गया है।

१. निशीथसूत्र उद्दे. १६ सूत्र २७

२. आवश्यक सूत्र — अरिहंतादि पंचपद भाववन्दन

३. व्यवहार सूत्र उद्देशक १० सूत्र २१ से ३७

४. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र अध्ययन ४ सूत्र ३ से १०

आचार्य की वाचना सम्पदा या अध्यापन/शिक्षण सम्बन्धी विशेषताओं का वर्णन एवं उसकी व्याख्या करना यहाँ अत्यन्त प्रासंगिक है।

प्रत्येक सम्पदा की तरह 'वाचना सम्पदा' के भी चार भेद किए गए हैं। वे हैं—(अ) विदित्वो-द्विशति (ब) विदित्वा वाचयति (स) परिनिर्वाप्य वाचयति (द) अर्थ निर्यापकता। प्रथम विदित्वोद्विशति में या शिक्षण की विशेषता में सर्वप्रथम आचार्य शिष्य का किस आगम में प्रवेश हो सकता है, ऐसा जानकर उनका अध्यापन करते या वाचना देते हैं। प्रारम्भ से ही आचार्य का लक्ष्य शिक्षार्थी होता है न कि शिक्षण सामग्री या पाठ्य वस्तु। वे शिष्य को जानकर और पहचानकर ही शिक्षण-क्रिया का प्रारम्भ करते हैं। विदित्वा वाचयति में शिष्य की धारणाशक्ति की और उसकी योग्यता को जानकर प्रमाण, नय, हेतु, दृष्टान्त एवं युक्ति आदि से सूत्र अर्थ और दोनों की शिक्षा देते हैं। इसका अभिप्राय है कि शिक्षार्थी ही शिक्षण का केन्द्र रहता है। आचार्य पाठ्य ग्रन्थों से भी अधिक शिष्य को जानने का प्रयास करते हैं। यही शिक्षण का मर्म भी है। परिनिर्वाप्यवाचयति में सर्व प्रकार से पूर्व पठित विषय को शिष्य ने भलीभाँति ग्रहण कर लिया है, यह जानकर ही वे शिष्य को आगे शिक्षण करते या वाचना देते हैं। 'अर्थ निर्यापकता' में सूत्र में निरूपित तत्त्वों का निर्णय रूप परमार्थ का अध्यापन वे पूर्वपर सगति द्वारा, उत्सर्ग, अपवाद, स्याद्वाद आदि से स्वयं जानकर शिष्यों को सिखाते हैं। अर्थात् आचार्य का निजी अध्ययन, अध्यापन क्रिया के साथ गतिमान रहता है। आचार्य का शिक्षण भी रुचिकर और सुबोध बनता है क्योंकि वे हेतु, दृष्टान्त, युक्ति, उदाहरण आदि का प्रयोग करते हुए विषय का स्पष्टीकरण करते हैं।

आचार्य चूँकि संघ के अनुशास्ता होते हैं, अतः वे प्रयोग और संग्रहपरिज्ञा सम्प्रदाओं में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का परिज्ञान एवं निर्णय करके अपने शिष्यों के लिए सर्वतोभावेन व्यवस्था देखते हैं। यह उनका अनुशासन का/शिक्षा-प्रबन्ध का एक रूप होता है। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति सान्निध्य में रहने वाले शिष्यों के लिए आदर्श होती है। उन व्यवहारों को देखकर शिष्य उनका अनुकरण करते और जीवन में अग्रसर होते हैं।

शिक्षार्थी या शिष्य का स्वरूप—जैन दर्शन के अनुसार कोई भी व्यक्ति केवल शरीरमय नहीं होता। उसमें एक परमशक्तिशाली ज्ञानवान आत्मतत्त्व भी होता है। इसी प्रकार शिष्य भी केवल शरीरधारी व्यक्ति ही नहीं, एक अतन्त शक्ति एवं ज्ञान सम्पन्न आत्मा भी होता है। जैन सिद्धान्त 'अप्पा सो परम्पपा' के अनुसार 'आत्मा ही परमात्मा है।' प्रत्येक आत्मा में परमात्मस्वरूप पाने की क्षमताएँ निहित होती हैं, भले ही वे कर्मों के आवरण से प्रकट नहीं हो पा रही हों। शिष्य भी इन शक्तियों का पुंज है और शिक्षा इन शक्तियों और क्षमताओं को विकसित करती और प्रकट करती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, उपयोग और वीर्य सभी आत्माओं के समान गुण हैं। इन गुणों से युक्त सभी आत्माएँ एक हैं। यह प्राणीमात्र की एकता का सुदृढ़ आधार है। शिष्य की पहचान भी उनके ज्ञान एवं विकास के आधार पर ही की जा सकती है, जाति, वर्ण, भाषा आदि के आधार पर नहीं।

सभी जीवों में चेतना और आत्मा समान रूप से विद्यमान है, तथापि उसका विकास सभी जीवों में समान नहीं होता। जैन दर्शन में विकास के आधार पर जीवों के ५ भेद किए गए हैं—एकेन्द्रियादि।^१ इस प्रकार जीवों में आत्मतत्त्व की समानता होते हुए भी विकासीय भिन्नता विद्यमान है। यह

विकास उनके सम्यक् पुरुषार्थ पर निर्भर होता है। शिष्य में भी यह सिद्धान्त चरितार्थ होता है। शिष्य वर्ग का विकास भी समान नहीं होता परन्तु पुरुषार्थ द्वारा शिष्य अपना उत्कृष्ट विकास करने में समर्थ होते हैं। शिष्य वर्ग की भिन्नता को दृष्टिगत कर पाठ्य सामग्री और शिक्षा के स्वरूप में भी तदनुसार भिन्नता होनी चाहिये।

शास्त्र उत्तराध्ययन में उल्लेख है कि गुरुकुल में गुरु के सान्निध्य में रहते हुए शिष्य उपधान अर्थात् शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विशिष्ट तप में निरत रहता है, वही शिष्य शिक्षा प्राप्ति के योग्य होता है।¹ तपाराधना से शरीर के मानसिक प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षार्थी शिक्षा में एकाग्र बन सकेगा। यह सम्यक्तप सम्यक्पुरुषार्थ का ही एक रूप है।

जैनदर्शनानुसार प्रत्येक आत्मा को ही कर्ता और भोक्ता माना गया है। स्वयं आत्मा ही अपना नियामक और नियंता है। वह अपने ही अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगता है।² शिष्यों को शिक्षण का समान वातावरण, शिक्षक आदि प्राप्त होने पर भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व तो शिष्यों में ही निहित होता है। शिक्षक के मार्गदर्शन में वे स्वयं ही अपने कर्म से परम और चरम विकास करते हैं। शिक्षक वर्ग को इस दार्शनिक तथ्य एवं सत्य को समझकर शिष्य वर्ग का समुचित सम्मान करते हुए उनकी स्वायत्तता का आदर करना चाहिए, जिससे शिष्य वर्ग में स्वतन्त्र चिन्तन एवं निर्णय की सामर्थ्य का विकास हो सके।

शिक्षार्थी की पात्रता के सम्बन्ध में सूत्र निशीथ में उल्लेख प्राप्त होता है³ कि वे शिष्य वाचना या शिक्षा देने योग्य नहीं हैं जो रूक्षस्वभावी, चंचल चित्त, अकारण एक गण से गणान्तर में जाने वाले, दुर्बल चरित्र अर्थात् मूल (महाव्रत) उत्तरगुणों के विराधक, अधीर और आचार्य के प्रतिभाषी हैं। शिष्य को शिक्षण की पात्रता प्राप्त करने हेतु उक्त दोषों का परित्याग करके मधुर स्वभावी, एकाग्रचित्त, एक स्थान पर टिककर अध्ययनरत रहने वाला, धैर्यवान, हठ चरित्र एवं गुरु का सम्मान करने वाला बनना आवश्यक है। शिष्य के इन गुणों में आन्तरिक और बाह्य व्यवहारपरक गुण देखे जा सकते हैं। इसी सूत्र में⁴ उल्लेख है कि जो भिक्षु (आचार्य या उपाध्याय) अपात्र शिक्षार्थी को वाचन या शिक्षा देता है या अन्य को वाचना का अनुमोदन करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

सूत्र उत्तराध्ययन⁵ में उल्लेख है कि जो शिक्षार्थी या शिष्य अभिमानी, क्रोधी, प्रमादी (आलस्यादि) रोगी और आलसी होता है, वह शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। इसके आधार पर विद्यार्थी को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों दृष्टियों से योग्य होना आवश्यक है। शिक्षार्थी की पात्रता में जैन विचारधारा केवल आध्यात्मिक गुणों की ही अपेक्षा नहीं करती अपितु शारीरिक नीरोगता, स्फूर्ति आदि गुण भी अपेक्षित मानती है। इसके अतिरिक्त शिक्षार्थी में निम्न गुण भी अपेक्षित हैं—वह अहसन-शील, जितेन्द्रिय, मर्म प्रकट न करने वाला और शीलवान होना चाहिये। साथ ही वह रसनेन्द्रिय का लोलुपी न हो और क्रोध पर निग्रह करके सत्य में हठ प्रीतिवान हो।

आहार में सादगी और संयम भी शिक्षार्थी के आवश्यक गुण हैं। सूत्र उत्तराध्ययन, अध्ययन ११ गाथा ४-५ में ब्रह्मचर्य समाधि के ६ स्थानों में भोजन संयम के अन्तर्गत प्रणीत या सरस भोजन का

१. उत्तराध्ययन ११/१४

२. उत्तराध्ययन सूत्र २०/३७

३. निशीथ सूत्र उद्देशक १६ सूत्र २०० (भाष्य)

४. उत्तराध्ययन सूत्र १६/१६

५. वही ११/३

तथा अतिआहार का निषेध किया गया है। यह निर्देश प्रत्येक मुनि की तरह शिक्षार्थी मुनि के लिए भी पालनीय है। ऐसा करके शिक्षार्थी मुनि सादा जीवन जीते हुए अधिक मनोयोग पूर्वक अध्ययन करने में समर्थ हो सकेगा।

शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध

(अ) सान्निध्य या निकटता—जैन आचार्य या उपाध्याय के पास अध्ययन करने वाला साधु-वर्ग उनके सान्निध्य में ही निवास करता है।¹ शास्त्रों में इसीलिए शिष्य के लिए 'अन्तेवासी' या निकट में रहने वाला शब्द प्रयुक्त हुआ है। गुरु के सान्निध्य में रहकर उनके प्रत्यक्ष व्यवहारों को देखते हुए शिष्य अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करता है। सान्निध्य में रहने से गुरु शिष्य को और शिष्य गुरु को भलीभाँति जानते और समझ लेते हैं। इससे शिक्षण क्रिया में शिष्य और गुरु दोनों को पर्याप्त सहयोग प्राप्त होता है।

(ब) सेवा, सहयोग और स्नेहपूर्णता—सूत्र उत्तराध्ययन में साधु-समाचारी के १० भेदों^२ में अभ्युत्थान समाचारी में बताया गया है कि शिष्य (मुनि) अपने आचार्य उपाध्याय रूपी शिक्षक के आने पर खड़ा होकर उनका सम्मान करता है और उनकी सेवा शुश्रूषा के लिए सदैव तत्पर रहता है। छन्दन समाचारी के अनुसार शौक्ष साधु गुरुजनों का संकेत पाकर बाल, ग्लान और शौक्ष (अध्ययनरत श्रमण) श्रमणों को आहारादि के लिए आमन्त्रण करता है। यह बाल (छोटे साधु) और रोगी तथा शिक्षार्थी साधुओं के प्रति गुरु के स्नेहभाव का द्योतक है। अभ्युत्थान में गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धा एवं सेवा भावना व्यक्त हुई है। यह सभी कार्य उपकार या प्रतिकार की भावना से न करते हुए आत्मशुद्धि की भावना से किया जाता है। कितनी निरीहता है गुरु-शिष्य के इन सम्बन्धों में जो उल्लेखनीय और अनुकरणीय है। अध्यापक भी वाचना या शिक्षा का कार्य केवल आत्मशुद्धि या कर्म-निर्जरा के हेतु ही करते हैं।

(स) विनयपूर्णता—जैन विचारधारा में 'विनय' को शिक्षार्थी का मूलगुण माना गया है। 'विणओ धम्मस्स मूलो' अर्थात् विनय धर्म का मूल है। विद्यार्थी निस्वार्थभाव से गुरुजन का विनय करके वैतयिकी बुद्धि प्राप्त करता है।^३ इस प्रकार की बुद्धि से विनयवान शिष्य कठिनतम प्रसंगों को भी सुलझा लेता है और नीतिधर्म के सार को ग्रहण करता है। इस प्रकार विनयपूर्वक ग्रहण किया हुआ ज्ञान अभीष्ट फल प्रदाता बनता है। भगवान महावीर ने अन्तिम समय में उपदेश देते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्याय में विनय की ही विवेचना की है। दशवैकालिक सूत्र में भी विनय समाधि का वर्णन उपलब्ध होता है। विनयवान शिष्य आत्मसमाधि या आत्मशांति को प्राप्त करता है।

(द) समानता—जैन दर्शन में माना गया है कि सभी जीवों में एक ही चैतना या आत्मतत्त्व विद्यमान है। सूत्र दशवैकालिक में बताया गया कि साधक को प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझकर सभी जीवों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना चाहिए। रागद्वेष भाव आत्मा के पतन का कारण बनते हैं। यह जानकर और मानकर आचार्य और उपाध्याय शिक्षक अपने शिक्षार्थी के साथ समान व्यवहार करते हैं। वे दोनों समताभाव से अर्थात् शिष्य को आत्मवत् समझते हुए शिष्यों को वाचना या शिक्षा देते हैं। उनके दोषों पर कभी क्रोध नहीं करते। शिष्य मुनियों के विकास को दृष्टिगत करके वे उन्हें समान भाव से वाचना देते हैं।

१. उत्तराध्ययन ११।३

२. वही, अध्ययन २६ गाथा ५ से ७

३. नदीसूत्र गाथा ७३

आधुनिक शिक्षा को योगदान—उपर्युक्त तथ्यों एवं उनके विश्लेषण के आधार पर जैन विचार-धारा में शिक्षा आधुनिक शिक्षा जगत को निम्नांकित योगदान कर सकती है—

(i) जैनविचारधारा में शिक्षक को ज्ञानवान होने के साथ-साथ उतना ही आचारनिष्ठ भी बताया गया है। ज्ञान और आचार दोनों को समान महत्त्व दिया गया है। आज शिक्षित लोगों के गिरे हुए आचरण से समाज दुखी है। चारित्रिक मूल्यों को शिक्षानीति में रेखांकित किया जाना चाहिए। क्रिया या चारित्र के अभाव में ज्ञान अभीष्ट फलदायी नहीं हो सकता।

आज शिक्षक का चयन मुख्य रूप से उसकी अकादमिक योग्यता के आधार पर ही किया जाता है। उसके आचरण या चरित्र की प्रायः उपेक्षा ही की जाती है। आचरण से गिरे हुए शिक्षक किस प्रकार चरित्रवान छात्रों का निर्माण कर सकते हैं। इसलिए शिक्षक के चयन के मापदण्डों में उसके आचरण को भी प्रमुख मानदण्ड (Criteria) निर्धारित किया जाना चाहिए। इस परिवर्तन से चरित्रवान शिक्षक प्राप्त हो सकेंगे। व्यक्तित्व, अभिरुचि एवं अभिवृत्ति परीक्षणों से यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार शैक्षिक वातावरण और अबोधवा में एक मूलभूत परिवर्तन लाना आवश्यक है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि शिक्षण में शिक्षार्थी ही केन्द्र बिन्दु रहना चाहिए।

(ii) शिक्षार्थी की पात्रता पर भी गम्भीर विचार करना आवश्यक है। अनिवार्य शिक्षा, जो सभी के लिए है, उसे छोड़कर उच्च शिक्षा में प्रवेश छात्रों की रुचि, अभिवृत्ति आदि के परोक्षण के आधार पर किया जाना वांछनीय है। जैन विचारधारा में शिक्षार्थी 'मुनि' की पात्रता पर कितना विचार किया गया है। अपात्र छात्र को अध्ययन कराने वाला आचार्य स्वयं प्रायश्चित्त का भागी होता है। अतः वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में छात्र की पात्रता के मानदण्ड निर्धारित होने चाहिए। उसमें भी आचरण पर विशेष बल होना चाहिए। इसका निर्धारण परीक्षणों द्वारा किया जा सकता है। इससे एक ओर रुचिशील, योग्य एवं सकारात्मक अभिवृत्ति वाले विद्यार्थी प्राप्त होंगे, वहाँ दूसरी ओर उच्च शिक्षा के लिए भारी भीड़ पर भी नियन्त्रण किया जा सकेगा। साथ ही इससे राष्ट्र छात्र समस्याओं से भी मुक्ति पा सकेगा।

(iii) शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्धों में निकटता आवश्यक है। जैन विचारधारानुसार शिक्षार्थी शिक्षक के सान्निध्य में रहकर अध्ययन करता है। वह 'अन्तेवासी' होता है। शिक्षार्थी शिक्षक के सान्निध्य में रहकर उसके जीवन व्यवहारों से जितना सीखता है, उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं। आज की दूरस्थ शिक्षा (Distance Education) में छात्र-शिक्षक के सम्बन्ध लुप्तप्राय हो रहे हैं। इन सम्बन्धों में निकटता की रक्षा हर प्रकार से की जानी चाहिए। इसे अधिकाधिक छात्रावासों की स्थापना से हल किया जा सकता है।

(iv) शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्धों में समानता, सेवा, स्नेह एवं सहयोग जैसे गुणों को भी विकसित किया जाना चाहिए। भारतीय परिवेश में ये गुण सांस्कृतिक विरासत में मिलने चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। जैन शिक्षानुसार शिक्षक और शिष्य शिक्षण को आत्मशुद्धि का कार्य मानते हैं, व्यवसाय नहीं।

शिक्षा के व्यापक अर्थ को लेकर इन बिन्दुओं पर पुनर्विचार करना अति आवश्यक है, क्योंकि अच्छे शिक्षकों-शिक्षार्थियों एवं उनके मधुर सम्बन्धों से ही कोई राष्ट्र वास्तविक अर्थ में समृद्ध और सम्पन्न बन सकता है।

□ □

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४५५

क्या हम बदल गये हैं ?

—डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीप्ति'

साहित्यश्री एम० ए० (स्वर्ण पदक प्राप्त), पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्राध्यापक : हिन्दी विभाग : दयालबाग एजूकेशनल इन्स्टीट्यूट

(डोम्ड विश्वविद्यालय), दयालबाग आगरा

आप सोच रहे होंगे कि शायद यह वाक्य किसी कवि की कविता-पंक्ति है। जनाब, ऐसा नहीं है। यह प्रश्न है मेरे जहन का। जो सार्य की टहल के क्षणों में कौंध गया था। कई क्षण इस प्रश्न के आपरेशन में बीत गये। सोच के गलियारों में कई बार चक्कर लगा आया। प्रश्न था कि जो बार-बार खिल-खिलाते हुए व्यवस्था-वातायन से झांक जाता—क्या हम बदल गये हैं ?

प्रश्न सुनकर आपके चेहरे पर नाराजगी की रंगत क्यों आ रही है ? क्या मैंने कोई अनुचित बात कह दी है ? जी नहीं, जनाब ! हमारे रहन-सहन में, वेष-परिवेष में, खांसने-खखारने में, खाने-पीने में, बोलने-चलने में क्या बदलाव नहीं आया है। सचमुच, हमारी प्रत्येक क्रिया में बदल के बादल छा गये हैं। शायद, हम अकल से ज्यादा अन्धता का भरोसा कर बैठे हैं। आज व्यक्ति का अपने ऊपर से विश्वास जो उठ गया है तभी तो वह बाहरी विश्वास के आकर्षण में लिपटा फँसा है। यह आत्म-विश्वास-हीनता का कारवाँ श्रम, साधना और सृजन से हाथ धो बँठा है। शॉर्ट कट के लिए, छोटे रास्ते के लिए, सुविधा के लिए, जल्दी लक्ष्य पर पहुँचने के लिए, कम प्रयत्न में अधिक पाने के लिए और कम देकर ज्यादा कीमत वसूल करने के लिए आदमी आज का दौड़ रहा है। साधारण के लिए असाधारण को खोया जा रहा है। कितनी अबोधता है कि छोटे रास्ते से जल्दी मंजिल पाने की धुन में व्यक्ति अपने को बरबाद कर रहा है। लोक को उचित चलना सड़क का, चाहे फेर क्यों न हो कितनी सार्थक है। हम सही दिशा में गमन करें, सही राह पर चलें, भले ही वह राह लम्बी हो, ऊबड़-खाबड़ हो, देरी ही क्यों न हो ?

आज व्यक्ति की दिमागी हालत पर विस्मय होता है कि वह अपने पिता पर, पुत्र पर, पत्नी पर, मित्र पर विश्वास ही नहीं करता। वह बाहरी ताकतों पर, चमत्कारों पर भरोसा किया करता है। उसने अपना विश्वास, अपना ज्ञान बलाये ताक पर रख दिया है। वह किसी बहम के वशीभूत संयोग से प्राप्त सफलताओं में मस्त हो रहा है। "जितना करोगे उतना पाओगे" यह मन्त्र उसकी सर्कीर्ण समझ से उतर गया है। सचमुच वह भटक गया है। आज का समय और व्यक्ति का मानस युद्ध और संघर्ष से क्लान्त और दुष्कर्मों से उन्मत्त एवं उद्भ्रान्त है। तनाव का तांडव नृत्य चल रहा है। मन उलझनों की भूल-भुलैया में भटक रहा है। जीवन दुःखमय हो रहा है। क्यों न हो ? उसकी निष्ठा चमत्कारों की धार्मिक सट्टेबाजी में रच-रम गई है। हाथों से श्रम की पतवार छूट गई है। सागर की गहराई के क्या

कहने ? उसमें मोती हैं और मोत भी । छलांग लगाइये, देखिये, क्या पाते हैं ? सुख का घाट या फिर मोत के भँवर में फँसते-डूबते हैं । यह सवाल समय का मुँह देख रहा है ।

सोचता हूँ, क्या श्रम के उस सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व की पूर्ण अनुभूति हमें हो सकेगी ? क्या हम इसे छोटी-सी शब्द-आरती से अपनी इतिश्री नहीं समझे हुए हैं ? क्या हम वंचना का वरण किये हुए नहीं हैं ? दूसरों को ही नहीं अपने को भी धोखा दे रहे हैं । लगता है आपको मेरा प्रश्न उलझा हुआ लग रहा है । लीजिए, मैं उसके खोल को हटा देता हूँ । बहुत पहले किसी ने संन्यासी से पूछा था कि “श्रेष्ठ पिता कौन है ?” संन्यासी ने उत्तर दिया था—“वह पिता श्रेष्ठ है जो अपने पुत्र से पराजय की कामना करे । जो चाहे कि मेरा पुत्र मुझसे हर बात में श्रेष्ठ हो, आगे हो ।” जनाब ! आइये, हम अपने पिता से श्रेष्ठ बनें । हमारा जीवन हमारे परिवार को पहले से ऊँचा उठाने वाला हो, हम अपने युग से आगे बढ़ें, हमारा जीवन राष्ट्र को, युग को प्रगति देने वाला हो । हम अपने जीवन का मूल्य आँकें और हम वही सब कुछ करें जिससे हमारी मुलाकात हमारे अभीष्ट से हो जाये । हमारे भाल पर गिरावट की कालिख न पुत-लिप जाय और हम उठें तथा हमारे साथ दूसरे सभी उठ जायें । सचमुच, हमारा जीवन श्रम और आस्था की रोशनी से जगमगा जायेगा ।

एक बार चौराहे पर खड़े व्यक्ति ने सोचा कि मैं किस ओर बढ़ूँ ? एक ओर उपदेश हैं तो दूसरी ओर आचरण । तीसरी ओर प्रचार है तो चौथी ओर मौन समाधि । किस राह पर चला जाये ? वह निर्णय पर नहीं पहुँच पाया । संयोग से दीपक लिए एक अध्यात्मपुरुष का उधर से गुजरना हुआ । उसने व्यक्ति को अंधेरे में भटकते हुए देखा तो अपने जलते दीपक से रोशनी दी—“राही ! उपदेश में गर्व होता है और आचरण में बलिदान । प्रचार में लोकेषणा है और मौन में आत्मोपलब्धि ।” कोरे उपदेश से भला कौन किसे मुधार सकता है ? उसका उपदेश मोह-ममता में जो जकड़ा हुआ है । निःस्वार्थ भाव से प्रदत्त उपदेश में एक सात्विक गौरव है । जनहित में किया गया नैतिक प्रचार लोकेषणा नहीं जीवनेषणा है । जिसको जो रुचे उसी मार्ग पर चल पड़े । बस, मर्यादा की मन्दाकिनी में अवगाहन अवश्य करता रहे ।

व्यक्ति जब व्यक्ति रहता है तब क्रूरता, वध, असहिष्णता आदि की अभिव्यक्ति नहीं होती । परन्तु जब उसकी इकाई समूह में विलीन हो जाती है, तब दोष उभर आते हैं । जहाँ दो होते हैं, वहीं शत्रुता का भाव उगता-उपजता है और मैत्री की कल्पना भी जन्मती-पनपती है । जहाँ और जब शत्रु-भाव का उत्कर्ष होता है, तब जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है । सर्वत्र, व्यक्ति-व्यक्ति में, कुटुम्ब-कुटुम्ब में, समाज-समाज में, देश-देश में तथा राष्ट्र-राष्ट्र में अराजकता फैल जाती है और अशान्ति की कुहेलिका मंडराने लगती है । जनजीवन जलता है और उसकी आहों से मिश्रित धूप की उर्मियों से सारा वातावरण विषमय बन जाता है । मित्रभाव का जब उत्कर्ष होता है, तब अशान्ति की अन्त्येष्टि हो जाती है । सर्वत्र, शान्ति का साम्राज्य छा जाता है । वहाँ प्रत्येक व्यक्ति सुख से जीने लगता है और वह दूसरे के सुख पूर्ण जीवन जीने के अधिकार में कभी हस्तक्षेप नहीं करता है ।

आज शत्रुभाव चरम सीमा पर है । प्रत्यक्ष-परोक्ष परस्पर में सभी शत्रु हैं । इसे मिटाने के लिए मैत्री का दरवाजा खटखटाना होगा । हमें अभय, अनाक्रमण, विश्वास और सहिष्णुता की चार पहियों वाली गाड़ी में बैठना होगा । कहते हैं अभय का आधार निर्मोह है । मोह की न्यूनता अभय को बढ़ाती है और अभय से मोह की न्यूनता होती है । इस परिधि में मैत्री की लता फल-फूल सकती है ।

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४५७

जब अपना स्वार्थ दूसरों पर हावी होना चाहता है, तब व्यक्ति तिलमिला उठता है। मित्र भी शत्रु-सा प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आस्था का दीपक जलाना होगा। स्वार्थों और विचारों की विविधता में समानता का सौरभ महक उठेगा। उदारमना सहिष्णु होता है। इसके लिए वह विवश नहीं सहज होता है। अस्तु आक्रमण की बात ही नहीं आती। इस वृत्ति से अभय की पयस्विनी बहने लगती है और जन-जन स्नेह-सिक्त हो जाता है। अभय और अनाक्रमण से विश्वास पनपता है। विश्वास मंत्री का आधार है, पुष्ट पोषक भी। दैहिक कष्टों को सहना शूरवीर जानते हैं किन्तु वैचारिक असमानता को सहने वाले विरले होते हैं। सहना महानता की अनुपम कसौटी है। महात्मा ईशु ने संसार के लिए यह उपदेश दिया कि अपने शत्रु से भी प्यार करो। भगवान महावीर ने कहा कि किसी को अपना शत्रु ही मत समझो। असल में, किसी को शत्रु न मानकर सभी के साथ मित्रता का व्यवहार करना उत्तम है। उपचार होने से पूर्व रोग न होने देना अच्छा है।

मतभेद विचारों का हो या फिर आचार-विचार में मनमुटाव। वह पति-पत्नी में हो, पड़ोसी-पड़ोसी में हो, जाति-जाति में हो, धर्म-धर्म में हो या राज्य-राज्य में हो, यदि उसमें सहिष्णुता, समन्वय और सामंजस्य का तालमेल बैठ गया है तो क्या कहने? जनाब! आप सोच की खिड़की तो खोलिए। 'ताल' और 'मेल' शब्दों की गहराई में उतरिए। सचमुच, अपने विश्वास पर दृढ़, मजबूत रहते हुए भी दूसरे के विश्वास का आदर करके तो देखिए कि फिर हमारा जीवन आनन्द की वर्षा से भीग जाएगा।

(शेष पृष्ठ ४४८ का)

अनेक पहलू पर विचार करने और अन्ततः निचोड़ में अधिक हित की विद्यमानता का सावंबोध कराता है।

आज के इस विषम वातावरण में अनेकान्तवाद की अहं आवश्यकता है। यद्यपि आज का व्यक्ति प्रगतिशील है किन्तु उसकी यह प्रगति केवल भौतिक सुख-साधनों में होने वाली वृद्धि तक ही सीमित है। आज आम आदमी सम्पन्नता को शायद प्रगति का प्रतीक मान बैठे हैं। पर यथात् उससे भी ऊपर उठा हुआ सत्य है कि 'प्रगति' केवल बाह्य सुख-साधनों का संचय करना ही नहीं है अपितु आन्तरिक आत्म-प्रदेश में भी जागृति लाना है। केवल लड़-लड़कर अपने अस्तित्व की परिधि को समाप्त करना निरी-नादाना नहीं तो और क्या है? हम किसी तथ्य के एक पहलू को ही ठीक और केवल ठीक मानकर अहम् के उच्च शिखर तक पहुँच गये हैं। कब टूटकर गिर जायें, इसका ज्ञान तो शायद हमें नहीं है पर अपने ही ढोल की आवाज को व्यापक और सधन मान बैठना तो अपनी ही भूल होगी न! अनेकान्त, अन्यों के विचारों को सुनने, समझने तथा उपयुक्तता की तह तक पहुँचने का मार्ग मुझाता है। तब व्यक्ति खण्ड-खण्ड नहीं अपितु अखण्डित होने की ओर उन्मुख होने लगता है। अतः यदि विवाद और हिंसा जैसी समस्या सुलझाना है तो हमें निश्चित ही अनेकान्तवाद की शरण में जाना होगा। शायद वही अभीष्ट भी होगा।

सर्वोदयी विचारों की अवधारणा के प्रेरक जैन-सिद्धान्त

—लक्ष्मीचन्द जैन 'सरोज' (एम० ए०)

भगवान महावीर के स्वर्णोपदेशों को अथवा धर्म रूपी तीर्थ को आचार्य प्रवर समन्तभद्र ने सर्वोदय तीर्थ संज्ञा दी है^१ और ईसा की प्रथम सदी में ही सुस्पष्टतया यह घोषणा की है कि जैन सिद्धान्त अपनी पृष्ठभूमि में सर्वोदयी विचारों की अनेक अवधारणा लिए हैं।

सर्वोदय : धर्म-तीर्थ

१. सर्वोदय का अर्थ है सबका उदय, सबका कल्याण। एक मनीषी के विचार के धरातल में सर्वोदय वह उच्चतम शिखरस्थ मनोभावना है, जो विश्व-प्रेममयी है और स्व-पर कल्याणकारिणी है। यह आधुनिक आपाधापी के युग में अतीव आवश्यक या अनिवार्य इसलिए भी हो गई है कि इसका सम्बन्ध प्राणी मात्र से जुड़ा है। चौरासी लाख योनियों के जीवात्माओं से यह सुदृढतम सम्बन्ध स्थापित किये हैं। इसका मूलभूत आधार 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' है और एकात्मवाद का प्रचार-प्रसार और संरक्षण-संबर्धन इसका उद्देश्य है। इसके क्षेत्र में स्वतन्त्रता और समानता, सह-अस्तित्व और भ्रातृत्व का क्षीर-सागर लहरें मार रहा है। एक वाक्य में सर्वोदय जीवन मंगल, सत्य, शिव, सुन्दर शब्द है। शब्द कोश में यह शब्द है तो वह सफल है अन्यथा शब्दकोश निष्फल है। सर्वोदय वह शिखरस्थ शब्द है, जो आज भी विश्व व्यक्तियों का विशेषतया भगवान महावीर के पद-चिह्नों पर चलने वाले राजचन्द्र, काण्ट लियो टालस्टाय, जॉन रस्किन, महात्मा गांधी, अब्राहम लिंकन, माटिन लूथर, जार्ज बर्नार्डशा आदि के ध्यान-आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बना है और उनके अनुयायियों को आज भी प्रेरणा दे रहा है कि स्वार्थ के चक्र-व्यूह से निकलकर परमार्थ के पथ पर उतने अग्रसर हो कि जितना भी शक्य और सम्भव हो अन्यथा वे आने वाली सदी का सहर्ष सहस्र बार स्वागत करने में अक्षम सिद्ध होंगे। जब तक व्यक्ति और समाज के लिए—रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या मुलझाने के लिए कार्य-आजीविका पूर्णतया न्यायमय नहीं मिलता है तब सामाजिक-धार्मिक जीवन भी सफल नहीं होगा।

२. सर्वोदय : धर्म-तीर्थ है। वह अपने में महर्षि कणाद की अर्थ विषयक परिभाषा को आत्म-सात् किये हैं^२ यह लौकिक अभ्युदय के साथ पारलौकिक निःश्रेयस् का भी आकांक्षी है। केवल जैनाचार्यों ने ही नहीं बल्कि अन्य धर्मों के आचार्यों ने भी सर्वोदयी : धर्म-तीर्थ की महिमा गाई है कि सभी सुखी हों, तथा नीरोग हों, सभी कल्याण देखें, किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो।^३ समग्र संसार का कल्याण

१ सर्वान्तवत्तद्गुणमुखकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

—युक्त्यनुशासन

२ यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धि स धर्मः ।

३ सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत् ॥

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४५६

हो, सभी प्राणी परस्पर पर-हित में निरत हों, फलतः दोष जड़-मूलतः नष्ट हों तो समग्र संसार सही अर्थों में सुखी हो ।^१ सभी राज्यों की प्रजाओं का कल्याण हो, पृथ्वीपालक नरेश बलवान और धार्मिक हो, वारिद समय-समय पर जल-वृष्टि करें, इन्द्र सदृश श्रेष्ठ सज्जन पुरुष लोक की व्याधियों का विनाश करें, क्षम भर के लिए भी लोक-जीवन में न कहीं दुःख हों और न स्तेयवृत्ति । जिनेन्द्र का धर्म-चक्र सभी प्राणियों के लिए सुख में सतत् अभिवृद्धि करें ।^२ ये पंक्तियाँ हैं पूजन के परिणाम सी शान्ति पाठ को ।

३. यह कहना अथवा लिखना मुझ मन्दमति के लिए सम्भव नहीं कि वर्तमान में सर्वोदय और धर्म-तीर्थ में से किस शब्द का अधिक प्रयोग हो रहा है पर विस्मयमयी वार्ता यह है कि दोनों का अपेक्षा-कृत अधिक प्रयोग होने पर भी न तो सर्वोदयी समाज का सृजन हो रहा और धर्म-तीर्थ ही अपनी संज्ञा सायंक कर पा रहा है । आज के समाज में समता की सरिता उतनी नहीं बढ़ी है जितनी विषमता को विषधरी बढ़ी है और हिन्दी भाषा के सुप्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त की 'गुंजन' के शब्दों में जग के जन सुख-दुःख से अति पीड़ित हैं, जीवन के सु-दुःख परस्पर बँट नहीं पा रहे हैं ।^३ सबका उदय सर्वोदय है पर सबको समान उन्नति के स्वर्ण अवसर मिल नहीं पा रहे हैं, समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रतिभा-योग्यता के बावजूद भी सर्वोच्च पद पर नियुक्त-प्रतिष्ठित नहीं हो पा रहा है, सभी पूर्ण सुखी और ज्ञानी बनने में आज भी अक्षम हैं फलतः तथाकथित शब्द सर्वोदय : धर्म-तीर्थ अपने अन्तस्तल में विराट होकर भी बौने बने हैं; वे कह पाते तो मानव-समाज से अवश्य ही यह कहते कि विचारा शब्द क्या करे ? शब्द का अर्थ कोई भी नहीं जानता, भूले-भटके कोई शब्द का अर्थ जानता भी तो कोई शब्द के भाव को धारण करना नहीं स्वीकारता, इसलिए व्यक्तिशः आर्थिक अभ्युदय हो रहा है पर औसतन उन्नति नहीं हो पा रही है । स्वार्थ की पूर्ति जितनी हो रही है उतनी परमार्थ की नहीं । संख्यातीत संस्थाएँ भी सर्वोदय : धर्म-तीर्थ को अब तक आगे नहीं बढ़ा पा रही हैं ।

४. इसलिए आज के युग में अनिवार्य हो गया कि मौखिक जबानी सर्वोदय : धर्म-तीर्थ शब्द नहीं हो बल्कि मानवीय व्यवहृदय सर्वोदय : धर्मतीर्थ दैनिक जीवन में अवतरित हो तो मनुष्य देवता बने और पृथ्वी स्वर्ग बने । सर्व धर्म समभाव का जैसा सुस्पष्ट सर्वाधिक वर्णन जैनाग्रमों में सहज सुलभ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । चूँकि समानता और स्वतन्त्रता भी सर्वोदय का मूलभूत आधार है । अतएव जैनधर्म में एक ईश्वर नहीं बल्कि असंख्यात ईश्वर सिद्धों के रूप में सम्मान्य किए गए ।^४ सभी आपत्तियों से सुरक्षित, सर्वोदय तीर्थ के प्रतिष्ठापक भगवान महावीर की वाणी में स्वतन्त्रता के साथ समानता को भी

१ शिवमस्तु सर्वं जगतः परहितनिरताः भवन्तु भूतगणाः ।

दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

२ क्षेमं सर्वं प्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः ।

काले काले च सम्यग्दर्शतु मेघा व्याधयो यान्तु नाशम् ॥

दुःखं चौरमारी क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके ।

जैनेन्द्रं धर्म-चक्रं प्रभवतु सततं सर्वं सौख्यप्रदायि ॥

३ जग पीड़ित है, अति सुख से ।

मानव-जीवन में रँट जावे ।

जग पीड़ित है, अति दुख से ।

सुख दुख से औ दुख सुख से ॥

४ इकसिद्ध में सिद्ध अनन्तजान । अपनी अपनी सत्ता प्रमान ।

महत्वपूर्ण स्थान मिला है, उनकी धर्म-सभा या समवसरण में नर-नारी, पशु-पक्षी सभी को धर्म-श्रवण कर धारण करने का और आत्मविकास करने का स्वर्ण अवसर मिला था; किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। वस्तु और व्यक्ति स्वातन्त्र्य, पूर्वापर ऊहापोहमयी सुविचारित परम्परा ही वीर-वाणी में अतीत में ग्राह्य हुई, आज ढाई सहस्रवर्ष बाद भी ग्राह्य है और अनागत में भी (अन्य तीर्थकर नहीं होने तक) बखूबी ग्राह्य रहेगी।

५. सर्वोदय और धर्म-तीर्थ, दोनों परस्पर पूरक हैं। जिस समाज-राष्ट्र-विश्व में सर्वोदय की भावना नहीं है, वह समाज-राष्ट्र-विश्व अनुदार होने से असफल है। जिस समाज-देश-विश्व में धर्म-तीर्थ की स्थापना का मनोभाव नहीं है वह समाज-देश-विश्व भी संकुचित अनुदार होने से असफल है। सफलता के लिए आकाश सी विराटता, पृथ्वी सी सहिष्णुता अपेक्षित है। केवल इतना ही नहीं बल्कि दुरंगी दुनियां सी दुहरी ऊहापोहमयी नीति और जीवाजीवतत्वमयी सुचेतना भी चाहिये। देवता में जहाँ वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता चाहिये वहाँ शास्त्र में देव-प्रणीत अविरोध पूर्वापर एकरूपता हितग्राहिता होनी चाहिये और गुरु में विषय-वासना से मुक्ति, अयाचकता-आपेक्षता चाहिए और लोकालोक मांगल्य की भावना चाहिए। सर्वोदय-धर्मतीर्थ का सम्मेलन तो गंगा-जमुना के संगम सा सुखद है, दोनों का विरोध और वियोग तो दोनों के लिए घातक है। दोनों के अभाव में तो जीवन मृत्यु का अन्य नाम हो जावेगा।

सर्वोदय-धर्म-तीर्थ-सिद्धान्त

६. सर्वोदय का आधार समानता है और धर्म-तीर्थ भी समानता की घोषणा करता है। जैसे सर्वोदय के क्षेत्र में व्यक्तिगत भेदभाव को स्थान नहीं है वैसे ही धर्म-तीर्थ-क्षेत्र की परिधि में भी किसी प्रकार का अलगाव-बदलाव-दुराव नहीं है। ईसा की प्रथम सदी में ही आचार्य प्रवर उमास्वामी ने अपने अमर ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र या मोक्ष शास्त्र में मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थता भावनाओं के निरन्तर चिन्तन की बात लिखी है।^१ वही बात दसवीं शताब्दी में आचार्य अमिलगति ने अपनी भावना बत्तीसी (संस्कृत कविता) के प्रथम श्लोक में प्रकारान्तर से लिपिबद्ध की है^२ तथा पूर्वोक्त चारों भावनाओं के सन्दर्भ को लिए हुए जुगलकिशोर मुस्तार सम्पादक 'अनेकान्त' ने अपनी अमर कविता या राष्ट्र-प्रार्थना अथवा 'मेरी भावना' में भी आचार्यों की परम्परा का प्रसार और निर्वाह किया है।^३ मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थता में सर्वोदय की भावना अधिक है या धर्म-तीर्थ की कामना अधिक है? वह तो विद्वानों के विचारने की वार्ता है, मैं मन्दमति तो इतना ही लिख सकता हूँ कि यदि जीवन कला है तो पूर्वोक्त चारों भावनाओं का आधार लेकर कोई भी शीर्षस्थ सर्वोदयी बन सकता है और धर्म-तीर्थ के

१. मैत्री प्रमोद कारुण्यं माध्यस्थानि च सत्त्व गुणाधिक क्लिश्यमानाविनयेषु ।

—अ० ७ सू० ११

२. सत्त्वेषु मैत्री गुणेषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्ती, सदा ममात्मा विदधातु देवः ॥
३. मैत्री भावजगत [में मेरा, सब जीवों से निस्य रहे ।
दीन दुखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा-स्रोत बहे ॥
दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे ।
साम्य भाव रक्कूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ॥

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४६१

शिखर पर आसीन हो सकता है। इस दिशा में सूर्य सत्य यह भी है कि पूर्वोक्त चारों भावनाओं के प्रयोग से ही वर्तमान विकल विश्व सुख-शान्ति पावेगा।

७. सर्वोदय धर्म-तीर्थ का अन्य आधार व्रत धारी होना है। जीवनधारा सुव्यवस्थित रूप से प्रवाहमान हो, इसके लिए अत्यन्त आवश्यक है कि व्यक्ति श्रावक अथवा नागरिक रूप में श्रद्धा-विवेक-क्रिया लिए अणुव्रती बने। वह पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत स्वीकार किये उज्ज्वल जीवन जीने की कला सीखे। 'जिओ और जीने दो' की भावना का ज्वलन्त उदाहरण बने। व्रत-विहीन होकर वर्षाकालीन सरिता सी भोग विलासमयी बाढ़ नहीं लादे अन्यथा अपने साथ अन्य जनों का भी अकल्याण करेगा। वह हिंसा के क्षेत्र में संकल्पी हिंसा का पूर्णतया त्यागी हो और आरम्भी, उद्योगी, विरोधी हिंसा में भी सावधानी का परिचय देता रहे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का शक्तिशाली और व्यक्तिशः पालन अनिवार्यतः हो। वह एक हाथ से जुटावे तो दस हाथ से लुटाने का भाव रखे। महाव्रत को स्वीकार कर साधु, श्रमण बने तो भोग से योग, शरीर से आत्मा, सृष्टि से शिव की ओर चलने का सतत सुदृढ़ सत्संकल्प करे। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्त का पालन करने में अणु भर भी प्रमाद नहीं करे प्रत्युत संयम को ही जीवन समझे। कम से कम लेकर समाज को अधिक से अधिक देने के लिए सन्नद्ध रहे। मानवीय दैनिक जीवन में वह अपना एक सुस्पष्ट सुभेदक चिह्न अवश्य लगावे, जिससे समग्र समाज उसके पद-चिह्नों पर चलने के लिए अतीव आतुर हो। जीवन के अन्तिम क्षणों में सल्लेखना या समाधिमरण के लिए श्रावक और श्रमण दोनों ही प्रयत्न करें जिससे उन्हें चारों गतियों से मुक्ति मिले।^१

८. अप्पा सो परम्प्पा यह सर्वोदय : धर्मतीर्थ का अनन्यतम सिद्धान्त है अर्थात् आत्मा सो परमात्मा या नर ही नारायण है। आत्म तत्त्व की निश्चयात्मक दृष्टि से सभी जीव समान हैं। निगोद-राशि और सिद्ध शिला आसीन जीव में आत्मिकदृष्टि से अन्तर नहीं है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है। जैनाचार्यों ने आत्मा के तीन प्रकार स्वीकार किए हैं—(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा। जो पूर्णतया बहिर्मुखी है, विषय-वासना-भक्त है, धर्म-कर्म से सुदूर है, तो लोकायत सदृश चारुवाक् या चार्वाक् है, जो लोक को ही मान्यता देकर, केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानकर अन्यत्र आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, जो देह और आत्मा को एक-विपरीत अन्यथा मानता है वह बहिरात्मा है।^२ यह लोक मांगल्य की आड़ लेकर पुनर्जन्म को नकारता है और आत्मा को भी शरीर सदृश मरणशील मानता है। जो जल में भिन्न कमल सा जीवन जीता है, जो सांसारिक विषय-वासनाओं के प्रति विराग-विरक्ति का भाव लिए है, जो लौकिक कार्यों की अपेक्षा धार्मिक कार्यों को अधिक महत्त्व देता है, जो अपने लिए संसारवर्धक काया-माया-बाल-जाल से बचता है जो व्रताचारी, अणुव्रती, महाव्रती बन गया है, जो भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। जिसकी दृष्टि अन्तर्मुखी है वह अन्तरात्मा है। जो विषय-वासना और आरम्भ-परिग्रह रहित है तथा ज्ञान-ध्यान-तप में लवलीन है वह तपस्वी

१. अन्ते समाहिमरणं-चउगइ दुक्खं निवारेई।
२. बहिरात्मा अन्तरात्मा परमात्म जीव त्रिधा है।
देहजीव को एक गिने बहिरात्म तत्व मुधा है।
द्विविध संग बिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानी।
मध्यम अन्तरात्म हैं जे देशव्रती आगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टी तीनों शिव-मगचारी।

साधु आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि से प्रशंसनीय ही नहीं बल्कि परमात्मा बनने का भी पात्र है।^१ साधु स्वादु नहीं होता है, मुनि मनमार होता है, यति संसार में विराम/विश्राम नहीं चाहता है, अनगार कहीं भी घर नहीं बनाता है बल्कि मोह क्षीण करके, निर्ग्रन्थ स्नातक जिनकेवलज्ञानी होता है लेवलज्ञानी नहीं। अर्हन्त जीवन्मुक्त सकल परमात्मा हैं और सिद्ध निकल परमात्मा है।^२ बहिरात्मा १ से ३ गुणस्थान तक हैं। ४ से १२ तक अन्तरात्मा हैं। १३-१४ तक परमात्मा हैं। सिद्ध गुणस्थानातीत है।

६. सर्वोदय : धर्मतीर्थ—आत्मज्ञान का प्रतिष्ठापक है। आत्मा और ज्ञान अभिन्न है। आत्मा-ज्ञाता दृष्टा है, ज्ञानी दर्शक है। आत्मज्ञान ही स्वयं का ज्ञान है। प्रत्येक ज्ञानी द्रव्यहिंसा और भावहिंसा को पूर्णतया सर्वथा हेय ही मानता है भले वह अपनी दुर्बलता के कारण पूर्णतया हिंसा का त्याग करने में असमर्थ रहे, पर अपनी शक्ति के अनुसार वह त्याग-तपस्या स्वीकारता है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना अंगीकार करता है। बहिरात्मा बहिर्मुखी अशुभ भावी होता है। अन्तरात्मा अन्तर्मुखी बहुभाग में शुभ भावी होता है। परमात्मा पूर्णतया शुद्ध भावी ज्ञाता-दृष्टा भावातीत तुल्य होता है। आत्मा जीव की निधि है इसलिए जीव जीवित रहा था, रहा है, रहेगा सही है। बहिरात्मा अन्तरात्मा हो और अन्तरात्मा परमात्मा हो। यही काम्य और ग्राह्य हो।

१०. सर्वोदय—धर्म तीर्थ का एक विशिष्ट सिद्धान्त स्वतन्त्रता व समानता है। जैसे पुद्गल-जन्य शरीर सभी का पृथक है वैसे ही सभी जीवों की आत्मा भी स्वतन्त्र है, जैसे शरीर के परमाणु स्वतन्त्र समान हैं वैसे ही आत्मा के प्रदेश भी स्वतन्त्र समान है। आत्मा शरीर के आधीन नहीं है और शरीर आत्मा के आधीन नहीं है। यदि आत्मा शरीर के आधीन होता तो कदापि त्रिकाल में भी कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता और शरीर आत्मा के आधीन होता तो संसार के प्राणियों के समान ही सिद्धों के साथ भी होता। शरीर और आत्मा—पानी और दूध से एक क्षेत्रावगाही होकर मिले भले रहे हों, पर वे एक नहीं पृथक है। प्रत्येक आत्मा प्रत्येक शरीर स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है। सब आत्माएं समान हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं, सभी के प्रदेश बराबर हैं। प्रत्येक आत्मा सुविकसित होकर अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य सम्पन्न अर्हन्त हो सकती है। आत्मा ही नहीं, बल्कि सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ समान रूप से स्वतन्त्रता लिए परिणमनशील है। अपने को पहचानना प्रकारान्तर से [अर्हन्त को पहचानना है। आत्मधर्म का चरम विकास होना यानी अर्हन्त (जीवन्मुक्त) और सिद्ध (सर्वदा को मुक्त) होना है।

११. सर्वोदय—धर्मतीर्थ भेद-विज्ञान मूलक है। पुद्गलजन्य शरीर जड़ है, ज्ञानमूलक आत्मा चेतन है। शरीर, शस्त्र से कटता है, अग्नि में जलता है, पानी में गलता है, हवा से सूखता है, पर आत्मा न शस्त्र से कटता है, न आग में जलता है, न पानी में गलता है, न वायु से सूखता है।^३ शरीर रूप-रस-गन्ध-स्पर्शमय दृश्य है पर आत्मा अरूप-अरस-अगन्ध-अस्पृश्य अदृश्य है। जो आत्मा है वह शरीर नहीं, और जो शरीर है वह आत्मा नहीं, गुण-कर्म विभाजन सूर्य प्रकाश-सा सुस्पष्ट है। स्व-पर भेद-

१ विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रहः ।

ज्ञान ध्यान तपो रक्तः तपस्वी स प्रशस्यते ॥

२ श्री अरहन्त सकल परमात्म लोका लोक निहारी ।

ज्ञान शरीरी विविध कर्ममल वर्जित सिद्ध महन्ता ।

३ ननं छिन्दन्ति शस्त्राणि ननं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापे न शोषयति मारुतः ॥

—भगवद्गीता अ. ५

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलक्षियां

४६३

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

विज्ञान जैन ग्रन्थों में मौलिकता लिए है। इसे ही लक्ष्य कर गीता में सम्भवतः यह पंक्ति लिखी गई होगी कि स्व अपने (आत्मा के) धर्म पर जाना अच्छा है परन्तु पर अन्य (शरीर के) धर्म को स्वीकारना निरापद नहीं है।^१ जितने या अर्हन्त सिद्ध हुए वे सभी भेदविज्ञान के कारण हुए। अल्पज्ञानी शिवभृति ने भेदविज्ञानी होकर मोक्ष पा लिया, पर बहुज्ञानी अभव्यसेन भेदविज्ञान बिना संसार की ही शोभा बढ़ाते रहे। लोक जीवन में भी भेद-विज्ञान का अपना महत्व है।

१२. षट्खण्डागम का दोहन करके आचार्य नेमिचन्द्र ने जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड ग्रन्थ लिखे। जीव काण्ड में जीव की परिभाषा आचार्य श्री ने यह लिखी—जो अतीत में जीता था, वर्तमान में जी रहा है, अनागत में जीवेगा, वह जीव है। जीव के स्वरूप को मार्गणा अधिकार की एक गाथा के माध्यम से संक्षेप में इस प्रकार भी समझा-समझाया जा सकेगा कि

(१) गति—नरक—तिर्यञ्च, मनुष्य—देव गति के अतिरिक्त सिद्ध गति में भी जीव हैं।

(२) इन्द्रिय—एक इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय तक के जीव इसमें आते हैं।

(३) काय—औदारिक-वैक्रियक-आहारक-तेजस-कामणि शरीर वाले जीव हैं।

(४) योग—मन-वचन-काय योग वाले जीव हैं। सभी जीव ४ से १० प्राण वाले हैं।

(५) वेद—स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद वाले जीव हैं। अन्य वेदो नहीं है।

(६) कषाय—क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय वाले जीव हैं। ८, १६ और २५ कषाय वाले जीव हैं। अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, संज्वलन कषाय वाले जीव हैं। कषाय करने वाले नहीं बल्कि निष्कषाय जीव शीघ्र मुक्ति पाते हैं।

(७) मति, श्रुत-अवधि-मनः पर्याय और केवलज्ञान वाले भी जीव है। दो ज्ञान मति-श्रुत सभी के होते हैं। एक जीव के अधिक से अधिक चार ज्ञान होते हैं।

(८) संयम—अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार यथोचित संयम रखते हैं।

(९) दर्शन—अपनी योग्यतानुसार चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन वाले भी जीव ही हैं। ज्ञान से पहले दर्शन होता ही है।

(१०) अपने कर्मानुसार कषाय और योगमूलक छह लेश्यायें भी जीवों के ही होती हैं। लेश्याओं के नाम कृष्ण-नील-कापोत-पीत-पद्म-शुक्ल हैं। लेश्या के दो भेद हैं—एक द्रव्यलेश्या दूसरी भावलेश्या। भावलेश्या द्रव्यलेश्या से जल्दी बदलती है।

(११) भव्य—वह है जो सम्यग्दृष्टि है जिसे मुक्तिश्री मिलने की सम्भावना है। जीवत्व, भव्यत्व अभव्यत्व इन तीन भावों वाले भी जीव ही हैं।

(१२) सम्यक्त्व—चारों गतियों में अपने साधनों की अपेक्षा लिए सम्भव है। औपशमिक, क्षायिक, आयोपशमिक तीन भेद सम्यक्त्व के हैं।

(१३) संज्ञी—संज्ञी (सैनी/समनस्क) असंज्ञी (असैनी/अमनस्क) भी जीव हैं।

(१४) आहार—आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाव मन पर्याप्ति वाले भी जीव ही हैं। कर्म नोकर्म जैसे आहारों वाले जीव ही हैं।^२ आहार करने वाले और आहार न करने वाले भी जीव ही हैं।

(शेष पृष्ठ ४७४ पर)

१ स्वधर्मं निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

२ गइ इन्दियेसु काये जोगे वेद कसाय गाणे य।

संजमदंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

ध्यान : एक विमर्श

—डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

यों तो सभी धर्मों और दर्शनों में ध्यान, समाधि या योग का अल्पाधिक प्रतिपादन है। योग-दर्शन तो उसी पर आधृत है और योग के सूक्ष्म चिन्तन को लिए हुए है। पर योग का लक्ष्य अणिमा, महिमा, वशित्व आदि ऋद्धियों की उपलब्धि है और योगी उनकी प्राप्ति के लिए योगाराधन करता है। योग द्वारा ऋद्धि-सिद्धियों की प्राप्ति करने का प्रयोजन भी लौकिक प्रभाव-दर्शन, चमत्कार-प्रदर्शन आदि है। मुक्ति-लाभ भी योग का एक उद्देश्य है। पर वह योग-दर्शन में गौण है।

जैन दर्शन में ध्यान का लक्ष्य मुख्यतया आध्यात्मिक है। और वह है आत्मा से चिर-संचित कर्ममलों को हटाना और आत्मा को निर्मल बनाकर परमात्मा बनाना। नये कर्मों को न आने देना और संचित कर्मों को छुड़ाना इन दोनों से कर्ममुक्ति प्राप्त करना ध्यान का प्रयोजन है। यद्यपि योगी को योग के प्रभाव से अनेकानेक ऋद्धियाँ सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। किन्तु उसको दृष्टि में वे प्राप्य नहीं हैं, मात्र आनुषङ्गिक है। उनसे उसका न लगाव होता है और न उसके लिए वह ध्यान करता है। वे तथा स्वर्ग आदि की सम्पदाएँ उसे उसी प्रकार प्राप्त होती हैं जिस प्रकार किसान को चावलों के साथ भूसा अप्राप्य मिल जाता है। किसान भूसा को प्राप्त करने का न लक्ष्य रखता है और न उसके लिए प्रयास ही करता है। योगी भी योग का आराधन मात्र कर्म-निरोध और कर्म-निर्जरा के लिए करता है। यदि कोई योगी उन ऋद्धि-सिद्धियों में उलझता है—उनमें लुभित होता है तो वह योग के वास्तविक लाभ से वंचित होता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृह्यपिच्छ ने स्पष्ट लिखा है कि तप (ध्यान) से संवर (कर्मा-स्रव-निरोध) और निर्जरा (संचित कर्मों का अभाव) दोनों होते हैं^१ आचार्य रामसेन ने भी अपने तत्त्वानुशासन में ध्यान को संवर तथा निर्जरा का कारण बतलाया है।^२ संवर और निर्जरा दोनों से कर्माभाव होता है और समस्त कर्माभाव ही मोक्ष है।^३ इससे स्पष्ट है कि जैन दर्शन में ध्यान का आध्यात्मिक लाभ मुख्य है।

ध्यान की आवश्यकता

ध्यान की आवश्यकता पर बल देते हुए द्रव्यसंग्रहकार नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव ने लिखा है^४ कि 'मुक्ति का उपाय रत्नत्रय है और वह व्यवहार तथा निश्चय की अपेक्षा दो प्रकार का है। यह दोनों

१ 'आस्रवनिरोधः संवरः', 'तपसा निर्जरा च'—त. सू. ९-१, ३।

२ 'तद् ध्यानं निर्जरा हेतुः संवरस्य च कारणम्'—तत्त्वानु. १६।

३ 'बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः।'—त. सू. १०-२।

४ 'दुविहं पि मोक्खहेउं ज्ञाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।

तम्हा पयत्तचित्ता जूयं ज्ञाणं समम्भसह ॥

—द्रव्य सं. ४७

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४६५

प्रकार का रत्नत्रय ध्यान से ही उपलब्ध है। अतः सम्पूर्ण प्रयत्न करके मुनि को निरन्तर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। आ. अमृतचन्द्र भी यही कहते हैं^१ यथार्थ में ध्यान में जब योगी अपने से भिन्न किसी दूसरे मन्त्रादि पदार्थ का अवलम्बन लेकर अरहन्त आदि को अपने श्रद्धान, ज्ञान और आचरण का विषय बनाता है तब वह व्यवहार मोक्षमार्ग है और जब केवल अपने आत्मा का अवलम्बन लेकर उसे ही अपने श्रद्धान, ज्ञान और आचरण का विषय बनाता है तब वह निश्चय मोक्ष-मार्ग है। अतः मोक्ष के साधनभूत रत्नत्रय-मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए योगी को ध्यान करना बहुत आवश्यक है।

ध्यान की दुर्लभता

मनुष्य के चिरन्तन संस्कार उसे विषय-वासनाओं की ओर ही ले जाते हैं और इन संस्कारों की जनिका एवं उद्बोधिका पाँचों इन्द्रियाँ तो हैं ही, मन तो उन्हें ऐसी प्रेरणा देता है कि वे न जाने योग्य स्थान में भी प्रवृत्त हो जाती हैं। फलतः मनुष्य सदा इन्द्रियों और मन का दास बनकर उचित-अनुचित प्रवृत्ति करता है। परिणाम यह होता है कि वह निरन्तर राग-द्वेष की भट्टी में जलता रहता एवं कष्ट उठाना रहता है। आचार्य अमितगति ने ठीक लिखा है^२ कि जीव संयोग के कारण दुःख परम्परा को प्राप्त होता है। अगर वह इस तथ्य को एक बार भी विवेकपूर्वक समझ ले, तो उस संयोग के छोड़ने में उसे एक क्षण भी नहीं लगेगा। तत्त्वज्ञान से क्या असम्भव है? यह तत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान ध्यान है। अतः ध्यान के अभ्यास के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण। जब तक उन पर नियन्त्रण न होगा तब तक मनुष्य विषय-वासनाओं में डूबा रहेगा—आसक्त रहेगा और कष्टों को उठाता रहेगा। पर यह तथ्य है कि कष्ट या दुःख किसी को इष्ट नहीं है—सभी सुख और शान्ति चाहते हैं। जब वास्तविक स्थिति यह है तब मनुष्य को सद्गुरुओं के उपदेश से या शास्त्र ज्ञान से उक्त तथ्य को समझकर विषय-वासनाओं में ले जाने वाली इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण करना जरूरी है। उनके नियन्त्रित होने पर मनुष्य अपनी प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी अवश्य करेगा, क्योंकि मनुष्य का आत्मा की ओर लगाव होने पर इन्द्रियाँ और मन निर्विषय हो जाते हैं। अग्नि को ईंधन न मिलने पर वह जैसे बुझ जाती है।

यह सच है कि इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण करना सरल नहीं है, अति दुष्कर है। किन्तु यह भी सच है कि वह असम्भव नहीं है। सामान्य मनुष्य और असामान्य मनुष्य में यही अन्तर है कि जो कार्य सामान्य मनुष्य के लिए कठिन और दुष्कर होता है वही कार्य असामान्य मनुष्य के लिये सम्भव होता है। अतः इन्द्रियों और मन को प्रारम्भ में नियन्त्रित करना कठिन मालूम पड़ता है। पर संकल्प और हृदता के साथ उन पर नियन्त्रण पाने का प्रयास करने पर उन पर विजय पा ली जा सकती है। उसके प्रधान दो उपाय हैं—१. पारमात्मभक्ति और २. शास्त्रज्ञान। पारमात्मभक्ति के लिये पंच परमेष्ठी का जप, स्मरण और गुणकीर्तन आवश्यक है। उसे ही अपना शरण (अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम) माना जाय। इससे आत्मा में विचित्र प्रकार की शुद्धि आती है। मन और वाणी निर्मल होते हैं। और उनके निर्मल होते ही आत्मा का झुकाव ध्यान की ओर होता है तथा ध्यान के द्वारा उपर्युक्त

१ निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गं द्विधा स्थितः ।

तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

—तत्त्वार्थ सार

२ संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःख परम्परा ।

तस्मात्संयोग सम्बन्धं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥

—सामायिक पाठ

दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग प्राप्त होता है ! परमात्मभक्ति में उन सब मन्त्रों का जाप किया जाता है, जिनमें केवल अर्हत्, केवल सिद्ध, केवल आचार्य, केवल उपाध्याय, केवल मुनि या सभी को स्मरण किया जाता है। आचार्य विद्यानन्द ने लिखा है^१ कि—परमेष्ठी की भक्ति (स्मरण, कीर्तन, ध्यान) से निश्चय ही श्रेयोमार्ग की संसिद्धि होती है। इसी से उसका स्तवन बड़े-बड़े मुनिश्रेष्ठों ने किया है।

इन्द्रियों और मन को वश में करने का दूसरा उपाय श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान सम्यक्शास्त्रों के अनुशीलन, मनन और सतत अध्यास से प्राप्त होता है। वास्तव में जब मन का व्यापार शास्त्रस्वाध्याय में लगा होता है—उसके शब्द और अर्थ के चिन्तन में संलग्न होता है तो वह अन्यत्र नहीं जाता। और जब वह अन्यत्र नहीं जायेगा, तो इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो जावेगी। वस्तुतः इन्द्रियाँ मन के सहयोग से सबल रहती हैं। इसीलिये मन को ही बन्ध और मोक्ष का कारण कहा गया है। शास्त्र-स्वाध्याय मन को नियन्त्रित करने के लिए एक अमोघ उपाय है। इसी से “स्वाध्यायं परमं तपः” स्वाध्याय को परम तप कहा गया है।

ये दो उपाय हैं इन्द्रियों और मन को नियन्त्रित करने के। इनके नियन्त्रित हो जाने पर ध्यान हो सकता है। अन्य सब ओर से चित्त की वृत्तियों को एक विषय में स्थिर करने का नाम ही ध्यान है। चित्त को जब तक एक ओर केन्द्रित नहीं किया जाता तब तक न आत्मदर्शन होता है और न आत्मज्ञान होता है, न आत्मा में आत्मा की चर्चा। और जब तक ये तीनों प्राप्त नहीं होते तब तक दोषों और उनके जनक आवरणों की निवृत्ति सम्भव नहीं। तत्त्वानुशासन में आचार्य रामसेन कहते हैं^२ कि जिस प्रकार सतत अभ्यास से महाशास्त्र भी अभ्यस्त हो जाते हैं उसी प्रकार निरन्तर के ध्यानाभ्यास से ध्यान भी सुस्थिर हो जाता है। वे^३ कहते हैं कि हे योगिन् ! यदि तू संसार बन्धन से छूटना चाहता है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय को ग्रहण करके बन्ध के कारणभूत मिथ्यादर्शनादिक के त्यागपूर्वक निरन्तर सद्ध्यान का अभ्यास कर। ध्यान के अभ्यास की प्रकर्षता से मोह का नाश कर चरमशरीरी योगी तो उसी पर्याय में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, और जो चरमशरीरी नहीं है, वह उत्तम देवादि की आयु प्राप्त कर क्रमशः कुछ भवों में मुक्ति पा लेता है। यह ध्यान का ही अपूर्व माहात्म्य है।^१

निःसन्देह ध्यान एक ऐसा अमोघ प्रयास है जो इस लोक और परलोक दोनों में आत्मा को सुखी बनाता है। यह गृहस्थ और मुनि दोनों के लिये अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार हितकारी है। ध्यान के इस महत्त्व को समझकर उसे अवश्य करना चाहिये। तत्त्वार्थ सूत्र, ज्ञानार्णव आदि में इसका विशेष विवेचन है।

७७

१ श्रेयोमार्गसंसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादीमुनिपुङ्गवाः ॥

२ यथाऽभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि ।

तथा ध्यानमपि स्वैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम् ॥

३ वही, श्लोक २२३, २२४ ।

—आप्तपरीक्षा, का. २१

—तत्त्वानु. ८८

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४६७

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

सती प्रथा और जैनधर्म

—प्रो० सागरमल जैन

(निदेशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी)

'सती' शब्द का अर्थ

'सती' की अवधारणा जैनधर्म और हिन्दूधर्म दोनों में ही पाई जाती है। दोनों में सती शब्द का प्रयोग चरित्रवान स्त्री के लिए होता है।¹ श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन परम्परा में तो आज भी साध्वी/श्रमणी को सती या महासती कहा जाता है। यद्यपि प्रारम्भ में हिन्दू परम्परा में 'सती' का तात्पर्य एक चरित्रवान या शीलवान स्त्री ही था, किन्तु आगे चलकर हिन्दू परम्परा में जबसे सती प्रथा का विकास हुआ, तब से यह 'सती' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। सामान्यतया हिन्दूधर्म में 'सती' शब्द का प्रयोग उस स्त्री के लिए होता है जो अपने पति की चिता में स्वयं को जला देती है।² अतः हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि जैनधर्म की 'सती' की अवधारणा हिन्दू परम्परा की सतीप्रथा से पूर्णतः भिन्न है। यद्यपि जैनधर्म में 'सती' एवं 'सतीत्व' को पूर्ण सम्मान प्राप्त है किन्तु उसमें सतीप्रथा का समर्थन नहीं है।

जैनधर्म में प्रसिद्ध सोलह सतियों के कथानक उपलब्ध है और जैनधर्मानुयायी तीर्थंकरों के नाम स्मरण के साथ इनका भी प्रातःकाल नाम स्मरण करते हैं—

ब्राह्मी चन्दनबालिका, भगवती राजीमती द्रौपदी ।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा ॥
कुन्ती शीलवती नलस्यदयिता चूला प्रभावत्यपि ।
पद्मावत्यपि सुन्दरी प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥³

इन सतियों के उल्लेख एवं जीवनवृत्त जैनागमों एवं आगमिक व्याख्या साहित्य तथा प्राचीन जैनकाव्यों एवं पुराणों में मिलते हैं।⁴ किन्तु उनके जीवनवृत्तों से ज्ञात होता है कि इनमें से एक भी ऐसी नहीं है, जिसने पति की मृत्यु पर उसके साथ चिता में जलकर उसका अनुगमन किया हो, अपितु ये उन वीरांगनाओं के चरित्र हैं जिन्होंने अपने शील रक्षा हेतु कठोर संघर्ष किया और या तो साध्वी

१ देखें—संस्कृत-हिन्दी कोश (आष्टे) पृ० १०६२ २ देखें—हिन्दू धर्म कोश (राजवली पाण्डेय) पृ. ६४६

३ जैन सिद्धान्त बोलसंग्रह भाग ५ पृ. १८५

४ ब्राह्मी आदि इन सोलह सतियों के जीवनवृत्त किन आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में है, इसलिए देखें—

(अ) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग ५ पृ० ३७५

(ब) Prakrit Proper Names, part I and II

सम्बन्धित नाम के प्राकृतरूपों के आधार पर देखिये ।

जीवन स्वीकार कर भिक्षुणी संघ में प्रविष्ट हो गई या फिर शीलरक्षा हेतु मृत्यु अपरिहार्य होने की स्थिति में मृत्युवरण कर लिया। आगमिक व्याख्या साहित्य में दधिवाहन की पत्नी एवं चन्दना की माता धारिणी आदि कुछ ऐसी स्त्रियों के उल्लेख हैं जिन्होंने अपने सतीत्व अर्थात् शील की रक्षा के लिए देहोत्सर्ग कर दिया।^१ अतः जैनधर्म में सती स्त्री वह नहीं जो पति की मृत्यु पर उसकी चिंता में जलकर उसका अनुगमन करती है अपितु वह है जो कठिन परिस्थितियों में अपनी शीलरक्षा का प्रयत्न करती है और अपने शील को खण्डित नहीं होने देती है, चाहे इस हेतु उसे देहोत्सर्ग ही क्यों न करना पड़े।

सती प्रथा के औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न

सतीप्रथा के औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न एक बहुचर्चित और ज्वलन्त प्रश्न के रूप में आज भी उपस्थित है। निश्चित ही यह प्रथा पुरुष-प्रधान संस्कृति का एक अभिषिष्ट-परिणाम है। यद्यपि इतिहास के कुछ विद्वान, इस प्रथा के प्रचलन का कारण मुस्लिमों के आक्रमणों के फलस्वरूप नारी में उत्पन्न असुरक्षा की भावना एवं उसके शील-भंग हेतु बलात्कार की प्रवृत्ति को मानते हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में इस प्रथा के बीज और प्रकारान्तर से उसकी उपस्थिति के प्रमाण हमें अति प्राचीनकाल से ही मिलते हैं। सती प्रथा के मुख्यतः दो रूप माने जा सकते हैं, प्रथम रूप जो इस प्रथा का वीभत्स रूप है इसमें नारी को उसकी इच्छा के विपरीत पति के शव के साथ मृत्युवरण को विवश किया जाता है। दूसरा रूप वह है जिसमें पति की मृत्यु पर भावुकतावश स्त्री स्वेच्छा से पति के प्रति अपने अनन्य प्रेम के कारण मृत्यु का वरण करती है। कभी-कभी वह इसलिए भी पति की चिंता पर अपना देहात्सर्ग कर देती है कि भावी जन्म में उसे पुनः उसी पति की प्राप्ति होगी। जैनाचार्यों ने सती-प्रथा के इन रूपों को उचित नहीं माना है। किन्तु इन रूपों से भिन्न एक ऐसा भी रूप है जिसे जैनाचार्यों ने उचित माना है जिसमें स्त्री-मात्र अपने शील की रक्षा के लिए पति के जीवित रहते हुए या पति की मृत्यु के उपरान्त मृत्यु का वरण कर देहोत्सर्ग कर देती है।^२

उपर्युक्त स्थितियों में जहाँ तक पति के स्वर्गवास के पश्चात् उसकी पत्नी को उसकी इच्छा के बिना मात्र इस विचार से कि परलोक में वह उसे उपलब्ध होगी उसके साथ दफना देने या जला देने की प्रथा का प्रश्न है, यह अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है। मिस्र में भी इस प्रथा के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, यह पुरुष-प्रधान संस्कृति का सर्वाधिक घृणित रूप था, जिसमें स्त्री मात्र पुरुष के उपभोग की वस्तु थी और उसके उपभोग की अन्य वस्तुओं के समान उसे भी उसके साथ दफनाना आवश्यक माना जाता था। जहाँ तक जैनधर्म और उसके साहित्य का प्रश्न है, हमें ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है, जहाँ इस प्रथा का उल्लेख और इसे अनुमोदन प्राप्त हो। यद्यपि जैनकथा साहित्य में ऐसे उल्लेख अवश्य मिलते हैं, जिसमें एक भव के पति-पत्नी अनेक भवों तक पति-पत्नी के रूप में एक दूसरों को उपलब्ध होते रहे हैं, किन्तु किसी भी घटना में ऐसा उल्लेख मुझे देखने को नहीं मिला, जहाँ मात्र इसी प्रयोजन से स्त्री के द्वारा मृत्युवरण किया गया हो और जिसका जैनाचार्यों ने अनुमोदन किया हो। अतः सतीप्रथा का यह रूप जैनधर्म में कभी मान्य नहीं रहा।

१ आवश्यकचूर्णि भाग १ पृ. ३२०

२ देखें—(अ) हिन्दूधर्म कोश पृ. ६४६

(ब) धर्मशास्त्र का इतिहास (डा० काणे) भाग २ पृ. ३८८

जहाँ तक स्वेच्छा से, असुरक्षा का अनुभव करके या पति के प्रति अनन्य प्रेमवश पति की मृत्यु पर उसका सहगमन का प्रश्न है—जैन साहित्य में सर्वप्रथम निशीथचूर्णि (७ वीं शताब्दी) में हमें एक उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार सोधारक के एक राजा ने करापवंचन के अपराध में नगर के पाँच सौ व्यापारियों को जीवित जला देने का आदेश दिया, उनकी पत्नियाँ भी अपने पतियों का अनुसरण करते हुए जलकर मर गईं^१। यद्यपि जिनदास गणि महत्तर इस घटना का विवरण प्रस्तुत करते हैं, किन्तु वे किसी भी रूप में इसका अनुमोदन नहीं करते हैं। यद्यपि इस कथानक से इतना अवश्य फलित होता है कि यह सतीप्रथा भारत में मुस्लिम शासकों के आक्रमण के पूर्व भी अस्तित्व में थी, वैसे हमें ७वीं शती के पूर्व निर्मित हिन्दू पौराणिक साहित्य में ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जहाँ पत्नी-पति की मृत्यु पर उसकी चिता में जलकर सहगमन करती है।^२ अतः जैन स्रोतों से भी इतना तो निश्चित हो जाता है कि यह प्रथा मुस्लिम शासकों के पूर्व भी अपना अस्तित्व रखती थी—इतना अवश्य हुआ कि मुस्लिम शासकों के आक्रमण और नारी जाति के प्रति उनके और उनके सैनिकों के दुर्व्यवहार से नारी में असुरक्षा की भावना बढ़ती गयी एवं अपनी शील-रक्षा का प्रश्न उसके सामने गम्भीर बनता गया।^३ फलतः भारतीय मानस सतीप्रथा का समर्थन करने लगा और नारी ने पति की मृत्यु के पश्चात् दूसरों की भोगलिप्सा का शिकार होकर नारकीय जीवन जीने की अपेक्षा मृत्यु-वरण को श्रेष्ठ मान लिया।

फिर भी जैनाचार्यों ने कभी भी इस प्रथा का समर्थन नहीं किया—उनके अनुसार यदि स्त्री को पति की मृत्यु के पश्चात् मरने को विवश किया जाता है तो यह कृत्य पंचेन्द्रिय मनुष्य की हत्या का बर्बर कृत्य ही माना जायेगा अतः वह कृत्य धार्मिक या धर्मसम्मत कृत्य नहीं है अपितु महापातक ही है और मारने वाला उस पाप का दोषी है। यदि दूसरी ओर स्त्री स्वेच्छा से असुरक्षा की भावनावश या अनन्य प्रेमवश मृत्यु का वरण करती है तो उसका यह कृत्य रागयुक्त होने के कारण आत्महत्या की कोटि में जाता है, यह आत्म-हिंसा है अतः यह भी पापकर्म है। पुनः जैनधर्म की मान्यता है कि परलोक में व्यक्ति को कौनसी योनि मिलेगी यह तो उसके कर्मों (सदाचरण या दुराचरण) पर निर्भर करती है, पति की मृत्यु पर उसका सहगमन करने पर अनिवार्य रूप से पतिलोक की प्राप्ति हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः इस भावना से कि सती होकर वह स्त्री पतिलोक को प्राप्त होगी, स्त्री का पति की चिता पर जलाया जाना या जलना जैनधर्म की दृष्टि से न तो धार्मिक है और न नैतिक ही। इसके विपरीत डा० जगदीश चन्द्र जैन की सूचनानुसार महानिशीथ (वर्तमान स्वरूप ईस्वी सन् २वीं शती के पूर्व) में एक उल्लेख आता है कि राजा की एक विधवा कन्या सती होना चाहती थी, किन्तु उसके पितृकुल में इस प्रकार की परम्परा नहीं थी अतः उसने अपना विचार त्याग दिया।^४ इस घटना के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है,

१ तैसि पंच महिलासताइं ताणि वि अग्निं पावट्ठाणि ।

—निशीथचूर्णि भाग ४ पृ० १४

—बृहदकल्पभाष्य वृत्ति भाग ३ पृ० २०८

२ देखें—(अ) विष्णुधर्मसूत्र २५।१४ उद्धृत हिन्दूधर्मकोश पृ० ६४६

(ब) उत्तररामायण १७।१५ " " "

(स) महाभारत आदिपर्व ६५।६५ " " "

(द) महाभारत मौसलपर्व ७।१८, ७।७३-८४ " " "

३ देखें—हिन्दू धर्म कोश पृ. ६५०

४ महानिशीथ पृ० २६ देखें—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ. २७१

उस युग में सम्पूर्ण समाज में सती होने की परम्परा नहीं थी अपितु राजकुलों में भी केवल कुछ ही राजकुलों में ऐसी परम्परा थी ।

श्री अगरचन्दजी नाहटा ने भी पट्टावलियों के आधार पर यह उल्लेख किया है कि श्री जिनदत्त सुरि (ई० सन् ११ शती) ने जब वे झंझुणु (राज०) में थे श्रीमाल जाति की एक बालविधवा को उपदेश देकर सती होने से रोका और उसे जैनसाध्वी की दीक्षा प्रदान की ।^१ इसी प्रकार १७वीं शती के सन्त आनन्दघन ने भी सती प्रथा की आलोचना करते हुए ऋषभदेव स्तवन में लिखा है कि परलोक में पति मिलेगा इस आकांक्षा से स्त्री अग्नि में जल जाती है, किन्तु यह मिलाप सम्भव नहीं होता है ।^२ अतः पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा देहोत्सर्ग कर देना जैनधर्म में कभी भी अनुमोदित नहीं था ।

किन्तु दोनों रूपों से भिन्न अपने शील की रक्षा के लिये देहोत्सर्ग कर देना सतीत्व का एक ऐसा भी रूप है जिसे जैनाचार्यों ने मान्यता दी है । उनके अनुसार चाहे पति जीवित हो या उसका स्वर्गवास हो चुका हो यदि स्त्री इस स्थिति में आ गई है कि शीलरक्षा हेतु मृत्युवरण के अतिरिक्त उसके सामने अन्य कोई विकल्प ही नहीं रह गया है, तो ऐसी स्थिति में अपने शील की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना ही श्रेयस्कर है । जैनाचार्य मात्र ऐसी स्थिति में ही स्त्री के मृत्युवरण को नैतिक एवं धार्मिक मानते हैं । जैनाचार्यों की दृष्टि में पतिव्रता होना स्त्री के लिये अति आवश्यक है, किन्तु पतिव्रता होने का यह अर्थ नहीं है कि वह पति की मृत्यु होने पर स्वयं भी मृत्यु का वरण करे, उनकी दृष्टि में पतिव्रता होने का अर्थ है शीलवान या चारित्रवान होना और पति की मृत्यु होने पर पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना । पति की मृत्यु पर स्त्री का प्रथम कर्तव्य होता था कि वह संयम-पूर्ण जीवन जीते हुए अपनी सन्तान का पालन-पोषण करे—जैसा कि राजगृही की भद्रा सार्थवाही ने किया था अथवा सन्तान के योग्य हो जाने पर चारित्र (दीक्षा) ग्रहण कर साध्वी का जीवन व्यतीत करे ।^३ प्राचीन जैनाचार्यों ने सदैव ही पति की चिता पर जलने के स्थान पर श्रमणी बनने पर बल दिया । प्राचीन जैन कथा साहित्य में हमें अनेकों ऐसे कथानक मिलते हैं जहाँ स्त्रियाँ श्रमण जीवन अंगीकार कर लेती हैं । जहाँ महाभारत एवं अन्य हिन्दू पुराणों में कृष्ण की पत्नियों के सती होने के उल्लेख हैं ।^४ वहाँ जैन साहित्य में उनके साध्वी होने के उल्लेख हैं ।^५ हिन्दू परम्परा में सत्यभामा को छोड़कर कृष्ण की शेष पत्नियाँ सती हो जाती हैं, सत्यभामा वन में तपस्या के लिए चली जाती है, जबकि जैन परम्परा में कृष्ण की सभी पटरानियाँ श्रमणी बन जाती हैं । हिन्दू कथाओं में सीता पृथ्वी में समा जाती है, जैन कथा में लव-कुश के युवा हो जाने पर वह श्रमणी बन जाती है ।^६ ये कथाएँ चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से काल्पनिक हों किन्तु इनसे जैनाचार्यों के दृष्टिकोण का पता तो चल ही जाता है कि वे सती प्रथा के समर्थक नहीं थे ।

१ बोकानेर जैन लेख संग्रह—सूमिका पृ० ६५ की पाद टिप्पणी

२ कई कंतकारण काष्ठ भक्षण करै रे, मिलसुं कंत न धाय ।

ए मेलो नवि कइयइ सम्भवै रे, मेलो ठाम न ठाय ।

—आनन्दघन चौबीसी—श्री ऋषभदेव स्तवन

३ आवश्यकचूर्ण भाग १ पृ० ३७०

४ (अ) महाभारत, मौसलपर्व ७।१३-७४, विष्णुपुराण ५।३।२।

(ब) धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, भाग १, पृ० ३४८

५ अन्तकृतदण्ड के पंचम वर्ग में कृष्ण की ८ रानियों के तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समीप दीक्षित होने का उल्लेख है ।

६ पउमचरियं १०३।१६५-१६६

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४७१

जैनधर्म में सती प्रथा के विकसित नहीं होने के कारण

जैनधर्म में सतीप्रथा के विकसित [नहीं] होने का सबसे प्रमुख कारण जैनधर्म में भिक्षुणी संघ का अस्तित्व ही है। वस्तुतः पति की मृत्यु के पश्चात् किसी स्त्री के सती होने का प्रमुख मनोवैज्ञानिक कारण असुरक्षा एवं असम्मान की भावना है। जैनधर्म में पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री को अधिकार है कि वह सन्तान की समुचित व्यवस्था करके भिक्षुणी बनकर संघ में प्रवेश ले ले और इस प्रकार अपनी असुरक्षा की भावना को समाप्त कर दे। इसके साथ ही सामान्यतया एक विधवा हिन्दू समाज से तिरस्कृत समझी जाती थी, अतः उस तिरस्कारपूर्ण जीवन जीने की आशंका से वह पति के साथ मृत्यु का वरण करना ही उचित मानती है। जैनधर्म में कोई भी स्त्री जब भिक्षुणी बन जाती है तो वह समाज में आदरणीय बन जाती है। इस प्रकार जैनधर्म भिक्षुणी संघ की व्यवस्था करके स्त्री को पति की मृत्यु के पश्चात् भी सम्मानपूर्वक जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

स्त्री द्वारा पति की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति में अधिकार न होने से आर्थिक संकट भी हिन्दू नारी की एक प्रमुख समस्या है जिससे बचने के लिए स्त्री सती होना पसन्द करती है। श्रमणी जीवन में जैन नारी सम्मानजनक रूप से भिक्षा प्राप्त करके आर्थिक संकट से भी बच जाती थी, साथ ही जैनधर्म हिन्दूधर्म के विरुद्ध सम्पत्ति पर स्त्री के अधिकार को मान्य करता है। जैनग्रन्थों भद्रा आदि सार्थवाहियों का उल्लेख मिलता है, जो पति के स्वर्गवास के पश्चात् अपने व्यवसाय का संचालन स्वयं करती थीं। अतः यह स्वाभाविक था कि जैनस्त्रियाँ वैधव्य के कारण न असम्मानित होती थीं और न असुरक्षित ही। यही कारण था कि जैनधर्म में सती प्रथा को विकसित होने के अवसर ही नहीं मिले।

यद्यपि प्रो० काणे^१ ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में सती प्रथा के कारणों का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि बंगाल में मेघातिथि स्त्री को पति की सम्पत्ति का अधिकार मिलने के कारण ही सतीप्रथा का विकास हुआ, किन्तु यदि यह सत्य माना जाये तो फिर जैनधर्म में भी सतीप्रथा का विकास होता था किन्तु जैनधर्म में ऐसा नहीं हुआ। स्त्री को सम्पत्ति का अधिकार मिलने की स्थिति में हिन्दू धर्म में स्त्री स्वयं सती होना नहीं चाहती थी अपितु सम्पत्ति लोभ के कारण परिवार के लोगों द्वारा उसे सती होने को विवश किया जाता है किन्तु अहिंसा प्रेमी जैनधर्मानुयायियों की दृष्टि में सम्पत्ति पाने के लिए स्त्री को आत्मबलिदान हेतु विवश करना उचित नहीं था, यह तो स्पष्ट रूप से नारी हत्या थी। अतः सम्पत्ति में विधवा के अधिकार को मान्य करने पर भी अहिंसा प्रेमी जैनसमाज सतीप्रथा जैसे अमानवीय कार्य का समर्थन नहीं कर सका। दूसरे, यह कि यदि वह स्त्री स्वेच्छा से दीक्षित हो जाती थी तो भी उन्हें सम्पत्ति का स्वामित्व तो प्राप्त हो ही जाता था। अतः जैनधर्म में सामान्यतया सतीप्रथा का विकास नहीं हुआ अपितु उसमें स्त्री को श्रमणी या साध्वी बनने को ही प्रोत्साहित किया गया। जैनधर्म में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा के लिए भिक्षुणी संघ का सम्मानजनक द्वार सदैव खुला हुआ था। जहां वह सुरक्षा और सम्मान के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास भी कर सकती थी। अतः जैनाचार्यों ने विधवा, परित्यक्ता एवं विपदाग्रस्त नारी को भिक्षुणी संघ में प्रवेश हेतु प्रेरित किया, न कि सती होने के लिए। यही कारण था कि जैनधर्म में प्राचीन काल से लेकर आज तक श्रमणियों या भिक्षुणियों की संख्या भिक्षुओं की अपेक्षा बहुत अधिक रही है। यह अनुपात १ : ३ का रहता आया है।^२

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, भाग १ पृ० ३५२

२. कल्पसूत्र, १३४

पुनः जैनधर्म में संलेखना (समाधिमरण) की परम्परा भी प्रचलित थी। अतः विधवा स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी तप-त्यागपूर्वक जीवन बिताते हुए अन्त में संलेखना ग्रहण कर लेती थीं। वस्तुपाल प्रबन्ध में वस्तुपाल की पत्नी ललितादेवी और तेजपाल की पत्नी अनुपमा देवी द्वारा अपने पतियों के स्वर्गवास के पश्चात् गृहस्थ जीवन में बहुत काल तक धर्मारोधन करते हुए अन्त में अनशन द्वारा देहत्याग के उल्लेख हैं। किन्तु यह देहोत्सर्ग भी पति की मृत्यु के तत्काल पश्चात् न होकर वृद्धावस्था में यथासमय ही हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि जैनधर्म में सती प्रथा का कोई स्थान नहीं रहा है।

परवर्तीकाल में जैनधर्म में सतीप्रथा का प्रवेश

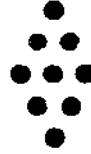
यद्यपि धार्मिक दृष्टि से जैनधर्म में सतीप्रथा को समर्थन और उसके उल्लेख प्राचीन जैन धार्मिक ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं। किन्तु सामाजिक दृष्टि से जैन समाज भी उसी बृहद् हिन्दू समाज से जुड़ा हुआ था जिसमें सती प्रथा का प्रचलन था। फलतः परवर्ती राजपूत काल के कुछ जैन अभिलेख ऐसे हैं जिनमें जैन समाज की स्त्रियों के सती होने के उल्लेख हैं। ये सहवर्ती हिन्दू समाज का प्रभाव ही था जो कि विशेषतः राजस्थान के उन जैनपरिवारों में था जो कि निकट रूप से राज-परिवार से जुड़े हुए थे।

श्री अगरचन्दजी नाहटा ने अपने ग्रन्थ बीकानेर जैन लेख संग्रह में जैनसती स्मारकों का उल्लेख किया है।^१ वे लिखते हैं कि जैनधर्म की दृष्टि से तो सती-दाह मोहजनित एवं अज्ञानजनित आत्मघात ही है, किन्तु स्वयं क्षत्रिय होने से वीरोचित जाति-संस्कारवश, वीर राजपूत जाति के घनिष्ठ सम्बन्ध में रहने के कारण यह प्रथा ओसवाल जाति (जैनों की एक जाति) में भी प्रचलित थी। नाहटाजी ने केवल बीकानेर के अपने अन्वेषण में ही २८ ओसवाल सती स्मारकों का उल्लेख किया है। इन लेखों में सबसे प्रथम लेख वि० सं० १५५० का और सबसे अन्तिम लेख वि० सं० १८६६ का है। वे लिखते हैं कि बीकानेर राज्य की स्थापना से प्रारम्भ होकर जहाँ तक सती प्रथा थी वह अविच्छिन्न रूप से जैनों में भी जारी थी। यद्यपि इन सती स्मारकों से यह निष्कर्ष निकाल लेना कि सामान्य जैन समाज में यह सती प्रथा प्रचलित थी उचित नहीं होगा। मेरी दृष्टि में यह सती प्रथा केवल उन्हीं जैनपरिवारों में प्रचलित रही होगी जो राज-परिवार से निकट रूप से जुड़े हुए थे। बीकानेर के उपर्युक्त उल्लेखों के अतिरिक्त भी राजस्थान में अन्यत्र ओसवाल जैनसतियों के स्मारक थे। श्री पूर्णचन्द्र नाहर ने भामाशाह के अनुज ताराचन्दजी कापड़िया के स्वर्गवास पर उनकी ४ पत्नियों के सती होने का सादरी के अभिलेख का उल्लेख किया है।^२ स्वयं लेखक को भी अपने गोत्र के सती-स्मारक की जानकारी है। अपने गोत्र एवं वंशज लोगों के द्वारा इन सती स्मारकों की पूजा, स्वयं लेखक ने भी होते देखी है। अतः यह स्वीकार तो करना होगा कि जैनपरम्परा में भी उधर मध्यकाल में सती प्रथा का चाहे सीमित रूप में ही क्यों न हो किन्तु प्रचलन अवश्य था। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह प्रथा जैनधर्म एवं जैनाचार्यों के द्वारा अनुशंसित थी, क्योंकि हमें अभी तक ऐसा कोई भी सूत्र या संकेत उपलब्ध नहीं है जिसमें किसी जैन ग्रन्थ में किसी जैनाचार्य ने इस प्रथा का समर्थन किया हो। जैन ग्रन्थ और जैनाचार्य तो सदैव ही विधवाओं के लिए भिक्षुणी संघ में प्रवेश की अनुशंसा करते रहे हैं। अतः परवर्ती काल के जो सती स्मारक सम्बन्धी जैन अभिलेख मिलते हैं वे केवल इस तथ्य के सूचक हैं कि सह-

१ बीकानेर जैन लेख संग्रह—भूमिका पृ० ६४-६६

वर्ती हिन्दू परम्परा के प्रभाव के कारण विशेष रूप से राजस्थान की क्षत्रिय परम्परा के ओसवाल जैन समाज में यह प्रथा प्रवेश कर गई थी। और जिस प्रकार कुलदेवी, कुलभैरव आदि की पूजा लौकिक दृष्टि से जैनधर्मानुयायियों द्वारा की जाती थी उसी प्रकार सती स्मारक भी पूजे जाते थे। राजस्थान में बीकानेर से लगभग ४० किलोमीटर दूर मोरखना सुराणी माता का मन्दिर है। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा धर्मघोषगच्छीय पद्मार्णदसूरि के पट्टधर नदिवर्धनसूरि द्वारा हुई थी। ओसवाल जाति के सुराणा और दुग्गड़ गोत्रों में इसकी विशेष मान्यता है। सुराणी माता सुराणा परिवार की कन्या थी जो दूग्गड़ परिवार में ब्याही गई थी। यह सती मन्दिर ही है। फिर भी इस प्रकार की पूजा एवं प्रतिष्ठा को जैनाचार्यों ने लोकपरम्परा ही माना था, आध्यात्मिक धर्मसाधना नहीं। बीकानेर के सती स्मारक में दो स्मारक माता सतियों के हैं, इन्होंने पुत्रप्रेम में देहोत्सर्ग किया था, जो एक विशिष्ट बात है।

अतः निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि जैनधर्म में धार्मिक दृष्टि से सती प्रथा को कोई प्रश्रय नहीं मिला क्योंकि वे सभी कारण जो सती प्रथा के प्रचलन में सहायक थे जैन-जीवन दृष्टि और संघ व्यवस्था के आधार पर और जैनधर्म में भिक्षुणी संघ की व्यवस्था से निरस्त हो जाते थे।



(शेष पृष्ठ ४६४ का)

(१३) णमोकार मन्त्र में उल्लिखित अर्हन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय और साधु सभी सर्वोदयी हैं। धर्म-तीर्थ-प्रेमी है। पाँच पद उनके सर्वोदयी होने के कारण है। जैसे लोग एक सत्य को अनेक प्रकार से कहते हैं, जैसे एक व्यक्ति अन्य जनों से अनेक प्रकार सम्बन्धों की स्थापना किये है वैसे साधु, उपाध्याय, आचार्य, अर्हन्त, सिद्ध सभी उत्तरोत्तर उत्कर्ष लिए हैं। इनके अनुयायी जो श्रद्धा-ज्ञान-क्रियावान भावक हैं, वे भी सर्वोदयी विचारधारा लिये हैं। जैसे णमोकार मन्त्र व्यक्ति विशेष के लिये नहीं है। वैसे ही आचार्य मानतुंग का भक्तामर काव्य भी किसी विशेष एक व्यक्ति के लिये नहीं है। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, कर्मवाद, स्याद्वाद, अनीश्वरवाद, विश्वबन्धुत्ववाद भी किसी एक के लिये नहीं बल्कि अनेक के लिये है। जैनधर्म के सिद्धान्तों में सर्वत्र सर्वोदय की गूँज थी, है और रहेगी। आज इतना ही मुझे प्रस्तुत निबन्ध में लिखना है।



- * विचार
- * अनुभूतियां
- * प्रवचन आदि



॥ ७ ॥

“विचार-मन्थन” सातवां खण्ड अपने आप में एक अद्भुत रोचकता, नवीनता और बोधशीलता लिए हुए है। पूज्य गुरुणी जी महासती कुसुमवती जी के अभिनन्दन-ग्रन्थ में उनके विचार-चिन्तन का आस्वाद न मिले, उनके प्रेरक प्रवचनों की प्रेरणा न पाये तो यह ग्रन्थ-आयोजन अपने आप में अपूर्णता प्रकट न करेगा? इस अपूर्णता की परिपूर्णाता का प्रयास है. इस खण्ड में।

पूज्य गुरुणी जी की विदुषी शिष्या डा० साध्वी दिव्य प्रभा जी आदि द्वारा संकलित/संग्रहीत/संपादित पूज्य महासती जी के विचार - मन्थन से प्राप्त नवनीत यहाँ सर्वसाधारण के लिए सुलभ है।

१. साधना का सार-तत्व-समता

मध्याह्न का समय था। चिलचिलाती धूप चारों ओर फैली हुई थी। जमीन आग उगल रही थी। गर्म-गर्म हवा चल रही थी। एक श्रेष्ठी के द्वार पर एक भिक्षुक जाकर खड़ा हुआ। भिक्षुक की श्याम वेशभूषा को देखकर श्रेष्ठी विस्मय-विमुग्ध मुद्रा में बोला—आपने ये श्याम वस्त्र क्यों धारण किये हैं? श्याम वस्त्र शोक के प्रतीक होते हैं इसी-लिए राजस्थान के किन्हीं-किन्हीं प्रान्तों में विधवा बहनें ये वस्त्र धारण करती हैं। क्या आपका भी कोई स्नेही मर गया है? जिस कारण आपने यह अनोखी वेशभूषा धारण की है।

संन्यासी ने मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा—श्रेष्ठी प्रवर! मेरे अत्यन्त स्नेही मित्रों की मृत्यु हो गयी है, जिनके साथ मैं दीर्घकाल तक रहा।

श्रेष्ठी ने साश्चर्य पूछा—आपके किन मित्रों की मृत्यु हो गयी? आप तो सन्त हैं! सन्त के तो संसार के सभी प्राणी मित्र होते हैं! वे विशेष मित्र कौन थे आपके?

संन्यासी ने गम्भीर मुद्रा में कहा—मेरे चिर साथी थे—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष। जिनके साथ मैं अनन्त काल तक रहा। प्रत्येक जीवयोनि में वे मित्र मेरे साथ रहे। पर अब उनकी मृत्यु हो जाने से मैंने ये श्याम वस्त्र धारण किये हैं। ये श्याम वस्त्र उनके वियोग के प्रतीक हैं।

सेठ ने सुना, उसे आश्चर्य हुआ कि संन्यासी अपनी प्रशंसा कर रहा है। यह अतिशयोक्तिपूर्ण बात है। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ की मृत्यु होना कभी सम्भव नहीं। जब तक परीक्षण प्रस्तर पर इसे कसा न जाये, तब तक कैसे पता लग सकता है कि काम, क्रोध, मद, मोह की मृत्यु हो गई है।

श्रेष्ठी ने क्रोध की मुद्रा बनाते हुए कहा—अरे

भिखमंगे! तू इस समय कहाँ से चला आया? हट्टे-कट्टे हो तो भी तुम्हें भीख माँगते हुए शर्म नहीं आती? चले जाओ यहाँ से।

सेठ की फटकार को सुनकर संन्यासी ने शान्त-मुद्रा में देहरी से बाहर कदम बढ़ाया कि श्रेष्ठी ने पुनः आवाज दी। बाबा कहाँ जाते हो? आओ बैठो, कुछ बात करेंगे। संन्यासी प्रसन्न मुद्रा में लौट आया और ज्यों ही लौटकर वह आया त्यों ही सेठ ने कहा—निर्लज्ज! शर्म नहीं आती तुझे? पुनः चला आया, चला जा यहाँ से। संन्यासी पुनः उलटते पैरों लौट गया। दो कदम आगे बढ़ा ही था कि पुनः सेठ ने आवाज दी। अरे! बिना भिक्षा लिये कहाँ जा रहा है? आ, भिक्षा लेकर के जाना। संन्यासी पुनः चला आया। सेठ ने अपने नौकर को आवाज दी। यह भिखमंगा मान नहीं रहा है। सुबह से ही इसने मेरा मूड बिगाड़ दिया। आओ, धक्का देकर इसे मकान के बाहर निकाल दो। सेठ की आवाज सुनते ही नौकर आया और संन्यासी को धक्का देकर और घसीट का बाहर निकाला। संन्यासी गिरते-गिरते बचा।

श्रेष्ठी ने संन्यासी के चेहरे को देखा वही प्रसन्नता, वही मधुर मुस्कान उसकी मुखमुद्रा पर अठथेलियाँ कर रही है। श्रेष्ठी अपने स्थान से उठा और संन्यासी के चरणों में गिर पड़ा।

उसने निवेदन किया—मेरे अपराध को क्षमा करें। मैंने परीक्षा के लिए आपका अनेक बार अपमान किया। कठोर शब्दों में प्रताड़ना दी, पर आप बिना किसी प्रतिक्रिया के घर में आये और बिना किसी प्रतिक्रिया के लौट गये। आपके चेहरे पर एक क्षण भी क्रोध की रेखा उभरी नहीं और न मान का सर्प ही फुफकारें मारने लगा। आपने

जो बात कही कि मेरे मित्र मर गये हैं। बिल्कुल सही है। धन्य हैं आपकी सहिष्णुता को, क्षमा को। आप परीक्षा की कसौटी पर खरे उतरे हैं।

संन्यासी ने मुस्कराते हुए कहा—सेठ! आप निरर्थक प्रशंसा के पुल बांध रहे हैं। मैंने कोई बड़ी बात नहीं की है। यह बात तो एक कुत्ता भी करता है। उसे घर से निकालो, वह निकल जायेगा और तू-तू कर उसे बुलाओ तो वह पुनः चला आयेगा। मैं कुत्ते से तो गया गुजरा नहीं हूँ। आपने निकल जाने के लिए कहा, मैं चला गया और आपने पुनः बुलाया तो आ गया।

प्रस्तुत प्रसंग हमें चिन्तन करने के लिए उत्प्रेरित करता है कि क्षमा की बात करना सरल है, पर समय पर यदि कोई हमारा तिरस्कार करता है उस समय क्रोध न आये यह सबसे बड़ी बात है। क्रोध और मान दोनों सहचर हैं। जरा सा अपमान होने पर इन्सान अपने आप पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। उसका अहंकार गरज उठता है कि मैं कौन हूँ? क्या तुम मुझे नहीं जानते? मैं तुम्हें ऐसा छठी का दूध पिलाऊँगा कि तुम जीवन भर याद करोगे।

जैनधर्म ने धर्म के दस प्रकार बताये हैं। ठाणांग सूत्र के दसवें स्थान में उन दस धर्मों का उल्लेख हुआ है। द्वादश अनुप्रेक्षा में आचार्य कुन्दकुन्द ने भी उन दस धर्मों का वर्णन किया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में, आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में, नेमिचन्द्र सूरि ने प्रवचनसारोद्धार में, जिनदासगणि महत्तर ने आवश्यकचूर्ण में उन दस धर्मों का उल्लेख किया है। कुछ क्रम भेद रहा है वर्णन करने में, पर सभी में एक स्वर से क्षमा को प्रथम धर्म माना है।

क्षमा धर्म का प्रवेश द्वार है। किसी व्यक्ति को किसी मकान में प्रवेश करना है तो मुख्य द्वार से प्रवेश करता है। वैसे ही क्षमा धर्म का प्रवेश द्वार है बिना क्षमा के धर्म में प्रवेश नहीं होता। क्षमा करना कायरों का काम नहीं, जो वीर होते हैं वे ही क्षमा कर सकते हैं।

जैन साहित्य में वर्णन है कि अढ़ाई द्रोप के बाहर एक अष्टापद नाम का पक्षी होता है। अन्य पक्षियों की तरह वह जमीन पर या वृक्ष पर किसी घोंसले में बच्चा नहीं देता। अनन्त आकाश में उड़ान भरते समय ही भारण्ड पक्षी की मादा बच्चा देती है और वह बच्चा जब जमीन पर गिरता है तो चुम्बक की तरह जंगल में रहे हुए बारह हाथियों को अपनी ओर खींच लेता है और बारह हाथियों को लेकर आकाश में उड़ जाता है ऐसा वीर होता है वह अष्टापद पक्षी। जन्मते हुए बालक में जब इतनी अपार शक्ति होती है तो युवावस्था में उसमें कितनी शक्ति हो सकती है। यह हम सहज कल्पना कर सकते हैं। ऐसे वीर अष्टापद पक्षी यदि दस लाख एकत्रित किये जायँ उतनी शक्ति होती है बलदेव में और बीस लाख अष्टापद पक्षी की शक्ति होती है वासुदेव में और चालीस लाख अष्टापद पक्षी की शक्ति होती है एक चक्रवर्ती में। तीनों कालों के चक्रवर्तियों को मिलाने पर जितनी शक्ति होती है उतनी शक्ति एक देव में होती है और तीनों काल के देवों की शक्ति मिलाने पर जो शक्ति होती है उतनी शक्ति होती है एक इन्द्र में और तीनों कालों के इन्द्रों की शक्ति मिलाने पर उससे भी अधिक शक्ति तीर्थंकर अरिहंत की एक अंगुली में होती है। अरिहंत 'क्षमाशूर' होते हैं। इसलिए शास्त्रकार ने स्थानांग सूत्र में 'खतिसूरा अरिहंता' कहा है। उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान ने स्पष्ट उद्घोषणा की है कि जो मेधावी पण्डित हैं, वे क्षमा को धारण करते हैं। कुरानशरीफ में भी लिखा है—जो गुस्सा पी जाते हैं और लोगों को माफ कर देते हैं, अल्ला-ताला ऐसी नेकी करने वालों को प्यार करते हैं।

मोहम्मद साहब ने अपनी तलवार की मूठ पर ये चार स्वर्ण वाक्य खुदवाये थे कि १. तेरे साथ यदि कोई अन्याय करे, तो तू उसे क्षमा कर दे। २. काटकर जो अलग कर देता है, उसके साथ मेल कर। ३. बुराई करने वाले के साथ भलाई कर, और ४. सदा सच्ची बात कह, तेरे खिलाफ भी क्यों न हो ?

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि दिनकर ने बहुत ही महत्वपूर्ण बात लिखी है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को
जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दंतहीन
विषहीन विनीत सरल हो।

जहाँ नहीं सामर्थ्य शोध की, क्षमा वहाँ निष्फल है।
गरल घूट पी जाने का विष है वाणी का छल है ॥

जैन आगम साहित्य में ऐसे सैकड़ों प्रसंग हैं जो क्षमा के महत्व को उजागर करते हैं। गजसुकुमाल मुनि जो एकान्त शान्त स्थान पर ध्यानमुद्रा में खड़े थे। सोमिल ने उन्हें देखा और वह क्रोध से तिलमिला उठा। इस दुष्ट ने मेरी पुत्री के साथ विवाह करने का सोचा था पर यह साधु बन गया है। इसने मेरी पुत्री के साथ छल किया है। अब मैं इसे दिखाता हूँ इस छल का चमत्कार। क्रोध से अन्धे बनकर उसने गीली मिट्टी की सिर पर पाल बाँधी और उसमें खैर के अंगारे रख दिये। यदि गजसुकुमाल मुनि आँख उठाकर भी देख लेते तो वह वहीं पर जलकर भस्म हो जाता, पर उस क्षमा के देवता ने क्षमा का जो ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया वह किससे छिपा हुआ है? भैतार्य मुनि की कहानी, आर्य स्कन्दक मुनि का पावन प्रसंग सभी के लिए प्रेरणा स्रोत है जब हम उन पावन प्रसंगों को पढ़ते हैं तब हमारा हृदय श्रद्धा से नत हो जाता है।

हमारे श्रद्धेय सद्गुरुणीजी श्री सोहनकुँवरजी महाराज क्षमा की साक्षात्मूर्ति थे। मैंने अनेकों बार देखा कि कैसा भी कटु से कटु प्रसंग आने पर भी उनका चेहरा गुलाब के फूल की तरह सदा खिला रहता था। कटु बात का भी मधुर शब्दों में उत्तर देती थीं। उनकी सहिष्णुता, नम्रता, सरलता का जब भी स्मरण आता है तब मेरा हृदय श्रद्धा से नत हो जाता है।

हमें जैनधर्म जैसा पवित्र धर्म मिला है इस धर्म का यही पावन सन्देश है कि हम कषाय को कम करें। कषाय भव भ्रमण का कारण है। संन्यासी

की तरह हम भी अनन्त काल के उन मित्रों को, जो हमारे साथ अत्यन्त अविकसित अवस्था निगोद में भी रहे हैं और नरक में भी उन्होंने हमारा साथ नहीं छोड़ा, न देवलोक में ही, वे हमारे से बिछुड़े। मित्र बनकर रहे, पर उन्होंने सदा दुश्मनों का पार्ट अदा किया। लेकिन हम भूल से उन्हें मित्र मानते रहे।

एक बार मुल्ला नसीरुद्दीन मार्ग में बैठे हुए थे। एक व्यक्ति ने नसीरुद्दीन को पूछा कि अमुक गाँव कितना दूर है? नसीरुद्दीन ने कहा—नजदीक भी है और दूर भी है। उसने कहा—तुम तो पहेली बुझा रहे हो। नजदीक भी बता रहे हो और दूर भी। नसीरुद्दीन ने कहा—तुम जिस गाँव की बात कर रहे हो, वह गाँव तो पीछे छूट गया है यदि पीछे लौटोगे तो गाँव नजदीक है और आगे बढ़ोगे तो गाँव दूर होता चला जायेगा। हम भी यदि कषाय के क्षेत्र में पीछे हटेंगे तो मोक्ष दूर नहीं है और यदि आगे बढ़ते चले गये तो मोक्ष दूर होता चला जायेगा। इसलिए हम कषाय से पीछे हटेंगे तो मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। यदि हम कषाय के क्षेत्र में आगे बढ़ते चले गये तो मोक्ष दूर होता चला जायेगा। आपको यह स्मरण होगा कि नमस्कार महामन्त्र के पाँच पद हैं। उन पदों का आचार्यों ने रंग बताया है। नमो अरिहंताणं का रंग श्वेत है। सिद्धाणं का रंग रक्त है। आचार्य का रंग पीत है। उपाध्याय का रंग नीला है और साधु का रंग श्याम है। रंगों की अपनी दुनिया है। श्वेत रंग पवित्रता का प्रतीक है, रक्त रंग अप्रमत्तता का स्रोतक है। यह रंग अतीन्द्रियता की ओर ले जाता है। पीला रंग मन को सक्रिय बनाता है। नीला रंग शान्ति प्रदान करता है तथा श्याम रंग दृढ़ता का प्रतीक है। वह अवशोषक है। इसीलिए श्वेत वस्त्रधारी भ्रमणों का रंग श्याम बताया है। क्योंकि वह कषाय के मित्रों को सदा के लिए मिटाने के लिए उद्यत रहता है और इसीलिए वह प्रबल पुरुषार्थ करता है। हम साधना के क्षेत्र में तभी आगे बढ़ेंगे जब कषाय नष्ट होगा। □

२. अन्तर्यात्रा : एक दृष्टि

प्रथम देवलोक के इन्द्र, 'शक्रेन्द्र' आनन्द विभोर होकर कहने लगे—धन्य है श्रेणिक सम्राट को, जिनके अन्तर्मानस में देव, गुरु और धर्म के प्रति अनन्त आस्था है। कोई देवशक्ति भी उनकी श्रद्धा को हिला नहीं सकती। धन्य है क्षायिक सम्यक्त्वधारी सुश्रावक को।

शक्रेन्द्र के मुखारविन्द से भावपूर्ण उद्गार श्रवण कर एक देव ने कहा—स्वामी ! आप अत्यधिक भावुक है। भावना के प्रवाह में आप बहते रहते हैं। मानव की क्या शक्ति है जो हमारे सामने टिक सके। कपूर की तरह उसकी श्रद्धा प्रतिक्लृप्त पवन चलते ही उड़ जायेगी। यदि आपको विश्वास न हो तो मैं इसे सिद्ध कर बता दूँगा। शक्रेन्द्र मौन रहे और वह देव परीक्षा की कसौटी पर कसने हेतु उसी क्षण वहाँ से चल पड़ा।

राजगृह नगर के निवासी भगवान् महावीर के आगमन के समाचारों को सुनकर आनन्द विभोर थे। सम्राट श्रेणिक ने सुना। उसका मन मयूर नाच उठा, हृदय-कमल खिल उठा। वह सपरिवार चतुरंगिणी सेना सजाकर श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन हेतु चल पड़ा। ज्योंही मध्य बाजार के बीच सवारी पहुँची, त्योंही उस देव ने अपनी माया फैलाई। देव ने एक श्रमण का वेश धारण किया। पर कन्धे पर मछलियों को पकड़ने का जाल पड़ा हुआ था। वह मछली पकड़ने हेतु सरोवर की ओर जा रहा था। उसे देखकर कुछ व्यक्तियों ने उपहास के स्वर में कहा—महाराज ! देखिये, वे आपके गुरुवर आ रहे हैं। पहले उनके दर्शन कर लीजिए।

सम्राट के सन्निकट जब वह मायावी साधु पहुँचा, तब सम्राट ने कहा—तुमने कन्धे पर यह जाल क्यों डाल रखी है ? श्रमण वेश को क्यों लज्जित कर रहे हो ?

उस मायावी साधु ने मुस्कराते हुए नाटकीय ढंग से कहा—राजन् ! मैं पहले क्षत्रिय था। मांस और मछलियाँ खाने की आदत थी। भगवान् महावीर के सभी साधु मांसाहार और मत्स्याहार करते हैं उनके परम भक्त लोग उन्हें गुप्त रीति से लाकर दे देते हैं। पर मैं भोला रहा, मेरे कोई भक्त नहीं, जिस कारण विवश होकर मुझे मछलियाँ पकड़ने हेतु सरोवर पर जाना पड़ रहा है।

सभी श्रोतागणों की श्रद्धा डगमगा गई। उनके मुखारविन्द से अनास्था के स्वर फूट पड़े, पर सम्राट श्रेणिक ने कहा—तुम मिथ्या बोल रहे हो। अपना पाप उन महान् पुण्य पुरुषों पर मढ़ने का प्रयास कर रहे हो। धिक्कार है तुम्हें, जो इस प्रकार मिथ्या प्रलाप करते हो।

सम्राट की सवारी आगे निकल गई। लोगों ने देखा—एक सगर्भा साध्वी किसी दुकान से अजमा, किसी दुकान से सोंठ और किसी दुकान से घी की याचना कर रही है। वह कह रही है—“मैं आसन्नगर्भा हूँ इसलिए मुझे इन वस्तुओं की आवश्यकता है।”

सम्राट के साथ वाले व्यक्तियों ने कहा—स्वामी ! आपने पहले गुरुदेव के दर्शन किये अब गुरुणी जी के भी दर्शन कर लीजिए। देखिये, भगवान् महावीर के श्रमण और श्रमणियों का कितना नतिक पतन हो चुका है ?

सम्राट के सामने वह साध्वी आकर खड़ी हो गई और कहने लगी—मेरे प्रसूति की व्यवस्था करवा दीजिए। आप सोचते होंगे कि मैं पतिता हूँ, पर भगवान् महावीर की सभी साधवियाँ इसी तरह चरित्रहीना हैं।

सम्राट ने सक्रोश मुद्रा में कहा—तुम पतिता हो और अपने दोष को छिपाने हेतु तप और त्याग की ज्वलन्त प्रतिमाओं पर लांछन लगा रही हो? धिक्कार है तुझ। यह कहकर सम्राट ने अपनी सवारी आगे बढ़ा दी। कुछ ही दूर सम्राट की सवारी आगे पहुँची कि एक दिव्य पुरुष ने प्रकट होकर कहा—धन्य है, जैसा शक्रेन्द्र ने कहा था उससे भी अधिक आपको आस्थावान देखकर मेरा हृदय श्रद्धा से आपके चरणों में नत है। मैंने ही परीक्षा लेने हेतु साधु और साध्वी का रूप धारण किया था, पर आप परीक्षा में पूर्ण सफल हुए।

सम्राट् श्रेणिक न बहुश्रुत थे, न महामतीषी थे, न वाचक थे, पर सम्यग्दृष्टि होने के कारण आगमी चौबीसी में वे तीर्थंकर जैसे गौरवपूर्ण पद को प्राप्त करेंगे। कहा है—

न सेणियो आसि तया बहुस्सओ

न यावि पत्ततिधरो न वायगो।

सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सई

समिक्ख पत्ताह वरं खु दंसणं ॥

सम्यग्दर्शन के दो प्रकार हैं। एक व्यावहारिक सम्यग्दर्शन है और दूसरा निश्चयसम्यग्दर्शन। व्यवहारसम्यग्दर्शन वह कहलाता है जिसमें साधक सर्वज्ञ सर्वदर्शी अदृष्टारह दोष रहित वीतराग प्रभु को देव के रूप में स्वीकार करता है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति के धारक निर्ग्रन्थ संत को गुरु रूप में मानता है। अहिंसा, संयम, तपरूप धर्म को स्वीकार करता है। इस प्रकार देव, गुरु धर्म के प्रति जो पूर्ण निष्ठावान होता है वह व्यवहार की दृष्टि से सम्यग्दृष्टि कहलाता है। उसके जीवन के कण-कण में, मन के अण-अण में देव गुरु धर्म के प्रति अपार आस्थाएँ होती हैं। सम्राट् श्रेणिक की

तरह वह सदा परीक्षण प्रस्तर पर खरा उतरता है। उपासकदशांग सूत्र में आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों का वर्णन आता है जिनकी देव परीक्षा लेते हैं। पर वे मेरु पर्वत की तरह अडोल रहे, अकम्प रहे। पर आज हमारी श्रद्धा कितनी कमजोर है, मन्दिर की पताका की तरह अस्थिर है। हम मिथ्या और कपोल कल्पित बात को सुनकर ही विचलित हो जाते हैं, हमारी आस्थाएँ डगमगा जाती हैं। हम कहलाने को सम्यग्दृष्टि और श्रावक कहलाते हैं पर हमें थर्मामीटर लेकर अपने अन्तर्हृदय को मापना है कि हमारे में सम्यग्दर्शन है या नहीं। केवल बातें बनाने से सम्यग्दर्शन नहीं आता। कदाचित् भ्रमवश मन में कुशंका उत्पन्न हो जाए तो सम्यग्दृष्टि साधक का दायित्व है उस कुशंका का पहले निवारण करें। सम्यग्दृष्टि भाडरप्रवाही नहीं होता। वह अपनी मेधा से सत्य-तथ्य का निर्णय करता है।

जैन साहित्य में आई हुई एक घटना है। एक महान् आचार्य अपने विराट शिष्य समुदाय सहित विहार करते हुए एक नगर में पधारने वाले थे। जब नागरिकों ने सुना तो उनका हृदय बाँसों उछल पड़ा। हजारों की संख्या में श्रद्धालुगण आचार्य प्रवर के स्वागत हेतु बरसाती नदी की तरह उमड़ते हुए आगे कदम बढ़ा रहे थे। आचार्य प्रवर कहाँ तक आ गये हैं यह जानने हेतु एक जिज्ञासु ने सामने से आते हुए राहगीर से पूछा—बताओ, हमारे गुरुदेव कहाँ तक आ गये हैं।

राहगीर ने कहा—रास्ते में जो तालाब है उस तालाब पर बैठकर वे पानी पी रहे थे। मैं उन्हें तालाब में पानी पीते छोड़ आया हूँ।

राहगीर के मुँह से अप्रत्याशित बात सुनकर सभी एक-दूसरे का मुँह झांकने लगे। एक दूसरे से कहने लगे—बड़ा अनर्थ है। आचार्य होकर तालाब में पानी पीये, जो श्रमणमर्यादा के विपरीत है। हम तो उन्हें आचारनिष्ठ मान रहे थे, पर घोर कलियुग आ गया है। आचार्य भी आचार्य की

मर्यादा को विस्मृत हो चुके हैं फिर दूसरे सन्तों का तो कहना ही क्या ? आगे बढ़ते हुए कदम एक क्षण में रुक गये और सभी श्रद्धालुगण नगर की ओर लौट पड़े ।

धीरे-धीरे रास्ते को पार करते हुए आचार्य नगर में पहुँचे । पर चारों ओर अनास्था का वातावरण था । न स्वागत था, न सम्मान था । पूछते-पाछते आचार्य प्रवर धर्मस्थानक में पहुँचे । आचार्य प्रवर सोचने लगे कि इस नगर के श्रद्धालुओं की भक्ति के सम्बन्ध में मैंने बहुत कुछ सुन रखा है पर आज तो बिल्कुल विपरीत ही दिखाई दे रहा है । श्रद्धालुओं की श्रद्धा क्यों उगमग गई है ? इनका आचरण ही इस बात का साक्षी है कि इनके मन में कहीं भ्रम का भूत पैठ गया है और जब तक वह नहीं निकलेगा तब तक उनका अन्तर्मानस ज्योतिर्मय नहीं बनेगा ।

आचार्य प्रवर ने एक भद्र श्रावक को अपने पास बुलाया और स्नेहसुधा स्निग्ध शब्दों में उससे पूछा कि बताओ हमने तुम्हारे नगर की बहुत प्रशंसा सुनी थी । यहाँ की भक्ति सुनकर ही हम यहाँ पर विविध कष्ट सहन कर आये हैं पर आज न तो एक श्रावक दिखाई दे रहा है और न एक श्राविका ही । क्या बात है ?

उस भोले श्रावक ने बताया कि हम, हमारे संघ के सभी प्रमुख श्रावक और श्राविकाएँ आपको लिवाने हेतु मोलों तक पहुँचे । बहुत ही उत्साह और उत्साहमय वातावरण था । सभी अपने आपको धन्य अनुभव कर रहे थे । सामने से राहगीर ने हमारी जिज्ञासा पर बताया था कि आप तालाब पर पानी पी रहे हैं इसलिए हमारे सभी के मन अनास्था से भर गये । जैन सन्त कच्चे पानी को स्पर्श भी नहीं करता पर आप तो अपने शिष्यों के साथ तालाब पर पानी पी रहे थे । हमारा अनमोल सिर ऐरे-गैरे के चरणों में झुकने के लिए नहीं है । इसीलिए हम सब लौट आये ।

आचार्यदेव को अनास्था का कारण ज्ञात हो गया और उन्होंने कहा कि यहाँ के प्रमुख विवेकशील श्रद्धालुओं को तुम संदेश दो कि आचार्य प्रवर तुम्हें बुला रहे हैं । संदेश सुनते ही श्रद्धालुगण उपस्थित हुए । आचार्यप्रवर ने कहा—जिस व्यक्ति ने यह बात कही कि हम तालाब में पानी पी रहे थे आप उस व्यक्ति को जरा बुलायें । सुनते ही कुछ तमाशबीन यह सोचकर कि अब बड़ा मजा आयेगा उसे पकड़कर बाजार से ले आये ।

आचार्यप्रवर ने उस राहगीर से पूछा—तुम उधर से आ रहे थे और हम लोग तालाब की पाल पर बैठे हुए थे, बताओ तालाब में पानी था या नहीं ? उस राहगीर ने कहा—उस तालाब में तो एक बूँद भी पानी नहीं था । फिर हम पानी कहाँ से पी रहे थे ? उस राहगीर किसान ने कहा—तुम्हारे पास जो लकड़ी के पात्र रहते हैं । उसमें जो पानी था वह पानी तुम पी रहे थे ।

आचार्य देव ने श्रोताओं को कहा—बताओ, इसमें हमने किस दोष का सेवन किया । हम जिस गाँव से आये थे, वहाँ से अचित्त पानी साथ लाये थे । क्षेत्र मर्यादा समाप्त हो गयी थी, इसलिए हमने वहाँ पर पानी का उपयोग कर लिया था । सभी श्रोताओं को अपनी भूल ज्ञात हुई कि हमने बिना निर्णय के ही आचार्यदेव पर और संतों पर लांछन लगाया । सभी ने उठकर नमस्कार कर अपने अपराध की क्षमायाचना की । इस प्रकार कई बार भ्रम से भी अनास्था पैदा हो जाती है । पर सम्यग्दृष्टि साधक भ्रम के जाल में उलझता नहीं । वह सत्य तथ्य को समझता है । वह जानता है कि शंका कुशंकाओं से सम्यक्त्व का नाश होता है । सम्यक्त्व का आलोक धुँधला होता है । चाहे देव के सम्बन्ध में हो, चाहे गुरु के सम्बन्ध में हो और चाहे धर्म के सम्बन्ध में हो, वह पूर्ण रूप से आस्थावान बनता है ।

सम्यक्त्व के पाँच दूषण हैं । शंका, काँक्षा, विचिकित्सा, परपाषण्ड प्रशंसा और परपाषण्ड

संस्तव । इन दूषणों से साधक को प्रतिपल प्रतिक्षण वचते रहना है ।

व्यवहार सम्यक्त्व को पाँच रूप से देखा जा सकता है, जिसे सम्यक्त्व के पाँच लक्षण कहे हैं— सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य । समयभाव से इस सम्बन्ध में इस समय विवेचन नहीं करूँगी ।

अब हमें समझना है कि निश्चयदृष्टि से सम्यग्दर्शन क्या है ? निश्चयदृष्टि से आत्मा ही देव है, आत्मा ही गुरु है और आत्मभाव में रमण करना ही धर्म है । आत्मा अकाम निर्जरा के द्वारा सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को कम करते-करते जब देश न्यून कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाला बन जाता है । तब आत्मा में सहज उल्लास समुत्पन्न होता है । यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनि वृत्तिकरण से रागद्वेष की ग्रन्थी का जब भेदन करता है, तब निश्चयसम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । निश्चय सम्यग्दृष्टि साधक भेदविज्ञान के हथौड़े से आत्मा पर लगे हुए कर्मबन्धनों को तोड़ डालता है, जन्म-मरणरूपी संसार का उच्छेद कर देता है । भेद विज्ञान के प्रथम प्रहार में ही कषाय चेतना चूर-चूर होने लगती है । जन्म-मरण के चक्र मिटने लगते हैं । भेदविज्ञान से आत्मा अपने स्वभाव में अवस्थित हो जाता है ।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में भेदविज्ञान का तात्पर्य समझाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अन्नमिमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति एवं कयबुद्धी ।
दुख परिकलिसकरं छिन्द ममत्तं सरीरओ ॥
यह शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है । इस प्रकार तत्त्व-बुद्धि से दुःखोत्पादक और क्लेशजनक शरीर के प्रति ममत्व का परित्याग करता है ।

यह स्पष्ट है कि आत्मा और शरीर इन दोनों का स्वभाव, धर्म, गुण, प्रभृति भिन्न-भिन्न है । दोनों में आत्मीयता और तादात्म्य कभी हो नहीं सकता । शरीर जड़ है, भौतिक है, पुद्गल है । आत्मा चेतन

है, अभौतिक है । शरीर में ज्ञान नहीं, पर आत्मा ज्ञानमय है दर्शनमय है वह ज्ञाना-द्रष्टा है । पर शरीर अनित्य है, विनाशी है, सड़न-गलन स्वभाव वाला पुद्गल है । जबकि आत्मा नित्य है, अविनाशी है । वह न पानी से गलता है, न हवा से सूखता है, न शस्त्र उसे काट सकता है, न अग्नि उसे जला सकती है । वह न सड़ता है और उसका न विध्वंस ही होता है ।

इसीलिए सम्यग्दृष्टि के अन्तर्मानस का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

सम्यग्दृष्टि जीवडा करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर थी न्यारो रहे ज्यों धाय खिलावे बाल ॥

धाय पत्नी ने अपने पुत्र का बलिदान करके भी महाराणा उदयसिंह की रक्षा की थी । वह अन्तर्मन में समझती थी, उदयसिंह मेरा पुत्र नहीं है तथापि वह कर्तव्य से विमुख नहीं हुई वैसे ही सम्यग्दृष्टि संसार में रहकर भी संसार से अलग-थलग रहता है । उसका तन संसार में रहता है किन्तु मन मोक्ष में रहता है । वह सदा निजभाव और परमात्मभाव में रमण करता है । इसीलिए शास्त्रकारों ने यह उद्घोषणा की कि—

“समत्तदंसी न करेइ पावं ।”

निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से हमने सम्यग्दर्शन पर चिन्तन किया है । निश्चय सम्यग्दर्शन एक अनुभूति है और व्यवहार सम्यग्दर्शन उसकी अभिव्यक्ति है । दोनों का मधुर समन्वय ही परिपूर्णता का प्रतीक है इसीलिए मैंने अपने प्रवचन के प्रारम्भ में सम्राट श्रेणिक का उदाहरण देकर यह तथ्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया कि वे क्षायिक सम्यक्त्व के धारी थे । वे आत्मभाव में रमण करते थे तथापि देव, गुरु और धर्म के प्रति उनके अन्तर्मन में कितनी अपार श्रद्धा थी ? आज का साधक उस आदर्श को अपनाएगा तो उसका इहलोक और परलोक दोनों ही सुखी होंगे ।

३. वाणी-विवेक

जैनदृष्टि से यह आत्मा अनन्त काल तक निगोद अवस्था में रहा। जहाँ पर एक औदारिक शरीर के आश्रित अनन्त जीव रहते हैं। यह आत्मा की पूर्ण अविकसित अवस्था है। अकाम निर्जरा के द्वारा जब आत्मा पुण्यवानी का पुञ्ज एकत्र करता है तब वह वहाँ से पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय में आता है। और वहाँ पर वह आत्मा असंख्यात काल तक रहता है। इन पाँचों निकाय में केवल एक इन्द्रिय होती है और उस इन्द्रिय का नाम है—स्पर्श इन्द्रिय। केवल स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा ही उन आत्माओं की चैतन्य शक्ति अभिव्यक्त होती है। इन पाँचों निकायों में आत्मा अपार वेदनाओं का अनुभव करता रहा किन्तु उस अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए उसके पास स्पर्श इन्द्रिय के अतिरिक्त कोई माध्यम नहीं था।

जब भयंकर शीत ताप प्रभृति वेदनाएँ भोगते-भोगते कर्म दलिक निर्जरित होते हैं और पुण्य का प्रभाव बढ़ता है तब आत्मा को द्वितीय इन्द्रिय प्राप्त होती है। उस इन्द्रिय का नाम है रसना इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय की उपलब्धि द्विन्द्रिय अवस्था में हो जाती है और वह उसका उपयोग वस्तु के आस्वादन हेतु तथा अव्यक्त स्वर के रूप में करता है। उसकी वाणी अविकसित होती है। तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय और संज्ञीपंचेन्द्रिय तक इन्द्रियों का विकास होता है तथापि इन्द्रियों में जो तेजस्विता, उपयोगिता होनी चाहिये वह नहीं हो पाती। नारकीय जीव, तिर्यञ्च जीव भी पञ्चेन्द्रिय संज्ञी हैं किन्तु मानव की भाँति वे इन्द्रियों का सदुपयोग जन जन के कल्याण के हेतु नहीं कर पाते।

मानव इन्द्रियों का सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी कर सकता है। इन्द्रियों का सदुपयोग कर वह साधना के सर्वोच्च शिखर को प्राप्त कर सकता है और दुरुपयोग कर नरक और निगोद की भयंकर वेदनाओं की भी प्राप्त कर सकता है।

मैं इस समय अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में चिन्तन न कर रसना इन्द्रिय के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने जा रही हूँ। अन्य चार इन्द्रियों का कार्य केवल एक-एक विषय को ग्रहण करना है। स्पर्श इन्द्रिय केवल स्पर्श का अनुभव करती है। घ्राण इन्द्रिय केवल सुरभिगंध और दुरभिगन्ध को ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय रूप को निहारती है और श्रोत्रेन्द्रिय केवल श्रवण ही करती है। चार इन्द्रियों का केवल एक एक विषय है। पर रसना इन्द्रिय के दो विषय हैं—एक पदार्थ के रस का अनुभव करना और दूसरा बोलना है। यह इन्द्रिय पाँचों इन्द्रियों से सबल है। जैसे कर्मों में मोहनीय कर्म प्रबल है। वैसे ही इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय प्रबल है इसीलिए शास्त्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

‘कम्माणं मोहणीय अवखणं रसनी।

बेइन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी प्राणी बोलते हैं पर बोलने की कला सभी प्राणियों में नहीं होती। विवेकयुक्त जो व्यक्ति बोलना जानता है वह वचन पुण्य का अर्जन कर सकता है और अविवेक युक्त वाणी से पाप का अर्जन होता है। वाणी के द्वारा ही अठारह पापों में मृषावाद, कलह, अभ्याख्यान, पेशुन्य, परपरिवाद, माया-मृषावाद—ये पाप वाणी के द्वारा ही होते हैं। इसीलिये भारत के तत्त्वचिंतकों ने भले ही वे श्रमण भगवान महावीर रहे हों या

तथागत बुद्ध रहे हों अथवा महर्षि व्यास रहे हों, उन सभी ने जन-जन को यह प्रेरणा प्रदान की कि तुम अपनी वाणी का सदुपयोग करो। तुम्हारी वाणी विषवर्षिणी नहीं, अमृतवर्षिणी हो। पर खेद है कि हजारों वर्षों से इतनी पावन प्रेरणा प्राप्त होने पर भी मानव अपनी वाणी पर अभी तक नियन्त्रण नहीं कर पाया। वाणी के कारण ही अशान्ति, कलह, विग्रह, द्वेष के दावानल मुलग रहे हैं जिससे मानवता का वातावरण विषाक्त बन गया है। स्वर्गोपम भूमण्डल नरक के सदृश बन गया है। उन्हें यह स्मरण रखना होगा कि वे मृत्यु दूत नहीं हैं, जो विष उगलें। जो मानव जन्म मिला है जिस मानव जीवन की महत्ता के सम्बन्ध में आगम, वेद और त्रिपिटक एक स्वर से गा रहे हैं, मानव को अमृतपुत्र कहा है वह अमृत की वर्षा न कर यदि जहर की वर्षा करता है, वह मानव जीवन को कलंकित करता है। स्नेह और सद्भावना की सुमधुर वृष्टि करना ही उसका लक्ष्य होना चाहिये।

मानव जब जन्म लेता है तब से उसकी माँ उसे अमृत सदृश मधुर दूध पिलाकर उसका संपोषण करती है। दूध उज्ज्वल होता है, मधुर होता है। इसलिए माँ अपने प्यारे पुत्र को यह संदेश देती है कि वत्स ! मैंने तेरी जबान को दूध से धोयी है अतः मैं चाहूँगी कि तू मेरे दूध की लाज रखेगा। दूध की धवलिमा तेरे जीवन के कण-कण में व्याप्त हो, तेरी वाणी से अमृत झरे, तेरी वाणी मिश्री से भी अधिक मधुर हो। यदि वाणी में मधुरता है तो अन्य सारी मधुरता उसके सामने तुच्छ है।

एक बार बादशाह अकबर की राजसभा में विचार चर्चा चल रही थी कि इस विराट् विश्व में सबसे अधिक मधुर पदार्थ क्या है ? किसी ने कहा कि दही मीठा होता है, किसी ने कहा दूध मधुर होता है, किसी ने कहा गुड़ मधुर होता है तो किसी ने कहा शहद मधुर होता है। सबके अपने विचार थे। बादशाह अकबर ने बीरबल की ओर दृष्टि

डाली और पूछा—तुम मौन क्यों हो ? बताओ, तुम्हारी दृष्टि से इस संसार में मीठी वस्तु क्या है ?

बीरबल ने कहा—जहाँपनाह ! सबसे मधुर है वाणी। वाणी की मधुरता के सामने अन्य पदार्थों की मधुरता कुछ भी नहीं है। बादशाह ने कहा—बता बीरबल, इसका प्रमाण क्या है ?

बीरबल ने कहा—जहाँपनाह समय पर आपको मैं यह सिद्ध कर बता दूँगा कि वाणी से बढ़कर अन्य कोई भी पदार्थ मधुर नहीं है। पन्द्रह-बीस दिन का समय व्यतीत हो गया। एक दिन बीरबल ने कहा—जहाँपनाह ! मेरी हादिक इच्छा है आप बेगम साहिबान के साथ मेरी कुटिया पर भोजन हेतु पधारें। बीरबल के स्नेह-स्निग्ध आग्रह को बादशाह टाल न सका और भोजन की स्वीकृति प्रदान कर दी। निश्चित समय पर बादशाह बेगम साहिबान के साथ बीरबल के यहाँ पर भोजन हेतु पहुँचे। बीरबल ने बादशाह के लिए विविध प्रकार के स्वादिष्ट पकवान बनाये थे तथा विविध प्रकार की नमकीन वस्तुएँ भी तैयार की थीं। भोजन करते-करते बेगम साहिबान तो मन्त्र मुग्ध हो गयीं। भोजन की प्रशंसा करते हुए उसने बादशाह से कहा—इतना स्वादिष्ट भोजन तो अपने यहाँ भी नहीं होता। बीरबल ने कितना सुन्दर भोजन बनाया है। भोजन कर बादशाह आह्लादित मन से विदा हुआ। बादशाह के मुखारविन्द से भोजन की प्रशंसा सुनकर बीरबल मौन रहा।

बादशाह द्वार तक पहुँचा। बेगम पीछे चल रही थी। बीरबल ने अपने अनुचर को आदेश दिया कि दूध से उस स्थान को साफ कर देना जहाँ पर तुर्कणी बैठी थी क्योंकि वह स्थान अपवित्र हो गया है। बीरबल ने शब्द इस प्रकार कहे थे कि वे शब्द बेगम साहिबान के कर्ण कुहरों में गिर जाँएँ और ज्योंही ये शब्द बेगम ने सुने उसका क्रोध सातवें आसमान में पहुँच गया, सारा भोजन जहर बन गया, आँखों से अंगारे बरसने लगे। उसने

बादशाह को कहा—देखो, सुना आपने, वह काफिर क्या बोल रहा है। उसने मुझे तुर्कणी कहा है और जहाँ मैं बैठी थी उस स्थान को उसने दूध से धोने को कहा है, उसके मन में कितना ह्लाहल जहर भरा पड़ा है। बादशाह ने सुना और साक्रोश मुद्रा में बीरबल को आवाज दी। बीरबल सनम्र मुद्रा में आकर खड़ा हुआ।

बादशाह ने सरोष मुद्रा में बीरबल से पूछा—तुम्हें इस प्रकार के शब्द बोलते हुए शर्म नहीं आयी? तुमने हमें भोजन इसलिए कराया कि हमारा अपमान हो। आज तुम्हारे मन का परदा फाश हो गया और तुम्हारा असली स्वरूप उजागर हो गया कि तुम्हारे मन में हमारे प्रति कितनी नफरत है। दिल चाहता है कि तलवार से तुम्हारा सिर उड़ा दिया जाए।

बीरबल ने अपनी आकृति इस प्रकार बनायी कि मानो उसे कुछ पता ही नहीं हो। उसने कहा—जहाँपनाह! मैंने ऐसी क्या बात कही है जिसके कारण आपश्री इतने नाराज हो गये हैं।

बादशाह ने कहा—है, अब भोला बन रहा है। तेने तुर्कणी नहीं कहा? तेने उस स्थान को दूध से धोने के लिए नहीं कहा?

हाँ-हाँ भूल गया पर वे शब्द मैंने इसलिए कहे थे कि आपश्री ने उस दिन राजसभा में कहा था कि बीरबल सिद्ध कर बता कि वाणी सबसे अधिक मधुर कैसे है? जहाँपनाह! मैंने बढ़िया से बढ़िया आपश्री को भोजन करवाया, जिसकी आप स्वयं ने और वेगम साहिबान ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। पर वह सारा भोजन एक क्षण में एक शब्द में जहर बन गया। वाणी की कडुवाहट ने भोजन को विष में परिवर्तित कर दिया। अब तो आपश्री को यह विश्वास हो गया होगा कि वाणी से बढ़कर इस विश्व में अमृत भी नहीं है, और न जहर ही है मधुर वाणी अमृत है तो कटु वाणी जहर है।

वाणी के दुरुपयोग के कारण ही महाभारत का

युद्ध हुआ। परिवार, समाज और राष्ट्र में जब भी सघर्ष की चिनभारियाँ उछलती हैं! उसका मूल कारण होता है वाणी पर नियन्त्रण का अभाव। वाणी और पानी दोनों ही निर्मल और मधुर होने पर ही जन-जन को आकर्षित करते हैं। समुद्र में पानी की कोई कमी नहीं है पर वह पानी इतना अधिक खारा है कि कोई भी प्राणी उस पानी को पीकर अपनी प्यास शान्त नहीं कर सकता। समुद्र में जितनी स्टीमरें चलती हैं, नौकाएं घूमती हैं। उनमें बैठने वाले यात्रीगण अपने साथ पानी लेकर जाते हैं और कई बार जब पीने का पानी समाप्त हो जाता है तो उन नौकाओं में रहने वाले व्यक्ति छटपटा कर अपने प्रिय प्राणों को त्याग देते हैं पानी में रहकर के भी वे प्यास से छटपटाते हैं इसका मूल कारण है खारा पानी पीने योग्य नहीं है। वैसे ही खारी वाणी भी दूसरों के मन को शान्ति नहीं प्रदान कर सकती।

मेरी सद्गुरुणी श्री सोहनकुंवर जी महाराज अपने प्रवचनों में कहा करती थीं कि पहले बोले—श्रावकजी थोड़ा बोले, दूसरे बोले—श्रावकजी काम पड़या बोले, और तीसरे बोले—श्रावकजी भीठा बोले। हमारे प्राचीन जेनाचार्यों ने श्रावक के मार्गानुसारी के गुण बताये हैं उनमें एक गुण है—वाणी की मधुरता। श्रावक और साधक की वाणी अत्यंत मधुर होती है। वह सत्य को भी मधुर वाणी के द्वारा ही कहता है हमारे शरीर में जितने भी अंगोपांग है उन सभी में हड्डियाँ हैं हड्डियाँ कठोरता की प्रतीक हैं पर जबान में हड्डो नहीं है। क्यों नहीं है। इसका उत्तर एक शायर ने दिया है—

कुदरत को नापसन्द है सख्ती जुवान में
इसलिए पैदा न हुई हड्डी जुवान में।

यदि हम आगम साहित्य का अध्ययन करें तो हमें यह सहज ज्ञात होगा कि महापुरुषों की वाणी में कितना माधुर्य था? तीर्थंकर प्रत्येक साधक को 'भो देवाणुप्पिया' शब्द से सम्बोधित करते हैं।

भगवान के मुखारबिन्द से अपने लिए भक्त देवताओं का वल्लभ शब्द सुनता है तो उसका अन्त-हृदय बांसों उछलने लगता है वह सोचता है मैं कितना सौभाग्यशाली हूँ कि प्रभु ने मुझे देवताओं के वल्लभ शब्द से पुकारा है! प्राचीन युग में पत्नी पति को आर्यपुत्र कहकर सम्बोधित करती थी और पति भी देवी कहकर पत्नी को सम्बोधित करता था। एक दूसरे के प्रति कितनी शिष्ट भाषा का प्रयोग होता था। पर आज सुसभ्य कहलाने वाले लोग किस प्रकार शब्दों का प्रयोग करते हैं। वार्तालाप के प्रसंग में अपशब्दों का प्रयोग करना, गाली-गलौच देना आज सामान्य बात हो गई है। यदि आपने अपनी पत्नी को गधी कहा है तो आप स्वयं गधी बन गये। इसलिए शब्दों का प्रयोग करते समय विवेक की अत्यधिक आवश्यकता है।

भारत के महामनीषियों ने वाणी की तीन कसौटियाँ बताई हैं, सत्यं, शिवं, सुन्दरम्। सबसे प्रथम हमारी वाणी सत्य हो पर वह सत्य कटु न हो, अप्रिय न हो, इसलिए दूसरी कसौटी "शिव" की रखी गई है। हमारे मन में सत्य के साथ यदि दुर्भावना का पुट हो तो वह सत्य शिव नहीं है और साथ में सत्य को सुन्दर भी होना आवश्यक है। सौन्दर्य वाणी का आभूषण है। तन का सौन्दर्य कुदरत की देन है। यदि किसी का चेहरा कुरूप है तो वह क्रीम, पाउडर आदि सौन्दर्यवर्द्धक साधन का उपयोग करेगा तो उसका चेहरा बहुरूपिये की तरह और भद्दा बन जायेगा। कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधन से वास्तविक सौन्दर्य निखरता नहीं है। आप जानते हैं श्री कृष्ण वासुदेव का रंग प्रियाम था किन्तु उनकी वाणी इतनी मधुर थी कि लोग उनकी वाणी को सुनने के लिए तरसते थे। जब कृष्ण बाँसुरी की मुरली तान छेड़ते तब गायें भी दौड़कर उनके आसपास एकत्रित हो जाती थीं। गोपियों के झुण्ड के झुण्ड उनके पास पहुँच जाते थे। इसका एकमात्र कारण उनकी वाणी से अमृत स्रोत फूटना था। दुर्योधन का वर्ण गौर था किन्तु

उसकी वाणी जहर उगलती थी इसलिए वह जन-जन का घृणा का पात्र बना। लाथ तन के रंग को बदल नहीं सकते, पर वाणी को बदलना आपके स्वयं के हाथ में है। आप वाणी को बदलकर जन-जन के प्रिय पात्र बन सकते हैं। मूर्ख व्यक्ति वह है जो बोलने के पश्चात् सोचता है कि मैं इस प्रकार के शब्द नहीं बोलता तो संक्लेश का वातावरण तो उपस्थित नहीं होता। यदि मैं वाणी पर नियन्त्रण रख लेता तो कितना अच्छा होता। पर समझदार व्यक्ति वह है जो बोलने के पूर्व उसके परिणाम के सम्बन्ध में सोचता है वह इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग नहीं करता, जिससे किसी के दिल में दर्द पैदा हो, हृदय व्यथित हो। इसीलिए मैंने अपने प्रवचन के प्रारम्भ में आपसे कहा कि वाणी अत्यन्त पुण्यवानी के पश्चात् प्राप्त हुई है। जिस वाणी को प्राप्त करने के लिए आत्मा को कितना प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ा है? कितने कष्ट सहन करने पड़े हैं जो इतनी बहुमूल्य वस्तु है हम उसका दुरुपयोग तो नहीं कर रहे हैं यदि दुरुपयोग कर लिया तो बाद में अत्यधिक पश्चात्ताप करना होगा।

अन्त में मैं इतना ही कहना चाहूँगी कि यदि आपकी वाणी अमृतवर्षण नहीं कर सकती है तो आप मौन रहें। मौन सोना है और बोलना चाँदी है। मौन शान्ति का मूलमन्त्र है और बोलना विवाद का कारण है। मौन के लिए कुछ भी पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं। मौन से आप अनेक विग्रहों से बच सकेंगे और दीर्घकाल तक यदि आपने मौन साधना कर ली तो आषकी वाणी स्वतः सिद्ध हो जायेगी। योगियों की वाणी इसीलिए वचनसिद्ध थी कि वे लम्बे समय तक मौन रहते थे। यदि बोलना ही है तो विवेकपूर्वक बोलें जिस वाणी से सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के तथा समता, नम्रता, सरलता के सुमन झरें। आशा है आप वाणी का महत्व समझेंगे और अपने जीवन में मधुर बोलने का और कम बोलने का अभ्यास करेंगे। ता आपकी वाणी में एक जादू पैदा होगा और वह जादू जन-जन के मन को मुग्ध कर देगा।

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

४८५

४. संयम का सौन्दर्य

एक राजा रुग्ण हो गया। अनेक उपचार कराये तो भी राजा स्वस्थ नहीं हुआ। अन्त में एक अनुभवी वैद्य ने राजा को कहा मैं आपको पूर्ण स्वस्थ बना सकता हूँ, पर शर्त यही है कि आपको मेरी बात माननी होगी। मैं जो भी कहूँ वैसा आपको करना होगा। व्याधि से संत्रस्त राजा ने स्वीकृति सूचक सिर हिला दिया। चिकित्सा प्रारम्भ हुई और कुछ ही दिनों में राजा पूर्ण स्वस्थ हो गया। वैद्य ने विदाई लेते हुए कहा—राजन्! आप रोग से मुक्त हो चुके हैं पर अब आपको मेरे बताये हुए पथ्य का अच्छी तरह से पालन करना होगा।

राजा ने पूछा—बताओ, कौन-सा परहेज है, ऐसी कौन सी वस्तु है जिसका उपयोग मुझे नहीं करना है।

वैद्य ने कहा—आम का फल आपके लिए जहर है जीवन भर आपको आम नहीं खाना है।

राजा को आम अत्यधिक प्रिय थे। वह हर ऋतु में आम खाता था। जब उसने यह सुना कि आम नहीं खाना है तो उसने पुनः वैद्य से जिज्ञासा प्रस्तुत की—बताइये, दिन में कितने आम खा सकता हूँ।

वैद्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि एक भी आम आप नहीं खा सकते। यदि भूलकर आपने आम खा लिया तो फिर किसी भी वैद्य और चिकित्सक की शक्ति नहीं कि आपको बचा सके। इस परहेज का पालन करेंगे तो आप सदा रोग से मुक्त रहेंगे।

राजा ने वैद्य की बात सहर्ष स्वीकार ली। चैत्र का महीना आया। आम के फल वृक्षों पर मंडराने लगे। कोयल के कुहक की आवाज कुहकने लगी।

राजा ने अपने मन्त्री से कहा—चलो, लम्बा समय हो गया है महलों में बैठे-बैठे। जी घबरा उठा है। मन बहलाने के लिए बगीचे में घूमने की इच्छा हो रही है।

मन्त्री ने कहा—राजन्! घूमने के लिए महल की छत बहुत ही बढ़िया है, यदि वह पसन्द नहीं है तो तालाब के किनारे चलें, जहाँ पर शीतल मंद सुगन्ध पवन चल रहा है, नौका विहार करें। पर राजा तो बगीचे में जाने हेतु तत्पर था। मन्त्री उस बगीचे में ले जाना चाहता था जिस बगीचे में आम के पेड़ नहीं थे। पर राजा ने यह हठ की कि मुझे आम खाने की मनाई की है, किन्तु आम के पेड़ों की हवा खाने की थोड़े ही मना की है।

मन्त्री ने कहा—राजन् जिस गाँव में नहीं जाना है, उस गाँव का रास्ता क्यों पृच्छना? वैद्य ने आपके लिए स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है। कृपा कर आज आम के बगीचे की ओर घूमने हेतु न पधारें।

राजा ने कहा—तुम बहुत ही भोले हो। वैद्य तो केवल मानव को डराने के लिए ऐसी बात कहते हैं। वैद्य की बात माननी चाहिए, पर उतनी ही जो उचित हो।

मन्त्री ने कहा—आप अपनी ओर से मौत को निमन्त्रण दे रहे हैं। मेरी बात मानिये और आम के बगीचे की ओर न पधारिये।

राजा ने कहा—वैद्य ने आम खाने का निषेध किया है, आम के पेड़ों की हवा खाने के लिए निषेध नहीं किया है। चलो कई महीनों से आम के बगीचे में नहीं गये हैं। राजा आम के बगीचे में

पहुँच गया। वृक्षों पर पके हुए आम हवा से झूम रहे थे। बगीचे में घूमकर राजा आम के पेड़ के नीचे विश्रान्ति हेतु बैठ गया। मंत्री ने निषेध किया पर वह नहीं माना। ज्योंही वह वृक्ष के नीचे बैठा त्योंही एक आम का फल राजा की गोद में आकर गिर पड़ा। राजा हाथ में लेकर फल देखने लगा। उसकी मीठी-मीठी मधुर गंध पर वह मुग्ध हो गया। मंत्री राजा के हाथ से फल छीनना चाहता था, पर राजा ने कहा—जरा-सा आम चूसने से कोई नुकसान होने वाला नहीं है। मंत्री मना करता रहा पर राजा ने आम को चूस ही लिया और देखते ही देखते राजा के शरीर में पुराना रोग उभर आया और कुछ क्षणों तक छटपटाते हुए राजा ने संसार से विदा ले ली।

प्रस्तुत उदाहरण भगवान् महावीर ने अपने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में दिया है और कहा है जिस प्रकार राजा अपथ्य आहरण कर अपने आपको, अपने राज्य को गंवा बैठा, वैसे ही संयमी साधक इन्द्रियों के प्रवाह में बहकर अपने संयम धन को गंवा देता है। इन्द्रियाँ उच्छृंखल हैं जो इसके प्रवाह में बहता है, वह साधना के पथ पर नहीं बढ़ सकता एतदर्थ ही शास्त्रकारों ने इन्द्रिय संयम पर बल दिया है। इन्द्रिय संयम करने वाला साधक साधना के पथ पर निरन्तर बढ़ता है।

एक शिष्य ने आचार्य से जिज्ञासा प्रस्तुत की—शास्त्रों में लिखा है कि इन्द्रियाँ प्रबल पुण्यवानी से प्राप्त होती हैं। एकेन्द्रिय अवस्था में केवल एक ही इन्द्रिय होती है पर ज्यों-ज्यों अकाम निर्जरा के द्वारा प्रबल पुण्य का संचय होता है तब क्रमशः इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। आप पुण्य से प्राप्त उन इन्द्रियों के नियन्त्रण हेतु क्यों उपदेश देते हैं? क्योंकि बिना इन्द्रियों के न ज्ञान हो सकता है, न ध्यान हो सकता है। इसलिए इन्द्रियाँ हमारी शत्रु नहीं मित्र है। विकास के मार्ग पर हमें अग्रसर करने वाली है। फिर उनके नियन्त्रण का उपदेश क्यों?

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

आचार्य ने कहा—वत्स ! यदि राग-द्वेष के प्रवाह में, न बहे, समभाव में अवगाहन करें तो इन्द्रियाँ परम मित्र की तरह उपयोगी हैं। यदि इन्द्रियों में राग-द्वेष का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है तो इन्द्रियाँ शत्रु बन जाती हैं। गंगा का पानी पवित्र और निर्मल है पर जब गंगा में फैक्ट्रियों का, शहरों की गन्दी नालियों का पानी मिल जाता है तो गंगा का पानी भी दूषित हो जाता है, उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है। जब इन्द्रियों के निर्मल ज्ञान में काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, राग और द्वेष का कूड़ा-करकट मिलता है तब इन्द्रिय ज्ञान भी दूषित हो जाता है। उस समय इन्द्रियाँ शत्रु बन जाती हैं। राग-द्वेष का जब तक मिश्रण नहीं होता तब तक इन्द्रिय-ज्ञान गंगा के पानी की तरह निर्मल रहता है पर राग-द्वेष के मिश्रण से वह विषाक्त बन जाता है।

हम जैनागम साहित्य का गहराई से अनुशीलन करें तो यह सत्य हमें सहज रूप से समझ आ सकेगा। इन्द्रियाँ केवलज्ञानियों के भी होती हैं। वे भी चलते हैं किन्तु उनकी इन्द्रियों में राग-द्वेष का मिश्रण न होने से उनको केवल ईर्यापथिक क्रिया लगती है। साम्परायिक क्रिया नहीं। ऐर्यापथिक क्रिया में राग-द्वेष न होने से कर्म बन्धन नहीं होता। भगवती सूत्र में स्पष्ट वर्णन है कि केवल-ज्ञानी को पहले समय में कर्म आते हैं, दूसरे समय में वेदन करते और तीसरे समय में वे कर्म निर्जरेत हो जाते हैं। कर्म बन्धन के लिए असंख्यात समय चाहिए और बिना राग-द्वेष के कर्म का बन्धन नहीं होता। जब इन्द्रियों रूपी तारों में राग-द्वेष का करंट प्रवाहित होता है तभी कर्म बन्धन होता है इसीलिए ज्ञानियों ने प्रेरणा दी कि इन्द्रियों का संयम करो।

हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। वे बाहर के पदार्थों को ग्रहण करती हैं और राग-द्वेष से संपृक्त होकर कर्मों का अनुबन्धन करती हैं जितना अधिक तीव्र राग या द्वेष होगा उतना ही अधिक बन्धन होगा, निकाचित कर्म बन्धन का मूल कारण इन्द्रियों में राग-द्वेष का तीव्र प्रवाह ही है। तीव्र

४८७

प्रवाह जब प्रवाहित होता है तब तीव्र गाढ़ बन्धन होता है। जब इन्द्रियों का प्रवाह अन्तर्मुखी होता है वह संयम कहलाता है।

भारतीय साहित्य में कर्म का उदाहरण बहुत ही प्रसिद्ध रहा है चाहे जैन परम्परा रही हो, चाहे वैदिक परम्परा और चाहे बौद्ध परम्परा। सभी ने कर्म के रूपक द्वारा यह बताया है कि कर्म जब खतरा उपस्थित होता है, तब वह अपनी इन्द्रियों को गोपन कर लेता है। जब इन्द्रियों को गोपन कर लेता है तब कोई भी शक्ति उसे समाप्त नहीं कर सकती। इन्द्रिय संयमी साधक को भी कोई भी बाह्य पदार्थ अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। जैन साहित्य के इतिहास में आचार्य स्थूलभद्र का उदाहरण आता है। स्थूलभद्र कोशा वेश्या के वहाँ पर १२ वर्ष तक रहे। पिता की शवयात्रा देखकर उनके मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई और वे साधना के महापथ पर वीर सेनानी की तरह बढ़ गये। तथा गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर वे चार माह तक कोशा के वहाँ पर रहे। उस रंगमहल में रहकर भी उनका मन पूर्ण विरक्त रहा और वेश्या को भी उन्होंने वैराग्य के रंग में रंग दिया। यही कारण है मंगलाचरण में भगवान महावीर और गौतम के पश्चात् उनका नाम आदर के साथ स्मरण किया जाता है। एक आचार्य ने तो लिखा है— इन्द्रिय विजेता स्थूलभद्र मुनि का नाम चौरासी चौबीसी तक स्मरण किया जाएगा।

इतिहास के पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं कि जो राजा-महाराजा और बादशाह इन्द्रियों के गुलाम बने उनका पतन हो गया। और उनके कारण देश परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा गया। देश को परतन्त्र बनाने वाले इन्द्रियों के गुलाम रहे। इसी-लिए महामात्य कौटिल्य ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि शासक और सामाजिक प्राणी को इन्द्रियविजेता होना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी, आध्यात्मिक जीवन के लिए अतीन्द्रिय चेतना को

विकसित करने के लिए इन्द्रिय संयम आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

एक रूपक है। राजप्रासाद में एक दासी प्रति-दिन राजा और महारानी की शय्या तैयार करती थी। एक दिन उस मुलायम शय्या को देखकर उनके अन्तर्मांस में यह विचार उद्बुद्ध हुआ—शय्या तो बहुत ही मुलायम है दो क्षण सोकर देखूँ कितना आनन्द आता है और ज्योंही उसने सोने का उप-क्रम किया त्योंही उसे गहरी निद्रा आ गई। उसे पता ही नहीं चला, कितना समय बीत गया है। जब सम्राट सोने के लिए महल में पहुँचे अपनी शय्या पर दासी को सोया हुआ देखकर उनका क्रोध सातवें आसमान में पहुँच गया और जो हाथ में बेंत की छड़ी थी, उससे जोर से उसकी पीठ पर मारी। दासी हड़बड़ाकर उठ बैठी। सम्राट को देखकर वह एक क्षण स्तम्भित रह गई। सम्राट ने कहा— तेरी हिम्मत कैसे हुई? मेरी शय्या पर तू कैसे सो गई? और उन्होंने दूसरी बेंत उसकी पीठ पर दे मारी। दासी खिलखिलाकर हँसने लगी। ज्यों-ज्यों बेंत लग रहे थे रोने के स्थान पर वह हंस रही थी। सम्राट ने अन्त में उसे हँसने का कारण पूछा। उसने कहा— राजन्! मैं भूल से कुछ समय सो गई जिससे इतनी मार सहन करनी पड़ी है। आप तो इस पर रात-दिन सोते हैं तो बताइये आपको कितनी मार सहन करनी पड़ेगी। नरक में कितनी दारुण वेदना भोगनी पड़ेगी।

दासी की बात सुनकर सम्राट को चिन्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि इन्द्रिय असंयम कितना खतरनाक है। इन्द्रिय असंयम के कारण ही आत्मा विविध योनियों में भटकता है और दारुण वेदना का अनुभव करता है। इसलिए इन्द्रिय संयम का महत्व समझें। एक-एक इन्द्रिय के आधीन होकर प्राणी अपने प्यारे प्राणों को गँवा बैठता है पर जो पाँचों इन्द्रियों के अधीन होता है उसको कितनी वेदना भोगनी पड़ती है? ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को

(शेष पृष्ठ ४६२ पर)

५. मन ही माटी, मन ही सोना

एक युवक एकान्त शांत स्थान पर बैठकर एक देवी की उपासना कर रहा था। चिरकाल तक उपासना करने के बाद देवी ने स्वयं प्रकट होकर कहा कि तुमने मुझे क्यों स्मरण किया है? बोलो, तुम्हें क्या चाहिए?

युवक ने देवी को नमस्कार कर कहा—माँ! मेरे अन्तर्मानस में एक इच्छा है कि सम्पूर्ण संसार मेरे वश में हो जाए। मैं जिस प्रकार चाहूँ, उस प्रकार वे कार्य करें।

देवी ने कहा—वरदान देने के पूर्व मेरे कुछ प्रश्न हैं? क्या तुम उन प्रश्नों का उत्तर दोगे?

हाँ, क्यों नहीं दूँगा? जो भी इच्छा हो, सहर्ष आप पूछ सकती हो।

देवी ने पूछा—तुम जहाँ रहते हो। तुम्हारे आसपास में अनेक पड़ोसियों के मकान हैं। वे अड़ोसी-पड़ोसी तुम्हारे अधीन हैं न?

उत्तर—माँ! अड़ोसी-पड़ोसी पर मेरा क्या अधिकार है, जो मेरे वश में रहें। वे तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। सभी पड़ोसी अपनी मनमानी करते हैं।

देवी ने कहा—वत्स! अड़ोसी-पड़ोसी पर तुम्हारा अधिकार नहीं तो यह बताओ कि तुम्हारे परिवार के जितने भी सदस्य हैं वे तो तुम्हारे संकेत पर नाचते होंगे न?

युवक ने निःश्वास छोड़ते हुए कहा—माँ! आज तो कलियुग है। परिवार के सारे सदस्य अपनी मनमानी करते हैं, न बड़ों का मान है और न छोटों पर प्यार है। मेरी शिक्षा भरी बात को भी वे इस तरह से उड़ाते हैं जैसे पतंग आकाश में उड़ाई जाती है।

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

देवी ने पूछा—वत्स! यह बताओ तुम्हारे घर में अनुचर होंगे, वे तो तुम्हारी बात को बहुत ही श्रद्धा से सुनते होंगे? तुम्हारे संकेत पर अपने प्यारे प्राण न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहते होंगे?

युवक ने एक दीर्घ निःश्वास लेते हुए कहा—आज के युग में नौकर मालिक बनकर रहते हैं। मालिक को नौकर की हर बात को मानना पड़ता है। यदि मालिक उनके मन के प्रतिकूल करता है तो वे हड़ताल पर उतार हो जाते हैं। मालिक को सदा यह चिन्ता रहती है कि कहीं नौकर नाराज न हो जाए और इसलिए मालिक सदा नौकर को खुशामद करता है कि वे कहीं नाराज होकर न चले जाएँ इसलिए सदा उनकी बातों पर ध्यान देना होता है।

देवी ने अगला प्रश्न किया—अच्छा यह बताओ, तुम्हारे पुत्र और पुत्रियाँ तो तुम्हारे अनुशासन में हैं ना? वे तो तुम्हारी आज्ञा की अवहेलना नहीं करते होंगे?

युवक ने कहा—माँ! आधुनिक शिक्षा प्राप्त बालक और बालिकाओं के सम्बन्ध में क्या पूछ रही हो? वे राम नहीं हैं और न कृष्ण और महावीर ही हैं जो प्रातःकाल उठकर माता-पिता को नमस्कार करते थे। उनकी आज्ञा का पालन करते थे। पर यह तो कलियुग है, इसमें माता-पिता की आज्ञा का पालन करना तो कठिन रहा, यदि अच्छे भाग्य हों तो वे माता-पिता का उपहास नहीं करेंगे। आज तो माता-पिताओं को पुत्रों की आज्ञाओं का पालन करना होता है।

देवी ने कहा—वत्स! यह बताओ तुम्हारी

पत्नी तो पूर्ण आज्ञाकारिणी है न ? वह तो सीता की तरह तुम्हारी बात को मानती है न ?

युवक ने कहा—आधुनिक पत्नियाँ घर की मालकिन होती हैं। उनके संकेत पर ही पति को कार्य करना होता है। यदि पति पत्नी की आज्ञा का पालन न करे तो उसे रोटी मिलना भी कठिन हो जाता है।

देवी ने कहा—अब मेरे अन्तिम प्रश्न का भी उत्तर दे दो। वह प्रश्न है कि तुम्हारा मन तो तुम्हारे अधीन है न ? तुम मन के मालिक हो या गुलाम हो ?

युवक ने कहा—माँ ! मन तो बड़ा चंचल है। प्रतिपल प्रतिक्षण नित्य नई कल्पनाएँ संजोता रहता है। मैं जितना मन को वश में करने का प्रयत्न करता रहता हूँ, उतना ही वह अधिक भागता है। बहुत प्रयास किया पर मन मानता नहीं।

देवी ने कहा—वत्स ! जब तुम्हारा मन ही तुम्हारे अधीन नहीं है तुम उसके स्वामी नहीं हो तो संसार पर तुम्हारा नियन्त्रण कैसे होगा ? जिसने मन को नहीं जीता, वह संसार को जीत नहीं सकता। इसलिए गीर्वाण गिरा के एक यशस्वी अनुभवी चिन्तक ने कहा है—‘मनोविजेता जगतो-विजेता।’ जिसने मन को जीत लिया, वह संसार को भी जीत सकता है और जिसने मन को नहीं जीता, वह संसार को कभी जीत नहीं सकता।

देवी की बात इतनी मार्मिक थी कि युवक के पास उसका उत्तर नहीं था। मन बड़ा ही चंचल है बड़े-बड़े साधक भी मन को वश में नहीं कर सके, वे भी मन के प्रवाह में बह गये।

हमारे श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्रीपुष्कर मुनिजी महाराज ने एक बार कहा कि मन को जीतना चालीस सेर से भी अधिक कठिन है। राजस्थानी में ‘मन’ और ‘मण’ ये दो शब्द हैं। मण जो एक नाप विशेष है, प्राचीन युग में वह चालीस सेर का एक होता था और एक सेर के चार पाव होते

थे। सेर का दूसरा अर्थ सिंह भी है। उस सेर के भी चार पाव होते हैं। चालीस सेरों को जीतना जितना कठिन है उससे भी अधिक कठिन है मन को जीतना।

कुरुक्षेत्र के मैदान में वीर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—यह मन बड़ा ही चंचल है। वायु की तरह इस पर नियन्त्रण करना कठिन है। ऐसा कौनसा उपाय है जिससे कि मन अपने अधीन में हो जाय—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

श्रीकृष्ण ने चिन्तन के सागर में डुबकी लगाई और उन्होंने कहा—मन को वश में करने के दो ही उपाय हैं अभ्यास और वैराग्य। निरन्तर अभ्यास करने से मन एकाग्र होता है और संसार के पदार्थों के प्रति मन में वैराग्यभावना उद्भूत होती है तो मन चंचल नहीं होता।

अध्यात्मयोगी आनन्दधनजी एक फक्कड़ सन्त थे। आध्यात्मिक साधना में सदा तल्लीन रहने वाले थे। उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों पर सारगर्भित और दार्शनिक भावना से संपृक्त चौबीसी का निर्माण किया। बड़ी अद्भुत है वह चौबीसी। जब भी साधक उन पद्यों को गाता है तो श्रोतागण श्रद्धा से झूम उठते हैं। उन्होंने कुन्धुनाथ की प्रार्थना में एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही कि ‘मन’ शब्द संस्कृत में नपुंसकलिंग है। नपुंसक व्यक्ति में शक्ति नहीं होती। वह कभी भी रणक्षेत्र में जूझ नहीं सकता। पर मन एक ऐसा नपुंसक है जो बड़े बड़े वीर शक्तिशाली मर्दों को भी पराजित कर देता है। रावण कितना शक्तिशाली था, जिसने देवी शक्तियों को भी अपने अधीन कर रखा था। देवी शक्तियाँ भी उसके सामने काँपती थीं, वह महाबली रावण भी मन का गुलाम था। मन को वह भी न जीत सका। मन के अधीन होकर ही वह सीता को चुराने के लिए चल पड़ा। सीता के सामने हाथ जोड़कर दास की तरह खड़ा रहता

था। सीता उसे फटकारती, कुत्ते की तरह धुत्कारती, तथापि वह गुलाम कुत्ते की तरह दुम हिलाता रहता था। यह नपुंसक मन की शक्ति थी जिसने रावण को भी पराजित कर दिया था इसलिए कवि ने कहा—

मैं जाणू ए लिंग नपुंसक सकल मरद ने ठेले
बीजी बातें समरथ छे नर एहने कोइ न झेले
हो कुन्थुजिन मनडू किम ही न बाझे—

राजस्थान की एक लोक कथा है कि एक सेठ ने भूत को अपने अधीन किया। भूत ने कहा कि मैं तुम्हारा जो भी कार्य होगा कर दूंगा पर शर्त यह है कि मुझे सतत् काम बताना होगा जिस दिन तुमने काम नहीं बताया उस दिन मैं तुम्हें निगल जाऊँगा।

सेठ बड़ा चतुर था। उसने सोचा कि मेरे पास इतना काम है कि यह भूत करते-करते परेशान हो जायेगा। हजारों बीघा मेरी जमीन है धान्य के ढेर लग जाते हैं तथा अन्य भी कार्य हैं। सेठ ने भूत की शर्त स्वीकार कर ली और कहा जाओ जो मेरी खेती है सबको काट डालो। अनाज का ढेर एक स्थान पर करो और भूसा एक स्थान पर करो। अनाज की बोरियाँ घर में भर दो, कोठार में भर दो। आदेश सुनकर भूत चल पड़ा और कुछ ही क्षणों में कार्य सम्पन्न कर लौट आया। उसने दूसरा कार्य बताया, वह भी उसने कर दिया। उसने पुनः आकर कहा—बताओ कार्य, नहीं तो मैं तुम्हें खा जाऊँगा। प्रकृष्ट प्रतिभा सम्पन्न श्रेष्ठी ने भूत से कहा—चौगान में एक खम्भा गाड़ दो और मैं जब तक नया काम न बताऊँ तब तक तुम उस पर चढ़ते और उतरते रहो।

भूत श्रेष्ठी की बात सुनकर सोषन लगा कि यह बड़ा चालाक और बद्धिमान है। मेरे चंगुल में कभी भी फँस नहीं सकता। वह श्रेष्ठी के चरणों में गिर पड़ा। भारत के उन तत्वदर्शी मनीषियों ने इस लोक कथा के माध्यम से इस सत्य को उजागर किया है कि मन भी भूत के सदृश है। खाली मन

शैतान का घर होता है। मन को कभी भी खाली न रखो। मन बालक के सदृश है। बालक के हाथ में यदि शस्त्र है तो वह स्वयं का भी नुकसान करेगा और दूसरे का भी। यदि बालक के हाथ से शस्त्र छीनकर ले लिया जायेगा तो वह रोयेगा चित्लायेगा। समझदार व्यक्ति बालक के हाथ में चमचमाता हुआ खिलौना देता है और उसके पास से शस्त्र ले लेता है। वैसे ही मन रूमी बालक के हाथ में विषय-वासना, राग-द्वेष के शस्त्र हैं, विकथा का शस्त्र है तो उसके स्थान पर उसे स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन का यदि खिलौना पकड़ा दिया गया तो वह अशुभ से हटकर शुभ और शुद्ध में विचरण करेगा। जो मन मारक था वह तारक बन जायेगा।

जैन साहित्य में एक बहुत ही प्रसिद्ध कथा है। प्रसन्नचन्द्र नामक राजर्षि एकान्त शान्त स्थान में ध्यान मुद्रा में अवस्थित थे। उस समय सम्राट श्रेणिक सवारी सजाकर श्रमण भगवान महावीर को वन्दन करने के लिए जा रहा था। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यान मुद्रा को देखकर उसका हृदय श्रद्धा से अभिभूत हो गया। सम्राट नमस्कार कर समवशरण की ओर आगे बढ़ गया। कुछ राहगीर परस्पर वार्तालाप करने लगे कि प्रसन्नचन्द्र तो साधु बन गये हैं पर इनके नगर पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया है और वे नगर को लूटने के लिए तत्पर हैं। ये शब्द ज्योंही राजर्षि के कर्ण-कुहरों में गिरे, उनका चिन्तन धर्म-ध्यान से हटकर आर्त और रौद्र ध्यान में चला गया और वे चिन्तन करने लगे कि मैं शत्रुओं को परास्त कर दूंगा। मेरे सामने शत्रु एक क्षण भी टिक नहीं सकेंगे। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने मन में युद्ध की कल्पना प्रारम्भ की। शत्रु सेना दनादन मर रही है। स्वयं युद्ध के लिए सन्नद्ध हो चुके हैं। मन में संकल्प है सभी शत्रुओं को समाप्त करके ही मैं संसार को बता दूंगा कि मैं कितना वीर हूँ।

सम्राट श्रेणिक ने श्रमण भगवान महावीर को वन्दन कर पूछा भगवन्! मैं श्री चरणों में आ रहा

था, मैंने मार्ग में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यानस्थ अवस्था में देखा। वे इस समय काल कर जाएँ तो कहाँ पर पधारेंगे ?

भगवान् ने जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे, कहा—
‘श्रेणिक ! इस समय यदि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि आयु पूर्ण करें तो सातवीं नरक में जायेंगे। श्रेणिक के आश्चर्य का पार न रहा। एक महासन्त जो ध्यानस्थ है मेरु पर्वत की तरह अडोल है, वे सातवीं नरक में कैसे जाएँगे। कुछ क्षण रुककर पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की इस समय आयु पूर्ण करेंगे तो कहाँ जाएँगे। भगवान् ने कहा—छट्टी नरक में। पुनः प्रश्न उठा। अब कहाँ जाएँगे ? भगवान् ने पांचवीं, चौथी, तीसरी, दूसरी और पहली नरक की बात कही। उसके पश्चात् स्वर्ग में उत्तरोत्तर विकास की स्थिति बताई और सम्राट सोच ही रहे थे कि यह गजब की पहेली है। कहाँ सातवीं नरक और कहाँ सर्वार्थसिद्ध देवलोक कुछ ही क्षणों में पतन से उत्थान की ओर गमन ? इतने में सम्राट के कर्ण कुहरों में देव दुन्दुभि गडगडाने की आवाज आई। सम्राट ने पूछा कि देव दुन्दुभि की आवाज कहाँ से आ रही है भगवान् ! भगवान् ने स्पष्टीकरण किया कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवलज्ञान और केवल दर्शन हो चुका है।

सम्राट श्रेणिक ने सहज जिज्ञासा प्रस्तुत की—
मैं इस अबूझ पहेली को नहीं बुझा सका हूँ। यह रहस्यमयी बात मेरी समझ में नहीं आई है। भगवान् ने समाधान की भाषा में कहा—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के अन्तर्मानस में जो द्वन्द्व युद्ध चल रहा था और वे युद्ध की पराकाष्ठा पर थे तब तुमने मेरे से

(शेष पृष्ठ ४८८ का)

सातवीं नरक में ले जाने वाला इन्द्रियों का असंयम था। अरणक मुनि जब इन्द्रियों के प्रवाह में बहे तो साधना से भटक गये और जब इन्द्रियों पर उन्होंने नियन्त्रण किया तो मोक्ष में पहुँच गये। हम भी इन्द्रिय संयम कर अपने जीवन को महान बना सकते हैं। इन्द्रियों के प्रवाह में न बहें इसीलिए मैंने प्रारम्भ में आपको इन्द्रिय प्रवाह में प्रवाहित होने

पूछा कि भगवान् वे मरकर कहाँ जाएँगे इसीलिए मैंने सातवीं नरक की बात कही और जब युद्ध में उनका हाथ सिर पर गया और उन्हें स्मरण हो आया कि मैं तो साधु हूँ, साधु होकर मैं कहाँ भटक गया। पश्चात्ताप की आग में सुलगने लगे और कर्मों की निर्जरा करते हुए उन्होंने केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर लिया है। इसीलिए भारत के महामनीषियों ने कहा है—‘मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।’ मन से ही कर्मों का बन्धन होता है और मन से ही कर्मों की मुक्ति भी होती है। मन विष भी है और अमृत भी है।

एक तिजोरी है। वह तिजोरी जिस चाबी से खोली जाती है उसी चाबी से वह तिजोरी बन्द भी होती है। केवल चाबी को धुमाने से ही तिजोरी बन्द भी होती है और खुलती भी है। वैसे ही मन की तिजोरी भी अशुभ विचारों से कर्म का बन्धन करती है और शुभ विचारों से कर्म को नष्ट भी करती है इसलिए हमें अशुभ विचारों से हटकर शुभ विचारों में रमण करना चाहिए। इसीलिए मैंने प्रवचन के प्रारम्भ में रूपक की भाषा में उस सत्य को उजागर किया कि जब तक तुम अपने मन पर नियन्त्रण नहीं कर सकोगे, तब तक विश्व पर नियन्त्रण नहीं कर सकते। मन हमारा मित्र भी है और दुश्मन भी है। मन से ही मोक्ष मिलता है। विना मन वाले प्राणी को मोक्ष प्राप्त नहीं होता और न अणुव्रत और महाव्रत ही प्राप्त होते हैं अतः हम मन को साधें। मन को अपने नियन्त्रण में रखें तभी आनन्द का महासागर ठाठें मारने लगेगा।

वाले राजा को कहानी बताई। आप सम्यक् प्रकार से समझ गए होंगे कि इन्द्रिय संयम की कितनी आवश्यकता है। आज भौतिकवाद के युग में इन्द्रिय असंयम के अनेक साधन उपलब्ध हैं। हम उनके प्रवाह में न बहें तभी आत्मा से परमात्मा और नर से नारायण बन सकेंगे।

चिन्तन सूत्र

१. सुख और दुख

मध्याह्न का समय था। मैं स्वाध्याय, ध्यान और चिन्तन में तल्लीन थी। मैं जहाँ पर बैठी हुई थी। उसके सामने ही एक सद्गृहस्थ का मकान था। यकायक मेरी दृष्टि उधर गई। मैंने देखा कि पोस्टमेन डाक वितरण करता हुआ, उसके द्वार पर रुका। उसने द्वार खटखटाया। घर की मालकिन ने द्वार खोला, पोस्ट-मेन ने उसके हाथों में बीस हजार रुपये का मनी-आर्डर थमाया। मालकिन बीस हजार रुपये लेकर प्रसन्नता से झूम उठी। पोस्टमेन को चाय पिलाकर मालकिन ने विदा किया।

प्रतिदिन की तरह उसी स्थान पर बैठकर जब मैं ध्यान और स्वाध्याय से निवृत्त हुई तब पोस्टमेन की आवाज से मेरा ध्यान भंग हो गया। मैंने देखा—पोस्टमेन आज मनीआर्डर नहीं लेकर आया है। वह तो वी. पी. लेकर आया है। जिस वी. पी. को मालकिन ने पैसा देकर छुड़वा लिया।

मैं चिन्तन करने लगी—पोस्टमेन हमेशा मनीआर्डर ही नहीं लाता। कभी वी. पी. लाता है और कभी मनीआर्डर। पर दोनों ही स्थिति में घर की मालकिन के चेहरे पर किसी प्रकार की शिकायत नहीं है। मनीआर्डर लेने में भी प्रसन्न है तो वी. पी. लेने में भी। हमारे जीवन में भी कभी सुख का मनीआर्डर आता है तो कभी दुख की वी. पी. भी आती है। हम सुख का मनीआर्डर लेने में खुश हैं पर दुख की वी. पी. लेने से कतराते हैं। पर साधक वह है जो सुख और दुख की दोनों ही स्थितियों में सम रहता है।



चिन्तन सूत्र

२. जीवन का अभिशाप—दुर्व्यसन

प्रातःकाल का समय था। रुग्ण श्रेष्ठी ने अपनी पत्नी से कहा कि आज रात्रि में मेरा स्वास्थ्य काफी खराब रहा। जरा पुत्र को फोन कर कह दो कि वह आकर मेरे शरीर का परीक्षण करें। क्योंकि मैं स्वयं चलकर उसके हॉस्पिटल नहीं पहुँच सकूँगा।

पत्नी ने उसी समय फोन किया। फोन मिलते ही डाक्टर कार में बैठकर पिता की सेवा में पहुँच गया। उसने पिता के शरीर को अच्छी तरह से देखा और कहा—पूज्य पिताश्री! यदि आप पूर्ण स्वस्थ बनना चाहते हैं तो सिगरेट को छोड़ना होगा। धूमपान बन्द करना होगा। जब तक धूमपान बन्द न करेंगे आप रोग से मुक्त नहीं हो सकेंगे।

पिता ने दीर्घ श्वास लेते हुए कहा—वत्स! मैंने तुझे पढ़ाने के लिए घर के आभूषण बेच दिये, बंगला बेच दिया। खेती की जमीन भी मैंने गिरवी रख दी। अब तो केवल एक धूमपान बचा है वह तो रहने दे।

पिता पुत्र का संवाद चल ही रहा था कि मैं अपनी शिष्याओं के साथ सेठ की रुग्णता के समाचार सुनकर मंगलपाठ सुनाने पहुँच गई थी। मैं वार्तालाप को सुनकर चिन्तन करने लगी कि दुर्व्यसन एक घागा है और प्रतिपल-प्रतिक्षण हम उस घागे को सुट्ट बन्नाने का प्रयास करते रहते हैं। एक दिन वह दुर्व्यसन हमारे पर इतना आधिपत्य जमा लेता है कि हम उस व्यसन से मुक्त नहीं हो सकते।

मैंने देखा है टायर के अन्दर पड़ा हुआ छोटा सा छिद्र टायर को फोड़ देता है और चलती हुई ट्रक या बस एक क्षण में रुक जाता है। छोटा-सा व्यसन भी एक दिन जीवन को बरबाद कर देता है। एक दिन व्यक्ति व्यसन को पकड़ता है पर वही व्यसन उस पर हावी हो जाता है।

□○□

३. सद्गुणों का प्रचार हो

मैं एक बार सोक्रेटिस के जीवन प्रसंगों को पढ़ रही थी। पढ़ते-पढ़ते एक ऐसा प्रसंग आया जिसने मेरे मन मस्तिष्क को झकोर दिया।

प्रसंग था—सोक्रेटिस की पत्नी अत्यन्त क्रुद्ध प्रकृति की थी। छोटी-छोटी बात पर उसका मूढ़ बिगड़ जाता था। एक बार क्रुद्ध होकर उसने ठण्डे पानी का घड़ा सोक्रेटिस के सिर पर उड़ेल दिया और ज्योंही घड़ा उड़ेला त्योंही सोक्रेटिस घर से बाहर निकल गये।

एक व्यक्ति जो दूर से यह दृश्य देख रहा था वह खिल-खिलाकर हँस पड़ा और मुस्कराते हुए कहा—तुम तो बड़े कायर निकले। जो घर छोड़कर भाग रहे हो।

सोक्रेटिस ने गम्भीर मुद्रा में कहा—मैं कायर नहीं हूँ। पति और पत्नी के बीच का यह झगड़ा तमाशा का रूप न ले ले इसीलिए मैं घर से बाहर निकल पड़ा हूँ।

मैं इस प्रसंग को पढ़कर सोचने लगी कि उस युग में सोक्रेटिस को यह पता नहीं था कि दो की लड़ाई टी. वी. के माध्यम से घर-घर में फैल जाएगी। आज जहाँ कहीं भी झगड़ा, खून आदि होता है वे दृश्य टी. वी. पर दिखाये जाते हैं और समाचार पत्रों में भी इसी प्रकार की सूचनाएँ आकर्षक रूप में छापी जाती हैं और उसका परिणाम कितना विकृत हो रहा है, यह हम स्वयं आँखों से निहार रहे हैं। रामायण को टी. वी. के पर्दे पर निहार कर करोड़ों व्यक्तियों में से एक व्यक्ति भी राम नहीं बना, न भरत बना और न लक्ष्मण ही और न सीता का ही किसी ने आदर्श उपस्थित किया पर दुर्गुणों को मानव सहज रूप से ग्रहण करता है। आवश्यकता है दुर्गुणों का प्रचार रोका जाए और सद्गुणों का प्रचार किया जाए।

□□□

४. तर्क और श्रद्धा

सड़क पर कार सरपट दौड़ी जा रही थी। एक व्यक्ति सड़क के किनारे चल रहा था। कार की झपट में आ गया और देखते-देखते कार उस पर से होकर आगे बढ़ गयी। खून के फव्वारें छूट गये। इस कस्ण दृश्य को देखकर एक दयालु व्यक्ति का हृदय द्रवित हो उठा उसने कार के नम्बर नोट किये और कार के ड्राइवर पर कोर्ट में केस कर दिया।

ड्राइवर की ओर से वकील ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि ड्राइवर निरन्तर दस वर्ष से कार चला रहा है इसलिए उसका कोई गुनाह नहीं है।

उस व्यक्ति के वकील ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि जो व्यक्ति भारा गया है वह व्यक्ति तीस वर्ष से सड़क पर निरन्तर चल रहा था। इसलिए उसका कोई कसूर नहीं है।

जब मैंने प्रस्तुत घटना समाचार पत्र में पढ़ी तो सोचने लगी कि तर्क दुधारी तलवार है। जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण है, वह उतनी ही तीक्ष्ण तर्क प्रस्तुत करता है। इस संसार में तर्क से कभी समाधान नहीं हुआ है जब तक श्रद्धा न हो तब तक तर्क भटकाती है। श्रद्धायुक्त तर्क ही सम्यग्दर्शन का भूषण है। आगम साहित्य में जहाँ शंकाएँ उत्पन्न होती हैं वहाँ पर श्रद्धा भी साथ में है। आज हम तर्क करना जानते हैं पर बिना श्रद्धा का तर्क केवल बौद्धिक खिलवाड़ है।



नारी : नारायणा

भारतीय संस्कृति अत्यधिक प्राचीन और विशाल संस्कृति रही है। प्रस्तुत संस्कृति रूपी सरिता का प्रवाह विविध आयामों में विभक्त होकर प्रवाहित होता रहा। यदि हम उन सभी प्रवाहों को दो धाराओं में विभक्त करें तो उसकी अभिधा होगी वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति। इन दोनों धाराओं का सम्मिलित रूप ही भारतीय संस्कृति है। इन दोनों संस्कृतियों का साहित्य, वेद, उपनिषद, आगम और त्रिपिटक रहा है। जब हम उस साहित्य का अध्ययन करते हैं तो नारी की महिमा और गरिमा का भी वर्णन मिलता है तो दूसरी ओर नारी के निन्दनीय रूप की भी उजागर किया गया है। यह सत्य है कि वैदिक महर्षियों की अपेक्षा श्रमण संस्कृति के तीर्थंकरों ने नारी के जीवन के उदात्त और उदार रूप को विशेष अपनाया है। तथागत बुद्ध प्रारम्भ में नारी के प्रति असहिष्णु थे पर जैन संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित होकर नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार बन गया।

जैन साहित्य में नारी का जो रूप हमें प्राप्त होता है। उसे पढ़कर चिन्तकों के मस्तक श्रद्धा से नत हो जाते हैं। श्रमण भगवान् महावीर ने अपने चतुर्विध संघ में दो संघ का सम्बन्ध नारी से रखा है। एक श्राविका है और दूसरी श्रमणी। धर्म के क्षेत्र में नारी के कदम पुरुषों से आगे रहे हैं। अन्त-कृद्शांग सूत्र में काली, महाकाली, सुकाली आदि श्रमणियों ने तप के क्षेत्र में जो कीर्तिमान स्थापित किया है वैसा कीर्तिमान सभी श्रमण स्थापित नहीं कर सके। जो नारी एक दिन पुष्पों पर चलने से भी कतराती थी जिन्होंने सूर्य के दर्शन भी नहीं

किये, ऐसी अत्यन्त सुकुमार नारियाँ भी जब साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ीं तो कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग पर उनके मुस्तैदी कदम रुके नहीं। भीष्म-ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप में भी वीरांगना की तरह नंगे पाँव निरन्तर आगे बढ़ती रहीं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि 'जे कम्मेसूरा ते धम्मे सूर'।

भगवान् महावीर के शासन में छत्तीस हजार श्रमणियाँ थीं जिनमें साध्वीप्रमुखा थी महातपस्विनी चन्दनबाला। जिन्होंने उनको भिक्षुणी संघ की प्रवर्तिनी पद प्रदान किया था। भगवान् महावीर के शासन में श्राविकाओं की संख्या तीन लाख अठारह हजार थी। उनमें अनेक प्रतिभासम्पन्न श्राविकाएँ थीं। भगवती सूत्र में जयन्ति श्रमणोपासिका का उल्लेख आता है जिसने श्रमण भगवान् महावीर से अनेक तात्त्विक प्रश्न किये जो उसकी प्रकृष्ट प्रतिभा के द्योतक रहे हैं।

यों वैदिक संस्कृति में भी गार्गी महाविदुषी रही। अनेक ऋचाओं का निर्माण भी वैदिक संस्कृति में पत्नी-पुत्री नारियों ने किया। बौद्ध परम्परा में शुभा और संघमित्रा जैसी प्रतिभासम्पन्न नारियों ने इतिहास को एक नई दृष्टि प्रदान की। नारी का सर्वतोमुखी विकास जैन और बौद्ध ग्रन्थों में देखने को मिलता है।

नारी मानवता के इतिहास की प्रधान नायिका है जिसके आधार पर राष्ट्रों ने प्रगति की, धर्मों का उदय हुआ। मानव हृदय एक दूसरे से मिले, परस्पर के सम्बन्धों में सुधार हुआ, मधुरता का संचार हुआ। सेवा और समर्पण की प्रतिभूति नारी ने अपनी विभिन्न भूमिकाओं में समाज को जो दिया (शेष पृष्ठ ५०१ पर)

जैन दर्शन में अनेकान्त

जैन दर्शन के भव्य प्रासाद के चार मुख्य स्तम्भ हैं, उन्हीं के आधार पर यह महल टिका हुआ है— (१) आचार में अहिंसा, (२) विचारों में अनेकान्त, (३) वाणी में स्याद्वाद और (४) समाज में अपरिग्रह। यदि इन चारों में से एक की भी कमी हो जाती है तो जैन दर्शन का प्रासाद डगमगाने लगता है। हमें इन चारों की रक्षा करनी चाहिए। आज के युग में जैन दर्शन के अनुयायियों में इसकी कमी देखी जाती है और यह कमी ही जैन धर्म के ह्रास का कारण है। बुद्धिजीवी जैन दार्शनिकों, अणुव्रती-महाव्रतियों तथा धर्मश्रद्धालु श्रावकों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए कि हम अनेकान्ती हैं वस्तु-स्वरूप के ज्ञाता हैं फिर क्यों परस्पर वैमनस्य भाव रखकर झगड़ते हैं।

भगवान महावीर ने वस्तु को अनेक धर्मात्मक बतलाया है उस अनेक धर्मात्मक वस्तु को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि या नयदृष्टि का प्रयोग बतलाया है क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु का परिज्ञान अनेक दृष्टियों अर्थात् विभिन्न पहलुओं से ही हो सकता है। एक से नहीं। 'अन्त' शब्द का अर्थ धर्म होता है जिसमें अनेक धर्म पाये जायें वह अनेकान्त है। इस अनेकान्त विचारधारा को स्याद्वाद की निर्दोष भाषा से अभिव्यक्त किया जाता है। जब यह अनेकान्तवाद स्याद्वाद की गंगा में बहता है तब किनारे के मिथ्यावादों का स्वतः निरसन हो जाता है। यह वाद अपनी अलौकिक नाना नयों की

तरंगों से तरंगित होता हुआ अनन्त धर्मात्मक वस्तु का सुस्पष्ट प्रतिपादन करता है जिससे समग्र विरोध उपशान्त हो जाते हैं। इस विरोध मथन करने वाले अनेकान्त को आचार्य अमृतचन्द्र ने नमस्कार किया है—

परमागमस्य बीजं

निषिद्ध जात्यन्ध सिन्दूर विधानम् ।

सकल नय विलसितानां

विरोधमथनं नमामि अनेकान्तम् ॥

अर्थात् जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति विधान का निषेधक समस्त नयों से विलसित वस्तु स्वभाव के विरोध का शामक उत्तम जैन शासन का बीज अनेकान्त सिद्धान्त को मैं (आचार्य अमृतचन्द्र) नमस्कार करता हूँ।

इसी प्रकार सन्मति तर्क के कर्ता न्यायावतार के लेखक आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने भी अनेकान्त को नमस्कार किया है—

जेण विणा लोगस्स ववहारो सब्बथा न निब्बइए ।

तरस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽण्णेगंतवायस्स ॥

—सन्मति तर्क ३/६८

अर्थात् जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा नहीं चल सकता उस तीन भुवन के एकमात्र गुरु अनेकान्तवाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

इससे सिद्ध होता है कि यह अनेकान्तवाद समस्त विरोधों को शान्त करने वाला, लोक व्यव-

हार को सुचारु रूप से चलाने वाला और वस्तु-स्वरूप का सच्चा परिचायक है। इसके जाने बिना पग-पग पर विसंवाद खड़े होते हैं। न केवल अन्य-वादियों के विरुद्ध ही अपितु अपने स्वयं के वार्दों में ही विवाद उपस्थित हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान् महावीर के अनुयायियों में भी जो फिरकापरस्ती, लड़ाई-झगड़े, खींचतान देखने को मिलती है वह इस अनेकान्तवाद को न समझने के कारण ही है।

यह अनेकान्त अपेक्षावाद के नाम से भी प्रख्यात है। मुख्य और गौण विवक्षा या अपेक्षा ही इसका आधार है। वस्तु के एक-अनेक, अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, तत्-अतत्, सत्-असत् आदि धर्म अपेक्षा से ही कहे जा सकते हैं। वक्ता की इच्छा के अनुसार कहे जाते हैं। ज्ञानी को उसके अभिप्राय को जानकर ही वस्तु को समझने में उपयोग लगाना चाहिए। बिना अपेक्षा के वस्तु का सही स्वरूप नहीं कहा जा सकता है और न समझा जा सकता है। आचार्य श्री उमास्वाति ने 'अपितानपित सिद्धे'—अर्थात् वक्ता जब एक धर्म का प्रतिपादन करता है तो दूसरा धर्म गौण कर देता है और जब दूसरे धर्म को कहता है तब अन्य धर्म को गौण कर देता है। यही वस्तु के कथन का क्रम है और यही समझने का। पंचाध्यायी कर्ता ने लिखा है—

स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमनित्यं
त्वनेकमेकं च ।

तदतच्चेतिचतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥

अर्थात् स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् सत्, स्यात् असत् इस प्रकार चार युगलों की भाँति वस्तु अनेक धर्मात्मक है।

इस प्रकार अनेकान्तवाद अपेक्षावाद कथञ्चिद्-वाद और स्याद्वाद ये सब एकार्थवाची हैं। स्यात् का अर्थ कथञ्चित् अर्थात् किसी अपेक्षा से है। स्यात् शब्द व्याकरण के अनुसार अव्यय है, जिसका अर्थ

भी अनेकान्त का द्योतक अथवा एकान्त दृष्टि का निषेधक है। इसी की पुष्टि में आचार्य विद्यानन्दी ने कहा है—

“स्यादिति शब्दोऽनेकान्तद्योति प्रतिपत्तव्यो” अर्थात् स्यात् शब्द को अनेकान्त का द्योतक समझना चाहिये। स्वामी अकलंक देव ने भी स्याद्वाद का पर्याय अनेकान्त को ही बताया है और बतलाया है कि यह अनेकान्त सत् असत्, नित्यानित्यादि सर्वथा एकान्त का प्रतिक्षेप लक्षण है। “सदसन्नित्यादि सर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः” अर्थात् सर्वथा एकान्त का विरोध करने वाला अनेकान्त कथञ्चित् अर्थ में स्यात् शब्द निपात है—

“सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तता द्योतकः कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः” । समंतभद्र ने भी स्याद्वाद का लक्षण अपने देवागमस्तोत्र में कितना सुन्दर किया है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् कि वृत्तचिद्विधि ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥

कहने का तात्पर्य है कि सभी जैनाचार्यों ने अनेकान्त एवं स्याद्वाद को सर्वथा एकान्तवाद का खण्डन करने वाला, विधि निषेध को बताने वाला, हेयोपादेय को समझाने वाला कहा है। जब तक हम इस अनेकान्त को व्यावहारिक नहीं करेंगे और मात्र शास्त्रों की वस्तु ही रखेंगे तब तक कल्याण नहीं हो सकता। जैसे आम की अपेक्षा आंवला छोटा होता है किन्तु बेर की अपेक्षा बड़ा होता है। उसी प्रकार मनुष्यत्व की अपेक्षा राजा और रंक समान होते हैं, पण्डित और मूर्ख समान होते हैं किन्तु फिर भी उनमें परस्पर कितना अन्तर होता है। इसे कोई इनकार नहीं कर सकता। पिता-पुत्रादि के नाते भी अपेक्षाकृत कहे जाते हैं। इस प्रकार यह अनेकान्त अथवा अपेक्षावाद शास्त्रों में ही नहीं, व्यवहार-परक भी सिद्ध होता है। द्रव्यदृष्टि वस्तु के ध्रौव्य रूप का द्योतन कराती है तो पर्यायदृष्टि उसकी उत्पत्ति व विनाश का ज्ञान कराती है। कोई भी

वस्तु मूल रूप से सर्वथा नष्ट नहीं होती, उसकी पर्याय ही नष्ट होती है। जैसे कोई स्वर्णाभूषण है, चाहे उसे कितनी ही बार गलाकर बदल लें, बदल जायेगा। आज वह कुण्डल है तो कालान्तर में उसका कटक बनाया जा सकेगा फिर कभी अन्य आभूषण बन जायेगा परन्तु वह अपने स्वर्णपन से च्युत नहीं होगा इसी भाँति वस्तु में परिवर्तन पर्यायापेक्षा से होता है। द्रव्य अपेक्षा से नहीं। आज जो गेहूँ है वही आटा बन जाता है। फिर वही रोटी भोजन, मल, खाद आदि नाना पर्यायों को धारण करता है। इतना होने पर भी कोई विरोध नहीं आता। उसी प्रकार अनेकान्त के सहारे वस्तु को समझने में कोई विरोध नहीं आता। आज कोई धनादि के होने से धनाढ्य है तो कल वही उसके अभाव में रंक गिना जाता है। आज कोई रोग से रोगी है तो कल वह निरोगी कहलाता है। जीवन और मरण का क्रम भी इसी प्रकार हानोपादान के माध्यम से चलता रहता है। स्याद्वादी अनेकान्तवादी कभी भी दुखी या मायूस नहीं होता। वह वस्तु का परिणामनशीलपना भलीभाँति जानता है। परिणामन के अभाव में वस्तुत्व धर्म समाप्त हो जाता है। जो व्यक्ति इसको नहीं जानता वह दुःखी होता है। संयोग और वियोग का सही स्वरूप जिसे ज्ञात नहीं है वह अज्ञानी इष्ट वस्तु के संयोग में हर्ष और वियोग में दुःखी होता है। ज्ञाता इससे विपरीत माध्यस्थ भाव धारण करता है। इसी विषय पर स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक, प्रमोद माध्यस्थं जनोयाति सहेतुकम् ॥

अर्थात् जैसे सोने के कलश को गलाकर मुकुट बनाया गया तो कलशार्थी को दुःख होगा। मुकुट के इच्छुक को प्रसन्नता होगी किन्तु जो मात्र स्वर्ण ही चाहता है उसे न हर्ष होगा न विषाद। वह मध्यस्थ रहेगा। इसी प्रकार लोक में विभिन्न वाद अपनी-अपनी मान्यता को लेकर उपस्थित होते हैं। कोई शून्यवादी है तो कोई सदैश्वरवादी। कोई द्वैत-

वादी है तो कोई अद्वैत को मानते हैं। कोई नित्यवादी है तो कोई सर्वथा अनित्यवादी है, क्षणिकवादी है। अनेकान्त का ज्ञाता कभी इनसे विवाद नहीं करता। वह अपने अनेकान्त से वस्तु के असली स्वरूप को समझकर नय-विवक्षा लगाता है और सभी को स्वीकार करता है कि वस्तु कथञ्चित् नित्य भी है और अनित्य भी है, एक भी है अनेक भी है। द्वैत भी है और अद्वैत भी है। वह सब दशाओं में 'भी' से काम लेता है 'ही' से नहीं। वह कभी नहीं कहेगा कि वस्तु नित्य ही है, अनिरय ही है, एक ही है, अनेक ही है, अतः स्पष्ट ही है कि अनेकान्तदर्शन समस्त वादों को मिलाकर वस्तु तत्त्व को निखारता है। अनेकान्ती जानता है कि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। न केवल सामान्य है तो न केवल विशेष। न सर्वथा भाव स्वरूप है तो न सर्वथा अभाव रूप। स्वामी समन्तभद्र ने इसी तथ्य को युक्त्यनुशासन में कहा है—

व्यतीत सामान्य विशेषवाद्द्विष्वखिलापाज्यं
विकल्पशून्यम् ।
खपुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं प्रबुद्ध तत्त्वाद्भवतः
परेषाम् ॥

अर्थात् एकान्तवादियों का तत्त्व सामान्य और विशेष भावों से परस्पर निरपेक्ष होने के कारण 'ख' पुष्पवत् असत् है क्योंकि वह भेद व्यवस्था से शून्य है। तत्त्व न सर्वथा सत् स्वरूप ही प्रतीत होता है और न असत्स्वरूप ही, परस्पर निरपेक्ष सत् असत् प्रतीति कोटि में नहीं आता किन्तु विवक्षावशात् अनेक धर्मों से मिश्रित हुआ तत्त्व ही प्रतीति योग्य होता है।

कुछ कहते हैं कि जो वस्तु अस्ति रूप है वह नास्ति रूप कैसे हो सकती है? इसी के साथ उभय रूप, अनुभय रूप, वक्तव्य अव्यक्तव्य कैसे हो सकती है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि—उक्त सातों भंग विधि प्रतिषेध रूप प्रश्न होने पर सही स्थिति में सिद्ध होते हैं। कहा भी है—

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

“प्रश्नवशादेकत्र वस्तूनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी ।”

(१) स्यादस्ति, (२) स्यादनास्ति, (३) स्यादस्ति-नास्ति, (४) स्याद् अवक्तव्य, (५) स्यादस्ति अवक्तव्य, (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य, (७) स्यादस्ति-नास्तिअवक्तव्य । ये सातों भंग विधि प्रतिषेध कल्पना के द्वारा विरोध रहित वस्तु में एकत्र रहते हैं और प्रश्न करने पर जाने जाते हैं । वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा अस्तिरूप है तो परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा नास्तिरूप है । उक्त सात भंगों में ‘स्यात्’ शब्द जागरूक प्रहरी बना हुआ है जो एक धर्म से दूसरे धर्म को मिलने नहीं देता, वह विवक्षित सभी धर्मों के अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा करता है । इस स्यात् का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है । वक्ता

के अभिप्राय के अनुसार एक धर्म प्रमुख होता है तब दूसरा गौण हो जाता है । इसमें संशय और मिथ्या-ज्ञानों की कल्पना भी नहीं है । अन्य मतावलम्बियों ने भी अनेकान्तवाद को स्वीकार किया है । अध्यात्म उपनिषद् में भी कहा है—

भिन्नापेक्षायथैकत्र, पितृपुत्रादि कल्पना ।
नित्यानित्याद्यनेकान्त, स्तथैव न विरोत्स्यते ॥
वैशेषिक दर्शन में कहा है—सच्चासत् ।
यच्चान्यदसदस्तदसत् ।

इस प्रकार अन्य दर्शनों में भी अनेकान्त की सिद्धि मिलती है । हमको अनेकान्तदृष्टि द्वारा ही वस्तु को ग्रहण करना चाहिए । एकान्तदृष्टि वस्तु तत्त्व का ज्ञान कराने में असमर्थ है । अनेकान्त कल्याणकारी है, और यही सर्व धर्म समभाव में कारणरूप सिद्ध हो सकता है ।

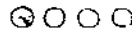


है, उसका सही मूल्यांकन करना बहुत ही कठिन है सामाजिक कदर्थनाओं के यन्त्र में पिसी जाकर भी इक्षु की तरह वह सदा मधुर माधुर्य लुटाती रही है ।

नारियो ! युग की पुकार है । तुम्हें जागना है । वासना के दलदल से तुम्हें मुक्त होना है । तुम्हारा गौरव इसमें नहीं कि विज्ञापनों में तुम्हारे अर्धनग्न

(शेष्ठ पृष्ठ ४६७ का)

देह को प्रस्तुत किया जाय । जो नारी माता-भगिनी-पुत्रो जैसे गरिमामय पद पर प्रतिष्ठित रही, जो सत्य और शील की साक्षात्मूर्ति रही, उनको चन्द चांदी के टुकड़ों के लोभ में फँसे हुए इन्सान जिस रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, वह हमारी संस्कृति के साथ धोखा है । भारतीय संस्कृति में नारी नारायणी के रूप में प्रतिष्ठित रही है ।



सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन क्या है ? सम्यग्दर्शन से जीवन में कैसा परिवर्तन होता है ? यह एक चिन्तनीय विषय है । इस विषय को समझे बिना हमारे जीवन में विकास नहीं हो सकता । अध्यात्म-साधक अन्य कुछ भी न समझे, किन्तु सम्यग्दर्शन के वास्तविक स्वरूप को उसे समझना होगा । सम्यग्दर्शन रूपी दिव्य-रत्न को पाया, तो सब कुछ ही पाया । यदि इस रत्न को नहीं पाया, तो कुछ भी नहीं पाया । इस चैतन्यस्वरूप आत्मा ने अनन्त बार स्वर्ग का सुख पाया और भूमण्डल पर राज-राजेश्वर का अपार वैभव पाया परन्तु इस अमूल्य रत्न के अभाव में अपनी आत्मा का ज्योतिर्मय रूप नहीं पा सका । नारकीय दुःख तथा स्वर्गीय सुख पवित्रता प्रदान नहीं कर सकते । जिस प्रकार दुःख आत्मा का एक दूषित भाव है उसी प्रकार सुख भी आत्मा का मलिन भाव है । यह भी सत्य है कि सुख आत्मा को प्रिय है और दुःख उसे अप्रिय रहा है किन्तु सुख एवं दुःख दोनों ही आत्मा के मलिन भाव हैं । आत्मा की मलिनता को दूर करने का एकमात्र अमोघ साधन यदि कोई हो सकता है तो वह सम्यग्दर्शन है । यदि आप अध्यात्म-साधना के भव्य-मन्दिर में प्रवेश करके आत्मदेव की उपासना करना चाहते हैं—तो उस रमणीय मन्दिर में प्रविष्ट होने के लिए आपको सम्यग्दर्शन के द्वार से प्रवेश करना होगा । यदि सम्यग्दर्शन की दिव्य-ज्योति अन्तरंग और अन्तरात्मा में जगमगा उठी और अपने ज्योतिर्मयस्वरूप और अनन्तशक्ति की पहचान हो गई । सम्यग्दर्शन रूप चिन्तामणि रत्न को पाकर भयभीत आत्मा अभय हो जाता है । भय आत्मा का एक विकारी भाव है । जब तक साधक

के हृदय में भय का प्रगाढ़ अन्धकार छाया रहेगा तब तक यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसने सम्यग्दर्शन का दिव्य प्रकाश प्राप्त कर लिया है । निश्चय ही जिसने सम्यग्दर्शन के समुज्ज्वल रत्न को उपलब्ध कर लिया है उसके जीवन में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहेगा । अतएव यह सुस्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन की साधना और आराधना अभय की साधना है, आराधना है । जो साधक कदम-कदम पर भयग्रस्त हो जाता है, वह अपनी साधना में सफलता अधिगत नहीं कर सकता । साधना के मंगलमय मार्ग पर वह बहुत आगे नहीं बढ़ सकता । मोक्ष की साधना में सबसे पहली और महत्वपूर्ण बात है—निर्भय होने की । निर्भयता का उद्भव सम्यग्दर्शन से होता है ।

आत्मा अनादिकाल से सदा एक समान रहा है । वह कभी भी जीव से अजीव नहीं बना है, चेतन से अचेतन नहीं बना है । इसके मौलिक स्वरूप में कभी कोई न्यूनता एवं अधिकता नहीं हुई । उसका एकांश भी कभी बना नहीं, बिगड़ा नहीं, आत्मा सदा-सदा से आत्मा ही रहा है । आत्मा कभी अनात्मा नहीं बन सकता और अनात्मा भी आत्मा नहीं बन सकता । फिर भी जीवन में किस बात की कमी है कि यह संसारी आत्मा क्यों विलखता है, क्यों रोता है ? आत्मा अविनाशी एवं अजन्मा मान लेने पर तो जीवन में अभाव नहीं रहना चाहिए । फिर भी यह मानव इधर से उधर और उधर से इधर क्यों भटकता है ? दो बातें हो सकती हैं—या तो उसे अपनी चैतन्य स्वरूप आत्मा की अमरता पर आस्था नहीं है, विश्वास नहीं है । और यदि उसे विश्वास है तो वह उस विश्वास को सुदृढ़ नहीं कर

सका है। आत्मतत्त्व की अमरता पर विश्वास हो जाने पर जब तक उसकी दिव्य-उपलब्धि नहीं होती है तब तक जीवन-संघर्ष के मूल का उन्मूलन नहीं हो सकता। आत्मा की अमरता का परिज्ञान एक महान उपलब्धि है। परन्तु यह तथ्य भी ज्ञातव्य है कि आत्मा की सत्ता का भान और उसकी अनन्त शक्ति का परिज्ञान एक चीज नहीं है। पृथक-पृथक चीजें हैं। आत्मा की असीम, अक्षय सत्ता की प्रतीति होने पर भी, जब तक उसकी अनन्त-अनन्त शक्तियों का परिज्ञान नहीं होता और उसकी प्रयोग विधि का ज्ञान नहीं है, तो शक्ति के रहते हुए भी वह कुछ कर नहीं सकता। सम्यग्दर्शन का एक मात्र परम-उद्देश्य यही है कि आत्मा को अपनी क्षमता और शक्ति की जो विस्मृति हो गई है, उसे दूर करना है। जो असत्यपूर्व है और जिसकी मूल स्थिति नहीं है, जिसका कोई यथार्थ स्वरूप नहीं है परन्तु जिसे आत्मा ने अपनी अज्ञानता के कारण से सब कुछ जान लिया है, समझ लिया है उस भ्रान्ति को दूर करना। जैन दर्शन का स्पष्ट आघोष है कि सम्यग्दर्शन उपलब्ध करने का अर्थ यह नहीं है कि पहले कभी दर्शन का सद्भाव नहीं था और अब वह नये रूप में उत्पन्न हो गया। दर्शन को मूलतः समुत्पन्न मानने का अभिप्राय यह होगा कि एक दिन वह विनष्ट हो सकता है। सम्यग्दर्शन के उद्भव का अर्थ किसी नवीन पदार्थ का जन्म नहीं है, बल्कि सम्यग्दर्शन की समुत्पत्ति का तात्पर्य इतना ही है कि वह विकृत से अविकृत हो गया। वह पराभि-मुख था, स्वाभिमुख हो गया और वह मिथ्यात्व से सम्यग् हो गया। आत्मा का जो श्रद्धान नामक गुण है, आत्मा का जो दर्शन नामक गुण है, सम्यग् और मिथ्या ये दोनों आत्मा की पर्याय हैं। मिथ्या-दर्शन एवं सम्यग्दर्शन इन दोनों में दर्शन शब्द पड़ा हुआ है। जिसका अभिप्रेत अर्थ है—दर्शन गुण कभी मिथ्या भी होता है, और सम्यग् भी होता है। मिथ्यादर्शन का फल 'संसार' है और सम्यग्दर्शन का फल मोक्ष है। किन्तु इतना अवश्य ही जानना

चाहिए कि दर्शन गुण की उक्त दोनों ही पर्यायें कभी एक साथ नहीं रहती हैं। जब मिथ्या पर्याय का सद्भाव है तब सम्यग् पर्याय नहीं रहेगी और जब सम्यग् पर्याय है तब मिथ्यापर्याय कभी नहीं रह सकती। जहाँ रजनो है वहाँ रवि नहीं है और जहाँ रवि है वहाँ रजनी नहीं है। इसी प्रकार जहाँ दर्शन की मिथ्या पर्याय है वहाँ सम्यग् पर्याय नहीं रह सकती और जहाँ दर्शन की सम्यग् पर्याय है वहाँ मिथ्या पर्याय नहीं रहती। मेरा स्पष्ट मन्तव्य इतना ही है कि वस्तु तत्त्व में उत्पाद और व्यय पर्याय की अपेक्षा से है, द्रव्यदृष्टि और गुणदृष्टि से नहीं। द्रव्यदृष्टि से विराट विश्व की प्रत्येक वस्तु सत् है, असत् नहीं है क्योंकि जो वस्तु सत् है वह तीन काल में भी असत् नहीं हो सकती और जो असत् है वह भी तीन काल में सत् नहीं हो सकती, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ सत् और असत् दोनों हो सकते हैं। जब मैंने सम्यग्दर्शनरूपी दिव्य-रत्न प्राप्त कर लिया तब इसका अभिप्राय यह नहीं होगा कि पहले मेरे में सम्यग्दर्शन का सद्भाव नहीं था और आज ही वह नये रूप में उत्पन्न हो गया। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि आत्मा का जो 'दर्शन' नामक गुण आत्मा में अनन्तकाल से विद्यमान था उस दर्शन गुण की मिथ्या पर्याय को परित्याग कर मैंने उसकी सम्यग् पर्याय को प्राप्त कर लिया। आगमीय भाषा में इसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कहा जाता है। जैन दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि मूलतः कोई नवीन चीज प्राप्त करने जैसी बात नहीं है बल्कि जो सदा से विद्यमान रही है उसको शुद्धतम रूप से जानने-पहचानने और देखने की बात है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि का यही अभीष्ट अर्थ है।

अध्यात्मसाधक के जीवन में सम्यग्दर्शन की कितनी गुरुता है, कितनी महिमा है, और कितनी गरिमा है—शास्त्र इसके प्रमाण हैं। सम्यग्दर्शन वस्तुतः एक वह विशिष्ट कला है, जिससे आत्मा स्व और पर के भेद-विज्ञान को प्राप्त कर लेता

है। सम्यग्दर्शन एक वह दिव्य कला है जिसके उपयोग और प्रयोग से आत्मा संसार के समग्र बन्धनों से मुक्त हो जाता है। संसार के दुःख और क्लेश से सर्वथा रहित हो जाता है। सम्यग्दर्शन की विशिष्ट उपलब्धि होते ही यह पूर्ण रूप से पता चलने लगता है कि आत्मा में असीम क्षमता है, अपार शक्ति है और अमित बल है। जब आत्मा अपने आपको जड़ न समझकर चेतन समझने लगता है। तब सभी प्रकार की सिद्धियों के द्वार उद्घाटित हो जाते हैं। जरा अपने भीतर झाँककर देखना है, और अपने अन्तर्हृदय की अतल गहराई में उतरकर सुदृढ़ विश्वास के साथ कहना है कि मैं केवल अविनाशी आत्मा हूँ, अन्य कुछ भी नहीं। मैं केवल चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ, जड़ नहीं। मैं सदा-सर्वदा शाश्वत हूँ जल तरंगवत् क्षणभंगुर नहीं। न मेरा कभी जन्म होता है और न कभी मरण होता है। जन्म मृत्यु मेरे नहीं है। ये तो शरीर के खेल है। देह का जन्म होता है और देह की मृत्यु होती है। जन्मने और मरने वाला मैं नहीं हूँ, मेरा यह विनाशशील शरीर है। जिस साधक ने अपनी आध्यात्मिक साधना के माध्यम से अपने सहज-विश्वास और स्वाभाविक सुबोध को उपलब्ध कर लिया है वह यही कहता है कि मैं अनन्त हूँ, मैं अजर हूँ, मैं अमर हूँ, मैं शाश्वत हूँ, मैं सर्वशक्तिमान हूँ। वास्तव में मैं आत्मा हूँ यह दृढ़ विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन है। अपनी अखण्ड सत्ता की स्पष्ट रूप से प्रतीति होना ही आध्यात्मिक जीवन की सर्वश्रेष्ठ और सर्व ज्येष्ठ उपलब्धि है। अध्यात्म साधना के क्षेत्र में सम्यग्ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ज्ञान मुक्ति-प्राप्ति का एक अमोघ साधन है। अज्ञान और वासना के सघन अरण्य को जलाकर भस्मसात् करने वाला दावा-

नल सम्यग्ज्ञान ही है। ज्ञान का अर्थ यहाँ किसी ग्रन्थ का ज्ञान नहीं है अपने ज्योतिर्मय स्वरूप का बोध ही सच्चा ज्ञान है, यथार्थ ज्ञान है। "मैं आत्मा हूँ" यह ज्ञान जिस साधक को हो गया है उसे फिर किसी भी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह आत्म-स्वरूप का ज्ञान तभी सम्भव है जब कि उससे पूर्व सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो चुकी हो क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में जैतव का एक अंश भी सम्प्राप्त नहीं हो सकता। यदि सम्यग्दर्शन की एक प्रकाश किरण भी जीवन क्षितिज पर चमक-दमक जाती है तो गहन से भी गहन गर्त में पतित आत्मा के अभ्युदय की आशा हो जाती है। सम्यग्दर्शन की उस दिव्य-किरण का प्रकाश भले ही कितना मन्द क्यों न हो परन्तु उसमें आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति होती है, क्षमता होती है। हमें यह भी याद रखना है कि उस निरंजन और निर्विकार परमात्मा को खोजने के लिए कहीं इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने अन्तरात्मा में ही है। जिस प्रकार घनघोर घटाओं के मध्य, विद्युत् की क्षीण-रेखा के चमक जाने पर क्षण भर के लिए यत्र-तत्र सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है उसी प्रकार एक क्षणमात्र के लिए, सम्यग्दर्शन की दिव्य ज्योति के प्रगट हो जाने पर कभी न कभी आत्मा का समुद्धार हो ही जायेगा। बिजली की चमक में सब कुछ दृष्टिगोचर हो जाता है उसी प्रकार परमात्म-तत्व के प्रकाश की एक प्रकाश-किरण भी अन्तर्मन में जगमगा उठती है तो फिर भले ही वह कुछ क्षण के लिए ही क्यों न हो उसके प्रकाश में मिथ्याज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है। ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बनाने वाला सम्यग्दर्शन ही है। यह सम्यग्दर्शन अध्यात्म साधना का प्राणतत्व है।

१. वैर और वैरी

क्रोध जब स्थायित्व ग्रहण कर लेता है तो वैर का रूप धारण कर लेता है। क्रोध की अवधि सीमित होती है, पर वैर पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जन्म-प्रति-जन्म तक भी चलता है। क्रोध घातक है तो वैर महाघातक है। अचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वैर को क्रोध का अचार या मुरब्बा उसके स्थायित्व को लक्ष्य करके कहा है।

कुलपुत्र का भ्रातृवियोग क्रोध में और क्रोध वैर में बदल गया था। उसने प्रतिज्ञा कर डाली—जब तक मैं अपने भ्रातृहन्ता का वध नहीं कर लूंगा, तब तक घर नहीं लौटूंगा। क्षत्रियों के स्वभाव में यह उक्ति घुलमिल गई है—जिनके शत्रु जीवित डोलें, तिनके जीवन को धिक्कार।

सन्त जन भले ही यह कहते हों कि “बदला” अमानवीय शब्द है। पर क्षत्रियों का मानना यह है कि जब तक शत्रु से बदला न ले लिया जाए, तब तक क्षत्रिय क्षत्रिय नहीं। यह कुलपुत्र भी तो क्षत्रिय था, तो फिर अपने भाई को मारने वाले से बदला लेने की प्रतिज्ञा क्यों न करता ?

किसी नगर में एक क्षत्रिय परिवार रहता था। घर में चार प्राणी थे—पति-पत्नी और दो बच्चे। दोनों भाइयों में तीन वर्ष का अन्तर था। बड़ा भाई पांच वर्ष का था और छोटा दो का, तभी इनके पिता का देहान्त हो गया। असमय में ही ठकुरानी विधवा और बालक अनाथ हो गए। फिर भी ठकुरानी ने हिम्मत नहीं हारी। गुजारे के लिए उसके पति की छोड़ी गई पर्याप्त सम्पत्ति थी। उसने दोनों पुत्रों के लालन-पालन और शिक्षा का कर्तव्य पूरी

निष्ठा से निभाया। दोनों भाई लाठी चलाने से लेकर, भाला, खड्ग आदि शस्त्रों का संचालन भी बड़ी कुशलता से करते थे। दोनों मल्लविद्या में भी पारंगत थे। शत्रु की ललकार सुनकर भाइयों की भुजाएँ फड़क उठती थीं। माँ को अपने पुत्रों पर गर्व था। दोनों भाई जब मल्लयुद्ध करने अखाड़े में जाते थे तो माँ उन्हें आशीर्वाद देते समय एक ही बात कहती—

“भिरे दूध की लाज रखना, पिता का नाम ऊँचा करना और यह सिद्ध करके आना कि क्षत्रियपुत्र मरना जानते हैं, डरना नहीं।”

दोनों भाई, जिससे भी भिड़े, उसे पराजित करके ही आये। एक बार बड़े भाई के एक प्रतिद्वन्द्वी ने, जब वह घर लौट रहा था, पीछे से उस पर वार किया और भाग गया। छोटा भाई तो हक्का-बक्का रह गया। उसकी चीख सुनकर माँ दौड़ी आई। पास-पड़ोस के लोग भी इकट्ठे हो गए। माता और भाई का करुण क्रन्दन देखा नहीं जाता था। ठकुरानी पछाड़ें खा रही थी। भाई छाती पीटकर रुदन कर रहा था।

संसार की हर वस्तु क्षणिक है। वियोग का शोक भी समय के साथ घटता है। रोते-रोते तीन चार घड़ी का समय बीता वो माता को पुत्र का और अनुज को अग्रज का शोक कुछ कम हुआ—कुछ स्थिर हो गया। अब वे परिस्थिति पर विचार करने लगे। ठकुरानी सिंहनी-सी उठकर खड़ी हो गई और अपने पुत्र को धिक्कारने लगी—

“तेरे भाई को मारकर हत्यारा भाग गया और तू कायरों की तरह आँसू बहा रहा है ? अब तक की हार-जीत तो अखाड़े के खेल की हार-जीत थी। तेरे क्षात्र तेज की कसौटी तो अब है पुत्र ! उठकर खड़ा हो जा। अपने भ्रातृहन्ता का वध मेरे सामने लाकर करेगा, तब मेरी छाती ठण्डी होगी। क्या मेरा दूध तूने यही दिखाने के लिए पिया था ?”

“माँ, अब कुछ मत कहो।” छोटा कुलपुत्र उठकर खड़ा हो गया—“मेरे भाई को धोखे से मार कर भागने वाला कहीं तू मिलेगा। वह धरती में छिपा होगा तो मैं धरती खोदकर उसे यहीं लाऊँगा। उसे बाँधकर तेरे चरणों में डाल दूँगा और तेरे सामने ही उसका वध करूँगा। जहाँ मेरे भाई का खून बहा है, उसी स्थान पर उसका खून बहाऊँगा। माँ, मैं जाता हूँ। अब तभी लौटूँगा, जब अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लूँगा।”

माँ, कुलपुत्र को जाते हुए देखती रही। उसे अपने दूध पर विश्वास था। वह जानती थी कि मेरा पुत्र भाई के हत्यारे को लेकर ही लौटेगा। कुलपुत्र चला गया। नगरवालों ने बड़े कुलपुत्र की अन्त्येष्टि की। कुछ लोगों ने टिप्पणी की—

“आवेश में भाई को अग्नि भी नहीं दे गया।”

“क्षत्रिय का क्रोध ऐसा ही होता है।” दूसरे ने टिप्पणी की—“बात पर मरना क्षत्रिय ही जानते हैं।”

× × ×

कुलपुत्र को न नींद की चिन्ता थी, न भोजन की भूख। उसकी आँखें शत्रु को खोजने में लगी थीं। जो भी व्यक्ति उसे संदिग्ध दिखता, वह झपटकर उसके पास पहुँच जाता और पहचान कर कहता—

“जाओ, जाओ, तुम वह नहीं हो।”

उसकी इन हरकतों से उसे लोग पागल समझते थे। यदि गहराई से सोचें तो वह प्रतिशोध ने पागल ही बना दिया था। वृक्ष के मूल में बैठा-बैठा ऊँघता रहता और पत्ता भी खड़कता तो एक

दम चौकन्ना हो जाता। गाँव-गाँव, नगर-नगर घूमता था कुलपुत्र। उसके सामने खून से लथपथ भाई का शव बार-बार आ जाता। कभी सोचता, ‘जरूरी तो नहीं कि मैं शत्रु को खोज ही लूँ। यदि नहीं खोज पाया तो आत्मदाह कर लूँगा। क्षत्रिय जब अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर पाते तो आत्मदाह ही करते हैं। लेकिन मैं उसे ढूँढ़कर ही रहूँगा। धरती का चप्पा-चप्पा छान डालूँगा।’

सचमुच, कुलपुत्र ने चप्पा-चप्पा छानना ही शुरू कर दिया। जंगल, बाग-बगीचे, खेत-खलिहान, मरघट, मन्दिर, मद्यशालाएँ, जुए के अड्डे, चोरों की पल्लियाँ, नदी के धार-कछार, खाई-खन्दक, पर्वत-टीले सबको देखता-छानता वह रात-रात भर भटकता रहता था। बीतते-बीतते इस अभियान में कुलपुत्र को बारह वर्ष बीत गए। इन बारह वर्षों में वह युवा से प्रौढ़-जैसा बन गया था। दाढ़ी बढ़ गई थी और थक भी गया था, पर निराश नहीं हुआ था।

बारह वर्ष बाद का एक दिन—चाँदनी रात। एक टीले के नीचे कुलपुत्र ने एक व्यक्ति को देखा। सन्देह हुआ तो लपककर उसके पास पहुँचा। कुलपुत्र को देखते ही संदिग्ध व्यक्ति भागने लगा। सन्देह निश्चय में बदल गया और कुलपुत्र पूरा बल लगाकर दौड़ने लगा। थोड़ी ही देर में उसने अपने शत्रु को दबोच लिया। वह गिड़गिड़ाने लगा—

‘मुझे मत मारो, मैं तुम्हारी शरण में हूँ।’

‘अभी तुझे नहीं मारूँगा।’ कुलपुत्र ने कहा—‘तुझे मैं वहीं ले जाकर मारूँगा, जहाँ मेरे भाई ने दम तोड़ा था।’

कुलपुत्र ने अपने सिर की पगड़ी खोल ली और उसी से भ्रातृहन्ता के हाथ-पैर बाँधकर पीठ पर लाद लिया और चल दिया गाँव की ओर। रात-भर चलता रहा। दिन में भी रुका नहीं। बदला लेने की तीव्रतम भावना ने उसकी चाल बढ़ा दी

थी। शत्रुता के आक्रोश ने शत्रु का बोझ भी हल्का कर दिया था। पीठ पर लदे शत्रु ने कहा—

‘मुझे खोल दो तो मैं तुम्हारे साथ पैदल चलूंगा।’

‘मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि अब तुझे भागने का अवसर दूँ।’ कुलपुत्र बोला—‘तुझे लेकर चलना मेरे लिए कठिन नहीं है। बारह साल की तपस्या के बाद तू मुझे मिला है।’

× × ×

शत्रु को घर के आँगन में पटककर कुलपुत्र ने आवाज लगायी—

‘माँ, तेरे पुत्र और मेरे भाई का हत्यारा अब तेरे सामने है। यह खड्ग ले मेरा और अपने पुत्र का बदला ले ले।’

ठकुरानी कुछ कहती कि बंधन में पड़ा शत्रु गिड़गिड़ाने लगा—

‘मुझे मत मारो। मैं तुम्हारा दास हूँ। जीवन-भर तुम्हारी सेवा करूँगा। मैं तुम्हारी शरण में हूँ। मेरे मरते ही मेरी बूढ़ी माँ रोते-रोते प्राण दे देगी। मेरे बच्चे अनाथ हो जायेंगे। पत्नी विधवा हो जाएगी। छोड़ दो मुझे।’

‘शत्रु, अग्नि, सर्प और रोग—इन्हें कभी शेष नहीं छोड़ना चाहिए।’ कुलपुत्र ने कहा—‘मैं अपने भाई का बदला तुझे मार कर ही लूँगा। बस, तू अपने इष्ट का स्मरण कर ले।’

यह कह कुलपुत्र ने खड्ग ऊपर उठाया तो उसकी माँ चीखने लगी—

‘नहीं ई ई। इसे मत मार। छोड़ दे इसे।’

‘माँ! क्या तू पागल हो गई है? क्या तू अब ठकुरानी नहीं रही?’ कुलपुत्र ने आश्चर्य से कहा—‘बारह वर्ष भटकने के बाद हाथ आये शत्रु को बचाना चाहती है तू?’

‘तब मैं होश में नहीं थी, जब मैंने तुझे ललकारा था।’ क्षत्राणी ने कहा—‘इसे मार देने का एक ही

कारण है अज्ञान और इसे छोड़ देने के अनेक कारण हैं।

‘वत्स, इसे मारना अधर्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इसे मारने से ‘कुछ भी’ लाभ नहीं होगा—हानि-ही-हानि है। पर इसे न मारने से धर्म ही धर्म है और लाभ-ही-लाभ है।’

‘लाभ-हानि की बात तो व्यापारियों के लिए है।’ कुलपुत्र बोला—‘क्षत्रिय हानि सहकर भी अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करते हैं।’

‘तो तू क्षात्र धर्म जानता है!’ क्षत्राणी बोली—‘रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है, मारना नहीं। फिर शरणागत को मारना तो कायरों का काम है, क्षत्रियों का नहीं। शरणागत को रक्षा तो अपने प्राण देकर भी की जाती है।’

‘पुत्र, इसे मारकर क्या तू अपने दिवंगत भाई को पा सकेगा? कभी नहीं पा सकता। लेकिन इसे मुक्त करके तू इसे भाई के रूप में पा सकता है। सबसे बड़ा क्षत्रिय तो वह है जो शत्रु को भी मित्र बना ले।’

‘वत्स, मैं जानती हूँ कि पुत्र के मरने पर माँ पर क्या बीतती है। जो मुझ पर बीती है, वही इसकी माँ पर भी बीते इसकी कल्पना से भी मैं कांपने लगती हूँ।’

‘बेटा, तू अपने असली शत्रु को नहीं जानता। मारना है तो पहले उसी को मार। क्रोध ही तो तेरा शत्रु है। क्रोध बुद्धि को इतना भ्रष्ट कर देता है कि वह रक्त के दाग को रक्त से धुलवाने का असंभव प्रयास करवाता रहता है। अग्नि से अग्नि कभी बुझ पाई है, जो तू आज बुझाना चाहता है।’

‘लाड़ले, एक अग्नि तब जली थी, जब इसने तेरे भाई को मारा था। दूसरी अग्नि यह जल रही है, जब तू इसे मारने को खड़ा है। फिर इसका पुत्र तुझे मारेगा। फिर तेरा पुत्र इसके पुत्र को मारेगा। पुत्र न भी मारे तो अगले जन्म में यह तुझे मारेगा, फिर उससे अगले जन्म में तू इसे और जन्म-जन्मां-

(शेष पृष्ठ ५१२ पर)

२. गिरे तां गिरे, पर उठे भी बहुत ऊँचे

श्रेष्ठपुत्र अरणक ने पानी पीकर कटोरा खाली किया ही था कि एक दासी ने उसे ऊपर-ही-ऊपर हाथ में ले लिया। श्रेष्ठी दत्त भी पुत्र के पास बैठे थे। सेठानी भद्रा उसी समय आई थीं। उन्होंने अपने पति को मीठी झिड़की दी—

“ऐसा कब तक चलेगा ? कहते तो यह हैं कि माताएँ लाड़-प्यार में पुत्र को बिगाड़ देती हैं। पर मेरे अरणक को तो तुम—उसका पिता बिगाड़ रहा है। इसे इतना तो करने दो कि पानी पीकर कटोरा नीचे रख दे।”

“मेरा बस चले तो अरणक को पानी पीने का कष्ट भी न करना पड़े। पानी भी दासी पिये और इसकी प्यास बुझे।

“अरणक की माँ, तुम वे दिन भूल गईं, जब हम सन्तान के लिए तरसते थे। एक सन्तान के बिना ही हमें अपना ऐश्वर्य बड़ा भयानक लगता था। जाने कौन-सा पुण्य बचा था कि मैं पिता बना और तुम माता बन गईं। हमें अरणक जैसा सुन्दर, योग्य और चरित्रवान पुत्र मिला।”

“यह सब तो ठीक है स्वामी !” सेठानी भद्रा ने कहा—“पर अब अरणक बड़ा हो गया है। कल-परसों उसके विवाह की तैयारी भी होगी। अब उसे अपने काम स्वयं करने दीजिए। अब भी वह धार्यों और दासियों के हाथ का खिलौना बना रहेगा तो वह अकर्मण्य, आलसी और कुण्ठित हो जायगा।”

“तुम चिन्ता मत करो।” श्रेष्ठी दत्त ने कहा—“जब ऐसा अवसर आएगा, तब वह सब कुछ कर लेगा। जब तक माता-पिता की छाया बनी है,

तब तक मैं उसे फूल की तरह ही रखना चाहता हूँ।”

तगरा नगरी के श्रेष्ठी दत्त और सेठानी भद्रा को बड़ी आशाओं के बाद पुत्र मिला था। अतः दोनों का ही पुत्र अरणक पर अतिशय प्यार था। फिर भी पिता उसकी देखभाल पर अधिक ध्यान देते थे। वे चाहते थे कि अरणक को कुछ न करना पड़े।

अरणक बड़े सुखों में पल रहा था। उसे कोई पूछे कि गरमी क्या होती है तो वह नहीं बता पाता, क्योंकि ग्रीष्म-शीत के कष्टों के अनुभव का अवसर ही उसे नहीं मिला था। वह ऐसा फूल था जो चाँदनी में भी कुम्हला जाए। दाला खाने से उसके होंठ छिलते थे। पिता के लाड़-प्यार ने उसे अत्यधिक नाजुक, सुकुमार और संवेदनशील बना दिया था।

एक बार अर्हन्मित्र मुनि शिष्य मुनियों के साथ तगरा नगरी में पधारे। उन्होंने अपनी देशना में कहा—

“हम साधुओं को भी चिन्ता होती है, हमें भी दुःख का अनुभव होता है, जब दूसरों को दुःखी देखते हैं, तब ऐसा होता है। पर साधु और संसारी की चिन्ता में अन्तर है। आपकी अपने लिए और हमारी आपके लिए—दूसरों के लिए। हमारा—साधुओं का संसार विद्या का संसार है तो संसारियों का संसार अविद्या का है।

“भव्य जीवो, संसार में रहो, कोई हानि नहीं है, बस इतना ही ध्यान रखना है कि संसार की माया तुम पर सवार न होने पाये। बाहर से संसार

में रहो, पर भीतर त्याग और निवृत्ति का भाव बना रहे। संसार को दीर्घ स्वप्न समझो। इस स्वप्न को स्वप्न ही मान लो, यह निश्चय कर लो कि एक मात्र सत्य धर्म ही है। जब तक आपके भीतर संसार रहेगा, तब तक बाहरी त्याग-तपस्या मात्र काया कष्ट ही है—साधना नहीं।”

अर्हन्मित्र मुनि की देखना लम्बी और तथ्यों से भरी थी। अरणक के मन में दीक्षा लेने की इच्छा बलवती हुई। श्रेष्ठी दत्त भी संसार छोड़कर मुनि बनना चाहते थे। सेठानी भी उनसे पीछे रहना नहीं चाहती थी। लेकिन ये विचार तीनों के मन में ही थे। सबसे पहले मन को बात अरणक ने कही—

‘पिताजी, मैं चारित्र्य का पालन करके अपना मानव भव सफल करूँगा।’

‘चारित्र्य का पालन बच्चों का खेल नहीं है, वरस!’ श्रेष्ठी दत्त ने कहा—‘तुने आज तक ग्रीष्म की धूप नहीं देखी। अपने हाथ से पानी लेकर भी नहीं पिया। तपती दोषहरी में तू विहार कैसे करेगा? कभी अचित्त जल न मिला तो प्यासा कैसे रह पाएगा?’

‘भोगी जब योगी बनता है तो उसकी दृष्टि बदल जाती है। उसके विचार पहले जैसे नहीं रहते।’ अरणक ने पिता से कहा—‘पूज्य तात, शक्ति विचारों से ही मिलती है। जब मेरे विचार बदले हैं तो चारित्र्य पालन की शक्ति भी आ ही गई है।’

‘तो तू अकेला मुनि नहीं बनेगा।’ श्रेष्ठी दत्त बोले—‘तिरे साथ मैं भी दीक्षा लूँगा।’

‘तो मैं आपसे पीछे रहूँगी?’ सेठानी भद्रा ने पति से कहा—‘मेरा भी तो परलोक है। मैं भी साधवी बनूँगी।’

सेठानी भद्रा, श्रेष्ठी दत्त और श्रेष्ठीपुत्र अरणक—तीनों ने अर्हन्मित्र से दीक्षा ले ली। मुनि बनकर भी दत्त का पुत्रमोह कम नहीं हुआ। मन-

ही-मन उन्होंने सोच लिया था कि अरणक मुनि के लिए मैं ही गोचरी करने जाया करूँगा। यह तो मुकुमार है। धूप में कुम्हला जाएगा।

साधु संघ ने तगरा नगरी से अन्यत्र विहार किया। साधवी भद्रा तो साधवों संघ में मिल गई। मुनि दत्त और मुनि अरणक पितामुनि और पुत्र-मुनि के नाम से भी संघ में जाने गए।

पितामुनि पुत्रमुनि पर अब भी लाड़ करते थे। वे स्वयं गोचरी को जाते और पुत्रमुनि के लिए आहार-पानी की व्यवस्था करते। उनके इस आचरण को देखकर कुछ मुनियों ने दत्त मुनि से कहा—

‘मुने, आप अरणक मुनि के हित में अच्छा नहीं कर रहे। उन्हें स्वयं ही गोचरी के लिए जाने दीजिए। साधना तो स्वयं ही की जाती है।’

‘मेरा अन्त तो अरणक से पहले होगा। मेरे बाद वह अपने सभी काम स्वयं ही करेगा।’ मुनि-दत्त ने कहा—‘अरणक विहार कर लेता है, यही बहुत है।’

अन्य मुनि मौन हो गए। पिता मुनिदत्त और पुत्र मुनिअरणक का यह सिलसिला चलता रहा—चलता रहा।

इसी क्रम में दत्तमुनि का आयुष्य पूर्ण हो गया तो वे परलोकवासी हो गये। उनके जाते ही अरणक मुनि मानों अनाथ हो गये। वे भिक्षा लेने नहीं जा पाये तो निराहार ही रह गये। तब संघ के मुनियों ने कई दिन अरणकमुनि को आहार लाकर दिया। लेकिन एक दिन सभी मुनियों ने अरणक-मुनि से स्पष्ट कह दिया—

‘मुने, अब तुम किशोरवय के नहीं हो—युवा हो गये हो। चारित्र्य का पालन अपने बल पर ही होता है। तुम स्वयं गोचरी के लिए जाया करो।’

अरणक मुनि ने स्वीकार कर लिया। संयोग ऐसा बना कि ये दिन ग्रीष्म के दिन थे। पहले दिन

अरणक मुनि तपती धूप में गोचरी के लिए गये। यद्यपि धूप का ढलान था, फिर भी यह धूप अरणक मुनि के लिए असह्य थी। नंगे पाँव और नंगे सिर थोड़ी ही दूर चले कि उन्हें पसीना आने लगा। हवा भी बन्द थी। कनपटियों पर अंगारों के थप्पड़ से लगते थे। पाँव जल रहे थे। कोई वृक्ष आता तो थोड़ी देर छाँव में खड़े हो जाते, पर दूर-दूर तक कोई वृक्ष ही दिखाई नहीं दे रहा था। 'ऐसा कष्ट मुझे नित्य ही झेलना पड़ेगा।' अरणक मुनि सोच रहे थे—'ऐसी गरमी में लोग जीवित कैसे रह पाते हैं? मैंने सोचा भी नहीं था कि ग्रीष्म का यह कष्ट भी झेलना पड़ेगा।'

विषय-से चलते हुए अरणकमुनि बस्ती में पहुँच गये। एक भव्य भवन के नीचे छाँव थी और कुछ ठण्डक भी। अरणकमुनि उसी के नीचे खड़े होकर चैन की साँस लेने लगे। बस्ती में कोई कहीं आ-जा नहीं रहा है। सब अपने घरों में मानो गरमी से डरकर बन्द हो गये थे।

+ + +

एक सुन्दर युवती अपने शयन कक्ष में अकेली थी। एक दासी पंखा झल रही थी। वातायनों पर परदे पड़े थे। काफी राहत थी। इस सुन्दरी का पति बहुत दिनों से परदेश गया हुआ था। वह अपने मन की बातें अपनी दासी से कहकर ही समय काट लेती थी।

'चम्पा वातायन खोल दे।' सुन्दरी ने दासी से कहा—'वातायनों से धूप हट गई है। कुछ बाहर की हवा आने दे।'

दासी ने कक्ष की खिड़कियों पर पड़े परदे हटा दिये। उसने नीचे झाँककर देखा तो अपनी मालकिन से बोली—

'स्वामिनी, तनिक देखो तो नीचे कौन खड़ा है? बड़ा सुन्दर सजीला-गठीला युवक है।'

'फिर पूछती क्या है?' सुन्दरी ने कहा—'उसे ऊपर ले आ।'

चम्पा बोली—

'लेकिन वह आपके काम का नहीं है। कोई मुनि है।'

'मुनि है तो भिक्षा दूँगी।' सुन्दरी बोली—'ऊपर तो आ ही जाएगा।'

यह कह सुन्दरी स्वयं वातायन तक गई और उसने नीचे झाँककर अरणकमुनि को खड़े देखा तो चम्पा से बोली—

'चम्पा! बड़ा सुकुमार है। गोरी देह तप कर लाल हो गई है। 'महाराज आहार लीजिए' यह कहकर तू मुनि को ऊपर ले आ।'

दासी खट-खट-खट सीढ़ियाँ उतरते हुए नीचे गई और आहार का अनुरोध कर ऊपर ले आई। सुन्दरी ने उन्हें प्रणाम किया और बोली—

'मुने! क्षमा करें, आपकी शत्रुता किससे है? क्या अपनी देह से शत्रुता है जो उसे ग्रीष्म में जला रहे हो या फिर उठते यौवन से ही शत्रुता है जो उसका भोजन उसे नहीं दे रहे?

'मुने, विचार करो, देह के लिए तो आहार है पर आपके यौवन का आहार तो मैं ही हूँ। यौवन को भूखा रखना भी पाप है। मेरा यौवन भी भूखा है। व्यर्थ मैं काया को कष्ट देना तो मूर्खता है। यदि मुनि बनना इतना अच्छा होता, जितना आपने समझा है तो सारा जगत मुनियों से ही भर जाता।'

सुन्दरी की बातें सुन अरणक मुनि सोचने लगे—'बड़ी कठिनाई से मैं यहाँ तक आ सका हूँ? नित्य ही ऐसी भीषण गरमी में गोचरी के लिए आना पड़ेगा। सुन्दरी ठीक कहती है।'

अरणक मुनि सोच ही रहे थे कि सुन्दरी ने उनका हाथ पकड़ लिया। वे हाथ छुड़ा नहीं पाये। वह बोली—

'पलंग पर बैठिए। मैं पंखा झलूंगी। मैंने मोदक बनाए हैं। खाकर ठंडा पानी पीजिए।'

अरणक मुनि सुन्दरी के जाल में फँस ही गए।

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

अब वे भोगी थे। भोग से योग ग्रहण तो करते ही हैं, पर कच्चे मन वाले योगी से भोगी बन जाते हैं। एक झटके से ही अरणक मुनि बहुत नीचे गिर चुके थे।

अब वे रात-दिन भोगों में डूबे रहते। सुन्दरी उनका उबटन करती, स्नान कराती, पंखा झलती और वे उसी को अंक में समेटे पड़े रहते। रात तो रात थी ही, उनके लिए अब दिन भी रात ही था। ऐसे ही उनके दिन गुजरने लगे।

+ + +

अरणक मुनि गोचरी से नहीं लौटे। संध्या हो गई, फिर रात भी हुई। संघ के मुनियों को चिन्ता हुई, वे सब उन्हें ढूँढने निकले। उनके साथ में श्रावक भी थे। रात इसी चर्चा में बीती कि आखिर मुनि अरणक कहाँ लापता हो गए? अपना कर्तव्य पूरा कर साधुओं ने साधियों के उपाश्रय में संवाद भिजवा दिया कि साध्वी भद्रा के संसारी नाते से पुत्र मुनि अरणक गोचरी के लिए गये थे, वे अभी तक नहीं लौटे हैं।

माँ की ममता का सागर सीमा तोड़ गया। साध्वी भद्रा व्याकुल होकर साधारण माँ की तरह रोने लगी। वे उपाश्रय छोड़कर अरणक को ढूँढने निकल पड़ीं। वे पागलों की तरह जोर-जोर से आवाज लगातीं—बेटा अरणक, तू कहाँ है? अरणक तू मेरे पास आ जा, बेटे! वे जब चलते-चलते, बोलते-बोलते थक जातीं तो किसी वृक्ष के मूल में बैठकर बैठ जातीं। थकावट की अति के कारण बँठे-बँठे ही सो जातीं। फिर उठकर चल देतीं। बस्ती वाले कहते—शायद बेचारी का बेटा मर गया है, सो उसके मोह में पागल होकर उसे पुकारती फिरती है।

साध्वी भद्रा को पागल समझकर बस्ती के बच्चे उनके पीछे-पीछे तालियाँ बजाकर चलते। कभी उनकी आवाज के साथ शरारती बच्चे भी आवाज देते—ओ अरणक! तू कहाँ है?

यों ही समय बीतता रहा। साध्वी अरणक को ढूँढती रही और अरणक भोगों में डूबता रहा। एक दिन संयोग बना। साध्वी भद्रा उक्त सुन्दरी के भवन के नीचे ही चिल्ला रही थी। सुन्दरी के अंक पाश में लेटे अरणक के कानों में अपने नाम की आवाज पड़ी तो वे विद्युत के झटके की तरह उठे। सुन्दरी चिल्लाती रही—सुनो तो, सुनो स्वामी, कहाँ जाते हो? पर अरणक कुमार ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। वे धड़ाधड़ सीढ़ियाँ उतरते हुए साध्वी माँ के पास पहुँचे—माँ! मैं तेरा अरणक हूँ।

साध्वी भद्रा सुध-बुध खोकर स्तब्ध-सी अपने सामने खड़े युवक को देखने लगी। उसका भेष बड़ा आकर्षक था। रेशमी अधोवस्त्र, रेशमी ही उत्तरीय और पैरों में जड़ाऊ जूते। सच्चिकण काले केशों में सुगन्ध आ रही थी। बड़ी देर बाद साध्वी ने कहा—

“तू कोई ठग है। तू मेरा अरणक नहीं हो सकता। मेरा अरणक तो वह था, जिसने विवाह करने से इन्कार कर दिया था। मेरे अरणक ने तो माता-पिता से पूर्व दीक्षा लेने का निश्चय प्रकट किया था। मेरे अरणक के विचारों में ऐसा बदलाव आया था कि दीक्षा से पूर्व उसके पिता ने कहा था—पुत्र, तूने आज तक शीष्म की धूप नहीं देखी, अपने हाथ से पानी लेकर भी नहीं पिया। दोपहरी में तू विहार कैसे करेगा और कभी अचित्त जल न मिला तो प्यासा कैसे रह पायेगा?

“युवक! इसके उत्तर में मेरे पुत्र अरणक ने कहा था—भोगी जब योगी बन जाता है तो उसकी दृष्टि बदल जाती है। उसके विचार पहले जैसे नहीं रहते। शक्ति विचारों से मिलती है। जब मेरे विचार बदले हैं तो चारित्र्य-पालन की शक्ति आ ही गई है।

“तो तू मेरा पुत्र कैसे हो सकता है? मेरे पुत्र में तो चारित्र्यपालन की शक्ति थी। वह योगी था, पर तू तो भोगी है। मेरा अरणक तो मुनि था, तू मेरा अरणक कैसे हो सकता है? तू मुझे छलने

आया है। पर मैं तेरे भुलावे में नहीं आ सकती। मैं तो अरणकमुनि को ढूँढ रही हूँ। तू मेरा नहीं, जिसका है, उसी के पास जा।”

कहते-कहते साधवी रो पड़ी और मुड़कर आगे चल दीं। उन्होंने पुनः आवाज लगाई—“योगी अरणक, मुनि अरणक चारित्र्यपालन की शक्ति रखने वाले अरणक, तू कहाँ है ?”

अरणक का हृदय चीत्कार कर उठा। वह दौड़ कर साधवी माँ का मार्ग रोककर खड़ा हो गया—

“माँ, मैं तेरा अरणक हूँ। मैं मुनि हूँ। मैं भटक गया था, पर तूने तो बाँह पकड़कर मुझे किनारे खड़ा कर दिया है। मैं प्रायश्चित्त करूँगा। माँ तू ही बता जो व्यक्ति गिर सकता है, क्या वह उठ नहीं सकता? माँ मुझमें उठने की शक्ति है, मैं उठूँगा।

“माँ, ग्रीष्म से व्याकुल होकर मैं नारी के जाल में फँसा था तो मैं ग्रीष्म की आतापना सहकर ही संथारा करूँगा।”

माँ की आँखों में खुशी की चमक आ गई—

(शेष पृष्ठ ५०७ का)

तरोँ तक तू इसे, यह तुझे, तू इसे, यह तुझे के मारने की परम्परा चलती रहेगी। यह परम्परा है अग्नि से अग्नि को बुझाने अथवा रक्त को रक्त से धोने की परम्परा। क्रोध उपशम से और शत्रुता क्षमा से से ही मिट सकते हैं। शरणगत को छोड़ दे पुत्र !”

कुलपुत्र ने बन्धन खोल दिये और शत्रु से ऐसे मिला जैसे अपने भाई से मिल रहा हो। दोनों की आँखों में हर्ष के आँसू थे। ठकुरानी की आँखें भी गीली हो गईं। न जाने कब तक चलती, वैर की यह परम्परा। उसका अन्त हुआ ज्ञान, विवेक और धर्म की धारणा से। जल से रक्त का दाग धुला, जल ने ही अग्नि को बुझा दिया, मैत्री ने वैर की जड़ें काट डालीं और वैरी, भाई एवं मित्र—दोनों बन गया दूना लाभ पाया कुलपुत्र ने। भाई को खोया तो भाई और मित्र—दोनों एक ही व्यक्ति में पा लिए।

“तू ही है मेरा अरणक। चल उपाश्रय चल। गुरु महाराज तुझे दिशा देंगे।”

उपाश्रय में पहुँचकर अरणक मुनि ने गुरुदेव अर्हन्मित्र मुनि से उष्ण आतापना द्वारा साधना करने की अनुमति माँग ली।

अरणक मुनि तवे की तरह तपती तप्त प्रस्तर-शिला पर लेट गये। भयंकर गरमी थी। उनकी देह जल रही थी, पर वे देह को आत्मा से भिन्न समझ कर ध्यानस्थ थे। उनका शरीर झुलसने लगा। समता भाव में डूबे अरणक मुनि ने देह छोड़ दी और देवलोक में देव बने। वे जितने नीचे गिरे थे उससे भी अधिक ऊँचे उठ भी गये।

□ □ □

भोगवली कर्म यदि शेष होते हैं तो बड़े-से-बड़ा साधक भी भटक जाता है। लेकिन भोगकाल पूरा होते ही वह पुनः आत्मोद्धार में लग जाता है। श्रेणिकपुत्र नन्दिषेण के साथ भी ऐसा ही हुआ था।

☉

क्रोध हमारा जन्मजात शत्रु है। हमारे जन्म के के समय यह हमारे साथ ही जन्म लेता है और अवसर की तलाश में सोता रहता है। अवसर मिलते ही यह एकदम उठता है और हमारा हितैषी बनकर आता है। बड़ी चतुराई से यह बुद्धि को भगाकर उसकी जगह बैठ जाता है। हम भी इसे अपना हितैषी समझकर इसकी बातों में आ जाते हैं और जो यह कहता है वही करते हैं। यह स्थाई अड्डा बनाकर वैर का रूप धारण करके हमारा और भी अहित करता है। यह एक ही नहीं, हमारे कई जन्म बिगाड़ता है। इससे सावधान रहें। इसकी बातों में न आयेँ। इसकी बातों में आकर ही तो कुलपुत्र बारह वर्ष तक जंगलों की खाक छानता फिरा था। अन्ततः उसने क्रोध को हटाकर सच्चे शत्रु को भगाने में सफलता पाई। □

विचार कला

धर्म—

धर्म अपने व्यापकतम अर्थ में गुण या स्वभाव है। स्वभाव चाहे व्यक्ति का हो, चाहे वस्तु का वह चिरन्तन रूप से अपरिवर्तित है। बाह्य परिस्थितियों का वात्याचक्र उसे विकारग्रस्त नहीं करता। जिन स्वभावों में रूपान्तर दृष्टिगत होता है उनमें भ्रान्तिवश धर्म का मात्र आभास होता है। भला अग्नि कभी तेज का स्वभाव किसी भी परिस्थिति में त्याग सकेगी। यह तेज अग्नि का धर्म है।

धर्म जीवन के अंग-अंग में व्याप्त व सनातन प्रक्रिया है जो सदा और सर्वत्र सक्रिय सतेज अस्तित्व का वहन करती है। जीवनमात्र व्यक्तिगत नहीं अपितु परिवार समाज राष्ट्र आदि से सापेक्ष व्यक्ति के जीवन को सहज किन्तु आदर्श वृत्तियों का समुच्चय ही धर्म है। धर्म जीने की वह कला है जो व्यक्ति और उसके समस्त सम्बन्धों के लिए आनन्द का स्रोत है।

धर्म कभी विकृत नहीं होता, स्वगुणों से च्युत नहीं होता। विकारग्रस्त धर्म के दर्शन इस कारण होते हैं कि उसे मलिन हृदय के पात्र धारण कर लेते हैं। यह प्रभाव अस्थायी होता है, क्षणिक होता है। धर्म तो धर्म ही होता है। यह अवश्य है कि पावन हृदय में ही धर्म विद्यमान रहेगा। मलिन पात्र के संसर्ग से विकृत हुआ धर्म तो धर्म ही नहीं है।

सामुदायिक जीवन की व्यवस्था धर्म है। मानव का मानव के प्रति व्यवहार धर्म है। धर्म ही जीवन कला का सक्षम रूप है। आचरण विशेष को धर्म

का पर्याय मानना इसके व्यापक अस्तित्व का परि-सीमन करना है। धर्म तो हमारी हर सूक्ष्मतम क्रिया में व्यक्त होता है।

व्यक्ति समाज का विषय है। समग्र समाज को स्वस्थ, स्फूर्त, सुमार्गी बनाये रखना व्यक्ति का धर्म है। धर्महीन समाज अपने सुरूप से रहित हो जाता है। समाजरूपी जलाशय की जलराशि धर्म है जो अपनी उपस्थिति से तले में भेदभाव की दरारें नहीं उत्पन्न होने देता, विग्रह के स्थान पर ऐक्य व शान्ति को सुरक्षित रखता है।

धर्म की महत्ता अधर्म के बीभत्स प्रभावों के कारण है। जब तक अधर्म चेष्टा हेतु तत्पर रहेगा उसे निस्तेज करने के निमित्त धर्म भी अपेक्षणीय ही रहेगा। दीपक का महत्त्व भो तो तिमिर के अस्तित्व के साथ जुड़ा रहता है।

साधुत्व—

साधु ज्योति-पुरुष है। दीपक उच्चारण द्वारा मार्ग नहीं दिखाता। मात्र आलोक प्रसारित करता है। साधु-चरित्र भी तदवत् ही होता है। उपदेश नहीं, अपने आचरण आदर्श से जो हितैषी सिद्ध हो, वही यथार्थ साधु है। साधु वह, जो पतित के उत्थान में तत्पर रहे। साधु वह, जो प्रत्युत्तर की साध से रहित हो। साधु वह, जो कष्ट भोग कर भी अन्य को सुखी-सन्मार्गी बनाने में व्यस्त रहे।

सत्यान्वेषी ही सच्चा साधु है ! साधु बाह्य नहीं आभ्यन्तरिक लक्षण है ! बाहर से दृष्टि समेट कर भीतर झाँकने की क्रिया साधक के साधु बनने की पहली सीढ़ी है।

श्रद्धा—

महापुरुष की महानता, उसके लोकहितकारी सुकर्माँ को महत्ता को व्यक्ति सानन्द स्वीकारे— यही श्रद्धा है। श्रद्धा समाज की शुभवृत्तियों की सूचक बनी रहती है। श्रद्धा के अभाव से महापुरुष का समादर नहीं होता, सामाजिक सद्वृत्तियों का हास होता है। श्रद्धा को प्रबल बनाकर मानवता और सदादर्शों को कायम रखना सुगम हो जाता है। सत् के प्रति आस्था ही श्रद्धा का दूसरा नाम है।

श्रद्धा मानव मन में अपने साथ सद्विचारों की सुधा और सत्कर्माँ की प्रेरणा का संचार भी करती है।

प्रेम—

प्रेम महौषधि है। वह विरोधी को हितैषी, क्रूर को सुकुमार, दुराग्रहो-कुमार्गी को सहज सन्मार्गी, असुर को देवता बनाने वाली है। निराशा से भग्न हृदय को प्रेम का लेपन ही सोत्साह और स्वस्थ कर देता है।

शक्ति का शासन केवल शरीर तक होता है, मन को नियन्त्रित एवं प्रभावित करने वाला प्रशासक प्रेम ही है।

क्रोध की भीषण हुँकार जिस मनःकपाट को खोलने में विफल रह जाती है, प्रेम की पहली दस्तक उसे खोल देती है। अहंकार की प्रचण्ड शक्ति मन-मन्दिर पर अधिकार नहीं कर सकती किन्तु प्रेम देखते ही देखते उसका स्वामी बन बैठता है।

प्रेम वह शीतल बयार है जो जिसके हृदय में प्रवाहित होती है उसे समस्त तापों से मुक्त कर देती है।

प्रेम वह दीप्त आलोक है जो परायेपन के तिमिर का नाश कर सर्वत्र अपनत्व का दर्शन कराता है।

५१४

प्रेम वह जलधारा है जो तृषितों को तो तुष्ट करती ही है। जिस हृदय-भूमि पर होकर यात्रा करती है, उसे भी स्वच्छ व निर्मल कर देती है।

सत्य—

सत्य स्वयं शक्ति है, इसे किसी के आश्रय की अपेक्षा नहीं रहती है। असत्य अशक्त है, अतः अचल पड़ा रहता है। अपने अस्तित्व को भी सत्य का छद्मरूप धारण करना पड़ता है। सत्य के वेश में ही मिथ्या को यत्-किञ्चित् काल का जीवन भी गुजारना होता है। सत्य की ऐसी महिमा है।

सत्य वह जिसमें सत् का निवास हो। इसलिए सत्य ईश्वर है। सत्य सदा निर्भीक होता है। उसे छिपाने की आवश्यकता नहीं रहती है।

लौ की भाँति होता है सत्य, जो न केवल आलोकप्रद अपितु ऊर्ध्वोन्मुख भी होता है। ऊपर से ऊपर बढ़ना ही उसका स्वभाव होता है। सरिता की भाँति वह निम्न ने निम्न तल के क्रम में गतिशील नहीं रहता।

असत्य का प्रभाव चिरकालिक नहीं होता। यह खोटा सिक्का है, जिसे तुरन्त चलन से बाहर कर दिया जाता है। सत्य का अरुणोदय होते असत्य की भ्रामक रजनी में सर्प का भय उत्पन्न करने वाली वस्तु रस्मी की तरह निरीह और निर्जीव आकार ले लेती है।

प्रसन्नता—

मानवमात्र का श्रेष्ठतम शृंगार है प्रसन्नता। इस अलंकरण से जितनी शोभा और मनोरमता उसकी बढ़ती है, उतनी किसी बाह्य प्रसाधन से नहीं।

प्रसन्नता ही यौवन है। इस साधन से कोई किसी भी आयु में युवा रह सकता है। अन्ततः यौवन और प्रसन्नता दोनों ही उत्साह, स्फूर्ति और गतिशीलता के प्रदाता हैं।

(शेष पृष्ठ ५२६ पर)

सप्तम खण्ड : विचार मन्थन

सूक्तियाँ

संयम जीवन का सौन्दर्य है। मन का माधुर्य है, आत्म-शोधन की प्रक्रिया है और मुक्ति का मुख्य हेतु है।

□

आत्मा पृथक है, शरीर पृथक है। इन दोनों का आधार-आधेय सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को वास्तविक समझना अज्ञान है।

□

सत्य एक प्रज्वलित प्रदीप है, जो जन-जीवन को दिव्य प्रकाश प्रदान करता है।

□

जहाँ अहिंसा है, वहीं जीवन है। अहिंसा के अभाव में जीवन का सद्भाव सम्भव नहीं।

□

सत्य का जन्म सर्वप्रथम मन में होता है, वह वाणी के द्वारा व्यक्त होता है तथा आचरण के द्वारा वह साकार रूप लेता है।

□

क्षमा एक ऐसा सुदृढ़ कवच है जिसे धारण करने के पश्चात् क्रोध के जितने भी तीव्र प्रहार हैं वे सभी निरर्थक हो जाते हैं।

□

तप अध्यात्म-साधना के विराट और व्यापक रूप का बोध कराता है। उसके अभाव में मानव के जीवन में साधना का मंगल-स्वर मुखरित नहीं हो सकता।

□

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

तप के अभाव में अहिंसा और संयम में तेज प्रकट नहीं होता। तप साधना रूपी सुरम्य प्रासाद की आधारशिला है।

□

तप अग्नि-स्नान है। जो इस तप रूपी अग्नि में कूद पड़ता है उसके समग्र कर्म-मल दूर हो जाते हैं, वह निखर उठता है।

□

जो साधक राग-द्वेष की ज्वालाओं को शान्त करता है, मन की गाँठें खोलता है, वही धर्म का सम्यक्-रूप से आराधन कर सकता है।

□

अहिंसा वह सरस संगीत है, जिसकी मधुर स्वर-लहरियाँ जन-जीवन को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण प्राणों जगत को आनन्द विभोर कर देती हैं।

□

सत्य एक ऐसी आधारशिला है जिस पर मानव अपना जीवन व्यवस्थित रूप से अवस्थित कर सकता है।

□

धर्म वस्तुतः मंगलमय है वह विश्व का कल्याणकारी और सम्पूर्ण प्राणों जगत के योग-क्षेम का संवाहक है।

□

सत्य का पावन-पथ ऐसा पथ है जिस पर चलने वाले को न माया ही परेशान करती है न अहंकार सत्ताता है।

□

समता लहराता हुआ परम-निर्मल सागर है। जो साधक उसमें स्नान कर लेता है वह राग-द्वेष के कर्दम से मुक्त हो जाता है।

मन पवन की भाँति चंचल है। ध्यान उसकी चंचलता को समाप्त कर देता है।

□

सदाचार मानव-जीवन रूपी सुमन की मधुर-महक है। जिसमें यह महक नहीं है वह जीवन ज्योति-विहीन दीपक के समान है।

□

कर्म और उसका फल इन दोनों का सम्बन्ध कारण और कार्यवत् है। कारण की उपस्थिति कार्य को अवश्य ही अस्तित्व में लाती है। अतः आत्मा को कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।

□

मन वस्तुतः मानव जीवन का मेरुदण्ड है। मेरुदण्ड की स्वस्थता पर ही जीवन की स्वस्थता अवलम्बित है।

□

ज्ञान दिव्य-ज्योति है। जिसमें व्यक्ति अपने हित और अहित का, कर्तव्य और अकर्तव्य का, कुमार्ग और सन्मार्ग का निर्णय करता है।

□

ज्ञान—आत्मा का मौलिक स्वभाव है। वह मोह के संसर्ग से अशुद्ध हो जाता है, जिसे हम अज्ञान कहते हैं।

□

मोह आत्मा का प्रबल शत्रु है। मोह के कारण ही ज्योति-स्वरूप आत्मा निज भाव को भूलकर परभाव में लिप्त रहती है, जिससे दुःख व क्लेश उसे प्राप्त होता है।

□

मैं एक बार पतझड़ से मधुवन में परिवर्तित होने वाले वृक्ष को देख रही थी, उसे देख विचार आया कि यह कितनी प्रबल प्रेरणा प्रदान कर रहा है—कि हे मानव ! घबरा मत। एक दिन तुम्हारे जीवन में भी आनन्द का वसन्त खिल उठेगा।

□

संसार अनित्य है। यह मोह, माया का विकट

जाल है। जो इसमें आसक्त—फँसा हुआ रहता है वह कदापि शांति नहीं पा सकता।

□

जो मानव उच्च से उच्च तप करता है, उग्र से उग्र चारित्र्य का पालन करता है उसके लिए आध्यात्मिक अभ्युदय के चरम-द्वार खुले हुए हैं।

□

सन्तोष आन्तरिक सद्गुण है, धैर्य एवं विवेक के अवलम्बन पर ही इसका विकास होता है।

□

मानव के अन्तर्-मन में जब संतोष का सागर लहराने लगता है तब चित्तवृत्तियों में जो विषमता की ज्वालाएँ धधक रही होती हैं, वे शान्त हो जाती हैं।

□

कर्म स्वयं ही अपना फल देता है। अतः जैसा फल इच्छित हो उसी के अनुरूप ही कर्म करो।

□

क्रोध भयंकर अग्नि है जो स्वयं को तो जलाती ही है जिनके प्रति क्रोध किया जाता है उनको भी संतापित करती है।

□

आत्मा में अनन्त अक्षय दिव्य-ज्योति निहित है, उसे प्राप्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की नितान्त आवश्यकता है।

□

मानव ! तू न शरीर है, न इन्द्रियाँ है, और न ही मन है। तू तो वस्तुतः एक अच्छेद्य, अभेद्य, अमृत्य, अखण्ड, अमर, अलौकिक, आलोक पुँज, आत्मा है।

□

मानव ! आत्मा न कभी जन्मती है, न कभी मरती है। जन्म-मरण शरीर का होता है। इस सनातन सत्य को सदैव स्मरण रख।

□

आत्मा ज्ञानमय है। वह, एक अखण्ड, दिव्य-प्रकाश से मण्डित होकर विश्व के समस्त प्राणियों में अभिनव आलोक का संचार करती है।

अज्ञान का सघन अन्धकार जीवन का सबसे बड़ा भयंकर अभिशाप है। जिसके फलस्वरूप मानव को अपना यथार्थ बोध नहीं हो पाता है।

□

अहंकार अध्यात्म-साधना का वह दोष है—जो साधना को दूषित कर देता है।

□

आसक्ति, ममता एवं तृष्णा का सर्वथा परित्याग ही सच्ची साधना है।

□

जो मानव मन को अपने वश में कर लेता है, मन रूपी मातंग पर ज्ञान का अंकुश लगा देता है वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है।

□

सम्यग्-दर्शन एक ऐसी शक्ति है जिसकी प्राप्ति होने पर मनुष्य के दिव्य-नेत्र खुल जाते हैं।

□

आत्मा को बन्धन की बेड़ियों में डालने वाला व मुक्ति में पहुँचाने वाला मन ही है।

□

सम्यग्दर्शन वास्तव में एक अक्षय ज्योति है, उसका अचिन्त्य-प्रभाव हमारी कल्पना से परे है, मति से अगोचर है।

□

मन ही मन का शत्रु है, और मन ही मन का मित्र है। जीवन को दुर्गुणों में डालकर मन उसका शत्रु बन जाता है और मन ही जीवन को सद्गुणों की ओर ले जाकर उसका मित्र बन जाता है।

□

सम्यग्दर्शन अक्षय अनन्त सुख का मूल स्रोत है। वह आत्मा की अमूल्य निधि है। इस निधि को प्राप्त कर आत्मा पर-भाव से विमुक्त होकर निज-भाव की ओर उन्मुख होती है।

□

मानव-जीवन संग्राम में मन ही सेनापति है, इन्द्रियाँ उसकी आज्ञा में चलने वाली सेना हैं।

मन रूपी सेनापति पराजित हो गया, जीवन के संग्राम में उसने विकारों-वासनाओं के हथियार डाल दिए तो सारी सेना की हार है।

□

मन एक अपार महासागर की भाँति है जिसमें इच्छाओं की लहरें उठती रहती हैं।

□

राग प्रियात्मक अनुभूति है, और द्वेष अप्रियात्मक अनुभूति है। इन दोनों अनुभूतियों से परे जो है वह समभाव है।

□

सत्य अपने आप में परिपूर्ण है और वह अनन्त है, अक्षय है, शब्दों के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से नहीं हो सकती है।

□

‘ध्यान’ अनुभूति का विषय है। उसे अभिव्यक्ति का रूप देना कथमपि सम्भव नहीं।

□

हमारा जीवन ‘वन’ नहीं ‘उपवन’ होना चाहिए जिसमें सद्गुणों की सौरभ प्रतिफल, प्रतिश्रण रहे, किन्तु दुर्गुणों के कंटक अपना अस्तित्व न रखें।

□

‘शिक्षा’ एक ऐसी गरिमापूर्ण कला है जिससे जीवन संस्कारमय बनता है।

□

आत्मा स्वभावतः प्रकाशमान सूर्य है पर उस पर कर्म-मेष आच्छादित हैं। अतः उसका दिव्य तेज पूर्णतः प्रकट नहीं हो पाता।

□

‘मोह’ दो अक्षर का लघु शब्द है, पर इसके प्रभाव से व्यक्ति बहिर्मुखी बनता है। मोह का जिसमें अभाव होता है, वही माहन भगवान बनता है।

□

‘संयम’ जीवन का प्राणभूत तत्व है जिसके सद्भाव में मानव महामानव बनता है।

'स्वार्थ' और 'परमार्थ' इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। स्वार्थ जीवन की चादर को कलुषित कर देता है और परमार्थ उसे उज्ज्वल बनाता है।

□

मेरी आत्मा स्वतन्त्र है, शाश्वत है, आनन्द से परिपूर्ण है, तन, मन और इन्द्रियों से परे है।

□

ज्ञान एक ऐसा शाश्वत प्रकाश है, जिसमें स्व का अवलोकन किया जाता है, स्व में ही रमण किया जाता है, स्व सम्बन्धी जो भ्रान्ति एवं मूढ़ता है, उसका निरसन हो जाता है।

□

ज्ञान के अभाव में जो क्रिया की जाती है उसमें विवेक का प्रकाश नहीं होता।

□

आत्मा और शरीर तलवार तथा म्यान की तरह पृथक-पृथक अस्तित्व वाले हैं, दोनों के स्वरूप में कोई साम्य नहीं।

□

आचार, विचार का क्रियात्मक मूर्त रूप है। जब विचार में महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो उसका असर न होना असम्भव है।

□

जो ज्ञाता है, द्रष्टा है, पर-भाव से शून्य है, स्वभाव से पूर्ण है—वह मैं हूँ।

□

आत्मा अमूर्त है, शरीर मूर्त है, शरीरयुक्त जो आत्मा है वह न मूर्त है, न अमूर्त है किन्तु मूर्त और अमूर्त दोनों है।

□

हमारी आत्मा समूचे शरीर में व्याप्त है। जहाँ शरीर है, वहाँ आत्मा है, जहाँ आत्मा है वहाँ ज्ञान है, जहाँ ज्ञान है वहाँ संवेदना है।

□

ज्ञान और दर्शन मेरा स्वभाव है आवरण मेरा स्वभाव नहीं है, जो मेरा विभाव नहीं है, वह मैं हूँ।

११८

जो स्वभाव को एक क्षण भी नहीं छोड़ता और परभाव को ग्रहण नहीं करता है, वह मैं हूँ।

□

जीवन में जब सन्तोष आता है तब मनुष्य की आशाएँ, तृष्णाएँ समाप्त हो जाती हैं। उसके जीवन में सुख-शान्ति का सागर ठाठें मारने लगता है।

□

जिस मानव ने अपने मन के पात्र को कदाग्रहों से, दूषित विचारों से, और मेरे तेरे के संघर्षों से रिक्त कर दिया है, वह अपने जीवन को प्रकाश-मान बना देता है।

□

सागर जिस प्रकार अगाध है, अपार है, मन भी उसी प्रकार अगाध एवं अपार है। उसमें विचार-लहरों की कोई थाह नहीं है, कामनाओं, इच्छाओं का कोई पार नहीं है।

□

आत्मा सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। वह परम ज्योति स्वरूप है। जिसने निज स्वरूप को जान लिया, एक आत्मा को जान लिया तो सब कुछ जान लिया।

□

सम्यग्दर्शन आत्मा की एक ज्योतिमय चेतना है जो व्यामोह के सघन आवरणों के नीचे दब गई है। इन आवरणों को हटा देने से ही वह अनन्त-ज्योति प्रकट हो जायेगी।

□

आत्मा कोटि-कोटि सूर्यों से भी अधिक प्रकाश-मान है। चन्द्रमा से भी अधिक शीतल है, सागर से भी अधिक गम्भीर है, आकाश से भी अधिक विराट है। वस्तुतः ये आत्मा के परिमाणक पदार्थ नहीं हैं।

□

आत्म-तत्व ज्ञान स्वरूप है। आत्मा ज्ञाता है। जो कुछ ज्ञान है, वही आत्मा है और जो कुछ

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

आत्मा है, वह ज्ञान ही है। आत्मा और ज्ञान में भिन्नता नहीं है।

□

प्राणी जगत में मानव सबसे अधिक विकसित एवं पूर्ण प्राणी है। वस्तुतः मानव जीवन महत्वपूर्ण है। परन्तु उससे भी महत्वपूर्ण है जीवन-यात्रा को संयमपूर्वक गतिशील बनाये रखना।

□

आत्मा ही एक ऐसा तत्व है जो ज्ञान और दर्शन से युक्त है। ज्ञान और दर्शन के अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे सभी बाह्य-भाव हैं।

□

संसार कानन में परिभ्रमण करने का प्रधान कारण मोह है। मोह से मुग्ध मानव जो वस्तुएँ नित्य नहीं है उन्हें नित्य मानता है।

□

मैं अकेला हूँ, एक हूँ, इस संसार में मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ, मैं शुद्ध स्वरूपी हूँ, अरूपी हूँ।

□

माता-पिता, पुत्र-पुत्री ये सभी मेरे से पृथक् हैं यहाँ तक कि यह शरीर भी मेरा नहीं है, वह भी आत्मा से भिन्न है।

□

सत्य स्वयं अनन्त शक्ति है। इसे किसी के आश्रय की किंचित् मात्र भी अपेक्षा नहीं रहती है।

□

सत्य का सूर्योदय होते ही असत्य का सघन अंधेरा तिरोहित हो जाता है।

□

श्रद्धा मानव-मन में सद्बिचारों की सुधा और सत्कार्यों की प्रबल-प्रेरणा का अभिसंचार भी करती है।

□

जीवन एक यात्रा है। एक ऐसी यात्रा जिसका संलक्ष्य ही आगामी विशिष्ट यात्रा हेतु तैयारी

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

करना है। जिसमें यह तैयारी पूर्ण-रूप से हो गयी वह जीवन सफल है।

□

धर्म मनुष्य-जीवन को सुखी, स्वस्थ और प्रशान्त बनाने के लिए एक वरदान लेकर पृथ्वी-मण्डल पर अवतरित हुआ है।

□

असत्य वास्तव में अशक्त है अपने अस्तित्व के लिए असत्य को भी सत्य का छद्मरूप धारण करना पड़ता है।

□

धर्म मानव मन में छिपी (घुसी) हुई दानवीय-वृत्तियों को निकालता है और मानवता की पावन प्रतिष्ठा करता है।

□

ब्रह्मचर्य जीवन का अद्भुत सौन्दर्य है, जिसके बिना बाहरी और कृत्रिम सौन्दर्य निरर्थक है।

□

सत्य वस्तुतः वह पारसमणि है जिसके संस्पर्श मात्र से ही मनुष्य जीवन रूपी लोहा सोना बनकर निखर उठता है।

□

धर्म का जीवन के सभी क्षेत्रों में सार्वभौम रूप से प्रवेश होने पर ही आनन्द का निर्मल निक्षर प्रवाहित हो सकता है।

□

जिस मानव के जीवन में सत्य का प्रकाश जगमगाने लगता है वह सत्य के पीछे सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हो जाता है।

□

धर्म मानव जीवन के विकास का अभिनव प्रयोग है, जीवनयापन की अतीव विशिष्ट कला है।

□

सत्य मनुष्य जीवन की कसौटी अवश्य करता है, जो सत्य की कसौटी पर खरा उतर जाता है वह मानव से महामानव बन जाता है।

५१६

धर्म का रहस्य जानिए, उसे परखिए, अपने जीवन को धर्म से परिष्कृत कीजिए, इसी में 'मानव-जीवन' की सफलता है।



जब मानव के मन, वाणी तथा कर्म में सत्-पुरुषार्थ, न्याय-नीति एवं सत्य का दिव्य-आलोक जगमगाता है तभी मानव जीवन की सार्थकता है।



धर्म मानव-जीवन की शुद्धि, बुद्धि की एक अतीव सुन्दर प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया मानव को कष्ट, व्यथा के जाल से मुक्त करती है।



साहस एक ऐसी नौका है जिस पर आरूढ़ व्यक्ति आपदाओं के अथाह समुद्र को पार कर लेता है।



'क्रोध' एक ऐसी अन्धी आँधी है जिसमें व्यक्ति को हित और अहित का परिबोध नहीं होता है।



'ब्रह्मचर्य' व्रत नहीं महाव्रत है, व्रतों का राजा है। जीवन रूपी मणि माला का दीप्तमान सुमेरु है।



संगठन एक ऐसा स्वर्णिम-सूत्र है जिसमें आबद्ध व्यक्ति अपनी शक्ति को शतगुणित कर देता है।



'सम्यग्दर्शन' अध्यात्मसाधना का आधारभूत स्तम्भ है। जिस पर चारित्रिक समुत्कर्ष का सुरम्य प्रासाद अवलम्बित है।



'परोपकार' एक ऐसी प्रशस्त प्रवृत्ति है जिसमें स्व और पर का हित निहित है।



'त्याग' जीवन रूपी मन्दिर का चमकता हुआ कलश है जिसकी शुभ्र आभा को कोई भी धूमिल नहीं कर सकता।

५२०

'वैराग्य' त्याग की नींव है। जितना वैराग्य सुदृढ़ होगा उतना ही त्याग अपना अस्तित्व बनाये रखेगा।



तप एक ऐसी अक्षय ऊर्जा है जो जीवन को प्राणवान बनाती है।



ज्ञान एक दिव्य ज्योति है जो हमारे जीवन में छाये हुए अज्ञान अन्धकार को तिरोहित कर देता है।



अहिंसा एक ऐसी उर्वर भूमि है जिस पर सत्य का पौधा उग सकता है और पनप सकता है।



जो मानव सत्य धर्म की आराधना करता है उसका आत्मबल अवश्य बढ़ जाता है।



जब मानव सत्य को दृढ़ता से अपना लेता है, उसे आत्मसात् कर लेता है तो जो पाप कर्म उसे घेरे हुए हैं, उन सबको वह दूर कर देता है।



सत्य मानव-जीवन की अक्षय ज्योति है, अनमोल विभूति है उससे बढ़कर कोई धर्म नहीं है।



सचमुच सत्य ज्ञान में अन्य सभी ज्ञान का अन्त-र्भाव हो जाता है। यदि सत्य का सम्पूर्ण रूप से पालन हो सका तो सहज ही सारा ज्ञान प्राप्त हो जाता है।



परिग्रह एक प्रकार का पाप है वह मानव-जीवन को पतन के गहरे गर्त में डाल देता है।



पाप और सांप ये दोनों ही हानिप्रद हैं। सांप से भी बढ़कर पाप है।



आत्मा चेतन है, अनन्त शक्तिसम्पन्न है। ज्ञाता

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

और दृष्टा है। इसका चरम और परम विकास परमात्मा है।



मानव-जीवन केवल संग्रह और उपभोग के लिए नहीं है इसमें उपभोग के साथ त्याग भी अनिवार्य है।



भोग इस लोक में ही नहीं परलोक में भी कष्ट-प्रद है वह नरक तक की यात्रा भी करा देता है।



जो व्यक्ति भोगों का गुलाम है वह अपने जीवन को दुःखमय बना देता है।



मानव मन के अधीन न बनकर इसको अपने आज्ञाधीन बनाये।



आत्मशक्ति का यथार्थ विकास त्याग में है, भोग में नहीं; साधना में है, विराधना में नहीं।



धार्मिक मर्यादा में जीवन को चलाने के लिए मनुष्य को मानव-तन के साथ मानव-मन को जोड़े रखना चाहिए जिसे भी मानव-तन के साथ मानवीय अन्तःकरण जब भी मिल जाता है तब उसके जीवन का प्रत्येक पहलू आनन्द और उल्लास से खिल उठता है।



मनुष्य-जीवन के लिए प्रतिज्ञा एक पाल है, एक बाँध है, एक तटबन्ध है, जो स्वच्छन्द बहते हुए जीवन प्रवाह को नियन्त्रित कर देता है, मर्यादित कर देता है।



'संयम' एक ऐसा अंकुश है जो हमारे मन रूपी गज को वश में कर लेता है।



जिसके जीवन में संयम का प्रकाश है वह जीवन वस्तुतः विशिष्ट जीवन है।



जीवन एक प्रकार का संग्राम है और मानव एक योद्धा है, यदि वह विघ्न-बाधाओं को देखकर

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

लड़खड़ाता नहीं है, गिड़गिड़ाता नहीं है तो वह जीवन संग्राम में कदापि पराजित नहीं हो सकता।



जीवन एक प्रदीप है और ज्ञान उसका दिव्य-प्रकाश है।



जीवन जन्म और मृत्यु के मध्य की कड़ी है। जब जन्म हुआ तब से जीवन यात्रा प्रारम्भ हुई और जब मृत्यु हुई तब जीवन लीला समाप्त हुई।



जीवन एक सरिता है उसका प्रथम छोर जन्म है और अन्तिम छोर मृत्यु।



जीवन एक महाग्रन्थ है जिसका हर पृष्ठ अनुभवपूर्ण है।



प्रत्येक मानव अपने जीवन में सुख और दुःख का अनुभव करता है किन्तु जो उन्हें समान रूप से मान लेता है वह समदर्शी कहलाता है।



मानव के जीवन में सुख का फूल भी खिलता है और दुःख के कंटक भी उसके साथ आते हैं।



मानव ! अपने जीवन में कभी भी मान के गज पर आरूढ़ मत बनो, विनयशील बनो, यही तुम्हारे जीवन विकास का मूलमन्त्र है।



मानव ! संयम अमृत है और असंयम जहर है अतः विष को छोड़कर सुधा का पान करो।



मानव ! सुख और दुःख यह तो एक चक्र है और वह घूमता ही रहता है उसे समभाव से देखते रहो, सुख ज्योति को देखकर हर्ष से फूल की तरह न फूलो और दुःख के अन्धकार को देखकर मुरझाओ नहीं।



उपदेशात्मक पद्य रचना

मानव जीवन क्षणभंगुर है
करले तू आत्म का ज्ञान ।
काल चौर का नहीं भरोसा
तजदे तू अन्तर् से मान ॥१॥

यह है मेरा, वह है तेरा
झूठा तेरा यह अभिमान ।
कुछ भी नहीं है जग में तेरा
बस दो दिन का तू मेहमान ॥२॥

सत्य-रत्न एक दिव्य-रत्न है
अक्षय सुख का है यह कोष ।
हस्तगत जो भी कर लेता
बन जाता जीवन निर्दोष ॥३॥

रंग बिरंगी है यह दुनिया
क्यों तू इसमें ललचाया ।
सभल-संभल के पग तू रखना
यह केवल है बादल छाया ॥४॥

ज्ञान-दीप की दिव्य ज्योति में
जीवन जिसका ज्योतिर्मान ।
अज्ञान तिमिर तिरोहित होता
हो जाता उनको निज भान ॥५॥

कथनी कुछ है, करनी कुछ है
कैसे हो जीवन-उत्थान ।
जहर पियेगा, कैसे जियेगा
सत्य, तथ्य का करिये ज्ञान ॥६॥

प्राण पंछी यह पल में उड़ेगा
क्यों करता मानव अभिमान ।
संभल के चलना जीवन पथ में
करना अब निज की पहचान ॥७॥

कौन है राजा, कौन रंक है
समय-समय की है यह बात ।
कभी अस्त है, कभी उदित है
कभी दिवस है, कभी है रात ॥८॥

समता-रस है अमृत-धारा
जीवन जिससे है निर्मल ।
स्नात हुआ है, इसमें जो भी
धुल जाता उसका कलिमल ॥९॥

पल-भर का है नहीं भरोसा
कल-तक की क्यों करता है बात ।
दो दिन का है यहाँ बसेरा
नहीं चलेगा कुछ भी साथ ॥१०॥

जन्म-मृत्यु के चक्र-व्यूह में
मानव कब तक उलझेगा ।
स्व-स्वरूप को जानेगा जब
तब ही तो वह सुलझेगा ॥११॥

सद्गुण सुमन को चुनते रहिए
अक्षय-सुख फिर पायेगा ।
अनुपम-गरिमा तब ही रहेगी
जीवन कुसुम खिल जायेगा ॥१२॥

भजन

जीवन को सफल बनाना है

(तर्ज—जय बोलो.....)

अब गीत प्रभु के गाना है

जीवन को सफल बनाना है

प्रभु नाम ही तारणहारा है

भव्यों का ये ही सहारा है

प्रभु चरण में मन को लगाना है....

झूठी काया झूठी माया

क्यों व्यर्थ ही इसमें भरमाया

नहीं इसमें अब तो लुभाना है....

मतलब के सब रिश्ते नाते

अवसर पर काम नहीं आते

इन्हें छोड़ प्रभु को ध्याना है....

सुबह शाम प्रभु का नाम रटे

पापों के बन्धन दूर हटे

फिर 'कुसुम' मुक्ति को पाना है....

अनुकम्पा

(तर्ज—चुप-चुप खड़े हो....)

जीवन का सुधार करो, दया दिल धार है

होवे बेड़ा पार है जी र....

जीवन का उत्थान और दूर हो अन्धकार है

होवे बेड़ा पार है जी र....

भव सिन्धु पार करने की यह साधना

'अनुकम्पा' करना यह सच्ची आराधना

तप, जप, साधना का, वस यही सार है....

सब धर्मों का सार, यही दया धर्म है

अपनाया जिसने भी, नष्ट हुए कर्म हैं

कहा सब ज्ञानियों ने, यही मुक्ति द्वार है....

दुखियों को देख करुणा आती नहीं जिसको

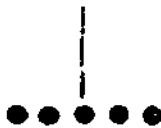
शास्त्रकारों ने बताया अबकी ही उसको

होती नहीं मुक्ति, करे यतन हजार है....

चाहो कल्याण यदि दया भाव धार लो

दुख दूर कर सबके, जीवन सुधार लो

कहती 'कुसुम' होवे सदा जय-जयकार है....



कुछ दिन की ही जिन्दगानी

(तर्ज—जब तुम्हीं चले....)

क्यों करता तू अभिमान, अरे इन्सान
ये दुनिया फानी, कुछ दिन की ही जिन्दगानी....

कंचन जैसी जो काया है
जिसे देख-देख हरषाया है

मत भूल ये एक दिन मिट्टी में मिल जानी....

धन-वैभव को पा फूल रहा
खुशियों के झूले झूल रहा

प्यारे माया भी नहीं साथ में आनी....

हुए बड़े-बड़े कई महाबली
पर नहीं किसी की यहाँ चली

करते थे जो अभिमान, न बची निशानी....

तेरी तो क्या यहाँ हस्ती है
फिर भी ये छाई मस्ती है

अब छोड़ मस्ती को 'कुसुम' बात ले मानी....

पाप छुपाया ना छुपेऽ

(तर्ज—चुप-चुप....)

चुप-चुप करो चाहे जितना भी पाप है
छिप के न रहता कभी खुले आपो आप है....

करो चाहे घर में चाहे सुनसान में
जंगल में करो पाप चाहे श्मशान में
होता वह प्रकट चाहे रहो चुपचाप है....

पाप करने वाला खुश रहता थोड़ी देर है
प्रकृति से देर होती, न होती अंधेर है—
पाप करने वाला सदा पाता फिर संताप है....

पापों से आत्मा को भारी जो बनाता है
सीधा वह मरकर दुर्गति को जाता है
दुख वहाँ पाता अति करता विलाप है....

पाप फल जान मन पापों से हटाइये
जीवन मिला है इसे व्यर्थ न गंवाइये
कहती 'कुसुम' करो प्रभु का हो आप है....

मानवता....

(तर्ज—दिल लूटने वाले....)

जिसमें होती मानवता है,
वही मानव पूजा जाता है

जिसमें होता है नीर वही,
सच्चा मोती कहलाता है

दुखियों के दुख को देख-देख,

जिसका तन-मन व्याकुल होता

पीड़ा उनकी ही हरने को,

जिसका तन-मन आकुल होता

कर भला दूसरों का जिसका,

मन हरदम ही हर्षता है....

शत्रु हो चाहे मित्र कोई,

सबको ही जो अपना जाने

नहीं कभी किसी से द्वेष करे,

सबका दुख अपना दुख माने

गुणियों का जो सम्मान करे,

और प्रेम के दीप जलाता है....

सद्गुण से पूरित मानव ही,

सच्चे मानव कहलाते हैं

है गन्ध-युक्त जो 'कुसुम' वही,

जग में पूजा को पाते हैं

उसका ही जग सम्मान करे,

और गीत उसी के गाता है....

□□□

महासती श्री कुसुमवती जी महाराज का साहित्यः एक समीक्षात्मक चिन्तन

—उपप्रवर्तक श्री राजेन्द्रमुनि

पूजनीया महासती श्री कुसुमवती जी महा. के कुसुमवत् जीवन की झांकी विस्तारपूर्वक पिछले पृष्ठों में आ चुकी है। उस विषय में अथवा उनके जीवन की विशेषताओं पर पुनः लिखकर विषय की पुनरावृत्ति ही करना है। यहाँ हमारा मूल उद्देश्य महासती जी के कृतित्व पर विचार करना है। महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. मौन साधिका हैं। वे प्रचार-प्रसार से तो दूर रहती ही हैं। उन्होंने स्वरचित साहित्य का अद्यावधि प्रकाशन भी नहीं करवाया है। आज तक उनके द्वारा रचित कुछ भजन स्तवन ही प्रकाशित हुए हैं। वे भी सार्वजनिक लाभ की दृष्टि से ध्यान में रखकर प्रकाशित करवाए गए हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जाए कि उनमें लेखकीय क्षमता नहीं है। महासती जी ने प्रवचन, कहानी, निबन्ध साहित्य का सृजन तो किया ही साथ ही उन्होंने समय-समय पर अपने मानस पटल पर उभरने वाले चिन्तन को भी सहेज कर रखा है। इसी प्रकार वे अध्ययन अध्यापन में विशेष रुचि रखती हैं। यही कारण है कि उनकी शिष्याएँ प्रशिष्याएँ उच्च योग्यता प्राप्त हैं। महासती जी के इसी कृतित्व पक्ष पर यहाँ विचार किया जाएगा।

प्रवचन

प्रवचन गद्य साहित्य की एक विशिष्ट विधा है। साधारण वाणी या कथन वचन कहा जाता है। परन्तु सन्तों, विचारकों एवं आध्यात्मिक अनुभवियों

का प्रकृष्ट कथन 'प्रवचन' है। प्रवचन में आत्मा का स्पर्श, साधना का तेज और जीवन का सत्य परिलक्षित होता है। उसका प्रभाव तीर सी वेधकता लिए होता है। उसमें प्रयुक्त शब्द, मात्र शब्द नहीं होते, वे जीवन की गहराइयों और अनुभवों की ऊँचाइयों का अर्थ लिए होते हैं। बृहत्कल्प भाष्य में कहा है—

गुणसुदृढ्यस्स वयणं घयपरिसित्तुव्व पावओ भवइ।
गुणहीणस्स न सोहइ नेहविहूणो जह पईवो ॥

अर्थात् गुणवान् व्यक्ति का वचन घृत-सिंचित अग्नि की तरह ओजस्वी एवं पथ प्रदर्शक होता है। जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेह रहित (तेल शून्य) दीपक की भाँति निस्तेज और अन्धकार से परिपूर्ण होता है।

परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. एक सफल प्रवचन लेखिका हैं। अपने सुदीर्घ तितिक्षु जीवन में एक ओर जहाँ शास्त्रों का गहन अध्ययन किया है, वहीं समाज में व्याप्त रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास और परम्पराओं को भी निकट से देखा है। कुछ अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को देखकर तो आपका कोमल हृदय द्रवित हो उठता है तब आप अपने प्रवचन में सटीक चोट करती हैं। जिस समय आप सैद्धान्तिक प्रवचन फरमाती हैं तब आपका तलस्पर्शी ज्ञान दृष्टिगोचर होता है। अपने कथन को आप शास्त्रीय गाथाओं, उदाहरणों से पुष्ट करती हैं और विभिन्न दृष्टान्तों से उसे सर-

सता व स्पष्टता प्रदान करती है। आपके प्रवचन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप मूल विषय से भिन्न विचार प्रकट नहीं करती हैं। मूल विषयों से सम्बन्धित उद्धरण और दृष्टान्त ही प्रकट करती है। आपकी प्रवचनकला से श्रोता ऊब का अनुभव नहीं करते, वरन् वे उसमें डूब से जाते हैं, आत्म विभोर हो जाते हैं।

आपके प्रवचनों से दृष्टप्रवृत्तियां समाप्त होती हैं और सदप्रवृत्तियों का पोषण होता है। श्रोताओं में जागृति की एक लहर उत्पन्न होती है। आपकी प्रवचन शैली उच्चकोटि की कही जा सकती है। कब, क्या और कैसे भाव व्यक्त करना, यह आप अच्छी तरह से जानती हैं। आप इस तथ्य से भी अच्छी प्रकार परिचित हैं कि लोगों पर कोई भी बात जबरन थोपी नहीं जा सकती है। इसलिए आप श्रोताओं की मनोदशा के अनुरूप प्रवचन देती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि आपके प्रवचन प्रभावी होते हैं और लोग उनके अनुरूप अपना कार्य एवं व्यवहार रखने का प्रयास करते हैं।

आपके प्रवचनों के विषय वैसे तो जैनधर्मानुसार होते हैं किन्तु समय समय पर आप समाज सुधार विषयक भी लिखती हैं।

आपके प्रवचनों की भाषा सरल, सहज, सरस और बोधगम्य है। जनता को जनता की भाषा में कहना आप अच्छी प्रकार जानती हैं, यही कारण है कि आपके प्रवचनों में लोक भाषा की शब्दावली भी खूब मिलती है। कहावतों, लोकोक्तियों, मुहावरों का भी यथास्थान स्वाभाविक रूप से प्रयोग हुआ है।

आपके अनेक प्रवचन लिखे हुए हैं जो अप्रकाशित हैं, आशा है शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। आपके कुछ प्रवचन उदाहरण स्वरूप पिछले पृष्ठों में दिये जा चुके हैं। पाठक उन्हें पढ़कर आपकी प्रवचनकला से परिचित होंगे ही।

कहानी

जहाँ एक ओर आप सफल प्रवचनकर्त्री हैं वहीं दूसरी ओर आप मधुर भाषा शैली में कहानी की रचना भी करती हैं। कहानी गद्य विधा की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। मनुष्य जो कुछ देखता है, भोगता है वह दूसरे को बताना चाहता है। कहना चाहता है। अभिव्यक्त करना चाहता है। यह मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है और इसी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप कहानी को जन्म मिला। इस आप बीती में कथा या कहानी के अनेक अंश उभरे। दूसरे शब्दों में हम इसे कहानी के प्रकार अथवा भेद कह सकते हैं।

कथा की उत्पत्ति कथ् धातु से हुई है और विद्वानों ने इसकी परिभाषा अपने अपने ढंग से की है। सामान्यतः तो गद्यात्मक शैली में लिखी गई लघुकथा को कहानी कहते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहानी की परिभाषा करते हुए लिखा है— 'कहानी' एक ऐसा गद्यात्मक आख्यान है जो आध घंटे से लेकर दो घंटे तक के समय में एक ही बैठक में समाप्त हो जाए और पाठक के हृदय में संवेदना उत्पन्न कर सके। एक अन्य विद्वान के अनुसार 'एक छोटी कहानी ऐसी कहानी हो जिसमें साधारण घटनाओं और आकस्मिक दुर्घटनाओं का अंकन हो। कथावस्तु गतिशील हो और अप्रत्याशित एवं असम्भव चरम विकास में उसकी समाप्ति हो।'

डा० श्यामसुन्दर दास ने कहानी में नाटकीयता पर बल दिया और प्रेमचन्द ने कहानी को एक ऐसी रचना माना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है।

उपर्युक्त विविध परिभाषाओं को देखने से हमें 'कहानी' क्या है? समझ में आ जाता है। कहानी के रूप भी कई मिलते हैं। घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान, वातावरणप्रधान एवं भावप्रधान कहानियाँ होती हैं। किन्तु लम्बी कहानी, लघुकथा, रूपककथा,

बोधकथा धर्मकथा आदि भी उसके रूप होते हैं। इन रूपों की सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। इनमें से कुछ प्रकार की कहानियों में कहानी कला के समस्त तत्वों की पूर्ति न होते हुए भी वे अपने आप में पूर्ण हैं।

बाल ब्रह्मचारिणी महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. की कथा साहित्य का लघुकोश कहा जा सकता है। लघुकथाओं के अतिरिक्त आपने महा-पुरुषों के जीवन के प्रेरक प्रसंग भी सुन्दर, सरस भाषा-शैली में लिखे हैं। ये जीवन प्रसंग न केवल सचिकर हैं वरन् अनुकरणीय भी हैं। ये प्रसंग मर्म-स्पर्शी हैं जो जीवन को दिशादान देने में समर्थ हैं।

कुछ लघुकथाओं आदि का प्रकाशन इस ग्रंथ में किया जा रहा है। जिससे पाठक वर्ग आपकी कहानी कला से भी परिचित हो सकें। वैसे महासती जी प्राचीन श्रुत परम्परानुसार अपना साहित्य प्रकाशित न करवा कर अपनी शिष्याओं को कंठस्थ करवाती हैं किन्तु प्राचीन युग के समान बौद्धिक विशेषताएँ अब हैं नहीं। फिर अब अपने कथ्य को सुरक्षित रखने के अनेक माध्यम/उपाय आज विद्यमान हैं। इसीलिए महासती जी के समस्त कथा साहित्य का प्रकाशन जन-जन के लाभार्थ होना चाहिए।

आपके कथा साहित्य में जितनी भी लघुकथाएँ, बोधकथाएँ प्रेरक, प्रसंग आदि हैं वे सभी अनुकरणीय हैं। उनसे नैतिक शिक्षाएँ ग्रहण की जा सकती हैं, व्यक्ति के वारिष्क विकास में वे काफी सहायक बन सकती हैं। भाषा प्रांजल है और शैली मिश्रित है किन्तु उनमें रोचकता है, सरसता है और श्रोताओं को बांधे रखने की क्षमता है।

निबन्ध—प्रवचन और कहानी के अलावा आपने अनेक चिन्तनप्रधान निबन्ध भी लिखे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध को गद्य की कसौटी कहा है। निबन्ध में अनुभूति की अभिव्यक्ति सशक्त होती

है और लेखक का पूर्ण व्यक्तित्व निखरता है।

निबन्ध का अर्थ बांधना है—निबन्ध वह है जिसमें विशेष रूप से बंध या संगठन हो। जिसमें विविध प्रकार के विचारों/मतों/व्याख्याओं का सम्मिश्रण हो या गुम्फन हो। वर्तमान युग में निबन्ध उस गद्य रचना को कहा जाता है जिसमें परिमित आकार के अन्दर किसी विषय विशेष का वर्णन अथवा प्रतिपादन अपने निजपन, स्वतन्त्रता सौष्ठव, सजीवता आवश्यक संगति और सभ्यता के साथ किया गया हो। स्वाभाविक रूप से अपने भावों को प्रगट कर देना निबन्धकार की सफलता होती है।

भावात्मक और विचारात्मक ये दो प्रकार निबन्धों के बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं निबन्धों के कुछ अन्य प्रकार भी बताये जाते हैं, किन्तु इन दोनों के अन्तर्गत सभी समाहित हो जाते हैं।

भावात्मक निबन्ध में लेखक किसी वस्तु का विवेचन अपनी बुद्धि और तर्कशक्ति से नहीं करता, अपितु हृदय की भावनाओं को सरस अनुभूतियों के रंग में रंगकर इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि उसे पढ़ते-पढ़ते प्रबुद्ध पाठकों के हृदयतन्त्री के तार झनझना उठते हैं। विचारात्मक निबन्धों में चिन्तन, विवेचन और तर्क का प्राधान्य होता है। विचारात्मक निबन्धों में निबन्धकार के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से किसी एक वस्तु की तर्कपूर्ण और चिन्तनशील अनुभूति की गहन अभिव्यक्ति होती है। स्मरणीय है कि सामान्य लेख और निबन्ध में काफी अन्तर है। सामान्य लेख में लेखक का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रहता है। जबकि निबन्ध में निबन्धकार का व्यक्तित्व ऊपर उभरकर आता है।

बाल ब्रह्मचारिणी परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी म. सा. द्वारा लिखित निबन्धों में दोनों ही प्रकार के निबन्ध मिलते हैं। आपके

निबन्धों में विवेचनात्मक और गवेषणात्मक वे दोनों ही प्रकार की विद्याएं सम्मिलित हैं। आपके निबन्धों की भाषा प्रांजल है, प्रवाह उत्तम है। सामान्य पाठक वर्ग के लिए सरल, सरस एवं बोधगम्य है, जहाँ कहीं भी आपने संस्कृत/प्राकृत की गाथाओं को उद्धृत किया है। वहाँ आपने उसे विस्तार से समझाया भी है। इससे पाठकों को आपके निबन्धों के कथ्य को समझने में सुविधा हुई है।

चूंकि आप जैन धर्म की एक परम विदुषी महासती हैं, इसलिए आपके निबन्धों के विषय भी उसके अनुरूप ही हैं। निबन्धों में सामान्यतः उपदेश परक शैली का उपयोग किया गया है। आपके निबन्धों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आपका अध्ययन विस्तृत है, चिन्तन गम्भीर है। विषय को गहराई से उद्धरणों और दृष्टान्तों सहित प्रस्तुत कर विषय वस्तु का समुचित रीत्यानुसार प्रतिपादन करने में आप सर्वथा सक्षम हैं।

चिन्तन सूत्र

चिन्तन करना मानव का स्वाभाविक गुण है। वह जितना अध्ययन में डूबकर उस पर विचार करता है, नये-नये विचार उत्पन्न होते जाते हैं जो कभी-कभी एक-एक पंक्ति से आठ या दस पंक्ति तक के हो सकते हैं। कभी-कभी विचार करते-करते भी मानस पटल पर प्रकाश पुंज की भांति विचारों का आविर्भाव होता है। कभी व्यक्ति भ्रमण करता होता है, कोई घटना देखता है और उसके मस्तिष्क में नवीन विचारों का आविर्भाव हो जाता है, यह बात तो सामान्य व्यक्ति की है।

जब कोई साधक अपनी साधना में लीन होता है/ध्यान मग्न होता है तो उसके मानस-पटल पर असंख्य दृश्य/विचार आते रहते हैं। वे विचार ही उनके चिन्तन का सार होते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्राचीन संस्कृत प्राकृत साहित्य जो ऋषि-मुनियों की देन है, इसी चिन्तन का परिणाम है। वस्तुस्थिति यह है कि इस चिन्तन में नये विचार

मिलते हैं, जिसे हम ज्ञान प्राप्ति की संज्ञा भी दे सकते हैं।

वर्तमान काल में भी यह चिन्तन की प्रक्रिया चल रही है। आज का साहित्यकार समाज को नये-नये विचार दे रहा है। यह विचार सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित हो सकते हैं। किन्तु जो सन्त होता है, साधक होता है, उसके चिन्तन का क्षेत्र आध्यात्मिक होता है, जो अपने चिन्तन के फल-स्वरूप आध्यात्मिक या दार्शनिक विचार सूत्र जनमानस को देता है।

परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी महाराज भी एक साधिका हैं। अध्ययन के साथ उनका चिन्तन भी सतत चलता रहता है। जिसके परिणामस्वरूप उनके मानस-पटल पर नये-नये विचार उत्पन्न होते रहते हैं। ये विचार-कण या चिन्तन सूत्र सामान्यतः आध्यात्मिक होते हैं, किन्तु कहीं-कहीं सामाजिक चिन्तन भी प्रकट हुआ है। समाज में रहते हुए वे जो देखती हैं उस पर भी स्वाभाविक चिन्तन हो जाता है और जो नयी अनुभूति होती है/विचार उत्पन्न होते हैं, वे चिन्तन कण का स्वरूप ले लेते हैं। आपके इन विचार सूत्रों में नया संदेश मिलता है। कुछ सूत्र तो ऐसे हैं, जिन पर विस्तार से बहुत कुछ लिखा जा सकता है। इन सूत्रों में दार्शनिकता के साथ सामाजिकता भी पायी जाती है। सैद्धान्तिक विचारों के साथ कुछ व्यावहारिक दर्शन भी मिलता है। आपके समस्त विचार सूत्रों का प्रकाशन अनुकरणीय प्रतीत होता है। इस दिशा में आवश्यक प्रयत्न जरूरी है।

भजन-स्तवन

अपने आराध्य के स्मरणार्थ कुछ काव्य पंक्तियों की रचना की जाती है, जिसे विधा के अनुसार भजन या स्तवन/स्तुति आदि कहा जाता है। प्राचीन भजन या स्तवन/स्तुतियाँ/स्तोत्र पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इन भजन स्तुतियों की विशेषता उनकी

विषय वस्तु में तो है ही, किन्तु एक सबसे बड़ी विशेषता उनकी गेयता है।

‘स्तुति’ शब्द स्तुत्यर्थक ‘स्तु’ धातु में ‘क्तिन्’ प्रत्यय लगकर बनता है। जिसका अर्थ है—श्रद्धा भक्तिपूर्वक पूज्य गुणों का वर्णन करना। पाश्चात्य विद्वान हिम (Hymn) शब्द का प्रयोग स्तुति के अर्थ में करते हैं।

जैन परम्परा में स्तुति का अत्यधिक महत्व है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और समस्त प्रान्तीय भाषाओं में अगणित स्तुतियाँ मिलती हैं। जैन धर्म में स्तुति के अर्थ में ‘स्तव’ और ‘स्तोत्र’ इन दो शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है। प्राकृत भाषा में स्तव को ‘थय’ या ‘थअ’ तथा स्तोत्र की ‘थोत्त’ कहा गया है।

परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी म० सा० ने समय-समय पर विभिन्न स्तुतियों की संरचना की है। जो प्रांजल भाषा में सरल, सरस और गेय हैं। कवयित्री ने जहाँ स्तुतिपरक भजनों में आराध्यदेव प्रभु के प्रति श्रद्धा अर्घ्य चढ़ाया है, भक्ति भाव के सुगन्धित सुमनों को समर्पित किया

है। वही उपदेशपरक भजनों की भी संरचना की है। इन उपदेशपरक भजनों के द्वारा मानवों की सुप्त चेतना को जगाने हेतु भावपूर्ण शब्दों में हितोपदेश दिया है। इसी खण्ड में उनके कुछ भजन अंकित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी महाराज एक निबन्धकार, प्रवचनकर्त्री, कथाकार, चिन्तक और कवयित्री के रूप में हमारे सम्मुख आती हैं। उनके द्वारा रचित साहित्य का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने जो भी सृजन किया है। वे उस विधा में खरी उतरी है। यहाँ मैं इस बात का निर्देश करना आवश्यक समझता हूँ कि उनकी शिष्याओं/प्रशिष्याओं को चाहिए कि वे महासती जी द्वारा रचित समस्त साहित्य को व्यवस्थित कर उसे अलग-अलग पुस्तकों में प्रकाशित करवायें तो जन सामान्य को भी उसका लाभ मिल सकेगा और उनके बताये मार्ग पर चलने का प्रयास कर सकेगा। विश्वास है कि मेरे इस सुझाव को क्रियात्मक रूप मिलेगा।

(शेष पृष्ठ ५१४ का)

प्रसन्नता शीतल जल पूरित स्वच्छ जलाशय है, जिसमें निमग्न होकर प्रत्येक निर्मल तो हो ही जाता है, समस्त तापों से भी मुक्त हो जाता है।

आभ्यन्तरिक प्रसन्नता ही सारे जगत को किसी के लिए भव्य सौन्दर्यशाली, चित्ताकर्षक और मनोरम बना देती है। हम जिस रंग का चश्मा चढ़ाएंगे उसी रंग में रंगे हुए तो सारे दृश्य हमें दिखाई देंगे।

प्रसन्नता मन का तत्व है। इसे प्रसन्नता देने वाली बाह्य वस्तु की विशेषता मानना भ्रम है।

प्रसन्नता जीवन और जगत के दुर्घर्ष संकटों से संघर्ष की प्रथम एवं अनिवार्य तैयारी है, जो उत्साह के आयुध-निर्माण का कार्य करती है।

आशा-निराशा

उत्साह यौवन का अनिवार्य लक्षण है। उसका सप्तम खण्ड : विचार मंथन

जीवन है—आशा। निराशा यौवन की मौत है। आशा की ओर उन्मुख रहना उत्साह की चाह और यौवन की राह है।

आशा भरे हृदय को कोई संकट कभी आतंकित नहीं कर पाता और उसकी यह असमर्थता पराभव की प्रथम सीढ़ी बनती है।

आशा व्यक्ति के लिए कभी दुखद नहीं होती है। आशाओं की अपूर्ति तो निराशा है, वही खेद-जनक है। उसे आशा मानना भ्रान्ति है। आशाएँ इस प्रकार निराशाओं में तभी परिणत होती हैं, जब व्यक्ति उसके लिए अतीव काल्पनिक आधार बनाता है—आशा का क्या दोष ?

सावधानी के साथ आशाओं को क्षेत्र दो, उद्यम से सींचो, सचेष्टता से संरक्षण करो, यत्न से विकसित करो, प्रसन्नता के ही प्रसून प्रस्फुटित होंगे।

५२६

बालब्रह्मचारिण्याः श्रीमत्याः कुसुमवत्याः सत्याः यशःसौरभम्

संसारजीवजगतः परमंहितेच्छुम्, मोक्षेच्छुकं प्रकृतिहेतुजनेविरक्तम् ।
ज्ञानात्मवेहविषये हृतसंशयं तम्, वन्दे गुणातिशयितं भुविबद्धमानम् ॥
नमाम्यहं सोहननामधारिणीम्, सतीं महिम्नां सकलागमश्रियम् ।
सतां समूहेऽप्यमितप्रभाविनीम्, दयैकदृष्टिं श्रितशुक्लवाससम् ॥१॥

अर्थ—श्वेताम्बर स्थानकवासिनी जैन साध्वी महिमाओं की सती श्री सोहनकुंवरजी महाराज, जो सब आगमों की शोभा थीं, मुनिराजों में भी जिनकी धाक थी, जिनकी दया ही शरण थी, उनको मैं नमन करता हूँ ।

नमस्कृतिर्मे प्रथमा स्वभावतः, यतो हि गुर्वीयमतोऽपि युज्यते ।
वदामि यस्या यशसः कथानकम्, भवेदहो मङ्गलमेव मङ्गलम् ॥२॥

अर्थ—स्वभाव से मेरा नमस्कार, इसलिए भी है कि ये मेरी गुरु थीं । और इसलिए भी कि मैं जिन सतीजी के यश की कहानी कह रहा हूँ, उनकी भी ये गुरु हैं, जिससे कि मंगल ही मंगल हो ।

वहामि तस्याः शिरसाऽप्यधोमुखः, सदोपदेशामृतपूर्णमुत्तमम् ।
घटं ततोऽहं कथयामि मातरम्, वदेयुरन्ये किमपीह दुर्बचम् ॥३॥

अर्थ—उन सतीजी महाराज के उपदेशामृत से भरे हुए और उठाए घड़े को लज्जित हो, ढो रहा है, यही कारण है कि मैं सतीजी को माता कहता हूँ, फिर चाहे कोई कितना ही बुरा कहे ।

तस्याः पुनश्चान्यतमा भवेदियम्, सतीषु धन्या कुसुमाभिधायिनी ।
नमा तु तस्याः समुदीर्यते यशः, यथास्मृति ध्यानपरेण चेतसा ॥४॥

अर्थ—उन्हीं की अनेक सतियों में से ये श्री कुसुमवतीजी सती हैं, इनके यश तो बहुत हैं किन्तु मुझे जो सूझते जाते हैं, उन्हीं को मैं कहता हूँ ।

अबोध एवाहमतोऽपि निर्भयः, गदामि मत्याकलितं सुनिर्भरम् ।
अतो न जिह्मिमि कवेर्गुणादहो, न शङ्कते मे हृदयं विकथ्यते ॥५॥

अर्थ—क्योंकि मैं नासमझ हूँ, इसलिए मुझे कोई डर नहीं लगता, अतः जैसा समझ में आता है, वैसा ही खूब कहता जाता हूँ । इसलिए कवियों की मर्यादा छोड़कर वर्णन करने पर भी नहीं झपटा । यहाँ तक कि डींग मारने पर भी हृदय घबड़ाता नहीं है ।

श्रद्धेयाया महत्या धवलवसनाच्छादिताया हि सत्याः,
श्रीमत्याः सोहनायाः कृतघनतपसो मुक्तिमार्ग-प्रयात्र्याः ।

शिष्येयं शान्तवृत्तिः परमशुभगतिजनधर्मागमश्रीः,
व्याख्यात्रीषु प्रसिद्धा पुनरतिसरला काऽप्यनन्या सतीषु ॥६॥

अर्थ—स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन महासती घोर तपस्विनी श्रद्धेय श्री सोहनकुंवरजी जो अब स्वर्गीय हैं, ये परम मांगलिक जैनधर्म के आगमों की शोभा, प्रसिद्ध व्याख्यात्री, अत्यन्त सरल और सतियों में वेजोड़ ही हैं ।

साऽसौ नाम्ना सुशीला कुसुमसुषमा राजते जैनभूमौ,
जानाम्येवं सुखेन प्रगुणियशसां वृन्दतोऽहं सतीनाम् ।
तस्मादन्ते गुणानां गणमपि सहसा वक्तुमस्येव तस्याः,
सत्याः सौम्यस्वरूपं ज्ञपयति तरसा भावधुर्यं महत्त्वम् ॥७॥

अर्थ—जैनजगत् में सुशील, वही यह कुसुम नाम की परम शोभा झलक रही है, यह मैं पूज्य सतियों के मुख से ही ऐसा सुनता हूँ । इतना कहने पर भी कुछ गुणों को और कहना चाहता हूँ, जिनसे इन सतीजी का उज्ज्वल और पावन रूप शीघ्र ही समझ में आ जाता है ।

एतत्सत्यं प्रकृष्टं प्रथमवयसि स्यामहं शिक्षकोऽस्याः,
सत्यावृत्तिं विचेतुं कथमपि समयं दातुमिच्छुर्भवेयम् ।
कालेऽज्ञास्यं महत्त्वं तदपि तु कठिनं मन्दबुद्धेर्ममेदम्,
कृत्यं जातं कठोरं स्मरति यदि मनो लज्जते मामकीनम् ॥८॥

अर्थ—एक सच्ची बड़ी बात यह है कि जब ये छोटी आयु में ही थीं, इनका शिक्षक बन, इन को समझने के किसी प्रकार समय निकालकर पहुँचा । मेरी यह मूर्खता ही थी, क्योंकि मैं रीति-नीति से अपरिचित था । आगे चलकर बड़प्पन को समझा भी कि नहीं, यह तो समझने की बात है, अध्यापन के समय बड़ा कठोर व्यवहार हुआ । जब कभी मैं उस कठोर व्यवहार को याद करता हूँ तो मन में बड़ा लज्जित होता है ।

स्मृत्वा सर्वं त्वकृत्यं कथमपि वचनेर्यद्यहं वर्णयेयम्,
हर्षं मत्वा सदेयं कथयति सुसती तद्वि जातं हितार्थम् ।
सम्प्रत्येवं महत्त्वं किमपि सदसि यद् वर्त्तते सत्फलं तते,
देयं मनस्ये न चित्ते न किमपि मनसेः कल्पनौचित्यमास्ते ॥९॥

अर्थ—यदि मैं स्मरण कर उस कठोर व्यवहार को कभी कहता हूँ तो हर्ष मानकर पावन सती जी कहती हैं कि वह कठोर व्यवहार तो बड़ा हितसाधक हुआ है । जो भी कुछ महत्त्व आज सभा में माना जाता है, वह सब उसकी बदौलत है । मैं तो उसको हृदय में बुरा नहीं मानती । इसलिए आपका ऐसा कहना उचित प्रतीत नहीं होता ।

सत्यं वच्येव वृत्तं न हि मम मनसः कल्पनेयं नवीना,
सत्यः सर्वाः प्रवीणा अपि बहुगुणिताः सन्ति सद्भेऽपि सत्यः ।
वेदुष्याभारनम्राः किमपि तु कथितं पालयन्त्येव वाचम्,
सत्या वृत्तिं सदेताः फलयितुमनसश्चिन्तिका एव सर्वाः ॥१०॥

अर्थ—सच बात कहता हूँ, यह कोई मेरे मन की बात नहीं है। आज इन सतीजी के संचाड़े में सभी सतियाँ अत्यन्त योग्य और महाविदुषी हैं। विद्वत्ता के बोझ से झुकी हुई वे जो सतीजी फरमाते हैं, उसका वे उसी समय पालन करती हैं, साथ ही ये सतियाँ हृदय में सोचती हैं कि उनके कहने से पहले ही कार्य हो जाना चाहिए।

नाहं वक्तुं यथार्थं परमपि सततं रूपमेतत्स्वतोऽस्याः,
मिथ्याचारादिमग्नः कथयति रचितं लौकिकं कार्यमेकम् ।
तस्मान्मन्ये ममेदं कथनमपि तदा केवलं सारहीनम्,
जानीयुः केऽपि सन्तः परमपदरता ध्यानमग्ना महान्तः ॥११॥

अर्थ—वास्तव में, मैं सतीजी के असली रूप को तो बता नहीं सकता (क्योंकि मुझ में इतनी योग्यता नहीं है) किन्तु झूठ आदि में फँसा मैं दुनियावी कामों को ही गिना सकता हूँ। इसलिए मैं मानता हूँ कि यह सब मेरा कथन सारहीन ही है। किन्तु मोक्षार्थी तत्वज्ञ मुनिजन मेरे इस ऊटपटांग वर्णन से कुछ तो अर्थ निकाल ही लेंगे।

यद्यप्यस्या गुणानामतिशयमपरं वक्तुमिच्छाम्यपारम्,
ध्यानं तावन्मदीयं व्यथितजनकथावन्मामकीनं विपन्नम् ।
भ्राम्यत्येवं कथायाः श्रुतिं मम मनश्चञ्चलत्वाद् गुणेभ्येः,
हेतुर्नान्योऽस्ति कश्चित् सकलगुणमहिम्नः शीलशुक्लाम्बरायाः ॥१२॥

अर्थ—यद्यपि मैं सतीजी के गुणों के अपार महत्व को कहना चाहता हूँ, तब तक मेरा कहना—करना रोगी की कहानी के समान गड़बड़ा जाती है। कहना चाहता हूँ कुछ, कह जाता हूँ कुछ, क्योंकि मेरा मन मुझको धोखा देता है। अतः गुणों की बात कह नहीं पाता। कारण इसका यही हो सकता है कि शीलशुक्लाम्बरधारी सतीजी महाराज स्वयं ही ऐसी हैं कि मैं कुछ कह ही नहीं पाता।

सत्याश्चास्या गुणानां परिचितिरपरा बाधिका वसन्ते मे,
स्वल्पायुष्ये सतीयं परमगुणवती दीक्षितासोज्जनन्या ।
सार्धं देव्या महत्या विमलगणधरे पुष्कराचार्यं संघे,
दिव्योत्कर्षप्रतिष्ठे परमगतिशः शोभिते सन्मुनीन्द्रे ॥१३॥

अर्थ—दर असल छोटी सी उम्र में ही इन सतीजी ने अपनी पूज्य माताजी के साथ ही परम-यशस्वी अध्यात्मयोगी मोक्षमार्गी परम प्रसिद्ध सन्मुनीन्द्र गुरुवर श्री पुष्करमुनिजी के संघ में दीक्षा ग्रहण करली थी, तभी से परिचित होने के कारण मैं इन सतीजी को जानता भर हूँ, किन्तु इन्होंने इतनी उन्नति कर ली है कि मैं अब इन सतीजी के महत्व को नहीं पहचानता। क्योंकि तपस्या से व्यक्ति कुछ का कुछ हो जाता है।

तस्यैवेयं सतीनां शुभमतिशसां सुप्रसिद्धा गणभीः,
नेयं शिष्यैव लोके परमगणधरा शिक्षितानां सतीनाम् ।
दिव्याभानां सुरतनं सुविमलयशसां राजते तीर्थरूपा,
दृष्ट्वा सत्योऽपि चान्याः स्वयमतिविमलाः स्पृह्यमाना यतन्ते ॥१४॥

अर्थ—तपःसिद्ध अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि गुरुदेव, उनकी पवित्र बुद्धि और यशवाली

सतियों के समुदाय में प्रख्यात गणधरा अब शिष्या नहीं, अपितु प्रसिद्ध सतियों में चमकता रत्न है, सुप्रसिद्ध सतियों में गुरु के तुल्य शोभित है। इन सतीजी को देखकर अब अन्य सतियां भी जो अपने ज्ञान और गुणों से विमल हैं, वे भी अब स्पर्धा के लिए यत्न करती हैं।

श्रद्धार्थमोज्ज्वलाच्चिः प्रतिदिनमपरं व्यापृतं जैनसंघम्,
धर्मश्रद्धातिरेकं परहितविषये दृष्टिदानाय नित्यम्।
सम्प्रेर्याधिकषयार्थं श्रुतरसरचितं मार्गमेवोद्गिरन्ती,
श्रेष्ठं मत्वा सतीयं सुलभहितपरं राजते वाक्यबृन्दैः ॥१५॥

अर्थ—श्रद्धा और धर्म की झिलमिलाती अग्नि की लपट ये सतीजी प्रतिदिन जैन जनों, जो धर्म और श्रद्धा का आधिक्य रखते हैं, उनको सदा परोपकार के लिए उपदेश करती रहती हैं। मार्मिक व्यथाओं के दूर करने के लिए शास्त्रों के तत्त्व को श्रेष्ठ मानकर समझ में आ सके ऐसे वचनों से उद्बोधन करती हुई सोहती हैं।

जानाम्येनां सुशीलां सततगुणमयी शिक्ष्यमाणां सदाऽहम्,
स्वामोन्नत्यं प्रयातां सरलसुवचनैरुत्तरैर्बाध्यन्तीम्।
स्मृत्वा सर्वं नितान्तं त्यजति मम मनः क्रूरवृत्ति मदीयाम्,
जिह्वेभ्यश्च स्वतोऽहं कटुविषवचनैः किन्तु शिक्षात्यगम्या ॥१६॥

अर्थ—जो मुझसे व्याकरणादि सीखी हुई, इस सुशील गुणवती सतीजी को जानता अवश्य है, क्योंकि ये अपने को उन्नत करने के लिए सीधे-सादे उपदेशों से ज्ञान बखेरती हुई, आज परमपद से शोभित हैं, और मैं जहाँ था वहीं है तथा अब मैं अपने उन तीखे वचनों का स्मरण कर पछताता हूँ और शरमाता हूँ, किन्तु शिक्षा कठिनता से प्राप्त होती है, करता भी तो क्या ?

यद्यप्यस्याः स्वभावे सहजमुपकृतेश्चित्रमेतन्नवीनम्,
पश्यामीत्थं विलक्षः किमपि तु वचनैर्वक्तुमीशो भवेयम्।
माहात्म्यं चाप्यपूर्वं विरलमधिकृतेर्दिव्य—रूपं त्वलभ्यम्,
संसारी कामचारः कथमपि विमलं तत्त्वमाप्तुं कथं स्याम् ॥१७॥

अर्थ—किन्तु स्वाभाविक उपकार करने के नये दृश्य को देखकर तो मैं अब अचम्भे में गिर पड़ता हूँ कि किस प्रकार मैं ऐसी शक्ति प्राप्त करूँ जैसी कि सतीजी ने प्राप्त कर ली है। किन्तु मैं गृहस्थी और असंयमी रहकर क्या ऐसा दृश्य उपस्थित कर सकता हूँ।

मानं त्वस्या वदेयं किमिति पुनरहो वणने सन्ति सत्यः,
यासां कीर्तिदिगन्ते प्रसरति भुवने सत्प्रभावंरजसम्।
वेदुष्यञ्चाप्यपूर्वं दिशि दिशि बहुधा दीप्तिमद्देशनायाम्,
श्रुत्वा सर्वे विमुग्धा गुणिजनसकला संति सद्योऽद्यभूमौ ॥१८॥

अर्थ—इन सतीजी में मान जैसी तो कोई बात ही नहीं है। इनके अतिरिक्त अन्य पवित्र गुणवती सतियों को भी देखता हूँ कि जिनके दिव्य प्रभाव के सामने श्रावक ठहर नहीं पाते, किन्तु इनके व्याख्यान को सुनकर श्रावक जमे के जमे ही रहते हैं, उठने का नाम ही नहीं लेते।

जानन्त्येतज्जगत्या जिनवरमुनयो रक्षका जीवयोने,
कष्टं लब्ध्वाऽपि लोके हितकरवचनैः शिक्षयन्त्येव सत्यम्।
लोकाः सर्वे विमुग्धा परहितविमुखाः स्वार्थिनो भोगवृत्तेः
किं जानीयुर्महत्त्वं जगति धनरताः सन्मुनीनां कथानाम् ॥१९॥

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

५३३

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

अर्थ—कष्ट उठाकर भी जिनमुनिजन जीव जाति की रक्षा करते हैं, सत्य को कष्ट सहकर भी सिखाते हैं, किन्तु स्वार्थी संसारी, धन के लोभी मनुष्य ऐसे मुनियों का वास्तविक स्वरूप कैसे जान सकते हैं ।

एते सर्वे विरक्ताः परमसुमतयो मुक्तिमार्गप्रसक्ताः
एवं सत्योऽप्यनेका विहृतिपरवशा जैनधर्मं बहन्त्यः ।
लोकान् भोगानुरक्तान् विकृतिरसयुतान् हिंसकान् बोधयन्त्यः,
भिक्षावृत्तिं दधत्यो जनजनविषये संति धन्या महत्यः ॥२०॥

अर्थ—किन्तु फिर भी उपकारी मुनिजन इन हिंसक मनुष्यों को समझाते ही रहते हैं । इसी प्रकार सतीजन भी उन सबको समझाती रहती हैं । यह जैनधर्म का विस्मयकारक महत्व है ।

दृष्ट्वाऽप्येवं विरक्तान् जिनवररसिकान् सन्मुनीन्द्रा जगत्याम्,
भोगासक्तास्तु लोकाः कलहविषरता भुञ्जते पापभोगान् ।
कुर्याः किं ते मनुष्याः परहितविषये नामधर्मस्य नीतौ,
सिद्धिं सम्प्राप्य काचित् परजनमुकरं जैनधर्मं बहेयुः ॥२१॥

अर्थ—इतने पर भी ये संसारी मनुष्य लड़ाई-झगड़ों में लगे रहते हैं, इन पावन मुनियों के उपदेश को ग्रहण नहीं करते और पाप कमाते रहते हैं, किन्तु कुछ मिल जाने पर उसी में प्रसन्न रहते हैं और सत्य की उपेक्षा करते हैं ।

ज्ञात्वा सर्वं रहस्यं मनसि मम पुनर्जायते काऽपि शङ्का,
रागास्त्यक्त्वाऽपि सर्वान् कथमिह मुनयः पालयेयुः स्वकीर्तिम् ।
कीर्त्तं लुब्धा मुनीन्द्रा यदपि सुतपसः संति केचित् पृथिव्याम्,
आनीयुः केऽपि लोके परमहमखिलं मूढचेता न जाने ॥२२॥

अर्थ—परन्तु सब कुछ त्यागने पर भी मुनिजन कुछ ऐसे भी हैं कि वे अपनी कीर्त्ति की लालसा रखते हैं, यह देखकर मैं आश्चर्य में डूब जाता हूँ, किन्तु इसका उत्तर सुनकर भी मैं ऐसा मूर्ख हूँ कि उनके समाधान पर भी मेरी समझ में कुछ नहीं आता ।

दृष्ट्वन्तन्मानसेऽहं सुविमलतपसं तापसीं सत्यरूपाम्,
मिथ्याश्लाघामयेऽस्मिन् मुनिजनविमले, केवलां कोमलां त्वाम् ।
स्तूयाल्लोकेऽधुना कः सरलगतिरति चिन्तयेयं सदेवम्,
श्रद्धां बध्वाऽप्यधीरो मुनिजनकमलं वीरदेवं भजेऽहम् ॥२३॥

अर्थ—यह सब देखकर मैं अपने मन में, पवित्र तपस्विनी सच्च्ची साध्वी आपकी, केवल सीधी मुनिजनों के विमल मिथ्याश्लाघामय संसार में, सीधी गति पर प्रेम रखने वाली की, कौन प्रशंसा करेगा ? ऐसा मैं सदा उधेड़-बुन में लगा रहता हूँ । अतएव मैं धवड़ाकर श्रद्धा को बाधकर वीर प्रभु की आराधना करता रहता हूँ ।

आश्चर्यं वर्त्तते मे मनसि हतजगत् जैनधर्मस्य साधुः,
सर्वं त्यक्त्वाऽपि भूमौ यशसि परिगतः साधकः सर्वथाऽयम्,
जाने सर्वं रहस्यं तदपि गुणमयं वृत्तमस्त्येव लोके,
तस्मान्मन्ये सदाऽहं किमपि तु जगतः कारणं तद् विचित्रम् ॥२४॥

अर्थ—मेरे मन में आश्चर्य होता है कि सर्वत्यागी जैनधर्म के मुनिराज संसार छोड़कर भी इस

पृथिवी पर यश में लिप्त होकर यह साधक है। यह भी गुणमय रहस्य सब में जानता हूँ, यह सब दुनिया में चलता है। इसलिए मैं मानता हूँ कि जगत् का कारण अनोखा है।

निलंज्जोऽहं वदेयं सदसि मुनिजने लोकलीलासमाप्ते,
मिथ्याश्लाघाभिलाषे पुनरियमधुना निःस्पृहो दृश्यतेऽन्ते।
तत्त्वज्ञानी मनुष्यो भवति मुनिजनान् वन्दते स्वच्छया यः,
भवत्या तेषां गुणानां कथयति बहुधा पद्यवन्दे महत्त्वम् ॥२५॥

अर्थ—लोकलीला समाप्त करने वाले मुनिजन पर, जो कि झूठी डींग की चाह रखते हैं, जैसा कि वह अन्त में निस्पृह दिखता है, उसको ज्ञानी तो अपनी इच्छा से वन्दना करता है और कविता में उनके गुणों की प्रशंसा करता है, ऐसा मैं देखता हूँ।

अन्ते भक्त्यैव सत्याः सुकुसुमसुरभे नामवत्या भगिन्याः,
मातुः कैलाशवत्या गुणगणनिचयं यावदन्तं स्मरेयम्।
नामं नामं यशोभ्यः सकलगुणभूतः पुण्यरूपं मदन्तः,
नृत्यत्येवं सहर्षं किमु कृतिवचनैः प्रेर्यमाणो जनोऽयम् ॥२६॥

अर्थ—अन्त में, मैं सतीजी के प्रति भक्ति से, प्रशस्त खिले हुए पुष्पों की गन्धवाली नामवाली सतीजी जो मेरी बहिनजी हैं, क्योंकि स्वर्गीय कैलाशवतीजी, जो मेरी माता थीं, उनकी आप पुत्री हैं, अतः मैं आपको बहिनजी कहता हूँ, क्योंकि मेरा मन उनके गुणों को यावज्जीवन याद करता रहेगा। अच्छे गुणों की माता कैलाशवतीजी के यशों के लिए झुक-झुक कर मेरा मन नाचता रहता है। अधिक क्या कहूँ, मैं तो एक विवश सा हूँ।

सत्या दिव्यप्रभाया मृदुतमवचनैः प्रेरितं मेऽपि चित्तम्,
कीर्त्तं पुंघं सदेवं रसमयकथनेश्चिन्तयित्वा गुणौघम्।
स्मृत्वा स्मृत्वा कथञ्चिल्लिखति मतिमयं पद्यवन्दं विचित्रम्,
विद्वल्लोके प्रशस्तं कथमपि प्रभवेन्नास्ति चिन्ता ममेयम् ॥२७॥

अर्थ—सतीजी श्री दिव्यप्रभाजी महाराज के अत्यन्त मृदुवचनों से प्रेरित हुआ मेरा मन भी जो सदा कीर्तिलोभी और खुशामदी बातों से गुणों को सोचविचार और बार-बार याद कर एक ऊटपटांग पद जैसे मनगढ़न्त कुछ लिख रहा हूँ। यह विद्वज्जन को अच्छा लगेगा कि नहीं, यह तो मुझे चिन्ता ही नहीं है। (क्योंकि मैं जानता ही क्या कहूँ !)

सत्यं बुध्यामि लोके कुसुमवति हे धर्मपूज्ये वदान्ये।
वक्तुं वाणीं न जाने तदपि तव कथामिद्धितेन ब्रवीमि।
तत्त्वज्ञात्री दधायास्त्वमसि बहुतो भावमुग्धाऽप्यनन्या,
कीर्त्तश्चिन्ता न तेऽन्तविहरति भुवने जैनधर्मं स्तुवन्ती ॥२८॥

अर्थ—ए धर्मपूज्य ! विदुषि ! कुसुमवति ! मैं यदि ठीक समझता हूँ अथवा जानता हूँ तो मैं वर्णन करना भी नहीं जानता, फिर भी मैं कुछ आपको इशारे से बताना चाहता हूँ। दया के तत्त्व की जानकार भावमुग्ध आप अकेली ही हो, जैनधर्म की स्तुति करती हुई निश्चिन्त विहार करती रहती हो।

भूदेवोऽयं विपन्नः स्मरति यदि कदा कर्कशत्वं स्वकीयम्,
शिक्षादाने प्रवीणो रहसि तव धृति लज्जते सर्वथाऽन्तः।
चर्चावाचां प्रकुर्वे हससि बहुतरं तस्य मूलं यशस्ते,
तस्मान्मन्ये स्वसारं जगति मनुजता सर्वथा पालनीया ॥२९॥

सप्तम खण्ड : विचार-मन्थन

५३५

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

अर्थ—मैं भोंदू दुखियारा ब्राह्मण घटित अपनी कठोरता को जब कभी यदि याद करता हूँ, पढ़ाने-करने में चतुर होते हुए भी आपके धैर्य का स्मरण कर मेरा हृदय बहुत लज्जित होता है। जब कभी मैं आपके सम्मुख इसकी चर्चा वाणी करता हूँ तो आप यही कहती हैं कि यही तो आपकी प्रशंसा की जड़ है, यह कहकर हँसने लगती हो। यही कारण है कि मैं आपको बहिन मानता हूँ। संसार में मानवता सभी तरह पालनी चाहिए।

अन्तेऽप्यज्ञः कृतज्ञो मृदुतमवचनां सोहनां मातरं मे,
जेनो भक्तः सतीं तां वदति वदतु मे काऽपि हानिर्न मन्वे ।
नाहं मन्ये कृतघ्नं स्वमतिशयतमं वच्मि भावेन मेऽन्तः,
लोके रीतिः सदेयं जनयति जननी किन्तु धर्मेण माता ॥३०॥

अर्थ—आखिर मैं नासमझ, किन्तु अत्यन्त कोमल वचनों वाली स्वर्गीय सोहनकुँवर सतीजी को मैं माता मानता हूँ। श्रावक उनको सतीजी म० मानते हैं या कहते हैं, इससे मेरी कोई हानि नहीं है। वस्तुतः मैं अपने आपको कृतघ्न नहीं मानता, अतएव माता कहता हूँ। यों तो संसार में जो जन्म देती है, वही माता कहलाती है और धर्म से सभी स्त्रियाँ माँ-बहिन हैं।

किमिति कविरहं वर्णयेयं कथञ्चित्,
सरलपदमयं सारशून्यं विचित्रम् ।
तदपि मम मते काव्यमेतत्सु भावम्,
वहति किमपि हृद्यं बालवाचोऽप्यसारम् ॥३१॥

अर्थ—क्या जैसे-तैसे अर्थहीन ऊटपटांग कुछ वर्णन कर लेता हूँ इससे मैं कहीं कवि नहीं हो सकता ! परन्तु अर्थहीन तुतलाती बोली से बच्चा बोलता है, उसे सुनकर जैसा आनन्द आता है, ठीक वैसे ही मेरी कविता से आपको आनन्द आता है, ऐसा मैं कवि हूँ।

न किमपि मम पद्यं वर्त्तते काव्यतुल्यम्,
तदपि यदि लिखेयं साहसं मे क्षमायाः ।
रस-गुण-कवितायास्तत्त्ववेत्तुः कवेस्तत्,
प्रहसनमिव विस्रे मोदयत्येव चित्तम् ॥३२॥

अर्थ—मेरी कविता कोई कविता नहीं है, किन्तु आप मुझे क्षमा-प्रदान कर देंगे, इसलिए मुझे कुछ लिखने का साहस हो जाता है। रसीली कविता के जानकार कवियों के लिए तो यह मेरी कविता 'प्रहसन' के समान है। कुछ तो कवियों दिल में अच्छा लगता होगा।

कथयति यदि पद्यं व्यंगसंगेन नित्यम्,
तदपि न पुनरन्तस्तोषमाप्नोति हृद्यम् ।
रचयति पुनरेवं शंकरोऽयं रमायाः,
कविरपि मुशकोऽर्थः संगतः किन्तु स्वप्ने ॥३३॥

अर्थ—यदि कोई कवि सव्यंग पद्य कहता है तो वास्तव में हृदय को प्रिय सन्तोष प्राप्त होता है, यह जानते हुए यदि लक्ष्मी का शंकर अर्थात् भला चाहने वाला रमाशंकर कवि का सही अर्थ हो सकता है, किन्तु यह सब स्वप्न में ही संगत हो सकता है, जगते हुए संसार में कभी नहीं हो सकता। ●



(:) परिशिष्ट (:)

अभिनन्दन-ग्रन्थ में परिशिष्ट की परम्परा भले ही नवीन हो, किन्तु इसकी एक अपनी उपयोगिता/अनिवार्यता है। गुजराती में इसे पूरवणी कहते हैं। कुछ महत्वपूर्ण लेख जो ग्रन्थ छपते-छपते प्राप्त हुए, वे अपने खण्ड गत विषय के साथ सम्मिश्रित नहीं हो सके, किन्तु उनकी उपयोगिता थी, अतः इन लेखों को परिशिष्ट में संकलित किया गया है। सम्बन्धित विद्वान लेखक इसमें किसी प्रकार अन्यथा भाव नहीं लेंगे, ऐसा विश्वास है।



जैनाचार : एक विवेचन

—राजोद्ध मुनि शास्त्री, एम० ए०

सुखकामी मनुष्य और सुख का रूप

धर्माचार का मूल मन्तव्य यथार्थ सुख की प्राप्ति है। यहाँ यह अपेक्षित है कि सच्चे सुख के स्वरूप को पहचाना जाय और दुःख के साथ उस की आपेक्षिक स्थिति को भी समझा जाय। जैन साहित्य में इस विषय का विषद विवेचन उपलब्ध होता है। दुःख के कारणों की खोज की गई है और उनको निर्मूल करने के उपाय भी सुझाये गये हैं। दुःख के समाप्त हो जाने की स्थिति, सुखानुभव की प्राथमिक आवश्यकता है। जैन मान्यतायें दुःख के कारण रूप में 'कर्मबन्धन' को स्वीकारती हैं। इस बन्धन के क्षीण हो जाने पर ही वास्तविक और उत्तम सुख उपलब्ध होता है। इस विचार के समर्थन में निम्न उक्ति उल्लेखनीय है—

देशयामि समीचीनं धर्म-कर्मनिवर्हणम् ।

संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥^१

अर्थात्—“मैं कर्मबन्ध का नाश करने वाले उस सत्यधर्म का कथन करता हूँ जो प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तमसुख में धरता है।”

स्पष्ट है कि संसार में दुःख हैं। प्राणियों के अपने कर्म ही इन सांसारिक दुःखों के मूल कारण हैं और धर्म उन्हें दुःख-मुक्त कर उत्तम सुख की प्राप्ति करा सकता है। कौन सचेतन प्राणी सुख का परित्याग कर स्वेच्छा से दुःख का वरण करने को तत्पर हो सकता है? सभी की कामना सुख के

लिए ही होती है, प्रयत्न भी इसी दिशा में किये जाते हैं। यह बात अन्य है कि वे प्रयत्न उत्तमसुख के पक्ष में होते हैं अथवा नहीं और वे प्रयत्न समुचित होते हैं अथवा नहीं। यह सुख की लालसा दुःख की प्रतिक्रिया है। दुःख कदाचित् जागतिक जीवन का एक दृढ़ और कट्ट सत्य है। दुःख की परिधि से कोई बच नहीं पाया है। लौकिक दृष्टि से 'अभाव' दुःख का कारण है। अभाव की पूर्ति से ही सुख का आगमन भी मान लिया जाता है। अत्राभाव के कारण क्षुधा का दुःख है और अन्न-प्राप्ति पर सुखानुभव होने लगता है। किन्तु दुःखित तो अभावग्रस्त पाये ही जाते हैं; सम्पन्न जन भी किसी न किसी दुःख के शिकार रहते हैं। धनाधिक्य यदि भौतिक सुख की उपलब्धि कराता है तो सन्तानाभाव अथवा अन्य किसी कारण से मानसिक संताप बना रहता है। व्याधि भी दुःख का कारण हो सकती है, व्यावसायिक ऊँच-नीच से भी चिन्ता और मानसिक क्लेश संभव है। सार यह कि सामान्यतः दुःख इस जागतिक जीवन का एक अनिवार्य अंग है और मनुष्य का सुखकामी होना भी एक शाश्वत सत्य है।

प्रश्न यह है कि इस दुःख से छुटकारा पाने और सुख प्राप्त करने के लिए कारगर उपाय क्या है? भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये ४ साधन सुखार्थ सुझाये गये हैं। मोक्ष पारलौकिक सुख का साधन है। इहलोक के सुखों के लिये प्रथम ३ साधनों का विधान है। इन तीन

१ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार'—श्री समन्तभद्र स्वामी

साधनों में आदिस्थान धर्म को ही प्रदान किया गया है। वस्तुतः धर्म ही सुख प्रदान करने वाला प्रमुख और समर्थ साधन है। शेष अर्थ और काम तो गौण स्थान रखते हैं और इन दोनों साधनों में भी धर्म की संगति अनिवार्य रहती है। धर्मरहित अर्थ सुख नहीं, दुःखों का ही मूल कारण बनता है। सुख प्राप्त करना जीव का अनिवार्य स्वभाव है— इस प्रवृत्ति के अधीन होकर मनुष्य नीति-अनीति उचित-अनुचित का ध्यान किये बिना अधिकाधिक अर्थ-संचय में लग जाता है। वैभव-विलास के साधनों के अम्बार लग जाते हैं, उच्च अट्टालिकाओं का वह स्वामी हो जाता है। अपार धन-धान्य और स्वर्ण-माणिक्य से भरा-पूरा उसका प्रासाद अन्यजनों के लिए ईर्ष्या का कारण तक बन जाता है। उसे समाज में उचित प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो जाती है। यह सब कुछ होते हुए भी अधर्म से प्राप्त धन उसके मन को अशांत रखता है। बेईमानी से व्यवसाय करके यदि धन प्राप्त किया गया, तो उस धन को छिपाने की समस्या रहेगी। मनुष्य स्वयं को भी भीतर ही भीतर धिक्कारता रहता है कि अन्याय और अनीति के साथ ही उस ने यह धन प्राप्त किया है। ऐसी स्थिति में मानसिक असंतोष होना ही है और बाहर से उसका जीवन कितना ही सुखमय क्यों न प्रतीत हो, वास्तव में वह दुःख की ज्वाला में दग्ध रहा करता है। इसके विपरीत धर्माचरण सहित अर्जित धन मात्रा में चाहे कितना ही अल्प क्यों न हो, वह व्यक्ति को आत्मिक संतोष अवश्य देता है और यह मानसिक शान्ति उसके सुख का आधार बन जाती है। यह सुख स्थिरतायुक्त भी होता है और अन्तः-बाह्य दोनों रूपों में एक सा ही होता है। हाँ, सुख-सुविधाओं की मात्रा कम भले ही हो सकती है, किन्तु इससे सुख के यथार्थ स्वरूप को कोई हानि नहीं होती। इन लौकिक सुखों के साथ धर्म का नाता बड़ा प्रगाढ़ हुआ करता है। धर्म के बिना सुख की शून्यता ही प्रमाणित होगी।

यह जो चर्चा हुई लौकिक सुख की। किन्तु वास्तविकता यह है कि ये लौकिक सुख वास्तव में सुख होते ही नहीं। ये तो सुखों की छाया मात्र हैं। इन सुखों का अन्तिम परिणाम घोर कष्टकर दुःख होता है। फिर इन्हें सुख कहा ही कैसे जाय? यह तो मनुष्य का अज्ञान और मोह ही है जो इनमें सुख की प्रतीति कराने लगता है। वास्तव में यह मनुष्य का भ्रम है और यही भ्रम उसे घोर दुःखजनक तथाकथित सुखों के पीछे दौड़ने को विवश कर देता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सुख तो जीव के भीतर से ही उदित होने वाला एक तत्त्व है और उसका आभास भी कहीं किसी बाह्य पदार्थ में नहीं हो सकता। अपने से बाहर सुख की खोज करने वाले प्राणी की स्थिति तो उस मृग की सी है जो अपनी नाभि में बसी कस्तूरी की मादक गन्ध से चंचल होकर उस सुगन्धित पदार्थ को प्राप्त करने के लिए—‘फिर-फिर सूँघे घास’ की अवस्था में रहता है। आवश्यकता सुख के स्वरूप को समझने की है। सारे भ्रम फिर दूर हो जायेंगे, भ्रान्तियाँ कट जायेगी और सुख के छलावों से मन मुक्त हो जायगा।

बाहरी पदार्थों में सुख का अनुभव करने वाले जन इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाले सुखोपभोग की जालसा ही रखते हैं। ये सुख न केवल क्षणिक अपितु वास्तव में अन्ततोगत्वा दुःखरूप में परिणत होने वाले भी होते हैं। वे स्वयं सुख नहीं हैं। वे तो ऐसे साधन हैं जो किसी एक व्यक्ति के लिए सुख तो उसी समय किसी अन्य व्यक्ति के लिए दुःख के कारण होते हैं। जब एक ही साधन या कार्य सुख भी उत्पन्न कर रहा है और दुःख भी, तो सच्चे सुख का कारण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ये साधन तो इतने क्षीण और चंचल हैं कि एक ही व्यक्ति के लिए जो कभी सुख-कर होते हैं अन्य अवसरों पर वे ही दुःख के कारण भी बन जाते हैं। सन्तान का ही उदाहरण लीजिए। परिवार में शिशु की किलकती हँसी से

सभी प्रसन्न हो जाते हैं, कुलदीपक की उपस्थिति से माता-पिता का मन हर्षित, उल्लसित और गर्वित रहता है। सन्तान सुख का कारण है। किन्तु यही पुत्र बड़ा होकर जब कुकर्मी निकल जाता है, कुल को बट्टा लगाता है, अभिभावकों का मस्तक लज्जा से नत होने लगता है—तो दुःख का कारण भी बन जाता है। सच्चा सुख तो सभी के लिए और सभी परिस्थितियों में सुख ही बना रहता है। वह कभी दुःख का रंग धारण कर ही नहीं सकता। बाहरी पदार्थों से जिन सुखों की प्राप्ति की कल्पना की जाती है, उनमें यह गुण नहीं होता। अतः उन्हें सुख कहा ही नहीं जा सकता। सुख की खोज मनुष्य का स्वभाव है—यह सत्य है। इस खोज में व्यग्र मन इन बाहरी वस्तुओं में सुख का अनुभव कर भटक जाता है। उसे क्षणिक सन्तोष होने लगता है कि सुख मिल गया, किन्तु इस सीमा तक तो उसकी खोज सफल नहीं होती। उसे ऐसा सुख नहीं मिलता जिसके छोर पर दुःख की स्थिति न हो। सच्चे सुख को बाहरी किसी वस्तु के आधार की अपेक्षा नहीं होती। न अर्थ सुख का साधन है, न काम सुख का साधन है, वास्तविकता तो यह है कि 'इच्छाओं का निरोध' ही सुख का मूलाधार है। अभाव यदि दुःख का कारण है तो अभाव को दूर करने के लिए अमुक वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होगी। यही इच्छा दुःख का मूल कारण बनती है। यदि यह इच्छा पूर्ण हो जाती है और अमुक वस्तु उपलब्ध हो जाती है, तो मनुष्य इस पर सन्तोष नहीं करता। वह उससे अधिक, और अधिक की इच्छा करने लगता है। परिणामतः इच्छा पूरी होकर भी सन्तोष प्रदान करने की क्षमता नहीं रखती। इससे तो चित्त में विचलन, अशान्ति और असन्तोष ही जन्मते हैं, जो दुःखरूप में परिणत होते हैं। ऐसी दशा में अहितकारिणी-

“इच्छा” का निरोध सुख लाभ के लिए अत्यावश्यक है। यह निरोध अगाध शान्ति और सन्तोष से मन को पूरित कर देता है और ऐसे ही वातावरण में सुख का पदार्पण सम्भव है। इस वास्तविकता को समझे बिना, अपने से बाहर जगत के विषयों और पदार्थों में सुख का आभास पाने वाले भ्रमित जन न्याय-अन्याय का विचार किये बिना अधिक से अधिक मात्रा में ऐसे सुख को प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। दुःख को सुख समझकर उसका वरण करने की स्पर्धा में ही पीढ़ियाँ व्यस्त रहती हैं। यही कारण है कि संसार में दुःख है। जब तक यह भ्रम बना रहेगा तब तक दुःख का अस्तित्व भी बना रहेगा। जो जब तक इन कथाकथित बाह्य सुखों को सुख मानता रहेगा, तब तक वह दुःखी बना रहेगा। वस्तुस्थिति यह है, कोई भी बाह्य पदार्थ न तो स्वयं सुख है और न ही वह किसी सुख का साधन है। सुख तो आभ्यन्तरिक वस्तु है, आत्मा का गुण है। हाँ, जीव का स्वभाव यह सुख है, जो वास्तव में भीतर ही उत्पन्न होता है प्रायः बाहरी किसी पदार्थ का सहारा लेता है और अबोध मनुष्य अज्ञानवश उन्हीं पदार्थों को सुख के आधार मान लेता है। देहगत विकारों की क्षणिक शान्ति को मनुष्य सुख रूप में जानता है, किन्तु वास्तव में वे सुख होते नहीं। वे तो विकारों के प्रतिकार मात्र हैं। भृत्-हरि की एक उक्ति से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है जिसका आशय है—‘जब प्यास से मुख सूखने लगता है तो मनुष्य सुगन्धित, स्वादु जल पीता है, भूख से पीड़ित होने पर शाकादि के साथ भात खाता है, कामाग्नि के प्रज्वलित होने पर पत्नी का आलिंगन करता है। इस प्रकार रोग के प्रतिकारों को मनुष्य भूल से सुख मान रहा है।’¹² दृष्टि को बाह्य से समेटकर अन्तर् की ओर मोड़ने

१ तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादुरुचितं क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिबलितान् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिगति वधूं प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

वाले मर्मज्ञ जन इस अन्तर से भली-भाँति अवगत होते हैं। वे जानते हैं कि ये बाहरी साधन दुःख-जनित चंचलता के प्रभाव को क्षणिक रूप से दुर्बल मात्र बनाते हैं, अन्यथा स्थायी सुख के प्रदाता ये नहीं हो सकते। भीतर से स्वतः विकसित होने वाले वास्तविक सुख को किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा रहती ही नहीं है।

ये आभास मात्र कराने वाले अवास्तविक सुख दुःखों को दूर नहीं कर पाते। और सुख के अनुभव के लिए यह अनिवार्य परिस्थिति है कि दुःख का सर्वथा प्रतिकार हो जाय।^१ सुख और दुःख दोनों एक साथ रह नहीं सकते। जब तक जीवन में दुःख है, सुख तब तक आ नहीं सकता और सुख की अवस्था में दुःख भी इसी प्रकार अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता है। दुःखों का अभाव हुए बिना सुख का आगमन सम्भव नहीं हो पाता। हमें सुख के भ्रम से मुक्त हो जाना चाहिए। सच्चे सुख तक पहुँचने के प्रयत्न हमें आरम्भ करने चाहिए। दुःख का उन्मूलन इसके लिए आवश्यक है। धन और काम की असीम और नियन्त्रणहीन अभिलाषाएँ मनुष्य के जीवन को दुःखमय बनाये हुए हैं, क्योंकि वे धर्म-संयुक्त नहीं हैं। मनुष्य की इच्छाएँ यदि मर्यादित और धर्मयुक्त हों, तो स्वयं उसका जीवन तो सुखी होगा ही, उसका जीवन अन्य जनों के लिए भी सुखदायी हो जायगा। धर्म हमारी असीम इच्छाओं को नियन्त्रित कर, हमें पूर्ण सुखी बनाता है। वास्तविक सुख अनन्त है, असीम है, स्थायी है और इसकी परिणति कभी भी दुःख के रूप में नहीं होती। यही सुख की स्थिति 'मोक्ष' है। इसी स्थिति को प्रत्येक सज्जन मनुष्य अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। यही मानव-जीवन का परम और लक्ष्य हुआ करता है। यह मानना भी अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि मोक्ष केवल मानव योनि में ही सुलभ हो सकता है, अतः यह देह धारण कर इसे त्री मूल गन्तव्य और मन्तव्य

मानना प्रत्येक मनुष्य का प्रधान दृष्टिकोण होना चाहिए। मानव-जीवन इस चरम सुख की उपलब्धि से ही सार्थक होता है।

मोक्ष-प्राप्ति कैसे ? : जैन दृष्टिकोण

प्रत्येक जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उदबुद्ध होता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। जब हम यह जान जाते हैं कि जिन सांसारिक सुखों के पीछे हम अब तक भागते रहे हैं वे असार हैं, सुखाभास मात्र हैं, वास्तविक सुख नहीं हैं और मोक्ष ही सच्चा और अनन्त सुख है, इसी मंजिल के लिए यह जीवन हमने धारण किया है तो उस मोक्ष को प्राप्त करने की लालसा का बलवती हो जाना अस्वाभाविक नहीं। असंख्य जीवन धारण कर चुकने के पश्चात् यह मूल्यवान् जीवन जब सुलभ होता हो, तो इसे कौन व्यर्थ ही नष्ट कर देना चाहेगा। यही कारण है कि सुखकामी मनुष्य मोक्ष-प्राप्ति का उपाय जानने और उसे अपनाने के लिए उत्सुक रहता है। यह औत्सुक्य, यह जिज्ञासा ही किसी मोक्षाभिलाषीजन की प्रथम पहचान हो सकती है।

संकेत रूप में इस बात की चर्चा हो ही चुकी है कि यह 'धर्म' ही है, जो मनुष्य को अनन्त सुख की उपलब्धि कराने की क्षमता रखता है। धर्म उस नौका के समान है जो मनुष्य को दुःख की उत्ताल तरंगों से भरे समुद्र को पार कर, मिथ्या सांसारिक सुखों की चट्टानों से बचाता हुआ मोक्ष के अनन्त सुखमय उस पार तक पहुँचा देता है। 'धर्म' को समझने के लिए इसके प्रायः ३ विभाग कर लिये जाते हैं—

- (१) सम्यग्दर्शन
- (२) सम्यक्ज्ञान और
- (३) सम्यक्चारित्र्य

इन तीनों के संयोग से ही धर्म का समग्र स्वरूप खड़ा होता है। आचार्य समन्तभद्र की उक्ति इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है—

१ 'तत्सुखं यत्र नासुखम्'

५४० कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ : परिशिष्ट

“धर्म के प्रवर्त्तक सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को धर्म कहते हैं, जिनके उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्य संसार के मार्ग हैं।”^१

इन संसारी मार्गों से छूटकर, दृढ़तापूर्वक धर्म में प्रवृत्त होना मुमुक्षु के लिए अत्यावश्यक है। इस धर्माचरण का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन है। इस सिद्धि के बिना आगामी दो सोपानों को अपनाना असंभव सा रहता है।

सम्यग्दर्शन का भाव है आत्मज्ञान—स्वयं को, आत्मा को पहचानना। मोक्ष तो आत्मा का सुख है और वह किसी बाहरी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसी स्थिति में प्रथमतः उस आत्मा के स्वरूप से परिचय स्थापित कर लेना अत्यावश्यक रहता है। सत्य और मिथ्या में भेद करने की क्षमता का विकास आवश्यक है। अन्यथा हमारी साधना मिथ्या की ओर ही उन्मुख रह जाय, सत्य की ओर हमारा ध्यान जाये ही नहीं—ऐसा होने की आशंका बनी रहती है। हम क्या हैं? संसार की जिन परिस्थितियों और पदार्थों के मध्य हम हैं—वे क्या हैं? जब तक इसका विवेक विकसित न हो, हम त्याज्य और ग्राह्य में अन्तर नहीं कर सकते हैं। आत्मा का बाह्य पदार्थों से छुटकारा मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यह तभी संभव है, जब हम यह स्पष्टतापूर्वक समझ लें कि जिसका छुटकारा कराना है वह आत्मा है क्या? और इसी प्रकार यह जानना भी आवश्यक है कि जिनसे छुटकारा पाना है, वे पदार्थ कैसे हैं, क्या हैं? स्वर्ण की खान से निकला पिंड शुद्ध स्वर्ण नहीं होता। उसमें अशुद्धियाँ मिश्रित होती हैं। शोधन करने वाले के लिए यह आवश्यक होता है कि वह स्वर्ण क्या होता है, इसे भली-भाँति पहचान सके। साथ ही स्वर्ण के साथ मिली रहने वाली अशुद्धियों का ज्ञान भी उसे होना चाहिए। तभी वह उपयुक्त

विधियाँ प्रयुक्त कर अशुद्धियों को दूर कर सकता है और खरा स्वर्ण पिंड प्राप्त कर सकता है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्ध रूप क्या है और इसके साथ लगे रहने वाले विकार क्या हैं? यह जाने बिना व्यक्ति आत्मा को विकारमुक्त, शुद्ध नहीं कर सकता।

एक और भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मुमुक्षु के लिए इस तथ्य में अचल और अमर आस्था, पक्का विश्वास होना आवश्यक है कि—

“ज्ञान-दर्शनमय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है। शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न शेष समस्त पदार्थ बाह्य हैं—मुझसे भिन्न हैं और वे मेरे नहीं हैं।”^२

शुभाशुभ कर्मों द्वारा जनित उन पदार्थों से ममत्व त्यागना आवश्यक है जो हमारी आत्मा से जुड़ गये हैं। ममत्व को त्यागे बिना उनसे उबरना संभव नहीं है। आत्मा का इनसे छुटकारा करने की दिशा में यह अत्यावश्यक है कि जहाँ हम आत्मा और इन शुभाशुभ (त्याज्य) कर्मों को पहचानें वहाँ यह भी परमावश्यक है कि हमें इस सिद्धान्त में पक्की आस्था हो कि केवल आत्मा ही हमारी है, शेष बाह्य पदार्थ हमारे नहीं हैं और इनसे छुटकारा पाना है। जब तक यह आस्था न होगी, हम छुटकारे के प्रयत्नों में दृढ़ता के साथ प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे। यदि अधूरी आस्था में हम प्रयत्न आरम्भ करेंगे भी, तो वह मात्र दिखावा होगा और वे प्रभावी नहीं हो सकेंगे। इस विषय में जो शंकाएँ मन में आयें उन्हें पहले ही दूरकर दृढ़ आस्था विकसित करना ही वास्तव में सम्यग्दर्शन है। इसी के अनन्तर मुक्तिपथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है। आत्मा के स्वरूप की वास्तविकता को पहचानना और उस पर दृढ़ हो जाना आवश्यक है। शरीर और आत्मा में अभेद स्थिति को मानना अर्थात् जो यह शरीर है वही आत्मा

१ सद्दृष्टिज्ञानव्रत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीय प्रत्यनोकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥

२ एगो मे सत्सदो अप्पा णाण-दंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भवा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

है—ऐसा मानना मिथ्या है। इस मिथ्या से मुक्त होकर तथा आत्मतत्त्व को पहचान कर उससे विचलित न होना ही परम पुद्घार्थ मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है।^१

जैनदर्शनानुसार मुक्ति के लिए जिन तत्त्वों का निर्धारण है—उन पर दृढ़ आस्था सम्यग्दर्शन है। और उन तत्त्वों की पहचान, उनका यथोचित ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। सम्यक्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्ष-मार्ग की यात्रा संभव नहीं है। यदि इस अभाव में भी कोई यात्रारम्भ कर देगा, तो निश्चित रूप से वह भटक जायगा, पथच्युत हो जायगा। लक्ष्य तक पहुँचना उसके लिए सम्भव होगा ही नहीं। सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति 'सम्यक्दृष्टि' के विशेषण से विभूषित होता है। उसकी यह योग्यता मोक्षमार्ग से उसे न भटकने देती है, न विचलित होने देती है और क्रमशः वह सफलता की ओर अग्रसर होता रहता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान मोक्ष-मार्गों के लिए मार्गदर्शक और प्रेरक बने रहते हैं, कर्णधार की भाँति समय-समय पर उचित दिशा का संकेत करते रहते हैं, सही मार्ग पर आगे से आगे बढ़ाते रहते हैं।

सम्यग्दर्शन के अंग

विभिन्न अंगों के सामंजस्य से जैसे देह अपना आकार ग्रहण करता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन भी अपने अंगों के समन्वय का ही प्रतिफल है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। जैसी कि पहले ही चर्चा की जा चुकी है, मोक्ष-मार्ग की सार्थकता और तात्त्विक विवेचन पर व्यक्ति का अटल विश्वास होना चाहिये। उसके मन में कोई दुविधा नहीं रहनी चाहिये। यह मार्ग सार्थक है या नहीं, अथवा इस मार्ग से सफलता मिलेगी या नहीं ऐसी मानसिक दशा मोक्ष-मार्ग की यात्रा के प्रतिकूल रहती है। अर्द्ध ज्ञान से प्रायः ऐसी मनोदशा रहती है अतः

स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर आस्था को सुदृढ़ और मन को निःशंक करना अनिवार्य है। यह निःशंकता सम्यग्दर्शन का प्रथम एवं सर्वप्रमुख अंग है। शंका की अवस्था में आस्था का अटल होना संभव नहीं होता।

निष्कामता सम्यग्दर्शन का दूसरा अंग है। सांसारिक सुख-वैभव, विषयादि की समस्त कामनाओं का सर्वथा परित्याग करना भी अनिवार्य है। अभिलाषाओं से भरा मन चंचल रहता है और चंचलता इष्ट मार्ग पर अग्रसर होने में व्यवधान उपस्थित करती है। कामनाओं से ग्रस्त मनुष्य का लक्ष्य भी स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्यादि तक ही सीमित रह जाता है। वह इन्हीं विषयों में मग्न हो जाता है और सर्वोपरि लक्ष्य से उसका ध्यान विचलित हो जाता है। ऐसी दशा में उसका मार्ग-भ्रष्ट हो जाना सर्वथा स्वाभाविक ही है। अस्तु, मोक्ष के अभिलाषीजन के लिए निष्काम होना अनिवार्य है।

सम्यग्दर्शन के तीसरे अंग के अन्तर्गत मनुष्य के ग्लानिभाव का निषेध किया गया है। इस जगत में अनेक धनहीन रंक हैं, अनेक गोगी और दुःखी हैं। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति ऐसे दीन-हीन और दुःखित जनों के प्रति उपेक्षा या ग्लानि का भाव नहीं रखता। मनुष्य की जो भी दशा है उसके पूर्वकर्मों के प्रतिफल के रूप में ही होती है। कर्मों के क्रम परिवर्तन के साथ ही इन दशाओं में भी परिवर्तन हो जाता है। घृणा करने वाला स्वयं यह नहीं जानता कि आगामी समय स्वयं उसका क्या रूप बना देगा? जो आज सम्पन्न है वह कल विपन्न भी हो सकता है और जो आज रोगी है वह भी कल स्वस्थ हो सकता है। सम्यग्दृष्टि जन व्यक्ति की इन दशाओं पर नहीं, अपितु केवल उसके गुणों पर ही ध्यान देते हैं।

सम्यग्दर्शन का चौथा अंग इस बात का संकेत करता है कि किसी भी दशा में मनुष्य को बुरे

१ विपरीताभिनवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् । यत्तस्मादविचलनं स एव पुद्घार्थसिद्ध युपायोऽयम् ॥

और बुराई का समर्थन नहीं करना चाहिए। उपरी मन से अथवा किसी दबाव के कारण भी यदि वह अवगुणों अथवा कुमार्ग का प्रशंसक हो जाता है, तो धीरे-धीरे वह ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि दबाव न होने की स्थिति में भी वह बुरे की प्रशंसा ही करने लग जाता है। वस्तुतः उसे तब बुरे में कोई बुराई दिखाई ही नहीं देगी। परिणामतः स्वयं उसका आचरण भी वैसा ही (बुरा) होने लग जाता है। बुराई का समर्थन इस प्रकार मनुष्य के पतन का कारण बन जाता है। बुराई के झूठे समर्थन से भी संसार में उसका प्रसार और शक्ति बढ़ती है। कुमार्ग भी क्षणिक आकर्षण तो रखते ही हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह इस चेटक से स्वयं को अप्रभावित रखे और किसी बुराई को अपने पर हावी नहीं होने दे।

जहाँ चौथा अंग बुराई के प्रसार पर रोक लगाता है, वहाँ सम्यग्दर्शन का पाँचवाँ अंग सन्मार्ग के अधिकाधिक प्रसार की प्रेरणा देता है। मनुष्य को चाहिए कि सन्मार्ग की खूब प्रशंसा करे। उसे स्वयं भी सन्मार्गी होना चाहिए और उसे दूसरों को भी ऐसा बनने की प्रेरणा देनी चाहिए। जब कभी सन्मार्ग या अच्छाइयों की निन्दा हो तो उसे उसका प्रतिकार करना चाहिए। अबोधजन अथवा दुर्जन ऐसा व्यवहार कर सकते हैं किन्तु सम्यक्दृष्टि जन सदा निर्भीकता के साथ उनका विरोध करते हैं। इस प्रकार लोक में सन्मार्ग का रक्षण करना सम्यग्दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

इसी से सम्बद्ध छठा अंग है कि जब कभी मनुष्य स्वयं अथवा कोई अन्य जन सन्मार्ग से च्युत हो रहा हो, तो उसे चाहिए कि उसे दृढ़ बनावे। सन्मार्ग न छोड़ने को प्रेरणा देना और स्वयं भी सन्मार्गी बने रहना इस अंग के अन्तर्गत मनुष्य का कर्तव्य है।

सम्यग्दर्शन का सातवाँ अंग धर्म के आन्तरिक पक्ष की दृढ़ता के लिए है। इसके अनुसार व्यक्ति

को अपने सहधर्मी सहयोगियों के प्रति अतिशय स्नेह रलना चाहिए। यह पारस्परिक स्नेह सभी के मन में धर्म के प्रति रुचि को प्रगाढ़ बनाता है और अन्य जन इस मृदुल व्यवहार एवं स्नेहसिक्त वातावरण से प्रभावित होकर प्रेरणा ग्रहण करते हैं। धर्मानुयायियों के साथ-साथ धर्म के प्रति भी श्रद्धा और स्नेह का भाव होना अनिवार्य है।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन का आठवाँ और अन्तिम अंग धर्म के विकास और उसकी विशेषताओं के प्रचार-प्रसार से भी सम्बन्धित है और और अन्य जनों को मिथ्यात्व से मुक्त कर सुधर्म में प्रवृत्त करने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति को जनसाधारण में व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर कर पवित्र, अहिंसामय धर्म का अधिकाधिक प्रसार करने में व्यस्त रहना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जन धर्म के विकास में अपना विनीत योगदान करते रहते हैं। ऐसे जन धर्म और धर्मानुयायियों में अन्तर नहीं करते। धर्म-प्रेम और धार्मिकों के प्रति प्रेम दोनों परस्पर पर्यायरूप में होते हैं। धार्मिकों का सम्मान करने से ही धर्म का सम्मान किया जा सकता है। धर्म तो सूक्ष्म रूपधारी होता है। उसका यत्किञ्चित् व्यक्त स्वरूप धर्मानुयायियों के रूप में ही हमारे समक्ष आ पाता है। सम्यक्दृष्टि जन अत्यन्त कोमल व्यवहार वाले और विनम्र होते हैं। उन्हें अपने तप, साधना, अर्जित क्षमता, उच्चता, वंश, यश आदि का कोई अहं नहीं होता। अहं तो तब आता है, जब व्यक्ति अपने को उच्च और अन्य जनों को इस अपेक्षा में निम्न मानने लगता है। सम्यक्दृष्टि जन ऐसा व्यवहार नहीं करते।

यह सम्यग्दर्शन स्वतः मोक्ष नहीं है। मोक्ष के मार्ग का अनुसरण करने के लिए यह आवश्यक तैयारी मात्र है। यह वह भूमिका है, जिसके पश्चात् धर्माकुरण सम्भव हो पाता है। यह व्यवहार व्यक्ति को मोक्ष-मार्ग का पथिक बनने की

अपेक्षित शक्ति देता है और अनुकूल वातावरण तैयार करता है। ज्वलित-दुखित जगत के मध्य रहकर भी सम्यग्दर्शन का पालनकर्ता अद्भुत शान्ति का अनुभव कर सकता है।

सम्यक्चारित्र

चारित्र या आचरण मनुष्य की गतिविधियों का समुच्चय है। मनुष्य की ये गतिविधियाँ उचित भी होती हैं और अनुचित भी। अनुचित गति-विधियों से मनुष्य स्वयं के लिए भी कष्टकर परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है और समाज के लिए संकट भी। ऐसी स्थिति में मनुष्य के आचरण पर अंकुश होना ही चाहिये। धर्म ही ऐसे नियन्त्रण की क्षमता रखता है। आज जब समाज में विभिन्न स्तरीय विषमताओं का साम्राज्य है—इसकी और भी अधिक आवश्यकता अनुभव होती है। व्यक्ति स्वसुख के लिए स्वार्थवश पर-दुखकारी बन जाता है। मनुष्य में इस विकृति की और समाज में विषमता की—दोनों की उत्पत्ति एक ही साथ हुई और समानान्तर रूप से दोनों का साथ साथ ही विकास भी हुआ है। जब मनुष्य का स्वार्थ बढ़ता है, तो विषमता भी विकसित होती है और विषमता के साथ-साथ स्वार्थ की भावना बलवती होती चली जाती है। इस प्रकार ये दोनों विकार परस्पर पोषक हैं। जैनधर्म के आदिकाल में कोई विषमता नहीं थी, परिणामतः मानव-जाति सर्वथा विकारशून्य, निरीह और निश्छल थी। वह वर्तमान अवसर्पिणी काल के आरंभ का समय था। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के कुछ समय पूर्व तक का काल बड़ा सुखमय और शान्तिपूर्ण था। तब इस 'भोग भूमि' पर सभी सुखी थे। किसी को कोई कष्ट न था। बिना श्रम किये ही सब को सभी उपभोग्य सामग्रियाँ स्वतः ही उपलब्ध हो जाती थीं। किसी को उनके संचय का लोभ भी नहीं था। न कोई विपन्न था और न ही कोई सम्पन्न। विषमता का लेशमात्र भी नहीं था। प्रकृति के विपुल भण्डार से सभी को यथोचित

साधन सामग्री प्राप्त होती रहती थी। सभी संतुष्ट और परम सुखी थे।

परिवर्तनशील समय परिस्थितियों को सदा एक सी कहाँ रखता है? प्रकृति के भंडारों में अभाव आने लगा। उपभोग्य सामग्री की सुलभता में व्यवधान आना भी स्वाभाविक था। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य की मनोवृत्ति में परिवर्तन आया। संकट का अनुभव उसे आरम्भिक रूप से होने लगा था। उसकी सन्तोष की मनोवृत्ति समाप्त होने लगी। आज की क्षुधा मिटने मात्र से उसे सन्तोष नहीं होता—वह तो कल की भी चिन्ता करने लगा। परिणामतः उसके मन में लोभ की दुष्प्रवृत्ति जगी। वह साधनों का संग्रह करने लगा। शक्तिशाली लोग अधिक संग्रह कर लेते और दुर्बलजन साधनहीन होने लगे। और यों समाज में असमानता और विषमता अंकुरित होने लगी। स्थिति यही नहीं रही, अपितु उसने अपराधों को भी जन्म दिया। साधनहीनों ने साधन-गम्पलों के पास से बलपूर्वक साधनों को छीनने का प्रयत्न भी किया और समाज में अशान्ति व्याप्त होने लगी। यदि साधनहीन दुर्बल हुए तो साधनों की चोरी करने लगे—इस प्रकार एक और बुराई उत्पन्न हुई। क्रमशः ये बुराइयाँ कई गुनी अधिक बढ़ती गयीं और समाज क्या से क्या हो गया।

ऐसे अराजकता और अशान्तिपूर्ण समाज पर नियन्त्रण आवश्यक होता है। दुःखित जनों के दुःखों को दूर करना भी आवश्यक है। आवश्यकता इस बात की थी कि भोग की प्रवृत्ति को छोड़कर मनुष्य उद्यम में प्रवृत्त हो। मनुष्य द्वारा उत्पादन करना ही समस्या का रचनात्मक समाधान था। साधनों के अभावों को श्रम द्वारा स्वयं मनुष्य दूर कर सके—इस दिशा में कुशल मार्गदर्शन अपेक्षित था। ऐसे ही समय में आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ था। भगवान् ने कृषि, जिल्प, व्यापारादि करना सिखाया और अभाव की समस्या का निदान आरम्भ हुआ। व्यक्ति श्रमशील होने

लगा। उत्पादन द्वारा आवश्यकतानुरूप सामग्री उपलब्ध होने लगी, किन्तु मनुष्य के चरित्र में जो विकार आ गये थे, उन्हें भी दूर करना आवश्यक था। इसके बिना विषमता को दूर करना और शान्ति स्थापित करना सम्भव नहीं था। भगवान ने मानव जाति पर यह उपकार भी किया। उन्होंने मनुष्यों को अहिंसात्मक आचरण का उपदेश दिया और अहिंसा को ही धर्म के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। भगवान ने इस अहिंसाधर्म के समग्रतः पालन के पक्ष में सहायक तत्त्वों—सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उपदेश दिया। तब से अहिंसा सहित ये चार तत्त्व अर्थात्—ये पांच यम जैनधर्म का मूल आचार हो गया। क्रमशः इसमें विकास होता रहा और इसके प्रचार-प्रसार में अन्य तीर्थंकरों का महत्त्वपूर्ण योगदान भी होता रहा।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का पालन जैनाचार का मूल रूप है। सभी जैन-धर्मानुयायी अनिवार्यतः इस आचार का पालन करते हैं। यह मात्र मुनिजनों के लिए नहीं। हाँ, गृहस्थों और विरक्त मुनियों द्वारा पालन किये जाने वाले आचार में परिमाण का अन्तर हो सकता है। इसी दृष्टि से यह माना जाता है कि इस निर्धारित जैनाचार का गृहस्थजन एकदेश से और मुनिजन सर्वदेश से पालन करते हैं। चारित्र एक व्यापक पारिभाषिक शब्द है। इसके अन्तर्गत मनुष्य की समस्त सूक्ष्म गतिविधियाँ भी परिगणित होती हैं। मनुष्य जो कुछ उच्चारित करता है, यही नहीं अपितु वह जो कुछ सोचता है—वह भी उसकी गतिविधियों में सम्मिलित होता है और ये सारी गतिविधियाँ चारित्र के अन्तर्गत आ जाती हैं। मन, वचन और काया की समस्त क्रियाएँ चारित्र की परिधि में आती हैं। वस्तुतः मनुष्य का जो चारित्र है, वही वह स्वयं है, वही उसका व्यक्तित्व है। चारित्र के आधार पर ही उसका मूल्यांकन होता है कि वह भला है या बुरा,

सज्जन है या दुर्जन, धार्मिक है या अधार्मिक आदि। चारित्र के अनुसार ही यह भी ज्ञान किया जा सकता है कि कौन किस का मित्र अथवा शत्रु है? इसी प्रकार चारित्र ही किसी व्यक्ति को प्रतिष्ठित और उच्च भी बना सकता है और यही किसी का पतन भी कर सकता है।

चारित्र दो प्रकार का होता है। कुछ करना चारित्र के अन्तर्गत आता ही है, किन्तु साथ ही साथ कुछ कामों का न किया जाना भी चारित्र का ही अंग है। अच्छे कामों का किया जाना जितना महत्त्वपूर्ण है, अशुभ कार्यों का न किया जाना भी मनुष्य की सज्जनता के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है। यह कहा जा सकता है कि चारित्र के दो प्रकार हैं—प्रवृत्तिमूलक चारित्र और निवृत्तिमूलक चारित्र। यहाँ यह विचारणीय है कि मनुष्य अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के कार्यों में प्रवृत्ति रख सकता है। इसी प्रकार उसकी निवृत्ति का सम्बन्ध भी अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कार्यों से हो सकता है। आदर्श चारित्र से अनुरूप व्यक्ति को शुभ के प्रति प्रवृत्ति और अशुभ के प्रति निवृत्ति का भाव रखना चाहिए।

जैसा कि पूर्व में वर्णित किया जा चुका है, मनुष्य की समस्त गतिविधियों के तीन ही द्वार हैं—मन, वचन और काया। प्रवृत्ति के ये ही तीन साधन हैं। इन्हीं साधनों से मनुष्य की शुभ प्रवृत्ति भी सम्भव है और अशुभ प्रवृत्ति भी। किसी के प्रति ईर्ष्या रखना, किसी के अहित की कामना करना आदि अशुभ मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार किसी के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करना, कटुवचनों का उच्चारण करना आदि अशुभ वाचिक प्रवृत्तियाँ हैं। दूसरों के लिए कष्टप्रद कार्य करना, हिंसापूर्ण कार्य करना, दूसरों को हानि पहुँचाना आदि अशुभ कायिक प्रवृत्तियाँ हैं। यह सभी अशुभ प्रवृत्तियाँ त्याज्य समझी जानी चाहिये। इन्हीं द्वारों—मन, वचन और काया का सदुपयोग शुभ प्रवृत्तियों द्वारा किया जा सकता है। किसी के

प्रति मंगल कामना रखना, संसार भर के प्राणियों का हित-चिन्तन करना, सभी के लाभ की भावना रखना ऐसी शुभ प्रवृत्तियाँ हैं, जो मानसिक हैं। इसी प्रकार सदा मधुर, प्रिय और कोमल वचनों का उच्चारण करना, वाणी द्वारा सभी के प्रति स्निग्ध व्यवहार रखना—वाचिक शुभ प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं। इसी प्रकार किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, हिसामूलक कर्म न करना, किसी की हानि न करना आदि शुभ कायिक प्रवृत्तियाँ हैं। ये शुभ प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय होती हैं। इन शुभ प्रवृत्तियों के आधार पर ही मनुष्य की धार्मिकता का भी मूल्यांकन सामान्यतः हो जाया करता है। अशुभ के प्रति निवृत्ति का भाव रखने से शुभ के प्रति प्रवृत्ति का भाव बलवान बनता है।

किसी कार्य को ऊपर-ऊपर से देखकर ही सह-जतः उसके शुभ अथवा अशुभ होने का निर्णय कर लिया जाता है, किन्तु यह भ्रामक होता है। कभी कभी कार्य ऊपर से अशुभ दिखायी देता है, किन्तु वास्तव में वह होता शुभ है। निरोह पशुओं को निर्ममता के साथ पीटना, शस्त्रास्त्र के प्रयोग द्वारा उनके शरीर को क्षत-विक्षत कर देना—किसी भी स्थिति में मनुष्य की शुभ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। किन्तु कोई शल्य चिकित्सक पैसे उपकरण गाड़कर रोगी के अंगों को जब चीर-फाड़ देता है तो स्थिति तनिक भिन्न रहती है। रोगी को कष्ट हुआ, इस भयंकर कष्ट का कारण भी चिकित्सक का कर्म ही है। किन्तु चिकित्सक का यह कर्म अशुभ नहीं है। कारण यह है कि चिकित्सक के इस कर्म के पीछे कोई अशुभ मंतव्य नहीं है। वह रोगी को रोग-मुक्त करना चाहता है और इसी उद्देश्य से वह चीर-फाड़ कर रहा है। चिकित्सक का कर्म अन्य जन (रोगी) के लिए प्रत्यक्षतः पीड़ा का कारण होते हुए भी अशुभ नहीं कहा जा सकता।

भाव यह है कि केवल प्रत्यक्ष स्वरूप मात्र से किसी कार्य के शुभाशुभ का निर्णय नहीं किया जा

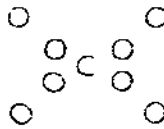
सकता। निर्णय के लिए कसौटी तो कर्त्ता का मंतव्य ही है। शुभ मंतव्य ही कार्य को शुभ बनाता है, चाहे कार्य अशुभवत् दिखायी देता हो। इसके विपरीत अत्यन्त शुभ दिखायी देने वाला कार्य भी यदि बुरे उद्देश्य से किया जा रहा है तो वह शुभ नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, ठग मीठी-मीठी बातें करे, ग्राहक के लिए लाभ का सौदा दिखाये, उसके लिए हितैषी जैसा बना रहे, तो उसका यह व्यवहार बुरे इरादे से होने के कारण शुभ नहीं हो सकता। आखेटक दाना डालकर पक्षियों को एकत्रित करता है। पक्षियों को दाना डालना शुभ लगते हुए भी शुभ इस कारण नहीं है कि अन्ततः वह पक्षियों को अपने जाल में फँसा लेना चाहता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि क्या किसी कार्य के शुभाशुभ का निर्णय उस कार्य के परिणाम के आधार पर किया जा सकता है? नहीं, ऐसा करना भी भ्रामक ही होगा। उदाहरण के लिए, शल्य चिकित्सा के परिणामस्वरूप यदि रोगी रोगमुक्त होने के स्थान पर दुर्भाग्यवश मर जाता है, ऐसी स्थिति में क्या चिकित्सक का कार्य अशुभ कहा जायगा? नहीं, अशुभ नहीं कहा जा सकता। परिणाम तो संयोगवश कुछ भी हो सकता है, कार्य के पीछे कर्त्ता का जो भाव है वही हमारे लिए निर्णय की कसौटी होगी। अन्यथा, आखेटक के जाल फँसाने पर भी यदि सारे पक्षी उड़कर भाग जायें और वह एक भी पक्षी को पकड़ न पाय, तो क्या आखेटक का कार्य शुभ हो जायगा? परिणाम चाहे कैसा भी घटित हो, कार्य के आरम्भ में ही कर्त्ता के मंतव्य और भावना के अनुसार कार्य का शुभाशुभ रूप निश्चल हो जाता है। अस्तु, शुभ प्रवृत्ति के लिए मंतव्य एवं भावना का शुभ होना भी अत्यावश्यक है।

हमारे यहाँ निवृत्ति का बड़ा गुण गान किया गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रवृत्ति तुच्छ है। प्रवृत्ति भी महत्त्वपूर्ण है और यही प्रयत्नापेक्षित भी है। 'कुछ करना' प्रवृत्ति का ही

रूप है। मनुष्य सहजतः सुखकामी होता है और सुख की लालसा से ही वह प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होता है। कुछ करने से ही कुछ प्राप्त होगा और कुछ न करने से कुछ भी प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं होगी—सामान्यतः हमारी ऐसी धारणा रहती है। यही कारण है कि हम कर्म में प्रवृत्त होते हैं। साधारणजन अयथार्थ सुखों को सच्चा सुख मानकर उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रवृत्ति में लगते हैं। उन्हें वे सुख (तथाकथित) भले ही प्राप्त हो जायें, किन्तु उनके अन्तिम परिणाम तो दुःख ही होते हैं। अतः उन्हें वास्तविक सुख की प्राप्ति प्रवृत्ति से नहीं हो पाती। इसमें दोष प्रवृत्ति का नहीं है। प्रवृत्ति का उद्देश्य यदि स्थायी, अनन्त वास्तविक सुख को मानकर, तदनु-रूप कार्य किये जायें तो वंसा सुख-लाभ भी होता ही है। अतः प्रवृत्ति को निकृष्ट कहने का कोई प्रयोजन नहीं है। प्रवृत्ति भी सुखदायी होती है, शर्त यही है कि उसके लिए सच्चे सुख का लक्ष्य निर्धारित किया जाय, उस लक्ष्य-प्राप्ति के योग्य प्रयत्न किये जायें। हाँ, मिथ्या और अयथार्थ सांसारिक विषयों के लिए जो प्रवृत्ति है, वह अवश्य ही निकृष्ट और हेय है। प्रवृत्ति भी सच्चे सुख का एक मूलभूत आधार है अवश्य, किन्तु इस सम्बन्ध में भय यह बना रहता है कि किसी भी समय यह शुभ की सीमा रेखा लांघकर अशुभ रूप ग्रहण कर सकती है। अतः प्रवृत्तियों पर संयम के कठोर अंकुश की तीव्र आवश्यकता बनी रहती है। विचलन से प्रवृत्तियों का रूप और इससे लक्ष्य

के ही कुछ का कुछ हो जाने की आशंका बनी रहती है। अतः प्रवृत्ति में जागरूकता और शुभ के प्रति दृढ़ता का भाव अत्यन्त आवश्यक है। शुभ प्रवृत्ति सदैव प्रशंसनीय और हितकर रहती है।

निवृत्ति का जो गुण-गान किया जाता है वह भी व्यर्थ और आधारहीन नहीं है। निवृत्ति की महिमा यथार्थ में अत्युच्च है। यह अन्य बात है कि प्रवृत्ति के प्रति जितनी सुगमता के साथ मनुष्य आकर्षित हो जाता है उतनी सुगमता के साथ निवृत्ति के प्रति नहीं हो पाता। निवृत्ति दुष्कर है और अपेक्षाकृत कम आकर्षक है, किन्तु निवृत्ति से प्राप्त सुख अनन्त, स्थायी और यथार्थ सुख है। प्रवृत्ति का सुख, इसके विपरीत लौकिक, असार और अवास्तविक सुख है, वह समाप्य सुख है। मनुष्य का मन्तव्य स्थायी सुख होना चाहिए और उसकी प्राप्ति में निवृत्ति का रूप अधिक सहायक रहता है। वस्तुतः प्रवृत्ति (शुभ) और निवृत्ति दोनों परस्पर पूरक स्थान रखती हैं। मोक्ष की प्राप्ति में निवृत्ति का प्रमुख स्थान है, किन्तु कुछ-कुछ सहारा शुभ प्रवृत्तियों का भी होता अवश्य है। मात्र किसी एक से कार्य सधता नहीं। विचारकों की धारणा है कि मनुष्य को प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए भी अपनी दृष्टि सदा निवृत्ति की ओर रखनी चाहिए। चारित्र के प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक दोनों ही रूपों का प्राणाधार अहिंसा है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इस महती अहिंसा के समर्थ और सक्षम रक्षक हैं।



जैन-दर्शन का हृदय है—‘स्याद्वाद’

परमविदुषी श्री कुसुमवतीजी म. की मुशिष्या
विदुषी साध्वी चारित्रप्रभा जी म. सा,

‘स्याद्वाद’ जैनदर्शन का हृदय है, और भारतीय दर्शनों को परस्पर जोड़ने वाला एक मात्र सूत्र है। इसलिए जैन दार्शनिक चिन्तन में ‘स्याद्वाद’ को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। यद्यपि इसके बीज, बिन्दुरूप में, सहस्राब्दियों पूर्व से ही, जैन-आगमों में ‘उत्पाद-व्यय-धौव्य रूप में, “अस्ति-नास्ति-अव-क्तव्य-रूप” में, “द्रव्य-गुण-पर्याय”-रूप में तथा सात नयों के रूप में यत्र-तत्र प्रकीर्ण, उपलब्ध रहे हैं, किन्तु इन्हीं सबको व्यवस्थित कर “सप्तभंगी” के रूप में, इसे एक स्पष्ट संज्ञा प्रदान करने में समन्तभद्र और सिद्धसेन जैसे आचार्यों के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। बाद के अनेकों आचार्यों ने इसे लक्ष्य बनाकर विशाल बाङ्गमय की रचना की। विगत ५०० वर्षों से दार्शनिक जगत के एक-एक सजीव पक्ष के रूप में इसे गौरव मिला है। आइये, पर्यालोचन करें, कि “स्याद्वाद” आखिर है क्या? और मानव जीवन व्यापार में इसकी उपयोगिता क्या हो सकती है।

“स्याद्वाद” शब्द “स्यात्” और “वाद” इन दो शब्दों को मिलाकर बनता है। प्रथम “स्यात्” का अर्थ होता है—अपेक्षा यानी “दृष्टि”। “वाद” का अर्थ है—“सिद्धान्त” यानी मन्तव्य। अतः दोनों शब्दों को मिलाने पर इनका सम्मिलित अर्थ होगा—“सापेक्ष सिद्धान्त” अर्थात् वह सिद्धान्त, जिसका आधार अपेक्षा हो। “अनेकान्तवाद” “अपेक्षावाद” “कथंचित्वाद” “स्याद्वाद” आदि अनेक नाम इसके हो सकते हैं। कुछ व्यक्ति “अने-

कान्तवाद” और “स्याद्वाद” का पृथक्-पृथक् अर्थ मान सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को यह ध्यान रखना पड़ेगा कि “अनेकान्त” का अर्थ होता है—“अनेक धर्म”। इन धर्मों की जब विवेचना की जायेगी तो वह सारे धर्मों को युगपद् विवेचित करने में समर्थ नहीं बन पाती। जब भी विवेचन होगा, क्रमशः एक-एक धर्म को लक्ष्य करके ही किया जा सकेगा। फलतः यह विवेचना, एक क्रमिकता, “अनेकान्त” में नहीं है, वरन् उसके “कथन” में, यानी “वाद” में है। इसलिए अनेकान्तों का जो जो स्वरूप होता है, वह “वाद” में सुरक्षित नहीं रह पाता। यह “वाद” की यानी “कथन”, “भाषा” की विवशता है। इस विवशतावश प्रयुक्त क्रमिकता को “योगपद्म” का ही रूप मानना पड़ता है। अन्यथा “अवक्तव्य” कहकर हम “अनेकान्त” की विवेचना नहीं कर पायेंगे। निष्कर्ष यह है कि “अनेकान्त” वस्तुगत स्वरूप है, जो तमाम अपेक्षाओं से संबलित है। अतः उसका कथन भी, “अनेकान्तवाद” स्वरूप वाला मानना होगा। अन्यथा “अनेकान्त” स्वरूप और “अनेकान्तवाद” दो अलग-अलग संज्ञाएँ बन जाने पर एक विलक्षण समस्या उठ खड़ी हो जाती है। अतएव “अनेकान्त” और “स्याद्वाद” को समानार्थवाची माना जाता है। इस समानार्थकता से जो शाब्दिक अन्तर पैदा होता है, उसे दृष्टिगत करते हुए, हम मोटे तौर पर यह मान सकते हैं कि—“अनेकान्त” अनेक धर्मात्मक पदार्थ स्वरूप “वाच्य” है, और

स्याद्वाद उसका वाचक है। वस्तुतः “अनेकान्त-वाद” और “स्याद्वाद” में, यह सूक्ष्म अन्तर बनता ही नहीं है। यह अन्तर तभी बन पाता है, जब हम “अनेकान्त” के साथ “वाद” शब्द न जोड़े।

“प्रवचनसार” की मन्यता के अनुसार “स्याद्वाद” वह सिद्धान्त है, जिसमें परस्पर विरुद्ध धर्मों का समन्वय विभिन्न अपेक्षाओं के साथ मुख्यता और गौणता के आधार पर किया जाता है।^१ जैसे एक न्यायाधीश, अपनी सूक्ष्म विवेकता के आधार पर निष्पक्ष निर्णय देने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है, उसी तरह विभिन्न विचारों में समन्वय साधने के लिए, न्यायाधीश जैसा ही कार्य “स्याद्वाद” निभाता है। इसी आधार पर स्याद्वाद के विशेषज्ञ विद्वान इस शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—“अपने और दूसरों के विचारों में, मतों में, और कार्यों में उनकी मूल-भावनाओं का समन्वय करना “स्याद्वाद” है।^२ इस परिभाषा को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने सुन्दर शब्द चित्र प्रस्तुत किया है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुत्व मितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ।^३

इस परिभाषा को अष्टसहस्रीकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—प्रत्यक्षादि प्रमाणा-विकटानेकात्मक वस्तु प्रतिपादकः श्रुतस्कन्धात्मको स्याद्वादः” ।

ये परिभाषाएँ स्पष्ट करती हैं कि “अनेकान्त-वाद” और “स्याद्वाद” के शाब्दिक अर्थों का भेद, कोई अर्थ नहीं रखता। यही तथ्य इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि जैन दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों से अभिव्यक्त पदार्थ के स्वरूप विवेचन के लिए जो एक शैली/पद्धति सुनिश्चित की है, उसे

उन्होंने “सप्तभंगी” नाम दिया है। और इसकी परिभाषा, एक राय होकर इस प्रकार की है— “प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना “सप्तभंगी”। सप्तानां ‘भंगाना’ समाहारः सप्तभंगी । —इतिवा ।

जैन दार्शनिक मानते हैं कि किसी भी एक वस्तु में, सात प्रकार के ही संशय, प्रश्न उत्पन्न होते हैं। क्योंकि, वस्तु में सात धर्मों की ही, प्रमाणों के अनुसार सिद्धि होती है। अतः इन धर्मों से सम्बन्धित प्रश्नों, जिज्ञासाओं के उत्पन्न होने पर इन प्रश्नों के समाधान हेतु सात प्रकार के ही उत्तर अपेक्षित होते हैं। इन सात उत्तर वाक्यों को ही ‘सप्तभंगी’ शब्द के द्वारा कहा गया है। किन्तु इन सातों वाक्यों में अर्थात् प्रत्येक वाक्य में ‘एव’—ही शब्द का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। और, प्रत्येक वचन, कथन में, एक—‘अपेक्षा’ विशेष निहित होने के कारण, उसके सूचक ‘स्यात्’ शब्द का प्रयोग भी प्रत्येक वाक्य में अनिवार्यतः करना होगा। अन्यथा ‘घट’ का विवेचक वाक्य, ‘पट’ का विवेचक भी हो सकता है, यह खतरा पैदा हो जायेगा। इन सात उत्तर वाक्यों अर्थात् सात भंगों के प्रकार निम्नलिखित होते हैं—

१. स्यादस्त्येव घटः,
२. स्यान्नास्त्येव घटः,
३. स्यादस्ति-नास्त्येव घटः
४. स्यादवक्तव्य एव घटः
५. स्यादस्त्यवक्तव्य एव घटः
६. स्यान्नास्त्यवक्तव्य एव घटः
७. स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य एव घटः

इनमें से प्रथम वाक्य में ‘घट’ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से घट ही है। न कि ‘पट’ आदि अन्य कुछ। दूसरे वाक्य में, ‘घट’ पर-द्रव्य-

- १ प्रवचनसार २/७
- २ आप्तमीमांसा १०४
- ३ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ।

क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से (पर-रूप) नहीं ही है। जबकि तीसरे वाक्य में 'घट' अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की और पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की भी क्रमिक अपेक्षाओं से, क्रमशः 'घटरूप ही है। पट आदि अन्य रूप नहीं है।' किन्तु यही दोनों अपेक्षाएँ युगपत् एक साथ उत्पन्न हो जायें, तब उनका समाधान भाषा के वश के बाहर हो जाता है। इसीलिए उसे 'अवक्तव्य'—'अकथनीय' ही है, यह कहा जाता है। चतुर्थ वचन का यही आशय है। यहीं से यह स्पष्ट होता है कि मौलिक रूप से तो प्रथम तीन ही भंगों की सार्थकता है। शेष भंगों की उत्पत्ति; इन्हीं तीनों से सम्बद्ध अपेक्षाओं के सम्मिश्रण से होती है।

उक्त सात कथन-वाक्यों में 'एव' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि वाक्य का अर्थ 'घट' का ही बोध कराये, पट आदि का नहीं। यदि इस 'एव' शब्द का प्रयोग न किया जाये तो, जिस तरह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से 'घट' के अस्तित्व का बोध होता है, उसी तरह पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा की भी अवसर मिल जाने से घट, अस्तित्ववान् रहते हुए भी 'पट' के अस्तित्व का बोध भी होने लग जायेगा। यह अव्यवस्था, तत्त्व बोध में न होने पाये; इसीलिए वाक्य-भंग में 'एव' शब्द का प्रयोग किया जाना अनिवार्य माना गया है।

इसी प्रकार प्रत्येक वाक्य में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना भी आवश्यक हो जाता है। क्योंकि यह 'स्यात्' शब्द एक अपेक्षा विशेष का ज्ञान कराता है।

जिससे, यह ज्ञान भी होता है कि वस्तु-तत्त्व में और भी अपेक्षाएँ हैं। इन अनेक अपेक्षाओं का अहसास कराने के लिए ही 'स्यात्' शब्द की अनिवार्य प्रयोगता रखी गई है।^१ चूँकि वस्तु-

तत्त्व में अनेक धर्म हैं। ये धर्म हर समय, वस्तु में विद्यमान रहते हैं। जब, किसी एक अपेक्षा से वस्तु तत्त्व के बोध की आवश्यकता होती है, तब भी उसमें अन्य सारे धर्म विद्यमान रहते हैं। इन दूसरे धर्मों की अपेक्षाएँ वाञ्छित अपेक्षा के साथ सम्बद्ध होकर अपने उत्तर न माँगने लग जायें, यह बचाने में ही 'स्यात्' शब्द के अनिवार्य प्रयोग की सार्थकता निहित है।

भारतीय दार्शनिकों ने स्याद्वाद की सापेक्षता को सहज ही स्वीकार कर लिया है, किन्तु पश्चिमी विद्वानों ने भी इसकी उपादेयता को कम महत्व नहीं दिया।

इसीलिए पश्चिमी और भारतीय कई विद्वानों ने इस सिद्धान्त की स्पष्टता, सहजता और कठिनता को भी सिद्ध करने के लिए अपनी-अपनी लेखनियाँ उठाई हैं। हालांकि इस सिद्धान्त की आलोचना शंकराचार्य जी ने पर्याप्त की थी। पर, उनकी इस आलोचना के औचित्य पर प्रयाग विश्व विद्यालय के तत्कालीन कुलपति डा० गंगानाथ झा द्वारा की गई टिप्पणी विशेष उल्लेखनीय मानी जा सकती है। वे लिखते हैं—जब मैंने शंकराचार्य जी द्वारा किए गए जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा, तभी मुझे यह विश्वास हो गया था कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ (सार) होना चाहिए, जिसे वेदान्त के ज्ञाता आचार्य ने ठीक से नहीं समझा। मैंने अब तक जैन-दर्शन का जो भी, जितना अध्ययन किया है, उसके आधार पर मैं यह दृढ़ विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि यदि शंकराचार्य महोदय ने जैन दर्शन के मौलिक ग्रन्थों को देखने का कष्ट किया होता, तो उन्हें स्याद्वाद सिद्धान्त का विरोध करने का अवसर न मिलता।^२

डा. झा की उक्त टिप्पणी से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शंकराचार्य महोदय ने स्याद्वाद के उस

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक १/१६/५

२ जैनदर्शन (साप्ताहिक) १६/६/३४

कठिनतम पक्ष को ही देखा, जिसके लिए यह सिद्धान्त विश्व में प्रसिद्ध है। एक ही वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य जैसे परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता कैसे हो सकती है। यह है इस सिद्धान्त की जटिलता।

इसी जटिलता को लक्ष्य कर, बहुत से विद्वानों ने इस सिद्धान्त की जमकर आलोचनाएँ की हैं। किन्तु यही तथ्य, जब परस्पर विरोधी धर्मों की उपस्थिति, एक ही पदार्थ में मानने जैसी बात, सामान्य व्यक्तियों की समझ में नहीं आ सकती, तब, उन्होंने इसी सिद्धान्त की विवेचना, इतने सरल शब्दों में कर डाली कि छोटे से छोटा बालक तक बिना किसी श्रम के आसानी से समझ ले।

जैसे, एक स्वर्णकार सोने के घड़े को तोड़कर, सोने का मुकुट बना रहा है। इसी समय उसके पास तीन ग्राहक आ जाते हैं। इनमें से एक ग्राहक सोने का घड़ा खरीदना चाहता था, तो दूसरा सोने का मुकुट खरीदने की इच्छा लेकर आया था, जब कि तीसरे को स्वर्ण की आवश्यकता थी। उस स्वर्णकार की क्रिया प्रवृत्ति को देखकर पहले ग्राहक को कष्ट का अनुभव हुआ, तो दूसरे को प्रसन्नता भी हुई, जबकि तीसरे ग्राहक के मन में कष्ट और प्रसन्नता जैसा कुछ भी अनुभव नहीं हुआ। वह उस स्वर्णकार को तटस्थभाव से देखता रहा। ऐसा क्यों हुआ ?

इसका कारण यह है कि प्रथम ग्राहक स्वर्ण-घट खरीदना चाहता था, परन्तु स्वर्णकार को सोने का घड़ा तोड़ते हुए देखकर उसे कष्ट का अनुभव होना सहज ही है। दूसरा ग्राहक उसी स्वर्णकार को अपनी मनचाही वस्तु—स्वर्णमुकुट बनाते हुए देखकर प्रसन्नता अनुभव करे, यह भी एकदम सहज ही है। तीसरा ग्राहक, सोना ही चाहता था अतः

स्वर्ण घट को तोड़ने से या स्वर्ण मुकुट बनाने से, उसे अपनी इच्छित वस्तु पाने में कोई फर्क नहीं पड़ता था। इसलिए उसकी तटस्थता भी सहज मानी आनेगी।

इस उदाहरण का अभिप्राय यह है—एक ही पदार्थ—“स्वर्ण” में, एक ही समय में, एक व्यक्ति “विनाश” को होता हुआ देख रहा है, तो दूसरा “उत्पत्ति” को, और तीसरा “ध्रौव्य” को। ये तीनों ही दशाएँ; परस्पर विरोधी हैं, फिर भी एक ही समय में, एक ही पदार्थ में यह भी पायी जाती हैं।

इसी तरह, विश्व की प्रत्येक वस्तु में, एक ही समय में, एक साथ तीनों स्थितियाँ रहती हैं। इसी तथ्य को जैनदार्शनिकों ने वस्तु मात्र की “त्रिगुणात्मकता” कहा है, और यह त्रिगुणात्मकता वस्तुमात्र का सहज-स्वभाव है।^१ इसी तरह वस्तु मात्र में, भिन्न अपेक्षाओं से अनेकों परस्पर विरोधी धर्म, एक समय में एक साथ बने रहते हैं।

उक्त उदाहरण स्याद्वाद की सहजता, सरलता का द्योतक है। वास्तविकता यह है कि “स्याद्वाद” उक्त उदाहरण से भी अधिक सरल है। इतना सरल कि—रास्ता चलते समय कोई बालक आप से स्याद्वाद के बारे में प्रश्न पूछ ले तो भी आप आराम से समझा सकें। संयोगवश, एक जैनाचार्य महोदय के साथ ऐसी ही स्थिति, आ भी गई। विहार-यात्रा में सड़क मार्ग से जाते हुए, उन्हें किसी बालक ने पूछा—“भगवन् ! आपका स्याद्वाद क्या है ?”

आचार्य ने अपने एक हाथ की ‘कनिष्ठा’ और “अनामिका”। उंगलियों को ऊपर उठाकर, उस बालक से पूछा—“बतलाओ बत्स ! इन उंगलियों में कौन उंगली बड़ी है ?”

१ आप्तमीमांसा ५६/६०

बालक ने उत्तर दिया—“अनामिका” ।

अब आचार्य ने कनिष्ठा के स्थान पर ‘मध्यमा’ को “अनामिका” के साथ ऊपर उठाया, और बालक से पुनः पूछा—“अब बतलाओ, इन दोनों उँगलियों में कौन उँगली छोटी है ?”

बालक ने उत्तर दिया—“अनामिका” ।

यह उत्तर सुनकर आचार्य ने उसे समझाया जिस तरह तुमने एक ही उँगली को “बड़ा” और “छोटा” कहा, उसी तरह यह “स्याद्वाद” भी एक ही पदार्थ में स्थित, परस्पर-विरोधी धर्मों की बात बतलाता है ।^१

आचार्य की बात सुनकर बालक हँसता हुआ चला गया । यही है इस सिद्धान्त की सहजता/सरलता, जो किसी भी विद्वान का ध्यान अपनी ओर वरवश आकृष्ट कर लेती है ।

“स्याद्वाद” सिद्धान्त में नयों की बहुमुखी विवक्षा हमेशा ही रहती है । क्योंकि जिस किसी भी पदार्थ का, जो अर्थस्वरूप, स्याद्वाद द्वारा अलग करके विवक्षित किया जाता है, उसी अर्थ/स्वरूप की अभिव्यञ्जना करने वाले “नय” होते हैं ।^२ नीयते-साध्यते गम्यते मानोर्ज्यः येन—इस व्युत्पत्ति से “नय” का उत्तम उक्त स्वरूप ही स्पष्ट होता है ।

ये “नय” सात हैं । इन्हीं पर “स्याद्वाद” का या सप्तभंगों का आधार स्थित है । ये सात नय हैं :—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवम्भूत ।

उक्त सातों नयों को मूलतः दो विभागों में विभाजित किया गया है—‘द्रव्याधिक’ और ‘पर्यायाधिक’ । कुछ आचार्यों ने “नैगम” और “संग्रह” को द्रव्याधिक के अन्तर्गत माना है जबकि कुछ आचार्य मात्र “नैगम” को ही “द्रव्याधिक” के अन्तर्गत मानते हैं । द्रव्याधिक नय, मात्र

“सामान्य” का ही गुण ग्रहण करता है, इसलिए इसके अन्तर्गत वस्तुतः केवल नैगम का ही समावेश मानना उचित होगा । पर्यायाधिक नय, भेद विवक्षाओं को, और “विशेष” को भी ग्रहण करता है । अतः शेष छः ही नयों को, इसके अन्तर्भूत माना जाता है । इन सात नयों के अन्य उपभेद बहुत से हैं ।

उनका सामान्य विवेचन भी यहाँ विस्तार का कारण बन सकता है । किन्तु इन्हीं सातों नयों को एक दूसरी अपेक्षा से “निश्चयनय” और “व्यवहारनय” के भेदों, उपभेदों के रूप में विभाजित और व्यवहृत किया जाता है । इसलिए इनके सम्बन्ध में भी, कुछ कहना उचित ही होगा ।

“स्याद्वाद” सिद्धान्त का व्यावहारिक उपयोग करते समय, वस्तुतः नयों के “निश्चय” और “व्यवहार” भेदों की ही विशेष अपेक्षा प्रतीत होती है । क्योंकि, सप्तभंगी के सन्दर्भ में जो भी प्रासंगिक विशिष्ट अपेक्षाएँ जाग्रत होती हैं, उन का मुख्य सम्बन्ध “निश्चय” व व्यवहार से ही जुड़ता है ।

क्योंकि, प्रत्येक द्रव्य व्यवहार में हमें जैसा दिखलाई पड़ता है, वस्तुतः वह वैसा होता नहीं । उसके और भी अनेकों रूप होते हैं, हो सकते हैं, यह बतलाने वाला नय है—“निश्चयनय” । इसी तथ्य को आचार्यों ने इस पंक्ति में व्यक्त किया है—“तत्त्वार्थ निश्चयो वक्ति व्यवहारश्च जनोदितम्” ।^३ इस कथन को निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट समझा जा सकता है ।

एक बार भगवान् महावीर से पूछ गया—“भगवन् ! फाणित प्रवाही गुड़ में कितने वर्णरस-गन्ध होते हैं ?

भगवान ने उत्तर दिया—‘व्यवहार में तो मात्र ‘मधुर’ रस ही उसमें में है, यह कहा

१ आप्तपरीक्षा १०८

२ द्रव्यानुयोगतर्कण।

जायेगा किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से उसमें पाँचों वर्ण, दोनों गंध, पाँचों रस, और आठों स्पर्श होते हैं।

इस उत्तर का आशय यह है कि वस्तु का जो स्वरूप इन्द्रियग्राह्य होता है, वह जिस तरह का होता है, उससे भिन्न प्रकार का उसका वास्तविक स्वरूप होता है।

हम सब उसी बाह्य स्वरूप को देख पाते हैं, जो इन्द्रियग्राह्य होता है। सर्वज्ञ तो निश्चय रूप में, उसके 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' दोनों ही स्वरूपों को देखते जानते हैं। सापेक्षवाद के अधिष्ठाता डा० अलबर्ट आइंस्टीन ने भी अपना आशय इसी तरह का व्यक्त किया है।^१ वे कहते हैं— 'हम तो केवल आपेक्षिक सत्य को ही जानते हैं।^२ सम्पूर्ण सत्य को तो सर्वज्ञ ही जानते हैं। चूँकि, सर्वज्ञ का ज्ञान, 'केवलज्ञान' होता है, इसलिए वह 'पूर्णज्ञान' भी होता है। इसी कारण वह द्रव्य की समस्त विवक्षाओं को भली-भाँति जानते हैं।

वस्तु/पदार्थ की सापेक्षता को स्वीकार करने के लिए ही स्याद्वाद सिद्धान्त के अन्तर्गत सप्तभंगों का प्रतिपादन किया गया है। इसके बिना किसी भी पदार्थ के स्वरूप को पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। जैसे, आम का एक फल अपने से बड़े आकार वाले फल की अपेक्षा से 'छोटा' होता है, और अपने से छोटे फल की अपेक्षा से 'बड़ा' भी होता है।

दोनों अपेक्षाओं को दृष्टि से आम के फल में 'लघुत्व' और 'दीर्घत्व' दोनों ही रूपों को जब स्वीकार किया जायेगा तभी आम का स्वरूप पूरा माना जाएगा क्योंकि, केवल लघुत्व आम फल

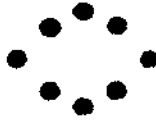
की सम्पूर्णता का ज्ञान नहीं कराता, न ही उसका केवल 'दीर्घत्व' उसके सम्पूर्ण स्वरूप का परिचायक बन पाता है। बल्कि, इन दोनों स्वरूपों का सम्मिलित रूप ही आमफल के समग्र-स्वरूप का द्योतक/वाधक बनता है।

इसलिए स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल-भाव की अपेक्षा से और पर-द्रव्य, क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से भी वस्तु का जो स्वरूप निश्चित होता है वही स्वरूप, वस्तु मात्र का वास्तविक स्वरूप होता है।

इसी वास्तविक स्वरूप को व्याख्या करने के लिए दार्शनिक जगत् का एक मात्र सिद्धान्त 'स्याद्वाद' ही है। यह न केवल लोक व्यवहार को वरन् पदार्थ मात्र को अपना विषय बनाता है।

'स्याद्वाद' शब्द में 'स्यात्' शब्द को राष्ट्रभाषा हिन्दी के 'शायद' शब्द का पर्यायवाची मानकर कुछ विद्वानों ने इसे 'संशयवाद' की संज्ञा दी है, तो कुछ विद्वानों ने इसे सप्तभंगी वाक्यों में आये 'अस्ति-नास्ति' शब्दों का अर्थ ही सही सन्दर्भ में न समझकर इसे 'अनिश्चिततावाद' की संज्ञा प्रदान की है।

इस तरह की शंकायें, उन्हीं व्यक्तियों द्वारा उठाई जाती हैं, जो आलोच्य सिद्धान्त के मर्म को समझे बिना ही, स्व-इच्छित रूप से, कुछ भी कह देते हैं। वस्तुतः इन दोनों ही शंकाओं को पूर्व-लिखित विश्लेषणों के अनुसार, सिर उठाने का अवसर ही नहीं मिलता। वैसे भी जिन जैनतर विद्वानों ने इसके मर्म को आत्मसात् किया है, वे दृढ़ता के साथ, यह कहने में भी संकोच नहीं करते कि 'स्याद्वाद' ही जैनदर्शन का हृदय है।



१ कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू।

उपमितिभव प्रपञ्च कथा :

कितना सार्थक है सिद्धर्षि का रचना उपक्रम ?

□ साध्वी दिव्यप्रभा एम. ए. पी-एच. डी.
(सुशिष्या महासती श्री कुसुमवती जी म. सा.)

मानव-मन के विचार जब तक अव्यक्त रहते हैं, तब तक वे इन्द्रियग्राह्य नहीं बन पाते। किन्तु ये ही उद्गार जब उपमा/रूपक/प्रतीक—आदि को माध्यम बनाकर व्यक्त हो जाते हैं, तब, वे, न सिर्फ इन्द्रियग्राह्य ही बन जाते हैं, वरन्, उनमें एक ऐसी सामर्थ्य समाहित हो जाती है, जो ग्रहीता पर अपनी अमिट छाप बना देते हैं। काव्य/ग्रन्थ प्रणयन के क्षेत्र में प्रतीक-साहित्य की सर्जना-शैली के मूल में इसी प्रकार का कोई मुख्य-कारण रहा होगा। यद्यपि, इस शैली में लिखे गये संस्कृत-साहित्य का परिशीलन करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उपमेय-उपमान-शैली को माध्यम बनाने की परम्परा पर्याप्त-प्राचीन है। और, इस सृजन-शिल्प के बीज-बिन्दु बृहदारण्यकोपनिषद् से सम्बद्ध 'उद्गीथ ब्राह्मण'^१ में 'छान्दोग्योपनिषद्'^२ में भी उपलब्ध होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में पाप-पुण्य-वृत्तियों का देवी-आसुरी सम्पत्तियों के रूप में उल्लेख है^३। 'जातक निदान कथा' (बौद्ध ग्रन्थ) के 'अविदूरे-निदान' और 'सन्तिके निदान' में भी इसी शिल्प-शैली का दर्शन होता है। जैन साहित्य में 'उत्तराध्ययन'^४ 'सूत्रकृतांग' और 'समराइच्च कहा' के कुछ आख्यानो में यही शिल्प विद्यमान है। किन्तु, इस

शैली में किसी विस्तृत या बृहद् आकार वाले ग्रन्थ रचना करने का साहस, सिद्धर्षि से पहले का कोई कवि/साहित्यकार नहीं कर पाया। श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पुरञ्जन का आख्यान है, विषयासक्ति के कारण पुरञ्जन को जो भव-भ्रमण करना पड़ा, उसी का विस्तृत विवेचन इसमें है। पुरञ्जन के इस भव-भ्रमण-विवेचन का कलेवर चार अध्यायों के १८१ श्लोकों में वर्णित है। बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, वृत्ति, सुषुप्ति, स्वप्न, शरीर आदि के रोचक-रूपक इस वर्णन में दिये गये हैं। यह वृत्तान्त, यद्यपि पर्याप्त-विस्तार वाला नहीं है, तथापि, जो रूपक, जिस रूप में प्रयुक्त हुए हैं, वे सार्थक, सटीक, और मनोहारी अवश्य हैं। फिर भी, इस वर्णन को उस-श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, जिस श्रेणी में सिद्धर्षि की 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' को मान्यता प्राप्त है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ० हर्मेन जैकोबी ने इस महाकथा की प्रस्तावना में लिखा है—“I did not find something still more important : the great literacy of the U. Katha and the fact that is the first allegorical work in Indian Literature.” इस कथन को लक्ष्य करके, यह कहा जाने में कतई संकोच नहीं होता कि प्रतीक शैली

१ उद्गीथ ब्राह्मण १/३

२ श्रीमद् भगवद्गीता १६

३ छान्दोग्योपनिषद् १/२

४ उत्तराध्ययन—अध्ययन ६, १०, २७

की अनुपम काव्य-परम्परा¹ का सूत्रपात करने का श्रेय, सिद्धार्थ की 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' को जाता है। पश्चात्, 'प्रबोधचिन्तामणि' (जयशेखर सूरि) से लेकर अब तक के समस्त रूपक-ग्रन्थों को सिद्धार्थ की इसी कृति की परम्परा के ग्रन्थों में गिना जा सकता है।

जैन वाङ्मय का कलेवर पर्याप्त-विस्तार वाला है। इसकी सर्जना में 'संस्कृत' और 'प्राकृत' दोनों ही भाषाओं का व्यापक-प्रयोग मौलिक रूप में किया गया है। महावीर के समय तक, प्राकृत-भाषा जनसाधारण के बोलचाल और सामान्य-व्यवहार में भी पर्याप्त-प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी। सम्भवतः इसीलिए, उन्होंने अपने द्वारा अनुभूत सत्य/तत्त्व का प्रतिपादन प्राकृत भाषा में किया था। उनके प्रधान-शिष्यों ने भी उक्त तत्त्व-ज्ञान को प्राकृत-भाषा में ही संकलित करके जनसाधारण की भावनाओं को महत्त्व प्रदान किया। महावीर और उनके शिष्यों के इस प्रयास का परिणाम यह हुआ कि लगभग ५०० वर्षों तक निरन्तर जैन धर्म और साहित्य के क्षेत्र में प्राकृत-भाषा का व्यवहार होता रहा।

महावीर के इस भाषा-प्रस्थान में, संस्कृत के प्रति किसी प्रकार का कोई विद्वेष भाव नहीं था। बल्कि, तत्त्वज्ञान की प्रभावशालिता और उपयोगिता, जनसाधारण की समझ में आने वाली भाषा में ही निहित है, यह विचार ही प्राकृत को प्राथमिकता देने का मुख्य निमित्त बना। वस्तुतः यह वह युग था, जिसमें संस्कृत और प्राकृत की संघर्ष-मयी प्रतिद्वन्द्विता, अपने उत्कर्ष पर पहुँच रही थी।

विद्वानों, साहित्यकारों में प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा का प्रश्न, इन दो में से एक भाषा के चयन, निश्चय पर निर्भर करने लगा था। भाषा के चयन का लक्ष्य 'पाण्डित्य-प्रदर्शन' और 'लोकमानस के अनुरूप ग्रन्थों का प्रणयन' बन गया था। सिद्धार्थ भी इस युगीन स्थिति से पूर्णतः परिचित थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके ग्रंथरचना काल में संस्कृत और प्राकृत, दोनों ही भाषाओं को प्रधानता प्राप्त थी। प्राकृत-भाषा यद्यपि जनसाधारण के लिये बोधगम्य अवश्य थी, पर, यह विद्वानों को अच्छी नहीं लगती थी। पण्डित वर्ग में संस्कृतभाषा को ही विशेष समादर प्राप्त था। वे प्राकृत-भाषा में बोलचाल तक करना पसन्द नहीं करते थे।²

सूर्य का 'प्रकाश' और 'प्रताप' जिस तरह एक साथ संयुक्त रहते हैं, उसी तरह 'समाज' और 'संस्कृति' भी साथ-साथ संपृक्त रहते हैं। समाज मानव-नमुदाय का बाह्य-परिवेष है तो संस्कृति उसका अन्तःस्वरूप है। जिस समाज का अन्तः और बाह्य-परिवेष, भौतिकता पर आधारित होता है, उसका साहित्य, आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत नहीं हो सकता। किन्तु जिस समाज का अन्तःस्वरूप आध्यात्मिक हो, उसका बाह्य स्वरूप यदि भौतिकता में लिप्त हो जाये, तो भी उस समाज का साहित्य, आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए संस्कृत साहित्य का लक्ष्य जनसाधारण तक आध्यात्मिकता का सन्देश पहुँचाना और उनमें नव-जागरण का भाव भरते रहना, हमेशा रहा है।

सुख-दुःख, राग-विराग, मित्रता-शत्रुता के

- १ सिद्धि व्याख्यातुराख्यातुं महिमानं हि तस्य कः ।
समस्त्युपमितिर्नाम यस्यानुपमिति कथा ॥
- २ संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः ।
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदिस्थिता ॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला ।
तत्रापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते ।

—प्रद्युम्नसूरि रचित 'समरादित्य संक्षेप'

—उपमितिभवप्रपञ्चकथा

कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ : परिशिष्ट

५५५

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

पारस्परिक संघर्ष से भिन्न-भिन्न प्रकार की जो परिस्थितियाँ बनती हैं, उन्हीं की संज्ञा है—‘जीवन’। जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति न तो दुःख को सर्वथा त्याग देने पर सम्भव है, न ही मुख की सर्वतोमुखी स्वीकृति से उसकी तार्किक व्याख्या की जा सकती है। इसलिए संस्कृत का कोई कवि, साहित्यकार और दार्शनिक किसी एक पक्ष का चित्रण नहीं करता। क्योंकि वह जानता है—‘यह संसार द्वन्द्वों, संघर्षों का ही एक विशाल क्रीडांगन है।’ किन्तु ‘निराशा’ में से ‘आशा’ का, ‘विपत्ति’ में से ‘संपत्ति’ का और ‘दुःख’ में से ‘सुख’ का स्रोत अवश्य फूटता है। इसीलिए उक्त मान्यता, भारतीय चिन्तन की आधारभूमि बनकर रह गई। संस्कृत साहित्य में यही दार्शनिकता, अनुसरणीय और अनुकरणीय बनकर चरितार्थ होती आ रही है।

सिद्धर्षि इन तथ्यों से भी भलीभाँति परिचित थे। यद्यपि, उनके पूर्व उल्लिखित विचारों से यह प्रतीत होता है कि वे अपनी, इस विशाल कथाकृति को प्राकृत भाषा में लिखना तो चाहते थे, किन्तु इससे उन्हें विद्वानों में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो पायेगी, यह भय उन्हें था। इसलिए उन्होंने सरल-संस्कृत में कथाकृति की रचना का एक ऐसा मध्यम मार्ग चुना, जिससे तत्कालीन जनसाधारण को भी इस कथा को समझने में कोई कठिनाई न हो, और उन्हें स्वयं पण्डित वर्ग के उपेक्षा-भाव का शिकार न होना पड़े। अन्ततः सोलह हजार श्लोक परिमाण कलेवर वाले रूपकमय इस पूरे कथा ग्रन्थ में एक ही नायक के विभिन्न जन्म-जन्मान्तरों का भारतीय धर्म-दर्शन में वर्णित प्रमुख जीव-योनियों का स्वरूप विवेचन ‘संस्कृत’ भाषा के माध्यम से करते हुए, यह भी निर्देशित किया है कि किन कर्मों के कारण किस योनि में जीवात्मा को भटकना पड़ता है, और जन्म-जन्मान्तर रूप भव-भ्रमण से उबारने में किस

तरह की मनोवृत्तियाँ, भावनाएं उसे सम्बल प्रदान करती हैं।

इस विशाल कथा-ग्रन्थ को सिद्धर्षि ने आठ प्रस्तावों, अध्यायों में विभाजित किया है। पूरी की पूरी कथा की प्रतीक-योजना दुहरे अभिप्रायों को एक साथ संयोजित करते हुए लिखी गई है। जगत के सामान्य व्यवहार में दृश्यमान स्थानों, पात्रों और घटनाक्रमों से युक्त कथानक की ही भाँति इस कथा में वर्णित स्थान-पात्र-घटनाक्रमों में कथाकृति का एक आशय स्पष्ट हो जाता है। किन्तु दूसरा आशय, अदृश्य/भावात्मक जगत के दार्शनिक/आध्यात्मिक विचारों/अनुभव-व्यापार में से उद्भूत होता हुआ, कथाक्रम को अप्रमरित करता चलता है। वस्तुतः यह दूसरा आशय ही ‘उपमिति भवप्रपञ्चकथा’ का, और इसके लेखक का प्रथम/प्रमुख लक्ष्य है। इस आधार पर इस कथाकृति के दो रूप हो जाते हैं, जिन्हें ‘बाह्यकथा शरीर’ और ‘अन्तरंग कथा शरीर’ संज्ञायें दी जा सकती हैं। इन दोनों शरीरों के मध्य ‘प्राणों’ की तरह, एक ही कथा अनुस्यूत है। कथा के दोनों स्वरूपों को समझाने के लिए, प्रथम-प्रस्ताव के रूप में समायोजित ‘पीठबन्ध’ में सिद्धर्षि ने अपने स्वयं के जीवन-चरित को एक छोटी-सी कथा के रूप में उन्हीं दुहरे आशयों के साथ संजोया है, जो कथा के पाठकों को दूसरे प्रस्ताव से प्रारम्भ होने वाली मूल कथा की रहस्यात्मकता को समझने का पूर्व-अभ्यास कराने के लिए, उपयुक्त मानी जा सकती है। भवप्रपञ्च क्या है? और, भवप्रपञ्च कथा कहने/लिखने का उद्देश्य क्या है? यह स्पष्ट करने के लिए भी पीठबन्ध की कथा-संयोजन-योजना को, सिद्धर्षि का रचना-कौशल माना जा सकता है।

‘उपमिति भवप्रपञ्च कथा’ के विशाल कलेवर में गुम्फित कथा का मूलस्वरूप निम्नलिखित संक्षेप

१ उपाये सति कर्तव्य सर्वेषां चित्तरंजनम् ।

अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते ॥

—उपमिति भवप्रपञ्चकथा

५५६ कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ : परिशिष्ट

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

मार से अनुमानित किया जा सकता है। मेरुपर्वत में पूर्व में, महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत 'सुकच्छ-विजय' नामक एक देश है। इसका राजा था— 'अनुसुन्दर' चक्रवर्ती। इसकी राजधानी थी— 'क्षेमपुर'। वृद्धावस्था के अन्तिम समय, वह अपना देश देखने की इच्छा से भ्रमण पर निकलता है। और किसी दिन 'शंखपुर' नगर के बाहर बने 'चित्तरम' नामक उद्यान के पास से गुजरता है।

इस समय, चित्तरम उद्यान में बने 'मनोनन्दन' नामक चैत्य भवन में समन्तभद्राचार्य ठहरे हुए थे। प्रवृत्तिनी-साध्वी 'महाभद्रा' उनके सामने बैठी थीं। 'सुललिता' नाम की राजकुमारी और 'पुण्डरीक' नाम का राजकुमार भी, इस सन्त-सभा में बैठे थे। अचानक ही रथों की गड़गड़ाहट और सेना का कोलाहल सुनकर सभी का ध्यान शोर की ओर आकृष्ट हो जाता है। उत्सुकता और जिज्ञासावश राजकुमारी, महाभद्रा से पूछती है— 'भगवती! यह कैसा कोलाहल है?' महाभद्रा ने आचार्यश्री की ओर देखकर कहा— 'मुझे नहीं मालूम।' किन्तु, आचार्यश्री ने इस अवसर को राजकुमार और राजकुमारी को प्रबोध देने के लिए उपयुक्त समझते हुए, महाभद्रा से कहा— 'अरे महाभद्रे! तुम्हें नहीं मालूम है कि हम-सब इस समय 'मनुजगति' नामक प्रदेश के महाविदेह बाजार में बैठे हैं। आज एक चोर, चोरी के माल सहित पकड़ लिया गया है। जिसे 'कर्म-परिणाम' महाराज ने अपनी प्रधान महारानी 'कालपरिणति' से परामर्श करके उसे मृत्युदण्ड की सजा सुनाई है। 'दुष्टाशय' आदि दण्डपाशिक उसे पीटते हुए वध-स्थल की ओर ले जा रहे हैं। आचार्यश्री की बात सुनकर, सुललिता आश्चर्य में पड़ जाती है। और पुनः महाभद्रा से पूछती है— 'भगवती! हम लोग तो शंखपुर के 'चित्तरम' उद्यान में बैठे हैं। यह 'मनुजगति' नगर

का 'महाविदेह-बाजार' कैसे हो भया? यहाँ के महाराज 'श्रीगर्भ' हैं न कि कर्मपरिणाम।' आचार्यश्री क्या कह रहे हैं यह सब?' आचार्यश्री ने उत्तर दिया— 'धर्मशीले सुललिते! तुम 'अगृहीत संकेता' हो। मेरी बात का अर्थ तुम नहीं समझ पायीं।' सुललिता सोचती है— आचार्यश्री ने तो मेरा नाम भी बदल दिया। तभी, आचार्यश्री के कथन का आशय समझकर महाभद्रा निवेदन करती है— 'भगवन्! यह चोर, मृत्युदण्ड से मुक्त हो सकता है क्या?' आचार्यश्री ने उत्तर दिया— 'जब उसे तेरे दर्शन होंगे, और वह हमारे समक्ष उपस्थित होगा, उसकी मुक्ति हो जायेगी।' महाभद्रा ने पूछा— 'तो क्या मैं उसके सम्मुख जाऊँ?' आचार्यश्री ने कहा— 'जाओ। इसमें दुविधा कहाँ है?'

महाभद्रा उद्यान से निकलकर बाहर राजपथ पर आई और अनुसुन्दर चक्रवर्ती के निकट आने पर उससे बोली— 'भद्र! सदागम की शरण स्वीकार करो।'

साध्वी के दर्शन से अनुसुन्दर को 'स्वर्गोचर' (जाति/पूर्वजन्म-स्मरण) ज्ञान हो जाता है।^१ उसने आचार्यश्री द्वारा कही गई बात उनसे सुनी, और उनके साथ, आचार्यश्री के समक्ष आकर उपस्थित हो जाता है। वह आचार्यश्री को देखकर, सुख के अतिरेक से भर उठता है।^२ और अति-प्रसन्नता में मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ता है। आचार्यश्री द्वारा प्रबोध देने पर वह सचेत होता है। राजकुमारी सुललिता, उससे चोरी के विषय में पूछती है। आचार्यश्री भी उसे अपना सारा वृत्तान्त सुनाने का आदेश देते हैं, तब अनुसुन्दर ने साध्वी के दर्शन से उत्पन्न पूर्वजन्म-स्मरण का सहारा लेकर, अपनी भवप्रपञ्चकथा, तमाम उपमाओं के साथ सुनानी आरम्भ कर दी।^३

अनुसुन्दर की कथा सुनते-सुनते राजकुमार पुण्डरीक प्रतिबुद्ध हो जाता है। किन्तु, राजकुमारी

१ उपमितिभव प्रपञ्च कथा—पीठबन्ध-श्लोक ६३

२ उपमितिभव प्रपञ्च कथा पृष्ठ-७३६

३ वही—पीठबन्ध, श्लोक ६६

सुललिता बार-बार कथा सुनकर भी प्रतिबुद्ध न हुई, तब विशेष प्रेरणा के द्वारा उसे बड़ी मुश्किल से बोध ही पाता है।^१ प्रतिबुद्ध हो जाने से दोनों को आत्मबोध हो जाता है। और वे दोनों संसारावस्था को छोड़कर आर्हती-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।^२ कालान्तर में, उत्कृष्ट तपश्चरण के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करते हैं।^३

इस सार-संक्षेप में आचार्यश्री महाभद्रा और सुललिता के कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकथा में रहस्यात्मकता का गुम्फन कितना सहज और दुर्बोध है। इसी तरह के रहस्यात्मक प्रतीक-कथाचित्रों की भरमार उपमितिभवप्रपञ्चकथा में है। जो आठों प्रस्तावों में समाविष्ट, अनेकों अलग अलग कथाओं को पढ़ने पर और अधिक गहरा बन जाता है। हिंसा, असत्य, चौर्य/अस्तेय, मैथून और अपरिग्रह के साथ क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मोह का आवेग जुड़ जाने पर स्पृशंन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और चक्षु इन्द्रियों की अधीनता स्वीकार कर लेने से जो प्रतिकूल परिणाम जीवात्मा को भोगने पड़ते हैं, प्रायः उन समस्त परिणामों से जुड़ी अनेकों कथाएँ, इस महाकथा में अन्तर्भूत हैं। इन कथाओं का घटनाक्रम भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न पारिवारिक-परिवेशों में, भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा घटित/वर्णित किया है सिद्धिषि ने। इस विभिन्नता को देखकर, सामान्य पाठक को यह निश्चय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि इन अनेकों कथा-नायकों में से मुख्यकथा का नायक कौन हो सकता है ?

वस्तुतः स्पृशंन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के माध्यम से संसार को, जीवात्मा न सिर्फ देखता है, बल्कि उनसे अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर उसकी पुनः-पुनः आवृत्ति करता रहता है। फलतः, सांसारिक पदार्थों के विकारों की छाप, उस पर

इतनी प्रबल हो जाती है कि वह जन्म-जन्मान्तरों तक उनसे अपना सम्बन्ध तोड़ नहीं पाता। इससे जीवात्माओं को जो यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, वे अकल्पनीय ही होती हैं। इसी तरह की जीवात्माओं के जन्म-जन्मान्तरों की कथाएँ, हर प्रस्ताव में संयोजित हैं। जिनके साथ, छाया की तरह, कुछ ऐसे जीवन-चरित भी संयोजित हुए हैं, जिन्हें न तो इन्द्रियों की शक्ति अपने अधीन बना पायी है, न ही हिंसा, चोरी-आदि दुराचारों के वशंवद वे बन सके हैं। क्रोध, मान, माया जैसे प्रबल मानवीय-विकारों का प्रभुत्व भी उन्हें पराजित नहीं कर पाया। स्पष्ट है कि सिद्धिषि ने इन कथाओं में 'अशुभ' और 'शुभ' परिणामी जीवों के कथानक, साथ-साथ संजोये हैं इस महाकथा में। द्विविध चरितों की यह संयोजना, सिद्धिषि की कल्पना से प्रसूत नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, इस सबके संयोजन में उनका गहन दार्शनिक अभिज्ञान, चिन्तन और अनुभव, आधारभूत कारक रहा है। जिसे उनके रचना-कौशल में देखकर, यह माना जा सकता है कि सिद्धिषि ने उन शाश्वत स्थितियों की विवेचना की है, जो जीवात्मा के अस्तित्व के साथ-साथ ही समुदभूत होती हैं। इसी द्विविधता को, हम इस महाकथा के प्रारम्भ में उन दो ध्रुव-बिन्दुओं के रूप में देख सकते हैं, जिनसे महाकथा का सूत्रपात होता है। इन बिन्दुओं की ओर, सिद्धिषि ने 'कर्मपरिणाम' के अधीनस्थ दो सेनापतियों—'पुण्योदय' और 'पापोदय'—के कार्यक्षेत्रों का निर्धारण करके, इन दोनों की प्रवृत्तियों का परिचय दे करके, पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहा है। इन दोनों की क्रियापद्धति और अधिकारों में मात्र यह अन्तर है कि 'पुण्योदय' के कार्यक्षेत्र में जो जीवात्माएँ आ जाती हैं, उन्हें वह उन्नति की ओर अग्रसर करने के लिए प्रयासरत रहता है; जबकि, 'पापोदय' अपने अधिकार क्षेत्र

१ वही—पीठबन्ध-श्लोक १७-१८

२ वही—श्लोक ६५-६६

३ वही—पृष्ठ ७५२-५३

में आई जीवात्माओं को पतित से पतिततम अवस्थाओं में पहुँचाने की योजनाएँ बनाने में लगा रहता है।

आशय यह है कि उपमितिभव प्रपञ्चकथा की कथाओं में द्वैविध्य का समावेश, इस तरह हुआ है, कि कर्मबन्ध का 'आस्रव' जिन क्रिया कलापों से होता है, उनका, और 'संवर' की प्रक्रिया में सहयोगी क्रियाकलापों का निर्देश, पाठक को साथ-साथ उपलब्ध होता जाये। जिससे उन्हें यह अनुभव करने में कठिनाई न हो कि 'असद्-प्रवृत्ति' से जीवात्मा, कर्म-बन्धन में किस तरह जकड़ता है, और कर्म-बन्ध की इस स्थिति को, किस तरह की प्रवृत्तियों से बचाया जा सकता है। यह स्पष्ट ज्ञात हो जाने पर ही जीवात्मा यह समझ पाता है कि भवप्रपञ्च के विस्तार का यह मुख्य कारण 'कर्मबन्ध' है। 'कषाय' और 'इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति' ऐसे दुर्विकार हैं, जो भवप्रपञ्च रूपी वृक्ष को हरा-भरा बनाये रखने में, मुख्य-जड़ों को भूमिका निभाते हैं। इस भवप्रपञ्च वृक्ष को उखाड़-फेंकने की शक्ति, पाठकों में आये, यही आशय, इस कथा का मुख्य-लक्ष्य रहा है।

किन्तु, इस द्विविधापूर्ण कथानक के हर प्रस्ताव में जो कथानक आये हैं, उन्हें, पढ़कर भी यह भ्रम बना ही रह जाता है कि मूलकथा का नायक कौन है? यदि, पाठकबन्ध, थोड़ा सा भी सतर्क भाव से, इस विशाल कथा को पढ़ेंगे, तो वे देखेंगे कि मूलकथा नायक के संकेत पूरे ग्रन्थ में यत्र-तत्र मिलते जाते हैं। कथा में बीच-बीच में कुछ शब्द/वाक्य, इन संकेतों को स्पष्ट करते हैं। जैसे—'सराग-संयतानां भवत्येवायं जीवो हास्यस्थानं' (पृष्ठ ३३ प्रथम पंक्ति), 'तदेतदात्मीयजीवस्यात्यन्तविपरीत-चारितामनुभवताऽभिहितं मया—योऽयं मदीयजीवो-ऽवधारित जात्यन्धभावोऽस्य' (पृष्ठ वही, पांचवी पंक्ति) 'मदीय जीवरोरोऽयं' (पृष्ठ-४३ दूसरी पंक्ति), 'परमे-श्वरावलोकनां मज्जीवे भवन्तीं' (पृष्ठ-५३, अन्तिम पंक्ति), 'ये च मम सदुपदेशदायिनो भगवन्तः' (पृष्ठ-५४, तीसरी पंक्ति), 'ततो यो जीवो मादृशः' (पृष्ठ-

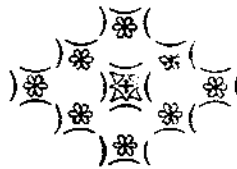
७४ तेरहवीं पंक्ति) इत्यादि पृष्ठों पर 'अस्मत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह 'अस्मत्' शब्द का प्रयोग, अनुसुन्दर चक्रवर्ती के द्वारा किया गया है। जिससे यह निश्चय होता है कि इस महाकथा का मुख्य नायक, वही है। जिन स्थलों पर 'एतत्' 'इदं' या 'जीव' शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ पर, उसका अर्थ सामान्य-जीवविषयक ही ग्रहण किया जाना चाहिए। जैसा कि 'एवमेष जीवो राजपुत्राद्यव-स्थायी वर्तमानो बहुशो निष्प्रयोजनविकल्पं परम्पर-याऽऽत्मानमाकुलयति' (पृष्ठ-३७ तृतीय पंक्ति), 'यदा खल्वेष जीवो नरपतिमुताद्यवस्थायामतिविशाल चित्ततया' (पृष्ठ वही षष्ठम पंक्ति), तथा 'ततोऽयमेव जीवोऽनवाप्तकर्तव्यनिर्णयः' 'यदायं जीवो विदित-प्रथम सुखास्वादो भवति' (पृष्ठ-६७, पंक्ति क्रमशः प्रथम एवं सातवीं) आदि प्रसंगों में हुए शब्द प्रयोगों से स्पष्ट है।

इस महाकथा में वर्णित कथा-तथ्य, वस्तुतः जैन-धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित तत्त्व-विवेचना से ओत-प्रोत है। जीवधारियों का जन्म, उनके संस्कार और आचरण, जीवन, पद्धति, सोच-विचार की भावदशाएँ, साधना, और ध्यान आदि मोक्ष-पर्यन्त तक का समग्र चिन्तन-मनन, जैन धार्मिक/दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित है। कर्म, कर्म-फल, कर्मफल-भोग और कर्मपरम्परा से मुक्ति, इन समस्त प्रक्रियायों/दशाओं में जीव सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, जैनधर्म की यह मौलिक मान्यता है। जिस तरह, कोई एक अस्त्र, व्यक्ति की जीवन-रक्षा में निमित्त बनता है, उसी तरह, उसके जीवन-विच्छेद का भी कारण बन सकता है। अस्त्र के उपयोग की भूमिका, अस्त्रधारी के विवेक पर निर्भर होती है। ठीक इसी तरह जीवात्मा, अपने विवेक का प्रयोग, भवप्रपञ्च के विस्तार के लिये करता है, या भव-प्रपञ्च को नष्ट करने में यह उसके विवेक पर निर्भर होता है। जैनधर्म/दर्शन के सारे के सारे सिद्धान्त 'विवेक-प्रयोग' पर ही निर्धारित किये गये हैं। यह, सर्वमान्य, सर्व-अनुभूत तथ्य है कि विवेक के प्रयोग की आवश्यकता तभी जान पड़ती है,

जब, दो स्थितियों/विचारों में से किसी एक को चुनना हो। 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' में इसी आशय से द्विविधा-पूर्ण, भिन्न-भिन्न कथानकों को साथ-साथ समायोजित किया है सिद्धर्षि ने। इन कथाओं से, इनके पात्रों, परिस्थितियों और घटना-क्रमों को पुनः-पुनः पढ़ने से, पाठक को अपने विवेक का प्रयोग, आत्मरक्षा/आत्मोन्नति के लिए कब करना है? यह अभ्यास, भली-भाँति हो जायेगा। वस्तुतः जैनधर्म/दर्शन का यही अभिप्रेत है। इसी को सिद्धर्षि ने भी, अपनी कथा का अभिप्रेत निश्चित करना उपयुक्त समझा।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 'उपमिति भवप्रपञ्च कथा' की सम्पूर्ण कथा 'सांसारिकता' और 'आध्यात्मिकता' के दो समानान्तर धरातलों पर से समुद्भूत हुई है। भौतिक धरातल पर चलने वाली कथा से सिर्फ यही स्पष्ट हो पाता है कि अनु-सुन्दर चक्रवर्ती का जीवात्मा, किन-किन परिस्थितियों में से होता हुआ मोक्ष के द्वार पर, कथा के अन्त में पहुँचता है। इन परिस्थितियों में उसके वैभव, समृद्धि, विलासिता आदि से जुड़े भौतिक सुखों का रसास्वादन भर पाठक कर पाता है। जब कि दीनता-दरिद्रता भरी विषम-परिस्थितियों के चित्रण में उसके दुःख-दर्दों के प्रति, सहृदय पाठक के मन में बसी दयालुता द्रवित भर हो उठती है। ये दोनों ही भावदशाएँ, न तो पाठक के लिये श्रेय-स्कर मानी जा सकती हैं, न ही सिद्धर्षि के कथा-लेखन का लक्ष्य। बल्कि, सिद्धर्षि का आशय, स्पष्टतः यही जान पड़ता है कि जीवात्मा को जिन कारणों से दीन-पतित अवस्थाओं में जाना पड़ता है, उनका भावात्मक-दृश्य, कथाओं के द्वारा पाठक

के समक्ष, उपस्थित करके, उसे यह ज्ञात करा दिया जाये कि सुख और दुःख का सर्जन, अन्तःकरणों की शुभ-अशुभमयी भावनाओं से होता है। यदि उसके चित्त की वृत्तियाँ उत्कृष्ट-शुभराग से परिप्लुत हों, तो उच्चतम स्थान, स्वर्ग तक ही मिल पायेगा; और उत्कृष्ट-अशुभराग का समावेश चित्तवृत्तियों में होगा, तो अपकृष्टतम-नरक में उसे जाना पड़ सकता है। इस लिये, वह इन दोनों—शुभ-अशुभ-राग से अपने चित्त/अन्तःकरणों को प्रभावित न बनाये। ताकि उसे स्वर्ग/नरक से सम्बन्धित किसी भी भवप्रपञ्च में उलझना नहीं पड़ेगा। बल्कि, उस के लिये श्रेयस्कर यही होगा कि उक्त दोनों प्रकार की वृत्तियों/परिस्थितियों के प्रति, एक ऐसा माध्य-स्थ/तटस्थ भाव अपने अन्तःकरण में जागृत करे जो उसे सभी प्रकार के भव-विस्तार से बचाये। उसकी यही तटस्थता, उसमें उस विशुद्ध भाव की सर्जिका बन जायेगी, जिसके एक बार उत्पन्न हो जाने पर, हमेशा हमेशा के लिये, किसी भी योनि/भव में जाने का प्रसंग समाप्त हो जाता है। 'उपमिति भवप्रपञ्च कथा' अपने इस उद्देश्य तक पहुँचाने में, जिन-जिन पाठकों को समर्थ बना देती है, वस्तुतः उतने ही सन्दर्भों में सिद्धर्षि का विशाल-महाकथा लिखने का श्रम, सार्थक बनता है तथापि, युगीन सामाजिक परिवेश को देखते हुए, इसमें रह रहा कोई पाठक इस महाकथा के अध्ययन/पठन/श्रवण से, उक्त लक्ष्य की ओर चिन्तन/मनन का भाव बना लेता है, तो भी मेरी दृष्टि से, सिद्धर्षि का ग्रन्थ-रचना का उपक्रम, सार्थक माना जा सकेगा। इत्यलम् ॥



जैन संस्कृति और उसका अवदान

—परम विदुषी साध्वी श्री कुसुमवती जी म. की सुशिक्षा
साध्वी गरिमा, एम. ए.

विश्व में अनेकानेक संस्कृतियाँ हैं। जब से मनुष्य ने सामुदायिक जीवन आरम्भ किया और परस्पर व्यवहार को आधार-भूमि बनने लगी, तभी से आचरण संबंधी कतिपय आदर्शों ने आकार ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था और देश-कालानुसार उसमें परिवर्तन-परिवर्धन भी होते रहे। इस प्रकार संस्कृति का अस्तित्व बना। परिस्थिति-भिन्नता के कारण विश्व के विभिन्न भू-भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्कृतियों का प्रचलन हो गया। इन अनेक संस्कृतियों में जैन संस्कृति को अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसका आधारभूत कारण यह है कि किसी भी संस्कृति के लिए जो अनिवार्य अपेक्षाएँ हैं, उनकी पूर्ति जैन संस्कृति द्वारा बखूबी हो जाती है। अर्थात् संस्कृति के वांछित स्वरूप से जैन संस्कृति सर्वथा संपन्न है। व्यापक दृष्टिकोण को अपनाते हुए यदि संस्कृति के समग्र स्वरूप को सूत्रात्मक रूप में प्रस्तुत करना हो, तो यह कहना होगा कि—संस्कृति आदर्श जीवन जीने की एक कला है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और तदनुसार उसके जीवन का एक रूप व्यक्तिगत है और दूसरा रूप सामाजिक अथवा सामुदायिक है। व्यक्ति के जीवन के ये दो पक्ष हैं। इस प्रकार यदि मनुष्य अपने ही जीवन को शान्तिमय और सुखपूर्ण बनाने की दिशा में प्रयत्नशील रहता है, तो उसका जीवन-साफल्य आंशिक होगा। पूर्ण सफलता तभी स्वीकार की जा सकेगी जब मनुष्य जाति, समाज, देश, विश्व की शान्ति व सुख के लिये सचेष्ट हो। संस्कृति इस प्रकार के सम्पूर्णतः सफल जीवन के

लिये प्रेरणा देती है, वह इस दिशा में मार्ग निर्मित करती है और उसके अनुसरण के लिये भी मनुष्य को शक्ति प्रदान करती है। प्रत्येक व्यक्ति के पारस्परिक व्यवहार को आदर्श रूप देने, उसे नियमित और नियन्त्रित करने की भूमिका का निर्वाह भी संस्कृति द्वारा होता है। उच्च मानवीय आदर्शों को रूपायित कर संस्कृति मनुष्य ही नहीं प्राणि-मात्र के कल्याण में लगी रहती हैं। जीवन को आदर्श रूप में ढालने का साँचा संस्कृति है। मनुष्यत्व तो देवत्व एवं असुरत्व का समन्वय होता है। कभी उसका एक लक्षण जागृत रहता है और अन्य सुप्त रहता है, कभी यह क्रम विलोम हो जाता है। इस आधार पर मनुष्य का मूल्यांकन होता है कि वह भला है अथवा बुरा। देवत्व की कल्पना श्रेष्ठ मानवीय व्यवहारों, गुणों और लक्षणों के समुच्चय के रूप में की जा सकती है। इसके विपरीत मनुष्य की दुर्जनता, उसकी कुप्रवृत्तियाँ ही असुरत्व का स्वरूप हैं। सज्जनों में देवत्व का प्राचुर्य और असुरत्व नाम मात्र को ही होता है। संस्कृति व्यक्ति के इसी प्रकार के व्यक्तित्व को सँवारती है। देवत्व के भाग को अधिकाधिक विकसित करने और असुरत्व को घटाकर न्यूनतम बना देने की अति महत्वपूर्ण भूमिका संस्कृति द्वारा ही निभायी जाती है। संस्कृति इस प्रकार मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती है—उसे मनुष्यता से सम्पन्न करती है। यह मनुष्य का संस्कार करना है, जो संस्कृति द्वारा पूर्ण होता है। मानवाकृति की देह मात्र मनुष्य नहीं है। इसके

कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ : परिशिष्ट ५६१

लिये मानवोचित आदर्श, सद्गुण, व्यवहार और लक्षणों की अनिवार्य अपेक्षा रहती है, जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्न और उच्चतर स्थान प्रदान करते हैं, उसे 'अशरफुल मखलुकात' बनाते हैं।

मनुष्य की मेधा क्रमिक रूप से विकसित होती रही और परिस्थितियाँ भी युगानुयुग परिवर्तित होती रहीं। तदनु रूप ही संस्कृति के स्वरूप में भी विकास होता रहा। संस्कृति के इस सतत विकाश-शील रूप के कारण उसे किसी काल विशेष की उत्पत्ति मानना उपयुक्त नहीं होगा, तथापि जैन संस्कृति के विषय में यह कथन असंगत न होगा कि यह अतिप्राचीन और अति लोकप्रिय है। मानव मात्र में मानवता जगाने की अद्वितीय क्षमता के कारण उसकी महत्ता सर्वोपरि है और इसे संस्कृतियों के समूह में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन संस्कृति ने अपने स्वरूप को इतनी व्यापकता दी है, इतनी उदारता दी है कि अन्यान्य संस्कृतियों को इससे प्रेरणा लेने का समुचित अवसर मिला। वस्तुतः विश्व संस्कृति के पक्ष में जैन संस्कृति की मूल्यवान् देन रही है।

भारतीय संस्कृति का विश्व संस्कृतियों में अब भी आदरणीय स्थान है। यह प्राचीनतम है और अजल रूप से प्रवाहित धारा है। इसका प्रवाह कभी खण्डित नहीं हुआ। कुछ विद्वानों ने 'भारत' शब्द का विश्लेषण इस प्रकार भी किया है कि 'भा' का अर्थ प्रकाश है और भारत का अर्थ प्रकाश में रत रहने वाले जनों के समुदाय से लिया गया है। प्रकाश में रत रहने के संस्कारों का उदय भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति रही है। इस संस्कार-सम्पन्नता के लिए उपनिषदानुसार ३ सूत्र हैं—दया, दान और दमन (मन व इन्द्रियों का निग्रह)। संक्षेप में यही भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप कहा जा सकता है। यही भारतीय संस्कृति की एकरूपात्मकता है, अन्यथा इस देश में इस मौलिक स्वरूप का वहन करती हुई कतिपय अन्य, परस्पर भिन्न (अन्य प्रसंगों में) संस्कृतियाँ एकाधिक रूप

में रही हैं, यथा—वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृतियाँ। ये पृथक-पृथक सांस्कृतिक धाराएँ रही हैं। इस प्रकार से यह भी कथनीय है कि वेद दान के, बौद्ध दया के और जिन दमन के प्रतीक हो गये हैं। मनोविकारों का दमन कर उन पर विजय स्थापित करने वाला जिन है और जिन की संस्कृति ही जैन संस्कृति है। इस सूत्र के सहारे जैन संस्कृति के तत्त्वों को समझना सुगम है।

भारतीय संस्कृति में प्रमुखतः दो धाराएँ रही हैं जिन्हें ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाता है। ब्राह्मण संस्कृति के आधार वेद और श्रमण संस्कृति के आधार जिनोपदेश रहे हैं। श्रमण संस्कृति निवृत्तिमूलक है, जबकि ब्राह्मण संस्कृति प्रवृत्तिमूलक है। यही कारण है कि इन दोनों संस्कृतियों में यह एक मौलिक अन्तर लक्षित होता है कि जहाँ ब्राह्मण संस्कृति में भोग का स्वर है वहीं श्रमण संस्कृति में योग और संयम का ही प्राचुर्य है। ब्राह्मण संस्कृति में विस्तार की प्रवृत्ति है और इसके विपरीत श्रमण संस्कृति में संयम और अन्तर्दृष्टि की प्रबलता है। ब्राह्मण संस्कृति व्यक्ति को स्वर्गीय सुखों के प्रति लोलुप बनाती है, भोगोन्मुख बनाती है, जबकि श्रमण संस्कृति मोक्षोन्मुख और विरक्त बनाती है। यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि मानव-जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही है और लक्ष्य की प्राप्ति में श्रमण संस्कृति ही सहायक होती है।

मानवोचित श्रेष्ठ संस्कारों को स्थापित करने वाली जैन संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहा जाना सर्वथा उपयुक्त और सार्थक है। श्रमण शब्द के मूल में 'श्रम' 'शम' और 'सम' के तात्पर्यों को स्वीकार किया जा सकता है। यह संस्कृति 'श्रम' प्रतीक द्वारा मनुष्य को उद्यमी बनाती है। इसका सन्देश है कि मनुष्य स्वयं ही आत्म-निर्माता है। उसका हितहित किसी अन्य की अनुकम्पा पर नहीं, स्वयं उसी के प्रयत्नों पर आधारित है, वह आत्मनिर्माता है। आत्म-कल्याण को महत्ता देने वाली श्रमण

संस्कृति मनुष्यों को ही यह गौरव प्रदान करती है कि वह अपने कल्याण की क्षमता स्वयं ही रखता है। मनुष्य को यह संस्कृति आत्म-गौरव से दीप्त और स्वावलम्बी बनाती है। उसे पुरुषार्थी बनाती है, ईश्वराधीन शिथिल और श्लथ नहीं बनाती। यह मनुष्य को किसी के चरणों का दास और दीन हीन बनने की प्रेरणा नहीं देती। विशेषता यह भी है कि इस पुरुषार्थ का प्रयोग आत्म-विकास के लिए सुझाया गया है। आत्मा के उत्कर्ष के लिए राग-द्वेषादि सर्व कषायों का शमन अमोघ उपाय के रूप में श्रमण संस्कृति ने ही सुझाया है। श्रम को सार्थक बनाने के लिए इस प्रकार 'शम' अभि-प्रेत रहता है। सम का सन्देश भी समत्व के रूप में श्रमण संस्कृति द्वारा ही प्रदान किया गया है। यह तात्पर्य भी इस संस्कृति की अत्युच्चासन पर अवस्थित करता है। व्यक्ति अन्य सभी प्राणियों को आत्मवत् ही स्वीकार करे यह समत्व है। मनुष्य यह अनुभव करे कि जैसा मैं हूँ वैसे ही अन्य सभी हैं। जिन कारणों से मुझे सुख अथवा दुःख का अनुभव होता है, वैसे ही अन्य प्राणियों के साथ ही घटित होता है। इस आधार के सहारे मनुष्य के मन में यह संस्कृति दूसरों के प्रति ऐसे व्यवहार की प्रेरणा जगाती है, जैसा व्यवहार वह दूसरों द्वारा अपने प्रति चाहता है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी को अपने समान समझने के कारण मनुष्य स्वयं को अन्यो से उच्च समझने के दर्प से भी बच जाता है और अन्यो से निम्न समझने के हीनत्व से भी बच जाता है। उसके लिए सभी समान हैं—न कोई उच्च है न नीच। वर्गविहीन समाजनिर्माण की दिशा में ऐसी संस्कृति की महती भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। इसी प्रकार समभाव व्यक्ति में अहिंसा का व्यापक भाव भी सक्रिय कर देता है। यह संस्कृति मनुष्य को सिखाती है कि उसे किसी के प्राणापहरण का कोई अधिकार नहीं है। किसी के मन को कष्ट पहुँचाना भी उसके लिए उपयुक्त नहीं। व्यक्ति इसी प्रकार तो सभी की सुख-शान्ति के लिए सचेष्ट रहता हुआ जी सकता है। श्रमण

संस्कृति मनुष्य के जीवन को ऐसा सार्थक रूप देने का महान कार्य भी सम्पादित करती है।

अहिंसा जैन संस्कृति का प्राण है। मन, वचन और काया से किसी जीव का घात न करना अहिंसा के माध्यम से हमें जैन संस्कृति ने ही सिखाया है। यह तो यहाँ तक निर्देश करती है कि स्वयं किसी का प्राणघात करना मात्र ही नहीं, अपितु दूसरों को ऐसा करने की प्रेरणा देना, उसे सहायता देना भी हिंसा है। यह भी अनुपयुक्त है। यही क्यों, किसी हिंसा का समर्थन करना भी हिंसा ही है। यह संस्कृति हिंसा के रंचमात्र प्रभाव को भी निन्द्य मानती है। मन में किसी का अहित सोचना, वचन से किसी के मन को ठेस पहुँचाने जैसे कर्म भी हिंसा की परिधि में ले आने वाली यह जैन संस्कृति वस्तुतः मनुष्य को देवत्व-सम्पन्न बनाने में सर्वथा सक्षम है। क्या यह संस्कृति मनुष्य को प्राणघात न करने आदि जैसे निषेधात्मक निर्देश ही देती है? नहीं, ऐसा नहीं है। यह तो मनुष्य को संकटापन्न प्राणियों की रक्षा करने की प्रेरणा भी देती है। विधि-निषेधयुक्त अहिंसा जैन संस्कृति के लिए एक गौरवपूर्ण तत्व है।

अनेकान्त दृष्टि भी जैन संस्कृति की अत्यन्त उपयोगी देन है। समाज में अनेक विचारधाराओं का अस्तित्व अति स्वाभाविक है और विभिन्न विचारधाराओं के अनुयायी अपने ही पक्ष में श्रेष्ठता का अनुभव करें—यह भी बहुत स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में एक मत वाले अन्य मतों को हीन दृष्टि से देखने लगते हैं, उनकी वे निन्दा करते हैं और उनके दोषों को उजागर करने से उन्हें संतोष का अनुभव होता है। इसी प्रकार वे अपने मत के प्रति श्रेष्ठ जनधारणा का निर्माण करना चाहते हैं। यह सारी की सारी प्रवृत्ति दूषित और घातक हो जाती है। इस प्रवृत्ति से एक्य खण्डित हो जाता है और समाज अनेक वर्गों में विभक्त हो जाता है। इन विभिन्न वर्गों के बीच भीषण संघर्ष की स्थिति रहती है। परिणामतः

समाज घोर अशान्ति का घर बनकर रह जाता है। अपने आग्रह का मंडन और अन्यो के आग्रह का खण्डन करने को प्रवृत्ति ही इस सामाजिक संकट का कारण होती है। ऐसी विकट समस्या का समाधान अनेकान्त दर्शन के माध्यम से जैन संस्कृति प्रस्तुत करती है। अनेकान्त हमें सिखाता है कि अपने आग्रह को सत्य मानने के साथ-साथ अन्य-जनों ने आग्रह में 'भी' सत्य की उपस्थिति स्वीकार करनी चाहिये। तभी हम पूर्ण सत्य के निकट रहेंगे। किसी एक दृष्टिकोण से हमारी धारणा यदि सत्य है तो किन्हीं अन्य दृष्टिकोणों से, अन्य अपेक्षाओं से अन्य जनों की धारणा भी सत्य ही होगी और इन सभी के समन्वय से ही पूर्ण सत्य का कोई स्वरूप प्रकट हो सकता है। अन्यथा एकान्त रूप से पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण तो सत्य के एक-एक अंश ही होंगे। यह समन्वयशीलता की प्रवृत्ति जैन संस्कृति की ऐसी देन है जिसमें पारस्परिक विरोध संघर्ष की स्थिति को समाप्त कर देने की अचूक शक्ति है। अनेकान्त दृष्टि समाज को शान्ति, एकता और सहिष्णुता की स्थापना करने में सर्वथा सफल रह सकती है। आज वैचारिक वैमनस्य के युग में इस सिद्धान्त की भूमिका अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक सिद्ध हो सकती है। वर्ग-वर्ग, प्रदेश-प्रदेश और देश देश के दृष्टिकोणों का समन्वय सारे देश में और विश्व भर में शान्ति की स्थापना कर सकता है। समस्याओं के समाधान में यह औषधि अचूक सिद्ध होगी।

जैन संस्कृति अनासक्ति का मूल्यवान् मन्देश भी देती है। यह मनुष्य को सिखाती है कि जागतिक वैभव नश्वर, अवास्तविक और सुख की मात्र प्रतीति कराने वाला ही होता है। ये तथाकथित सुख अन्ततः दुःख के द्वार खोलकर स्वयं अदृश्य हो जाते हैं। अतः मनुष्य को सुख के इन छलावों से बचकर अनासक्त हो जाना चाहिये और वास्तविक सुख, अनन्त-सुख-मोक्ष को लक्ष्य मानना चाहिए। इसी अनन्त-सुख को प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य

को अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करना चाहिए। इस सन्देश से प्रेरित होकर मनुष्य अपनी लालसा पर अंकुश लगाता है, भौतिक सुखों के प्रति विकर्षित होकर मनुष्य आत्म-संतोषी हो जाता है। भौतिक समृद्धि की दौड़ में उसकी रुचि नहीं रह जाती और संतोष-सागर की शान्ति लहरियों में वह सुखपूर्वक विहार करने लगता है।

इसी प्रकार जैन संस्कृति मनुष्य को संयम और आत्मानुशासन के पुनीत मार्ग पर भी आरूढ़ करती है। अचौर्य और सत्य के सिद्धान्तों की प्रेरणा देने वाली यह संस्कृति अपरिग्रह का मार्ग खोलती है। मनुष्य को अपनी न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति के योग्य ही साधन-सुविधाएँ प्राप्त करनी चाहिए। इससे अधिक संग्रह करना इस संस्कृति के अधीन अनीति है। जो इस अनीति का अनुसरण करता है वह अन्य अनेक जनों को सुख-सुविधा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर देने का भारी पाप करता है। मनुष्य की यह दुष्प्रवृत्ति समाज के लिए बड़ी घातक सिद्ध होती है। सुख-सुविधा के साधन कुछ ही लोगों के पास प्रचुरता के साथ संकलित हो जाते हैं और शेष सभी दीन-हीन और दुःखी रहते हैं। यह आर्थिक वैषम्य घोर सामाजिक अन्याय है जो समाज में शान्ति और सौमनस्य का विनाश कर असन्तोष, घृणा, कलह, रोष, चिन्ता और प्रतिशोध जैसे विकारों को अभिवर्धित करता है। मनुष्य की इससे बढ़कर दानवता और क्या होगी कि दूसरों को न्यूनतम सुखों से भी वंचित रखकर वह अनन्त सुख-सागर में विहार करता रहे। यह प्रवृत्ति स्वयं ऐसे अनीतिकारी व्यक्ति के लिए भी कम घातक नहीं रहती। उसके मन में अधिक से अधिक प्राप्त करते रहने की असमाप्त तृष्णा का साम्राज्य हो जाता है। जो कुछ उसे प्राप्त हो जाता है—चाहे वह बहुत-कुछ ही क्यों न हो—उसे उससे सन्तोष नहीं होता। लोभ उसके मन को शान्त नहीं रहने देता। घोर अशान्ति की ज्वाला में उसका मानस दग्ध होता रहता है।

अभिलाषाओं के ज्वार में उसका चित्त डूबकर दम-घोटू वातावरण का अनुभव करने लगता है। असन्तुष्ट होकर ऐसा व्यक्ति दौड़-धूप में ऐसा व्यस्त हो जाता है कि सारे मुख उससे छिन जाते हैं। वह सम्पन्न दुखी होकर रह जाता है। फिर लोभ, अधिक से अधिक प्राप्त करने की आकांक्षा उससे कुछ भी करवा सकती है। अहिंसा के मार्ग से वह च्युत हो जाता है, वह घोर अनादरों और अनितियों के विकट वन में आँधियों की भाँति हहराता ही रह जाता है। और इस प्रकार वह अपना और अन्यो का जीना दूभर कर बैठता है। ऐसी स्थिति में जैन संस्कृति अपरिग्रह के सन्देश द्वारा कितना उपकार करती है।

जैन संस्कृति कर्म सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर यह व्याख्या भी करती है कि मनुष्य को अपने कर्मों के फल अवश्य मिलते हैं। और यह प्रतिपादन भी इस संस्कृति द्वारा भलीभाँति हो जाता है कि फल सदा कर्मानुसार ही होता है। शुभकर्मों के फल सदा शुभ ही होंगे और अशुभकर्मों के फल कदापि शुभ नहीं होंगे। स्वभावतः मनुष्य शुभफलाकांक्षी ही होता है और यह संस्कृति उसे ऐसी दशा में शुभकर्मों के प्रति रुचिशील बना देती है। विश्व मानवता पर इस संस्कृति का यह उपकार कम नहीं कहा जा सकता है। यह संस्कृति मनुष्य को भाग्यवादी नहीं बनने देती है। यह तो यही सिखाती है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भविष्य का निर्माता है। वह जैसा आज करेगा उसी के अनुरूप उसका कल होगा। इस प्रकार यह संस्कृति मनुष्य को 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम' जैसा बन जाने से बचा लेती है।

मनुष्य को यह उद्यमी बनने की प्रेरणा देती है और इस आत्म-विश्वास से भी उसे सम्पन्न कर देती है कि वह कल क्या बनेगा—यह स्वयं उसी के हाथ को बात है। अपने भविष्य की रूप-रेखा भी वह बना सकता है और उसे क्रियान्वित भी वह स्वयं ही कर सकता है। मनुष्य को इस

सम्पदा से सम्पन्न करने का श्रेय जैन संस्कृति को ही मिलता है।

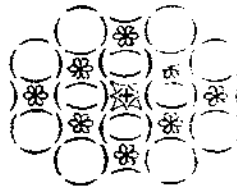
करुणा-क्षमाशीलता का औदार्य जैन संस्कृति की अमूल्य देन है। मनुष्य की मनुष्यता का सार करुणाशीलता में जितना सन्निहित रहता है, उतना कदाचित् किसी अन्य मानवीय गुण में नहीं। प्राणी के कष्ट को देखकर जो द्रवित न हो जाय उस मनुष्य की मनुष्यता की सर्वांगता सदिग्ध ही कही जाएगी। दुखी जनों की सहायता हमारा परम कर्तव्य है और इस कर्तव्य के निर्वाह के लिए बाह्य आदेश या दबाव सफल नहीं हो सकता। इसके लिए तो अन्तःप्रेरणा ही सहायक रह सकती है। हम दूसरों के कष्ट-निवारण में तभी सहायक हो सकते हैं जब उनके प्रति हमारे मन में सहानुभूति हो, करुणा हो। मानव-मन में इस महती करुणा को अंकुरित और पल्लवित करने की अद्भुत क्षमता जैन संस्कृति में है। यह ऐसा गुण है, जो अहिंसा जैसे अन्य औदार्यों के लिए भी हमें सहजतः प्रेरित करता है। मनुष्य सब प्राणियों के प्रति बन्धुत्व और स्नेह का नाता रखे, उनके प्रति हितैषिता का भाव हो—मानवता के लिए यह एक अनिवार्य तत्त्व है।

क्षमा एक ऐसा गुण है जिसे अपना लेने पर वह मनुष्य अपने लिए किसी व्यक्ति को शत्रुरूप में स्वीकार कर ही नहीं पाता। हमारे प्रति किये गये अपकारों से तटस्थ होकर हम अपने अपराधियों को क्षमा कर दें, उनके साथ वैमनस्य के भाव को विस्मृत कर दें—इसी में हमारी समग्र मानवता के दर्शन होंगे। हमारे हितैषियों के प्रति हम भी हितैषी रहें—इसमें कोई विशेषता नहीं है। जैन संस्कृति तो हमें जिस अद्भुत गौरव से मन्डित करना चाहती है, वह हमारे इस गुण में निवास करता है कि हम समत्व से सम्पन्न होकर शत्रु-मित्र का भेद करना भूल जायें। सभी को हम मित्र मानें और सभी के लिए हमारे मन में हितैषिता का भाव हो। हमारा मन इस प्रकार रोष, प्रति-

शोध, हिसादि विकारों से सुरक्षित हो जाता है। दूसरे पक्ष को भी जब कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती, तो उसको दुष्प्रवृत्तियाँ दुर्बल हो जाती हैं, उसके मन में प्रायश्चित्त का भाव उदित होता है, उसका संशोधन आरम्भ हो जाता है। क्षमाशीलता का ऐसा अद्भुत प्रभाव है और इस प्रभाव का उपयोग करते हुए श्रमण संस्कृति मानव मात्र को मैत्री, बन्धुत्व, साहचर्य और सहानुभूति की उदात्तता से विभूषित करती है।

‘जीओ और जीने दो’—मनुष्य के लिए एक सुन्दर आदर्श है, किन्तु जैन सांस्कृतिक दृष्टि इसमें किसी असाधारणता को नहीं देखती। ‘जीने दो’—का भाव यही है कि उसके जीने में किसी प्रकार का व्यवधान प्रस्तुत न करो। यह निषेधमूलक निर्देश भी प्रशंसनीय अवश्य है, किन्तु यह अपूर्ण भी है। केवल बाधा न डालने मात्र से ही दूसरों के जीने में हम सहायक नहीं हो सकते। हमारा कर्तव्य तो यह भी है कि दूसरों के जीवन को हम सुगम बना दें, दूसरों को जीने के लिए हम सहायता भी करें। मनुष्य के समुदाय में रहने की इतनी उपादेयता तो होनी ही चाहिये। जनसेवा और मानव-मैत्री के इन पुनीत आदर्शों के कारण जैन संस्कृति के गौरव में अभिवृद्धि हुई है। भगवान महावीर का यह सन्देश भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुखियों की सेवा करना अधिक श्रेयस्कर है। मेरी भक्ति करने वालों पर, माला फेरने वालों पर मैं प्रसन्न नहीं हूँ। मैं तो प्रसन्न उन लोगों पर हूँ, जो मेरे आदेश का पालन करते हैं। और मेरा आदेश यह है कि प्राणिमात्र को साता समाधि पहुँचाओ।

निश्चित ही जैन संस्कृति एक महान संस्कृति है और उसकी उपलब्धियाँ मानव समाज को श्रेष्ठ स्वरूप प्रदान करने में कम नहीं हैं। मानवाकृति का देह धारण करने वाले प्राणी को सच्ची मनुष्यता के सद्गुणों से मनुष्य बना देने की भूमिका में श्रमण संस्कृति को अनुपम सफलता मिली है। श्रमण संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों की ही भाँति विकासमान रही है। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप इसमें परिवर्तन होते ही रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। इन परिवर्तनों के प्रभाव दो रूपों में प्रकट हो सकते हैं। एक तो यह कि संस्कृति के विद्यमान स्वरूप में कुछ नवीन शुभ पार्श्व जुड़ते रहें और उसकी गरिमा बढ़ती रहे। इस प्रकार तो किसी भी संस्कृति की क्षमता और मूल्य में अभिवृद्धि ही होती है। किन्तु परिवर्तन का जो दूसरा रूप संभावित है, उसके प्रति भी हमें सावधान रहना चाहिये। समय स्वयं सभी वस्तुओं और विचारों को परिवर्तित करता रहता है। उच्च-भव्य प्रासाद समय द्वारा ही खण्डहर कर दिये जाते हैं। समय जहाँ कच्चे फलों को पकाकर सरस और सुस्वातु बना देता है, वहाँ यही समय उन फलों को दूषित और विकृत भी कर देता है। फल सड़-गल जाते हैं। समय व्यतीत होते रहने के साथ ही कलियाँ खिलकर शुरम्य पुष्प हो जाती हैं और यह समय पुष्पों को रूपहीन और अनाकर्षक भी बना देता है। समय ने ही श्रमण संस्कृति को इतना उदात्त और इतना महान स्वरूप प्रदान किया है। अब हमारे सामने एक गुह्यतर दायित्व है। हमें प्रयत्नपूर्वक इस संस्कृति की श्रीवृद्धि करनी होगी।



जैनाचार का प्राण : अहिंसा

—विदुषी साध्वी श्री दिव्यप्रभाजी की सुशिष्या
साध्वी अनुपमा (एम. ए.)

अहिंसा और उसका स्वरूप

‘सच्चाओ पाणाइवायाओ वेरमण’

अहिंसा परमधर्म है। यह जैनधर्माचार के लिए तो प्राणवत् ही है। जैनाचार का विशाल प्रासाद अहिंसा की दृढ़ नींव पर ही आवस्तता के साथ आधारित है। अहिंसा मानव की सुख-शान्ति की जननी है। मानव और दानव में अन्तर ही हिंसा-अहिंसा का है। मानव ज्यों-ज्यों हिंसक बनता चला जाता है वह दानवता के समीप होता चला जाता है और दानव ज्यों-ज्यों हिंसा का परित्याग करता है, वह मानवता के समीप आता जाता है। अहिंसा वह नैतिक मार्ग है जिसका अनुसरण व्यक्ति को यथार्थ मानवता के गौरव से विभूषित करता है। अहिंसा का सिद्धान्त व्यापक प्रभावकारी है। अतः अहिंसाव्रतधारी में स्वतः ही अनेकानेक गुण विकसित होते चले जाते हैं और उसके भीतर की मानवीयता पुष्ट होती रहती है। अहिंसा एक ऐसा मानवीय दृष्टिकोण है, जो उसे असाधारण आत्मिक सुख की अनुभूति कराता है। यही सुख उसका चरम लक्ष्य होता है।

वस्तुतः अहिंसा की विराट भूमिका व्यक्ति के मानस को ऐसा विस्तार प्रदान करती है कि वह सहज ही सृष्टि के समस्त प्राणियों को आत्मवत् स्वीकार करने लगता है। वह सभी का हितैषी हो जाता है और किसी की हानि करने की कल्पना से भी वह दूर.....बहुत दूर हो जाता है।

यह ‘सर्वप्राणातिपातविरति’ की ऐसी प्रतिज्ञा है, जो मनुष्य को ‘अहिंसा-महाव्रती’ और जीव मात्र का रक्षक बना देती है। वह किसी की भी हिंसा नहीं करने का संकल्प धारण कर, उसका दृढ़ता के साथ पालन करता है। परिणामतः वह न केवल अन्य जनों की सुख-सृष्टि में योगदान करता है, अपितु स्वयं अपने लिए भी अद्भुत सुख की रचना कर लेता है। उसकी आत्मा राग-द्वेषादि सर्व कल्मष एवं दुर्भावों से मुक्त होकर शुद्ध तथा शान्त रहती है, आत्मतोष के अमित सागर में निमग्न रहती है। अहिंसाव्रती के लिए यह एक संयम है और यही अन्य जन के लिए दया और रक्षा का भाव है। कदाचित् इसी भाव-श्लेष के कारण भगवान महावीर ने रक्षा, दया, सर्वभूत क्षेमकरी आदि का प्रयोग ‘अहिंसा’ के पर्याय रूप में किया है। एक चिन्तक ने लिखा है—

“अहिंसा आत्मनिष्ठ है, आत्मा से उपजती है और समानता की भावना से पुष्ट होती है। हिंसा की भावना से निवृत्त होने के पीछे अपने अनिष्ट की आशंका अधिक काम करती है। हिंसा से अपना पतन नहीं होता हो, तो शायद ही कोई अहिंसा की बात सोचे।”

यह पृथ्वी ग्रह नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं का एक अद्भुत समुच्चय है। विविध रंग-रूप, आकार-आकृति, गुण-धर्मादि के धारक होने के कारण ये समस्त प्राणी वैभिन्न्ययुक्त एवं अनेक

बर्गों में विभक्त हैं। बाह्य और प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर यह वैभिन्न्य स्वीकार करना ही पड़ता है, किन्तु यह एक स्थूल सत्य है। इसके अतिरिक्त एक सूक्ष्म सत्य और भी है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि विभिन्न प्राणी-वर्गों के घोर असाम्य के समानान्तर रूप में एक अमिट साम्य भी है। सभी प्राणी सचेतन हैं, सभी में आत्मा का निवास है। यह आत्मा सभी में एक सी है। आत्मा की दृष्टि से सभी प्राणी एक से हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा कई गुना अधिक सशक्त एवं विवेकशील है, तथापि आत्मा की दृष्टि से उसका स्थान भी अन्य प्राणियों के समकक्ष ही है। मनुष्य की कोई अन्य श्रेणी नहीं है। सचेतनता का धर्म मनुष्य का भी है और अन्य प्राणियों का भी। यह चैतन्य जीव-वर्ग में ऐसा व्याप्त है कि इसी आधार पर जीवों को शेष अजीवों से पृथक् करके पहचाना जा सकता है। सुख-दुःखादि की अनुभूति चैतन्य का ही परिणाम है। ये अनुभूतियाँ प्राणियों के लिए ही हैं, निर्जीव, जड़ पदार्थों के लिए नहीं, क्योंकि वे चेतनाहीन होते हैं।

समस्त सचेतन जीव दुःख से बचना चाहते हैं और सुखमय जीवन की कामना करते हैं। सुख प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक लक्ष्य होता है और सुख-प्राप्ति के मार्ग में आने वाली बाधक परिस्थितियाँ दुःखानुभव का कारण बनती हैं। जिस प्रकार यह सत्य है कि आत्मा की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं, सचेतनतावश सभी को सुख-दुःखादि का अनुभव होता है—उसी प्रकार यह भी सत्य है कि सुख अथवा दुःख का अनुभव कराने वाली परिस्थितियाँ भी सभी प्राणियों के लिए एक सी होती हैं। जिन बातों से एक प्राणी को कष्ट होता है, उनसे सभी प्राणी कष्टित ही होते हैं। इस प्रकार कोई सुखद विषय सभी के लिए सुखद होता है। इस सम्बन्ध में मनुष्य और इतर जीवों में भेद नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सभी आत्माएँ सुखकामी और दुःख-द्वेषी होती हैं।

सुखाकांक्षा आत्मा की सहज प्रवृत्ति है। श्रमण भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा था—

“सभी आत्माएँ सुख चाहती हैं। अतः सृष्टि के समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझो। किसी के लिए ऐसा कार्य मत करो, जो तुम्हारे लिए कष्टकारी हो।”

एक अन्य अवसर पर भगवान् ने अपने उपदेश में इस सिद्धान्त की सुस्पष्ट विवेचना की थी। उनका कथन था कि—“दूसरों से तुम जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम भी दूसरों के साथ करो।” उन्होंने यह भी कहा कि “जिस दिन तुम अपनी और दूसरों की आत्मा के मध्य भेद को विस्मृत कर दोगे—उसी दिन तुम्हारी अहिंसा की साधना भी सफल हो जायगी। अपने प्राणों की सुरक्षा चाहने वालों का यह कर्तव्य भी है कि वे दूसरों के जीवन-रक्षा सम्बन्धी अधिकार को भी मान्यता दें। यह अहिंसा का मूल मन्त्र है।”

भगवान् का अहिंसा सम्बन्धी यह उपदेश मात्र वाचिक ही नहीं था। उनका समग्र जीवन ही मूर्तिमन्त अहिंसा का रूप हो गया है। उन्हें नाना विध कष्ट दिये गये, किन्तु धैर्य और क्षमाशीलता के साथ वे उन सभी को सहन करते रहे। प्रत्याक्रमण का कोई भाव भी उनके मन में कभी उदित नहीं हुआ। अहिंसा की विकटतम कसौटियों पर वे इसी कारण सफल रहे कि वे सदा यह स्वीकार करते थे कि जैसा मैं हूँ, वैसे ही सभी हैं। मुझे किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए। यह हिंसा-त्याग का उच्चतम रूप है। सभी प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं और दूसरों की इस अभिलाषा में बाधक नहीं बनना ही मूलतः अहिंसा है।

विभिन्न युगों एवं विचारधाराओं के तत्त्व-विन्तकों ने अहिंसा की व्याख्या की है। यथा—

तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेषु अनभिद्रोहः
सर्व प्रकार से, सर्व कालों में, सर्व प्राणियों के

साथ अभिद्रोह न करना ही अहिंसा है। पातंजल योग के भाष्य में इस प्रकार अहिंसा की समुचित व्याख्या उपलब्ध होती है। वर्तमान शताब्दी में महात्मा गांधी अहिंसा के अनन्य पोषक हुए हैं। गांधीजी ने इस युग में अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त की अत्यन्त सशक्त पुनर्स्थापना की है। यही नहीं, भौतिकता के इस युग में अहिंसा के सफल व्यावहारिक प्रयोग का श्रेय भी उन्हें ही प्राप्त है। बापू ने अहिंसा को अपने जीवन में उतारा और पग-पग पर उसका पालन किया। एक स्थल पर अहिंसा के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है—
 “अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव है।” गांधीवाणी में यह विवेचन और भी स्पष्ट रूप से उद्घाटित हुआ है। वे लिखते हैं—

“पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मान-वेतर प्राणियों, यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।”

अहिंसा के सभी तत्त्ववेत्ताओं ने प्राणिमात्र को समान माना है। किसी भी आधार पर अमुक प्राणी को किसी अन्य की अपेक्षा छोटा अथवा बड़ा नहीं कहा जा सकता, महत्त्वपूर्ण अथवा उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। सूक्ष्म जीवों की प्राणी-हानि को भी कभी अहिंसा या क्षम्य नहीं समझा जा सकता। इस दृष्टि से हाथी भी एक प्राणी है और चींटी भी एक प्राणी है। दोनों समान महत्त्वशाली हैं। दोनों में जो आत्मा है वह एक-सी है—दैहिक आकार के विशाल अथवा लघु होने से आत्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। समस्त प्राणियों के रक्षण का विराट भाव ही अहिंसा का मूलाधार है। ध्यातव्य है कि सूक्ष्म जीवों की हानि में हिंसा को न्यूनता और बड़े जीवों की हानि में हिंसा की अधिकता रहती हो—ऐसा भी नहीं है। हिंसा तो हिंसा ही है। आत्मा-आत्मा में ऐक्य और अभेद की स्थिति रहती है। अतः प्राणी के दैहिक आकार

प्रकार या जगत के लिए किसी प्राणी का अधिक अथवा कम महत्त्वपूर्ण होना किसी की प्राण-हानि को अहिंसा नहीं बना सकता। प्राणिमात्र के प्रति समता का भाव, सभी के प्रति हितैषिता एवं बन्धुत्व का भाव, सभी के साथ सह अस्तित्व की स्वीकृति ही किसी को अहिंसक बना सकती है। इस आधार पर करणीय और अकरणीय कर्मों में भेद करना और केवल करणीय को अपनाना अहिंसाव्रती का अनिवार्य कर्तव्य है। यह एक प्रकार का संयम है, जिसे भगवान महावीर ने ‘पूर्ण अहिंसा’ की संज्ञा दी है—

‘अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो’

अहिंसा का यह पुनीत भाव मानव को विश्व-बन्धुत्व एवं जीव-मैत्री के महान गुणों से सम्पन्न कर देता है। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद का निम्न साक्ष्य भी उल्लेखनीय है—

‘विश्वस्याहं मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि’

अर्थात्—मैं समूचे विश्व को मित्र की दृष्टि से देखूँ। सभी शास्त्रों में अहिंसा को मानवता का मूल स्वीकारा गया है और सुखी जगत की कल्पना को क्रियान्वित करने का आधार माना गया है। अहिंसा व्यक्ति द्वारा स्व और परहित की सिद्धि का महान उपाय है। जैनधर्म में तो इस अत्युच्चादर्श का मूर्तिमन्त स्वरूप ही दीख पड़ता है। आचारंग सूत्र में उल्लेख है कि ‘सब प्राणी, सब भूत, सब जीव को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति द्वारा मरवाना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उन पर प्राणापहर उपद्रव करना चाहिए।’ वस्तुतः प्रस्तुत उल्लेख को अहिंसा से जोड़ा नहीं गया है, किन्तु ध्यापक दृष्टि से इसे अहिंसा का स्वरूप अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग में अहिंसा का एक स्पष्ट चित्र इस प्रकार उभर उठा है—

सव्वेहि अणुजुतोहि मतिमं पडलेहिया।

सव्वे अक्कंतेदुक्खा य अंतो सव्वे अहिसया।

एयं बु णाणिणो सारं जं न हिंसइ कंचणं ।
अहिंसा समयं चैव एतावंतं विजाणिथा ॥

अर्थात्—बुद्धिमान सब युक्तियों द्वारा जीव का जीवपन सिद्ध करके यह जाने कि सब जीव दुख के द्रोणी (जिन्हें दुख अप्रिय है) हैं तथा इसी कारण किसी की भी हिंसा नहीं करे। ज्ञानी पुरुषों का यही उत्तम ज्ञान है कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते।

‘सूत्रकृतांग’ का उक्तांश अहिंसाव्रत-पालन की दिशा में निश्चित मार्गदर्शन देता है। अहिंसा का आचरण करने वाला बुद्धिमान व्यक्ति ही यथार्थ में बुद्धिमान होता है। ऐसे बुद्धिमान के लिए अपेक्षित है कि—

—सर्वप्रथम तो वह सभी जीवों के समत्व को स्वीकारे और इस आधार पर बिना किसी प्रकार का भेद करते हुए सभी जीवों को समान रूप से महत्वपूर्ण समझे।

—उसके लिए यह तथ्य हृदयंगम करता भी आवश्यक है कि सभी प्राणी सुख की कामना करते हैं और दुःख सभी के लिए अप्रिय होता है।

—इन बातों को भली-भाँति समझकर उसे (बुद्धिमान को) किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

‘तिविहेण वि पाण मा हणे, आयहिते अनियाण संबुडे ।’

सूत्रकृतांग के प्रस्तुत अंश में अहिंसा की व्याख्या और भी सूक्ष्मता के साथ हुई है, जिसमें व्यक्त किया गया है कि मन, वचन और काया इन तीनों से किसी भी प्राणी को नहीं मारना चाहिए। इस मान्यता को और भी समग्रता की ओर ले जाने की दृष्टि से इसमें यह भी जोड़ा जा सकता है कि—
कृत, कारित, अनुमोदित—मनसा, वाचा, कर्मणा प्राणिमात्र को कष्ट न पहुँचाना ही पूर्ण अहिंसा है। इसी आशय का प्रतिविम्ब ‘आवश्यक सूत्र’ में भी मिलता है—

‘जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेण वाघाए काएणं
न करेमि न करवेमि करतंपि न समणुजाणामि’

प्रस्तुत उक्ति में ३ योग—मन, वचन और काय एवं ३ करण—करना, करवाना एवं अनुमोदन करना—की चर्चा है और कहा गया है कि मैं इनमें से किसी के द्वारा किसी की भी हिंसा नहीं करूँ। इन ३ योग और ३ करण के संयोग से ९ योग-करण स्थितियाँ बनती हैं, जो निम्नानुसार हैं—

(क) मन से—(१) हिंसा न करना (२) हिंसा नहीं करवाना (३) हिंसा का अनुमोदन नहीं करना।

(ख) वचन से—(४) हिंसा न करना (५) हिंसा नहीं करवाना (६) हिंसा का अनुमोदन नहीं करना।

(ग) काय से—(७) हिंसा न करना (८) हिंसा नहीं करवाना (९) हिंसा का अनुमोदन नहीं करना।

ये ९ मार्ग हैं, जिनमें से किसी का भी अनुसरण करने से व्यक्ति हिंसा का आचरण कर लेता है। इनसे वचकर ही कोई पूर्ण अहिंसा का पालन कर सकता है। हिंसा की अति सूक्ष्मतम अवस्थाओं को भी जैनान्तर ने अनुपयुक्त माना है। किसी अन्य जन द्वारा की गई हिंसा के प्रति यदि कोई व्यक्ति केवल समर्थन का भाव भी रखता है—चाहे उसे वह व्यक्त न भी करे—तो भी यह समर्थक व्यक्ति द्वारा की गई हिंसा होगी। जैन धर्म अहिंसा का इस महनता के साथ पालन किये जाने पर बल देता है। डा० वशिष्ठ नारायण सिन्हा ने इस स्वरूप को जैन दृष्टि से अहिंसा का वास्तविक और समग्र स्वरूप स्वीकारा है।

अहिंसा : निषेधमूलक भी और विधिमूलक भी

भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से ‘अहिंसा’ शब्द-रचना से निषेधात्मक विचार प्रकट होता है। अर्थात्—हिंसा का न करना ही अहिंसा है। स्पष्ट है कि किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट अथवा हानि पहुँचाना हिंसा है और ऐसे कृत्यों का परि-

त्याग ही अहिंसा है। अर्थात् शब्द का रूप है—अ + हिंसा। शब्द-रचना की दृष्टि से भले ही यह विवेचन तर्कसंगत लगता हो, किन्तु इससे जैनाचार की व्यापक एवं सूक्ष्म अहिंसा का स्वरूप उजागर नहीं हो पाता। वस्तुतः अहिंसा का स्वरूप इसकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है। निषेधात्मक दृष्टिकोण तो बड़ा सीमित है कि किसी को कष्ट मत पहुँचाओ, जबकि अहिंसा की विशाल परिधि में यह भी प्राधान्य के साथ सम्मिलित किया जाता है कि सभी जीवों के लिए यथासम्भव रूप में सुख के कारण बनी। अर्थात् अहिंसा का सिद्धान्त न केवल निषेधमूलक, अपितु विधियुक्त भी है। अहिंसा निवृत्ति (न करने) की प्रेरणा ही देती है—ऐसा विचार भ्रामक एवं अपूर्ण है। इसमें प्रवृत्ति का पक्ष भी है कि सभी के सुख के लिए कुछ करते रहो।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयं किसी के प्राणों की हानि नहीं करना (निवृत्ति या निषेध) तो अहिंसा है ही, किन्तु जब किसी के प्राणों को किसी अन्य के कार्य से हानि का संकट हो, तब भी अहिंसक व्यक्ति का कुछ दायित्व बनता है। उसे चाहिये कि संकटग्रस्त प्राणियों की रक्षा करे। यह रक्षा करना प्रवृत्ति है, विधि है। इसके अभाव में अहिंसा का स्वरूप मर्यादित, सीमित और अपूर्ण ही रहेगा। अस्तु न मारने मात्र में ही नहीं, अपितु रक्षा भी करने में पूर्ण अहिंसा का वास्तविक स्वरूप निखरता है। यहाँ यह तथ्य भी विशेषतः ध्यातव्य है कि निवृत्ति अथवा निषेध अकेला जिस प्रकार अहिंसा का समग्र स्वरूप नहीं है—उसी प्रकार प्रवृत्ति या विधि अकेली भी अहिंसा के समग्र स्वरूप को व्यक्त करने में असमर्थ रहती है। वस्तुतः निषेध एवं विधि दोनों पक्ष परस्पर पूरक हैं और दोनों मिलकर ही अहिंसा की विराट भाव भूमि का निर्माण कर पाते हैं। केवल निषेधात्मक रूप में अहिंसा का निर्वाह कोई कठिन कार्य नहीं होता। 'कुछ' नहीं करना तो सुगम है,

केवल कुछ संयम की ही अपेक्षा इसमें रहती है। यह दुष्कर नहीं, श्रमासाध्य तो कदापि नहीं होता। वह मनोवृत्ति मनुष्य को अकर्मण्य बना देती है। वह कुछ भी करने से कतराने लगता है। यह भी भय रहता है कि केवल निषेधमूलक अहिंसा का निर्वाह करने वाला व्यक्ति एकान्त-सेवी एवं जगत से तटस्थ होकर मानवेतर प्राणी की भांति जीवन-यापन करने लग जायगा। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के जीवन की अहिंसा की कसौटी पर कसना भी कठिन हो जायगा। किसी भी अहिंसक का गौरव तो इसमें निहित रहता है कि वह ऐसे वातावरण में भी रहे, जिसमें हिंसायुक्त कर्मों की प्रेरणा मिलती हो, फिर भी उससे प्रभावित हुए बिना वह पूर्णतः अहिंसक ही बना रहे।

इस प्रकार अहिंसा को इसकी व्यापक भावभूमि के साथ समझना ही समीचीन है एवं उसी व्यापक रूप में उसका आचरण ही वास्तव में किसी व्यक्ति को अहिंसक होने का गौरव प्रदान कर सकता है। प्रवृत्तिमूलक अहिंसा से ही व्यक्ति-मानस की सच्ची हितैषिता एवं बन्धुत्व का परिचय मिलता है और यही वह पक्का आधार है, जिससे किसी का अहिंसापूर्ण आचार पहचाना जा सकता है। यह प्रवृत्ति मूलक पक्ष अहिंसा की गरिमा को न केवल विकसित करता है, अपितु यह उसका निर्माता भी है। कारण यह है कि अहिंसा को जैनाचार में केवल निषेधमूलक स्वीकार ही नहीं किया गया है।

अहिंसा की कसौटी

अहिंसा का मूलतत्त्व जब प्राणिमात्र के लिए सुख का कारण बने रहना है—किसी भी प्राणी का घात न करना है, तो यह प्रश्न उभर आता है कि क्या किसी के लिए इस प्रकार का अहिंसात्मक आचरण अपने समग्ररूप में सम्भव है? जीवन की नाना प्रवृत्तियों और कर्मों में ऐसे अगणित प्रसंग बन जाते हैं, जब व्यक्ति अन्य प्राणियों के लिए कष्ट का कारण, यहाँ तक कि प्राणहंता बन जाता

है। अहिंसाव्रत का दृढ़तापूर्वक पालन करने का अभिलाषी होते हुए भी उससे ऐसे कार्य ही जाते हैं और इन कार्यों तथा इनके परिणामों से भी वह अवगत नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ, चलने-फिरने में ही अनेक जीवों का हनन हो जाता है। तो क्या वह अहिंसाव्रत से भ्रष्ट समझा जाना चाहिए? क्या उसका जीवन पापमय है?

कहा जाता है कि इसी प्रकार की समस्या भगवान महावीर के समक्ष प्रस्तुत करते हुए जिज्ञासु शिष्य गौतम ने जीवन को पापरहित करने का उपाय जानना चाहा था। उत्तर में भगवान ने अपने उपदेश में कथन किया कि जीवन की नाना-प्रवृत्तियाँ न केवल स्वाभाविक, अपितु अनिवार्य भी हैं, जिन्हें मनुष्य को करना ही होता है। इन प्रवृत्तियों से हिंसा-अहिंसा का प्रश्न भी जुड़ा रहता है, किन्तु ये भिन्न प्रवृत्तियाँ अपने आप में न पाप हैं न पुण्य हैं। विवेक—यतना ही इनकी कसौटी है। ये सारे कार्य यदि विवेक के साथ, सावधानी के साथ, यतना के साथ किये गये हैं तो कर्त्ता का जीवन स्वयं अपने लिए और जगत के लिए भी सुख-दायक होगा। इसके विपरीत अविवेक या अयतना के साथ यापित जीवन दुःखमूलक होगा। यही अविवेक पाप का कारण होगा, हिंसा का आधार होगा। इस प्रकार विवेक और अहिंसा का घनिष्ठ नाता है। जहाँ विवेक है, वहीं अहिंसा भी होगी।

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोहं हिंसा—

अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है वही हिंसा है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति का अहिंसा विषयक प्रस्तुत सूत्र यह इंगित करता है कि प्राणिमात्र के रक्षण के भाव में ही अहिंसा निहित होती है।

अहिंसा के रूप

मौटे तौर पर हिंसा का अभाव ही अहिंसा है। अतः अहिंसा की स्पष्ट समझ के लिए हिंसा का स्वरूप जानना अनिवार्य है। जैन-चिन्तन में हिंसा के दो रूप माने गये हैं—

(१) भावहिंसा (२) द्रव्यहिंसा

भावहिंसा का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के मन से है। हिंसा का यह मानसिक स्वरूप है, जो उसकी भूमिका तैयार करता है। व्यक्ति अन्य प्राणियों की हानि अहित करने का विचार मन में ले आये, चाहे वह अहित कर पाये अथवा नहीं—यह उसके द्वारा की गई भावहिंसा कहलाती है। हिंसा का यह ऐसा रूप है, जो अन्य प्राणियों के लिये अहितकर चाहे न हो, किन्तु स्वयं उस व्यक्ति के लिये घोर अनिष्टकारी होता ही है। राग-द्वेष, मोह, लोभ, क्रोधादि के भाव इस प्रकार की मानसिक हिंसा के उत्प्रेरक होते हैं और ये आत्मा को क्लुषित एवं पतित कर देते हैं। यह हिंसा आत्म-विनाशक होती है। अहिंसा की साधना के लिए सर्वप्रथम भावहिंसा पर ही नियन्त्रण करना होता है। यही नियन्त्रण संयम है। इसके लिए अपनी कुमनोवृत्तियों का दमन करना होता है। इस सन्दर्भ में भगवान महावीर स्वामी का उपदेश है कि बाहरी शत्रुओं से नहीं, अपने भीतरी शत्रुओं से युद्ध करो और विजयी बनो। इस विजय का उपहार होगा—संयम और उसकी अभिव्यक्ति अहिंसा के रूप में होगी। यह संयम अहिंसात्मक आचरण द्वारा स्वयं संयमी के जीवन को उन्नत और सुखमय बनाता है।

द्रव्यहिंसा का परिणाम भौतिक या वास्तविक रूप में प्रकट होता है। मानसिक हिंसा की भाँति वह विचार तक मर्यादित न रहकर व्यवहार में परिणत हो जाता है। मन में कषाय का उदय होना भावहिंसा है और मन के भाव को वचन और क्रिया का रूप देना द्रव्यहिंसा है—स्थूल हिंसा है। प्रमादवश किसी का प्राणापहरण ही हिंसा है। अर्थात् कषाय-भाव के साथ किया गया अहितकर कार्य ही हिंसा है। यदि वास्तव में अहित हो गया है, किन्तु उसके मूल में कषाय या प्रमाद नहीं है, तो वह हिंसा नहीं है। वह अहित 'हो गया' है।

कर्त्ता द्वारा किया नहीं गया है। भावहिंसा और प्रमाद अवस्था के अभाव में यदि किसी प्राणी की हिंसा हो गयी है, तो वह पाप की परिधि से परे है, केवल द्रव्यहिंसा है। आचार्य भद्रबाहु का कथन इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है—

“अपने नियमों के साथ यदि कोई साधक चलने के लिये विवेकपूर्वक पाँव उठाये, फिर भी यदि कोई जीव पाँवों तले आकर नष्ट हो जाय, तो साधक को इसका पाप नहीं होगा। कारण यह है कि साधक की भावना निर्मल थी, वह अपने नियमों में पूर्णतः सज्ज था।”

सारांश यह है कि अहिंसा का निर्वाह तभी संभव है जब हम भावहिंसा से बचते रहें। भाव-हिंसा अकेली ही पाप के लिए पर्याप्त है। द्रव्य-हिंसा भी पाप तभी बनेगी जब वह 'केवल' द्रव्य-हिंसा न रहकर भावहिंसा के परिणाम रूप में होगी। भावहिंसा और द्रव्यहिंसा के आधार पर हिंसा को निम्नानुसार वर्गीकृत किया जाता है—

(१) भावरूप में और द्रव्यरूप में— जहाँ हिंसा का कुमनोभाव भी हो और बाह्यरूप में भी हिंसा की जाय। इस स्थिति में हिंसा का वास्तविक और घोर रूप होता है।

(२) भावरूप में हिंसा किन्तु द्रव्यरूप में नहीं— कुमनोभाव या कषाय तो हो, किन्तु उसकी क्रियान्विति किन्हीं कारणों से संभव न हो पाय। यह भी हिंसा ही है, जिससे मनुष्य का अपना ही अहित होता है।

(३) भावरूप में नहीं किन्तु द्रव्यरूप में हिंसा— जहाँ हिंसा तो हो गयी हो, किन्तु कर्त्ता का प्रमाद या कषाय उसके पीछे नहीं रहा हो। वास्तव में यह हिंसा नहीं मानी जाती। यह भी अहिंसा का ही एक रूप है।

(४) न भावरूप में और न द्रव्यरूप में— जहाँ न तो कषाय ही रहा हो और न ही बाह्यरूप में हिंसा हुई हो। यह सर्वथा अहिंसा ही है।

आज विश्वभर में समस्त नैतिकताएँ विघटित होती चली जा रही हैं, वे व्यवहार-क्षेत्र से निष्कासित होकर मात्र पठन-पाठन की विषय रह गयी हैं। यदि यही क्रम निरन्तरित रहा, तो सम्भवतः नैतिकताएँ मात्र पुस्तकों में ही विद्यमान रह जायेंगी। कदाचित् उनकी ओर ध्यान देने का श्रम भी कोई नहीं करेगा। अहिंसामार्ग भी इसका अपवाद नहीं है, किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि नैतिकताओं की उपेक्षा ने मनुष्य को मानवतारहित बना दिया है, उस पर अपार दुःख-घटाएँ मंडरा रही हैं और आतंक का बोलबाला हो रहा है। यदि मनुष्य अहिंसा को दृढ़तापूर्वक अपना ले तो संसार का रूप ही परिवर्तित हो जायेगा। घृणा, द्वेष, पर-अहित, लोभ, मोह आदि विकार अहिंसा के अपनाव से नष्ट हो जायेंगे और सर्वत्र सुख-शांति का साम्राज्य हो जायेगा। व्यक्ति अहिंसा से अपना भी और जगत् का भी कल्याण करेगा। आवश्यकता इसी बात की है कि मनुष्य अपने में अहिंसा के प्रति आस्था का भाव जागृत करे। अहिंसा का जो विराट रूप है—वह व्यवहार्य है, उसे अपनाया जा सकता है और उसके सुपरिणाम सुनिश्चित हैं— यह भाव जब तक मनुष्य के मन में सबल नहीं होगा, वह अहिंसा को कोरा सिद्धान्त मानता रहेगा और इस सुख की कुञ्जी से दूर पड़ा रहेगा।

वस्तुतः अहिंसा को अपनाने के मार्ग में कोई जटिलता नहीं है। आत्म-नियन्त्रण या संयम से यह मार्ग सुगम हो जाता है। अहिंसा के सहायक भावों को सबल बनाना और विरोधी भावों की उपेक्षा करना ही एक प्रकार से यह संयम है। जीव मैत्री, कृपा, पर-गुण-आदर, माध्यस्थ (विपरीत वृत्ति वालों पर भी क्रोध न करना) आदि ऐसे ही अहिंसा-सहायक भाव हैं, जिनके सतत अभ्यास से मनुष्य अहिंसा महाव्रती हो सकता है। इसके लिए उसे साथ ही साथ क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से भी स्वयं को मुक्त रखना होगा। क्षमा,

नम्रता, सरलता, सन्तोष आदि उपर्युक्त कषायों के सशक्त उपचार हैं। इनका अभ्यास अहिंसा-मार्ग के अवरोधों को दूर कर देता है और मनुष्य को अहिंसाव्रती बनाकर उसे स्व-जीवन एवं जगत के कल्याण के लिए समर्थ कर देता है।

गृहस्थ की अहिंसा

हिंसा न करना—अहिंसा है। यह हिंसा जो अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाने अथवा उनके प्राण-अपहरण से हो जाती है—उसके पीछे कर्ता का प्रयोजन रहा है अथवा नहीं—इस आधार पर हिंसा ४ प्रकार की होती है—

- (१) संकल्पी हिंसा
- (२) उद्योगी हिंसा
- (३) आरम्भी हिंसा
- (४) विरोधी हिंसा

किसी जीव का कोई अपराध न हो, हमारे मन में उसके प्रति क्रोध या प्रतिशोध का भाव न हो, तथापि जान-बूझकर हम उसका प्राण-हरण करें—यह संकल्पी हिंसा है। उस दशा में मनुष्य के मन में जीव का वध करने का स्पष्ट उद्देश्य होता है। आखेटक शस्त्रादि से सज्जित होकर, वन में जाकर वन्य प्राणियों का शिकार करता है अथवा वधिक निरीह भेड़-बकरियों का वध करता है। यह संकल्पी हिंसा कहलाती है। आजीविका के लिए मनुष्य को नाना प्रकार से उद्योग-व्यवसायादि करने पड़ते हैं। कोई खेती करता है, तो कोई कल-कारखानों में काम करता है, कोई सैनिक हो जाता है तो कोई व्यापार करता है। इन विभिन्न जीविका-साधनों—खेती, श्रम, युद्ध, व्यापार आदि को अपना-ने में मनुष्य से जो हिंसा जाने-अनजाने में हो जाती है—वह उद्योगी हिंसा है। जीवन के अति सामान्य क्रिया-कलाप सम्पन्न करने—जैसे भोजन तैयार करने आदि में जो हिंसा हो जाती है वह आरम्भी हिंसा कहलाती है और इसी प्रकार अपनी

अथवा दूसरों की रक्षा के लिए जो हिंसा हो जाती है, वह विरोधी हिंसा कहलाती है।

जैसा कि अन्यत्र हमने विवेचित किया है, जैन-धर्मानुसार समस्त जीव दो वर्गों में विभक्त हैं—स्थावर एवं त्रस। जो जीव हमें चलते-फरते स्पष्टतः दिखाई देते हैं, वे त्रस हैं। इसके विपरीत नग्न चक्षुओं से जो जीव साधारणतः दिखाई नहीं देते, होते अवश्य हैं किन्तु अति सूक्ष्म होते हैं, वे स्थावर कहलाते हैं जैसे वायु, मिट्टी, जल आदि के जीव। विभिन्न उपकरणों की सहायता से इन्हें देखा भी जा सकता है। गृहस्थ श्रावक स्थावर जीवों की रक्षा का यथाशक्ति प्रयत्न करता है। इस निमित्त से वह अनावश्यक रूप में मिट्टी नहीं खोदता, पानी को खराब नहीं करता आदि सावधानियाँ रखता है। इसी प्रकार वनस्पतियों को न काटना, अनावश्यक रूप से अग्नि प्रज्वलित न करना, हवा को विलोडित न करना आदि भी अन्य प्रकार की सावधानियाँ हो सकती हैं। त्रस जीवों का जहाँ तक सम्बन्ध है गृहस्थ उनकी संकल्पी हिंसा का परित्याग करता है। इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा के परित्याग में मनुष्य की कोई विशेष हानि होती, न यह दुष्कर है और न इसके कारण कोई विशेष अभाव उत्पन्न होता है।

संकल्पी हिंसा के पीछे मनोविनोद (शिकार), मांसाहार प्राप्त करना आदि जैसे तुच्छ उद्देश्य निहित होते हैं। इस दृष्टि से जीवन को विपरीत रूप से प्रभावित करने का भय संकल्पी हिंसा के त्याग में नहीं होता। ये ऐसे प्रयोजन नहीं हैं, जिनके बिना जीवन का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता हो। मनोविनोद के भी अन्य अनेक स्रोत हैं और आहार की भी कोई कमी नहीं है। मांसाहार के परित्याग से कोई अभाव नहीं उत्पन्न होता। विभिन्न प्रकार के अन्न, फल, वनस्पति आदि मनुष्य के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक आहार के रूप में इस धरती पर उपलब्ध हैं। मांस मनुष्य का

प्राकृतिक आहार नहीं है। मनुष्य के दाँतों और आँतों की बनावट से भी यह ज्ञात होता है कि प्रकृति ने उसे मांसाहारी नहीं बनाया है। धर्म के नाम पर भी प्रायः संकल्पी हिंसा होते देखी जाती है। देवियों को प्रसन्न करने के लिए अपनी आराधना का एक अनिवार्य तत्व मानते हुए शाक्त जन निरीह पशुओं—भेड़, बकरे, भैंसों आदि की बलि देते हैं। नृसंतापूर्वक उनका वध कर दिया जाता है। कहीं-कहीं तो नरबलि भी दी जाती है। इस प्रसंग में यही कहना उपयुक्त होगा कि यह हिंसक व्यापार यथार्थ में किसी आराधना का भाग नहीं हो सकता। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने का यह न तो कोई साधन है और न ही देवी-देवता ऐसे कार्यों से प्रसन्न हो सकते हैं। यह मात्र अन्ध-विश्वास है, जो दुर्बल निरीह प्राणियों के विनाश का कारण बन जाता है। गृहस्थों, विशेषतः जैन गृहस्थों के लिए यह अनिवार्य है कि वे किसी भी परिस्थिति में स्वाद तथा उदर पूर्ति के लिए, मनोरंजन के लिए अथवा धर्म के नाम पर भी किसी प्राणी का घात न करें।

यहाँ एक आक्षेप पर भी विचार करना उपयुक्त होगा। कुछ कुतर्की यह कह सकते हैं कि जैन धर्मानुसार मांस-भक्षण वर्जित है, यह धर्म वनस्पति में भी सजीवता स्वीकार करता है—ऐसी दशा में शाकाहार भी एक प्रकार से मांसाहार ही होता है और शाकाहार को भी वर्जित माना जाना चाहिए। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमारा ध्यान इस ओर केन्द्रित होना चाहिए कि वनस्पति में मांस नहीं होता। देह संरचना के लिए आवश्यक सात धातु माने गये हैं। सप्त धातुमय कलेवर ही मांस है और हमें यह जानना चाहिए कि वनस्पति में सप्त धातु नहीं होते। निरामिष जनों के लिए शाकाहार में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। केवल तर्क के लिए ही यह तर्क दिया जाता है कि शाकादि में भी सजीवता के कारण मांस होता है। कतिपय व्यक्ति मांसाहार को उस उवस्था में आपत्तिजनक

नहीं मानते, जबकि वे स्वयं मांस-प्राप्ति के लिए किसी जीव का घात नहीं करते हों। अर्थात् वधिक द्वारा वध किये गये पशु के मांस-भक्षण में वे किसी हिंसा को स्वीकार नहीं करते। ऐसी मान्यता भी भ्रामक है। हिंसा यदि स्वयं उस व्यक्ति ने नहीं की तब भी वह वधिक के लिए हिंसा का प्रेरक अवश्य रहा है। उसने हिंसा करवाई है। ऐसी दशा में वह अहिंसक कैसे हो सकता है? साथ ही मरण के तुरन्त पश्चात् मांस में अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। मांसभक्षण में उनकी हिंसा तो होती ही है। फिर हमारा ध्यान मांसाहारी होने के दूरगामी परिणामों की ओर भी जाना चाहिए। मांसाहार से एक प्रकार की कुबुद्धि पैदा होती है जो व्यक्ति को अन्य जीवों के प्राणघात के लिए उत्तेजित करती रहती है। वह आज नहीं है तो कल अवश्य ही प्रत्यक्ष हिंसक भी बन जाता है। सृष्टि के प्राकृतिक रूप से जितने मांसाहारी जीव हैं वे सभी हिंसक भी हैं, जैसे सिंह।

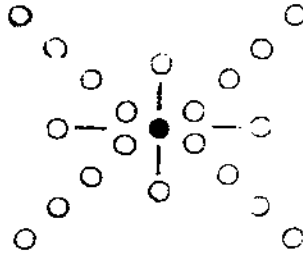
यह तो हुई चर्चा संकल्पी हिंसा की, जिसमें त्रस जीवों के घात का प्रसंग रहता है। जैसा कि वर्णित किया जा चुका है—इस प्रकार की हिंसा का परित्याग प्रत्येक गृहस्थ के लिए सुगम एवं सम्भाव्य है। गृहस्थ के लिए उद्योगी हिंसा का सर्वथा परित्याग सम्भव नहीं है। व्यक्ति को अपने और अपने आश्रितों के जीवन-निर्वाह के लिए जीविका के किसी उपाय को अपनाना ही पड़ता है। ऐसी दशा में यथाव्यवसाय कुछ न कुछ हिंसा हो जाने की आशंका बनी ही रहती है। तथापि गृहस्थ को विचारपूर्वक ऐसे कार्य को अपनाना चाहिए जिसमें अन्य जीवों को कम से कम कष्ट पहुँचे। यह तो उसके लिए शक्य है हो। यदि इस विचार के साथ गृहस्थ अपने उद्यम का चयन करता है, तो उसमें होने वाली दुर्निवार हिंसा क्षम्य कही जा सकती है। आरम्भो हिंसा के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ को भोजन भी तैयार करना पड़ता है, जल का प्रयोग भी

करना पड़ता है, विचरण भी करना ही पड़ता है। इन सामान्य व्यापारों में जो स्थावर जीवों की हिंसा हो जाती है, उससे भी वह सर्वथा बचा नहीं रह सकता। इस सन्दर्भ में भी विवेकपूर्वक गृहस्थ को इस विधि से कार्य सम्पन्न करने चाहिए कि यह हिंसा यथासम्भव रूप से न्यूनतम रहे।

गृहस्थ जनों के लिए विरोधी हिंसा का सर्वथा परित्याग भी इसी प्रकार पूर्णतः शक्य नहीं कहा जा सकता। गृहस्थ इतना अवश्य कर सकता है, और उसे ऐसा करना चाहिए कि वह किसी से अकारण विरोध न करे। किन्तु यदि विरोध की उत्पत्ति अन्य जन की ओर से उसके विरुद्ध हो—तो उसे अपनी रक्षा का प्रयत्न करना ही होगा। उस पर रक्षा का दायित्व उस समय भी आ जाता है, जब कि दुर्बल जीव पर प्राणों का संकट हो और वह उससे अवगत हो। स्वयं बचना और अन्य को बचाना दोनों ही उसके लिए अनिवार्य हैं। अहिंसा की दुहाई देते हुए ऐसे अवसरों पर आत्म-रक्षा का प्रयत्न न करते हुए आक्रमण को झेलते रहना या दुबककर घर में छिप जाना—अहिंसा का लक्षण नहीं है। यह तो मनुष्य की कायरता होगी जिसे वह अहिंसा के आचरण में छिपाने का प्रयत्न करता है। ऐसा आचरण अहिंसक जन के लिए भी समीचीन नहीं कहा जा सकता। अहिंसा कायरों के लिए नहीं बनी, वरन् वह तो धीरों और वीरों का एक वास्तविक लक्षण है। ऐसा माना जाता है कि ऐसी अहिंसा (कायरतामूलक) की अपेक्षा तो हिंसा कहीं अधिक अच्छी होती है। अहिंसा तो निर्भी-

कता उत्पन्न करती है। जो निर्भीक है वह कायरता का आचरण कर ही नहीं सकता। अहिंसा और शौर्य दोनों ऐसे गुण हैं जो आत्मा में साथ-साथ ही निवास करते हैं। शौर्य का यह गुण जब स्वयं आत्मा के द्वारा ही प्रकट किया जाता है तब वह अहिंसा के रूप में व्यक्त होता है और जब काया द्वारा उसको अभिव्यक्ति होती है, तो वह वीरता कहलाने लगती है।

जैन धर्म पर आई विपत्ति को जो मूक दर्शक बनकर देखता रहे, उसका प्रतिकार न करे—वह सच्चा अहिंसक जैनी नहीं कहला सकता। धर्म-रक्षण के कार्य को हिंसा की संज्ञा देना भी इसी प्रकार की कायरता मात्र है। ऐसा ही देश पर आई विपत्ति के प्रसंग में समझना चाहिए। यह सब रक्षार्थ किये गये उपाय हैं। रक्षा का प्रयत्न न करने में अहिंसा की कोई गरिमा नहीं रहती। अहिंसा तेजरहित नहीं बनाती, वह अपना सब कुछ नष्ट करा देना नहीं सिखाती। अहिंसा दास बनने की प्रेरणा भी नहीं देती। इतिहास साक्षी है कि जब तक भारत पर अहिंसा-व्रती जैन राजाओं का शासन रहा, वह किसी भी विदेशी आक्रान्ता के समक्ष नतमस्तक नहीं हुआ, किसी के अधीनस्थ नहीं रहा। अहिंसा प्रत्येक स्थिति में मनुष्य के चित्त को स्थिर रखती है, कर्त्तव्य का बोध कराती है और उस कर्त्तव्य पर उसे दृढ़ बनाती है। यही अहिंसा गृहस्थ को आत्म-गौरव से सम्पन्न बनाती है, उसे निर्भीक और वीर बनाती है।



दीक्षा सप्तविंशतिः

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के शिष्य
—रमेशमुनि शास्त्री

शादूर्ल विक्रीडितम्

दीक्षेयं शिवदायिनी द्रुततरं कर्मोष विध्वंसिनी ।
लोकालोक समस्त वस्तु विषया ज्ञानस्य सम्पादिनी ।
नानादुःख दवानलं शमयितुं कादम्बिनी संनिभा ।
तत्दीक्षां सुतरां श्रयन्तु मनुजाः वाञ्छन्ति सौख्यं यदि ॥१॥

वेराग्याश्रितमानसाः प्रतिपलं सद्दयाननिष्ठान्विताः ।
श्रद्धाशोल विशेष भाव भरिताः संपून चित्तालयाः ।
सारासार विचार चारु चरिताः सद्भाव संपूरिताः ।
चैवंभूतगुणान्विताः नरवराः दीक्षां ग्रहीतुं क्षमाः ॥२॥

दीक्षायाः महिमानमाकलयितुं नाहं स्वयं शक्तिमान् ।
पूर्णं पूरयितुं जलं जलनिधेः मर्त्यो घटे नो क्षमः ।
तस्याः गौरवमेव गालुमतुलं लीनं मदीयं मनः ।
प्राप्तं मुक्तिफलं तदीयमखिलं ना गौरवं ज्ञायते ॥३॥

कोऽसौ सम्प्रति मानवो जलनिधेः कृत्स्नं जलं पूर्णतः ।
कस्मिंश्चित् क्षमते घटे घटयितुं श्रेष्ठ प्रमाणान्विते ।
नागस्त्योऽपि स साम्प्रतं क्वचिदपि क्षमायास्तले दृश्यते ।
येनापायि पिपासयेव सकलं तन्नीरमालोक्य ॥४॥

किं प्राप्यं ? सुखमुत्तमं कुत इदं ? मोक्षात् सु लभ्यं कथम् ?
सदरत्नत्रयधारणाद्, इदमपि क्षिप्रं कथं लभ्यताम् ? ।
मिथ्यात्वस्य विवर्जनात् कथमिदं ? श्रद्धानभावात् दृढात् ।
सोऽप्यज्ञाय कुतो भवेज् ? जिनपतेः, वाचाविचाराश्रयात् ॥५॥

दीक्षाऽसीमसुखावहा प्रतिपदं सम्माननादायिनी ।
क्षिप्रं सर्वमनोरथांश्च सफलान् कर्तुं प्रकामं क्षमा ।
सर्वेषामपि कर्मणामथचयं ध्वंसं नयत्यञ्जसा ।
तस्मादात्महितैषिभिर्भविजनैः सा धार्यतां मुक्तिदा ॥६॥

कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ : परिशिष्ट

५७७

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

वसन्ततिलका

दीक्षाऽऽर्हन्ती सुखयति क्षमया विशिष्टा दीक्षां श्रयन्ति मनुजा धृतमोहमायाः ।
किं दीक्षया न सुलभं सुधियां मुनीनाम् तद् गृह्यतां सपदि बान्धववर्यं दीक्षा ॥७॥
जन्मान्तरेषु विहितं बहुपुण्यकर्म तप्तं तपश्च विविधं चिरमत्रयेन ।
दीक्षां स एव लभते भवभीति भीतः कर्मारिचक्रकृतपीडननाशदक्षाम् ॥८॥
दीक्षां विना न हि कदाचन मुक्ति लब्धिः सर्वातिशायिपदवो जगदर्चनीया ।
सांसारिकञ्च विविधाभ्युदयादिकं वा हेतुं विना प्रभवतीह न कार्यसिद्धिः ॥९॥

उपजाति वृत्तम्

विरागशीलः प्रशम स्वभावः सुधी जनोऽयं विनयो विवेकी ।
दीक्षां समासाद्य समेति मुक्तिं सोऽयं पुनीतः शिरसा प्रणम्यः ॥१०॥
समेत्य पार्श्वं गुरु पुष्कराणाम् शिक्षा मयाऽलम्बि तदावबुद्धम् ।
शिक्षाऽऽद्य हेतु भवतीह दीक्षा तत्कार्यमस्तीह न संशयः स्यात् ॥११॥

अनुष्टुप्

दीक्षायाः गौरवं गानुं प्रवर्ते मन्दधीरहम् । साफल्यं सुलभं नास्ति षटे किं माति सागरः ॥१२॥
शब्ददृष्ट्या दरिद्रोऽपि, बहूदारो भवाम्यहम् । तद्वर्णने परं चित्रं, श्रद्धया किं न जायते ॥१३॥
चेतसा दीक्षितो नाहं वपुषा केवलं ततः । भ्रमाम्यहं भवारण्ये साम्प्रतं मम दुर्दशा ॥१४॥
अनादि कालतो जीवो ग्रस्तोऽयं कर्मरोगतः । चिकित्सा तस्य दीक्षेयं स्वस्थो जीवो भविष्यति ॥१५॥
महाव्रतैरियं जैनी, दीक्षा पञ्चभिर्गन्विता । रसायनं परं पुंसां हृदि धार्यसिद्धं वचः ॥१६॥
दीक्षा शिक्षां विना व्यर्था शिक्षा दीक्षां विना तथा ।

ज्योत्स्नां विना वृथा चन्द्रः ज्योत्स्ना चन्द्रं विना यथा ॥१७॥

ज्वाला समा ध्रुव दीक्षा प्रदग्धुं कर्म यष्टिकाम्, भव्यात्मन् गृह्यतां चेयं शुभं शीघ्रं विधीयते ॥१८॥
दीक्षारत्नं परं दिव्यं दीप्तिदीप्तं दिवानिशम् । ग्रहीतु मीयते योऽपि विज्ञेयः पुण्यवानयम् ॥१९॥
दीक्षाकार्यं द्रुतं कार्यं महत्कार्यं सदुत्तमम् । प्रमादो नैव कर्तव्यः कालो नायाति निर्गतः ॥२०॥
दीक्षा सुधा सदा पेया क्षीयेत कर्मणां विषम् । जायेत सुतरां शान्तिः शाश्वतं च सुखं भवेत् ॥२१॥
मोहमद्यं ध्रुवं त्यक्तं, मनसा येन धीमता । दीक्षां लब्धुं भवेद् योग्यः, समर्थ सर्वथा तथा ॥२२॥
दीक्षितः साधुतां लब्ध्वा साधुः साधुः स उत्तमः । दीक्षितोऽसाधुतां यातः साधुः साधुं न गच्छते ॥२३॥
समयस्य कृते कार्यं कार्यस्थापि कृते स च । सततं येन दीयेत स साधुः सफलो भवेत् ॥२४॥
जीवेऽजीवेऽपि पार्थक्यं दीक्षिते जीवने मया । संज्ञातं तत्त्वतो नूनं स्वानुभूतिः स्वयं प्रमा ॥२५॥

उपजाति

दीक्षा सुधेयं सुतरां सुखानाम् परं निधानं शिववर्त्म दीप्तिः ।
भव्यो जनो यो लभते हितां ताम् नमोऽस्तु तस्मै मनसा त्रिवारम् ॥२६॥
दीक्षा-महत्त्वं मनसा विमृश्य शिष्यो लघीयान् गुरुपुष्कराणाम् ।
मुनी रमेशो रचनां चकार गुरु प्रसादात् किमसाध्यमस्ति ॥२७॥



सम्माननीय सहयोगी

[साध्वीरत्न परम विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी म. के
अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन में उदारतापूर्वक
अर्थ सहयोग प्रदान करने वाले सहयोगी बन्धुओं के
शुभ नाम एवं चित्र तथा परिचय]

आधार स्तम्भ (रुपया पांच हजार के सहयोग प्रदाता)

- | | |
|--|---|
| <p><input type="checkbox"/> श्रीमान लाला फूलचन्द पवनकुमार जैन
सोने चाँदी के व्यापारी
मु. पो. कांधला, जिला-मुजफ्फरनगर (यू. पी.)</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् सोहनलाल जी सा. बोहरा
विमल ट्रेडर्स, मेनरोड,
P. सिन्धनूर, जिला-रायचूर (कर्णा.)</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमती धर्मानुरागिणी विद्यावती जैन
दीपचन्द जैन, आर. आर. ट्रेडर्स
३७ बनियान रोड, पायधुनी, बम्बई-३
जैन गोटास्टोर, किनारी बाजार
चाँदनी चौक दिल्ली-६</p> <p><input type="checkbox"/> स्वर्गीया मातेश्वरी विद्यावन्ती जैन
श्री बी. डी. जैन
श्रुति सिन्धेटिक्स प्रा. लि.
लोयरा, उदयपुर (राज.)</p> | <p><input type="checkbox"/> श्रीमती अनुराधा जैन
माणकचन्द अशोककुमार जैन
२/१ निखिल मुद्रणालयन, ग्लास फैक्ट्री
सुन्दरवास, उदयपुर (राज.)</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् प्रतापसिंह जी सुराणा
पो. कोठारिया, वाया-नाथद्वारा
जिला-उदयपुर (राज.)</p> <p><input type="checkbox"/> रमणभाई जयन्तोलाल पुनमिया
सोने चाँदी के व्यापारी
झण्डा बाजार, पो. वसई
जिला-थाणा (महा.)</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् रतनलालजी लहरीलालजी सिघवी
लहरीलाल, डालचन्द
सूरत टेक्सटाइल मार्केट
रिंगरोड, सूरत-२ (गुज.)</p> |
|--|---|

स्तम्भ (रुपया २५०० के सहयोग प्रदाता)

- | | |
|--|--|
| <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् रतनलाल जी मारू
मारू ब्रदर्स, अजमेर-जयपुर रोड,
पो. मदनगंज, जिला-अजमेर (राज.)</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् स्व० चुन्नीलाल जी सा. परमार,
पदराड़ा</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् चुन्नीलाल जी मोहनलाल जी भोगर
जसवन्तगढ़</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् शान्तिलाल जी लक्ष्मीलाल जी तलेसरा
जसवन्तगढ़</p> <p><input type="checkbox"/> श्री सम्पत्तिलाल जी सा. बोहरा
३६, ४० अश्विनी बाजार पो. उदयपुर (राज.)</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् शान्तिलाल जी गोटीलालजी मेहता
कपड़े के व्यापारी
मु. पो. डूंगला, जिला-चित्तौड़गढ़ (राज.)</p> | <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् गुलाबचन्द जी ताराचन्द जी परमार
पदराड़ा
विजय भारती सिल्क मील्स, X २१४७
सूरत टेक्सटाइल मार्केट
रिंगरोड सूरत-२</p> <p><input type="checkbox"/> श्री जैन महिला मण्डल,
जैनस्थानक, चाँदनी चौक दिल्ली</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् चाँदमल जी मेहता
ओसनाल मोहल्ला
मु. पो. मदनगंज
जिला-अजमेर (राज.)</p> <p><input type="checkbox"/> श्रीमान् रमेशभाई शाह
३१ गुजरात विहार विकासमार्ग
शककरपुर, दिल्ली ६२</p> |
|--|--|

५८० कुमुम अभिनन्दन ग्रन्थ : परिशिष्ट

□ श्रीमान् सुभाषचन्द जी गादिया
धनलक्ष्मी एण्ड कम्पनी
मु. पो. तुरवेकेरे जिला-टुमकुर (कर्णा.)

□ श्रीमान् अमरचन्द जी सा. एवं गांधी परिवार
गुरुकृपा मेटर्स नं. १६/२ डी. वी. जी. रोड
बसवन्तगुडी, गांधीबाजार बेंगलोर-४

□ सुदर्शन इलेक्ट्रीकल्स १४६ जुगनहली
II ब्लोक राजा जी नगर
बेंगलोर (कर्णा.)



सदस्य (रुपया एक हजार के सहयोग प्रदाता)

□ श्रीमान् गोपीलाल जी शिक्षोदिया
नाथद्वारा, जिला—उदयपुर (राज०)

□ श्रीमती देऊबाई कन्हैयालाल जी बागरेचा
नाथद्वारा, जिला उदयपुर (राज०)

□ श्रीमान् शंकरलाल जी सुराणा
पेट्रोल पम्प, बस-स्टैंड, नाथद्वारा

□ श्रीमान् शंकरलाल जी सा. बम्ब
कपड़े के व्यापारी, लाल बाजार
नाथद्वारा

□ श्रीमान् सोहनलाल जी सा सोनी
जैन ट्रान्सपोर्ट कम्पनी
बसस्टैंड, नाथद्वारा

□ श्रीमान् फतेहलाल जी सा. लोढ़ा
मंगल ज्वैलर्स, लाल बाजार, नाथद्वारा

□ श्रीमान् मोतीलाल जी सा. डागलिया
महावीरपुरा, नाथद्वारा

□ श्रीमान् चुन्नीलाल जी सा. डागलिया
महावीरपुरा, नाथद्वारा

□ श्रीमान् रंगलाल जी सा. डागलिया
लालबाजार, नाथद्वारा

□ श्रीमान् पन्नालाल जी मनोहरलाल जो राठोड़
महावीरपुरा, नाथद्वारा

□ एक गुप्तदानो महानुभाव
नाथद्वारा, उदयपुर

□ श्रीमान् माँगीलाल जी समधिया
नाथद्वारा, उदयपुर

□ श्रीमान् भगवतीलाल जी
अशोक कुमार जी तातेड़
कपड़े के व्यापारी पो. डूंगला, जि.—चित्तौड़गढ़

□ श्रीमान् चांदमल जी विरदीचन्द जी पोतलिया
डूंगला, जिला—चित्तौड़गढ़

□ श्रीमान् छगनलाल जी बागरेचा
६६ अशोक नगर, उदयपुर

□ श्रीमान् लक्ष्मीचन्द जी तालेड़ा
जयपुर (राज.)

□ श्री जैन महिला मण्डल, जैन स्थानक
अलवर (राज.)

□ श्रीमान् कालुलाल जी सिंघवी
उदयपुर (राज.)

□ श्रीमान् ललित कुमार जी बागरेचा
६० भोपालपुरा, उदयपुर

□ श्रीमान् श्रीचन्द हेमराज डोसी
अनाज के व्यापारी
मेड़ता सिटी

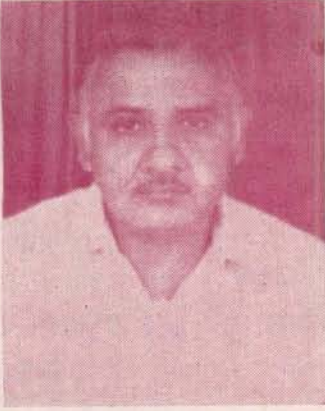
- श्रीमान् बांदमल जी पारसमल गोखरू,
गोटे के व्यापारी
नया बाजार, अजमेर
- श्रीमान् गोविन्दसिंह जी ज्ञामड
मदनगंज, जिला-अजमेर (राज.)
- श्रीमती रमादेवी उज्वल
मेरठ सिटी (उत्तर प्रदेश)
- श्रीमान् बंशीलाल जी लोढ़ा
गंज बाजार, अहमदनगर (महा०)
- एम० भीखमचन्द संचेती
६० मार्केट स्ट्रीट, पेरम्बूर मद्रास
- श्रीमान् खुर्माणिस जी सा. काफ्रेचा
मु. पो. सिघाड़ा, वाया-गोगुन्दा
उदयपुर
- श्रीमान् राजेन्द्रकुमार जी मेहता
सायरा, उदयपुर
- श्रीमान् नाथुलाल जी माद्रेचा
ढोल, वाया-गोगुन्दा उदयपुर
- श्रीमान् चुन्नीलाल जी कसारा
तिरपाल, जिला-उदयपुर
- श्रीमान् कालुलाल जी ढालावत
तिरपाल, जिला-उदयपुर
- श्रीमान् छोगालालजी डोसी
कम्बोल जिला-उदयपुर
- श्रीमान् केशुलाल जी तलेसरा
जसवन्तगढ़, उदयपुर
वरदीचन्द सुखलाल
पी./६५ टैक्सटाइल मार्केट
रिंग रोड, सूरत—२
- श्रीमान् भेरूलाल जी वच्छराज जी सिधवी
नान्देशमां, जिला-उदयपुर
- श्रीमती हीराबाई ताराचन्द जी बम्बोरो
सायरा, जिला-उदयपुर
शाह कन्हैयालाल ताराचन्द
माहीम रोड, पालघर (महा.)
- श्रीमती टमुबाई खेमराज जी बाफना
सेमड़, जिला-उदयपुर
उपासना ट्रेडर्स,
एल/१०७३ टैक्सटाइल मार्केट
रिंग रोड, सूरत—२
- श्रीचन्द जैन
जैन बन्धु, पंजाबी बाग
न्यू दिल्ली
- मोतीलाल जी भोगर
सायरा जिला-उदयपुर
- हस्तीमल जी धोखा
सायरा, जिला-उदयपुर
- फतहलाल जी भोगर
सायरा, जिला-उदयपुर
- रूपराज जी दौलतराज जी कोठारी
१३/२६७ कोठारी भवन,
नया बाजार, अजमेर
- किशनचन्द सुरेशकुमार बोहरा
१२/६/२६ बाजार स्ट्रीट
पी. ओ. चित्तूर
(आन्ध्रप्रदेश)
- श्रीयुत चुन्नीलाल जी सा. धर्मावत
आकाश दीप, चेटक सर्कल,
उदयपुर

सहयोगी सदस्य (रुपया पांच सौ के सहयोग प्रदाता)

- | | |
|--|--|
| <input type="checkbox"/> श्रीमती अंजना प्रदीपकुमार लोढा
संग्रामगढ़, जिला-भीलवाड़ा | <input type="checkbox"/> श्रीमान् पन्नालालजी धनपतलालजी बरड़िया
मदनगंज, जिला-अजमेर (राज.) |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् सम्पत्तमल जी चौधरी
फूलियाकलां, जिला-अजमेर | <input type="checkbox"/> श्रीमान् तेजराजजी सा. मोदी
मदनगंज, जिला-अजमेर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् भेरुलालजी सा. मेहता
डुंगला, जिला-चित्तौड़गढ़ | <input type="checkbox"/> श्रीमान् शिखरचन्द जी सा. कर्णावट
किशनगढ़, जिला-अजमेर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् नक्षत्रमल जी पितलिया
मंगलवाड़ चौराया, जिला-चित्तौड़गढ़ | <input type="checkbox"/> श्रीमान् मांगीलाल जी सा. ओरड़िया
वास, जिला-उदयपुर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् भंवरलालजी वसन्तीकुमारजी भडकत्या
सदर बाजार, चित्तौड़गढ़ (राज.) | <input type="checkbox"/> श्रीमती दाखीवाई वेणीचन्द जी
झगडावत की प्रेरणा से—
रोशनलाल जी झगडावत
डबोक जिला-उदयपुर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् मदनलालजी भडकत्या
नाथुलाल फतेहलाल भडकत्या
चित्तौड़गढ़ | <input type="checkbox"/> श्रीमान् कानमल भवरलाल जी चोपड़ा
जावद, नीमच सिटो जिला-मंदसौर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् सोहनलाल जी चोपड़ा
कपड़े के व्यापारी, चित्तौड़गढ़ | <input type="checkbox"/> श्रीमान् मदनलाल ज्ञानचन्द कावड़िया
कटला बाजार, मदनगंज, अजमेर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् सुन्दरलाल जी जैन
मीठारामजी का खेड़ा, चित्तौड़गढ़ | <input type="checkbox"/> श्रीमान् मोहनलाल खेमराज सिंघवी
नान्देशमां, जिला-उदयपुर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् नाथुलालजी कोठारी
कोठारी कटपीस सेण्टर, मालदास स्ट्रीट
उदयपुर (राज.) | <input type="checkbox"/> श्रीमान् अम्बालालजी बुन्नीलालजी बम्बोरी
नान्देशमां, जिला-उदयपुर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् शोभालालजी चुन्नीलालजी दोलावत
पदराड़ा जिला-उदयपुर (राज.) | <input type="checkbox"/> श्रीमान् भुरीलाल जी कमलाजी सिंघवी
नान्देशमां, जिला-उदयपुर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् धावरचन्द जी सा, छगनलाल
कन्हैयालाल
गुड़लीवासा, बसई गांव
जिला-थाणा (म.) | <input type="checkbox"/> श्रीमान् रतनलाल जी दोलावत
नान्देशमां, जिला-उदयपुर |
| <input type="checkbox"/> श्रीमान् मोहनलाल जी सा. पीपाड़ा
मदनगंज जिला-अजमेर (राज.) | <input type="checkbox"/> श्रीमान् गुणेशलाल जी
हीरालालजी भण्डारी
नान्देशमां, जिला-उदयपुर |

- श्रीमान् मीठालाल जी चुन्नीलाल जी तलेसरा
जसवन्तगढ़ जिला उदयपुर
- श्रीमान् रूपचन्द जी पूनमचन्द जी घाटावत
कमोल
दर्शन ज्वैलर्स, गोसालिया पार्क
बोईसर, जिला—थाणा (म.)
- श्रीमान् मगनलाल जी चमनलाल जी डोसी
कम्बोल, जिला उदयपुर
- स्व. जवेरीबाई वरदीचन्द जी
सुपुत्र नानालाल जी सोलंकी
कम्बोल, उदयपुर
- स्वर्गीय पुनमचन्द जी डूंगर जी दोषी
सुपुत्र सोहनलाल जी डोसी
कम्बोल, उदयपुर
- श्रीमान् हुकमीचन्द पुखराज
कम्बोल वाले, चन्दनसार रोड,
वीरार-पूर्व, जिला—थाणा
- श्रीमान् वच्छराज लक्ष्मीलाल जी ढोलावत
विनीतकुमार वच्छराज एण्ड कं.
बोम्बे मार्केट बी. १५ उमरपाड़ा सूरत—२
- श्रीमान् वरदीचन्द जी मोड़ीलाल जी माद्रेचा,
ढोल
वी. कमलेश एण्ड कं.
जेड ११७४ ग्राउण्ड फ्लोर
टैक्सटाइल बाजार, सूरत—२
- श्रीमान् रामलाल जी हीरालाल जी तलेसरा
वीरप्रभु टेडिंग कम्पनी,
एन २०८३ टैक्सटाइल मार्केट
रिंग रोड सूरत—२
- श्रीमान् सुन्दरलालजी शेरमल जी बोल्या
जसवन्तगढ़, जिला उदयपुर
- श्रीमान् चम्पालाल जी
वरदीचन्द जी परमार, पदराड़ा
मिलन किराणा स्टोर
वीरार स्टेशन
जिला—थाणा (म.)
- श्रीमान् नन्दलाल जी
केशुलाल जो परमार पदराड़ा
वन्देवीरं कार्पोरेशन, रिंग रोड
१०५५ गोलवाला मार्केट,
सूरत—२
- श्रीमान् बाबूलाल गुलाबचन्दजी परमार
पदराड़ा जिला—उदयपुर
- श्रीमान् रूपचन्द जी चमना जी दोलावत
पदराड़ा जिला—उदयपुर
- श्रीमती सुन्दरबाई
भेरूलाल जी माण्डोत पदराड़ा
जीतमल भेरूलाल माण्डोत
पालघर, जिला थाणा (म.)
- श्रीमती नन्दुबाई सोहनलाल जी पुनमिया सेमड़
लक्ष्मी सिल्क ट्रेडर्स
एल २०७१, टैक्सटाइल मार्केट
रिंग रोड, सूरत—२
- मुथा पुखराज कान्तिलाल सीवाणावाला
मु. पो. बारडोली, जिला—सूरत (गुजरात)
- श्रीमान् उगमचन्द जी पवनचन्द जी मेहता
कपड़े के व्यापारी
मु. पो. गोरगाँव
जिला रायगढ़ (महा.)
- श्रीमान् मोतीलाल जी भबूतमल जी गांधी
१० ए/६ गोपाल नगर II माला
पो. भिवण्डी,
जिला—ठाणा (महा.)

उदार अर्थसहयोगी सज्जनों का परिचय



श्री रमणभाई पुनमिया
सादड़ी, बसई



सौ. भानु बहिन पुनमिया
सादड़ी, बसई

ओसवाल समाज सादड़ी मारवाड़ का नाम इतिहास प्रसिद्ध वीर भामाशाह के कारण सदा स्मरणीय रहेगा। ऐतिहासिक नगरी सादड़ी के ओसवाल समाज के पुनमिया परिवार में श्रीमान रमण लालजी एवं जयन्ती लालजी पुनमिया का जन्म हुआ। आप दोनों भ्राताओं के पिताश्री का नाम उदार-मना सेठ श्री मोतीलालजी पुनमिया एवं मातुश्री का नाम जमनाबाई हैं।

धार्मिक परिवार में जन्म होने से आप दोनों में जन्म के साथ धार्मिक संस्कार भी प्राप्त होने लगे, श्रीमान् रमणलालजी की धर्मपत्नि का नाम सौ भानुमति है एवं जयन्तिलालजी की धर्मपत्नि का नाम सौ. कान्तादेवी है। रमणलालजी के सुपुत्र अशोककुमार जी, संजयकुमार जी एवं जयन्तिलाल जी के सुपुत्र नीलेशकुमार जी एवं जुलेशकुमार जी हैं।

आपका सम्पूर्ण परिवार पूज्य उपाध्याय एवं उपाचार्य श्री के प्रति आस्थावान रहा है, आपने प्रतिवर्ष धार्मिक संस्थाओं में भक्त हस्त से दान दिया है। इसी दान प्रवृत्ति से प्रेरित होकर प्रस्तुत ग्रन्थ में भी आपने उदारता से सहयोग दिया है। वर्तमान में आपका सोने-चांदी का प्रसिद्ध व्यवसाय बसई महाराष्ट्र में चल रहा है। समाज से आप दोनों भाइयों से बहुत कुछ आशाएँ हैं, आपके फर्म का नाम है—

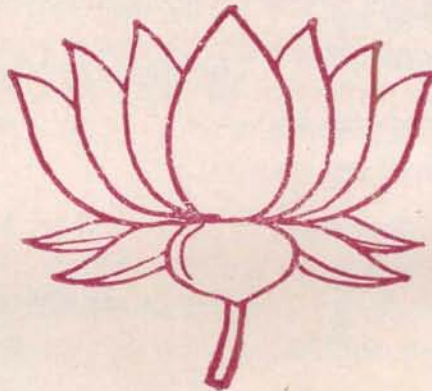
- मोतीलाल कस्तुरचन्द शाह
झण्डा बाजार, पोस्ट—बसई
जिला—थाणा (महा०)

श्रीमान् लहरीलाल जी सिंघवी, सूरत

श्रीमान लहरीलालजी सा. सिंघवी एक ऐसे युवा सज्जन हैं जो सदा हँसमुख प्रसन्नचित्त रहते हुए अपने कर्तव्य पथ पर चलते रहे हैं, आपका जन्म मेवाड़ के उस प्रसिद्ध ओसवाल सिंघवी परिवार में हुआ है जो सदा से ही धार्मिक, सामाजिक कार्य में अगुवा रहा है। आपकी पूज्य पिताश्री का नाम सेठ डालचन्दजी सा. सिंघवी हैं, आपके बड़े भाई श्रीमान रतनलालजी सा सिंघवी भी आपकी भाँति ही समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। श्रीमान रतनलालजी सा. की धर्मपत्नि का नाम सुन्दरबाई हैं, एवं लहरी लालजी सा की धर्मपत्नि का नाम कमलाबाई है।

आप दोनों भ्राताओं की जोड़ी राम व लक्ष्मण की भाँति सदा मिलनसार रही हैं। आपके सुपुत्र—नरेन्द्रकुमार, अनिलकुमार, नरेशकुमार, बलवन्त कुमार, निलेश कुमार, लवेश एवं हिमांशु हैं। इसी प्रकार आपकी सुपुत्रियाँ हेमाकुमारी, पिकी, डिम्पल इस प्रकार भरा-पूरा परिवार आपका धर्म व समाज के कार्य में सदा अग्रगण्य रहता है। आपकी सुप्रसिद्ध फर्म है—

- शाह लहरीलाल डालचन्द
सी/१०११ सूरत टेक्सटाइल मार्केट
रिंग रोड, सूरत—३६५००२
फोन—६२३२८४, ६२४२०८





स्व० धर्ममूर्ति विद्यावती जैन

भारतवर्ष में पुरुषों की भाँति नारियों ने भी तप-त्याग, संयम व समाज के कार्य में अपना बहुमूल्य योगदान प्रदान किया है, उन्हीं धर्ममूर्ति सन्नारियों में धर्मपरायणा उदारमना स्वर्गीया विद्यावती देवी का नाम भी सदा स्मरण रहेगा। पंजाब प्रान्त के मलोटमण्डी में जन्म लेकर आपने अबोहर मण्डी में लाला खुशीराम जैन के साथ पाणिग्रहण किया, प्रारम्भ से ही धर्म संस्कार से संस्कारित होने के कारण आपके कारण सारा परिवार धर्म रंग में रंग गया, आपके दो सुपुत्र श्री भगवानदासजी एवं श्री बजरंगदासजी हैं जो माता के अन्तिम क्षणों तक सेवा में सदा बने रहे। भगवानदासजी की धर्मपत्नि का नाम लाजवन्ती एवं बजरंगदासजी की धर्मपत्नि का नाम मोहनदेवी है।

आपने दो पुत्रियों को भी जन्म दिया जो सुरेशकान्ता एवं दूसरी जैन साध्वी बनकर आत्म-कल्याण कर रही है जिनका नाम विदुषी साध्वी श्री शिमलाजी है।

मातेश्वरी विद्यावती के ४ पौत्र हैं, जिनके नाम दिनेश जैन, प्रवीण जैन, अमन जैन एवं रमेश जैन हैं। दिनेशजी की धर्मपत्नि सुनीतादेवी, प्रवीणजी की धर्मपत्नि अमितादेवी एवं रमेशजी की धर्मपत्नि सुधादेवी है। पौत्रों की तरह आपकी सुपौत्रियाँ भी प्रमिला, मंजू, संजू, सुनीता एवं निरुकुमारी भी धार्मिक संस्कारों से रंगी हुई हैं। आपने इस भरे-पूरे परिवार को दि० २२ मई, १९८६ को छोड़कर स्वर्ग सिंघार गर्यीं, पर अपने सुसंस्कारों से घर-परिवार समाज को संस्कारित करके गयी जिसे सदा स्मरण रखा जायेगा।

आपके सुपुत्रों ने धार्मिक क्षेत्र के साथ-साथ देश के व्यापारिक क्षेत्र में जो यश एवं नाम कमाया है वह आज भी चमक रहा है। आपकी सुप्रसिद्ध धागे की मील उदयपुर में है जो श्रुतिसेन्थेटिक्स लोहिरा के नाम से विश्रुत है। साथ ही आपकी फर्म का नाम है

दौलतराम छोगमल जैन

पोस्ट—अबोहर मण्डी

जिला—फिरोजपुर (पंजाब)

प्रस्तुत ग्रन्थ में मातेश्वरी ने उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है।



श्रीमान् प्रतापमलजी सा. सुराणा
मु. कोठारीया (राज.)



धर्मपत्नी श्रीमती धापुबाई
मु. कोठारीया (राज.)

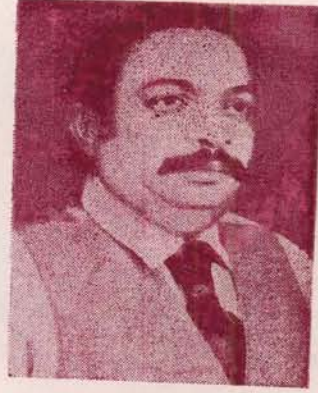
उदयपुर जिले के कोठारिया (नाथद्वारा) ग्राम में जन्मे श्रीमान् प्रतापसिंह जी सा सुराणा जैन समाज के विख्यात दानवीर पुरुष हैं। आपने अपने प्रबल प्रयास से हर क्षेत्र में विकास किया है। आपके ४ सुपुत्र हैं जो पिताश्री के आज्ञा में चलते हुए अपने व्यापार व्यवसाय को आगे बढ़ा रहे हैं, आपका बम्बई में व्यवसाय है। सादगी व मिलनसारी गुण होने से आपने बहुत शीघ्र ही समाज व व्यापारिक क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है। जैन धर्म के प्रति आपकी गहरी रुचि व श्रद्धा है। आप अनेक धार्मिक, सामाजिक कार्यों में सदा मुक्त हस्त से सहयोग देते रहते हैं।

परम विदुषी साध्वीरत्न श्री कुसुमवतीजी म० के आप संसारपक्षीय चाचाजी हैं। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में आपने स्वेच्छा से उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है। आपश्री की धर्मपत्नी श्रीमती धापुबाई भी एक सद्गृहस्थ महिला हैं। आपके सुपुत्रों के नाम—श्रीमान् मीठालालजी, श्रीमान् ओंकारसिंहजी, नवलसिंहजी, हिम्मतसिंहजी हैं। आपके ४ सुपुत्रों के अलावा ३ सुपुत्रियाँ हैं—जिनके नाम केसरबाई, कुन्ताबाई और सुमित्राबाई हैं, इस प्रकार आपका भरा-पूरा परिवार धर्म व समाज के कार्य में अगुवा है।





लाला फूलचन्द जी जैन
कांठला



लाला पवनकुमार जी जैन
कांठला

जैन समाज में अनेक श्रावक ऐसे हैं जो सदा धार्मिक, सामाजिक कार्यों में अग्रगण्य हैं, उन्हीं श्रावकों की लड़ी की कड़ी में लाला फूलचन्दजी जैन एवं आपथी के सुपुत्र लाला पवनकुमार जैन का नाम भी विश्रुत है, सुप्रसिद्ध कांठला (उत्तर प्रदेश) नगर में आपका जन्म हुआ है।

आप बहुत ही उदारमना, महानुभाव हैं, आपका विश्वास विज्ञापन में नहीं अपितु कार्य करने में रहा है, आपकी ही सद्प्रेरणा से परमविदुषी महासती श्री कुसुमवतीजी म० की सेवा में साध्वी श्री गरिमाजी एवं रुचिकाजी की जैन दीक्षाएँ कांठला नगरी में हुईं तब से लेकर प्रतिवर्ष आप सद्गुरुणीजी म० के श्रीचरणों में दर्शन सेवा का लाभ उठा रहे हैं। लाला फूलचन्दजी के सुपुत्र का नाम लाला पवन कुमार जैन है। लाला पवनकुमार जी की धर्मपत्नी भी एक सुश्राविका है। आपके २ सुपुत्र हैं।

आपका सम्पूर्ण परिवार देव गुरु धर्म पर अटूट आस्थावान है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपने स्वेच्छा से गुरु-भक्ति से प्रेरित होकर उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है। आपके फर्म का नाम है—

- लाला फूलचन्द पवनकुमार जैन सराफ
पोस्ट—कांठला
जिला—मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

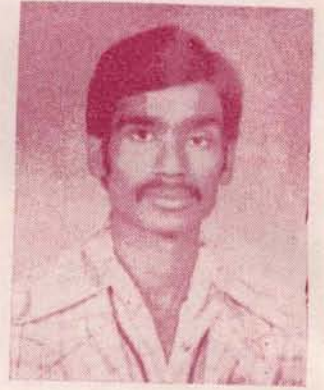




धर्मानुरागिणी मातुश्री
चोथबाई सियाल



श्रीमती अनुराधा-
अशोककुमार जैन



श्रीमान् अशोककुमार जैन

भारत के महापुरुषों ने जीवन की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जीवन वह है जिसमें उदारता हो, धर्म के प्रति सद्भावनाएँ हों, जो स्व-गर कल्याण के मार्ग का अनुसरण करता हो। प्रस्तुत कसौटी पर जब हम उदारमना मातेश्वरी चौथबाई सियाल के जीवन को कसते हैं तो वो खरी उतरती हैं। आपके जीवन में सादगो, संयम, परोपकारिता, उदारता, दयालुता नाना भाँति के गुण मौजूद थे, जिसके कारण ही आप घर-परिवार तक ही सीमित नहीं रहीं, अपितु समाज तक आपके सद्गुणों का प्रकाश पड़ा। आज भले ही इस प्रत्यक्ष जगत में आप नहीं रही हैं, परन्तु आपके गुण सदा रहेंगे। आपका पाणिग्रहण श्रीमान् कन्हैयालालजी सियाल के साथ हुआ। आपके दो सुपुत्र श्रीमान् रणजोत सिंहजी सियाल एवं यशवन्तसिंहजी सियाल हैं। आपकी ६ सुपुत्रियाँ—जिनका नाम दौलत, इनकार, गणपत, स्नेहलता, अनुराधा एवं वीणा हैं।

आपकी ही सुपुत्री स्नेहलता कुमारी आज जैन जगत की एक प्रतिभासम्पन्न साध्वीरत्न हैं और इस विशालकाय ग्रन्थ की प्रधान सम्पादिका हैं, साध्वी दिव्यप्रभा जी।

आपकी पुण्य स्मृति में आपकी सुपुत्री श्रीमती अनुराधा ने अपने श्वसुर भाणकचन्द सा डाँगी एवं सास लाडकंवरबाई की प्रेरणा से तथा पति श्री अशोक कुमारजी जैन के सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है।





श्री मोतीलाल जी डागलिया
नाथद्वारा



श्री चुन्नीलाल जी डागलिया
नाथद्वारा



श्री रंगलाल जी डागलिया
नाथद्वारा

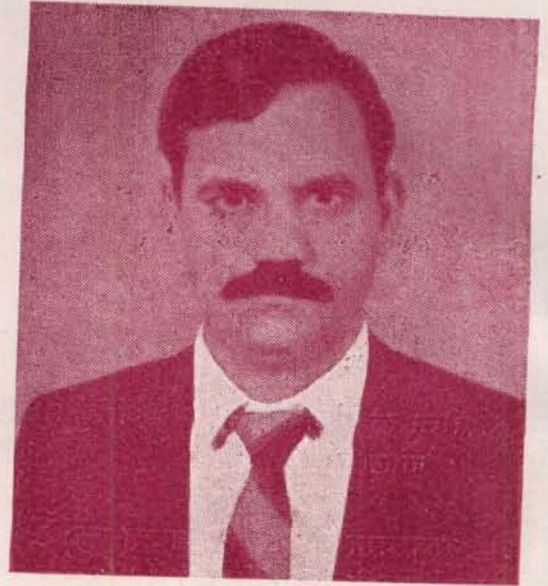
राजस्थान की पावन पुण्यधरा जहाँ वीर भूमि के रूप में विश्रुत रही है वहीं धर्म भूमि के रूप में भी उसकी ख्याति कम नहीं रही हैं। यहाँ समय-समय पर अनेक नररत्नों ने जन्म लेकर उस धरती को अपनी आन-बान-शान से चमत्कृत किया है। यही कारण है कि ऐसे सद पुरुषों का नाम हजारों वर्षों तक बना रहा है।

मेवाड़ की सुप्रसिद्ध तीर्थनगरी श्री नाथद्वारा भारत भर में ही नहीं अपितु विश्वभर में प्रसिद्ध रही है। इसी नाथद्वारा नगर के सुप्रसिद्ध डागलिया परिवार में आप तीनों भाइयों का जन्म हुआ। श्रीमान् मोतीलाल जी सा. डागलिया, श्रीमान् चुन्नीलाल जी सा. डागलिया, श्रीमान् रंगलाल जी सा. डागलिया आप तीनों भाइयों ने समाज के धर्म के प्रत्येक कार्य में मुक्त हस्त से भाग लिया है, समाज की ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं जिसमें डागलिया परिवार का नाम न आता हो। माता-पिता के सुसंस्कारों के कारण आपके जीवन में देव-गुरु-धर्म के प्रतिपूर्ण आस्था श्रद्धा हैं। धार्मिक साधना में आपकी विशेष रुचि रही है। समाज की अनेक संस्थाओं के साथ आप तन-मन-धन से जुड़े हुए हैं। आपकी तरह ही आपका परिवार भी अत्यन्त धर्मनिष्ठ व सुसंस्कारित है। उनकी धर्मपत्नियाँ भी उदार मना व सन्त-सतियाँ जी की सेवा में सदा अग्रगण्य रहती हैं। परम विदुषी महासति श्री कुसुमवती जी म. के नाथद्वारा चानुर्मास में आपके परिवार ने सेवा का अपूर्व लाभ उठाया, एवं प्रस्तुत ग्रन्थ में भी आपने उदारता-पूर्वक सहयोग प्रदान किया है।





श्रीमान् शान्तिलाल जी तलेसरा



श्रीमान् लक्ष्मीलाल जी तलेसरा

मेवाड़ अपनी गौरवगाथा से सदा समृद्ध रहा है। मेवाड़ के हजारों व्यक्तियों ने समय-समय पर धार्मिक सामाजिक कार्यों में अपूर्व योगदान प्रदान किया है।

श्रीमान् शान्तिलाल जी लक्ष्मीलाल जी तलेसरा मेवाड़ के यशवन्तगढ़ ग्राम के निवासी हैं, आपके पूज्य पिताश्री का नाम शिवलालजी एवं माताजी का नाम नवलबाई था, माता-पिता के सुसंस्कारों के कारण बचपन से ही आपके दिल में गुरु व धर्म के प्रति अटूट आस्था रही है।

श्रीमान् शान्तिलाल जी का पाणिग्रहण बगडुन्दा निवासी गेहरीलाल सा. लोढा की सुपुत्री भंवरदेवी के साथ हुआ। आपके ३ सुपुत्र कुन्दनलाल, महेन्द्रकुमार, और तरुणकुमार तथा ४ सुपुत्रियाँ रतनदेवी, लीलादेवी, लक्ष्मीदेवी एवं जसमाकुमारी है।

आपके लघुभाई लक्ष्मीलाल जी का पाणिग्रहण लक्ष्मीदेवी के साथ हुआ, आपके एक सुपुत्र गौरवकुमार एवं ४ सुपुत्रियाँ पुष्पाकुमारी, सुमित्राकुमारी, अनोखाकुमारी एवं नीताकुमारी हैं।

आपकी दो बहिने देवीबाई एवं कमलादेवी हैं।

आपकी प्रेरणा से गत वर्ष पूज्य उपाध्याय एवं उपाचार्य श्री का जसवन्तगढ़ चातुर्मास सम्पन्न हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ में आपने उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है।

आपके फर्म है—अमरतारा कार्पोरेशन।

अमरशान्ति सिल्क मील्स ३-ए. एम. जी. मार्केट, राजकुमार पेट्रोल पम्प के पास थर्डप्लोर रिंगरोड सूरत।

उदयपुर के सुप्रसिद्ध समाजसेवी श्रीमान्



श्री सम्पत्तिलाल जी बोहरा, उदयपुर

सम्पत्तिलाल जी बोहरा की जन्मभूमि जिले के रुण्डेडा गाँव रही है, आपके पूज्य पिताश्री का नाम सेठ खेमराज जी सा. बोहरा एवं मातेश्वरी का नाम श्रीमती सुन्दरबाई था, आपका पाणिग्रहण जयपुर निवासी उमरावचन्द जी जरगड की सुपुत्री नगीनादेवी के साथ हुआ, आपका व्यापार व्यवसाय उदयपुर में चल रहा है, उदयपुर की अनेक सामाजिक धार्मिक संस्थाओं के आप पदाधिकारी हैं, आ। विधायक भी रह चुके हैं। चार्टर्ड अकाउंटेंट में आपका नाम प्रमुख रूप से रहा है।

आपके दो सुपुत्र हैं जिनका नाम राजकुमार व विनयकुमार हैं। आप की ३ सुपुत्रियाँ हैं जिनका नाम चन्द्रकला, रोता, नीता है। श्री तारक गुरु जैनग्रन्थालय उदयपुर के वर्तमान में आप अध्यक्ष हैं, ग्रन्थ प्रकाशन में भी आपका सहयोग प्राप्त हुआ है। अश्विनी बाजार में आपकी सुप्रसिद्ध फर्म हैं। □

मदनगंज निवासी श्रीमान चांदमल जी साहब मेहता एक ओजस्वी तेजस्वी एवं समाज के कर्मठ कार्यकर्ता हैं। आपका जन्म किशनगढ़ के निकट पिगलोद में हुआ, आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन किया, सन् १९४१ में आपके व्यक्तित्व व कार्य से प्रभावित होकर तत्कालीन किशनगढ़ नरेश द्वारा आपका स्वर्णभूषण से सम्मान किया गया। सन् १९५२-५४ में आप विधायक भी रहे, प्रामाणिकता व कर्तव्य निष्ठा आप में कूट-कूट कर भरी है, आप अनेक सामाजिक धार्मिक संस्थाओं में पदाधिकारी रहे हैं। मदनगंज श्रावक संघ व श्री वर्धमान पुष्कर जैन सेवा समिति के आप सम्माननीय अध्यक्ष भी रहे हैं। आप श्री के वीरेन्द्रकुमार जी, सुरेन्द्रबाबू जी, नरेन्द्रकुमार जी, जितेन्द्रकुमार जी, सतेन्द्रकुमार जी सुपुत्र हैं, इस प्रकार आपका भरापूरा परिवार समाज क्षेत्र में सदा अग्रगण्य रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आप द्वारा हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है।



श्रीमान् चांदमल जी मेहता, मदनगंज

जसवन्तगढ़ निवासी उदारमना कर्मठ कार्यकर्ता श्रीमान चुन्नीलाल साहब भोगर का जन्म



स्व. श्रीमती गुलाबबाई भोगर

जसवन्तगढ़

वि० सं० १९८४ को हुआ, धार्मिक परिवार होने के कारण बचपन से ही आपके जीवन में धर्म भावना फलीभूत होती रही, आपका पाणिग्रहण गुलाबबाई के साथ हुआ जो एक सद्धर्म परायण उदारमना सुश्राविका थी। गुलाबबाई का जन्म वि० सं० १९८५ में हुआ, एवं स्वर्गवास १४ जनवरी सन् १९८८ को हुआ। श्रीमान चुन्नीलाल जी साहब के दो सुपुत्र श्रीमान वसन्तीलाल जी साहब एवं श्रीमान गणेशलाल जी साहब हैं। एवं श्रीमती कचनदेवी वसन्तीलाल जी की धर्म पत्नि है तथा श्रीमती रंजनदेवी गणेशलाल जी की धर्म पत्नि हैं। चन्द्रेशकुमार, विपुलकुमार, दीपेशकुमार वसन्तीलाल जी के एवं विकासकुमार गणेशलाल जी के सुपुत्र हैं। आदरणीय चुन्नीलालजी साहब की ४ सुपुत्रियाँ भागवतीदेवी, मीनादेवी, पुष्पादेवी, लीलादेवी भी धर्मपरायणा हैं। गतवर्ष १९८९ में पूज्य गुरुदेव श्री एवं उपाचार्य श्री के चातुर्मास में आपने तन मन धन से जो समाज सेवा की है वह सदा स्मरणीय रहेगी। आपने अपनी धर्म पत्नि की पुण्य स्मृति में प्रस्तुत ग्रन्थ में उदारतापूर्वक सहयोग दिया है।

इसी प्रकार आपके भतीजे आदरणीय मोहनलालजी साहब भोगर भी एक उदारमना समाज सेवी व्यक्ति हैं, आपका जन्म वि० सं० १९६२ में जसवन्तगढ़ में हुआ। आपकी धर्म पत्नि का नाम अ० सौ० चम्पाबाई हैं। वर्तमान में आपके ४ सुपुत्र हैं जिनके नाम—मांगीलाल, जसराज, नरेशकुमार, हितेशकुमार हैं। आपके बड़े सुपुत्र मांगीलाल जी की धर्मपत्नी का नाम श्रीमती मधुबाला हैं। इस प्रकार काका भतीजा का यह सम्पूर्ण परिवार धर्म पर आस्थावान रहा है। आपके सूरत में वस्तों का व्यवसाय निम्न फर्म के रूप में हैं—

○ शाह अनिलकुमार, मोहनलाल एण्ड कं० डी—१०१६, टैक्सटाइल मार्केट, रिंग रोड, सूरत-२



जीवन रथ के संचालन हेतु नर की भांति नारी का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। नारी जाति का अपना एक इतिहास है, इसका महत्व सदा सर्वदा से है इसीलिए कहा जाता है सो शिक्षकों का कार्य एक मातृस्वरूपा नारी करती है क्योंकि नारी पुरुष को जिस ढाँचे में ढालना चाहती है उसी ढाँचे में ढाल सकती है। श्रीमती रमादेवी उज्ज्वल का जीवन भी एक सत्य सदाचार का प्रतीक रहा है। आपकी प्रेरणा व सदसंस्कारों के कारण ही आपकी सुपुत्री साध्वी गरिमाजी एम. ए. ने संयम व्रत अंगीकार किया है, आपके दो सुपुत्र हैं—कुलदोप एवं प्रदीपकुमार एवं ३ सुपुत्रियाँ हैं अशोका, गोता और रोता। गोता ही साध्वी गरिमा जी के रूप में विदुषी साध्वी रत्न श्री कुसुमवतीजी की सुशिष्या हैं। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में आपने स्वतः प्रेरित होकर उदारतापूर्वक दान दिया है। आशा है भविष्य में इसी प्रकार सहयोग मिलता रहेगा।



श्रीमती रमादेवी उज्ज्वल
मेरठ (उ. प्र.)

इस पवित्र भारतभूमि पर समय समय पर कुछ विशिष्ट व्यक्ति जन्म लेते रहे हैं जिनका जीवन उस फूल सा महकता रहा है जो जीते जी भी अपनी सुगन्ध से समाज को सुवासित करते रहे और जीवनोपरान्त भी, जिनकी सुवास से समाज सुवासित रहता है, उन्हीं सदपुरुषों की लड़ी की कड़ी में स्वनाम धन्य परम गुरुभक्त उदारमना शेरा प्रान्त के शेर स्व० सेठ श्री चुन्नीलाल जी सा परमार का नाम भी बड़े गौरव के साथ लिया जाएगा। आपका जन्म पदराडा गांव में सेठ श्री लालचन्द जी परमार के घर पर मातृश्री कंकुवाई की कुक्षी से हुआ, बचपन में सुसंस्कारों के कारण आपमें धार्मिकता ने प्रवेश किया जो जीवन के अन्तिम क्षणों तक बनी रही, युवावस्था होने पर आपकी शादी ढोल गांव के सुप्रसिद्ध सेठ परिवार की कन्या श्री लहरीबाई के साथ हुई।



श्री चुन्नीलाल सा. परमार

आपके ५ सुपुत्र आज भी ५ पाण्डवों की तरह सदा सामाजिक धार्मिक कार्य में अगुवा रहते हैं जिनके नाम क्रमशः सोहनलालजी, भंवरलाल जी, गोकुलचन्द जी, कन्हैयालाल जी एवं गोविन्दसिंह जी हैं जिनकी धर्मपत्नियाँ सुशीलाबाई, कंचनबाई, लीलाबाई मीनाबाई एवं लीलाबाई हैं। आपकी ३ सुपुत्रियाँ हुलासदेवी, पुष्पादेवी, निर्मलादेवी जिनकी क्रमशः तिरपाल, सायरा एवं तिरपाल में शादी हुई है।

पुण्यवानो के प्रबल योग से धर्म के साथ लक्ष्मी देवी का भी आपके घर में दिन दूना रात चौगुना स्थान रहा है। आपके पौत्र पौत्रियाँ दिनेश कुमार, भुपेन्द्र कुमार, जयान्त कुमार, विपुल कुमार, मांगोलाल, दिलोप कुमार हितेश, लोकेश एवं नूतन कुमारी, धुलीकुमारी, ऊषा कुमारी, कोमल कुमारी झूली कुमारी आदि के जोवन में भो धर्म संस्कार हैं।

वर्तमान में आपका वस्त्रों का प्रसिद्ध व्यवसाय सूरत में है। आपकी प्रसिद्ध फर्म हैं।

अम्बिका सिल्क कोर्पोरेशन
नं० १०८४ टैक्सटाइल मार्केट
रिंग रोड सूरत-२

●
वीना इण्टरनेशनल
सूरत—
वीर ज्योति इण्टरप्राईजेज
सूरत—(गुजरात)

इसी वर्ष आपका अस्वस्थता के कारण स्वर्गवास हो गया आपके सुपुत्रों ने गुरुभक्ति से उदारतापूर्वक प्रस्तुत ग्रन्थ में सहयोग प्रदान किया है।



श्रीमान् रतनलाल जी सा मारु अत्यन्त उदारमना धर्मनिष्ठ सुश्रावक हैं आपका जन्म विक्रम संवत् १९८० मृगसरवदी १३ को नरवर ग्राम में हुआ, आपके पूज्य पिताश्री का नाम भंवरलाल जी मारु एवं मातु श्री का नाम श्रीमती गोपी देवी और आपकी धर्मपत्नी का नाम सौभाग्यवती सोनी देवी है।

आप सदा से ही सेवा, शिक्षा, चिकित्सा के क्षेत्र में हजारों का दान पुण्य करते रहे हैं, आपश्री के ३ भाई एवं तीन बहिनें हैं। आपका सम्पूर्ण परिवार धर्मनिष्ठ रहा है, पूज्य उपाध्याय उपाचार्य श्री म. के मदनगंज चातुर्मास में आपका पूर्ण सहयोग रहा। श्री वर्धमान पुष्कर जैन सेवा समिति मदनगंज के आप वर्तमान में अध्यक्ष हैं, आप मदनगंज श्रावक संघ के भी वर्षों तक अध्यक्ष रहे पूज्या गुरुणी जी म० के प्रति श्रद्धाभाव से प्रेरित होकर आपने प्रस्तुत ग्रन्थ में उदारता-पूर्वक सहयोग प्रदान किया है।



श्री रतनलाल जी मारु
मदनगंज

आपकी फर्म का नाम है—

मारु ब्रदर्स

डागा गली

पो० मदनगंज जिला—अजमेर (राज०)



श्री कालुलालजी सा. ढालावत
तिरपाल

श्रीमान् कालुलाल जी सा. ढालावत मेवाड़ के गौमुन्दा तहसील में नान्देशमां ग्राम में जन्मे, एवं अपने बुद्धि बल से शीघ्र ही आपने अनेक संस्थाओं में अपनी प्रतिभा का परिचय देकर उन समाज में लोकप्रिय बन गए हैं, संस्थाओं को फलीभूत किया है, आज इस प्रान्त की छोटी से लेकर बड़ी संस्थाओं में आपका नाम जुड़ा हुआ है।

वर्तमान में आपश्री अपने परिवार के साथ तिरपाल गाँव में रह रहे हैं एवं आपके सुपुत्र देवेन्द्र कुमार जी आदि सूरत में कपड़े के व्यवसाय को चला रहे हैं। आपश्री के पिताश्री का नाम छगन-लालजी सा. ढालावत हैं आप उपाध्याय एवं उपाचार्यश्री के अनन्य भक्त हैं।



समाज रत्न सुश्रावक आदरणीय सेठ साहब श्री चुन्नोलाल जी सा. धर्मावत उदयपुर जैन समाज के ही नहीं अपितु शहर के एक कर्मठ कार्यकर्ता व उदारमना सुश्रावक है।

आपका जन्म उदयपुर जिले के बागपुरा ग्राम में पोरवाल जैन कुल में हुआ, आपने प्रबल पुरुषार्थ से अपन व्यापार-व्यवसाय को उदयपुर में स्थापित कर प्रामाणिकता व सदाचारता के कारण अपने नाम को रोशन किया है। परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. एवं श्रमण संघ के उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म० आदि सन्त सतियों के प्रति आपके हृदय में गहरी आस्था श्रद्धा है समाज सेवा में आप लम्बे समय से जुड़े हुए हैं, आपकी समाज सेवा से प्रभावित होकर गतवर्ष आपका समाज द्वारा अभिनन्दन किया गया एवं जैन का कांफ्रेंस के माननीय अध्यक्ष पुखराजमल जी सा. लुंकड़ बम्बई ने आपको समाज रत्न की उपाधि प्रदान की। आप वर्षों से श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर के कोषाध्यक्ष व सक्रिय कार्यकर्ता हैं साथ ही अनेक संस्थाओं के माननीय पदाधिकारी हैं। आपकी भाँति ही आपके सुपुत्र परमेश्वर धर्मावत एक उत्साही समाजसेवी हैं आपकी सुप्रसिद्ध फर्म हैं—

शाह चन्दनमल चुन्नोलाल धर्मावत
बड़ा बाजार, उदयपुर



समाजरत्न श्री चुन्नोलाल जो
धर्मावत



सेठ खुमानसिंह जी काशेचा

मेवाड़ प्रान्त अपनी आन बान शान के लिए सदा अगुवा रहा है यहाँ पर समय समय पर अनेक श्रावक रत्न पैदा हुए हैं, जिन्होंने धर्म व समाज के कार्य में अपना अमूल्य योगदान प्रदान किया है। उन्हीं की लड़ी की कडी में सुश्रावक खुमानिंग जी काशेचा का नाम भी गौरव के साथ लिया जाता है, आपका जन्म शेरा प्रान्त के सिघाडा ग्राम में हुआ।

आपके दो सुपुत्र मोठालालजी, हिम्मतकुमार जी हैं।

वर्तमान में समाज की प्रायः सभी संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं, पूज्य उपाध्याय एवं उपाचार्य श्री के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा हैं।

आपका व्यवसाय सूरत अहमदाबाद में है।



श्रीमान् सोहनलाल जी सा. जैन वीर भूमि मेवाड की नाथद्वारा नगरी के एक सुप्रसिद्ध समाज सेवी उदारमना उत्साही एवं लोकप्रिय कार्यकर्ता हैं। जीवन तो सभी को मिलता है पर जोवन जीने की कला किसी किसी को मिलती है। बहुत से मानव खुद भी दुःखी एवं दूसरों को भी दुःखी करके जीते हैं तो बहुत से खुद भी सुखी एवं दूसरों को भी सुखी करके जीते हैं। श्रीमान सोहनलाल जी जैन उस फूल की भाँति हैं जो अपनी सुगन्ध सौरभ से सभी को प्रसन्न कर देता है। आपके सहयोग से नाथद्वारा समाज का नाम सदा आगे रहा है, वहाँ बड़े बड़े चातुर्मास भी आपकी प्रेरणा से होते रहे हैं परमादरणीया महासती श्री कुसुमवती जो म० के चातुर्मास में भी आपका अपूर्व योगदान रहा है साथ ही इस ग्रन्थ में भी आपका पूर्ण सहयोग रहा है। आपकी भाँति ही आपका सम्पूर्ण परिवार धर्म निष्ठ हैं, आपकी फर्म का नाम है—

जैन ट्रांसपोर्ट कम्पनी
बस स्टेण्ड के पास
नाथद्वारा
जिला उदयपुर (राज०)



श्री सोहनलालजी जैन—नाथद्वारा



शंकरलालजी बम्ब—नाथद्वारा

श्रीमान् शंकरलाल जी सा. बम्ब नाथद्वारा जैन समाज के एक प्रमुख उदारमना चिन्तनशील सुश्रावक हैं। आपको एवं आपके परिवार को धर्म के प्रति गहरी रुचि एवं आस्था है, आपने अपने पुरुषार्थ से धार्मिक सामाजिक क्षेत्र के साथ साथ व्यापारिक क्षेत्र में भी अच्छा नाम कमाया है। नाथद्वारा में आपके कपड़ों का अच्छा व्यवसाय है, प्रतिदिन आप अपने नित्य नियम के साथ शान्ति के साथ अपना जीवन व्यवहार कुशलतापूर्वक बनाए रखे हैं। समाज को भविष्य में आपश्री से बहुत कुछ आशाएँ हैं। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में भी आपने उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है।

००

(१४)



गोपीलालजी शिगोदिया

सुप्रसिद्ध शिशोदिया परिवार में जन्मे उदारमना सुश्रावक श्रीमान् गोपीलालजी सा. एक सज्जन पुरुष हैं। आपके सम्पूर्ण परिवार में धर्म के प्रति अच्छी लगन व निष्ठा है। नाथद्वारा जैन समाज के प्रमुख व्यक्तियों में आपकी गिनती की जाती है। समाज के सभी कार्यों में आप सदा उदाहरणपूर्वक भाग लेते रहते हैं, सन्त सतियों की सेवा भक्ति करने में आपको हमेशा प्रसन्नता रहती है। आपके कारण आपका सम्पूर्ण परिवार धर्म के प्रति आस्थावान है, ग्रन्थ प्रकाशन में भी आपका पूर्ण सहयोग रहा है।



श्रीमती देउबाई बागरेचा

श्रीमती देउबाई एक उदारमना धर्मपरायणा सुश्राविका हैं, बचपन में ही आपके जीवन में धर्म संस्कार होने से आपके परिवार में धर्म भावना व्याप्त है, सामाजिक धार्मिक कार्य में आप सदा मुक्त हस्त से लाभ लेती रहती हैं। आपके कारण आपके सम्पूर्ण परिवार में भी धर्म भावना व्याप्त हैं, पूज्या श्री कुसुमवती जी म० के नाथ-द्वारा चातुर्मास में आपने अपूर्व धर्म लाभ लिया। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी सहयोग रहा है। आपके पतिदेव श्रीमान कन्हैयालाल जी बागरेचा भी एक धर्मनिष्ठ सुश्रावक हैं।



जीवन में सत्संग का अपना अनुठा महत्व रहता है इसीलिए कहा जाता है सत्संग लोहे को पारस बना देता है अज्ञानी को ज्ञानी बना देता है। कभी-कभी यह सत्संग जीवन को बदल देता है इसी का उदाहरण है युत्रा साथी पत्रकार मांगीलाल जी समीदिया जो धर्म स्थान से सदा दूर रहते थे, पर सन् १९८८ में आपके ग्राम नाथद्वारा में परम विदुषी साध्वी श्री कुसुमवती जी म. का चातुर्मास हुआ आपके सत्संग में आकर इनके जीवन में भी परिवर्तन हुआ, आपके पूज्य पिताश्री का नाम श्रीमान् कैलाश चन्द जी समीदिया है, अपनी इस छोटी-सी वय में आपने अनेक सामाजिक कार्य किए हैं। वर्तमान में आप निम्न फर्मों से जुड़े हुए हैं।



मांगीलाल समादिया

मै० अमीत विडियो हाउस, ७ माणक चौक, नाथद्वारा
कृष्णा कैसेट सेण्टर, अहिल्या कुण्ड, नाथद्वारा

नाम—नाथुलाल मादरेचा

पिता—अंबालालजी मादरेचा

पुत्र—रूपचन्द, सुखलाल, दिनेशकुमार

पुत्री—सुन्दरकुमारी

धर्मपति—नाथीबाई,

पौत्र—आकाशकुमार, अनिलकुमार, गौतमकुमार

पौत्री—रेशमाकुमारी, प्रीतिकुमारी, आशाकुमारी

दुकान—(१) हीरा टेक्सटाइल एजेन्सी

१० रेशमवाला मार्केट, रिंगरोड सूरत

(२) दिनेश ट्रेडिंग कम्पनी सूरत

—ढोल हाऊस, उदयपुर

ढोल फोन नं. ४२

३२३ B अंबा माता स्कोम उदयपुर

आप मेवाड़ की अनेक संस्थाओं के अध्यक्ष व मन्त्री हैं। पूज्य गुरुदेव के प्रति आपकी अनन्य आस्था है।



नाथूलाल मादरेचा



मनोहरलाल जो राठौड़

नाथद्वारा निवासी श्रीमान मनोहरलाल जी सा राठौड़ जैन समाज के एक सुलझे हुए उदारमना कर्मठ कार्यकर्ता हैं, समाज के प्रत्येक क्षेत्र में समय-समय पर आपकी ओर से उदारता-पूर्वक सहयोग प्राप्त होता रहता है।

आपश्री के पिताश्री का नाम श्रीमान पन्नालाल जी सा राठौड़ है, पूज्य पिताश्री के श्रीचरणों में रहते हुए आपने धार्मिक, सामाजिक क्षेत्र में अपना नाम आगे बढ़ाया है, समाज को आपश्री से भविष्य में अनेकानेक आशाएँ हैं, आपके व्यवसाय नाथद्वारा में ही निम्न नाम से प्रारम्भ हैं—

मै० एवन स्टील फर्नीचर

मॉडर्न स्कूल के सामने, नाथद्वारा

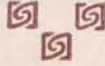
मोहनलाल पन्नालाल राठौड़

लाल बाजार, नाथद्वारा



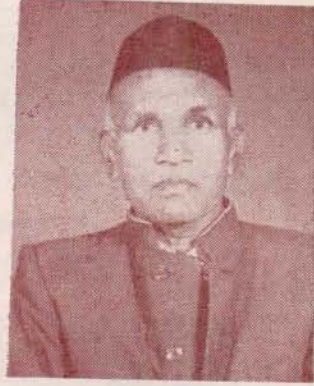
श्रीमान् पन्नालाल जी बरडिया, मदनगंज

आप पूज्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म. सा. के अनन्य भक्त हैं। मदनगंज के प्रमुख सेवाभावी धर्म-निष्ठ श्रावक हैं।



श्री मोहनलाल जी पीपाड़ा, मदनगंज

आप श्री उदारमना सेवाभावी श्रावक हैं। साधु-सन्तों की सेवा में सदा अग्रणी रहते हैं।



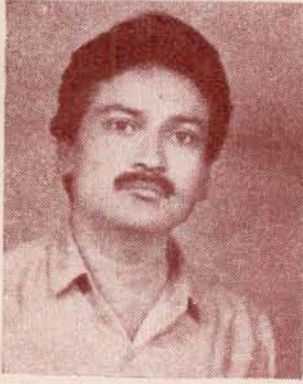
श्रीमान फतेहलाल जी लोढा नाथद्वारा जैन समाज के एक जाने माने सामाजिक कार्यकर्ता हैं, आपका सम्पूर्ण परिवार स्थानकवासी जैन धर्म पर पूर्ण आस्थावान हैं, समाज के सभ्य व संगठन में आपका सदा योगदान रहा है, वर्धमान श्रमण संघ के प्रति आपकी गहरी आस्था है, आपके सहयोग से समाज के कई कार्य चल रहे हैं, सन् १९८८ में पूज्यनीया श्री कुसुमवती जी म० के चातुर्मास में आपका पूरा सहयोग रहा। आशा है भविष्य में भी आप इसी प्रकार समाज सेवा करते रहेंगे।



फतेहलाल जी लोढा

आपका व्यवसाय सोने-चांदी का है। आपकी प्रसिद्ध फर्म है—

मंगल ज्वैलर्स
नाथद्वारा उदयपुर (राज०)



श्री ललितकुमार बागरेचा



श्रीमती मधु बागरेचा

उदयपुर निवासी श्रीमान् ललित कुमार जी बागरेचा एक ऐसे नवयुवक हैं जो सदा अपने कार्य व कर्तव्य के प्रति सजग रहते हैं आपके जीवन में प्रारम्भ से ही माता पिता के सुसंस्कार के कारण धार्मिक भावनाएं बनी रही, समाज के शोसल वर्क के प्रति आपकी विशेष रुचि रही हैं। आपकी भाँति ही आपकी धर्म पत्नि श्रीमती मधु बागरेचा एक धर्मपरायणा सद महिला हैं। परिवार व समाज को भविष्य में आपसे बहुत कुछ आशाएँ हैं। पूज्यनीया महासती जी म० के प्रति आपकी गहरी आस्था है। आपने प्रस्तुत ग्रन्थ में उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है।



श्रीमती भूरीदेवी एक ऐसी सरल मना सद गृहस्थिनी हैं जो स्वयं भी सदा प्रसन्न रहना जानती और परिवार को भी सदा प्रसन्न रखती हैं, आपके धर्मपति माननीय कालूलाल जी सा सिघवी एक लब्धप्रतिष्ठित व्यापारी है व उदयपुर के जाने माने सामाजिक कार्यकर्ता है। समाज के किसी भी सद-कार्य में आपका तन मन धन से सदा सहयोग रहता है। पूज्यनीया गुरुणी जी म० एवं गुरुदेव के प्रति आपके व आपके परिवार में अटूट श्रद्धा हैं। मादड़ा गांव से आप उदयपुर आकर अपने व्यापार व्यवसाय को फलाफूला रहे हैं यश व लक्ष्मी दोनों का ही घर में सुन्दर निवास हैं। आपकी उदयपुर में सुप्रसिद्ध फर्म है—



श्रीमती भूरीबाई सिघवी

कालूलाल जी सिघवी
सिघवी एण्ड सन्स
७४ बापू बाजार, उदयपुर
निवास : ४०६३, वी भोपालपुरा
उदयपुर (राज०)

○

नाम : श्री लक्ष्मीचन्द तालेडा
पिता : स्वर्गीय श्री स्वरूपचन्द जी सा. तालेडा
(व्यावर)
माता : स्वर्गीय श्रीमती एजनकंवर तालेडा

○

सम्बन्धित संस्थाएँ

- मगन जैन सहायता समिति, व्यावर ।
- प्यारचन्द जैन छात्रावास, व्यावर
- आंगबिल खाता—व्यावर
- तालेडा पब्लिक चैरीटेबल ट्रस्ट, व्यावर
- अखिल भारतीय जैन दिवाकर संगठन समिति,
इन्दौर
- मै. ओसवाल केबल्स (प्रा.) लि. जयपुर
- श्री भारत वर्षीय श्वेताम्बर स्थानरूवासी जैन कान्फ्रेंस, दिल्ली ।
- धार्मिक कार्यवाही में तन, मन, धन से प्रोत्साहन/साधु-सन्तों की सेवा-सुश्रुषा आदि ।



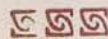
श्री लक्ष्मीचन्द तालेडा



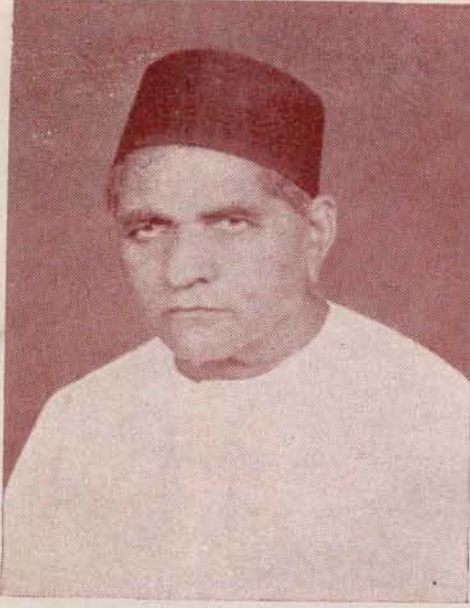
छगनलालजी बागरेचा

श्रीमान् छगनलाल जी सा बागरेचा उदयपुर जैन समाज के एक जाने माने उत्साही धर्म निष्ठ सुश्रावक हैं। आपके जीवन में धर्म के प्रति विशेष लगाव रहा है। अपने नित्य नियम के प्रति सदा सजग रहते हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती बागरेचा भी एक सुश्राविका थीं। विदुषी महासती श्री दिव्यप्रभा जी म० आपके संसारपक्षीया भानजी म० हैं। आपके सुपुत्र हीरालाल जी बागरेचा एवं सुपुत्री प्रेमबाई चपलोट हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आपने उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है।



(१६)



श्रीमान धर्मप्रेमी रिखबचन्दजी सा०
बोहरा सिन्धनूर, (कर्नाटक)



श्रीमती धर्मानुरागिनी स्व० देवीबाई
रिखबचन्दजी बोहरा, सिन्धनूर

श्रीमान रिखबचन्दजी सा० बोहरा श्रीमान केसरीमलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आपकी मातेश्वरी बहुत ही धर्म परायणा महिला थी। आप राजस्थान में गिरीनावना के निवासी हैं। जब आपकी उम्र आठ-नौ वर्ष की थी, तब आप कर्नाटक में सिन्धनूर शहर के निवासी श्रीमान चन्दनमलजी बोहरा के वहां पर दत्तक रूप में आये। वहाँ पर श्रीमती माता मनोहर बाई और पिता चन्दनमलजी का हार्दिक स्नेह प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करने लगे।

सिन्धनूर निवासी श्रीमान माणकचन्दजी सकलेचा की सुपुत्री देवीबाई के साथ आपका पाणि-ग्रहण हुआ। देवीबाई बहुत ही धर्मपरायण महिला थी। जिन्होंने अनेक मासखमण आदि तप आराधना कर अपने जीवन को धन्य बनाया। आपके चार सुपुत्र हैं—श्रीमान सोहनलालजी, चम्पालालजी, सूरजमलजी, दिलसखराजजी। चारों भाइयों में धार्मिक संस्कार माता-पिता से विरासत के रूप में मिले हैं। श्रद्धेय उपाध्याय और उपाचार्यश्री के प्रति आप में अपार श्रद्धा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका सुन्दर योगदान प्राप्त हुआ है।

आपके फर्म का नाम—

- (१) महावीर इण्डस्ट्रीज (राईज मिल) सिन्धनूर (कर्नाटक)
- (२) आर० एस० एण्ड कम्पनी रायचूर (कर्नाटक)

ॐ

(२०)



...मैं नहीं कह सकती, इस अभिनन्दन-ग्रंथ का आयोजन क्यों, कैसे हो गया..... ? यह पूर्व योजनाबद्ध हुआ या सहज ही स्वतः श्रद्धाभाववश ? परन्तु इतना निश्चित है कि इसकी पूर्णता/सम्पन्नता ने मेरे तथा मेरी सहयोगिनी साध्वियों के हृदय को एक नया विश्वास दिया है, एक दृढ़ आस्था जगाई है और एक सात्विक गौरव से उत्फुल्ल किया है कि सच्ची श्रद्धा और सच्चा संकल्प वह सब कुछ कर सकता है, जिससे जमाना असंभव या कठिन कहता है ।

पूज्य श्रद्धेया सदगुरुणी श्री कुसुमवती जी महाराज के गुण-मंडित श्रद्धेय व्यक्तित्व के प्रति जन-जन में इतनी गहरी श्रद्धा और सदभावना है, इसका अनुमान पहले किया नहीं जा सकता था, परन्तु अभिनन्दन-ग्रंथ के आयोजन से श्रद्धेय मुनिवरों, पूज्य साध्वीजनों, विद्वानों एवं श्रावक वर्ग के जो श्रद्धार्चना स्वरूप विपुल आशीर्वचन, संदेश, लेख आदि प्राप्त हुए, वह सब एक आलेख बन गया, श्रद्धा का उज्ज्वल जीवन्त स्मारक बन गया ।

मुझे विश्वास है, अभिनन्दन-ग्रन्थों की माला में यह ग्रन्थ अपनी नैसर्गिक सुषमा एवं सुरभि से सबको ही कुछ विशिष्ट अनुभूति कराता रहेगा, युग-युग तक.....

—साध्वी दिव्यप्रभा





सौम्यता

जप

समता

ब्रह्मचर्य

अभय

संयम